[वै]दिक धर्म

जनवरी १९६२

★

क्रमा[ंक]

पं. श्री

[ले]खों की
[वै]दिक
[स]हाय
[गौ] और
[हि]रण्यगर्भ

★

१० नये पैसे

श्री राम पंचायतन

वैदिक धर्म

अंक १

क्रमांक १६८ : जनवरी १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

—•—

संस्कृत-पाठ-माला

(चौबीस भाग)

[संस्कृत-भाषाके अध्ययन करनेका सुगम उपाय]

इस पद्धतिकी विशेषता यह है—

भाग १–३ इनमें संस्कृतके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है।

भाग ४ इसमें संधिविचार बताया है।

भाग ५–६ इनमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया है।

भाग ७–१० इनमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

भाग ११ इसमें "सर्वनाम" के रूप बताये हैं।

भाग १२ इसमें समासोंका विचार किया है।

भाग १३–१८ इनमें क्रियापद–विचारकी पाठविधि बताई है।

भाग १९–२४ इनमें वेदके साथ परिचय कराया है।

प्रत्येक पुस्तकका मूल्य ॥) और डा. व्य. =)

२४ पुस्तकोंका मूल्य १२) और डा. व्य. १।)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल,

पो. 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

" वैदिक धर्म "

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०

डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,

पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आय धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	३)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता— (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत सहिता— (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.[illegible]	
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.[illegible]	
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह		
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह		

३ दैवत संहिता— (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)

५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)

६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके द

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)
२ मेधातिथि	,,	,,	२)
३ शुनःशेप	,,	,,	१)
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)
५ काण्व	,,	,,	२)
६ सव्य	,,	,,	१)
७ नोधा	,,	,,	१)
८ पराशर	,,	,,	१)
९ गोतम	,,	,,	२)
१० कुत्स	,,	,,	२)
११ त्रित	,,	,,	१.[illegible]
१२ संवनन	,,	,,	
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	
१४ नारायण	,,	,,	१)
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)

मंत्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

शस्त्रोंकी अर्चना

ॐ स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे
वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी
मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ २ ॥
(ऋ. १।३९।२)

हे वीरो ! (प्रतिष्कभे पराणुदे) युद्धमें शत्रुओंको हराने के लिए (वः आयुधा) तुम्हारे शस्त्र (स्थिरा उत वीळू सन्तु) स्थिर और दृढ हों तथा (युष्माकं तविषी पनीयसी अस्तु) तुम्हारे बल व सेना प्रशंसनीय हो, पर (मायिनः मर्त्यस्य मा) जो मायावी हैं तथा जो छल कपटसे युद्ध करते हैं, उनके शस्त्र कभी दृढ न हों ।

वीरोंके शस्त्र सदा उत्तम, तीक्ष्ण और दृढ होने चाहिए । क्योंकि सारे राष्ट्रकी सुरक्षाकी जिम्मेवारी उन्हीं वीरोंपर होती है । शत्रु कभी भी देश पर आक्रमण कर सकता है, अतः यदि उस समय हमारे वीरोंके शस्त्र तीक्ष्ण न रहे तो देशकी रक्षा असम्भव ही है । अतः वीर हमेशा सावधान रहें, सशस्त्र रहें और शत्रुओंको देशसे भगा दें । पर यह दृढता शत्रुओंमें न हो, उनके शस्त्र उत्तम न हों, इसका भी ध्यान वीरोंको रखना चाहिए । तभी देशकी सुरक्षा हो सकती है ।

वैदिक परिवार व्यवस्था

(लेखक— श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी, गव्हर्नमेण्ट टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, P. O. पीपलखेडा, धार)

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्ववेद)

(पुत्र माता-पिताका अनुव्रती (अनुसरण करनेवाला) और स्नेह रखनेवाला हो। श्रेष्ठ मनवाला हो। पत्नी, पतिके साथ मधुर और निष्कपट प्रेम करनेवाली हो, सौम्यस्वभावी और मीठी बोली बोलनेवाली हो।

भाई-भाई, बहिन-बहिन तथा भाई-बहन भी आपसमें किसी प्रकारका द्वेष भाव न रखें। सभी समान गुण, कर्म और स्वभाववाले हों। सब परस्पर सुखप्रद वाणी बोलें।)

वैदिक मंत्र द्रष्टा पूर्वजोंने आदर्श परिवार व्यवस्थाका कितना सुन्दर उपाय उक्त वेदमंत्रमें निर्देशित किया है। अधिकार लिप्सा कटुवाणी और मनमाना व्यवहार करते रहनेसे आज हमारी पारिवारिक शांति नष्ट प्रायः हो गई है। इसलिये आदर्श परिवारकी व्यवस्था उक्त वेदाज्ञाके अनुरूप ही होनी चाहिये। तभी हम गृहकलहकी दावाग्निको शांत कर सकेंगे। अनुशासनमें रहकर हम अपने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों स्वरोंको ऊँचा कर सकेंगे, इसीलिये तो मंत्र द्रष्टा ऋषि आदेश देते हैं।

(१) पुत्र माता पिताकी आज्ञा पालन करनेवाला हो। यदि वह ऐसा नहीं रहेगा तो वह अनुभवहीन दशामें कुपथगामी बन जावेगा। कारण कि योग्यमार्ग दर्शन नहीं मिलेगा। माता पिता पुत्रके सच्चे पथ प्रदर्शक होते हैं। वे जो भी कार्य या शिक्षा आपको देंगे, वह आपके उज्ज्वल भविष्यका निर्माता होगा, आजके उच्छृंखल नवयुवकोंको खूब गहनतापूर्वक विचार करके मातापिताका अनुव्रती बनना चाहिये तभी वे आदर्शपरिवार व्यवस्थाका अनुभव प्राप्त कर सकेंगे।

(२) पत्नी, यदि पतिके अनुशासनमें रहेगी तो, परिवारमें सात्विक वृत्तिकी वृद्धि होगी। यदि वह स्वच्छन्द रही तो नर पशुओंके चंगुलमें फँसकर अपना सतीत्व खो बैठेगी, क्योंकि वे तो हरदम 'साम दाम दण्ड भेद' चारों नीतियोंसे नारियोंको अपने कुचक्रमें फँसाते रहनेके ही चक्करमें रहते हैं। इस प्रकार अनुशासनहीन नारी घरकी पवित्रता व व्यवस्था बिगाड देती है। पतिको अशान्तमानसिक क्लेशोंमें डाल देती है। इसलिये नारीको पवित्र, पतिव्रता और सादाजीवन व्यतीत करते हुए परिवारके प्रत्येक परिजनके साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

(३) भाइयोंमें आपसी प्रेम रहा तो घर स्वर्गके समान सात्विक वातावरण युक्त रहेगा, अन्यथा गृहकलहकी आग धधक उठेगी। अधिकार लिप्साके चक्रमें पडकर सब बँटवारेका प्रयत्न करेंगे। बँटवारा करके आप अपने परिवारकी संगठित शक्तिको नष्ट कर देंगे और संगठनके अनन्यतम लाभोंसे लाभान्वित न होंगे। इसीलिये प्राचीन कालमें हमारे पूर्वज सामूहिक परिवारोंमें रहते थे। इसलिये क्षणिक सुखलिप्साके कुचक्रमें पडकर भाइयोंसे वैर मत कीजिये मधुर व्यवहार करके आप उनके हृदयको जीतकर पारिवारिक शांतिको सुदृढ कर सकते हैं। अतः हम भाइयोंसे सच्चे अर्थोंमें प्रेमपूर्ण व्यवहार करना सीखें।

(४) आजकल बहिनोंमें भी आपसमें बहुत ईर्ष्या रहती है। वे कटुवाणी द्वारा आपसमें लडती और मन ही मन कुढती रहती हैं, जबकि इनकी इस बातकी मनोभूमि तथ्यहीन ही होती है। तथापि वे मन ही मन कुढती रहकर मनको अशांत बनाये रखती हैं। इसलिये स्वस्थपरिवार व्यवस्थाके हेतु परस्पर प्रेम रखना आवश्यक है, क्योंकि प्रेमसे प्रसन्नताका प्रादुर्भाव होता है जो आवश्यक भी है।

(५) इसी प्रकार भाई और बहिनोंमें भी गहन प्रेम होना आवश्यक है। क्योंकि भाई-बहनका घरपर समान अधिकार व प्रेम प्राप्तिका हक है। आप जिस घरके लाडले हैं, उसी घरकी वह भी लाडली है। जिस पर भी उसे पराई होना है। इसलिये आपसे भी अधिक प्रेम प्यार और आदरका पात्र वह है साथ ही साथ बहिनका भी कर्तव्य है कि वह भी भाइयोंसे निष्कपट प्रेम करें।

इस प्रकार हमारे पूर्वजोंने परिवारके सदस्योंको आदर्श परिवार व्यवस्थाका उपाय बतलाया है जिनको हम सबको मानना चाहिये।

सहायता दीजिये

सभी दानदाताओंसे नम्र निवेदन

स्वाध्याय-मण्डल, वैदिक संशोधन संस्थान ', पारडी, (जि. सूरत) के पास अमूल्य पुस्तकोंका प्रशंसनीय संग्रह है, जिनकी सुरक्षा करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। उन पुस्तकोंकी सुरक्षाके लिए एक बृहद् पुस्तकालय बनवानेकी योजना है। जिसका नाम ' **महर्षि पुस्तकालय** ' होगा। इस योजनामें कमसे कम ४०,००० व्यय होनेकी संभावना है। हम इस बातके लिए प्रयत्नशील हैं कि इस उत्तम कार्यके लिए सरकारसे भी कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त हो और प्रसन्नताकी बात है कि गुजरात सरकारसे इसके लिए १०,००० की प्राप्ति भी हो चुकी है। पर हमारी आशा आप जैसे दानदाताओंकी सहायतासे ही पूरी हो सकती है। अतः आपसे नम्र निवेदन है कि आप यथाशक्ति इस कार्यमें हमारी सहायता करें। यदि प्रत्येक व्यक्ति कमसे कम भी दान, दे तो हमें बहुत सहायता मिल सकती है। दानी महानुभाव अपनी सहायता मनिआर्डर अथवा चेक द्वारा ' **अध्यक्ष, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि. सूरत (गुजरात)** ' के पते पर भेज सकते हैं। पर पत्रमें अथवा मनिआर्डरके कूपन पर ' **पुस्तकालयकी सहायताके लिए** ' अवश्य लिखें। जो भी दान देंगे उनके नाम हम अपनी मासिक पत्रिकाओंमें छापेंगे।

मन्त्री—

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

गौ और उसकी रक्षा

राष्ट्रीय संन्यासी डा० अग्निहोत्री स्वामी (भूतपूर्व डा० कुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम. डी., मेडिकल आफिसर टी. बी. सेनेटोरियम) द्वारा स्वास्थ्य भण्डार, १९, शिवाजी मार्ग, लखनऊ।

★

हमारे वेद, शास्त्र और पूर्वजोंने तथा आधुनिक उच्चकोटि के विचारकोंने गऊकी प्रशंसामें रत्ती भर भी अतिशयोक्तिसे काम नहीं लिया है। परीक्षणसे यही सिद्ध होता है कि वेद तो उसकी प्रशंसासे भरा हुआ है ही, अन्य विद्वान् भी इसके लाभों पर विचार करते-करते इतने मुग्ध होजाते हैं कि अपने भावोंको प्रकट करनेको शब्द नहीं खोज पाते। अमेरिकाके डाक्टर बैकफील्ड गायकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं,

'सच पूछो तो गाय खुशहालीकी माता है। प्राचीन भारतके लोग दूध, मक्खनका अधिक प्रयोग करते थे इसी लिए हृष्ट, पुष्ट रहकर बुद्धिशक्ति और स्मरणशक्ति ऊंचे दर्जेकी रखते थे। इन्होंने संस्कृत जैसी वैज्ञानिक और विस्तृत भाषाका आविष्कार किया और वेद जैसी बड़ी पुस्तकको कंठस्थ किया तथा आध्यात्मिकताको संसारमें फैलाया। इन सबका कारण गोदुग्ध ही था। वे प्रत्येक विद्याके पूर्ण विशेषज्ञ थे। फिलासफी, राजनीति, क्षत्रियत्व और अध्यात्म विद्यामें उच्च होनेका कारण गोदुग्धका अधिक प्रयोग ही था।'

आज संसार धनके लिए दीवाना हो रहा है। धनका मोह इतना बढ गया है कि शिष्टाचार, कर्त्तव्य, माता, पिता, स्त्री, संतान, चरित्र, स्वास्थ्य, यहां तक कि ईश्वर और धर्म तकको धनके लिए लोग त्यागनेको उद्यत होजाते हैं। हमारे देशमें तो इस समय भ्रष्टाचार, झूठ, चोरबाजारी, अन्याय-युक्त टैक्स इत्यादिका जो वेग बढ रहा है उसका मुख्य कारण धनकी कमी और उसकी वास्तविकताको न समझना ही है। अतः यहां हम यह बतानेका यत्न करेंगे कि देशका वास्तविक धन इस समय केवल गऊसे ही बढ सकता है और साथ ही धनका वास्तविक मूल्य समझनेवाली बुद्धि भी गोदुग्धसे ही उत्पन्न हो सकती है।

प्रकृतिने हमारा देश संसारका शिरोमणि सबसे अधिक सुखदाई, पर्वत, वन, सपाट मैदान और गंगा जैसी नदियों-से सुसज्जित करके ऐसा रमणीक बनाया है कि यदि यहांके वैश्य शूद्रोंकी सहायतासे केवल खेती, गोपालन और व्यापारका का कार्य करके आनंदकारी धर्मपूर्वक जीवन बितावें, त्यागी ब्राह्मण विद्यामें रत रहकर, और वीर क्षत्रिय अपने वीरत्वमें मस्त रहते हुए देशरक्षा करके न केवल स्वयं मौजका जीवन बिता सकते हैं प्रत्युत संसारमें धर्मनाद बजाकर प्राणिमात्रको सुख पहुँचा सकते हैं। कितना सुन्दर, रमणीक वह दृश्य था जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही के घरमें सैकडों नहीं हजारोंकी संख्यामें लंबे लंबे स्तन-वाली हृष्ट पुष्ट गौएँ दुग्धामृतकी वर्षा करती थीं।

रामायण कालमें केवल अयोध्यानगरीमें चार लाख गौएँ थीं। अबसे २५०० वर्ष पूर्व महाराजा चन्द्रगुप्तके समयमें, जब यहाँ की जनसंख्या १८ करोड थी, ३६ करोड दुधारू गौएँ थीं। अकबरके समयमें भी २८ करोड गौएँ थी और दूध एक पैसेका डेढ सेर अर्थात् एक रुपएका ढाई मन मिलता था। उस समय गऊ केवल गोचरभूमि तथा खेतोंमें इच्छानुसार चर कर प्रातः सायं मस्त होकर घरोंमें दूधके सागर बहा देती थीं। अतः सभी गृहस्थ भोजनकी चिंतासे मुक्त होकर अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करना ही अपना जीवनोद्देश्य समझा करते थे। भूमिका बडा भाग गोचरभूमिके लिए छोडा जाता था। शेष थोडी भूमिमें कृषिकार्यसे जो अन्न होता था उसमेंसे ब्राह्मणके घर दानके रूपमें, क्षत्रियके यहाँ करके रूपमें और

शूद्रके यहाँ पारिश्रमिकके रूपमें स्वयं पहुँचा देना वैश्य लोग अपना परमधर्म समझते थे ।

अत: आजकलका सा धनका मोह किसीको व्यापता ही न था । तब ही तो चन्द्रगुप्त जैसे सम्राट्के विशाल राज्यका राज्यमंत्री त्यागी ब्राह्मण चाणक्य एक पैसा न लेकर देश सेवा कर सकता था; और अनेकों राजा महाराजा राजकोषसे एक पैसा न लेकर पुस्तक लिखकर अपना जीवन निर्वाह कर लेते थे पर प्रजाके सुखके लिए उस पर भार नहीं डालते थे । ऐसे समयमें ही पंचशील अथवा निःशस्त्रीकरणका सिद्धान्त चल सकता था। क्योंकि समय पडनेपर प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति देश रक्षाके लिए स्वयं सिपाही या सैनिक था। उस समय धनका स्थान गौको प्राप्त था । इसीलिए उसे गाय न कहकर गोधन कहा करते थे । वेदमें गायके जो अनेक नाम बताए हैं उनमेंसे एक नाम रोहिणी भी है जिसका अर्थ उन्नतिका साधन है ।

संस्कृत साहित्यमें गऊको अर्थशास्त्रका मुख्य आधार बताया है । गऊधन बढाना परम पुरुषार्थ समझा गया है। यह सब कोरी श्रद्धाके आधार पर नहीं है । श्रद्धाकी भावना है अवश्य; पर श्रद्धा, सत्य और उपयोगिता पर आधारित है । आज देशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तो नाम मात्रको रह गए हैं, प्रायः सब ही धनके मोहमें बिगडे वैश्य बन गए हैं और गोदुग्ध नष्ट होनेसे अन्नका व्यय बढ गया है । अत: अधिक जनसंख्या खेती करती है और वही हमारा आपका मुख्य साधन है । खेतीके लिए भूमिके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ चाहिएँ—

(१) बीज, (२) बैल, (३) खाद, (४) पुरुषार्थ, (५) बुद्धि, गाय इन सब ही की दाता है। क्योंकि किसानके पास बीज उतना ही अधिक होगा जितना अनाजका खर्च उसके यहाँ कम होगा । गऊ पालन और दूध, घी, मठा इत्यादि खानेसे अन्नका व्यय बहुत घट जाता है, यह सब ही जानते हैं । बैल गायसे मिलते ही हैं और दूध अधिक होनेसे खूब बलिष्ठ फुर्तीले एवं द्रुतगामी बैल मिल सकते हैं । गोबरकी खाद सर्वश्रेष्ठ खाद है क्योंकि यह जहाँ भूमिकी उर्व राशक्ति स्थाई रूपमें बढाती है वहाँ स्वास्थ्यप्रद अन्न व सब्जी उत्पन्न करती है । गोदुग्ध और उससे बने पदार्थोंसे शरीरमें शक्ति एवं उत्साह बढनेके साथ विवेक बुद्धि भी बढती है जिसकी सहायतासे थोडीसी भूमिमें थोडेसे बीजोंसे अधिक अन्न उत्पन्न किया जा सकता है ।

भूमिकी हमारे यहां ईश्वर कृपासे कमी नहीं । बुद्धि, पुरुषार्थ, बैल, खाद और बीजकी कमीके कारण हजारों बीघा भूमि खाली पडी रहती है । बुद्धिकी कमीके कारण हम करोडों एकड भूमि चाय, तम्बाकू और मूँगफलीकी खेतीमें नष्ट करते हैं । थोडी मात्रामें मेवाके रूपमें बिना भुनी कच्ची मूँगफली खाना उपयोगी है पर आज लाखों बीघा भूमिमें मूँगफली वनस्पति आयलका विष तैयार करने को बोई जाती है । यदि इसका चलन जारी रहा तो देशका करोडों रुपया नपुंसकों तथा अंधोंकी चिकित्सा और ऐनकों में बरबाद हुआ करेगा । अन्य भयानक रोगोंकी भी बढती होगी जिन पर देशका करोडों रुपया नष्ट होगा । यह सब ही व्यय केवल गोदुग्ध बढानेसे कम हो सकते हैं ।

हमारे बैल केवल खेत ही नहीं जोतते, वे बालसे अनाज निकालते, खेती तथा व्यापारका सामान एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचाते और सवारीका काम भी देते हैं । आज बैलोंकी कमीसे देशमें मोटरोंका चलन बढ रहा है । सवारीमें मोटर, बोझ ढोनेमें मोटर, घास, पात, कूडा, मैला ईंट, पत्थर-- सब ही ढोनेमें अब बैलोंके स्थानमें मोटरका प्रयोग बढ रहा है जिनका अधिक धन अब भी विदेश जाता है और कुछ समयमें मोटर खराब होनेसे सबका सब नष्ट हो जाता है । गाय, बैल पर व्यय किया हुआ धन सर्वदा ही बढता है । मरनेके पश्चात् भी वे चमडे आदिके रूपमें देशको धन दे जाते हैं ।

आज देशमें गोधनकी कमीके कारण करोडों रुपयोंकी खाद भी विदेशसे खरीदी जाती है । श्री डा० जी० एच० जानीने अपनी पुस्तक ‘ रोमांस आफ दि काउ ’(Romance of the cow) में हिसाब लगा कर बताया है कि यदि देशकी आवश्यकता भर गोबरकी खाद उत्पन्न कर ली जावे तो २२५ करोड रुपएका वार्षिक लाभ देशको होगा और इसके लिए ५० करोड पशुओंकी आवश्यकता होगी। पर इस समय हैं केवल १५,१४,४०,००० । शेष संख्या यदि केवल गोवंशसे पूरी की जावे तो भोजन, सवारी, ट्रैक्टर, खाद, चिकित्सा, निर्बलता, बुद्धिहीनता, बेकारी सभी समस्याएँ हल हो जाएँ ।

अंग्रेजोंने हमारा सर्वनाश करनेको गोवध जारी किया था और अपनी शिक्षाके साथ यह विष पिलाया था कि इससे देशको आर्थिक लाभ है। इस शिक्षासे प्रभावित हमारे देशभाई भी कहीं धर्मनिरपेक्षताकी आड लेकर, कहीं बेकार पशुओंके बहानेसे धनकी दाता गऊका वध करा रहे हैं और आज अंग्रेजोंके समयसे भी अधिक वध हो रहा है। पर सरकारी रिकार्डसे ही यह बात सिद्ध होती है कि बिल्कुल नाकारा बूढी गाय भी देशपर भार न होकर देशकी आय बढाती है। कृषिरसायन-विशेषज्ञ डाक्टर लैण्डरने सन् १९३५ ई. में हिसाब लगाकर बताया था कि एक गाय या बैल वर्ष भरमें २६) रु. मूल्यका मूत्र व गोबर प्रदान करता है।

सन् ३५ की अपेक्षा इस समय सब वस्तुओंका मूल्य बढनेसे आजका मूल्य ६०) रु. वार्षिकसे भी अधिक होगा। हमारी सरकारने जो इस समय गोसदनकी स्कीम बनाई है उसके अनुसार एक पशुपर ३०) रु. वार्षिक गोसदनमें व्यय होगा। इसी कारण सरकार प्राइवेट गोसदन खोलनेवालोंको १५) रु. प्रति पशु वार्षिक सहायता देती है। स्पष्ट है कि बूढी गाय भी हमें ६०) रु. वार्षिक मूल्यकी खाद प्रदान करके ३०) रु. वार्षिकका लाभ कराती है और फिर प्राकृतिक मौत मरनेपर भी सैकडों रुपएका चमडा आदि प्रदान कर जाती है। इस प्रकार हर दृष्टिसे गाय राष्ट्रीय हितकी वस्तु है। इसीसे महर्षि दयानन्दने इसके मारनेवालेको मनुष्योंका मारनेवाला कहा है।

गायसे धन बढनेका आधुनिककालीन प्रत्यक्ष प्रमाण श्रीयुत डा० जानी साहबने अपनी पूर्वोक्त पुस्तकमें ही बँगलौर नगरकी 'जिन' नामी गायके जीवन चरित्रकी घटनाओंके आधार पर निम्नलिखित प्रकार लिखा है—

'जिन' गायने अपने १९ वर्षके जीवन कालमें १,५४,७७९ पौंड दूध दिया। सात बछडे और दस बछियाँ प्रदान कीं तथा १३६५) रु. की खाद दी। सब वस्तुएँ जो उसने अपने जीवनमें प्रदान कीं, १३ हजार रुपएके मूल्यकी होती हैं। अब इसके बच्चे पृथक् पृथक् देशका धन इसी प्रकार बढावेंगे। यदि इसको मार कर खा लिया गया होता तो केवल ७०, ८० मांसाहारियोंको एक समयका रोगप्रद भोजन अवश्य मिल जाता, पर देशको इतनी बडी धनराशिसे हाथ धोना पडता। अतः इस समय निर्धनताको दूर करनेका गोधनके बढानेसे बढकर दूसरा कोई साधन नहीं है। इसीसे तो महात्मा गाँधीने कहा था —

'भारतकी सुख समृद्धि गौ और उसकी सन्तानकी समृद्धिके साथ जुडी है।'

गोदुग्धसे सात्विक बुद्धि बनती है जिससे ईश्वर तथा धनकी वास्तविकताका ज्ञान होता है, और जहाँ मनुष्यमें सन्तोष आता है वहाँ दूसरेको हानि पहुँचा कर धन प्राप्त करनेका विचार विदा हो जाता है। इस कारण गोदुग्धके भोजनसे धनकी अति व्यापक अनुचित लोलुपता नष्ट हो जायगी और थोडे धनमें भी लोग सन्तुष्ट होने लगेंगे। इस कारण भी गोदुग्ध बढानेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए कहा जाता है—

गावः सर्वसुखप्रदाः।

हिरण्यगर्भ— सृष्ट्युत्पत्तिका प्रतीक।

प्राचीन कांगडा शैली (१७७५-१८००)

हिरणमयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्। आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ भागवत. ३।६।६

हिरणमय अण्डके भीतर कोई हिरणमय या प्राणमय पुरुष आगे जन्म लेनेवाले सब जीवोंकी शक्तिको अपने अन्दर धारण किए हुए सहस्र संवत्सरतक जलोंमें निवास करते रहे।

३- हिरण्यगर्भ

[डा. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय काशी]

[गताङ्कसे आगे]

ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायणः स्मृतः, (मनु.)
स्वयंभू परमेष्ठिको सूर्य कहें, अथवा नर-नार-नारायण कहें एक ही तत्वकी द्विविध परिभाषाएं हैं।

स्वयंभू, परमेष्ठि, सूर्य, अंतरिक्ष, परमेष्ठि ये ही पांच पिण्ड या पुर हैं। इन पांचोंके संचालक प्राण 'पंच जन' या 'पंच नर' या 'पंच पुरुष' या 'पंच देवता' या 'पंच विश्वसृज' कहलाते हैं। जो स्वयंभू पुरुष विश्वातीत और अव्यक्त था वही स्वयं इन पांचोंमें प्रविष्ट हुआ है, जैसा कहा है— 'पंचस्वंतः पुरुष आविवेश' इनमें स्वयंभू सूर्य और पृथिवी ये तीन अग्निके रूप हैं और विराज् या परमेष्ठि और चन्द्रमा सोम या जलके। इन्हें ही ऋग्वेदमें तीन अग्नि और दो जल कहा गया है।

त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा
द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्। ऋ. १०।२७।२३

इन पांचोंमें पृथ्वी अंतरिक्ष और द्यौः ये तो प्रत्यक्ष हैं। भौतिक सृष्टि इन्हींकी सीमामें है। सूर्यसे ऊपर परमेष्ठि और स्वयंभू अव्यक्त या मानसी सृष्टिके प्रतीक हैं। द्यावा-पृथ्वीकी सृष्टि व्यष्टि केन्द्रको सूचित करती है और स्वयंभू परमेष्ठिकी समष्टिको। ये दोनों युग्म माता-पिता हैं। पहले दो मानुषी सृष्टिके और दूसरे दो मैथुनी सृष्टिके।

हिरण्य शब्द बहुत सार्थक है। हिरण्यका सामान्य अर्थ सुवर्ण है किन्तु वैदिक परिभाषामें वह प्राण या रेतका प्रतीक है। स्वयंभू जब विराजमें रेतका आधान करता है तब उससे हिरण्य गर्भका जन्म होता है। यही हैमाण्ड या सुवर्ण का अण्ड है। कहा जाता है कि वह अंड एक संवत्सर तक आपोमय समुद्रमें तैरता रहा। उसके भीतर जो हिरण्य या प्राणका केन्द्र था उसकी दुर्धर्ष शक्तिका जब कालकी शक्तिसे संयोग हुआ तो संवत्सरके उपरान्त अंडा फूटा और उसके दो खंड हुए। एक द्युलोक और दूसरा पृथिवी लोक। द्यौ पिता और पृथिवी माताके अनुसार द्यावापृथ्वी विश्वके माता पिता हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें इस सृष्टिको प्रजापतिका कामप्रयज्ञ कहा है—

ता ता एताः पंचदेवता एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त। श. ११।१।६।२१-२०

इनमें सूर्य या इन्द्रको आत्मा कहा जाय तो परमेष्ठि पिता और स्वयंभू पितामह कहा जायगा। सूर्यके दो पुत्र अग्नि और सोम दो भाई कहे गए हैं। जैसे शतपथमें आया है।

स परमेष्ठी प्रजापतिः पितरमब्रवीत् कामप्रं वाऽअहं यज्ञमदर्शम्, तेन त्वा याजयानीति स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत्। अनेन वां कामप्रेण यज्ञेन याजयानि, येन मामिदं पिता प्रजापतिरयीयजदिति। श. ११।१।६।१७,१९

इस प्रकार पितामह, पिता, आत्मा, पुत्र, पौत्र ये पांच प्रतीक ही ५ पुरोंके अधिपति पंचजन या पंच देवता हैं। अथर्वके एक मंत्रमें इन पांचोंका उल्लेख आया है—

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं मे प्रियास्तानुपह्वये॥
अथर्व. ९।५।३०

जब प्रजापतिने कामना की तो उनके ईक्षण या कामसे यह सृष्टि हुई इसीलिए इसे 'कामप्रयज्ञ' कहते हैं। यह विश्व क्या है? प्रजापतिके मन या कामकी पूर्ति है। जब यह कामप्रयज्ञ प्रकट हुआ तो प्रजापतिने सोचा कि जो कुछ यह सब है वह मैं ही बन जाऊं या मैं और वह एक हो जांय। यह सोचकर वह स्वयं प्राण बन गये। यह सब विश्व भी तो प्राण ही है और यह स्थूल वायु जिससे सब प्राणी जीवित हैं यही प्राणका प्रतीक है—

स इत्थ्वाकामयताहमेवेदं सर्वं स्यामिति।
स प्राणोऽभवत्, प्राणो वा इदँ सर्वम्, अयं वै प्राणो योऽयं पवते। शत. ११।१।६।१७

प्राण विश्वका जीवन तत्व है। प्राण ही तो हिरण्यगर्भ है। जहां प्राण है वहां स्वतः उसके दो रूप होजाते हैं, एक

गौ और उसकी रक्षा

राष्ट्रीय संन्यासी डा० अग्निहोत्री स्वामी (भूतपूर्व डा० कुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम. डी., मेडिकल आफिसर टी. बी. सेनेटोरियम) द्वारा स्वास्थ्य भण्डार, १९, शिवाजी मार्ग, लखनऊ।

*

हमारे वेद, शास्त्र और पूर्वजोंने तथा आधुनिक उच्चकोटि के विचारकोंने गऊकी प्रशंसामें रत्ती भर भी अतिशयोक्तिसे काम नहीं लिया है। परीक्षणसे यही सिद्ध होता है कि वेद तो उसकी प्रशंसासे भरा हुआ है ही, अन्य विद्वान् भी उसके लाभों पर विचार करते-करते इतने मुग्ध होजाते हैं कि अपने भावोंको प्रकट करनेको शब्द नहीं खोज पाते। अमेरिकाके डाक्टर बैकफील्ड गायकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं,

'सच पूछो तो गाय खुशहालीकी माता है। प्राचीन भारतके लोग दूध, मक्खनका अधिक प्रयोग करते थे इसी लिए हृष्ट, पुष्ट रहकर बुद्धिशक्ति और स्मरणशक्ति ऊंचे दर्जेकी रखते थे। इन्होंने संस्कृत जैसी वैज्ञानिक और विस्तृत भाषाका आविष्कार किया और वेद जैसी बड़ी पुस्तकको कंठस्थ किया तथा आध्यात्मिकताको संसारमें फैलाया। इन सबका कारण गोदुग्ध ही था। वे प्रत्येक विद्याके पूर्ण विशेषज्ञ थे; फिलासफी, राजनीति, क्षत्रियत्व और अध्यात्म विद्यामें उच्च होनेका कारण गोदुग्धका अधिक प्रयोग ही था।'

आज संसार धनके लिए दीवाना हो रहा है। धनका मोह इतना बढ़ गया है कि शिष्टाचार, कर्त्तव्य, माता, पिता, स्त्री, संतान, चरित्र, स्वास्थ्य, यहां तक कि ईश्वर और धर्म तकको धनके लिए लोग त्यागनेको उद्यत होजाते हैं। हमारे देशमें तो इस समय भ्रष्टाचार, झूठ, चोरबाजारी, अन्याय-युक्त टैक्स इत्यादिका जो वेग बढ़ रहा है उसका मुख्य कारण धनकी कमी और उसकी वास्तविकताको न समझना ही है। अतः यहां हम यह बतानेका यत्न करेंगे कि देशका वास्तविक धन इस समय केवल गऊसे ही बढ़ सकता है और साथ ही धनका वास्तविक मूल्य समझनेवाली बुद्धि भी गोदुग्धसे ही उत्पन्न हो सकती है।

प्रकृतिने हमारा देश संसारका शिरोमणि सबसे अधिक सुखदाई, पर्वत, वन, सपाट मैदान और गंगा जैसी नदियों-से सुसज्जित करके ऐसा रमणीक बनाया है कि यदि यहांके वैश्य शूद्रोंकी सहायतासे केवल खेती, गोपालन और व्या-पारका का कार्य करके आनंदकारी धर्मपूर्वक जीवन बितावें, त्यागी ब्राह्मण विद्यामें रत रहकर, और वीर क्षत्रिय अपने वीरत्वमें मस्त रहते हुए देशरक्षा करके न केवल स्वयं मौज-का जीवन बिता सकते हैं प्रत्युत संसारमें धर्मनाद बजाकर प्राणिमात्रको सुख पहुँचा सकते हैं। कितना सुन्दर, रम-णीक वह दृश्य था जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही के घरमें सैकड़ों नहीं हजारोंकी संख्यामें लंबे लंबे स्तन-वाली हृष्ट पुष्ट गौएँ दुग्धामृतकी वर्षा करती थीं।

रामायण कालमें केवल अयोध्यानगरीमें चार लाख गौएँ थीं। अबसे २५०० वर्ष पूर्व महाराजा चन्द्रगुप्तके समयमें, जब यहाँ की जनसंख्या १८ करोड़ थी, ३६ करोड़ दुधारू गौएँ थीं। अकबरके समयमें भी २८ करोड़ गौएँ थी और दूध एक पैसेका डेढ़ सेर अर्थात् एक रुपएका ढाई मन मिलता था। उस समय गऊ केवल गोचरभूमि तथा खेतोंमें इच्छानुसार चर कर प्रातः सायं मस्त होकर घरोंमें दूधके सागर बहा देती थीं। अतः सभी गृहस्थ भोजनकी चिंतासे मुक्त होकर अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करना ही अपना जीवनोद्देश्य समझा करते थे। भूमिका बड़ा भाग गोचरभूमिके लिए छोड़ा जाता था। शेष थोड़ी भूमिमें कृषिकार्यसे जो अन्न होता था उसमेंसे ब्राह्मणके घर दानके रूपमें, क्षत्रियके यहाँ करके रूपमें और

शूद्रके यहाँ पारिश्रमिकके रूपमें स्वयं पहुँचा देना वैश्य लोग अपना परमधर्म समझते थे।

अतः आजकलका सा धनका मोह किसीको व्यापता ही न था। तब ही तो चन्द्रगुप्त जैसे सम्राट्के विशाल राज्यका राज्यमंत्री त्यागी ब्राह्मण चाणक्य एक पैसा न लेकर देश सेवा कर सकता था; और अनेकों राजा महाराजा राजकोषसे एक पैसा न लेकर पुस्तक लिखकर अपना जीवन निर्वाह कर लेते थे पर प्रजाके सुखके लिए उस पर भार नहीं डालते थे। ऐसे समयमें ही पंचशील अथवा निःशस्त्रीकरणका सिद्धान्त चल सकता था क्योंकि समय पडनेपर प्रजाका प्रत्येक व्यक्ति देश रक्षाके लिए स्वयं सिपाही या सैनिक था। उस समय धनका स्थान गौको प्राप्त था। इसीलिए उसे गाय न कहकर गोधन कहा करते थे। वेदमें गायके जो अनेक नाम बताए हैं उनमेंसे एक नाम रोहिणी भी है जिसका अर्थ उन्नतिका साधन है।

संस्कृत साहित्यमें गऊको अर्थशास्त्रका मुख्य आधार बताया है। गऊधन बढाना परम पुरुषार्थ समझा गया है। यह सब कोरी श्रद्धाके आधार पर नहीं है। श्रद्धाकी भावना है अवश्य; पर श्रद्धा, सत्य और उपयोगिता पर आधारित है। आज देशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तो नाम मात्रको रह गए हैं, प्रायः सब ही धनके मोहमें बिगडे वैश्य बन गए हैं और गोदुग्ध नष्ट होनेसे अन्नका व्यय बढ गया है। अतः अधिक जनसंख्या खेती करती है और वही हमारा आपका मुख्य साधन है। खेतीके लिए भूमिके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ चाहिएँ—

(१) बीज, (२) बैल, (३) खाद, (४) पुरुषार्थ, (५) बुद्धि, गाय इन सब हीकी दाता है। क्योंकि किसानके पास बीज उतना ही अधिक होगा जितना अनाजका खर्च उसके यहाँ कम होगा। गऊ पालन और दूध, घी, मठा इत्यादि खानेसे अन्नका व्यय बहुत घट जाता है, यह सब ही जानते हैं। बैल गायसे मिलते ही हैं और दूध अधिक होनेसे खूब बलिष्ठ फुर्तीले एवं द्रुतगामी बैल मिल सकते हैं। गोबरकी खाद सर्वश्रेष्ठ खाद है क्योंकि यह जहाँ भूमिकी उर्वराशक्ति स्थाई रूपमें बढाती है वहाँ स्वास्थ्यप्रद अन्न व सब्जी उत्पन्न करती है। गोदुग्ध और उससे बने पदार्थोंसे शरीरमें शक्ति एवं उत्साह बढनेके साथ विवेक बुद्धि भी बढती है जिसकी सहायतासे थोडीसी भूमिमें थोडेसे बीजोंसे अधिक अन्न उत्पन्न किया जा सकता है।

भूमिकी हमारे यहां ईश्वर कृपासे कमी नहीं। बुद्धि, पुरुषार्थ, बैल, खाद और बीजकी कमीके कारण हजारों बीघा भूमि खाली पडी रहती है। बुद्धिकी कमीके कारण हम करोडों एकड भूमि चाय, तम्बाकू और मूँगफलीकी खेतीमें नष्ट करते हैं। थोडी मात्रामें मेवाके रूपमें बिना भुनी कच्ची भूँगफली खाना उपयोगी है पर आज लाखों बीघा भूमिमें मूँगफली वनस्पति आयलका विष तैयार करने को बोई जाती है। यदि इसका चलन जारी रहा तो देशका करोडों रुपया नपुंसकों तथा अंधोंकी चिकित्सा और ऐनकों में बरबाद हुआ करेगा। अन्य भयानक रोगोंकी भी बढती होगी जिन पर देशका करोडों रुपया नष्ट होगा। यह सब ही व्यय केवल गोदुग्ध बढानेसे कम हो सकते हैं।

हमारे बैल केवल खेत ही नहीं जोतते, वे बालसे अनाज निकालते, खेती तथा व्यापारका सामान एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचाते और सवारीका काम भी देते हैं। आज बैलोंकी कमीसे देशमें मोटरोंका चलन बढ रहा है। सवारीमें मोटर, बोझ ढोनेमें मोटर, घास, पात, कूडा, मैला ईंट, पत्थर-- सब ही ढोनेमें अब बैलोंके स्थानमें मोटरका प्रयोग बढ रहा है जिनका अधिक धन अब भी विदेश जाता है और कुछ समयमें मोटर खराब होनेसे सबका सब नष्ट हो जाता है। गाय, बैल पर व्यय किया हुआ धन सर्वदा ही बढता है। मरनेके पश्चात् भी वे चमडे आदिके रूपमें देशको धन दे जाते हैं।

आज देशमें गोधनकी कमीके कारण करोडों रुपयोंकी खाद भी विदेशसे खरीदी जाती है। श्री डा० जी० एच० जानीने अपनी पुस्तक 'रोमांस आफ दि काउ '(Romance of the cow) में हिसाब लगा कर बताया है कि यदि देशकी आवश्यकता भर गोबरकी खाद उत्पन्न कर ली जावे तो २२५ करोड रुपएका वार्षिक लाभ देशको होगा और इसके लिए ५० करोड पशुओंकी आवश्यकता होगी। पर इस समय हैं केवल १९,१४,४०,०००। शेष संख्या यदि केवल गोवंशसे पूरी की जावे तो भोजन, सवारी, ट्रैक्टर, खाद, चिकित्सा, निर्बलता, बुद्धिहीनता, बेकारी सभी समस्याएँ हल हो जाएँ।

अंग्रेजोंने हमारा सर्वनाश करनेको गोवध जारी किया था और अपनी शिक्षाके साथ यह विष पिलाया था कि इससे देशको आर्थिक लाभ है। इस शिक्षासे प्रभावित हमारे देशभाई भी कहीं धर्मनिरपेक्षताकी आड लेकर, कहीं बेकार पशुओंके बहानेसे धनकी दाता गऊका वध करा रहे हैं और आज अंग्रेजोंके समयसे भी अधिक वध हो रहा है। पर सरकारी रिकार्डसे ही यह बात सिद्ध होती है कि बिल्कुल नाकारा बूढी गाय भी देशपर भार न होकर देशकी आय बढाती है। कृषिरसायन–विशेषज्ञ डाक्टर लैण्डरने सन् १९३५ ई. में हिसाब लगाकर बताया था कि एक गाय या बैल वर्ष भरमें २६) रु. मूल्यका मूत्र व गोबर प्रदान करता है।

सन् ३५ की अपेक्षा इस समय सब वस्तुओंका मूल्य बढनेसे आजका मूल्य ६०) रु. वार्षिकसे भी अधिक होगा। हमारी सरकारने जो इस समय गोसदनकी स्कीम बनाई है उसके अनुसार एक पशुपर ३०) रु. वार्षिक गोसदनमें व्यय होगा। इसी कारण सरकार प्राइवेट गोसदन खोलनेवालोंको १५) रु. प्रति पशु वार्षिक सहायता देती है। स्पष्ट है कि बूढी गाय भी हमें ६०) रु. वार्षिक मूल्यकी खाद प्रदान करके ३०) रु. वार्षिकका लाभ कराती है और फिर प्राकृतिक मौत मरनेपर भी सैकडों रुपएका चमडा आदि प्रदान कर जाती है। इस प्रकार हर दृष्टिसे गाय राष्ट्रीय हितकी वस्तु है। इसीसे महर्षि दयानन्दने इसके मारनेवालेको मनुष्योंका मारनेवाला कहा है।

गायसे धन बढनेका आधुनिककालीन प्रत्यक्ष प्रमाण श्रीयुत डा० जानी साहबने अपनी पूर्वोक्त पुस्तकमें ही बँगलौर नगरकी 'जिन' नामी गायके जीवन चरित्रकी घटनाओंके आधार पर निम्नलिखित प्रकार लिखा है—

'जिन' गायने अपने १९ वर्षके जीवन कालमें १,५४,७७९ पौंड दूध दिया। सात बछडे और दस बछियाँ प्रदान कीं तथा १३६५) रु. की खाद दी। सब वस्तुएँ जो उसने अपने जीवनमें प्रदान कीं, १३ हजार रुपएके मूल्यकी होती हैं। अब इसके बच्चे पृथक् पृथक् देशका धन इसी प्रकार बढावेंगे। यदि इसको मार कर खा लिया गया होता तो केवल ७०, ८० मांसाहारियोंको एक समयका रोगप्रद भोजन अवश्य मिल जाता, पर देशको इतनी बडी धनराशिसे हाथ धोना पडता। अतः इस समय निर्धनताको दूर करनेका गोधनके बढानेसे बढकर दूसरा कोई साधन नहीं है। इसीसे तो महात्मा गाँधीने कहा था —

'भारतकी सुख समृद्धि गौ और उसकी सन्तानकी समृद्धिके साथ जुडी है।'

गोदुग्धसे सात्त्विक बुद्धि बनती है जिससे ईश्वर तथा धनकी वास्तविकताका ज्ञान होता है, और जहाँ मनुष्यमें सन्तोष आता है वहाँ दूसरेको हानि पहुँचा कर धन प्राप्त करनेका विचार विदा हो जाता है। इस कारण गोदुग्धके भोजनसे धनकी अति व्यापक अनुचित लोलुपता नष्ट हो जायगी और थोडे धनमें भी लोग सन्तुष्ट होने लगेंगे। इस कारण भी गोदुग्ध बढानेकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए कहा जाता है—

गावः सर्वसुखप्रदाः।

हिरण्यगर्भ— सृष्ट्युत्पत्तिका प्रतीक ।

प्राचीन कांगडा शैली (१७७५-१८००)

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् । आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ भागवत. ३।६।६

हिरण्मय अण्डके भीतर कोई हिरण्मय या प्राणमय पुरुष आगे जन्म लेनेवाले सब जीवोंकी शक्तिको अपने अन्दर धारण किए हुए सहस्र संवत्सरतक जलोंमें निवास करते रहे ।

३– हिरण्यगर्भ

[डा. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय काशी]

[गताङ्कसे आगे]

ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायणः स्मृतः, (मनु.)
स्वयंभू परमेष्ठिको सूर्य कहें, अथवा नर–नार–नारायण कहें एक ही तत्वकी द्विविध परिभाषाएं हैं।

स्वयंभू, परमेष्ठि, सूर्य, अंतरिक्ष, परमेष्ठि ये ही पांच पिण्ड या पुर हैं। इन पांचोंके संचालक प्राण 'पंच जन' या 'पंच नर' या 'पंच पुरुष' या 'पंच देवता' या 'पंच विश्वसृज' कहलाते हैं। जो स्वयंभू पुरुष विश्वातीत और अव्यक्त था वही स्वयं इन पांचोंमें प्रविष्ट हुआ है, जैसा कहा है— 'पंचस्वंतः पुरुष आविवेश' इनमें स्वयंभू सूर्य और पृथिवी ये तीन अग्निके रूप हैं और विराज् या परमेष्ठि और चन्द्रमा सोम या जलके। इन्हें ही ऋग्वेदमें तीन अग्नि और दो जल कहा गया है।

त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा
द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्। ऋ. १०।२७।२३

इन पांचोंमें पृथ्वी अंतरिक्ष और द्यौः ये तो प्रत्यक्ष हैं। भौतिक सृष्टि इन्हींकी सीमामें है। सूर्यसे ऊपर परमेष्ठि और स्वयंभू अव्यक्त या मानसी सृष्टिके प्रतीक हैं। द्यावा-पृथ्वीकी सृष्टि व्यष्टि केन्द्रको सूचित करती है और स्वयंभू परमेष्ठिकी समष्टिको। ये दोनों युग्म माता–पिता हैं। पहले दो मानुषी सृष्टिके और दूसरे दो मैथुनी सृष्टिके।

हिरण्य शब्द बहुत सार्थक है। हिरण्यका सामान्य अर्थ सुवर्ण है किन्तु वैदिक परिभाषामें वह प्राण या रेतका प्रतीक है। स्वयंभू जब विराजमें रेतका आधान करता है तब उससे हिरण्य गर्भका जन्म होता है। यही हैमाण्ड या सुवर्ण का अण्ड है। कहा जाता है कि वह अंड एक संवत्सर तक आपोमय समुद्रमें तैरता रहा। उसके भीतर जो हिरण्य या प्राणका केन्द्र था उसकी दुर्धर्ष शक्तिका जब कालकी शक्तिसे संयोग हुआ तो संवत्सरके उपरान्त अंडा फूटा और उसके दो खंड हुए। एक द्युलोक और दूसरा पृथिवी लोक। द्यौ पिता और पृथिवी माताके अनुसार द्यावापृथ्वी विश्वके माता पिता हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें इस सृष्टिको प्रजापतिका कामप्रयज्ञ कहा है—

ता ता एताः पंचदेवता एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त। श. ११।१।६।२१–२०

इनमें सूर्य या इन्द्रको आत्मा कहा जाय तो परमेष्ठि पिता और स्वयंभू पितामह कहा जायगा। सूर्यके दो पुत्र अग्नि और सोम दो भाई कहे गए हैं। जैसे शतपथमें आया है।

स परमेष्ठी प्रजापतिः पितरमब्रवीत् कामप्रं वाऽअहं यज्ञमदर्शम्, तेन त्वा याजयानीति स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत्। अनेन वां कामप्रेण यज्ञेन याजयानि, येन मामिदं पिता प्रजापतिरयीयजदिति। श. ११।१।६।१७,१९

इस प्रकार पितामह, पिता, आत्मा, पुत्र, पौत्र ये पांच प्रतीक ही ५ पुरोंके अधिपति पंचजन या पंच देवता हैं। अथर्वके एक मंत्रमें इन पांचोंका उल्लेख आया है—

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं मे प्रियास्तानुपह्वये॥
अथर्व. ९।५।३०

जब प्रजापतिने कामना की तो उनके ईक्षण या कामसे यह सृष्टि हुई इसीलिए इसे 'कामप्रयज्ञ' कहते हैं। यह विश्व क्या है? प्रजापतिके मन या कामकी पूर्ति है। जब यह कामप्रयज्ञ प्रकट हुआ तो प्रजापतिने सोचा कि जो कुछ यह सब है वह मैं ही बन जाऊं या मैं और वह एक हो जांय। यह सोचकर वह स्वयं प्राण बन गये। यह सब विश्व भी तो प्राण ही है और यह स्थूल वायु जिससे सब प्राणी जीवित हैं यही प्राणका प्रतीक है—

स इक्ष्वाकामयताहमेवेदं सर्वं स्यामिति।
स प्राणोऽभवत्, प्राणो वा इदं सर्वम्, अयं वै प्राणो योऽयं पवते। शत. ११।१।६।१७

प्राण विश्वका जीवन तत्व है। प्राण ही तो हिरण्यगर्भ है। जहां प्राण है वहां स्वतः उसके दो रूप होजाते हैं, एक

प्राण दूसरा अपान, यही वेपन या कंपन कहलाता है। इसे ही वैदिक विज्ञानकी परिभाषामें 'समंचन-प्रसारण' कहते हैं। बिना इन दोनोंके प्राण या जीवन संभव नहीं होता। प्राण शक्तिका रूप है। उसकी अभिव्यक्तिके लिए शक्तिका द्विविरुद्ध भावमें आना आवश्यक है। उस द्वित्वके अनेक नाम हैं। प्राणिशास्त्रकी भाषामें वे ही माता पिता हैं किन्तु विज्ञान की भाषामें वे ही ऋण और धन हैं। उन्हें ही अथर्ववेदमें हिम (ठंडा) और घ्रंस (गर्म) कहा गया है—

तत्रैवाग्नी आधत्तः हिमं घ्रंसं च रोहितः।
अथर्व. १३।१।४६

रोहित या सूर्यने हिम और घ्रंस नामक दो अग्नियोंका आधान किया है इन्हीं दोनोंसे यज्ञ पूरा होता है—

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते।
तस्माद्घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद्यज्ञोऽजायत ॥
अथर्व. १३।१।४८

स्वर्लोकको जाननेवाला रोहित या लाल रंगका तत्व ही अग्नि या सूर्य है। वही प्राणसमन्वित हिरण्यगर्भ है।

क्षोभ

ऊपर कहा जा चुका है कि विष्णुकी निद्रा प्रलय और जागरण सृष्टिके प्रतीक हैं। ये दोनों क्रियाएं हम मानवीय शरीरमें प्रत्यक्ष देखते हैं। अतएव इनके तारतम्य एवं रहस्यको यदि हम निकटसे जान लें तो सृष्टि चक्रके संकोच और विकासको भी जान सकेंगे। किन्तु मानव शरीरमें तो इन दो प्राण क्रियाके अतिरिक्त और भी अनेक क्रियाएं होती हैं। प्राचीन ऋषियोंने विचार किया कि जिस प्रकार वे मानवके शरीरमें हैं उसी प्रकार विराट् पुरुषके शरीरमें भी वे अवश्य हैं। कारणसे ही वे कार्यमें आई हैं। इस दृष्टिसे सृष्टिके जन्मको अनेक परिभाषाओं द्वारा प्रकट किया गया है जैसे वेपन्, प्राणन्, निश्वसन्, उन्मीलन, निमेषोन्मेष, समञ्चन, प्रसारण; क्षिवण (छींकना) वमन, परिस्फुरण, स्पंदन, जागरण, गुण वैषम्य, नृत्य, विक्रमण, समिन्धन, यजन, हवन, द्योतन आदि। इन्हींके समकक्ष एक शब्द क्षोभ या क्षोभण है जो इस प्रसंगमें पुराणोंमें प्रायः आता है—

साधर्म्येणावतिष्ठेते प्रधानपुरुषावुभौ।
तमः सत्त्वरजोपेतौ समत्वेन व्यवस्थितौ ॥ ७२
अनुपृक्तावभूतां तावोतप्रोतौ परस्परम्।
गुणसाम्यो लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते ॥ ७३

उपास्य रजनीं कृत्स्नां परां माहेश्वरीं तथा।
अहर्मुखे प्रवृत्तश्च परः प्रकृतिसम्भवः ॥ ७५
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥ ७६ ॥
लिंग. १।७०

ऊपरके अवतरणमें सूत्र जैसी शैलीमें सृष्टि और लयके नियमका जैसा युक्तिसंभव और वैज्ञानिक वर्णन है, वह अत्यंत प्रभावोत्पादक है। सृष्टिमें दो सत्ताएं हैं। एक पुरुष और दूसरी प्रकृति, जिसे यहां सांख्य परिभाषाके अनुसार प्रधान कहा गया है। जब वे सत्त्वरजतम इन तीन गुणोंको अपने आपमें लीन करके समान धर्म अवस्थामें या समत्व भावमें रहती हैं तो कोई सृष्टि नहीं होती। वे दोनों सत्तायें एक दूसरेसे सम्पृक्त एवं परस्पर ओत-प्रोत हैं। शिव और शक्ति की जो स्थिति है वही पुरुष और प्रकृतिकी है। इन दोनों तत्वोंकी पारस्परिक स्थितिके दो रूप हैं। एक शांत और दूसरा क्षुब्ध। शान्त अवस्थाको गुणसाम्य और क्षुब्धको गुणवैषम्य कहते हैं। बिना वैषम्यके गति सम्भव नहीं। गति या क्रिया ही रजोगुण है, जैसे किसी शान्त सरोवरमें ठहरे हुए जलमें गति नहीं होती किन्तु जब वही जल नीची भूमि पाता है तो बह निकलता है।

यही प्रवाह या संचरण गति है जिससे लोकोंका निर्माण होता है। लोकविद्या गतिविद्याका ही रूप है। वेदमें लोकोंको 'रजांसि' कहा जाता है। लोकोंका प्रादुर्भाव 'रजसो विमानः' कहा गया है। सृष्टि और प्रलय अहोरात्रके समान हैं। प्रलयका रूप ईश्वरकी शक्ति है और सृष्टि उस पर पुरुषका प्रकट रूप है। किन्तु दोनों तत्वतः अविनाभूत हैं। परपुरुष परमेश्वर ही शान्त प्रलयावस्थाको अपनी शक्ति द्वारा क्षुब्ध करता है। वही क्षोभण गुणवैषम्य अर्थात् सत्व रजकी पारस्परिक विषमताको उत्पन्न करता है। ये तीन गुण ही त्रिदेव, त्रिलोक और अग्नित्रय नामोंसे प्रसिद्ध हैं। विद्वान् इनमें भेद नहीं मानते।

महेश्वरात् त्रयो देवा जज्ञिरे जगदीश्वरात्।
शाश्वताः परमा गुह्याः सर्वात्मानः शरीरिणः। ७७
एत एव त्रयो देवा एत एव त्रयो गुणाः।
एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ ७८
लिंग. १।७०

जिस समय योगनिद्रा विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट हुई वे अचेतनके समान स्पंद वर्जित होगये। किन्तु वाक्की अचिंत्यशक्तिसे वह तामसी निद्रा विष्णुके शरीरसे बाहर आई और नारायण पुरुष जागरणभावमें आगए।

एवं स्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा ।
निःसृत्य हरिदेहात्तु संस्थिता पार्श्वतस्तदा ।
विस्पन्दित शरीरोऽसौ यदा जातो जनार्दनः
धाता परमिकां प्राप्तो मुदं दृष्ट्वा हरिं ततः॥
एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः ।
रजःसत्वतमोभिश्च संयुताः कार्यकारकाः ॥
देवी. १।७।४८,५०

विराट् अंडके भीतर जिसे हिरण्य या प्राण कहा जाता है उसीका रूप त्रिदेव, त्रैगुण्य या अग्नित्रेता है । इसीसे महत्तत्व या बुद्धि एवं अहंकारका जन्म होता है । और अहंकारसे सूक्ष्म तन्मात्राएं एवं ज्ञान और कर्मकी इन्द्रियां विकसित होती हैं ।

प्रकृतिः क्षोभमापन्ना पुरुषाख्ये जगद्गुरौ ।
महान् प्रादुरभूद् बुद्धिस्ततोऽहं समवर्तत ॥
अहंकाराच्च सूक्ष्माणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
(बृहन्नारदीय ३।३१-३२)

परमपुरुष कहें या स्थाणु महेश्वर या निद्रानारायण, ये सब स्थितियां प्रतिष्ठातत्वके सूचक हैं । जहां सब गतियोंका अन्तर्भाव है । इसके विपरीत प्रकृति क्षोभकी अवस्था है । क्षोभ द्वारा रजोगुणकी उत्पत्तिका सिद्धान्त पुराणोंमें अनेक स्थानोंमें आता है । जिसे दर्शनमें तीन गुण, उपासनामें त्रिदेव और यज्ञमें अग्नित्रय कहा जाता है वे ही तो विश्वके संकोच विकासके रूपमें प्रकट होनेवाली परब्रह्मकी महान् शक्ति या स्वधा है—

स एव क्षोभकः पूर्वं स क्षोभ्यः प्रकृतेः पतिः ।
स संकोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः
॥ १२ ॥
उत्पन्नः स जगद्योनिरगुणोऽपि रजोगुणम् ।
भुञ्जन् प्रवर्तते सर्गे ब्रह्मत्वं समुपाश्रितः ॥ १३ ॥
रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णुः सत्वं जगत्पतिः ।
एत एव त्रयो देवा एत एव त्रयो गुणाः ॥ १८ ॥
(मार्कण्डेय अ० ४६)

शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्वैकतां गता ।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥ १८ ॥
तस्यां विक्षोभ्यमाणायामादौ नादः समुद्भभौ ।१९
(शिव. वायवीय संहिता २।४)

ब्रह्मा रज, रुद्र तम और विष्णु सत्व है जो एक ही जगत्पति ईश्वरके तीन रूप हैं । यह सिद्धान्त भारतीय सृष्टि विद्याका मूल आधार है । ईश्वरकी इच्छासे या ब्रह्मकी स्वधा शक्तिसे या इन्द्रकी मायासे प्रकृति तीन गुणोंके रूपमें क्रीडा या नृत्य करती है । यही उसका स्फुरण या क्षोभ है । जैसे तिलोंमें तेल है वैसे ही यह उसका स्वभाव है । इसके क्षोभका आदि रूप नाद या शब्दकी उत्पत्ति है जो आकाशका गुण है । एवं जो आकाश पंचभूतोंमें सबसे सूक्ष्म है और सर्व प्रथम जन्म लेता है । रजस्, अक्षर, अमृत, शक्ति, क्रियाभाव ये सब क्षोभ या प्राणनूसे संवर्धित हैं । पुराणोंमें इन सब शब्दोंका प्रयोग आता है ।

सैका परा च चिद्रूपा शक्तिः प्रसवधर्मिणी ।
विभज्य बहुधा विश्वं विदधाति शिवेच्छया १५
एकधा च द्विधा चैव तथा शतसहस्रधा ।
शक्तयः खलु भिद्यन्ते बहुधा व्यवहारतः ॥ १७ ॥
(शिवपु. वायवीय सं. २।४)

स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च ।
(शिव. वाय. सं. २।४।३७)

ईशो वृक्ष इव स्तब्धो य एको दिवि तिष्ठति ।
येनेदमखिलं पूर्णं पुरुषेण महात्मना ॥ ६ ॥
एको बहूनां जन्तूनां निष्क्रियाणां च सक्रियः ।
य एको बहुधा बीजं करोति स महेश्वरः ॥ ७ ॥
यदिदं क्षरमव्यक्तं यदप्यमृतमक्षरम् ।
तावुभावक्षरात्मानावेको देवः स्वयं हरः ॥ १२ ॥
अयं मुक्तो मोचकश्च ह्यकालः कालचोदकः ॥१७॥
(शिव. वाय. २।४)

अस्यवामीय सूक्तमें सृष्टिकी प्रक्रियाको समुद्रका अधिविक्षरण या टपकना कहा है । 'ततः क्षरति अक्षरम्' । (ऋ. १।१६४।४२), अर्थात् मूल समुद्रके विक्षुब्ध होनेसे अक्षर या प्राण या रजोगुणका जन्म होता है एवं इस अक्षरसे क्षर या भूतोंका निर्माण होता है । 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' यह परिभाषा प्रसिद्ध है ।

वेदोंमें वसिष्ठ ऋषिका बहुत वर्णन आता है । जगत्के महान् देव मित्र और वरुण इन दोनोंकी शक्तिसे वसिष्ठका जन्म हुआ । इनके रेत स्खलनका कारण उर्वशी कही गई है । वस्तुतः उर्वशी मनकी मातृ शक्तिका प्रतीक है । वही मही माता अदिति या उसकी युवती कन्या है । महासमुद्रके मंथनसे जिस अप्सरातत्वका जन्म हुआ, उर्वशी उसीका

प्रतीक है। 'अद्भ्यः सरन्ति इति अप्सरसः' यह इस बातका संकेत है कि जिस अव्यक्त समुद्रको विश्वका स्रोत माना गया है उसके मंथनसे जो मातृशक्ति प्रकट हुई वही अप्सरा है।

समुद्रके मंथनसे अग्नि और सोम दोनों तत्त्व प्रकट हुए। अग्नि मित्रका रूप है और सोम वरुणका। दिन मित्रका रूप है और रात्रि वरुणकी। इस प्रकार ऐसा कोई स्थान या काल नहीं जहाँ मित्र और वरुणकी सत्ता न हो। जिनके प्रत्येक मुहूर्त या क्षणमें तम और ज्योति दोनों अपनी अपनी मात्रा में विद्यमान हैं। पल-पलमें वह मात्रा घटती बढती रहती है। उसीके फलस्वरूप कभी वारुणी रात्रि और कभी मैत्र्य दिवसका रूप सामने आता है। किन्तु वस्तुतः दोनों एक ही रथपर साथ-साथ चलते हैं। बिना मित्रावरुणके सृष्टि सम्भव नहीं होती। मित्र और वरुणके तेजसे उर्वशीमें जिस वसिष्ठका जन्म होता है वह वसिष्ठ तत्त्व क्या है ? इसका उत्तर है कि तपके द्वारा क्षुब्ध महार्णवके मंथनसे उत्पन्न जो वैश्वानर अग्नि है या प्राण है वही वसिष्ठ है। वसिष्ठ ऋषि हैं और ऋषितत्त्व विश्वकी रचनाका मूल प्राणतत्त्व है। इसे ब्राह्मण ग्रंथोंमें सर्वथा स्पष्ट कहा गया है।

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। (शतपथ ८।१।१।६; यजुर्वेद १३।५४)

असद्वा ऽइदमग्र ऽआसीत्।
तदाहुः किं तदसदासीति।
ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्।
तदाहुः के तऽऋषय इति।
प्राणा वा ऋषयः।
ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्ते।
श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद्दषयः।

(शतपथ ६।१।१।१)

सब देवोंमें अग्नि ही वसिष्ठ है। अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐतरेय १।२८, ऋग्वेद २।९।१) शान्तिपर्वमें स्पष्ट ही वसिष्ठको हैरण्यगर्भ अर्थात् हिरण्यगर्भ प्रजापतिसे उत्पन्न कहा गया है (३२९।२०)। वसिष्ठ, प्रजापति, प्राण, अग्नि यही तो आत्मतत्त्वके द्वारा समुद्रका क्षोभण या मंथन कराते हैं। और उसीसे अव्यक्ततत्त्व व्यक्त भावमें आता है, पुराणोंमें भी वसिष्ठके इस रहस्यकी समुचित व्याख्या पाई जाती है।

आपवः स विभुर्भूत्वा कारयामास वै तपः।
छादयित्वाऽऽत्मनो देहमात्मना कुम्भसंभवः॥१
ततो महात्माऽतिबलो मतिं लोकस्य सर्जने।
महतां पञ्चभूतानां विश्वभूतो व्यचिन्तयत्॥२॥
तस्य चिन्तयतस्तत्र तपसा भावितात्मनः।
निराकाशे तोयमये सूक्ष्मे जगति गह्वरे॥ ३॥
ईषत्संक्षोभयामास सोऽर्णवं सलिले स्थितः।
सोऽन्तरोर्मिणा सूक्ष्ममथ च्छिद्रमभूत्तदा॥ ४॥
तत्र शब्दगतिर्भूत्वा मारुतच्छिद्रसंभवः।
स लब्ध्वाऽऽन्तरमक्षोभ्यो व्यवर्धत समीरणः॥५
विवर्धता बलवता तेन संक्षोभितोऽर्णवः।
अन्योन्यवेगाभिहता ममन्थुश्चोर्मयो भृशम्॥६॥
महार्णवस्य क्षुब्धस्य तस्मिन्नम्भसि मथ्यति।
कृष्णवर्त्मा समभवत्प्रभुर्वैश्वानरोऽर्चिमान्॥ ७॥

(हरिवंश. ३।११)

आपो नाराः

एकार्णव विधिके प्रसंगमें पुराण प्रायः नर, नार और नारायण इन तीन परिभाषाओंका उल्लेख करते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है मनुमें भी ये परिभाषाएं आई हैं—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

(मनु. १।१०, ब्रह्म पु. ५६।१२, ६०।२५, वायु ५।३८)

शान्तिपर्वमें यह इस प्रकार है—

नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः।
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं मम तत्पूर्वमतो नारायणो ह्यहम्॥

उद्योगपर्वमें भी—

नराणामयनाच्चापि तेन नारायणः स्मृतः।

ज्ञात होता है कि नारायण पुरुषकी यह परिभाषा ऋग्वेदके समय ही अस्तित्वमें आ चुकी थी। पुरुष सूक्तका ऋषि नारायण और देवता पुरुष है। वहाँ नारायण और पुरुष अभिन्न है। शतपथ ब्राह्मणमें नारायण पुरुषके द्वारा सब भूतोंकी सृष्टिके लिए पंचरात्र नामक पुरुषमेध यज्ञके दर्शनका वर्णन है—

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयꣳ सर्वाणि भूतान्यहमेवेदꣳ सर्वꣳ स्यामिति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्॥

(शतपथ १३।५।१।१)

पुरुषमेध यज्ञ ही तो पुरुष सूक्तका सार है। यहाँ जिसे पंचरात्र कहा है वही 'पंचदेव' या 'पंचाक्षर' विद्या है जिसका विस्तृत निरूपण शतपथमें ही आया है (तानि वा एतानि पंचाक्षराणि ११।१।६।५) 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ' ये ५ अक्षर हैं। इनमें अ, इ, उ ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रके प्रतीक हैं एवं ऋ, ऌ अग्नि और सोमके। ये ही पंचाक्षर पंचदेवों या पंचप्राणोंके प्रतीक हैं। ये ही पंचजन एवं पंचपुर या पिण्डोंका रूप ग्रहण करते हैं। इन पंच प्राणोंकी समष्टि जो एक प्राण है वही अण्डके भीतर जीवनका स्रोत है। जिसे 'आपः' या 'सलिल' कहा जाता है उसीका रूप अण्ड है। उस अंडके भीतर जो रेत, शुक्र या प्राणका बीज है वही हिरण्यगर्भ है उसे ही ऋग्वेदमें 'भुवनस्य रेतः' कहा जाता है। सलिल और अण्ड सृष्टिकी यह कल्पना शतपथ ब्राह्मणमें स्पष्ट आई है।

आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यँस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डँ सम्बभूवा, जातो ह तर्हि संवत्सर आस, तदिदँ हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत ॥

(शतपथ ११।१।६।१)

सम्वत्सर एक इकाई है या कालकी मात्रा है। पृथ्वीके परिभ्रमणसे संवत्सरका एक रूप हमारे सामने आ रहा है। वह सापेक्ष है। इसी प्रकार अनेक कालमात्राओंवाले संवत्सर सम्भव हैं। जितने अवधिमें कोई गर्भ या अण्ड परिपक्व होता है और अव्यक्त प्राणको मूर्तरूप देता है वही उसका संवत्सर है। यह ब्राह्मण भी इसी रीतिसे किसी दिव्य संवत्सरकी अवधितक अपने मातृकुक्षिमें या विराट् समुद्रमें तैरता रहा। उसके व्यक्त होनेका जो काल था वही सृष्टि और प्रलयके कल्पोंका कारण हुआ। जो प्रजापति एक छोर पर था उसने इस कालके दूसरे छोरको देखा। और चूंकि स्वयं प्रजापति ही हिरण्यगर्भ रूपमें परिणत होता है अतएव जो स्वर्णाण्डकी आयु है वही प्रजापतिकी आयु है।

स सहस्रायुर्जज्ञे।

अर्थात् उसकी आयु सहस्रसंवत्सर हुई। यहाँ सहस्र अनंतका ही वाचक है। लौकिक वर्षोंकी तुलनामें वह आयु अनंत है अर्थात् सापेक्ष काल चक्रोंका कोई वारापार नहीं। यदि एक कल्पको एक दिन मानें तो सहस्र संवत्सरको सहस्राह्णय भी कह सकते हैं। कहा है कि प्रजापति रूपी सुनहले हंसने सहस्र दिनोंतक उडते रहनेके लिए अपने पंख फैलाए हैं। यह हिरण्यपक्ष शकुनि या सुवर्ण हिरण्यगर्भ सूर्य ही है जो सब चराचरका प्राण है।

प्राणः प्रजानां उदयत्येष सूर्यः (प्रश्न. १।८)
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्योत्पततः स्वर्गम्। (अथर्व. १३।३।१४)
यः सहस्रसावे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः।
हिरण्यवर्णः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥

(शान्तिपर्व, ४७।२९)

अण्ड

अग्निने ध्यानकी शक्तिसे 'आपः' के साथ संयुक्त होकर हिरण्यको जन्म दिया। वह हिरण्य अग्निके ही रेतकी संज्ञा है। (अग्नेः रेतो हिरण्यम्। श. २।२।३।२८) अथवा अग्नि ही हिरण्य या प्राण है जो जलोंके गर्भमें निषिक्त होकर हिरण्याण्डके रूपमें प्रकट हुआ। जीवनके प्रादुर्भावमें अण्डका महत्वपूर्ण स्थान है। अण्ड या आवरणके भीतर कलल या जीवन रसके मध्यमें प्राणात्मक केन्द्र या समञ्जन प्रसारणका प्रादुर्भाव ही जीवन है। जिसे अण्ड कहते हैं उसीकी संज्ञा विराज् है—

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः।

(भाग. २।६।२, २।५।३४-३५)

मातृतत्वकी संज्ञा अण्ड है। इसे ही 'परमेष्ठी, आपः' या 'ऋत' भी कहा जाता है—

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिः
अग्निर्वैश्वानरः सह पंक्त्या श्रितः।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे।

(अथर्व. १३।३।५)

जिस प्रकार केन्द्रस्थित प्राण शरीरको भीतर और बाहर उष्ण रखता है उसी प्रकार पुरुषने अपने तेजसे विराजरूपी अण्डको भीतर और बाहर तपाया।

स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥

(भाग. २।६।१६)

इसमें दो तत्व हैं एक विराज् दूसरा प्राण या अग्नि, जिसकी संज्ञा वैश्वानर भी है। यही अण्डकी पूर्वापर स्थिति है अर्थात् मातृ कुक्षिमें भ्रूण या अंडकी उत्पत्ति और पिताके शुक्र द्वारा उसका गर्भित होना। केवल माताका भ्रूण या डिम्भ मरा हुआ अंडा है। उसमें जीवन नहीं है। पिताका रेत या शुक्र अंडके कोष या आवरणमें प्रविष्ट होता है तब उसमें प्राण या जीवनका केन्द्र बनता है।

ऋग्वेदके दाक्षायणी सूक्तमें इन दोनों अवस्थाओंका स्पष्ट उल्लेख है। एकको मृत अंड कहा गया है और दूसरा उसका वह पितृगर्भित रूप है जिसमें दक्ष या प्राण प्रविष्ट होजाता है या जन्म ले लेता है। वही मार्तण्ड हिरण्यगर्भ या सूर्य है। कहा गया है कि देवमाता अदितिने आठ पुत्रोंको जन्म दिया (**अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।** ऋ० १०।७२।८) उनमेंसे ७ पुत्र देवता हुए जो अमर थे और आठवां मार्तण्ड था। अदितिने उसे मरा हुआ जानकर ध्यान नहीं दिया और देवोंसे कहा- सृष्टि करो। देवोंके पास केवल अमृत था मृत्यु नहीं थी। अतएव उनसे सृष्टि नहीं हुई। सृष्टि तो मर्त्य भूतमें अमृत प्राणके आविर्भावसे होती है। यहाँ अमृतमें मृत्यु और मृत्युमें अमृतका आधान है। अतएव अदितिने पुनः मरे हुए अण्डेको लेकर उसे सेया। और तब उसमेंसे जन्म और मरण इन दोनोंको लेकर प्राणात्मक भौतिक जीवनका विकास हुआ।

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।

(ऋ० १०।७२।९)

जिन्हें सात देव कहते हैं वह शक्ति रूप है। मन, प्राण और पंचभूत ये ही उनकी शक्तियां हैं। इनके सूक्ष्म अंश जब परस्पर मिलते हैं तभी भौतिक जीवनका आविर्भाव होता है। आठवां पुत्र जो मरा हुआ अंडा था वह कालकी सीमासे बाहर फेंका हुआ था इसलिए उसमें गति नहीं थी। काल ही तो गतिशील तत्व है। उसीके समञ्जन प्रसारणसे जीवन और मरणका चक्र घूमता है। कालसे संयुक्त होकर वही मार्तण्ड तो सूर्यके रूपमें सम्वत्सरात्मक बना हुआ है। उत्तरायण दक्षिणायण, शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष एवं अहोरात्रके रूपमें कालका यह पहिया घूम रहा है। काल ही विराजको गर्भित करता है। काल विश्वकी प्रेरक शक्ति है। स्पन्दन इसका रूप है। काल ही तो नारायण विष्णु है या उनकी शक्ति है। वह सब भूतोंमें व्याप्त होकर उन्हें चेतना प्रदान करता है और वही जब हट जाता है तो भूत बिखर जाते हैं। आरण्यक पर्वमें कथा है कि जब विष्णु लोकोंका संहार करते हैं तो मार्कण्डेय उनके उदरमें प्रवेश कर जाते हैं।

जब विष्णुको पुनः सृष्टिकी इच्छा होती है तो सर्व प्रथम मार्कण्डेय उनके मुखसे बाहर आते हैं। मार्कण्डेयकी आयु सहस्रसंवत्सर है। कालके ही प्रतीक मार्कण्डेय हैं। मार्तण्ड तत्व ही अक्षर भेदसे मार्कण्डेय हुआ है। बाहर आकर मार्कण्डेय महासमुद्रके जलके ऊपर एक वटपत्र पर तैरते हुए बालनारायणका दर्शन करते हैं। वट वृक्ष सनातन विश्व वृक्ष है। इसके किसी एक पत्र पर जीवनका केन्द्र अवशिष्ट रहता है। वही बालभावमें प्रकट होता है। बालभाव द्वारा ही प्रकृति जीवनकी शृंखला आगे बढाती है। काल उसे परिपक्व करता है और आविर्भाव तिरोभावके चक्र द्वारा बाल, यौवन, जरा एवं मृत्युके पहिएको घुमाता है। सब प्राणी इस काल चक्रपर आरूढ हैं। यही घूमता हुआ महान् ब्रह्मचक्र है। भ्रमण ही गति है। गति ही रजस् या अक्षर है जो अव्यय पुरुषके अमृत नाभिसे जान लेता है।

भागवतमें मरे हुए अण्डेको अजीव और स्पंदयुक्तको जीव कहा गया है।

वर्षपूग सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्॥

(२।६।३४)

निद्रासे जागने पर विष्णुकाल, कर्म और स्वभावके तीन तत्त्वोंको लेकर सृष्टि करते हैं। शतपथके अनुसार आरम्भमें जो आपः या जल (मातृतत्व) था, वह क्षोभयुक्त सलिल बना। मातृरूप जलोंने सोचा हम गर्भित कैसे हों। इसके लिए उन्होंने तप किया। जब वे तप्त हुए तो उस तापसे एक सोनेका अंडा बना। उस समय तक संवत्सर या कालका अस्तित्व न था। यह सोनेका अंडा एक वर्ष तक जलोंमें तैरता रहा। संवत्सरकालमें उस अण्डेमेंसे पुरुष उत्पन्न हुआ। वही संवत्सर रूप प्रजापति है। (शतपथ ११।१।६।१)

इसविषयमें प्रजापतिके दो रूप हैं। एक यज्ञात्मक, दूसरा कालात्मक। यज्ञ भी प्रजापति है और संवत्सर भी प्रजा-

पति है। संवत्सर या काल प्रतीति या गणना मात्र है। उतने समयमें सूर्य रश्मियों द्वारा जो भूतोंका प्राण रूपमें संचय या निर्माण होता है वही यज्ञात्मक प्रजापतिका रूप है जो आंखसे प्रत्यक्ष देखा जासकता है। प्रजापतिका यज्ञात्मक रूप विराज या अंड है जो कालात्मक प्रजापतिकी शक्तिसे संचित होता है। जैसे ही कालचक्रका परिभ्रमण आरम्भ होता है प्रजापति सहस्रायु बन जाते हैं। अर्थात् उनके आयुके दोनों छोर अस्तित्वमें आजाते हैं। आरम्भके साथ ही अंतका विधान भी निश्चित होजाता है।

प्रजापतिने संवत्सरमें जन्म लिया, तभी वह अण्ड फूटा-

संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्मयमाण्डं व्यरुजत्। (शत० ११।१।६।२)

अंडके परिपक्व होकर फूटने पर द्यावा, पृथिवी और उनके बीचका अंतरिक्ष ये तीन लोक बन गए। यही प्रत्येक व्यष्टिकेन्द्रका द्यावापृथिवी लोक है।

तस्मिन्नंडे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनोध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा।
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥
(मनु. १।१२।१३)

वैदिक निदान विद्यामें सुवर्ण या हिरण्य सार्थक प्रतीक है। प्रजापति सृष्टिसे पूर्व व्रात्य रूपमें थे। जब उन्होंने सृष्टि करनी चाही तो अपने भीतर हिरण्यके दर्शन किये अर्थात् जो भुवनका रेत था उसे अपने भीतर ही देखा—

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत्।
(अथर्व. १५।१।२)

वह उनके ईक्षणकी परिधिमें आ गया अर्थात् उनका मन उस रेतके अस्तित्वसे परिचित हो गया। यही ईक्षण प्रजापतिके मनका काम भाव था जिससे यह कामप्रयज्ञ रूपी विश्व हुआ। हिरण्य, रेत और प्राण पर्यायतत्व हैं। इसप्रकार वैदिक और पौराणिक सृष्टिविद्यामें हैमाण्ड नारायण, नारसंज्ञक आप तत्व और संवत्सरके अर्थ सुविदित थे।

आपः शब्दकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। 'यद् आप्नोत् तस्मादापः'। श. ६।१।१।९, अद्भि र्वाऽइदं सर्वमाप्तम्। श. १।१।१।१४' इस परिभाषाके अनुसार जो मूल रचनात्मक उपादान कारण सर्वत्र व्याप्त थे वे अपनी व्यापकताके कारण आपः कहलाये। आपः का अर्थ भौतिक जल नहीं है। वह तो केवल प्रतीक है। भौतिक जलका विकास तो कालान्तरमें होता है। आपः यह अर्थ ही एकार्णव परिभाषामें लक्षित है।

प्राणसमन्वित अण्ड हिरण्यगर्भ है। उसका जन्म और मरण अवश्यम्भावी है (प्रजायै मृत्यवे त्वत्) भागवतमें अंड और विराज्‌की पर्यायवाचकता बताते हुए स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मा उसमें प्रवेश करके स्वयं जन्म लेते हैं (भाग. ३।६४) विराजके पुत्रकी संज्ञा वैराजमनु है जो कि मनस्तत्वका ही पर्याय है। वही वैवस्वतमनु भी कहा जाता है। इन प्रतीकोंका समुदित लक्ष्य सूर्य है जैसा कहा है—

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितिर्दैत्यनाशनम्।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः॥
(शान्तिपर्व, ४७।२३)

अदिति पुत्र आदित्य सूर्य ही हिरण्यगर्भ है। उसे रोहित भी कहा जाता है (अथर्व. १३।१।१)। यह सूर्य पहले समुद्रमें छिपा था जिसे विश्वरचनाके तक्षणात्मक धक्कोंने ऊपर उछाला है। समस्त सृष्टिमें यह सबसे अधिक सुन्दर विचित्र और परिपूर्ण कृति है जो सूर्यके रूपमें द्युलोकमें प्रत्यक्ष है। कितने ही नामोंसे उस एक देवका वर्णन किया जाता है जैसे रुद्र, महादेव, अर्यमा, वरुण, अग्नि, सूर्य, महायम (अथर्व० १३।४।४-५)। रोहित सूर्यको ही एक मस्तकयुक्त दस बछडे कहा गया है—

तं वत्सा उपतिष्ठन्त्येक शीर्षाणो युता दश।
(अथर्व. १३।४।६)

क्योंकि सूर्य विराज् पुत्र है और विराज् १० अक्षरोंवाला छंद होता है। अतएव इसे भी दस बछडोंके रूपमें कहा गया है जिनका सिर एक है। दस दिशायें ही १० अंग हैं जिनका एक मस्तक दिशामंडल या दिक्‌चक्रवालका केन्द्र है। इन्द्रके रूपमें वही सूर्य द्युलोकमें विराजमान है-

स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।
(अथर्व. १३।३।१३)

वही सविता और महेन्द्र भी कहा जाता है (अथर्व. १३।४।१-२) पुराणोंमें अंडको महत्, अहंकार और पंच भूत इन सातोंसे उत्पन्न कहा गया है। (महदाद्याविशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते। विष्णु. १।२।५०, लिंग

१।३।१८, क्रिसेल, पृ. ९)। अंड इन्हीं पांचोंके आवरणका रूप है। ये ही मन, प्राण, वाक् या पंचभूत हैं। प्रत्येक अंडके अभ्यन्तरमें प्रजापति ब्रह्मा और एकपूरा ब्रह्माण्ड या विश्व ही अन्तर्निहित है। क्या विराट्का यह अंड और क्या शरीरगत एक सूक्ष्मकोष, दोनोंकी रचनाके तत्व समान हैं।

तस्मिन्नण्डे त्विमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्।
अण्डं दशगुणेनैव वारिणा प्रावृतं बहिः॥
(लिंग १।३।२९,३०)

इस प्रकार प्रत्येक अंडके सात आवरण हैं और संपूर्ण ब्रह्माण्डमें इस प्रकारके कोटि कोटि अंड हैं।

सप्ताण्डावरणान्याहुस्तस्यात्मा कमलासनः।
कोटिकोटियुतान्यत्र चाण्डानि कथितानि तु।
(लिं. १।३।३२)

जैसे गोस्वामी तुलसीदासने भी तेजस्वी शब्दोंमें कहा है–
'ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।'

प्रत्येक चेतना केन्द्र अपने चारों ओर अण्डका निर्माण कर लेता है अर्थात् वह सप्त आवरणोंवाले भौतिक अण्डके विना व्यक्त होता ही नहीं। प्रत्येक प्राणि अण्डसे उत्पन्न वैराजमनुका प्रतीक है। वह हिरण्यगर्भ है क्योंकि उसके गर्भ या केन्द्रमें हिरण्य या प्राणका निवास है। वह 'साक्षात्भूतयति' या भूतोंसे निर्मित है।

अण्डकी अर्वाचीन कल्पना

चेतनायुक्त अंडका अर्वाचीन जीव विज्ञानमें अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक प्राणि या जीव अंडका ही रूप है। वह जितने कालमें प्रसव योग्य बनता है वही उसका संवत्सर है। प्रायः सभी बहुकोषीय जन्तु मैथुनी सृष्टिके अन्तर्गत हैं। उन्हें जन्म देनेके लिए स्त्रीपुरुषका मिथुनभाव आवश्यक है। कोष (Cell) के भीतर जो प्राण रस या कलल (प्रोटोप्लाज्म) रहता है वही आपः या नाराः के तुल्य है। माताका भ्रूण पिताके शुक्रसे गर्भित होता है। इन दोनोंके सम्मिलनसे जो एक कोष अस्तित्वमें आता है वह संवर्धनकी प्रक्रिया द्वारा– एकसे दो, दोसे चार, चारसे आठ, आठसे सोलह इस अनुपातसे बढता हुआ पूरे शरीर यन्त्रका निर्माण कर लेता है। इसमें असंख्य कोषोंकी सहायतासे भिन्न भिन्न अवयवोंका निर्माण होता है और वे अपना अपना विशेष कार्य जन्मसे मृत्यु पर्यन्त करते रहते हैं। वैज्ञानिकोंका कहना है कि माताका भ्रूण और पिताका शुक्र ये दोनों आकार व परिमाणमें भिन्न हैं किन्तु संततिके ऊपर समान प्रभाव डालते हैं। पुंशुक्रका स्त्री भ्रूणके साथ सम्मिलन गर्भाधान कहलाता है। इस महत्त्वपूर्ण सम्मिलनसे अनेक उत्तर कालीन प्रक्रियायें जन्म लेती हैं, उनसे विकसित होता हुआ केन्द्रीय नाडीजाल बनता है। उसमें मस्तिष्कसे आरम्भ करके फुप्फुस, हृदय, पाचनयंत्र, प्रजनन, विसर्ग, आदि अनेक संस्थानोंका विकास होता है। इस प्रकारकी जटिल रचनासे शरीर या पुद्गलका तानाबाना बुना जाता है। यदि मध्य प्राणको इन्द्र कहें, जैसा कि शतपथमें आया है (६।१।१।१) तो यह शरीर उस इन्द्रका बुना हुआ शक्रजाल है (अथर्व)। यह शरीर एक वस्त्र है। इसे बुननेवाले प्राण पितर कहे जाते हैं। पितरका अर्थ है मातृतत्व और पितृतत्व। ये दोनों खड्डी या करघेके पास बैठकर ढरकी फेंकते हुए कहते हैं– आगे बुनूं पीछे बुनूं––

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत
एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः
प्र वयाप वयेत्यासते तते॥ (ऋ० १०।१३०।१)

यह सप्त तन्तु पट है अर्थात् इसका ताना सात धागोंसे पूरा गया है–

वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्
वितत्निरे कवय ओतवा उ॥ (ऋ. १।१६४।५)

मन प्राण और पंचभूत ये ही इस पटके ७ तन्तु हैं। इसीलिए वेदोंमें इसे सप्ततन्तु यज्ञ भी कहा है। अग्निमें सोमकी आहुतिसे, भूतोंमें देवों या प्राणोंके आगमनसे यज्ञ सिद्ध होता है। यही इस यज्ञका विधान है। यही ब्राह्मण-ग्रंथोंमें प्रतिपादित यज्ञ प्रक्रियाओंकी मुख्वी कुञ्जी है।

नारायणीय चेष्टा

आधुनिक गर्भविज्ञानके तुल्य पुराण भी कोष या अंडको अत्यंत जटिल और रहस्यमय मानते हैं। अंडगत जीवन नारायणीय चेष्टाका फल है। कोषके केन्द्रके जीवनका स्रोत कहां है, वह कहांसे आता है, कैसे आता है, कैसे जाता है? उसके उदयास्तके नियम क्या हैं? ये प्रश्न जैसे विज्ञानके लिए गूढ हैं वैसे ही दर्शनके लिए। पुराणोंकी मान्यताके अनुसार कोष या अंडके भीतर २३ तत्त्व रहते हैं। तभी तो उसी अव्यक्त स्रोतसे व्यक्त भावमें आते हैं। इनकी संख्या इसप्रकार है—

महत्तत्त्व या बुद्धि, मनस्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां और पंच महाभूत। इन तेईसके

मिलनेसे पुरुषका जन्म होता है जो विराज् या अण्डके भीतर है। उसे विश्वसृट् भी कहते हैं। इनमेंसे एक-एक जीवनरचनामें असमर्थ है। एक साथ मिलकर ही प्राण-सृष्टिके योग्य बनते हैं। इनको मिलानेवाली सूत्रात्मा शक्ति नारायणीय चेष्टा है। उसकी और कुछ मीमांसा संभव नहीं क्योंकि कोषमें प्राणकी आयति और निर्गम अज्ञेय रहस्य है। देव नारायणकी प्रेरणासे सहयुक्त होकर ये तेईस तत्त्व पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंकी रचना करते हैं—

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥
प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥
परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोभान्योऽन्यमासाद्य यस्मिल्लोकाश्चराचराः ॥
(भाग ३।६।३-५)

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये त्रिदेव या इनके समकक्ष तीन गुण, कोषके केन्द्र (न्यूक्लियस) में रहते हैं। और उनके अनुशासनमें या उनकी शक्तिमें कोषस्थ रस जिसे सोम कहते हैं पूरे विश्वकी रचना करता रहता है।

जलबुद्बुदवत्तस्मादवतीर्णः पितामहः ॥२८॥
स एव भगवान् रुद्रो विष्णुर्विश्वगतः प्रभुः।
तस्मिन्नण्डे त्विमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत् ॥२९
(लिंग. १।३)

अण्ड पुरुष द्वारा निर्मित प्राकृत सर्ग है (लिंग. १।३। ३९)। देवकी शक्ति अण्डके भीतर संख्याओंका संचार करती है। जिसके कारण निष्कल या विलक्षण कोई एक तत्त्व संख्यागत एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस आदि संख्यागत प्रतीकोंसे सूचित तत्त्वोंके रूपोंमें विकसित होता है।

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिवान्।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥४॥
साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥९॥
(भागवत. ३।६)

कोषके भीतर जो एक अखंड या निष्कल शक्ति है उसे 'अज' या 'अजायमान' कहते हैं। वही कः प्रजापति है। उसीसे कोषका समस्त संस्थान अस्तित्वमें आता है। सबसे पूर्व (अग्रे) जन्म लेनेके कारण उसे अग्नि या परोक्ष भाषामें अग्नि भी कहते हैं। कोषके अन्तर्गत द्युलोक और पृथिवी अर्थात् अमृत प्राण और मर्त्य भूतोंको धारण करने वाला वही है। इस यज्ञमें जो हवि डाली जाती है वह अंततः उसी अज्ञात कः प्रजापतिके लिये होती है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पति-
रेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (ऋ. १०।१२१।१)

इस प्रसिद्ध मंत्रका देवता कः प्रजापति है और ऋषि प्रजापतिका पुत्र हिरण्यगर्भ है। प्राजापत्य हिरण्यगर्भ ही तो वैराज मनु या प्राणप्रतिष्ठासे संयुक्त अण्ड है। जितने मेरुपृष्ठीय प्राणि हैं उनमें मत्स्यके समान बहुसंख्यक अंडसृष्टि और किसीकी नहीं होती। वही अण्डका प्रतीक है। वह अणुसे अणु और महान्से महान् है। मनुके कमण्डलुमें जो जल है उसमें भी उसका स्वरूप भरा हुआ है और जो महासमुद्र है उसमें भी व्याप्त है। अणु और महत् दोनों उसीके रूप हैं। वही गर्भ प्रजापति है जो एक छोर पर अजायमान रूपमें है और दूसरे सिरेपर वही बहुधा-भिजायमान, बहुरूपधारी या विश्वतोमुख है।

चित्र

हिरण्यगर्भका एक सुन्दर चित्र भारत कलाभवन काशी विश्वविद्यालयमें सुरक्षित है। उसके अध्यक्ष श्री रामकृष्णदासजी की अनुमतिसे वह प्रकाशित किया जा रहा है। यह चित्र १८ वीं शतीके अंतमें लिखी हुई भागवतकी हस्त लिखित प्रतिका अंग था। इसमें चित्रकारने बड़ी कुशलतासे हैमाण्डका चित्रण किया है और उसे महोर्मियोंसे भरे हुए समुद्रके नीले जलमें तैरते हुए दिखाया है। भारतीय चित्रकलामें यह एक अपूर्व प्रतीकात्मक चित्र है। उसके पीछे यह श्लोक अंकित है—

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
अण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥
(भाग. ३।६।६)

हिरण्मय अंडके भीतर कोई हिरण्मय या प्राणमय पुरुष आगे जन्म लेनेवाले सब जीवोंकी शक्तिको अपने भीतर धारण किए हुए सहस्र संवत्सर तक जलोंके भीतर निवास करते रहे और तब उन्होंने सृष्टिके तन्तुको उन्मुक्त किया।

पुरियोंको तोडनेवाला वीर

(लेखक— पं. श्री. दा. सातवलेकर)

शत्रुकी पुरियोंको तोडनेवाला वीर

ग्राम, नगर, पत्तन तथा पुरी अथवा पुर ये एकसे एक बढकर नगरोंके नाम हैं। ग्राम सबसे छोटा और पुरी सबसे बडी। वेदमें ऐसा वर्णन आया है—

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

अथर्ववेद १०।२।३१

' आठ चक्र और नौ द्वार जिसमें हैं ऐसी देवोंकी पुरी अयोध्या है। ' अर्थात् इस अयोध्या नगरीको चारों ओरसे वेष्टन करनेवाला जो किला था, उस किलेमें आठ चक्र और नौ द्वार थे। ये चक्र शत्रुका वध करनेके लिये थे और द्वार बंद किये जाते थे, तब शत्रु अन्दर आ नहीं सकता था। वैदिक कालकी बडी पुरियां ऐसी किलेके समान मजबूत होती थीं। बडे नगरोंको ही ' पुरी ' कहते हैं। ग्राम, नगर, पत्तन और पुरी इनमें ' पुरी ' सबसे बडी होती थी।

वैदिक कालके आर्योंके पूर्व दस्युओंकी बस्ती थी और दस्युओंके ग्राम, नगर, पत्तन और पुरी ऐसे बस्तीके स्थान थे। आर्योंका युद्धमंत्री अथवा संरक्षण मंत्री इन्द्र था। वह दस्युओंका पराभव करता था और उनकी पुरियोंको तोडता था। शत्रुका पूरा पराभव उनकी पुरियोंको तोडनेसे ही होता था। ऐसा पूर्ण पराभव करके शत्रुकी पुरियोंको तोडने के पश्चात् इन्द्र अपने सैन्यके साथ अन्दर प्रविष्ट होता था। तब वह पुरी आर्योंकी होती थी।

इन्द्रका नाम ही ' पुरंदर ' था। कुशलतासे शत्रुकी नगरियोंको तोडना और शत्रुको पूर्णतासे पराभूत करना, यह इस संरक्षण मंत्रीका कर्तव्य था। इस विषयके वर्णन वेद मंत्रोंमें अनेक स्थानोंमें आये हैं, वे यहां अब देखिये—

पुरंदर इन्द्र

' पुरं-दर ' का अर्थ शत्रुकी नगरियोंको तोडनेवाला वीर इन्द्र है। कुशलतासे शत्रुकी नगरियोंको तोडनेका कार्य यह इन्द्र करता था। देखिये—

अलर्षि युध्म खजकृत् पुरंदर ऋ. । ८।१।७

' हे युद्धमें कुशल, युद्ध करनेवाले और शत्रुके नगर तोडनेवाले इन्द्र यहां आओ। ' इसमें ' पुरं-दर ' यह पद इन्द्रका नाम शत्रुके नगर तोडनेके अर्थमें है। वैसा ही और देखिये—

पुरंदरः। यासद् वज्री भिनत् पुरः। ऋ. ८।१।८

शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र आगे बढता है और शत्रुके नगरोंको तोडता है। ' तथा—

आ पुरंदरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे।

ऋ. ८।६।१।८

' अपने संरक्षणके लिये शत्रुके नगरोंको तोडनेवाले इन्द्रको हम उसकी स्तुतिका गायन करके अपने समीप बुलाते हैं। ' और देखिये—

उग्रबाहुर्मक्षकृत्वा पुरंदरो यदि मे शृणवद्धवम्।

ऋ. ८।६१।१०

' विशाल बाहुवाला, शत्रुका वध करनेवाला और शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र यदि मेरी प्रार्थना सुनेगा। '

यहां इन्द्रको (उग्र-बाहुः) बलवान् बाहुवाला तथा (मक्ष-कृत्वा) शत्रुका वध करनेवाला और शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला कहा है, तथा—

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥

ऋ. १।११।४

' (पुरां भिन्दुः) शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला तरुण ज्ञानी और महाबलवान्, सब उत्तम कर्म करनेवाला, वज्रधारी इन्द्र बहुत प्रशंसित हुआ है। ' यहां ' पुरां भिन्दुः ' शत्रुके अनेक नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र है ऐसा कहा है। शत्रुके नगरोंको तोडनेके कार्यमें इन्द्र बडा प्रवीण था।

भेत्ता पुरां शश्वतीनां इन्द्रो मुनीनां सखा।

ऋ. ८।१७।१४

' इन्द्र मुनियोंका मित्र है और वह शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला है। ' इस मंत्रमें ' शश्वतीनां पुरां भेत्ता '

चिरकाल रहनेवाली नगरियोंको तोडनेवाला इन्द्र है ऐसा कहा है। अर्थात् ये नगर पक्के और मजबूत थे, शाश्वत टिकनेवाले थे। ऐसे उत्तम मजबूत नगरोंको भी इन्द्र तोडता था। देखिये—

अधा वृत्राणि जिघ्नसे पुरंदर। ऋ. १।१०२।७

'और हे शत्रुके नगरोंको तोडनेवाले इन्द्र! तू शत्रुओंका वध करता है।' तथा देखिये—

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरंदरो दासीरैरयद्वि।
ऋ. २।२०।७

'वह इन्द्र शत्रुको मारता है, उस शत्रुके नगरोंको तोडनेवाले इन्द्रने काले रंगकी दास रूपी प्रजाका पूर्ण पराभव किया था। इस मंत्रमें 'कृष्णयोनीः दासीः' ये पद हैं। काले रंगके दास प्रजाजन यह इसका भाव है। आर्योंका सहायक वीर इन्द्र है, वह काले रंगके प्रजाजनोंका नाश करता है और उनके नगरोंका तोड कर नाश करता है।

आर्य गोरे रंगके थे और उनके शत्रु काले रंगके थे। इन्द्र आर्योंका सहायय करता था, अतः वह काले रंगके लोगोंका नाश करता था।

वेदमें 'इन्द्र और अग्नि' को मिलकर 'पुरं-दरौ' कहा है। ये दो देव मिलकर शत्रुकी नगरियोंको तोड देते थे, देखिये—

पुरंदरा शिक्षतं वज्रहस्तास्माँ इन्द्राग्नी।
अवतं भरेषु॥ ऋ. १।१०९।८

'हे शत्रुके नगरोंको तोडनेवाले इन्द्र और अग्नि देवो! तुम हमें सहायय करो। और हाथमें वज्र लेनेवाले देवो! युद्धोंमें हमारी सुरक्षा करो।'

इन्द्रो यः पूर्भिदारितः। ऋ. ८।३३।५

'जिसकी स्तुति की जाती है ऐसा इन्द्र (पूः भिद्) शत्रुकी नगरियोंको तोडनेमें कुशल है।' तथा—

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो
वि शत्रून्। ऋ. ३।३४।१

'इन्द्र शत्रुकी (पूः भिद्) नगरियोंको तोडनेवाला है, अपने तेजोंसे शत्रुका नाश करनेवाला है, शत्रुके किलोंका समूल उच्छेद करता है और धन देता है।'

तथा और देखिये

शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं
गिरो म इन्द्रमुप यन्ति विश्वतः।
वाजसनिं पूर्भिदं तूर्णिमप्तुरं
धामसाचमभिषाचं स्वर्विदम्॥ ऋ. ३।५१।२

'सैंकडों' कर्म करनेवाला, विशाल, शक्तिमान्, उत्तम नेता, अन्नोंका दान करनेवाला, शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला, त्वरासे कार्य करनेवाला, कर्मोंको जल्दीसे समाप्त करनेवाला, अपने स्थानपर स्थिर रहनेवाला, शत्रुओंको पराभूत करनेवाला, स्वर्गके मार्गको जाननेवाला इन्द्र है, मेरी वाणियां उसकी प्रशंसा गाती हैं।'

'पूः-भिद्' का अर्थ 'शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला' है, इससे प्रतीत होता है कि शत्रुके नगरको इन्द्र तोडता होगा। शत्रुके अनेक नगरोंको वह तोडता था। इसका वर्णन इस तरह वेद करता है—

त्वं हि शश्वतीनां इन्द्र दर्ता पुरामसि॥
ऋ. ८।९८।६

'हे इन्द्र! तू सचमुच शत्रुके शाश्वत टिकनेवाले अनेक नगरोंको तोडनेवाला है।' यहां शत्रुके अनेक नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र है ऐसा स्पष्ट कहा है। 'पुरां दर्ता' शत्रुकी नगरियोंका विदारण करनेवाला इन्द्र है। यह हमारा संरक्षण मंत्री है। आर्योंकी युद्ध नीति इस तरह थी। यह बतानेके लिये कहा है—

इन्द्र पूर्भित्। ऋ. १०।१०४।८
पूर्भिदासाम्। ऋ. १०।१११।१०
दस्युहणं पूर्भिदमिन्द्र सत्यं। ऋ. १०।४७।४

'इन्द्र (पूः-भित) शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला है। वह इन्द्र शत्रुको मारनेवाला और शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला है'। यहां 'शत्रुके नगरोंको तोडना' यह गुण इन्द्रका वर्णन किया है यहां तक शत्रुके एक नगरको तोडता था ऐसा वर्णन आया है, पर वह इन्द्र शत्रुके अनेक नगरोंको एक साथ तोडता था, ऐसा भी वर्णन वेदके मंत्रोंमें है। यह वर्णन अब देखिये—

अनेक नगर तोडनेवाला इन्द्र

वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम्।
ऋ. १।६१।५

'वीर इन्द्र दान देनेवाला है, वह अनेक शत्रुओंके अनेक नगरोंको तोडनेवाला प्रसिद्ध है, उसको हम प्रणाम करते हैं। और देखिये—

*

पुरां दर्तः पायुभिः पाहि शग्मैः ॥ ऋ. १।१३०।१०
'हे शत्रुके अनेक नगरोंको तोडनेवाले इन्द्र ! सुख-कारक संरक्षणके साधनोंसे हमारी रक्षा कर।' तथा—

वृत्रखादो वलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः।
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृळहा चिदारुजः। ऋ. ३।४५।२

'वृत्रोंको मारनेवाला, वल राक्षसका नाश करनेवाला, शत्रुके अनेक नगरोंको तोडनेवाला, जलोंको बहानेवाला, सुदृढ शत्रुओंका भी पराभव करनेवाला, घोडोंके रथपर बैठनेवाला इन्द्र है।'

पूर्भित्तमं मघवन्निन्द्र गोविदं ईशानं राय ईमहे।
ऋ. ८।५३।१

'अनेक नगरोंको तोडनेवाला वीरोंमें परम श्रेष्ठवीर, गायोंको प्राप्त करनेवाला और धनका ईश्वर इन्द्र है, उसकी प्रार्थना हम करते हैं।' इस मंत्रमें 'पूः-भित्-तम' पद इन्द्रके लिये प्रयुक्त हुआ है, इसका अर्थ नगरोंको तोडने वाले अनेक वीरोंमें सबसे उत्तम रीतिसे नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र है। इस इन्द्रके समान इस कार्यको करनेवाला दूसरा वीर कोई नहीं है।

यहां 'शत्रुके नगरोंको तोडनेका कार्य करनेवाला इन्द्र है' ऐसा कहा है। युद्धमें शत्रुका पराजय करना होता है, उसमें अन्तमें शत्रुके नगरोंको तोडना होता है। पुरियोंके बाहर किला होता था। किलेके द्वार बंद किये तो शत्रुका प्रवेश नगरमें नहीं हो सकता था। इसलिये शत्रु हमेशा किलेके द्वार पर ही हमला करके द्वारपर अपना अधिकार जमाता था। किलेके चारों ओर पानीके खंदक होते थे और उनमें पानी भरा रहता था। जिन पानीके खंदकोंसे किलेकी दिवार सुरक्षित होती थी। ऐसी अवस्थामें शत्रुको खंदक भर देना और उसमेंसे किलेकी दीवार पर अपना अधिकार करना आवश्यक होता था। किलेकी दिवारों पर अपना अधिकार हुआ तो फिर उस दिवारको तोडना और नगरमें प्रविष्ट होना होता था। इससे पता लग सकता है कि शत्रुकी पुरियोंको तोडना आसान कर्म नहीं था। पर वह इन्द्र उत्तमतासे करता था।

किलेमें भी सैन्य रहता है। वह सैन्य थोडा हुआ तो भी बाहरसे आक्रमण करनेवाले बडे सैन्यका वह मुकाबला कर सकता है। किलेके अंदरके एक गुणा सैन्य बाहरसे आक्रमणकारी दश गुणे सैन्यका मुकाबला कर सकता है। इससे पाठक कल्पना कर सकते हैं कि इन्द्र शत्रुके नगरोंको तोडता था, वह कितने सैनिकोंसे सहायता ले सकता था। बिना ऐसी तैयारीके शत्रुके नगरोंको तोडना नहीं हो सकता था। इन्द्रका सैन्य मरुतोंका होता था। मरुतोंका एक एक गण सात सात सैनिकोंका था। ये सब सैनिक शिक्षित थे। और संघशः ये शत्रुपर हमला करते थे। ऐसे मरुतोंके आक्रमणसे इन्द्र शत्रुके नगरोंको नष्ट भ्रष्ट करता था।

यह इन्द्रका पराक्रम सेनाकी सहायतासे होता था। इससे 'पुरं-दर' पदमें कितना अर्थ भरा है यह पाठक जान सकते हैं।

ये शत्रुकी नगरियां किलेमें होती थी। और किलेके अन्दरकी काली, दासी प्रजा भी शूरवीर होती थी। उनकी स्त्रियां भी लडनेवाली थीं। ऐसे लोगोंकी पुरियां तोडना और उनपर अपना अधिकार जमाना यह कोई इन्द्रका कार्य आसान नहीं था। पर इन्द्रकी सैन्यकी तथा शस्त्रास्त्रोंकी तैयारी ऐसी उत्तम थी कि जहां वह जाता था, वहां उस इन्द्रकी ही जय होती थी। ये इन्द्रके विजय युद्ध भूमिका विचार करके कितने कठिन थे यह जानना चाहिये।

प्रथम यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इन्द्रके शत्रु कोई अनाडी लोग नहीं थे। उनके नगर अच्छे किलेमें रहते थे और उनकी भी एक प्रकारकी संस्कृति थी। इन्द्रके साथ वे युद्ध करते थे और युद्ध करनेमें वे चतुर भी थे।

इन्द्रको अपनी सेना, अपने रथ, अपने घोडे अच्छी तरह शिक्षित रखने पडते थे। अपने शस्त्रास्त्र तथा सैनिक उत्तमसे उत्तम रखने पडते थे। इतना करने पर इन्द्रकी विजय होती थी।

इससे बोध मिलता है कि अपनी तैयारी इतनी उत्तम रखनी चाहिये कि जिससे युद्धमें निश्चयसे अपनी विजय ही होजाय और हमारी सेना शत्रुका उत्तम विनाश कर सके और विजयी हो सके।

शत्रुको मारो

★

१ शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । ऋ. १।४।८

'हे सैकडों कर्मोंको करनेवाले इन्द्र ! तू शत्रुओंका नाश करनेवाला बन।'

२ जयेम सं युधि स्पृधः । ऋ. १।८।३

'युद्धमें शत्रुपर जय प्राप्त करें, शत्रुका पराभव करें।'

३ सासह्याम पृतन्यतः । ऋ. १।८।४

'सेनासे हमला करनेवाले शत्रुका पूरा पराभव करें।'

४ पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
ऋ. १।११।४

'शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला, ज्ञानी तरुण, अधिक शक्तिवाला वीर इन्द्र प्रसिद्ध हुआ है।'

५ मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
ऋ. १।११।७

'हे इन्द्र ! तूने कपटी शुष्ण-शोषक-शत्रुको कपटसे ही नष्ट किया।'

६ यासद्वज्री भिनत् पुरः । ऋ. ८।१।८

'शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला वज्रधारी इन्द्र शत्रुपर हमला करनेके लिये जाता है।

७ त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक् ।
ऋ. ८।१।२८

'हे इन्द्र ! तूने शोषक शत्रुके घूमनेवाले नगरको अपने शस्त्रोंसे ठीक तरहसे तोडा था।'

८ हन्ता वृत्रं नृभिः शूरः । ऋ. ८।२।३६

'सैनिकोंके साथ रहकर शूरवीर इन्द्र घेरनेवाले शत्रुको मारता है।'

९ निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः ।
ऋ. ८।३।१९

'हे इन्द्र ! तूने अपने बडे धनुष्योंके द्वारा घेरनेवाले शत्रुको दूर किया।' शत्रुके शस्त्रोंसे अपने शस्त्र बडे होने चाहिये।

१० यः सृबिन्दुमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम् ।
वधीदुग्रः । ऋ. ८।३२।२

'उग्रवीर इन्द्रने सृबिन्दु, अनर्शनि, पिप्रु, दास और महीशु नामक शत्रुओंका वध किया।'

११ अहन् वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम् ।
हिमेना विध्यदर्बुदम् । ऋ. ८।३२।२६

'स्तुत्य इन्द्रने वृत्रको, और्णवाभको, अहीशुवको और अर्बुदको मारा।'

१२ अयं यः पुरो विभिनत्योजसा । ऋ. ८।३३।७

'यह इन्द्र है जो अपनी शक्तिसे नगरोंको तोडता है।'

१३ विश्वा यद्जयः स्पृधः । ऋ. ८।१४।१३

सब शत्रुओंपर तूने विजय प्राप्त की है।

१४ एको वृत्राणि जिघ्नसे । ऋ. ८।१५।२

तू अकेला ही सब शत्रुओंको मारता है।

१५ भेत्ता पुरां शश्वतीनां इन्द्रो मुनीनां सखा ।
ऋ. ८।१७।१४

शाश्वत टिकनेवाले नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र मुनियोंका मित्र है।

१६ भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः
ऋ. ८।४५।४०

सब द्वेष करनेवाले शत्रुओंका भेदन कर और वध करनेवाले दुष्टोंको मार।

१७ विश्वा द्वेषांसि जहि । ऋ. ८।५३।४

'सब शत्रुओंकी पराजय कर।'

१८ वि द्विषो वि मृधो जहि । ऋ. ८।६१।१३

द्वेष करनेवालोंका तथा शत्रुओंका नाश कर, उनका पराभव कर।

१९ वज्रेण शत्रुमरन्धीः पृतन्युम् । ऋ. १।३३।१२

'वज्रसे सैन्यसे युक्त शत्रुको मारा।'

२० न्याविध्यदिलिबिशस्य दृळ्हा
वि शृंगिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः । ऋ. १।३३।१२

'इलीबिशके सुदृढ किले इन्द्रने तोडे और सींगवाले शोषक शत्रुके टुकडे किये।

२१ वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिं ॥ ४ ॥
त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः । ऋ. १।५१।५

'वृत्रको तथा अहिको शौर्यसे हे इन्द्र ! तूने मारा और कपटोंसे कपटी शत्रुओंका नाश किया।'

२२ त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः। ऋ. १।५१।५

'तू पिप्रुकी नगरियां तोड दे।'

२३ वृश्चा शत्रोश्च विश्वानि वृष्ण्या। ऋ. १।५१।७

शत्रुके सब बलवान् सैनिकोंको काट दे।

२४ वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत् पुरः। ऋ. १।५१।११

शुष्णके बलवान् नगर तूने तोड दिये।

२५ त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत्पुरः। ऋ. १।५३।८

तूने वङ्गृदके सौ नगर तोडे।

२६ त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाऽबन्धुना
सुश्रवसोपजग्मुषः।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नवश्रुतो
निचक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक्॥ ऋ. १।५३।९

'सहायताके बिना सुश्रवाने जिनपर हमला किया ऐसे बीस राजाओंको उनके ६०९९ रथोंके साथ सब सैनिक अचानक चक्रके द्वारा विनष्ट किये।

२७ त्वं पुरो नवतिं दंभयो नव। ऋ. १।५४।६

'तूने ९९ नगर शत्रुके तोडे।

२८ पुरो विभिन्दन्नचरद् वि दासीः। ऋ. १।१०३।३

'दासोंकी नगरियोंको तोडता हुआ इन्द्र आगे बढा।'

२९ पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम्। ऋ. १।६१।५

'यशका वर्णन जिसका होता है वह शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला इन्द्र है।'

३० वज्रिन् श्नथिह्यमित्रान्। ऋ. १।६३।५

'हे वज्रधारी इन्द्र ! शत्रुओंका नाश कर।'

३१ प्रेह्यभीहि धृष्णुहि। ऋ. १।८०।३

'शत्रुपर हमला करो, आगे बढो, शत्रुका नाश करो।'

३२ इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो। ऋ. १।८०।३

'हे इन्द्र ! तेरा बल मानवोंका हित करनेवाला है, शत्रुको मारो, अपने पुरुषार्थसे विजय प्राप्त करो।'

३३ यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना। ऋ. १।८१।३

'जब युद्ध शुरू होते हैं उस समय पराक्रमी वीरको धन मिलते हैं।'

३४ नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान्। ऋ. १।१००।५

'युद्धमें वह शत्रुओंका पराभव करता है।'

३५ दस्यून् छिम्यूँश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां
शर्वा नि बर्हीत्। ऋ. १।१००।१८

'सब दुष्टों और शत्रुओंको बहु प्रशंसित इन्द्रने अपने शस्त्रोंसे मारा और पृथिवी पर गिराया।'

३६ मनवे शासदव्रतान् त्वचं कृष्णामरन्धयत्। ऋ. १।१३०।८

'मानवोंके हित करनेके लिये कार्य न करनेवालोंको तथा काले चमडीके लोगोंको नष्ट करता है।'

३७ विश्वं तत्तुषाणमोषति न्यर्शसानमोषति। ऋ. १।१३०।८

'वह इन्द्र सब हिंसक लोगोंका नाश करता है, सब दुष्टोंका नाश करता है।'

३८ पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः। ऋ. १।१३१।४

'हे इन्द्र ! तू शरत्तुके नगरोंको तोड दिया।'

३९ यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि। ऋ. १।१३१।६

'हे वज्रधारी इन्द्र ! तू अपने बलसे सब शत्रुओंका नाश करनेकी इच्छा करता है।'

४० दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्। ऋ. १।१७४।२

'हे इन्द्र ! जब तूने शरदके सात नगर सहज तोडे तब बडे शत्रुता करनेवाले दुष्टोंको तुमने चुप बिठलाये।'

४१ अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य
पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रं
अपावपद्। ऋ. २।१४।६

'हे अध्वर्यू ! जिसने शंबरके प्राचीन सौ नगर तोडे, जिसने वर्चीके एक लाख सैनिकोंको मारा वह इन्द्र है।'

४२ अध्वर्यवो यः शतमा सहस्रं
भूम्या उपस्थेऽवपज्जघन्वान्।
कुत्सस्यायोरतिथिग्वस्य वीरान्। ऋ. २।१४।७

'हे अध्वर्यू ! कुत्स, आयु तथा अतिथिग्वके लाखों वीरोंको जिसने मारकर भूमिपर गिराया, वह इन्द्र है।

४३ स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरंदरो दासीरै-
रयद् वि । ऋ. २।२०।७

'वह वृत्रवधकर्ता इन्द्र शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला कृष्णवर्ण दासोंको भगाता रहा।'

४४ हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्।
ऋ. २।२०।८

'इन्द्र दस्युओंको मारता है और उनके लोहेके मजबूत किलोंको तोडता है।'

४५ बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य
वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्।
यथा जघन्थ धृषता पुरा चित्
एवा जहि शत्रुमस्माकमिन्द्र ॥ ऋ. २।३०।४

'हे (बृहस्पते) ज्ञानी इन्द्र ! तूने अपने तपी हुई बिजलीके समान कठोर अस्त्रसे घातक असुर वीरोंको पूर्वके समय मारा था वैसे ही आज हमारे शत्रुओंको मारो।'

४६ त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि । ऋ. ३।३०।४

'तू न हिलनेवाले शत्रुओंको स्थान भ्रष्ट करता है।'

४७ वृजनेन वृजिनान्सं पिपेष
मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः । ऋ. ३।३४।६

'कुटिलतासे कुटिलोंको चूर्ण करता है और सामर्थ्यवान् कपटोंसे दुष्टोंका घात करता है।

४८ हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्। ऋ. ३।३४।९

'इन्द्रने दस्युओंको मारा और आर्य वर्णका संरक्षण किया।'

४९ इन्द्रो दळहा चिदारुजः । ऋ. ३।४५।२

'इन्द्र सामर्थ्यवान् शत्रुको उखाड देता है।'

५० जहि शत्रूँरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि
विश्वतो नः। ऋ. ३।४७।२

'शत्रुओंको जीत, दुष्टोंको दूर कर और चारों ओरसे हमें निर्भय कर।'

५१ पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रा:।
ऋ. ४।१६।१३

'तूने पचास हजार काले सैन्योंका वध किया।'

५२ अत्कं न पुरो जरिमा विदर्दः । ऋ. ४।१६।१२

'जैसे वृद्धावस्था सुन्दरताको नष्ट करती है वैसे ही तूने शत्रुके नगर नष्ट किये।'

● ● ●

जागी जागी रे विराट् जनता

जागी जागी रे विराट जनता जागी रे,
चली चली रे भारतकी फोज चली रे
लेके नेहरुका आदेश राष्ट्रपतिका संदेश;
चोर चीनियोंमें मची खलबली रे..............जागी•

उठी लेकर ये अंगडाई, संघ शहीदोंके रंग लाई,
लेके सैनिकोंकी शान, हुए शूरवीर समान;
हुई बहनें खडी हैं भद्रकाली रे..............जागी•

देश प्रेमसे जनता जागी, हुई ऐक्यता अनुरागी,
कई लेते हैं कटार, कई देते कलदार;
कलम मस्त हुई शूरघेली रे..............जागी•

किसान कारीगर जागे, शूरवीरोंके सहयोगे,
कई देते श्रमदान, कई देते दिलदान;
उत्पादन बढाते सबमिली रे..............जागी•

जागे मिलमालिक व्यापारी, जागे मन्दिरके पूजारी,
तन, मन, धन, दान, देशप्रेमका प्रदान;
भारत भव्य हो रहा बलशाली रे..............जागी•

मोज शोखोंको भी त्यागे, लोभ लालचसे दूर भागे,
सब हुए एकतार, देशरक्षाका विचार;
करेंगे कुरबानीसे रखवाली रे..............जागी•

वेदकालसे गुंज रहा नारा, यह हिमालय है हमारा,
आर्योंका है आदिस्थान, भारतकी है भव्य शान;
रंग ऋषियोंका है वेदकाली रे..............जागी•

श्री— 'सुदर्शन' विद्यावाचस्पति, आचार्य मंदिर, भडोंच (गुजरात)

प्राचीन आर्य और इतिहास

(लेखक— श्री गङ्गाप्रसाद शर्मा, भूतपूर्व प्रधान, आर्यसमाज, बगदाद)

बड़े खेदके साथ कहना पड़ता है कि पश्चिमीय इतिहासवेत्ताओंने, पक्षपात वश एवं उनके अनुवर्ती भारतीय इतिहास लेखकोंने प्राचीन आर्योंको ऐतिहासिक विद्यासे अनभिज्ञ बतलानेका जो असफल प्रयास किया है वह अत्यन्त गर्हित एवं चिन्त्य है। बतलाया जाता है कि यवनोंके आगमनसे पूर्वका आर्योंके पास कोई इतिहास नहीं है। प्राचीन आर्य इतिहास लिखना नहीं जानते थे उनका रहन-सहन खानपान आचारव्यवहार सब कुछ जंगली जातियोंके सदृश था।

इन बातोंको पढ़कर, पढ़नेवालेके हृदयमें अपने पूर्वजोंके प्रति सम्मानका अभाव हो जाता है, वह उन्हें उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगता है। उसे अपना स्वर्णिम भूतकाल भी अन्धकारमय दिखाई देने लगता है, वह नैराश्य सिन्धुमें डुबकिएं लगाने लगता है और पश्चात्तापी बना रहता है। इस नैराश्यान्धकारको भेद करनेके निमित्त ही यह लेख लिखा गया है। यदि हम थोड़ी देरके लिए इस बातको मान लें कि हमारे पूर्वज-प्राचीन आर्य-ऐतिहासिक ज्ञानसे शून्य थे तो हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारे पुरखे केवल अर्द्धसभ्य थे, कारण कि दोही अवस्थाओंमें कोई जाति (nation) ऐतिहासिक ज्ञानसे शून्य हो सकती है।

(१) उस जातिके नेताओंने कोई ऐसे उत्तम कार्य न किए हों जिन्हें उनकी सन्तान साभिमान स्मरण कर सके।

(२) उस जातिके नेता अपनी भावी सन्ततिके लिए अपने कार्योंकी शृंङ्खलाबद्ध सूची–इतिहासके छोड़नेके लाभोंसे सर्वथा अनभिज्ञ हों अर्थात् वे इतिहासकी उत्कृष्टताको न जानते हों। जब हम विचार करते हैं तो हमें हमारा अतीत बड़ा प्रोज्ज्वल प्रतीत होता है। प्राचीन आर्यावर्त्तमें अध्यात्मविद्या, पदार्थविद्या, नक्षत्रविद्या, जंगमविद्या, गणितविद्या नीतिविद्या, धनुर्विद्या, भूगर्भविद्या, शिल्पविद्या, चिकित्साविद्यादि महोन्नतिको पहुंची हुई थीं। प्रजातन्त्रप्रणालीका प्रचार था और चक्रवर्ती साम्राज्य भी स्थापित हो चुका था। हमारा देश एक शिरोमणि देश था और प्राचीन आर्य थे जगद्गुरु। हमारे ही देशसे समस्त संसारमें विद्या, संस्कृति, सभ्यताका प्रकाश फैला था। संसारको सभ्य और सुशिक्षित बनानेवाले हमारे पूर्वज ही थे। हमारे उपदेशक विदेशोंमें जाकर नाना विद्याओंकी शिक्षा देते थे, वेदोंका प्रचार करते थे और करते थे अपनी कल्याणमयी संस्कृतिका प्रसार। महर्षि मनु आर्यावर्त्तकी महत्ताका निम्नलिखित शब्दोंमें गान कर रहे हैं। देखिए वे कहते हैं—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

अर्थात् आर्यावर्त देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने योग्य आचार व्यवहारको सीखें। महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी भी आर्यावर्त्तकी कीर्तिका वर्णन करते हुए लिखते हैं— "यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोलमें फैले हैं वे सब आर्यावर्त देशहीसे प्रचारित हुए हैं।" श्रीमती मेडम ब्लेवाट्स्की (Madam Blavtsky) महोदया भी अपने आइसिस अनवेल्ड (Isis Unveiled) में लिखती हैं—

Recently the mass of cumulative evidence has been reinforced to an extent which leaves little, if any, room for further controversy. A conclusive opinion is furnished by too many Scholars to doubt the fact that India was the Alma- Mater, not only of the civilisation, arts and sciences, but also of the great religions of antiquity. Judaism and hence Christianity included, (Vide. Isis unveiled; vol II, P. 31)

अर्थात् अभी हाल हीमें दृढ साक्षियोंका समूह ऐसा प्राप्त हुआ है जिससे और विवादके लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। बहुत विद्वानोंकी संदेहनाशक निश्चयात्मक-अन्तिम सम्मतिएं प्राप्त हुई हैं जिनसे सम्यक् प्रमाणित होता

है कि आर्यावर्त न केवल सभ्यता, कलाकौशल तथा पदार्थ विज्ञानका ही जन्मदाता था अपितु वह प्राचीन मतमतान्तरों तथा यहूदी और ईसाई मतका भी जन्मदाता था। Theogony of the Hindus (थियोगॉनी आफ दि हिन्दूज) नामक पुस्तकके लेखक श्री काउण्ट जार्न्सजेर्ना (Count Jorns Jerna) लिखते हैं— 'आर्यावर्त केवल हिन्दू धर्मका ही घर नहीं है वरन् वह संसारकी सभ्यताका आदि भण्डार है। हिन्दुओंकी सभ्यता क्रमशः पश्चिमकी ओर इथोपिया, ईजिप्त, और फौनेशिया तक, पूर्व दिशामें स्याम, चीन और जापान तक; दक्षिणमें लङ्का, जावा, सुमात्रा तक और उत्तरकी ओर परशिया, चाल्डिया और कोल्चिस और वहांसे यूनान और रोम हियर बोरियन्सके रहनेके स्थानतक पहुंची।'

फ्रान्स देशके सुप्रसिद्ध विद्वान् जेकॉलियट (Jacolliot) महाशय लिखते हैं 'मैं अपने ज्ञाननेत्रोंसे भारत वर्षको अपना राजशास्त्र, अपने संस्कार, अपनी नीति, अपना धर्म, मिश्र, ईरान, यूनान और रोमको देते हुए देख रहा हूं। पुराने भारतवर्षके महत्वका अनुभव करनेके लिये यह सम्पूर्ण विद्या जो वर्तमान समयमें यूरोपमें सीखी जाती हैं किसी काममें नहीं आ सकतीं। पुराने आर्यावर्तके महत्वको अनुभव करनेके लिए हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जैसे कि एक बालक नई रीतिसे शिक्षा ग्रहण करता है।' यह थी प्राचीन भारतकी महिमा, तभी तो देव गण भी भारतमें जन्म धारण करनेके लिए लालायित रहा करते थे। देखिए—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥

अर्थात् देवगण भी ऐसे गीत गाया करते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं जो स्वर्ग और अपवर्गके हेतुभूत भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करते हैं, वे हमसे भी श्रेष्ठ हैं। किम्बहुना समस्त विश्व शिक्षा सभ्यतादिके लिए भारतका ऋणी है। प्राचीन आर्य केवल अपनी ही उन्नतिसे सन्तुष्ट नहीं हुए अपितु उन्होंने समस्त संसारको उन्नति पथ पर अग्रसर किया। अतएव प्रथमावस्था तो हो ही नहीं सकती!

अब द्वितीयावस्था पर विचार करते हैं वह भी घटित नहीं होती, कारण कि जब हम संस्कृत ग्रन्थोंका अवलोकन

करते हैं तो उसे इतिहास-गुण-वर्णनसे परिपूर्ण पाते हैं। देखिए वेद उपदेश देता है। इस मंत्रमें इतिहासविद्याका बीजरूपेण वर्णन है—

'स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद'। अथर्व कां. १५, सूक्त. ६, मं. १२

अर्थात् महत्वाभिलाषी पुरुष जब महत्वकी ओर चलता है तब इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी उसके अनुगामी बन जाते हैं। इस बातको जो पुरुष जानता है वह इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसीका प्रिय धाम बन जाता है। तब क्या कभी असम्भव होसकता है कि सकल विद्याओंके जनक और जगद्गुरु आर्य इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसीके प्रियधाम न बन गए हों? छान्दोग्योपनिषद्में महर्षिसनत्कुमारके महर्षि नारदसे पूछने पर कि उन्होंने क्या क्या अध्ययन किया है, महर्षि नारदने कहा है—

'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।'

अर्थात् हे भगवान्! मैंने ऋक्, यजु, साम, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदार्थप्रतिपादक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशि,

दैव, निधि, वाको वाक्य, एकायन विद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेव जन विद्याओंका अध्ययन किया है। राजकुमार चन्द्रापीडने कौन कौन विद्याएं पढीं थीं उनका उल्लेख करते हुए कविवर बाणभट्टने लिखा है— 'स (चन्द्रापीडः) महाभारतेतिहासपुराणरामायणेषु कौशलमवाप ' अर्थात् वह राजकुमार चन्द्रापीड महाभारत इतिहास, पुराण, रामायणमें अति प्रवीण हो गया। महाभारतमें तो लिखा है—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ' अर्थात् इतिहासपुराणसे वेदार्थ पुष्ट करना चाहिए। अब हम एक विदेशीय निष्पक्ष सम्मति प्रकाशित करते हैं कि जिससे भलीभांति पता लग जायगा कि आर्यावर्तमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक ग्रन्थ उपस्थित थे। श्रीमती मेडम ब्लेवाट्स्की (Madam Blavatsky) आइसिस अनवेल्ड (Isis Uuvield vol II, P. 37) में लिखती हैं—

The ancient Asiatics, five Centuries before our era and especially the Hindus, the persians and the chaldens had in their possession a quantity of Historical and Scientific books. These works were partially borrowed, partially translated in the Greek language, mostly since the Ptolemis had established the Alexandrain Library and encouraged the writers by their liberalities, so that the Greek language became the deposit of all sciences (History of Armenia). Therefore; the greater part of the literature included in the 700,000 Volumes of the Alexandrian Library was due to India and her next neighbours.

अर्थात् प्राचीन एशियावासी, हमारे ईस्वी सन् से पांच शताब्दिपूर्व विशेषतः हिन्दू, ईरानी, और कैल्ड लोगोंके पास बहुतसे ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ग्रन्थ थे। कुछ ग्रन्थ तो प्रतिलिपि किए हुए थे और कुछ ग्रन्थ यूनानी भाषामें अनूदित किए गए थे और केवल इसीलिए टोलमियोंने अस्कन्द्रियाके पुस्तकालयकी स्थापना की थी और उसने, दान देकर लेखकोंको उत्साहित किया था और यही कारण है कि यूनानी भाषा सम्पूर्ण विद्याओंका कोष बना। (आरमीनियाका इतिहास) अतएव यह सिद्ध होता है कि अस्कन्द्रियाके पुस्तकालयकी ७००,००० में से बहुतसी पुस्तकोंका निर्माण होना विशेषकर भारत वर्ष और उसके निकटवर्ती देशोंपर निर्भर है।

जिस देशमें रामायण और महाभारत सरीखे इतिहासके ग्रन्थ विद्यमान हों, जिस देशमें १८ पुराण और उपपुराण जैसी पुस्तकें अनेक उपाख्यानों एवं राजवंश तालिकाओंसे पूर्ण प्राप्त होती हों क्या यह कभी सम्भव हो सकता है कि उस देशमें वास्तविक ऐतिहासिक ग्रन्थ न हों ? वास्तवमें हमारे यहां अनेक प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ विद्यमान थे परन्तु शोक है कि वे सब नष्ट कर दिए गए !

जो पक्षपाती प्राचीन आर्योंको ऐतिहासिक ज्ञानसे अनभिज्ञ बतलाते हैं, कृपया बताएं कि प्रसिद्ध विद्वान् अब्बुल फजलने भारतके इतिहास लिखनेकी सामग्री कहांसे प्राप्त की थी ? सम्राट् अशोक अपने समयकी घटनाओंको क्यों और किसलिए अङ्कित कराते थे ? यदि इतिहास नहीं था तो महर्षि नारद और राजकुमार चन्द्रापीडने इतिहास कहांसे पढा था ? चीनी यात्री ह्वेनत्संग लिखते हैं—

With respect to the records of events each province has its own official for preserving them in writing. The record of these events in their full character is called Ni- lo- picha (Nilpita, blue deposit.) In these records are mentioned good and evil events with calamities and fortunate occurrences.

अर्थात् घटनाओंको लिपिबद्ध करनेके लिए प्रत्येक प्रदेशमें एक राजपुरुष होता था जो घटनाओंका वृत्तान्त लिखता था। घटनाओंके इन लेखोंका नाम नीलोपिच, नीलपित अथवा नीलकोष था। इन लेखोंमें सुघटनाओं और दुर्घटनाओंका वर्णन होता था, तथा आपत्ति और सौभाग्यसूचक घटनाएं सब रहती थीं। इतिहासज्ञ मेगास्थनीज अपने भारत भ्रमणका वृत्तान्त लिखते हुए लिखते हैं—

The institution of official reporters (pativedakas) existed in the time of Chanragupta.

अर्थात् महाराज चन्द्रगुप्तके समयमें घटनाओंको संग्रह करनेके निमित्त राजपुरुष नियुक्त थे। हमारे यहां ऐतिहा-

सिक काव्योंका होना भी इस बातको प्रमाणित करता है कि हमारे यहां इतिहास थे, ऐतिहासिक सामग्री थी और हम इतिहास ज्ञानसे अनभिज्ञ नहीं थे। विचारणीय है कि बारहवीं शताब्दिमें, जब हमारा अधःपतन हो रहा था इस देशमें कविवर कल्हण सरीखे इतिहास वेत्ताका जन्म होता है और राजतरंगिणी जैसा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जाता है, तो अब कल्पना कीजिए कि जब हमारा देश उन्नतिके शिखर पर आरूढ था तो कितने उत्तमोत्तम इतिहास वेत्ता न उत्पन्न हुए होंगे ?

इतिहास शुद्ध संस्कृत भाषाका शब्द है और यह प्राकृतिक नियम है कि जो पदार्थ जिस देशमें नहीं होता उस देशकी भाषामें उसकी कोई नाम संज्ञा नहीं होती, जैसे फारिस देशमें सिंघाड़ा नहीं होता तो उसके लिए फारसी भाषामें कोई शब्द ही नहीं है। इतिहास शब्दका अर्थ है- इति+ह+आस - पूर्वकालकी घटनाओंका विवरण, पुरावृत्त, उपाख्यान।

यह एकान्त सत्य है और सप्रमाण सिद्ध है- कि प्राचीन आर्य इतिहासवेत्ता थे और हमारे यहां अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ विद्यमान थे। हम इतिहासके लाभोंसे अनभिज्ञ नहीं थे।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इतिहास, ऐतिहासिक ग्रन्थ सम्प्रति क्यों नहीं प्राप्त होते, कहां चले गये ? इसका अति संक्षेपसे उत्तर यह है कि न केवल इतिहास, ऐतिहासिक ग्रन्थ ही अपितु नानाविद्याओंके सहस्रों ग्रन्थ भी यवनकालमें नष्ट भ्रष्ट कर दिए गए। संस्कृत पुस्तकें जहां मिलती थीं, जला दी जाती थीं। सन् १२१२ में ही उद्दान्तापुरी, बिहार, नालन्दा और बुद्ध गयाके विशाल पुस्तकालय भस्म कर दिए गए थे !

किम्बहुना, इत्यलं बुद्धिमत्सु।

हताश होनेकी कोई बात नहीं है अब भी संस्कृत ग्रन्थों के, शिलालेखोंके, यात्रियोंके भ्रमण वृत्तान्तोंके एवं वंशावलियोंके आधारपर इतिहास निर्मित हो सकता है। सिक्के एवं पुराने खण्डहरोंका अवलोकन भी सहायता दे सकता है।

श्री अरविन्दकी दिव्य दृष्टि—

चीनकी कुटिल चाल

वर्तमान युगके उच्चतम राजनीतिक योगी श्री अरविन्दने अनेक वर्षों पहले, कोरिया पर चीनी आक्रमणके समय अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर यह स्पष्ट बतला दिया था कि चीनका उद्देश्य इन उत्तरीय भागोंको हथियाकर तिब्बतके द्वारा भारतपर आक्रमण करनेका है। उन्होंने भारतीय सरकारको उस समय यह स्पष्ट चेतावनी दे दी थी कि यदि तिब्बतके जन्मसिद्ध स्वायत्त शासनके अधिकारको स्वीकार न किया गया तो भारत सदाके लिए चीनी आक्रमणके लिए खुला रहेगा। उन्होंने भारत पर चीनी आक्रमण हो जाने पर उससे रक्षाके उपायोंको भी स्पष्ट बतला दिया था। यदि हमारे देशके कर्णधार साहस, दृढता और निर्भयताके साथ उन उपायोंका अवलम्बन करें तो हमारी विजय निश्चित है। श्री अरविन्दके सन्देश इस रूपमें मिलते हैं।

अनुवादक—

साम्यवादी चीन

'साम्यवादी चीनके आविर्भावसे एशियामें एक अधिक विनाशकारी स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसने रूस और चीन इन दो बडी बडी साम्यवादी शक्तियोंको मिलाकर एक ऐसा विशाल गुट्ट बना दिया है जो सरलतासे संपूर्ण उत्तरी एशियाको निगल सकता है; यह गुट्ट दक्षिण-पश्चिमी एशिया और तिब्बतको हडप जानेकी धमकी देकर उनपर हावी हो सकता है; यह इससे आगे बढकर भारतकी संपूर्ण सीमातक बढ सकता है, उसपर आक्रमण करके उसकी और पश्चिमी एशियाकी सुरक्षाके लिए भारी संकट बन सकता है। घुस-पैठ करके या यहांतक कि अति विशाल सैनिक बलके द्वारा उन्हें अवाञ्छित विचार धारा, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओंके आधीन कर सकता है और उसका वेग अप्रतिरुद्ध हो सकता है।'

Ideal of Human Unity. P. 13
American Edition 1950

कोरिया

'साम्यवादी चीनका कोरियापर आक्रमण, पहले दक्षिण-पूर्वी एशियाके इन उत्तरी भागोंपर अधिकार जमाने और फिर शेष महाद्वीपको अपनी चालबाजीका शिकार बनाने और तिब्बतको द्वार बनाकर भारतमें घुसबैठनेकी युद्ध योजनामें पहला पग है।

'यदि चीनी इसमें सफल हो जाते हैं तो इसका कोई कारण नहीं है कि संपूर्ण विश्वपर उनका आधिपत्य उस समय तक क्यों न बढता जाय जबतक कि वे अमेरिकासे युद्ध करनेमें समर्थ हों। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि अमेरिकाके साथ युद्धको, स्टालिनके लिए उपयुक्त समय आनेतक रोका रखा जाय।

'कोरियाके संबंधमें ट्रूमेन (तत्कालीन अमेरिकाके राष्ट्रपति) की गतिविरोधको देखते हुए ऐसा जान पडता है कि वह स्थितिको समझ गया है, परन्तु देखना यह है कि क्या वह इतना साहस रखता है कि इस कार्यको अन्ततक जारी रख सके। उसने जिन उपायोंको अपनाया है वे अपूर्ण और असफल होते प्रतीत होते हैं, क्यों कि उनमें समुद्र और वायुके सिवाय कोई दूसरा ठोस सैनिक हस्तक्षेप नहीं है। स्थिति ऐसी ही जान पडती है, देखना यह है कि यह कैसे आगे बढती है।

'एक बात निश्चित है कि यदि अत्यधिक अगर-मगर होता है और यदि अमरीका इस समय कोरियाकी सुरक्षा का परित्याग कर देता है तो उसे एकके बाद दूसरे मोर्चेको उस समयतक देते जाना होगा जबतक कि मामला हाथसे बाहर नहीं हो जाता। कहीं न कहीं उसे डटकर खडा होना होगा और ऐसी कठोर कार्यवाही करनेकी आवश्यकताका सामना करना पडेगा जो चाहे युद्ध ही का रूप क्यों न धारण कर ले।

'स्टालिन भी विश्वयुद्धके जोखमको अपने सिरपर

उठानेके लिए तैयार नहीं जान पड़ता। यदि ऐसा है तो ट्रूमैन उसका मुकाबला करके उसे इस बातके लिए विवश कर सकता है कि वह या तो विश्व-युद्धके उत्तरदायित्वको अपने सिर पर उठाये अथवा अपने एकके बाद दूसरे मोर्चेको अमरीकाको देता चला जाय; इस प्रकार ट्रूमैन फांसेको पलट सकता है।'

(सन्देश, २८ जून १९५०)

तिब्बत

(श्री अरविन्द द्वारा अनुमोदित मदरइण्डियाका संपादकीय) 'तिब्बत भारतीय सरकारकी बुद्धिमानी और सच्चाईकी कठिन परीक्षा है। कठिनाईसे ही कोई ऐसा भारतीय होगा जो तिब्बत की जनताके स्वायत्त शासनके अधिकारमें सन्देह रखता हो। इस अधिकारका न्याय संगत निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी भी दूसरे देशका तिब्बतके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना सर्वथा अनुचित कार्य है। ऐसी कार्यवाहियां स्पष्ट आक्रमण हैं और हमें उनका विरोध न केवल शब्दोंसे अपितु कार्य करके देना चाहिये।

'......हमें अपने मनोंमें निश्चित रूपसे यह धारण कर लेना चाहिये कि तिब्बत पर आक्रमणमें माओका उद्देश्य यथासमय शीघ्र भारत पर आक्रमण करनेका है।

...अतः तिब्बत पर आक्रमण मूलतः भारतीय सरकार के प्रति शत्रुता है। तिब्बतको चीनमें मिला लेने पर माओ काश्मीर, उत्तर प्रदेश, नैपाल, भोटान, सिक्किम, आसाम पर धावा बोलेगा। चीनके साथ हमारी सेनायें सैकड़ों मील लम्बी हो जायंगी। विजातीय विचारधाराका अन्तः प्रवेश अत्यधिक बढ जायगा। स्वाधीन तिब्बत ऊपरी एशियासे साम्यवादी विचार धाराके भारतीय मन पर आक्रमणमें सर्वोत्तम भौतिक अवरोध था। वह हमारा सैनिक रक्षा-प्रचार था। एक बार जब हमारी सरहद स्टालिनी-माओके साथ सम्पर्ककी रेखा बन जायगी तो यदि हम साहसके साथ कार्यवाही न करें तो उत्तरसे काट खानेवाली तीखी बरफीली आंधीके लिए नग्न होजायंगे। यह आंधी उस उच्चतम ज्योतिको जो युगोंसे संपूर्ण विश्वके कल्याणके लिए भारतके हृदयोंमें प्रतिष्ठित और प्रज्ज्वलित हुई है, उडाकर ले जा सकती है।'

(११ नवम्बर १९५०)

भारतके लिए कर्त्तव्यकी दिशा

(श्री अरविन्दसे अनुमोदित सम्पादकीय मदरइण्डिया)
'परन्तु माओ और स्टालिनके क्रोधको दूर करनेके लिए उनके द्वार खटखटाना किसी प्रकार भी रक्षाप्रद उपाय नहीं है। यह प्रयत्न हमारे समस्त उच्चतम आदर्शों और अभीप्साओंके विनाशको आमंत्रित करनेवाला प्रयत्न है। जो प्रयत्न सच्चे रूपमें हमारी रक्षा कर सकता है वह है चीनके साथ दृढताका व्यवहार करना, खुल्लम खुल्ला उसकी नीच अभिसंधियोंकी निन्दा करना, बिना किसी लुकाव छिपावके अमरीकाके साथ होना, और हमारे सम्मानके अनुरूप हर संभव प्रकारसे ऐसी व्यवस्था करना कि जिससे अमरीकाको हमारे अनुकूल हस्तक्षेप करने और इससे भी बड़ी बात है, माओको भारतके प्रति दुष्टता करनेसे रोकनेमें पूरी सुविधा मिल सके। सैनिक दृष्टिसे चीन हमसे दस गुना अधिक बलशाली है, परन्तु भारत अमरीकाके गणतंत्रकी रक्षामें अग्रणी होकर माओके यंत्र सज्जित लाखों सैनिकोंको रोक सकता है। और हमारे लिए अब वह अवसर आ गया है कि हम अपने आपको ऐसा अग्रणी बनायें और न केवल अपने प्रिय देशकी रक्षाको अपितु, इस संपूर्ण दक्षिण पूर्वी एशियाकी रक्षा करें जिसके हम दुर्ग प्राचीर हैं।'

श्री अरविन्दके इन और दूसरे विचारोंसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि स्टालिनी-साम्यवादी चीन इतना अधिक दुष्ट है कि यदि उसे मैकमोहन लाईनसे दक्षिणका भारतका कोई भी भाग देकर समझौता कर लिया गया तो वह कुछ ही समयमें वहां दृढ सैनिक अड्डे बनाकर झगड़े उठाता रहेगा और एकके बाद दूसरे स्थानोंको तबतक लेता जायगा जबतक कि वह संपूर्ण भारत और एशियाको अपने राक्षसी पंजोंमें नहीं दबोच लेता। इससे भारतको अपनी रक्षाके लिए कभी न कभी युद्ध करना ही पड़ेगा। यदि वह अभी अमरीकी सैनिक सहायतासे साहस और निर्भयताके साथ युद्ध कर लेता है तो चीनको निश्चय ही पराजित कर सकता है। युद्ध करनेमें कुछ व्यक्तियोंको रूसके चीनके पक्षमें सहायता देनेकी संभावना जान पड़ती है। परन्तु रूसकी अभीतककी प्रवृत्तियोंको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह विश्वयुद्धके संकटको अपने सिर पर नहीं उठायगा। और यदि उसके चीनको सहायता देनेकी संभा-

बनाको यदि मान लिया जाय तब युद्धके अतिरिक्त हमारे सामने केवल यह विकल्प रह जाता है कि रूस और चीनकी विशाल सेनाके भयसे जो कुछ भी चीन मांगता है उसे देकर समझौता कर लिया जाय और जब वहां उसके मजबूत सैनिक अड्डे बन जायें तो फिर कुछ समय पीछे उसके झगडे उठाने और और भी अधिक मांग करनेपर रूस और चीनकी सेनाओंके भयसे आसाम, नैपाल, भूटान, सिक्किम, उत्तर प्रदेश, काश्मीरको उसे देकर संपूर्ण भारत और एशिया और संपूर्ण विश्वको उससे पददलित होने दिया जाय। यहां बडा भारी आत्मसम्मान और विश्वरक्षाका प्रश्न उपस्थित हो जाता है।

ऐसी परिस्थितिमें ही राष्ट्रों और व्यक्तियोंकी कठोर परीक्षा होती है। जो व्यक्ति और राष्ट्र ऐसे अवसरोंपर साहस, दृढता और बलिदानका परिचय देते हैं वे विजयी होकर देश और मानव जातिके नेता और पथप्रदर्शक होते हैं। जो कायरता वश पीछे हट जाते हैं वे अपने सम्मान और अपनी आत्माको खोकर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशामें यदि मृत्यु और सर्वस्व विनाश होता हो तो चित्तौरके वीर राजपूतों और वीर राजपूतनियोंके समान अपने सर्वस्वकी आहुति दे देना ही कर्तव्य होता है। ऐसी ही परिस्थिति पाण्डवोंके सामने उपस्थित हुई थी जिसमें श्रीकृष्णने अर्जुनको कहा था:—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

हे वीर अर्जुन! यदि तू युद्धमें मारा जाता है तो स्वर्गके दिव्य सुखको प्राप्त करेगा और यदि विजयी होता है तो पृथ्वीके सुखको प्राप्त करेगा अतः हर दशामें युद्ध करना ही श्रेयस्कर है।

अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।

यदि तू अपने अहंकारवश अपनी ही बातपर दृढ करके उसे ठीक मानता हुआ युद्ध नहीं करेगा तो नष्ट हो जायगा।

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

अतः युद्ध कर निश्चय ही विजयी होगा। भारतके लिए ऐसी ही परिस्थितिको देखते हुए श्री अरविन्दने लिखा है कि भारत अमेरीकाकी सैनिक सहायतामें अग्रणी होकर साम्यवादी चीनको निश्चय ही हटा सकता है

संकलनकर्ता और अनुवादक—
एक देशप्रेमी

६ अक्टूबर १९४४ को नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसका
महात्मा गांधीके नाम रंगून रेडियोसे प्रसारित भाषण

नेताजीकी वाणी

भाषण कर्ता–
नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस

अनुवादक–
श्री कृष्णदत्त, साहित्यरत्न

*

अब जब कि आपके स्वास्थ्यमें कुछ सुधार हो गया है और किसी सीमा तक आप सार्वजनिक कार्योंकी ओर सक्रिय रूपेण अभिमुख होनेकी क्षमतासे समुपेत हो सके हैं, मैं आपसे कुछ शब्द निवेदन करनेकी स्वतन्त्रता चाहता हूं। यह निवेदन करते समय मुझे यही अभिप्रेत है कि आप भारतसे बाहर रहनेवाले स्वदेश भक्त भारतीयोंकी योजनाओं एवं कार्यवाहियोंसे अवगत हो सकें।

ऐसा करनेसे पूर्वमें आपको यह सूचित करना चाहता हूं कि सारे विश्वमें रहनेवाले भारतीयोंमें अस्वस्थताके कारणसे जेलसे आपकी आकस्मिक मुक्तिपर गहन चिन्ता व्याप्त हो गई थी। श्रीमती कस्तूरबाजीके ब्रिटिश कारागारमें दुःखद निधन होनेके अनन्तर आपके देशवासियोंके लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे आपके स्वास्थ्यके प्रति आशंकित हों। किन्तु सन्तोषका विषय है कि दैवको भी आपको स्वास्थ्य लाभ करानेमें प्रसन्नता हुई है जिससे आपके ३८ करोड ८० लाख देशवासी आपके पथप्रदर्शन एवं परामर्शोंसे आज भी लाभान्वित हो सकें। यहां मैं प्रवासी भारतीयोंके आपके प्रति जो भाव हैं, उनके विषयमें भी कुछ निवेदन करना चाहूंगा। इस विषयमें मेरा निवेदन विशुद्ध सत्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। स्वदेशमें रहनेवाले भारतीयोंके समान ही विदेशोंमें भी ऐसे भारतीय हैं जो भारतीय स्वातन्त्र्यके प्राप्त्यर्थ संघर्षकी ऐतिहासिक सरणिकी सम्पुष्ट अवलम्बनीयतामें पूर्ण आस्था रखते हैं। ऐसे स्त्री पुरुषोंका सहृदयतापूर्ण विश्वास है कि ब्रिटिश शासन किसी संराधनात्मक नैतिक आग्रह अथवा अहिंसात्मक प्रतिरोधके समक्ष समर्पण नहीं करेगा। किन्तु ऐसा होते हुये भी विदेशी भारतीयोंके लिये यह साधनपरक मतवैषम्य घरेलू मतभेदसे परेकी कोई वस्तु नहीं है।

लाहौर कांग्रेसके दिसम्बर १९३९ के अधिवेशनमें आपके द्वारा स्वतन्त्रताका प्रस्ताव प्रस्तुत होनेके अनन्तर राष्ट्रीय कांग्रेसके सभी सदस्योंका एक ही लक्ष्य होगया है। विदेशों में रहनेवाले भारतीय आपको भारतमें दर्शनीय वर्तमान जागृतिका सूत्रधार मानते हैं। संसारमें अपने प्रचारान्तर्गत वे भारतीय आपकी महत्ताके अनुरूप ही आपको सम्मान देते हैं। विश्वकी जनताकी दृष्टिमें हम सभी भारतीय एक ही हैं। हम सबकी एक ही इच्छा, एक ही लक्ष्य और एक ही प्रयत्न है। ब्रिटिश प्रभावसे मुक्त सभी देशोंमें जहां जानेका मुझे अवसर मिला है, लोगोंकी दृष्टिमें आप उस सम्मानके अधिकारी हैं जो विगत शताब्दीमें किसी भारतीयको प्राप्त नहीं हुआ।

प्रत्येक राष्ट्रकी अपनी आन्तरिक राजनीति होती है एवं राजनैतिक समस्याओंके प्रति उसकी एक उपनति विशेष होती है। किन्तु इसका प्रभाव एक राष्ट्रकी उस मान्यता पर नहीं पडता जो उनकी उस व्यक्तिके प्रति है जिसने जीवन पर्यन्त प्रथम श्रेणीकी एक आधुनिक सत्तासे वीरतापूर्वक संघर्ष किया हो। तथ्य तो यह है कि आपके मूल्य एवं आपकी अवदात निष्पत्तियोंको स्वतन्त्रता एवं जनतन्त्र के तथाकथित मित्र राष्ट्रोंकी अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी राष्ट्रोंमें सहस्रगुणा अधिक समझा जाता है। स्वदेशभक्त प्रवासी भारतीयोंकी दृष्टिमें जो आपका उच्च सम्मान है, उसमें उस समय शतगुणी वृद्धि हुई जब आपने वीरतापूर्वक अगस्त १९४२में भारत छोडो प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। अपने भारत प्रवासान्तर्गत ब्रिटिश सरकारके विषयमें अधिगत अनुभव और भारतसे बाहर रहते हुये ब्रिटिश नीतिके विषयमें प्राप्त गुप्त सूचनाके आधार पर और संसारमें ब्रिटेनके उद्देश्य और नीतिके अध्ययनके आधार पर मैं यह विश्वास पूर्वक कह सकता हूं कि ब्रिटिश सरकार हमारी स्वतन्त्रताकी मांगको कभी स्वेच्छासे स्वीकार नहीं करेगी। ब्रिटेनका आज

केवल यही यत्न है कि पूर्णतः भारतका शोषण किया जाये जिससे उसे यह युद्ध जीतनेमें सफलता मिले। इस युद्धके अन्तर्गत ब्रिटिश प्रदेशका एक भाग उसके शत्रुओंने हस्तगत कर लिया है और दूसरे पर उसके मित्रोंका अधिकार है। यदि मित्र राष्ट्र किसी प्रकार इस युद्धमें विजयी हों तो ब्रिटेन नहीं, प्रत्युत अमरीका ही विश्वका प्रमुख राष्ट्र बनेगा। आनुषंगतः ब्रिटेन अमरीकाका संकेतानुगामी मात्र बनकर ही रह जायेगा।

ऐसी स्थितिमें ब्रिटेन अपनी क्षतिकी पूर्त्यर्थ और भी दृढतासे भारतका शोषण करेगा। इस मनोरथको मूर्त रूप देनेके लिये और स्वतंत्रताके राष्ट्रीय संग्रामको कुचलनेकी जो गुप्त योजनायें लन्दनमें बनाई गई हैं और जिनका मुझे ज्ञान है, यह मेरा कर्तव्य है कि उन्हें आपके समक्ष प्रस्तुत करूं। हमारे लिये भारतके सम्बन्धकी ब्रिटिश नीतिके विषयमें वहांके शासन और जनताकी मनोवृत्तियोंमें अन्तर समझना एक घातक भूल होगी। निःसन्देह अमरीकाकी भांति ब्रिटेनमें भी कुछ ऐसे आदर्शवादी हैं जो हृदयसे भारतीय स्वतंत्रताके समर्थक हैं। किन्तु इन नगण्यतः अल्प-संख्यक व्यक्तियोंको अपने ही देशमें उपेक्षणीय विजल्प-वादी समझा जाता है। जहांतक भारतका सम्बन्ध है, व्यावहारिक दृष्टिसे ब्रिटिश जनता और शासनका उसके प्रश्न पर एक ही मत है।

अमरीकाके युद्ध सम्बन्धी उद्देश्योंके विषयमें मैं यह मत व्यक्त करना चाहूंगा कि वाशिंगटन स्थित शासक वर्ग संसार पर आधिपत्य करनेका स्वप्न देख रहा है। यह शासक वर्ग एवं इसके बुद्धिवादी उद्घोषक स्पष्ट रूपसे 'अमरीकी शताब्दी' की बात करते हैं जिसका निश्चित अभिप्राय है अमरीका द्वारा विश्वपर प्रभुत्व रखना। इस शासक वर्गमें कुछ अतिवादी ऐसे भी हैं जो अपने प्रभुत्वके उन्मादमें ब्रिटेनको अमरीकाका ४९ वां प्रान्त समझते हैं।

देश अथवा विदेशमें रहनेवाला कोई भी भारतीय ऐसा नहीं है जो यह देखकर अप्रसन्न हो कि देशकी स्वतन्त्रता उस उपायसे प्राप्त हो सकती है जिसके आप जीवन पर्यन्त प्रबल अधिवक्ता रहे हैं। किन्तु वस्तु स्थितिसे अभिज्ञ होते हुये मेरा यह निश्चित मत है कि यदि हमें स्वतंत्रता अभीष्ट है तो अपने ही शोणित संरंजित मार्गका हमें अनुसरण करना पड़ेगा। यदि परिस्थितियोंने हमारे लिये अपने देशमें एक सशस्त्र संघर्षको आरम्भ करना सम्भव बना दिया होता तो वह हमारे लिये सर्वोत्तम होता। किन्तु महात्माजी! भारतीय परिस्थितियोंके विषयमें आपका ज्ञान संभवतः सबसे अधिक है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, सार्वजनिक सेवाके अपने २० वर्षोंके अनुभवोपरान्त मेरा यह निष्कर्ष है कि बिना बाह्य सहायताके, बिना प्रवासी भारतीयोंकी सहायताके सशस्त्र प्रतिरोधात्मक संगठन असंभव है।

वर्तमान युद्धके आरम्भ होनेसे पूर्व हमारे लिये विदेशी सत्ता अथवा विदेशस्थ भारतीयोंसे सहायता लेना अति-शय दुष्कर था। किन्तु इस युद्धने हमारे लिये ब्रिटिश साम्राज्यवादके शत्रुओंसे राजनैतिक एवं सैनिक दोनों प्रकार की सहायता प्राप्त करनेकी अनेक संभावनाओंको हमारे लिये उन्मुक्त किया है। उनसे सहायता प्राप्त करनेसे पूर्व मेरे लिये पहले भारतीय स्वतन्त्रताके प्रति उनके दृष्टिकोणसे परिचित होना आवश्यक था। अनेक वर्षोंसे ब्रिटिश प्रचारक संसारको यह बता रहे थे कि उनके विरोधी राष्ट्र स्वतन्त्रताके भी विरोधी होनेके कारण भारतीय स्वतन्त्रताके भी विरोधी हैं। क्या यह सत्य था? मैंने अपनेसे पूछा। परिणामतः सत्यान्वेषणके लिये मुझे स्वयं स्वदेशको त्यागना पड़ा यह जाननेके लिये कि क्या वह हमारे स्वाधीनता संग्राममें सहायता देनेके लिये सम्यक् रूपेण उद्यत हैं।

देश त्यागके विचारको मूर्त रूप देनेसे पूर्व मुझे विदेशी सहायता लेनेके प्रश्नके औचित्य पर निर्णय करना था। इससे पूर्व मुझे संसारकी महान् क्रान्तियोंके इतिहासका गम्भीर अनुशीलन करना पड़ा, उन उपायोंका पता लगानेके लिये जिनके द्वारा अन्य राष्ट्रोंने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। इस अध्ययनके अन्तर्गत मुझे एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिला जहां पराधीन लोगोंने स्वायत्त शासनकी प्राप्ति बिना किसी प्रकारकी विदेशी सहायताके की हो। १९४० में अपने इतिहासके पुनरावलोकनसे भी मुझे बिना विदेशी सहायता प्राप्तिके स्वाधीनता संग्राममें विजयके एक भी उदाहरण प्रस्तुत करनेमें इतिहासकी असमर्थता ही दृष्टिगत हुई। नैतिक दृष्टिसे भी मुझे यह उचित ही लगता है कि ऋण रूपमें किसीसे सहायता लेना और फिर उसे चुका देना कोई अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि एक सशक्त साम्राज्य ब्रिटेन जैसा भी एक याचकका कमण्डल लेकर पृथ्वीकी परिक्रमा करनेमें लज्जाका अनुभव नहीं करता तो हम जैसे पराशासित और निःशस्त्र लोगों द्वारा सहायता लिये जानेका औचित्य क्यों विवादास्पद समझा जाये?

(क्रमशः)

थोडा सा फलाहार करनेकी छूट है इसलिए फलोंको उपवासके दिन खानेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी थी (वह भी केवल अशक्तोंके लिए ही), पर आज उस आज्ञाकी अवस्था इतनी विकृत हो गई है कि एकादशीका उपवास अजीर्णताके नाशके लिए होने पर भी उस दिनके भोजनसे अजीर्णताके बढनेका भय ज्यादा रहता है।

उपवास कैसे करें ?

वस्तुतः देखा जाए तो दशमीकी रातमें बहुत थोडा भोजन करना चाहिए अर्थात् सहजमें पच जानेवाले अन्नको भी थोडा ही खाना चाहिए। और अगले अर्थात् एकादशी के दिन बिलकुल लंघन (उपवास) करना चाहिए। इच्छानुसार पानी जरूर पिया जा सकता है। बादमें द्वादशीके दिन भी जल्दी पचनेवाले अन्नको थोडी ही मात्रामें खाना चाहिए। इस प्रकार एकादशीके उपवाससे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है। पर आज स्थिति उलटी है, लोग यह समझकर कि अगले दिन उपवास करना है, दशमी की रातको खूब खा जाते हैं, और एकादशीके दिन ' उपवासके भोजन ' से पेट भरते हैं और फिर एकादशीका उपवास तोडनेके लिए द्वादशीके दिन बडे सबेरेसे ही पक्वान बनाने शुरु कर देते हैं और फिर ठूंस ठूंस कर खाते हैं। इस पद्धति से एकादशीके उपवासका जो फायदा होता है वह तो होता नहीं इसके विपरीत अशक्तता और अपचन ही ज्यादा हो जाता है। इसलिए जो आरोग्यताके लिए उपवास करना चाहें वे अपने पेट पर इस प्रकारका अत्याचार न करें।

इन्द्रियोंका विश्राम

अब तक तो केवल खाने पीनेके बारेमें विचार किया अर्थात् एक इन्द्रिय (पेट) के उपवासके बारेमें ही अब तक विचार विनिमय किया, अब दूसरी इन्द्रियोंके उपवास के बारेमें भी विचार करना आवश्यक है। इस पर विचार करनेसे पूर्व यहां यह बता देना आवश्यक है कि उपवाससे जो लाभ होता है उसके सर्वसाधारण नियम क्या हैं।

शरीरमें काम करनेवाली इन्द्रियोंमें कुछ इन्द्रियें ऐसी होती हैं जो बिना थके अथवा विश्राम लिए बिना हमेशा काम करती रहती हैं, और कुछ ऐसी होती हैं जो विश्राम लेकर कार्य करती हैं। इस दृष्टिसे इन्द्रियोंको दो भागोंमें बांटा जा सकता है—

(१) विश्राम न लेते हुए हमेशा काम करनेवाली इन्द्रियां

(२) विश्राम लेकर काम करनेवाली इन्द्रियां।

सतत काम करनेवाले अवयव-हृदय, फुप्फुस, अन्नाशय, मूत्राशय, इत्यादि।

विश्राम लेकर काम करनेवाले अवयव-हाथ, पांव, आंख, कान आदि ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय तथा मन आदि अन्तरिन्द्रिय। मन यद्यपि सुषुप्तिमें काम न करता हुआ प्रतीत होता है, पर वस्तुतः उसका एक अंश उस समय भी बराबर काम करता होता है। अतः एक दृष्टिसे मनका भी कार्य सतत चालू रहता है। इस मनके दो भाग हैं, उनमें पहला जाग्रतावस्थामें काम करता है और निद्रावस्थामें पहलेके सो जाने पर दूसरा काम करने लगता है।

यदि हम प्रतिदिन अपने शरीरमें होनेवाली घटनाओंका ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो हमें इसका स्पष्ट अनुभव हो जाएगा कि कार्य करनेसे इन्द्रियां थक जाती हैं और विश्राम के बाद वे पुनः ताजी और कार्यक्षम हो जाती हैं। हाथ, पांव, आंख आदि अवयवः अथवा सारा शरीर सारे दिन काम करके थक जाता है, पर रातमें सात आठ घण्टेके निद्रासुखसे पुनः ताजा हो जाता है। प्रत्येक इन्द्रियके बारेमें यही नियम है। इन्द्रियोंकी काम करनेकी शक्ति सीमित होती है, यदि उस सीमासे ज्यादा काम किया जाये तो वे थक जाती हैं, बादमें पूर्ण विश्रामसे उनमें फिर नई शक्ति भर जाती है। निद्रा बडी भारी विश्रान्ति है इसकी सहायतासे अपने शरीरका बल रोज बढता है। पर यह विश्राम कुछ अवयवोंको जरा सा भी नहीं मिलता, यह ऊपर बताया ही जा चुका है।

जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त फुप्फुसका काम-सांस लेना और छोडना-हमेशा चलता रहता है। ये कभी भी रुकते नहीं, इनका रुक जाना साक्षात् मृत्यु ही है। फिर इन्हें विश्राम कैसे मिलेगा ? इस महत्वपूर्ण अवयवकी विश्रान्तिके लिए योगशास्त्रमें प्राणायामका मार्ग बताया है। विशेषकर कुंभक (अन्दर या बाहर ही प्राणोंको रोक देना) प्राणायाम इस अवयवको विश्राम देनेवाला है। कुम्भक प्राणायामके बहुत उपयोग हैं। पर यहां हम अवयवोंकी विश्रान्ति पर विचार कर रहे हैं, इसलिए एक ही उपायका यहां निर्देश किया है। कुम्भकका अर्थ है श्वासोच्छ्वासकी गति बन्द कर देना।

इससे फुफ्फुसोंको आराम मिलता है और उनकी शक्ति बढती है। प्राणायाम करनेवालेको क्षयादिका डर नहीं रहता। यह प्राणायामका मार्ग योगियोंने कितनी खोज करके निकाला इसका अन्दाजा पाठकोंको हो सकता है।

इस कुंभकसे मिलनेवाली विश्रान्तिका परिणाम हृदय पर भी होता है। अर्थात् इसका अभ्यास यदि बढाया जाए तो हृदयको भी आराम मिल सकता है। प्राणायाम कष्टसाध्य भले ही हो पर अभ्याससे साध्य हो सकता है और उससे हृदय बलवान् बनाया जा सकता है। योग साधनसे प्राप्त होनेवाली हृदयकी इस विश्रान्तिसे मृत्युको भी पार किया जा सकता है। इन दोनों अवयवों (फुप्फुस और हृदय) की शक्तिके बढनेसे आयुष्य भी बढता है।

इसी प्रकार मृत्युतक जन्मसे लेकर खाये हुए अन्नको पचाना, सत्व लेकर सत्वरहित भागको मल रूपसे बाहर फेंकना यह अन्ननलिकाका कार्य सतत चालू रहता है। यह अन्ननलिका मुंहसे लेकर गुदातक करीब-करीब बीस हाथ लम्बी है। वह पेटमें लिपट कर पडी रहती है इसलिए इतने छोटेसे पेटमें रहती है। इस बीस हाथ नलीका काम अव्याहत रूपसे हमेशा चलता रहता है इस कारण इसे कभी भी विश्राम नहीं मिलता। यदि एक दिन अन्न न खाया जाए तो इस नलीको आराम मिल सकता है। अतः यदि पन्द्रह दिनमें एक दिन अन्न न खाकर भरपूर जल पिया जाए तो पेटकी पाचनशक्ति बढकर शरीरमें रोगप्रतिबन्धक शक्ति बढती है। इस दृष्टिसे भी उपवासका महत्व है।

मनकी विश्रान्तिके लिए योगशास्त्रमें मनको निर्विषय करके ध्यान करनेके लिए कहा है। हृदय और फुफ्फुसोंकी की विश्रान्तिके लिए कुंभक प्राणायामके साथ-साथ आसन स्थिरता भी आवश्यक है। पेटकी विश्रान्तिके लिए उपवास है यह बताया ही जा चुका है। इसी प्रकार वाणीकी विश्रान्तिके लिए मौन है। इस प्रकार अन्य साधनोंसे अन्य इन्द्रियोंको भी विश्रान्ति दी जा सकती है।

एकादशीके दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालनेका विधान है। ब्रह्मचर्यका अर्थ केवल एक ही इन्द्रियका संयम नहीं है, अपितु सभी इन्द्रियोंको उनके विषयोंकी तरफसे हटाकर उन्हें ईश्वरभक्तिमें लगाना ही ब्रह्मचर्य है। अथर्ववेदमें कहा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥
अथर्व. ११।५।१०

'ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया। यहां 'देव' के देव और इन्द्रियें ये दो अर्थ हैं। इन्द्रियोंका अर्थ यदि यहां लिया तो मंत्रका अर्थ होगा—' ब्रह्मचर्य व्रतके पालनेसे इन्द्रियोंको मृत्युका भय नहीं रहता '। जिसकी इन्द्रियें ब्रह्मचर्य व्रतसे पवित्र बनती हैं वह अकाल मृत्युसे दूर रहता है अर्थात् जो मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन करके अपनी इन्द्रियोंको शुद्ध करता है उसे दीर्घायु और उत्तम आरोग्य मिलता है और उसकी योग्यता देव-पुरुषके समान श्रेष्ठ होती है।

तात्पर्य यह है कि विषय वासनाओंसे अपनी इन्द्रियोंको हटाकर उन्हें प्रशस्त कर्मोंमें लगाना अथवा दूसरे शब्दोंमें उनको रोजके निम्नस्तरके व्यवहारोंसे हटाकर उच्च और शुद्ध वातावरणमें लाकर उन्हें विश्रान्ति देना बहुत लाभदायक है आरोग्यवर्धक है तथा आयु भी बढानेवाला है।

एकादशीके दिन सब इन्द्रियोंका उपवास किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान इस लेखके मननसे पाठकोंको हो सकता है। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें अत्यधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस दिन जिससे अपनी इन्द्रियें दोषरहित, शुद्ध तथा पवित्र बनें वैसा आचरण करना चाहिए। इस तरह करनेसे एकादशीके उपवासके लाभका अनुभव करनेवालेको कुछ ही महीनोंमें होने लगेगा।

अब तक एकादशीके उपवासकी महत्ता बताकर उसके सामान्य स्वरूपका पाठकोंको दिग्दर्शन कराया। अब हम यह बताना चाहते हैं कि उपवास किया किस तरह जाये ? हम पहले ही यह बता चुके हैं कि उपवासके दो भाग हैं—

(१) अन्नके न खानेसे शरीरका उपवास, और (२) इन्द्रियोंको शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त कर पचनेन्द्रियके साथ-साथ दूसरी इन्द्रियोंको भी विश्राम देना। ये दोनों प्रकार जितनी उत्तमतासे कार्यान्वित किए जाएगे, उतना ही उपवास भी उत्तम होगा। अपने उपवासको परखनेकी यही कसौटी है। अब हम इस विषयकी विवेचना जरा विस्तारसे करते हैं।

उपवास करनेकी रीति

एकादशीका उपवास करनेवालोंको चाहिए कि दशमी की रातको वे हलका भोजन करें। रुचि और शरीरकी प्रकृतिके अनुसार अन्न विभिन्न भी हो सकते हैं। पर वे अन्न कब्ज करनेवाले न होकर शौचशुद्धि करनेवाले ही हों।

हलके भोजनका अर्थ है शीघ्र और सहज ही पचनेवाला भोजन। पुराने चावल, मूंगकी दाल, परवल, भिण्डी आदि शाग, घी दूध मट्ठा आदि पदार्थ हलके अन्नमें गिने जाते हैं। पर इसका निर्णय मनुष्य स्वयं अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार करें, अर्थात् जिसको अपने अनुभवसे जो अन्न हलका प्रतीत हो वही खावे। इस समय जितना आरामसे पचाया जा सके उतना घी खावें, पर और दिनोंकी अपेक्षा आज घी अधिक खाना आवश्यक है। गर्म दूधमें भी दो चार चम्मच घी डालकर पिया जा सकता है। अथवा अन्न न खाकर केवल घी मिश्रित दूध पिया जाए तो वह भी उत्तम है। इससे शौचशुद्धि होकर कोठेमें स्निग्धता (चिकनाई) आएगी। ध्यान रखें कि दूधमें घी लेते समय दूध बहुत गर्म न रहे। क्योंकि गर्म दूध पीनेसे वीर्यदोषके उत्पन्न होनेकी संभावना बनी रहती है। पर ठण्डे दूधसे वैसी संभावना नहीं होती।

दूधमें घी डालकर पीना उत्तम है, अतः दशमीके दिन शौचशुद्धिके लिए कोई दूसरी तेज औषधी लेना ठीक नहीं। क्योंकि उससे कोठा शुष्क हो जाएगा। इसलिए इस समय स्निग्ध, सौम्य और थोडा अन्न खावें अथवा घी मिलाकर दूध ही पीवें। अथवा दोनोंको भी थोडा-थोडा लिया जा सकता है। तात्पर्य यह कि जो कुछ भी खाया जाए वह थोडा ही खाया जाए, ठूंसठूंस कर न खाया जाए।

इसके बाद दशमीकी रात आरामकी नींद लें। रातमें बहुत देरतक न जागें अथवा जिससे ब्रह्मचर्य खण्डित हों, ऐसा कोई भी काम न करें।

दूसरे दिन अर्थात् एकादशीके दिन कुछ भी न खाना सर्वोत्तम है। उसके सिवाय लंघनका उद्देश पूरा नहीं होता और एकादशीके उपवाससे जो लाभ होना होता है वह नहीं होता। इसलिए जहां तक सम्भव हो वहां तक कुछ भी न खायें। अन्न न खानेसे जो अशक्तता आती है वह न आवे और कोठा साफ रहे इसलिए खूबपानी पीना चाहिए। पीनेके पानीमें भी यदि बरसातका, गंगाका अथवा भापके द्वारा बनाया गया पानी (Distilled Water) मिल जाए तो सर्वोत्तम है, नहीं तो जो मिल सके वही पिया जा सकता है। ऋतुओंके अनुसार पानी पीनेका प्रमाण भी कम-ज्यादा किया जा सकता है। गर्मीमें अधिक, बरसातमें कम। पर यथासम्भव अधिक ही पानी पिया जाए। इससे उपवाससे होनेवाली अशक्तता नहीं होगी और कोठा भी साफ हो जाएगा। पानी न पीनेसे अन्तःशुद्धि अच्छी तरह नहीं होती, इसके अलावा पानी पीनेसे सब रोगाणु नष्ट होजाते हैं और उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है।

निर्जला एकादशीकी भी पद्धति है। इससे शरीरमें सहनशीलता जरूर आती है, इतना फायदा निर्जला एकादशीका अवश्य है, पर उससे रोग बीज नष्ट नहीं होते। जलपान से शरीरमें उतनी सहनशीलता भले ही न आवे, पर रोगबीज नष्ट जरूर हो जाते हैं। अतः मेरा मत ऐसा है कि एकादशीके दिन कुछ न खाते हुए केवल पानी ही पीना चाहिए। विशेष कारणके बिना निर्जला करना ठीक नहीं।

इस प्रकार एकादशीके दिनके समाप्त होजाने पर द्वादशी के दिन भी हलका, सात्विक, पौष्टिक और स्निग्ध आहार करना चाहिए। अन्न भरपूर खायें, पर जिससे पेट बिल्कुल तन जाए उतना अधिक खाना ठीक नहीं। इस दिनके भोजनमें दूधकी खीर विशेष हो और यदि संभव हो तो गायके धारोष्ण दूधमें घी और शक्कर मिलाकर पीवें और दोपहर अन्न खावें। इस प्रकार करनेसे शरीरकी पुष्टि बढकर किसी भी तरहसे अशक्तता नहीं होगी और उपवासका भरपूर लाभ मिल सकेगा। कुछ लोग द्वादशीके दिन अनेक पकवान खाते हैं और दशमीकी रातको भी गरिष्ठ अन्न खाते हैं। यह सब हानिकारक है। इससे उपवासका फायदा तो मिलता ही नहीं इसके विपरित इससे हानि होनेकी ही संभावना रहती है। अतः अपने पेट पर ऐसा अत्याचार कोई न करे। शैव-वैष्णवके बखेडेमें पडे हुए कुछ लोग जानबूझकर इस बातकी अवहेलना करते हैं, पर ऐसा करना उचित नहीं। क्योंकि आरोग्य बढानेवाले जो कर्म हैं, उन्हें सबको एक समान करना चाहिए। उनमें मतभेदके कारण उलट फेर करनेमें लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक संभावना रहती है।

पर्यायोंकी योजना

ऊपर निराहार एकादशीके बारेमें बताया। अब जो अशक्त हैं, निराहारी नहीं रह सकते, उनके लिए अन्नके स्थान पर कुछ अन्य खाद्य या पेयोंकी योजना शास्त्रकारोंने बनाई है। उनको खाने या पीने पर निराहारका लाभ नहीं मिलता यह ठीक है, पर थोडा बहुत लाभ होता जरूर है, है, इसमें शंका नहीं। इन पर्यायोंमें जो विशेष लाभकारी हैं, उनको पहले बताकर बादमें जो कम लाभकारी हैं, उन्हें बतायेंगे।

१ केवल फलोंका रस लेना।

२ फल खाना।

३ केवल दूध पीना।

४ सूखे फल (मेवे) खाना।

५ कन्दमूलादि खाना।

६ कोई सा एक अन्न खाना।

७ ऊपरके सब पदार्थोंको थोडा थोडा खाना।

इन सातोंमें क्रमशः एक दूसरेकी अपेक्षा कम लाभकारी हैं। इन पर अब जरा विस्तारसे विचार करते हैं—

१ केवल फलोंका रस—कुछ फल रसवाले होते हैं और कुछ गूदेवाले। सन्तरे, नारंगियां ये फल रसवाले हैं और केला, नासपाती, अमरूद आदि गूदेवाले हैं। एकादशीके दिन यदि निराहार न रहा जासके तो रसदार फलोंका अर्थात् सन्तरे, नारंगियोंका रस निकालकर थोडा थोडा लें, पर वह भी पेट भरकर न पीवें। यथाशक्ति कम ही पीवें। इससे यद्यपि निराहारका फायदा नहीं होगा, पर अन्तशुद्धि जरूर हो जाएगी। रस पीते हुए बीच-बीचमें पानी भी पिया जासकता है। पर रसके साथ पानी नहीं पीना चाहिए। रस लेनेके आधे-पौने घण्टे बाद पानी पिया जासकता है। रसपान करनेवालोंको यदि उस दिन नारियलका पानी मिल जाए तो अत्युत्तम है। गन्नेका रस भी उत्तम है। पर इन सबको पेट भरकर नहीं पीना चाहिए। उपवासके बाद भोजन करनेकी उत्कट इच्छा मनमें होनी चाहिए, तभी उपवासका लाभ हो सकता है। अतः रस भी सीमित प्रमाणमें ही पीना चाहिए।

२ फल भक्षण—गूदेदार फल जैसे—केला, सेव, नासपाती आदि खाना केवल रस पीनेकी अपेक्षा कम लाभकारी होता है। पर कईयोंको फल खाना आवश्यक होजाता है क्योंकि निराहार और थोडेसे फलोंके रस पर रहना उनके लिए अशक्य होजाता है। फल खानेके बाद अधिक पानी नहीं पीना चाहिए। और फलोंके साथ तो जरासा भी पानी नहीं पीना चाहिए।

३ केवल दूध पीना—थोडा दूध पीकर रहना फलभक्षण-की अपेक्षा कम लाभकारी है। दूध भी एकदम नहीं पीना चाहिए, थोडा थोडा करके पीना चाहिए।

४ सूखे फल (मेवे) खाना—बादाम, अखरोट आदि सूखे फल खाना दूध पीनेकी अपेक्षा कम लाभकारी है। ये फल भी अच्छी तरह चबा चबाकर खाने चाहिए। अध-चबाये ही निगल जाना हानिकर है।

५ कन्द मूल खाना—कन्दमूल आदि खाना सूखे फल खानेकी अपेक्षा कम लाभकारी है। पर आज इतने खाद्योंकी रचना कर ली गई है, कि उससे अजीर्ण होनेकी भी संभा-वना रहती है। अतः पदार्थ खाते हुए सावधानी बर्तनी चाहिए।

६ एक अन्न खाना—एक ही धान्यका सेवन करना। एक ही धान्यको भूनकर, भिगोकर अथवा पकाकर खाना।

७ उपरोक्त सब पदार्थोंको थोडा-थोडा खाना।

सब इन्द्रियोंका उपवास

एकादशीके उपवाससे लोग यह तात्पर्य समझते हैं कि अन्न न खाना। पेटकी दृष्टिसे उनका यह समझना पूर्णांशमें सत्य है। पर अन्य इन्द्रियोंकी दृष्टिसे यह विचार एकांगी है। ऊपर एकादशीके पर्यायोंमें जो अनेक उपाय बताये हैं, उनमें 'फलाहार और दूध' भी है। हमेशा अन्न खाने-वाला हमेशा शुद्ध ही रहता हो यह बात नहीं। शरीरमें सत्व गुणको बढानेके लिए जो उपयोगी होता है, वही शुद्ध अन्न है और राजस् और तामस् गुण बढानेवाले अन्न सदोष हैं।

आज इतने सारे पर्याय लोगोंने निकाल रखे हैं, भविष्य में और भी अधिक निकल सकते हैं। पर सबमें मुख्य बात यह है कि जो भी खाया जाए सीमित ही खाया जाए। वास्तव में देखा जाए तो उस दिन थोडासा भी खा लेनेसे पूरा फायदा नहीं मिल सकता।

इस प्रकार एकादशीके दिन उपवास (निराहार और पार्याय) किसतरह किया जाए इसका विचार किया । इस विवेचनके मननसे पाठक समझ सकेंगे कि उपवासके क्या क्या लाभ हैं । अब अन्य इन्द्रियोंके उपवासके विषयमें विचार करते हैं—

दूध और फलाहार सबसे अधिक सात्विक है । इससे अधिक श्रेष्ठ आहार और कुछ नहीं है । श्रेष्ठ और सात्विक यदि रोज न मिल सके तो एकादशीके दिन तो अवश्य ही करना चाहिए ।

शरीरमें तमोगुण और रजोगुणको कम करके सत्वगुणको बढानेके उद्देश्यसे इन पर्यायोंका विधान किया गया है । दुष्ट मार्गसे हटकर सन्मार्ग पर चलना ही इसमें मुख्य तत्व है । सब इन्द्रियोंका उपवास यदि करना हो तो हर हालतमें दृढतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए । बिलकुल निराहार रहनेमें मुख्य उद्देश्य है दोष कम करना । इसे दुबारा कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं । शरीरमें अन्नके न जानेसे जो गर्मी शरीरमें होती है, उससे रोग बीज जल जाते हैं । अतः निराहार उपवास करनेमें अथवा पर्यायके द्वारा उपवास करनेमें यही मुख्य तत्व है कि शरीरमें दोष कम करना और गुण बढाना ।

अन्न कम खाना, फलाहार करना अथवा दुग्धाहार पर रहना इसका सरल अर्थ है कि दोष बढानेवाले पदार्थ न खाना । जो तत्व हमने खाने पीनेके सम्बन्धमें देखा है वही तत्व हमने यदि दूसरे इन्द्रियोंके विषयमें लागू किया तो सब इन्द्रियोंका उपवास हो सकता है । सब इन्द्रियोंका उपवास जितना संभव हो उतना किया जाए तो इससे यह समझमें आजाएगा कि एकादशीसे आत्मशुद्धि कैसे की जासकती है ।

उदाहरणार्थ— वागिन्द्रियसे हम बोलते हैं । इस इन्द्रियके उपवासका साधन 'मौनव्रत' है । योगशास्त्रमें मौन एक महान् और अत्यन्त महत्वका साधन है । मौनसे चित्त शुद्धि होकर मनोनिग्रह हो सकता है । अतः मौन वागिन्द्रियका उपवास है । अथवा दूसरी तरहसे वागिन्द्रियका निग्रह हो सकता है, कि इस दिन अपनी वाणीसे एक भी बुराशब्द न बोला जाए । शब्दका साक्षात् अर्थ चाहे जैसा हो, पर यदि उसमें कुछ हीन भाव हों तो उससे अपना ही मन दूषित होता है । अतः ऐसे शब्द बोलने चाहिए जो पवित्र और उत्तम हों । यह भी एक महान् तप है । इसकी अपेक्षा महान् तप मौन है । यही वाणीका तप या उपवास है ।

रसनेन्द्रिय (जीभ) का उपवास निराहार अथवा फल भोजनके द्वारा होता है यह पहले ही बताया जा चुका है । पेटका और जीभका बडा निकटका सम्बन्ध है अतः दोनोंके उपवासकी रीति भी एक ही है ।

नेत्रेन्द्रियसे हम भले बुरे सब पदार्थ देखते हैं और कभी कभी हम भली और बुरी भावनाओंसे भी हम पदार्थोंको देखते हैं । इनमें बुरी भावनाओंका त्याग करना तथा बुरे पदार्थोंको न देखना सुकर्म है । बुरे पदार्थ बुरी भावनाओंको पैदा करनेवाले होते हैं । अतः शुभ भावना या विचार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ ही देखने चाहिये । इसलिए कहा है कि एकादशीके दिन देवके दर्शन करने चाहिए । इससे शुभभावनाओंको प्रेरणा मिलती है और शुभ भावनाके समान महान् बल और कोई नहीं है । हीनका दर्शन न करके श्रेष्ठका दर्शन करना ही आजके दिनकी मुख्यता है । आंखें बन्द करके ध्यान करनेसे यद्यपि बाह्य दर्शन तो बन्द हो जाते हैं, पर अन्तः चक्षुके आगे जो ध्यान है वह भी श्रेष्ठ होना चाहिए ।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके बारेमें भी विचार करके पाठक जानें । प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें पृथक् पृथक् विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । इन सबका मुख्य तात्पर्य यही है कि इन्द्रियोंके द्वारा जो शुभ और अशुभ प्रयत्न होते हैं, उनमेंसे अशुभ दिशाओंमें होनेवाले प्रयत्न बन्द करके उस दिशामें होनेवाले अपनी शक्तिके क्षयको बचाना चाहिए। इन्द्रियोंके हलचलके विषयमें कुशलतासे स्वयं निरीक्षण करके आत्मपरीक्षणकी पद्धतिसे अपने दोष स्वयं ही दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए । इससे अपनी सर्वांगीण उन्नति होगी ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-भक्ति इन दसों गुणोंको अपनेमें बढानेका यत्न करना चाहिए । अतः एकादशीके दिन इन दसों गुणोंका अधिकसे अधिक पालन करनेका निश्चय इस दिन करना चाहिए ।

इस प्रकार एकादशीका उपवास मनुष्यकी उन्नतिमें किस प्रकार सहायक है, यह दिखाया है। इसकी सहायतासे आरोग्य, बल व दीर्घायु प्राप्त होते हैं। उसका सबसे मुख्य लाभ है रोग दूर होकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति। इससे यदि और कुछ न प्राप्त होकर यदि स्वास्थ्य ही केवल प्राप्त हुआ तो वह भी कुछ कम नहीं है। इसलिए पाठकोंसे हमारा यही कहना है एकादशीका उपवास कोई 'अन्ध विश्वास' या 'अन्धश्रद्धा' नहीं है। यह मनुष्यके आरोग्यका एक सरल पर निश्चित साधन है। इस दृष्टिसे पाठक इस पर विचार करें और इससे सहज ही में प्राप्त होनेवाले आरोग्यको प्राप्त करें।

एकादशीका उपवास

श्री कृष्णाजी गोविंद किनरे, पुणें

आपका 'एकादशीका उपवास' सविवरण पढा। इसे पढकर मनुष्य एकादशीके व्रतके महत्वको हृदयंगम करके उसका अनुकरण करेंगे, ऐसी आशा है।

मैं स्वयं भी लंघनका समर्थक हूँ और बीच-बीचमें मैं प्रसंगानुसार उपवास करता भी हूँ। उसकी सहायतासे मैंने अपने पन्द्रह वर्षके दमेको नष्ट किया। इस बातको बारह वर्ष हो गए, तबसे प्रति शनिवार और सोमवारको सुबहसे शाम तक केवल पानी पर उपवास करता हूँ। एकादशीको पूर्ण लंघन करता हूँ। उस दिन मैं खूब पानी पीता हूँ और किसी किसी एकादशीके दिन मैं अमरूद, केले, खजूर और कच्चे नारियल आदि फल भी खा लेता हूँ। इस उपवाससे मुझे बहुत फायदा होता है। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक बल बढता है, इसका मुझे अनुभव है। पाचनेन्द्रियोंको पूर्ण विश्रान्ति मिलनेसे वे अधिक शक्तिसे युक्त हो जाती हैं।

शरीरमें इकट्ठी हुई हुई सब विषाक्त गन्दगीके नष्ट हो जानेसे रक्त शुद्ध होजाता है। अंगोंमें नया उत्साह उत्पन्न होजाता है। ऐसे अनेक लाभ एकादशीके उपवाससे होते हैं। सप्ताहमें एक दिन तथा पन्द्रह दिनोंमें एकादशीके दिन उपवास करनेसे तथा हमेशाके मिताहारसे शरीर इतना निर्मल होजाता है कि फिर उसमें कोई भी रोग जड नहीं पकड सकता। 'जहां घास का तृण नहीं, वहां पर पड़ी हुई अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है' यह कथन यहां पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है।

आपने एकादशीके दिन खूब पानी पीनेके लिए लिखा है, उसमें अपने अनुभवके आधार कुछ सुधार करना चाहता हूँ वह यह कि हर आधे घंटे बाद पावभर पानी पिया जाए और उसमें भी आधा अथवा चौथाई (कागजी) नींबू निचोडकर तथा सेंधा नमक डाल लेना चाहिए। नींबू न मिलें तो उसमें सन्तरे, मुसम्बीका रस निचोड कर भी पानी पिया जासकता है। सन्तरे और मुसम्बियोंसे भी बहुत फायदा होता है, मलोंका अच्छी तरह शोधन हो जाता है। यकृत् और प्लीहाके व्यापारको उत्तेजना मिलती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि पानीको पीते हुए सायट्रिक एसिड (अम्ल) वाले फलोंका उपयोग बहुत लाभदायक है।

(२) द्वादशीके दिन सबेरे और वारके दिन शामको 'एनिमा' लेना चाहिए। 'एनिमा' लिए बिना उपवासका अच्छा फायदा नहीं होता। 'एनिमा' लेनेमें जिसे आपत्ति हो तो उसके लिए, जैसा आपने बताया है, दूधमें घी डालकर पीना ठीक है। पर मेरे अनुभवसे 'एनिमा' घी मिश्रित दूधकी अपेक्षा ज्यादा लाभप्रद है।

आपने निराहार न रह सकने पर अन्य पदार्थोंका जो पर्याय बताया है वह ठीक है। पर अन्तिम पर्याय कि प्रत्येक पर्यायके पदार्थ थोडा-थोडा खावें, मुझे नहीं भाया। क्योंकि इससे अत्यशन (ज्यादा खा जाना) हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए किसी एक ही पर्यायका सहारा लेना योग्य है।

थकी हुई इन्द्रियोंको नया उत्साह देनेके लिए विश्रान्ति ही एक नैसर्गिक उपाय है। दूसरी इन्द्रियोंको हम विश्राम देकर कार्यक्षम बनाते हैं पर पचनेन्द्रियको हम कभी भी विश्रान्ति नहीं देते इसलिए उपवासोंका हम सख्तीके साथ पालन करें। हमारे धर्मोंमें इन उपवासोंका विधान शास्त्रकारोंकी दूर दृष्टिका द्योतक है। पर आज सब उपहासात्मक दृष्टिसे देखा जाता है! यह कालका प्रभाव है! पर उस अवहेलनाका फल भी हम भोग रहे हैं! हमारे सुशिक्षितों की उल्टी नजर कब ठीक होगी, भगवान् जाने। अस्तु।

उपवासके महत्वकी शास्त्रसिद्धता

अमेरिकाके प्रसिद्ध डॉक्टर मार्गोलिसने पिछले पच्चीस

वर्षोंमें अनवरत परिश्रम करके उपवास विषयक कुछ प्रयोग सिद्ध किए हैं। उनमेंसे कुछ प्रयोगोंका दिग्दर्शन यहां कराते हैं—

'उपवाससे रोग ठीक करना' मानों अद्भुत चमत्कारसे रोगोंको ठीक करना है अथवा नाटकमें रोगोंकी चिकित्सा करनेके समान है। अथवा मानों यमराजसे हाथ मिलाकर अथवा जांघ ठोककर उसके सामने खडे होकर अपने जीवन-को बचानेके समान है। 'योग्य उपवास' किसी भी तरह अपायकारक नहीं है। उपवास करनेवालेका वजन १० से १५ प्रतिशत कम होनेतक उसके जीवनके लिए, अवयवोंके लिए कोई भय नहीं। इसके विपरीत वह हितकारक ही है। उपवाससे इन्द्रियोंके अन्तर्बाह्य विकार नष्ट होकर वे इन्द्रियें पुनः तरुण बन जाती हैं।'

'अपूर्ण उपवासकी अपेक्षा पूर्ण उपवासमें भय कम रहता है और वह ज्यादा हितकारक भी है।'

'फिजिकल कल्चर' मासिक
जुलाई १९२७

३२ दिनका लंघन

के. वे. शा. सं. नारायणभट्ट पाठक, मांडवेकर

मेरी आयु ४९ वर्षकी है और पिछले दस वर्षोंसे मैं पेटके असह्य वात विकारसे बहुत दुःखी था। ३८-३९ की आयु तक उदरविकार कैसा होता है, यही पता न था। मेरा शरीर स्वस्थ और चंचल था। सरकारी मोहल्लोंमें देवपूजाका अनुष्ठान आदि धर्मकार्य करना मेरा रोजका काम था। इसके अलावा नैमित्तिक कार्य भी थे। ये सब काम ठीक समय पर करनेके लिए मुझे रोज सबेरे २-२॥ बजे उठना पडता था, इतनी जल्दी उठनेके बिना काम समय पर नहीं होपाते थे।

मनुष्य यदि ४-४॥ बजे उठ जाए तो शौचशुद्धि अच्छी तरह हो जाती है, इसी प्रकार जब मैं भी ४-४॥ बजे उठता था तो शौच विषयक कोई शिकायत न थी। पर उपरोक्त अनुष्ठानके लिए जबसे मुझे २ बजे उठना पडा तो उठनेके साथ ही मुझे हाजत होनेकी जो आदत थी, वह बन्द होगई, क्योंकि वह समय शौचका नहीं था। शौचके न होने पर भी मैं अपने अनुष्ठानके लिए स्नान कर लेता था, आगे भोजन तकका सारा समय पूजा अर्चामें ही लग जाता था, बीचमें जब अपने समय पर शौचका वेग आता था तो मैं उस वेगको दबा जाता था। इस तरह जब मैं उठता था तब हाजत होती न थी और जब हाजत होती थी, तो जानेकी मुझे फुरसत नहीं मिलती थी। इस प्रकार प्रतिदिन शौचके वेगको दाबनेके कारण मुझे कब्जकी शिकायत रहने लगी।

न वेगान् कारयेद्धीमान्।
न वेगान् धारयेद्धीमान्।

'बुद्धिमान् कभी भी बलसे शौच निकालनेका व जब वेग हो तो उसे दाबनेका प्रयत्न न करे।' इस आरोग्यके नियमका पालन मैं नहीं करता था। अतः मेरा कोष्ठ बद्ध होने लगा और यह बढता ही चला गया। दोपहर और रातको भोजनके बाद थोडा सा शौच हो जाता था। पर भोजनके बाद शौच जाना हानिकारक होता है। इससे अपथ्य बढने लगा और तरह-तरहके विकार बढने लगे।

नलिकाओंमें पीडा

आगे इन विकारोंके बढ जानेसे बायें तरफकी नलिका-ओंमें दर्द रहने लगा और यह दर्द धीरे धीरे बढकर असह्य हो गया। इतनेमें ही छातीकी नलियोंमें दर्द शुरु हो गया। इन दोनों जगहों पर पहले वायु वेग उठता था, फिर असह्य दर्द शुरु हो जाता था।

इस पर अनेक डाक्टरों और वैद्योंकी चिकित्सायें भी कीं पर कुछ भी फायदा नहीं हुआ। उन दर्दकी जगहोंको सेका, उन पर अनेक तरहके लेप लगाये, अनेक औषधियोंका सेवन किया। पर किसीसे भी कुछ फायदा न हुआ इसके विपरीत 'मर्ज बढता ही गया, ज्यों ज्यों दवाकी'।

बादमें नाभिके नीचेका भाग कडा होगया, और इतना कडा होगया कि मेरे लिए झुकना भी मुश्किल होगया। इससे सब कार्योंमें अडचन होने लगी और वह दुःख भी बढता ही चला गया। इससे मूत्रमें भी विकार उत्पन्न होने लगे। शौचके समय तो थोडी बहुत लघुशंका हो भी जाती थी, पर और समय तो बिल्कुल भी नहीं होती थी। इससे पेट और अन्दरकी नलिकाओंमें कठोरता आगई, और हिलना-डुलना कठिन हो गया। उस समय मुझे कितना कष्ट भोगना पडा, इसकी कल्पना ही हो सकती है।

वात--विकार

बादमें पेटमें वायु उत्पन्न होने लगी। कभी कभी किसी बाजूमें ही होता था तो कभी सारे पेटमें ही। यह कष्ट दिन ब दिन बढने लगा और थोडे दिनोंमें वह असह्य हो गया।

अण्डकोशोंमें वृद्धि

इसके बाद बाईं तरफका अण्डकोश बडा हो गया, और इसके २–४ महीने बाद दूसरा भी बडा हो गया। अन्दरकी ग्रंथि पत्थरकी तरह कडी होगई और अब तो उठने बैठनेमें भी मुझे कष्ट होने लगा। इन सबके कारण मृत्यु मुझे प्रत्यक्ष दीखने लग गई।

मैं मीरज गया, वहां डॉक्टर वालनीस और व्हेलको दिखाया तो उन्होंने कह दिया कि 'शस्त्रक्रिया (Operation) की कोई जरूरत नहीं है'। मैं सांगली, मीरज आदि कई स्थानों पर गया और कई वैद्यों और डक्टरोंकी चिकित्सा भी कराई पर कुछ भी फायदा न हुआ।

बादमें वालनेसने शस्त्रक्रियाके द्वारा अण्डवृद्धिकी चिकित्सा की। पर शस्त्रक्रियाके ५–६ महीने बाद ही वह फिर सूज गया। फिर शस्त्रक्रिया की गई और किसी प्रकार यह वृषणका बढना रुक गया। पर दूसरे रोग वैसेके वैसे ही रहे।

जैसे जैसे विकार ज्यादा होते गए, वैसे वैसे मेरे भोजन की मात्रा भी कम होती गई। सायंकालका भोजन बिल्कुल बन्द होगया, लिहाजा कमजोरी भी बहुत आगई। इस प्रकार यह वात विकार सात आठ वर्षों तक निरन्तर बढता चला गया।

हमेशाका विकार

शामको पांच बजते ही पेटमेंसे वात ऊपरकी तरफ सरकने लगता था, और जो एकबार वह छातीमें भर गया कि फिर मस्तिष्क काबूमें नहीं रहता था। कौन क्या करता है, इस सबका भान मुझे बिल्कुल नहीं रहता था। कुछ खानेतक यह विकार रहता था। कुछ खा लेने पर यह कम हो जाता था। पर खानेके बाद ही शौच जाना पडता था, और शौच जानेके बाद वातका वेग दुगुना होजाता था। यह क्रिया निद्राके आनेतक चलती रहती थी। सबेरे भी शौचके बाद यह वेदना शुरू होजाती थी। इसप्रकार रोज चार घण्टे इस असह्य दर्दसे मैं छटपटाता था।

लंघन

जब सब उपाय करके मैं पूरी तरह थक गया और कुछ भी फायदा न हुआ तो मैंने लंघन करनेका निश्चय किया। इसी बीच मैंने सुना कि मेरे पासके गांवमें एक आदमीने लंघनके द्वारा इस रोगका इलाज किया और वह ठीक हो गया, इसी प्रकार एक दूसरेका भी इसी तरहका रोग लंघनसे ठीक होगया। यह सुनकर मैंने भी उपवास करनेका निश्चय कर लिया।

इन्हीं दिनों श्रीमान् पंत साहबके घर लोणावलाके सुप्रसिद्ध लंघन चिकित्सक अथवा प्राकृतिक चिकित्सक श्री बिवलकर अतिथि बने हुए थे। उन्होंने मेरी परीक्षा करके १०–१२ दिन लंघन करनेकी सलाह दी। उससे भी मुझे धैर्य मिला और लंघन करनेका निश्चय करके मैं लंघन विषयक कुछ पुस्तकें भी ले आया।

आषाढ शुक्ला द्वितीयासे मैंने लंघन प्रारम्भ कर दिया। इसी दिन जुकाम और खांसी हो गई थी, पर लंघनसे वह ठीक हो गई। लंघनके दौरानमें मैं ठण्डे और ताजे पानीके सिवाय और कुछ भी नहीं लेता था। प्रतिदिन करीब-करीब ५ सेर पानी मैं पी जाता था। पानीमें थोडासा नींबू जरूर निचोड लेता था। इससे पानी भी स्वादिष्ट लगता था और पेटमें भी वह रस फायदा करता था।

पहले केवल २–४ दिन ही लंघन किया जाए ऐसा मैंने सोचा, पर बादमें मैंने अपना लंघन लम्बा कर दिया। तेरह दिन बीत गए। पर मेरा नित्यका कार्यक्रम चालू ही रहा। स्नान, संध्या, अनुष्ठान और मूलपीठके पहाडपर जाकर पूजा करना, पहाडपर चढना, यह सब यथा प्रकार जारी था। इससे चार मीलका मेरा भ्रमण हो जाता था, पर इससे मुझे थकावटकी प्रतीति कभी नहीं हुई।

मैं लंघनके दिनसे ही सुबह शाम गुनगुने पानीका 'एनिमा' लेने लगा। इससे कोठा शुद्ध हो जाता था और इसके ऊपर ५–६ सेर पानी जो मैं पीता था उससे भी कोठेका सारा मैल साफ हो जाता था। इस प्रकार तेरह दिन बिना अन्न खाये बीत गये। तो भी प्रतिदिन पेटसे मल गिरता था और वह भी बडी बडी गाठोंके रूपमें। इतनी गांठें पेटमें पडी पडी सड रही थीं तो फिर वात प्रकोप क्यों न हो?

तेरह दिन लंघन करने पर भी मुझे थकावट प्रतीत नहीं हुई।

चौदहवें दिन मेरी जीभ काली पड गई और बुखार आने लगा। तब मेरा निश्चय डगमगाने लगा और लंघनके बिगडनेका डर भी लगने लग गया, पर फिर भी लंघन जारी ही रखा। ४-५ दिनके बाद बुखार उत्तर गया और जीभ भी अपने स्वाभविक रंगत पर आगई।

लंघनके दौरानमें प्रतिदिन गुनगुने पानीका एनिमा लेना और ५-६ सेर पानी पीना जारी ही रहा। इस प्रकार अट्ठारह दिन बीत गए। आगे क्या किया जाए कुछ सूझता ही नहीं था, क्योंकि अब भी मल बराबर गिर रहा था। बात-विकार भी पहले जैसा ही था। आराम कुछ दीखता नहीं था, इसलिए मन घबराने लगा। अतः पूना जाकर प्राकृतिक चिकित्सक श्रीयुत् किनरेसे मिला। उन्होंने धैर्य बंधाया और लंघन जारी रखनेकी सलाह दी। मुख्य रूपसे उन्होंने यही कहा कि 'डरो मत'। उन्होंने कहा—'लंघनसे मनुष्य मरता नहीं, पर यदि अयोग्य रीतिसे लंघन समाप्त कर देगा तो उसके मरनेकी संभावना है'। तब कुछ धीरज बंधा। मैं वहांसे लोणावला जाकर श्री. बिवलकरसे भी मिला उन्होंने लंघन जारी रखनेके लिए मुझे उत्साहित किया।

लंघनके अट्ठारहवें दिन मेरी नाकके छिद्रोंसे बहुत बुरी बदबू निकलने लगी। पहले पहल तो मैं यह जान ही नहीं पाया कि यह बदबू मेरे शरीरसे ही निकल रही है। पर मैं जहां जाता था, वहीं पर मुझे बदबू आती थी, तब मुझे ज्ञात हुआ कि यह तो मेरे शरीरसे ही निकल रही है। रातदिनकी इस बदबूसे मेरा मन ऊब गया। पर कर क्या सकता था?

इसी बीचमें मेरी मां मेरे लंघनके २४ वें दिन स्वर्गलोक सिधार गईं। अतः उनके क्रियाकर्ममें लगे रहनेके कारण मेरा पहाडपर आना जाना बिलकुल बन्द सा ही हो गया। स्वर्गीया मांकी उत्तर क्रियाके सामानकी व्यवस्था करनेमें मुझे बहुत घूमना पडा, पर मुझे थकानका जरा भी अनुभव नहीं हुआ।

२७ वें दिन मुझे जरा सी थकान महसूस हुई। और कहीं आने जानेकी इच्छा नहीं हुई, परन्तु तो भी सारा काम चालू ही था। २८ वें दिन थकान बढी और धीरज जवाब देने लगा, मुंह सूखने लगा, लिहाजा मन भी हताश व उदास हो गया।

तब मित्रोंकी सलाहसे पावभर दूधमें पावभर ही पानी मिलाकर एक-एक दो-दो चम्मच लेने लगा। इस प्रकार २८ वां दिन भी बीत गया। २९ वें दिन मैंने लंघन और जारी रखनेका निश्चय किया। अब भी नाकसे बदबू बराबर आरही थी। पर ३० वें दिन वह बन्द होगई। इस तरह बारह दिन तक बदबू रही। ३० वें दिन बदबू बन्द होकर उसकी जगह थोडी थोडी सुगंधी आती हुई महसूस होने लगी। यह सुगन्ध बहुत ही उत्तम था।

इस तरहसे ३२ दिन लंघन किया। इसके आगे लंघन करनेकी इच्छा नहीं हुई और मैने वह तोडनेका निश्चय कर लिया। ३२ वें दिन भी मलमें गाठें पडीं। लंघनके पन्द्रहवें दिनसे जो गाठें पडनी शुरु हुईं थीं वे अभी तक पड ही रही थीं। वस्तुतः मेरे आरोग्यके लिए और ८-१० का लंघन आवश्यक था। पर मनमें धैर्य हो तब तो वह किया जाए। धैर्य न होते हुए लंघन करने पर लाभके बजाय हानिकी अधिक संभावना थी।

इतने दिनके लंघनसे मेरे वजनमें नौ सेर घट गया। पहले मेरा वजन ४९ सेर था, पर बत्तीसवें दिन मैं सिर्फ एक मनका ही रह गया।

लंघनकी समाप्ति

३२ वें दिन लंघनको समाप्त करनेका निश्चय किया और सन्तरोंका रस निकाल कर चम्मचसे लिया। क्योंकि लंघन करनेकी अपेक्षा उसको तोडना बडा कठिन है। पहले दिन सिर्फ एक ही सन्तरेका रस लिया, दूसरे दिन दो सन्तरेका रस पिया, इस प्रकार क्रमशः बढाते हुए ८ वें दिन ३६ सन्तरोंका रस लिया। उसके अलावा और कुछ नहीं। प्यासके लगने पर ठण्डा पानी पीता था, इस तरह ४० दिन तक किया।

इसके बाद दूधमें पानी मिलाकर उसे गर्म करके लेने लगा। लगभग ८ दिन दूध पानी पर निकाले। बादमें गायका दूध पीने लगा। दूध दिनमें ४-५ बार पीता था। अब मैं लगभग १॥ सेर दूध पीने लगा। प्यास लगने पर पानी पीता था। दूधके सिवाय और कुछ नहीं खाता था।

लंघनके दिनसे दशहरे तक करीब करीब चार महीने हो गये। तब तक केवल दूध पर ही रहा। बीचमें कभी कभी भिण्डी, घियेका शाक थोडा थोडा सा खा लेता था। बस इसके सिवाय और कुछ नहीं।

एक बार लोगोंके आग्रहसे दशहरेके दिन और दिवालीके दिन थोडासा अन्न भी खाया, पर उससे कुछ कष्ट प्रतीत हुआ। केवल दूध पीकर रहनेसे कोई कष्ट न होता था और प्रकृति सुधरी रहती थी। पेटमें वायु नहीं, दर्द नहीं, कुछ भी नहीं। इस लंघन और पथ्यसे मेरी प्रकृति बिल्कुल सुधर गई।

अब मेरा वजन भी चार पौण्ड बढ गया। शरीरमें उत्तम शक्ति भी आ गई। मनमें उत्साह बढ गया। पहले सिरमें जो भनभनाहट रहती थी वह शान्त हो गई। पहले जो चित्त एकाग्र नहीं होता था वह अब अध्ययनमें एकाग्र होने लगा। अब विद्यामें भी मेरा मन लगने लगा। पहले रोगके कारण ब्रह्मचर्य नहीं रहता था, पर लंघनके ३ रे दिनसे ब्रह्मचर्य रहने लगा।

इस प्रकार लंघनसे मैं अत्यन्त रोगीकी अवस्थासे उठकर निरोगीकी अवस्थामें आ गया। दस वर्षतक बराबर रोगी रहनेके कारण मैं जीवनसे ऊब गया था। पर अब नव-जीवन प्राप्त होनेके समान मुझे मालूम पडने लगा। बीचमें मुझे एक दो बार बुखार भी आया, पर वह ४-५ दिनके लंघनसे दूर भाग गया। इस प्रकार ४-५ मासमें लंघनका जो अनुभव मुझे हुआ उससे मुझे यह निश्चय हो गया कि अनेक रोग लंघनसे ही ठीक हो सकते हैं। खर्च भी कुछ नहीं। पर लंघन करनेवालोंको लंघन तोडनेके बाद पथ्य लेनेमें सावधानी बरतनी चाहिए। नहीं तो भूख लगी हुई है यह कह कर कुछ भी खा लेनेसे बहुत भयंकर हानि हो सकती है। (१) फलोंका रस (२) दूध व पानी मिलाकर, (३) दूध और फिर (४) हलका अन्न इस प्रकार क्रमशः ८-८, १५-१५ दिन लेना चाहिए। लंघनसे निश्चय ही फायदा है, पर पथ्य भी सावधानीसे ही लेना चाहिए।

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमंत्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

फरवरी १९६३

स्वामी विवेकानन्द

१० नये पैसे

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक २

क्रमांक १६९ : फरवरी १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आय धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता- (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता- (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता- (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	.२५
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	.२५
५ काण्व	,,	,,	२)	.२५
६ सव्य	,,	,,	१)	.२५
७ नोधा	,,	,,	१)	.२५
८ पराशर	,,	,,	१)	.२५
९ गोतम	,,	,,	२)	.३७
१० कुत्स	,,	,,	२)	.३७
११ त्रित	,,	,,	१.५०	.३१
१२ संवनन	,,	,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	.५०	.१२
१४ नारायण	,,	,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)	१.५०

वैदिकधर्म

दुष्टोंका विनाश

प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य
कुत्सायान्यद् वरिवो यातवेऽकः ।
अनासो दस्यूँरमृणो वधेन
निर्दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचः ॥

ऋ० ५।२९।१०

हे इन्द्र ! (सूर्यस्य अन्यत् चक्रं) सूर्यके रथका एक चक्र (प्र अवृहः) तूने पृथक् किया और (अन्यत्) दूसरा चक्र (कुत्साय) कुत्स ऋषिको (वरिवो यातवे अकः) धनकी प्राप्ति करनेके लिये दिया। (अ-नासः दस्यून्) नासिका रहित दुष्टोंको तूने (वधेन अमृणः) शस्त्रसे मार दिया और (मृध्रवाचः) अभद्र बोलनेवाले दुष्टोंको तूने (दुर्योणे) युद्धमें (नि आवृणक्) मारा, वध किया ॥

अ-नासः— नासिका जिनकी नहीं है। चपटी नाक-वाले । (चीनी)

अन्-आसः— जिनके मुखसे शब्दोंका बोलना ठीक नहीं होता ।

अनासः दस्यून् वधेन अमृणः— जिनकी नाक नहीं, अथवा जो ठीक शब्द नहीं बोल सकते उन दुष्टोंको तूने शस्त्रसे मारा ।
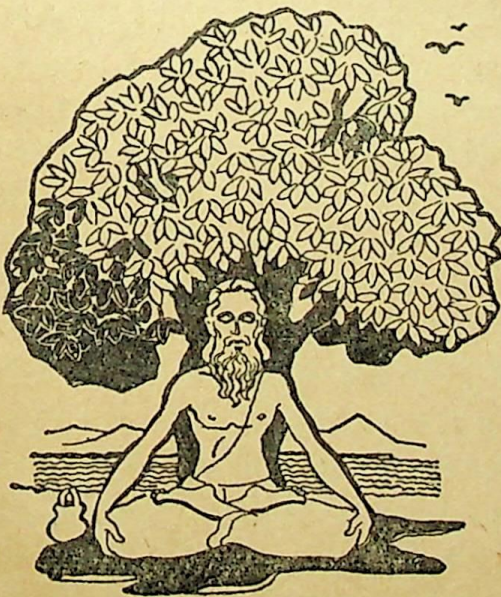
वेदविषयक कतिपय जिज्ञासा

(लेखक— श्री श्रुतिशील शर्मा, तर्कशिरोमणि)

सबसे पहले मैं एक बात स्पष्ट कर दूं कि इस लेखमें मेरा उद्देश्य किसी सिद्धान्तका खण्डन–मण्डन करना या किसीके सिद्धान्तको आघात पहुंचाना नहीं है, अपितु अपनी जिज्ञासाका समाधान पाना ही है। अतः विनम्रभावसे मैं इस लेखके द्वारा विद्वानोंके पास पहुंच रहा हूँ, और आशा भी है कि यथोचित रूपसे मेरी इस जिज्ञासाका समाधान मुझे प्राप्त होगा।

विद्वानोंका, विशेषकर आर्यसमाजका यह सिद्धान्त है, कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, और करुणामय ईश्वरने सृष्टिके आदिमें जीवोंके कल्याणार्थ चार ऋषियों पर प्रकट किए थे। जो परम्परासे आजतक चले आते हैं। ये वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद रूपसे चार हैं।

पर इसके साथ कुछ लोगोंकी धारणा यह भी है, कि पहले वेद एक ही था, जिसे बादमें व्यासजीने पृथक्–पृथक् करके चार वेदोंका रूप दिया। महाभारतमें कहा भी है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ॥

ऐसी भी एक कथन परम्परा प्रचलित है कि समस्त (एकीभूत) वेदको चार रूपोंमें व्यस्त (पृथक्–पृथक्) करनेके कारण कृष्ण द्वैपायनका नाम व्यास पड़ा।

अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः।
विव्यास वेदान् यस्मात्तस्मात् व्यासः प्रकीर्त्तितः॥

अस्तु, इस मतको पर्याप्त प्रमाणोंके अभावमें आलोच्य पक्षमें भी स्थापित किया जा सकता है।

वेदोंकी संहितायें

आजतक वेदोंकी अनेक संहितायें बन चुकी हैं। ऋग्वेदकी 'आश्वलायन संहिता' और 'शांखायन-संहिता' आज भी यत्र तत्र उपलब्ध हैं, इसीप्रकार यजुर्वेदके भी 'शुक्ल' और 'कृष्ण' भेदसे दो भेद हैं, शुक्लमें भी 'वाजसनेयि' और 'काण्व' रूपसे दो पृथक् पृथक् संहितायें हैं। इसीतरह सामवेद तथा अथर्व वेदकी भी अनेक संहितायें हैं। इन संहिताओंमें परस्पर भेद है। कृष्ण यजुर्वेदकी 'तैत्तिरीय संहिता' और शुक्लकी 'वाजसनेयि संहिता' में आकाश पातालका भेद है। शुक्ल यजुर्वेदकी वाजसनेयि और काण्व संहिताओंमें भी आपसमें भेद है। ऋग्वेदमें भी कुछ विद्वानोंके अनुसार शांखायन और आश्वलायन संहिताओंमें भेद है। ऋग्वेदका बहुचर्चित सूक्त 'वालखिल्य' वस्तुतः 'शांखायन संहिता' का भाग है 'आश्वलायन संहिता' का नहीं, ऐसा भी कतिपय विद्वानोंका मत है।

अब इतनी विवेचनाके बाद कई प्रश्न मस्तिष्कके चारों ओर मंडराते हैं, कि यदि सृष्टिकी आदिमें ईश्वरने वेद चार ऋषियोंपर प्रकट किए तो वे किस रूपमें थे? अर्थात् ईश्वरने 'अग्नि' ऋषि पर जो ऋग्वेद उतारा, वह शांखायन संहिताका रूप था, या आश्वलायन संहिताका। इसी प्रकार 'वायु' ऋषि पर जो यजुर्वेद उतारा, वह 'कृष्ण यजुर्वेद' था या 'शुक्ल यजुर्वेद' और 'शुक्ल यजुर्वेद' में भी वह 'काण्वसंहिता' थी या 'वाजसनेयिसंहिता'। यदि 'कृष्ण' यजुर्वेद उतारा था, तो 'शुक्ल' यजुर्वेद किस प्रकार और कहांसे अस्तित्वमें आया? अथवा यदि 'शुक्ल' यजुर्वेद उतारा तो 'कृष्ण' यजुर्वेद किस प्रकार और कहांसे अस्तित्वमें आया? यदि सृष्टिकी आदिमें प्रकट हुए हुए यजुर्वेदका रूप कुछ और ही था, तो वह मूल यजुर्वेद कहां नष्ट हो गया? पर महर्षिके अनुसार तो सृष्टिके आदिमें जो वेद प्रकट हुए थे, वे ही आज तक चले आ रहे हैं। उनमें रत्ती भरका भी फरक नहीं पड़ा। यदि ऐसा ही है तो फिर

यही प्रश्न उठ खड़ा होता है, कि सृष्टिकी आदिमें जो यजुर्वेद प्रकट हुआ था, वह 'कृष्ण' था या 'शुक्ल'? आज उत्तर भारतमें 'शुक्ल यजुर्वेद' की वाजसनेयि संहिता' को प्रमुखता दी जाती है और दक्षिण भारतमें 'कृष्ण यजुर्वेद' की 'तैत्तिरीय संहिता' को और शुक्लकी 'काण्व संहिता' का उपयोग बहुत कम है।

यदि वेद ईश्वर प्रदत्त हैं तो ये दो भेद कैसे हो गए? और इनमें कौनसा वेद मूल है? यदि सृष्टिकी आदिमें प्रकट हुआ हुआ यजुर्वेद कृष्ण और शुक्लका मिला जुला रूप था तो बादमें इन दोनोंको पृथक् किसने किया? आज आर्यसमाज कृष्णकी अपेक्षा शुक्लको और उसमें भी 'काण्व संहिता' की अपेक्षा 'वाजसनेयिसंहिता' को क्यों प्रधानता देता है? ये प्रश्न केवल तभी उत्पन्न होते हैं, जब कि वेदोंको ईश्वर-प्रदत्त माना जाए; अन्यथा वेदोंको ऋषि-कृत मान लेनेपर इन प्रश्नोंके लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि ऋषियोंकी मतिवैविध्यके कारण वेदोंकी भिन्न-भिन्न संहिताओंका अस्तित्वमें आना संभव है।

उपर्युक्त प्रश्न विचारणीय हैं, पर इनके लिए गंभीर अध्ययनकी भी आवश्यकता है।

क्या याज्ञवल्क्य वाजसनेयिसंहिताके कर्त्ता थे?

आज जिस संहिताको प्रधान या मुख्य माना जाता है, उसी वाजसनेयि संहिताके विषयमें एक अद्भुत कथा प्रसिद्ध है। वह कथा इस प्रकार है—

'याज्ञवल्क्यके गुरु वैशम्पायनने अपने शिष्यको तैत्तिरीय संहिताका ज्ञान दिया। पर बादमें कुछ कारणवश वैशम्पायन याज्ञवल्क्यसे क्रुद्ध हो गए और शाप दिया, कि तू मेरे दिए हुए ज्ञानको भूल जाएगा। वही हुआ, याज्ञवल्क्य सारा ज्ञान भूल गए। तब उन्होंने आदित्यकी उपासना की और आदित्यने प्रसन्न होकर याज्ञवल्क्यको यजुः का ज्ञान दिया, और इस प्रकार वाजसनेयिसंहिता अस्तित्वमें आई। पर चूंकि याज्ञवल्क्यने गुरुद्रोहका पाप किया था, अतः कोई ब्राह्मणपुत्र उनसे वेदज्ञान सीखने नहीं आया, तब याज्ञवल्क्यने शूद्रोंको इकट्ठा किया और उन्हें यजुष्का ज्ञान दिया। शूद्रोंका उच्चारण ठीक न था, इसलिए वे 'ष' को 'ख' और 'य' को 'ज' बोलते थे। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' को 'जज्ञेन जज्ञमजयन्त' और 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' को 'सहस्रशीर्खा पुरुखः' बोलते थे। इसीलिए पारस्करगृह्य सूत्रके हरिहर भाष्यके विवाहप्रकरण तथा गौड़ निबन्धमें कहा है—

'शूद्रा वाजसनेयिनः'

वाजसनेयिके अनुयायी शूद्र हैं। महाभारतमें भी कहा है—

आदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप।
(म. भा. शान्ति. ३२३।२)

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'हे जनक! मैंने आदित्यसे यजुओंको प्राप्त किया'।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेदके कई मंत्रोंके पढ़नेपर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन मंत्रोंको ऋषियोंने ही बनाया है, जैसे—

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा
अवोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव ॥ ऋ. १०।१२०।९

'इस प्रकार महान् बृहद्दिवा अथर्वाने कहा है'। आश्चर्य यह है कि इस मंत्रका ऋषि स्वयं 'बृहद्दिव अथर्वा' ही है। यदि ऋषि केवल मंत्रद्रष्टा ही होते, तो मंत्रमें स्वयं उस ऋषिका नाम कैसे आ सकता था। और वह भी ऋषि 'मैं ऐसा कहता हूं' इस अभिमानके साथ मंत्रमें स्वयंका वर्णन कर रहा है।

इस प्रकार इस विस्तृत विवेचनामें मेरी जो जिज्ञासा मैंने दिखाई हैं, वे निम्न हैं—

(१) सृष्टिके आदिमें ईश्वरने अग्नि ऋषि पर जो ऋग्वेद उतारा, वह 'आश्वलायन संहिता' का ऋग्वेद था या 'शांखायन संहिता' का?

(२) इन संहिताओंका नाम 'आश्वलायन' और 'शांखायन' इन ऋषियोंके नामोंपर क्यों पड़ा? क्या ये इस बातके निदर्शक नहीं हैं कि ये संहितायें इन्हीं ऋषियोंके द्वारा रची गई अथवा एकत्रित की गई हैं?

(३) 'वालखिल्य सूक्त' केवल 'शांखायन' का ही भाग क्यों माना जाता है 'आश्वलायन' का क्यों नहीं? 'आश्वलायन संहिता' में यह सूक्त प्रक्षिप्त क्यों माना जाता है, जैसा कि 'वैदिक सम्पत्तिकार' भी मानते हैं।

(४) सृष्टिके आदिमें ' वायु ' ऋषिपर ईश्वरने कौनसा यजुर्वेद प्रकट किया, ' कृष्ण यजुर्वेद ' या ' शुक्ल यजुर्वेद ' ?

(५) यदि ' शुक्ल यजुर्वेद ' प्रकट किया था, तो ' कृष्ण यजुर्वेद ' किस प्रकार अस्तित्वमें आया ? इसी प्रकार यदि माना जाए कि ' कृष्ण यजुर्वेद ' प्रकट किया था, तो ' शुक्ल यजुर्वेद ' किस प्रकार अस्तित्वमें आया ?

(६) ' शुक्ल यजुर्वेद ' में भी ' वाजसनेयि ' और ' काण्व ' संहिताके रूपमें दो संहितायें किस प्रकार और क्यों बनीं ?

(७) आर्यसमाज ' शुक्ल यजुर्वेद ' को ही क्यों प्रधानता देता है, ' कृष्ण ' को क्यों नहीं ? ' शुक्ल ' में भी वह ' वाजसनेयि ' को ही क्यों प्रधानता देता है ' काण्व संहिता ' को क्यों नहीं ?

(८) यहां पर भी ' काण्व संहिता ' और ' वाजसनेयि संहिता ' के साथ ' काण्व ' और ' वाजसनेय ' ऋषियोंका नाम क्यों जुडा हुआ है ? ईश्वरप्रदत्त वेदोंमें इन ऋषियोंके नामोंको जोडनेका क्या प्रयोजन ? क्या यहां भी ये नाम इस बातके निदर्शक नहीं हैं कि ये संहितायें इन्हीं ऋषियों द्वारा एकत्रित की गई हैं ?

(९) पारस्कर गृह्यसूत्रके हरिहर भाष्यके विवाह प्रकरण में ' शूद्राः वाजसनेयिनः ' कहकर ' वाजसनेय संहिता ' के माननेवालोंको शूद्र क्यों कहा गया है ?

(१०) इन अपौरुषेय वेदोंमें परस्पर पाठभेद कैसे हो गए ?

(११) मंत्रोंमें उन ऋषियोंका नाम कैसे आ गया, जिन मंत्रोंके वे स्वयं ही ऋषि हैं; जैसे कि ऊपर मंत्र देकर बताया है—

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वा अवोचत् ।

ऋ. १०।१२०।९

इस मंत्रका ऋषि स्वयं ' बृहद्दिव अथर्वा ' ही है और वह ही मंत्रमें कह रहा है कि ' महान् बृहद्दिव अथर्वा ने इस प्रकार कहा ' । इस मंत्रमें स्वयं ऋषिका नाम कैसे आ गया ? क्या यह भी इस बातका द्योतक नहीं है कि इस मंत्रका रचयिता स्वयं ' बृहद्दिव अथर्वा ' ही है ।

ये कतिपय जिज्ञासायें हैं । मुझे प्रसन्नता होगी यदि वेदोंके विद्वान् मेरी इन जिज्ञासाओंका समाधान कर सकें ।

संयुक्त राज्य अमेरिकाके नभोवाणीसे प्रसारित एक वार्ता—

विचारों और भावनाओंकी एकता

(लेखक- श्री. जे. कृष्णमूर्त्ति)

⊙

[बाह्यसंसारके समान अध्यात्मसंसारमें भी निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। इन दोनों संघर्षोंका एक ही कारण है, एकात्मकताका अभाव। अध्यात्मसंसारमें अर्थात् मानवशरीरमें जब मस्तिष्क और हृदयका सामंजस्य नहीं रहता, दूसरे शब्दोंमें, जब विचार और भावनाओंका परस्पर मेल नहीं बैठता, तो उनमें संघर्षका जन्म होता है। जो इन दोनोंको आपसमें जोड देता है, वह एक निश्चल योगी तथा वेदके शब्दोंमें ' अथर्वा ' बन जाता है। अथर्ववेदके एक मंत्रमें कहा है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्॥

इसी वेदके मन्तव्यको भारतके विख्यात विचारक श्री जे. कृष्णमूर्त्तिने अपने शब्दोंमें स्पष्ट किया है- सम्पादक]

मेरा मत यह है कि सत्य एक मार्गहीन भूमि है और किसी भी मार्ग, धर्म अथवा सम्प्रदाय द्वारा उस सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। यह सत्य एक असीमित, देश-कालसे अप्रभावित तथा अगम्यतत्त्व होनेके कारण संगठित नहीं किया जा सकता अथवा इसे कोई मूर्तरूप भी नहीं दिया जा सकता। किसी संगठनका निर्माण भी असम्भव है, जो किसी विशेष मार्ग द्वारा इस सत्य तक पहुंचा सके। सर्वप्रथमतः तो विश्वास या श्रद्धाको संगठित रूप देना ही असम्भव है। क्यों ? इसलिए कि श्रद्धा पूर्णतया एक वैयक्तिक सम्पत्ति है। अतः इसे कोई संगठित रूप नहीं दे सकता और न किसीको वैसा करनेका प्रयत्न ही करना चाहिए।

यदि कोई ऐसा करता है, तो श्रद्धा मृत हो जाती है, और वह एक सम्प्रदाय, मजहब अथवा मतका रूप धारण कर लेती है, जिसे दूसरों पर जबरन लादना पडता है। आज सारे संसारमें इसी प्रकारके प्रयत्न जारी हैं। आज सत्यको बहुत संकुचित कर दिया गया है। सत्यको कभी झुकाया नहीं जा सकता अपितु इसतक पहुंचके लिए तुम्हें ही उस तक चढनेके लिए प्रयत्न करना पडेगा। पर्वतशिखर तक पहुंचनेके लिए यदि तुम चाहो, कि पर्वतशिखरको उपत्यकामें ले जाया जाए, तो यह असम्भव ही होगा, शिखर तक पहुंचनेके लिए तुम्हें उपत्यकामेंसे गुजरना होगा, चढाई चढनी होगी तथा मार्गके खतरोंकी तरफसे तुम्हें निर्भय होना होगा। अतः जिसप्रकार तुम चढकर ही पहाडकी चोटी पर पहुंच सकते हो, उसे झुकाकर नहीं, उसी प्रकार सत्य तक पहुंचनेके लिए तुम्हें उस तक चढना होगा, तुम सत्यको झुका नहीं सकते।

समाज या संगठन तुम्हें मुक्त नहीं बना सकता और नाही तुम्हारी अन्तरात्माका विकास कर सकता है। कोई भी बाहरका व्यक्ति या संगठित पूजा प्रार्थना तुम्हें मुक्त नहीं करा सकती। इसीलिए मेरा उद्देश्य यहां किसी नये धर्म, नये सम्प्रदाय, नये सिद्धान्त अथवा नये दर्शनकी स्थापना करना नहीं है। यहां मेरा प्रयोजन एक ही तत्त्वसे है- मनुष्यकी वास्तविक मुक्ति।

मैं उस मनुष्यकी भरसक सहायता करूंगा, जो सभी सीमाओंसे परे होना चाहता हो, तथा धर्म, मुक्ति, आध्यात्मिकता, प्रेम, मृत्यु और जीवन इन सभीके भयोंसे छूटना चाहता हो। मेरी इच्छा यही है, कि मनुष्य बिना किसी शर्त्तके स्वतंत्र हो। मेरा मत है कि नित्य आत्माके साथ अनाचार न करना अथवा आत्महनन न करना ही वास्तविक आध्यात्मिकता है। यह बुद्धि (Reason) और हृदयकी (Love) एकात्मकताकी अवस्था है, यही उच्चतम सत्य है और यही है उच्चतम जीवन।

वास्तविक मुक्ति अथवा आत्माका श्रेष्ठात्मासे एकीभाव नियमोंसे बंधा हुआ नहीं है। इसका नीच कोटिके उपद्रवों अथवा कामनाओंके साथ कोई भी अथवा किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है। यह सभी नियमों व उपद्रवोंसे परे

है। यह वह बीज है, जिससे सभी पदार्थोंका आविर्भाव होता है, जिससे सभी परिवर्तन उद्भूत होते हैं तथा जिस पर सभी पदार्थ आश्रित हैं। यदि तुम्हें उस आत्मैक्यकी चाह है, जिसमें सत्य निहित है, तो तुम्हें प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें रहनेवाली आत्माका सम्मान करना होगा और आत्मदर्शक या आत्मचिन्तक होना होगा।

यह आत्मा क्या है? यह 'मैं' ही आत्मा है। यह 'मैं' कहां है? यह 'मैं' मस्तिष्कमें है। विचारोंमें है। 'मैं' एक स्नेह या प्रेमकी भावना है। इस मस्तिष्क और हृदय अर्थात् विचारों और भावनाओंके ऐकात्म्य स्थापित करनेमें ही सत्यका प्रकाशन है। जो विचार और भावनाओंके मध्यमें चलनेवाले संघर्षको जान या समझ नहीं पाते वे इस संघर्षको देखकर घबडा जाते हैं। फलतः वे इस ऐकात्म्यका स्थापन कर नहीं पाते। तुमने अपने चारों तरफ असत्यतत्त्वोंका पहाड खडा रखा है, ताकि वे इन संघर्षके क्षणोंमें तुम्हें सुख दे सकें। तुम इन संघर्षोंके विरुद्ध मुकाबला करो, इन पहाडोंको तोड डालो।

जब तुम यह एकात्मता स्थापित कर लेते हो, तो फिर पूजा, प्रार्थना, आदि सब तुम्हारे लिए अनावश्यक हो जाते हैं। तुम्हें इन पूजा, प्रार्थना आदिके लिए प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं रहेगी, ये सब तुम्हारे लिए उसीप्रकार स्वाभाविक हो जायेंगे, जैसे कलियोंका प्रातःकालमें फूल बन जाना।

यह संघर्ष पूर्णतया वैयक्तिक है। पर तुम्हें किस तरह संघर्ष करना चाहिए यह मैं तुम्हें नहीं बता सकता। मैं नये साधनों व तरीकोंका निर्माण नहीं कर सकता, जो तुम्हें इस संघर्षमें पथ दर्शा सकें अथवा तुम्हें सुख दे सकें। तुम्हें इसके लिए पुरुषार्थी बनना होगा, दृढ होना होगा, स्वतंत्र होना होगा, हमेशा आश्रयकी खोजमें रहनेवाले बच्चेके समान बनना तुम्हारे लिए शोभादायक नहीं है।

इस एकात्मताको पानेके लिए तुम्हें अपने हृदयमें प्रेम उपजाना होगा, जो पूर्णतया क्रियात्मक है। आज तुम्हारा प्रेम अपने ही वैयक्तिक पसन्द और नापसन्दके साथ जुडा हुआ है। तुम्हें किस देवताकी पूजा करनी चाहिए, किन क्रियाओंको तुम्हें करना चाहिए, किन धर्मोंका अनुयायी तुम्हें बनना चाहिए, इन्हीं झगडोंमें आज तुम सब लगे हुए हो। यह ही तुम्हारा मुख्य उद्देश्य बन गया है और तुम उस सीमा तथा भेदरहित प्रेमको बिल्कुल भूल गए हो।

तुम्हें संघर्षके द्वारा, ज्ञानके द्वारा इस एकात्मता तक पहुंचना ही चाहिए।

मस्तिष्क और हृदय दोनों एक ही तत्त्वसे बने हुए हैं, अतः तुम्हें उस तत्त्वकी पवित्रता पर ध्यान देना चाहिए और हमेशा इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि विचार और प्रेमसे समन्वित यह तत्त्व विकृत न हो जाये। जिस क्षण मस्तिष्क विचारोंमें भेद उत्पन्न कर देता है, उसी क्षण विचार सीमित हो जाते हैं, फलतः दुःखकी उत्पत्ति भी हो जाती है। अतः मस्तिष्क और हृदय अर्थात् विचारों और भावनाओंके सीमित और विकृत न होनेमें ही सच्चा आनन्द, सच्ची मुक्ति और सत्यतत्त्व निहित है।

वैदिक राष्ट्र-गीत

[अथर्ववेद काण्ड १२ का प्रथम सूक्त । ऋषि—अथर्वा । देवता — मातृभूमि ।]

(लेखक— पं. श्री. दा. सातवलेकर)

*

[अथर्व वेदमें 'भूमिसूक्त' नामसे बारहवें काण्डका प्रथम सूक्त ही है। यह '**मातृभूमिका ही सूक्त**' है। इसमें 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (अथर्व १२।१।१२) 'मेरी भूमि माता है और मैं उस माताका पुत्र हूं।' ऐसा स्पष्ट कहा है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें 'मातृभूमिको धारण करनेवाले सात शुभ गुणोंको' गिनाया है। लोग इनको अपने अन्दर धारण करें और अपनी मातृभूमिका गौरव बढावें।

'जो हमसे द्वेष करता है, जो हमारे ऊपर अपनी सेना भेजता है, अथवा जो हमें दास बनानेका विचार करता है, उसका मातृभूमि नाश करे।' ऐसा कह कर सब शत्रुओंका नाश करनेका आदेश दिया है। (मंत्र १४)

'अनेक भाषाएं बोलनेवाले नाना धर्मोंके लोगोंको यह मातृभूमि एक घरके मनुष्योंके समान धारण करती है।' यह वैशिष्ट्य अपनी मातृभूमिका ४५ वें मंत्रमें कहा है, इससे संघटन कैसा होना चाहिये, यह सूचित किया है।

इस प्रकार अनेक उत्तम उपदेश इस सूक्तमें हैं, पाठक इसको पढें और अधिक विचार करके लाभ उठावें।]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्यु-
रुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

(**सत्यं**) सत्य, (**बृहद् ऋतं**) बडा ऋत, (**उग्रं**) उग्रता, (**दीक्षा**) दक्षता, (**तपः**) शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करना, (**ब्रह्म**) ज्ञान और विज्ञान, (**यज्ञः**) सत्कार संगठन—दान, ये सात शुभ गुण (**पृथिवीं धारयन्ति**) मातृभूमिको धारण करते हैं। (**सा**) वह (**नः भूतस्य भव्यस्य पत्नी**) हमारे भूत भविष्यका पालन करनेवाली (**पृथिवी**) मातृभूमि (**नः**) हमें (**उरुं लोकं कृणोतु**) व्यापक कार्य क्षेत्र निर्माण करके देवे ॥ १ ॥

मातृभूमिको धारण करनेवाले सात गुण ये हैं। (१) '**सत्य**' सच्चाई, (२) '**बृहद् ऋत**' बडा नियम-पालन उचित नियम-पालन, (३) **उग्रं**- उग्रता, (४) **दीक्षा**- दक्षता, व्रत जीवन, (५) **तपः**- शीत उष्ण आदि अनेक द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति, (६) **ब्रह्म**- ब्रह्मज्ञान और उत्तम व्यवहारका ज्ञान, (७) **यज्ञ**- जो सत्कारके योग्य हों उनका सत्कार, आपसका संगठन और अशक्तोंके लिये योग्य सहायता करनेका दातृत्व ये सात गुण मातृभूमिको धारण करते हैं। इसलिये राष्ट्रके लोगोंमें ये सात गुण विकसित हों ऐसी शिक्षा जनताको मिलनी चाहिये।

भूतस्य भव्यस्य पत्नी— भूतकालमें जो हुआ, वर्तमान कालमें जो हो रहा है, और भविष्यमें जो होगा, उस सब का परिणाम मातृभूमिपर होता है। इस-

लिये तीनों कालोंमें मातृभूमिके सुपुत्रोंको उत्तम व्यवहार करने चाहिये, जिससे मातृभूमिपर सुयोग्य परिणाम ही होता रहे और कदापि मातृभूमिपर हमारे सदोष व्यवहारका कुपरिणाम न हो।

उरुं लोकं नः पृथिवी कृणोतु— हमारी मातृभूमि हमारे लिये हरएक उत्तम क्षेत्रमें विस्तृत कार्य क्षेत्र देवे। ऐसा कभी न बने कि मातृभूमिके कार्यक्षेत्रपर शत्रुका अधिकार जम जाय और मातृभूमिके पुत्र उसके क्षेत्रसे वंचित रहें।

असंबाधं बध्यतो मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें (मानवानां बध्यतः असंबाधं) मनुष्योंके बीचमें कोई झगडा नहीं है, (यस्याः) जिस मातृभूमिमें (उद्वतः प्रवतः बहुसमं) कुछ ऊंचे और कुछ नीचे प्रदेश हैं, पर बहुतसा भाग समतल है। (या नानावीर्याः ओषधीः बिभर्ति) जो मातृभूमि नाना प्रकारकी गुणकारी औषधि वनस्पतियोंको धारण करती है वह (पृथिवी) मातृभूमि (नः प्रथतां) हमें बढावे और (नः राध्यतां) हमें समृद्ध करे ॥ २ ॥

१ मानवानां बध्यतः असंबाधं— जिस मातृभूमिके मानवोंके बीचमें झगडे नहीं हैं। मातृभूमिमें मानवोंमें परस्पर झगडे नहीं होने चाहिये। संगठन होकर एकता रहनी चाहिये।

२ पृथिवी नः प्रथतां, नः राध्यतां— मातृभूमि हमें बढावे और हमें समृद्ध करे।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

(यस्यां समुद्रः उत सिन्धुः आपः) जिस मातृभूमिमें समुद्र, नदी और अनेक जल प्रवाह हैं (यस्यां कृष्टयः अन्नं सं बभूवुः) जिसमें किसान अन्न उत्पन्न करके संगठित होकर रहते हैं, (यस्यां इदं प्राणत् एजत् जिन्वति) जिसमें यह श्वास लेनेवाला, और चलनेवाला उत्साहके कार्य करता है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हमें (पूर्वपेये दधातु) अपूर्व रसपानमें स्थापित करे ॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्याः
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

(यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवीकी (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाएं ऐसी हैं, कि (यस्यां अन्नं) जिसमें अन्न होता है और जिसमें (कृष्टयः संबभूवुः) किसान लोग संगठित होकर रहते हैं। (या प्राणत् एजत् बहुधा बिभर्ति) जो मातृभूमि श्वास लेनेवालों और चलनेवालोंका अनेक प्रकारसे पोषण करती है, (सा भूमिः) वह मातृभूमि (नः) हमें (गोषु अपि अन्ने दधातु) गौओंमें तथा अन्नमें स्थापित करे ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

(यस्यां पूर्वे पूर्वजनाः) जिसमें हमारे पूर्वकालके पूर्वजनोंने (विचक्रिरे) विशेष पराक्रम किये थे, (यस्यां देवाः असुरान् अभि अवर्तयन्) जिसमें देवोंने असुरोंका पराभव किया था, जिसमें (गवां अश्वानां वयसः च) गौवों, घोडों और पक्षियोंके (वि-ष्ठाः) विशेष स्थान हैं, वह (पृथिवी) हमारी मातृभूमि (नः भगं वर्चः दधातु) हमें भाग्य और तेज देवे ॥ ५ ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्नि
इन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

(विश्वं-भरा) सबको धारण करनेवाली (वसु-धानी) अपनेमें धन रखनेवाली (प्रति-ष्ठा) सबको स्थान देनेवाली (हिरण्य-वक्षा) अपने अन्दर सुवर्ण आदि धारण करनेवाली (जगतः निवेशनी) जगत्को आरामका स्थान देनेवाली, (वैश्वा-नरं अग्निं) सबको जीवित रखनेवाले अग्निको (बिभ्रती भूमिः) धारण करनेवाली मातृभूमि (इन्द्र-ऋषभा) इन्द्रकी पत्नी (नः द्रविणे दधातु) हमें धनमें रखे ॥ ६ ॥

१ हिरण्य-वक्षा— जिसकी खानोंमें सुवर्ण है।

२ वैश्वानरं अग्निं बिभ्रती— सबमें नेतृत्व करनेवाले अग्निको धारण करनेवाली। शरीरमें अग्नि ही नेतृत्व करता है, शरीरमें उष्णताके रहनेतक ही सब कार्य शरीरावयवोंसे होते हैं।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

(अ-स्वप्नाः देवाः) आलस्य रहित होकर देव (यां पृथिवीं भूमिं) जिस विस्तृत मातृभूमिका (अ-प्रमादं विश्वदानीं रक्षन्ति) प्रमाद न करते हुए सर्वदा रक्षण करते हैं, (सा नः मधु प्रियं दुहां) वह मातृभूमि हमें मधुर और प्रिय दूध देवे (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) तेजसे हमें युक्त करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्
यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्
सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८

(या अग्रे) जो प्रारंभमें (अर्णवे अधि) समुद्रमें (सलिलं आसीत्) द्रवरूप थी, (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोगोंने (यां मायाभिः अन्वचरन्) जिसकी अनेक मायाशक्तियोंसे सेवा की थी, (यस्याः अमृतं हृदयं) जिसका अमर हृदय (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (सत्येन आवृतं) सत्यसे ढका हुआ है, (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हमारे (उत्तमे राष्ट्रे) उत्तम राष्ट्रमें (त्विषिं बलं दधातु) तेज और बल धारण करावे ॥८॥

१ सा भूमिः नः उत्तमे राष्ट्रे त्विषिं बलं दधातु— वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता तथा बल धारण करावे।

यस्यामापः परिचराः समानीः
अहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

(यस्यां परिचराः समानीः आपः) जिसमें घूमनेवाले समान जल प्रवाह (अहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति) अहोरात्र प्रमाद न करते हुए चलते हैं, (सा नो भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (भूरिधारा पयः दुहां) अनेक धाराओंवाली होकर दूध दुहे (अथो) और (वर्चसा उक्षतु) हमें तेजस्वितासे संयुक्त करे ॥ ९ ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः १०

(अश्विनौ यां अमिमातां) अश्विनौने जिसको मापा है, (यस्यां विष्णुः विचक्रमे) जिसपर विष्णुने पराक्रम किये। (शचीपतिः इन्द्रः) शक्तिके स्वामी इन्द्रने (यां आत्मने अनमित्रां चक्रे) जिसको अपने लिये शत्रुरहित बनाया, (सा नो माता भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (मे पुत्राय पयः विसृजतां) मुझ पुत्रके लिये दूध देवे ॥ १० ॥

१ अश्विनौ यां अमिमातां— अश्विनौने जिसका मापन किया।

२ यस्यां विष्णुः विचक्रमे— जिसपर विष्णुने विक्रम किये और शत्रुओंको दूर किया।

३ शचीपतिः इन्द्रः यां आत्मने अनमित्रां चक्रे— सामर्थ्यवान् इन्द्रने जिस भूमिको शत्रुरहित बनाया।

४ सा भूमिः मे पयः विसृजतां — वह भूमि हमारे लिये पर्याप्त दूध देवे।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो
अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतो
अध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः) तेरी पहाडियां और हिमाच्छादित पर्वत और (ते अरण्यं स्योनं अस्तु) तेरे अरण्य हमारे लिये सुखदायी हों । (अहं) मैं (अजीतः अहतः अक्षतः) पराजित न होकर, मारा न जाकर, क्षत विक्षत न होकर (बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां) भूरे रंगकी, काली, लाल तथा अनेक रंगोंवाली (ध्रुवां भूमिं इन्द्र-गुप्तां पृथिवीं) स्थिर भूमि, जो इन्द्रने सुरक्षित की है, उसपर (अध्यष्ठां) अध्यक्ष होकर रहूं ॥ ११ ॥

हमारी मातृभूमिके तथा आसपासके पर्वत, पहाड तथा जंगल हमारे लिये सुख देनेवाले हों । इनमें शत्रु घुसकर हमें कष्ट देनेवाले न बनें । मैं विजयी बनकर मातृभूमिका अध्यक्ष बनकर मातृभूमिकी उत्तम शासन करके सेवा करूं ।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (यत् ते मध्यं) जो तेरा मध्य भाग है, (यत् च नभ्यं) जो ऊपरका भाग है, और (याः ते ऊर्जः तन्वः) जो तेरे बल बढानेवाले शरीरके भाग तेरे अन्दर हैं, (तासु नः धेहि) उनमें हमें रख, (नः अभि पवस्व) हमें सब प्रकारसे पवित्र कर (भूमिः माता) भूमि मेरी माता है, (अहं पृथिव्याः पुत्रः) मैं पृथिवीका पुत्र हूं, (पर्जन्यः पिता) पर्जन्य सब उपजका उत्पन्न करनेवाला पिता है (सः उ नः पिपर्तु) वह हमें पूर्ण करे ॥ १२ ॥

भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमिका पुत्र हूं । सब लोग इस बातको स्मरण रखें ।

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां
यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यां
ऊर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयत् वर्धमाना ॥ १३ ॥

(यस्यां भूम्यां) जिस भूमिमें (वेदिं परिगृह्णन्ति) वेदीकी रचना करके उस वेदीके चारों ओर घेरकर बैठते हैं । ये (विश्वकर्माणः) सब कर्म करनेवाले याजक (यस्यां यज्ञं तन्वते) जिसमें यज्ञ कर्मको फैलाते हैं । (यस्यां पृथिव्यां) जिस पृथिवीपर (शुक्राः) चमकनेवाले (आहुत्याः पुरस्तात्) आहुति देनेके स्थानके सामने (ऊर्ध्वाः स्वरवः मीयन्ते) ऊंचे स्तंभ खडे किये जाते हैं, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (वर्धमाना वर्धयत्) बढती हुई हमें बढावे ॥ १३ ॥

जिस मातृभूमिमें यज्ञ करनेवाले याजक वेदी तैयार करके वेदीके चारों ओर बैठकर यज्ञ करते हैं । उत्तम यूप यज्ञ स्थानके सामने खडा करते हैं । वह हमारी मातृभूमि यज्ञसे संपन्न होती हुई हमें संपन्न करे ।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (यः नः द्वेषत्) जो हमसे द्वेष करे । (यः पृतन्यात्) जो हमारे ऊपर सेनासे चढाई करे, (यः मनसा अभि दासात्) जो मनसे हमें दास बनानेकी इच्छा करे, (यः वधेन) जो हमारा वध करके नाश करना चाहे, हे (पूर्व-कृत्वरि भूमे) पहिलेसे ऐसे उत्तम कार्य करनेवाली मातृभूमे ! (तं नः रन्धय) उसको हमारे हित करनेके लिये विनष्ट कर ॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

(त्वज्जाताः मर्त्याः) तुझसे उत्पन्न हुए सब मनुष्य (त्वयि चरन्ति) तेरे अन्दर विचरण करते हैं, (त्वं द्विपदः त्वं चतुष्पदः) तू मनुष्यों, पक्षियों तथा पशुओंका (बिभर्षि) पालन पोषण करती है । हे (पृथिवि) मातृभूमे ! (इमे पञ्चमानवाः तव) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, ये पांच प्रकारके लोग तेरे ही पुत्र हैं । (येभ्यः मर्त्येभ्यः उद्यन् सूर्यः) जिन मनुष्योंके लिये उदय होकर सूर्य (रश्मिभिः) अपने किरणोंसे (अमृतं ज्योतिः आतनोति) अमर ज्योति फैलाता है ॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्राः
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

(ताः समग्राः प्रजाः) वे सब प्रजाएं (नः सं दुह्रतां) हमारे लिये उत्तम रीतिसे दूध आदि अन्न देवें । हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (वाचः मधु मह्यं धेहि) वाणीकी मधुरता मेरे लिये दे ॥ १६ ॥

मातृभूमिपर रहनेवाली प्रजाएं परस्पर मधुर भाषण करें। कभी कठोर भाषण आपसमें न करें ।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

(विश्व-स्वं) सर्वस्व रूपसे (ओषधीनां मातरं) औषधियोंकी माता (ध्रुवां) स्थिर (धर्मणा धृतां) धर्मसे धारण की हुई (शिवां स्योनां) कल्याण करनेवाली तथा सुख देनेवाली (पृथिवीं भूमिं) विस्तृत मातृभूमिकी (विश्व-हा अनुचरेम) अपने जीवनके सब दिन हम सेवा करते रहें ॥ १७ ॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ
महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

(महती) बडी तू (महत् सधस्थं बभूविथ) सबके लिए मिलकर रहनेका बडा स्थान बनी है । (एजथुः ते वेपथुः) तेरे हिलने और कांपनेका (महान् वेगः) बडा वेग है । (महान् इन्द्रः) बडा इन्द्र (त्वा अप्रमादं रक्षति) तेरी प्रमादके विना रक्षा करता है । हे (भूमे) पृथिवि ! (सा नः) वह तू हमें (हिरण्यस्य संदृशि इव प्ररोचय) सोनेकी चमकके समान तेजस्वितासे हमें चमका, (नः कश्चन मा द्विक्षत) हमसे कोई द्वेष न करे ॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीषु
अग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

(अग्निः भूम्यां) अग्नि भूमिमें है, (ओषधीषु) औषधियोंमें है, (अग्निं आपः बिभ्रति) अग्निको जल धारण करते हैं, (अश्मसु अग्निः) पत्थरोंमें अग्नि है, (अग्निः पुरुषेषु अन्तः) अग्नि पुरुषोंके अन्दर है, (गोषु अश्वेषु अग्नयः) गौवों और घोडोंमें अग्नियें हैं ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेः
देवस्योर्व१न्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्तास इन्धते
हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥

(अग्निः दिवः आ तपति) अग्नि द्युलोकसे आकर यहां पृथिवीपर तपती है, (अग्नेः देवस्य उरु अन्तरिक्षं) अग्नि देवका स्थान विशाल अन्तरिक्ष है । (मर्तासः अग्निं इन्धते) मनुष्य अग्निको प्रदीप्त करते हैं, वह अग्नि (हव्यवाहं घृतप्रियं) हव्योंको देवोंतक पहुंचाती है और उस अग्निको घी प्रिय है ॥ २० ॥

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूः
त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमे ! तू (अग्नि-वासाः) अग्नि रूप वस्त्र पहने हुई है, तथा (अ-सित-ज्ञूः) काले घुटनोंवाली-काले पांववाली है । तू (त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु) मुझे तेजस्वी और तीक्ष्ण बना ॥ २१ ॥

पृथिवीमें चारों तरफ अग्नि है, पर वह पृथिवी काले रंगवाली है । तथापि वह अपने भक्तको तेजस्वी बना सकती है ।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु
जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

(भूम्यां) इस भूमिमें (देवेभ्यः) देवोंके लिये (यज्ञं अरंकृतं हव्यं ददति) यज्ञ तथा तैयार किया हुआ हव्य देते हैं । (भूम्यां) इस भूमिपर (मनुष्याः मर्त्याः) मरणधर्मा मनुष्य (स्वधया अन्नेन जीवन्ति) अपनी निजशक्तिसे तथा अन्नसे जीवित रहते हैं । (सा भूमिः) वह भूमि (नः प्राणं आयुः दधातु) हमें प्राण और दीर्घ आयु देवे और (पृथिवी) यह मातृभूमि (मा जरदष्टिं कृणोतु) मुझे वृद्ध अवस्थातक जीवित रहनेवाला बनावे ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव
यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे
तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमे ! (यः ते गन्धः संबभूव) जो सुवास तुझमें प्रकट हुआ है (यं ओषधयः बिभ्रति) जिसको औषधियां धारण करती हैं, (यं आपः) जिसको जल धारण करते हैं, (यं गंधर्वाः अप्सरसः च भेजिरे) जिसको गंधर्व और अप्सराओंने अपना भाग बनाया है (तेन मा सुरभिं कृणु) उससे मुझे सुगन्धित कर, (नः कश्चन मा द्विक्षत) हमसे कोई द्वेष न करे ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश
यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे
तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥

(यः ते गन्धः अग्रे पुष्करं आविवेश) जो तेरा गन्ध पहिले कमलमें था, (अमर्त्याः) देवोंने (यं गंधं सूर्यायाः विवाहे संजभ्रुः) जिस गंधको सूर्याके विवाहमें तैयार किया था, हे (पृथिवि) भूमि ! (तेन मा सुरभिं कृणु) उससे मुझे सुगंधित कर (कश्चन नः मा द्विक्षत) कोई हमसे द्वेष न करे ॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि संसृज
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

हे (भूमे) मातृभूमे ! (यः ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु) जो तेरा गन्ध पुरुषोंमें और स्त्रियोंमें है, (पुंसु भगः रुचिः) पुरुषोंमें जो भाग्य और कान्ति है, (यः अश्वेषु वीरेषु) जो घोडोंमें और वीरोंमें (यः मृगेषु उत हस्तिषु) जो मृगोंमें और हाथियोंमें है, (कन्यायां यत् वर्चः) कन्यामें जो कान्ति है, (तेन अस्मान् अपि संसृज) उससे हमें युक्त कर, (कश्चन नः मा द्विक्षत) कोई भी हमसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

(शिला) पत्थर, (भूमिः अश्मा) जमीन, पाषाण और (पांसुः) धूलि (सा भूमिः) वह सब भूमि ही हैं, (संधृता धृता) यह उत्तम रीतिसे सुरक्षित रखी तो ही वह सुरक्षित होती है । (तस्यै हिरण्य-वक्षसे) उस सुवर्णको अपनी छातीमें धारण करनेवाली (पृथिव्याः) मातृभूमिको (नमः अकरं) मैं नमस्कार करता हूं ॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

(यस्यां) जिस भूमिपर (वृक्षाः वानस्पत्याः) वृक्ष और वनस्पतियां (विश्व-हा ध्रुवाः तिष्ठन्ति) सदा खडी रहती हैं, (विश्वधायसं) सबको धारण करनेवाली तथा (धृतां पृथिवीं) उत्तम रीतिसे संभालनेवाली उस भूमिका हम (अच्छा आवदामसि) उत्तम रीतिसे वर्णन करते हैं ॥ २७ ॥

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां
मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

(उदीराणाः उत आसीनाः) उठते हुए या बैठते हुए (तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः) खडे हुए या चलते हुए (दक्षिण--सव्याभ्यां पद्भ्यां) दायें और बायें पावोंसे (भूम्यां मा व्यथिष्महि) भूमिको कष्ट न दें ॥ २८ ॥

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि
क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं
घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥

(विमृग्वरीं) शुद्ध करनेवाली (क्षमां) सहनशील (ब्रह्मणा वावृधानां) ज्ञानसे बढनेवाली (पृथिवीं भूमिं) विस्तृत भूमिका (आ वदामि) मैं वर्णन करता हूं कि हे (भूमे) भूमे! (ऊर्जं पुष्टं) बल और पुष्टिको और (घृतं अन्न-भागं बिभ्रतीं) घी तथा अन्नभागको धारण करनेवाली (त्वा अभिनिषीदेम) तुझ पर हम बैठें ॥ २९ ॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु
यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥

(शुद्धाः आपः) शुद्ध जल (नः तन्वे क्षरन्तु) हमारे शरीरकी शुद्धता करनेके लिये बहते रहें, (यः नः सेदुः) जो हमारा मल है (तं अप्रिये नि दध्मः) उसको हम शत्रुपर डालते हैं, और हे (पृथिवि) भूमे! (पवित्रेण मा उत् पुनामि) पवित्रसे मैं अपने आपको पवित्र करता हूँ ॥ ३० ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीः
यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु
मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

(याः ते प्राचीः प्रदिशः) जो तेरे प्रदेश पूर्व दिशामें हैं, (याः उदीचीः) जो प्रदेश उत्तर दिशामें हैं, (याः ते अधरात्) जो तेरे नीचेके प्रदेश हैं, और हे (भूमे) भूमे! (याः च पश्चात्) जो पीछेके प्रदेश हैं, (चरते मह्यं) चलनेवाले मेरे लिये (ते स्योनाः भवन्तु) वे प्रदेश सुखदायक हों, (मा निपप्तं) मैं न गिरुं (भुवने शिश्रियाणः) तेरे भुवनमें आश्रय लेकर मैं रहूं ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तात्
नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो
वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

(नः पश्चात् मा) न हमारे पीछेसे, (मा पुरस्तात्) न सामनेसे (मा उत्तरात्) न ऊपरसे (उत अधरात्) और न नीचेसे (नः मा नुदिष्ठाः) हमें कोई नीचेकी ओर ढकेल दे। हे (भूमे) भूमे! (नः स्वस्ति भव) हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो, (परिपंथिनः मा विदन्) दुष्ट, बुरे मार्गसे जानेवाले हमें न जानें। (वधं वरीयः यावय) मारक शस्त्र हमसे दूर हटा दे ॥ ३२ ॥

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

हे (भूमे) मातृभूमे! (मेदिना सूर्येण) आनन्द देनेवाले सूर्यके प्रकाशसे (यावत् ते अभि विपश्यामि) जितना तेरा भाग मैं विशेष रूपसे देखता हूँ, (तावत् मे चक्षुः) उतनी दूर मेरा नेत्र (उत्तरां उत्तरां समां) अगले अगले वर्षोंमें (मा मेष्ट) क्षीण शक्तिवाला न बने ॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्ते
दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं
यत् पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे
सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

हे (भूमे) मातृभूमे ! (यत् शयानः) जब मैं लेटता हुआ (दक्षिणं सव्यं पार्श्वं) दायीं या बायीं करवट पर (अभि पर्यावर्ते) पलटता हूं, (उत्तानाः) ऊपरसे (प्रतीचीं) नीचे पडी (त्वा) तुझपर (यत् पृष्टीभिः अधिशेमहे) जब पीठकी हड्डियोंसे सीधे ऊपर लेटता हूँ, हे (सर्वस्य प्रतिशीवरि) सबके नीचे लेटी हुई (भूमे) मातृभूमे ! (तत्र नः मा हिंसीः) वहां हमें हानि न पहुंचा ॥ ३४ ॥

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते वर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥

हे (भूमे) भूमे ! (यत् ते विखनामि) जो मैं तेरा भाग खोदता हूं (क्षिप्रं तत् अपि रोहतु) शीघ्र ही वह फिर बढे । हे (विमृग्वरि) शोधनेवाली ! (ते मर्म) तेरे मर्मको (ते हृदयं) तेरे हृदयको (मा मा अर्पिपम्) किसी प्रकार भी हानि नहीं पहुंचाऊं ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि
शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीः
अहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

हे (भूमे) भूमि ! (ते वसन्तः ग्रीष्मः वर्षाणि शरत् हेमन्तः शिशिरः) तेरे वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरत् हेमन्त और शिशिर ये छ (ऋतवः) ऋतु (हायनीः विहिताः) नियमसे वर्षमें आते हैं, वे ऋतु (अहोरात्रे) और अहोरात्र (नः दुहातां) हमें दूध देवें या अन्न देवें ॥ ३६ ॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी
यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः
परा दस्यून् ददती देवपीयून्
इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

(या विमृग्वरी) जिस शुद्ध करनेवालीने (सर्पं अप विजमाना) वृत्ररूपी सर्पको कंपाकर फेंक दिया, (यस्यां अप्सु अन्तः अग्नयः आसन्) जिसमें जलोंमें अग्नियें थीं। जो (देवपीयून् दस्यून् परा ददती) देवोंके निन्दक दस्युओंको दूर फेंकती हैं और (पृथिवी) यह पृथिवी (वृत्रं न) वृत्रको नहीं अपितु (इन्द्रं वृणाना) इन्द्रको वरती है । इस पृथिवीने (वृषभाय वृष्णे शक्राय दध्रे) बलवान् सामर्थ्यवान् इन्द्रको धारण किया है ॥ ३७ ॥

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्ति ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८

(यस्यां सदः) जहां सभाके स्थान और (हविर्धाने) हवि रखनेके स्थान होते हैं, (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यूप खडा किया जाता है, (यस्यां) जिसमें (ब्रह्माणः) ब्राह्मण (ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः अर्चन्ति) ऋचाओंसे, सामसे तथा यजु जाननेवाले यजुसे अर्चना करते हैं। (यस्यां ऋत्विजः युज्यन्ते) जिसमें ऋत्विज योग्य कार्य करते हैं और (इन्द्राय पातवे सोमं) इन्द्रके पीनेके लिये सोम तैयार करते हैं ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

(यस्यां पूर्वे भूतकृतः ऋषयः) जिसमें प्राचीन समयके भूतकालका इतिहास लिखनेवाले ऋषियोंने (गाः उदानृचुः) मंत्रोंको उच्च स्वरसे गाया था और (वेधसः) ज्ञानियोंने (सप्त सत्रेण) सात सत्र (यज्ञेन तपसा सह) यज्ञ और तपके साथ कार्य करके किये थे ॥ ३९ ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

(सा नः भूमि) वह हमारी भूमि (यत् धनं कामयामहे) जिस धनकी इच्छा हम कर रहे हैं, (आदिशतु) वह हमें देवे। (भगः अनुप्रयुंक्तां) भग साथ रह कर प्रेरणा करे और (इन्द्रः पुरो-गवः एतु) इन्द्र हमारे आगे चले ॥ ४० ॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्
असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(यस्यां भूम्यां) जिस भूमिपर (व्यैलबाः मर्त्याः) बडी ध्वनि करनेवाले मनुष्य (गायन्ति नृत्यन्ति) गाते हैं और नाचते हैं । (यस्यां युध्यन्ते) जिसमें युद्ध करते हैं, (आक्रन्दः) जिसमें बडे शब्द करते हैं (यस्यां दुन्दुभिः वदति) जिसमें दुन्दुभि बजती है, (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (सपत्नान् प्रणुदतां) शत्रुओंको दूर ढकेल दे और (पृथिवी मा असपत्नं कृणोतु) पृथिवी मुझे शत्रुरहित बनावे ॥ ४१ ॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

(यस्यां अन्नं व्रीहियवौ) जिसमें अन्न चावल और जौ होते हैं, (यस्याः इमाः पञ्च कृष्टयः) जिसके ये पांच जातिके मानव हैं । उस (पर्जन्यपत्न्यै वर्षमेदसे भूम्यै) पर्जन्य जिसका पति है और वृष्टि जिसका मेद है उस (भूम्यै नमः अस्तुः) भूमिके लिये मेरा प्रणाम हो ॥ ४२ ॥

पञ्च कृष्टयः— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच जातिके लोग हैं ।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

(यस्याः पुरः देवकृताः) जिस परकी नगरियां देवोंने बनायी हैं, (यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते) जिसके क्षेत्रमें लोग विशेष कार्य करते रहते हैं, उस (विश्व-गर्भा पृथिवीं) विश्वको गर्भमें धारण करनेवाली पृथिवीको (प्रजापतिः) प्रजाका पालक (नः आशां आशां) हमारे लिये प्रत्येक दिशामें (रण्यां कृणोतु) रमणीय बनावे ॥ ४३ ॥

देव कृताः पुरः— इन्द्रप्रस्थ, अयोध्या, रामपुर आदि नगरियां देवोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

(बहुधा गुहा वसु निधिं बिभ्रती) बहुत प्रकारसे गुहामें धनके निधिको जो धारण करती है, (मे पृथिवी मणिं हिरण्यं ददातु) मुझे वह पृथिवी रत्न और सुवर्ण देवे । (वसुदा रासमाना) धन देनेवाली सुप्रसन्न होकर (सुमनस्यमाना देवी) उत्तम मनवाली वह पृथिवी देवी (नः वसूनि दधातु) हमें धनोंको देवे ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

(बहुधा विवाचसं) अनेक प्रकारकी भाषाएं बोलनेवाले (जनं बिभ्रती) लोगोंको धारण करनेवाली (पृथिवी) मातृभूमि (नानाधर्माणं यथौकसं) नाना धर्मोंके लोगोंको एक घरके लोगोंके समान धारण करती है । यह भूमि (अनपस्फुरन्ती ध्रुवा धेनुः इव) न हिलनेवाली सुस्थिर गौके समान (द्रविणस्य सहस्रं धारा मे दुहां) धनकी सहस्रों धाराएं मुझे दुह कर देवे ॥ ४५ ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा
हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति
प्रावृषि तन्नः सर्पन् मोप सृपद्
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

(यः ते सर्पः) जो तेरा सर्प और (तृष्ट-दंश्मा वृश्चिकः) तीखा दंश करनेवाला बिच्छू (हेमन्त-जब्धः भृ-मलः गुहा शये) हेमन्तकी सर्दीसे कष्टी होकर गुहामें सुस्त होकर सोया है और (क्रिमिः) जो कृमि, हे (पृथिवि) भूमे ! (प्रावृषि जिन्वत् यत् यत् एजति) बरसातमें जीवन प्राप्त करके जब चलने लगता है, (तत् नः सर्पन्) वह हमारे समीप चलता हुआ (मा उपसृपत्) न आ जाय । (यत् शिवं तेन नः मृड) जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्र पापाः
तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

(ये ते बहवो पन्थानः) जो तेरे बहुतसे मार्ग (जनायनाः) लोगोंके चलने योग्य हैं, (रथस्य वर्त्मा) रथका मार्ग तथा (अनसः च यातवे) गाडीके जानेके लिये मार्ग है, (यैः उभये भद्र-पापाः संचरन्ति) जिनसे भले बुरे दोनों चलते हैं, (तं पंथानं जयेम) उस मार्ग-पर हम विजय प्राप्त करें, जिसपर (अनमित्रं अतस्करं) शत्रु और चोर न हों, (यत् शिवं तेन नः मृड) जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुखी कर ॥ ४७ ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्
भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना
सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

(मल्वं बिभ्रती) मूर्खको धारण करनेवाली तथा (गुरु भृत्) गुरु [ज्ञानी] को धारण करनेवाली (भद्र-पापस्य निधनं) कल्याणकारी और पापीका मरण (तितिक्षुः) सहन करती है, (वराहेण पृथिवी संविदाना) वराहके साथ यह पृथिवी मेल रखती है और (सूकराय मृगाय विजिहीते) सूअर जैसे जानवरके लिये खुली रहती है ॥ ४८ ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने
हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित
ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

(ये ते आरण्याः पशवः) जो तेरे अरण्यमें रहनेवाले पशु हैं, (मृगाः) मृग आदि (वने हिताः) वनमें रहनेवाले (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः चरन्ति) सिंह बाघ आदि मनुष्योंको खानेवाले फिरते हैं; (उलं वृकं) गीदड और भेडिया (दुच्छुनां ऋक्षिकां रक्षः) दुष्ट रीछनी और राक्षस इनको हे (पृथिवि) भूमि ! (अस्मत् अप बाधय) हमसे दूर हटा ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ५०

(ये गंधर्वाः अप्सरसः) जो गंधर्व और जो अप्सराएं हैं (ये च अरायाः किमीदिनः) जो दुष्ट और खाऊ हैं (पिशाचान् सर्वा रक्षांसि) रक्त पीनेवाले और सब राक्षस हैं, हे (भूमे) भूमि ! (तान् अस्मत् यावय) उन सबको हमसे दूर हटा ॥ ५० ॥

१ गंधर्वाः— जिनके शरीरमें बदबू आती है,

२ अप्सरसः— जो दुष्ट प्राणी पानीमें या पहाडीपर रहते हैं ।

३ अ-रायाः— जो निर्धन हैं,

४ किमीदिनः— आज क्या खाऊं ऐसा विचार करने-वाले भूखे, खाऊ, ' किं इदं, किं इदं इति सर्वानपि अदन्ति इति किमीदिनः ' यह क्या है, यह क्या है कहकर सब कुछ खा जानेवाले ' किमीदिनः ' होते हैं ।

५ पिशाचाः— रक्त पीनेवाले,

६ रक्षांसि— जिनसे बचनेका यत्न करना योग्य है ।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते
रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

(यां द्विपादः पक्षिणः) जिसपर दो पांववाले पक्षी (हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि) हंस, गरुड, चिडियां और दूसरे पक्षी (संपतन्ति) मिलकर उडते रहते हैं। (यस्यां) जिस पर (मातरिश्वा वातः) आकाशमें फैला हुआ वायु (रजांसि कृण्वन्) धूली उडाता हुआ (वृक्षान् च्यावयन् ईयते) वृक्षोंको गिराता हुआ चलता है। जिसमें (अर्चिः) अग्निका प्रकाश (वातस्य प्रवां उपवां अनु वाति) वायुके अनुसार आगे और पीछे चलता है ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता
सा नो दधातु भद्रया
प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

(यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च) जिस भूमिमें काले और लाल वर्णवाले (संहिते अहोरात्रे अधि विहिते) मिले हुए अहोरात्र क्रमसे आते जाते रहते हैं। वह (पृथिवी भूमिः) विस्तृत भूमि (वर्षेण वृता आवृता) वर्षासे ढकी और घिरी होती है, (सा नः) वह हमें (भद्रया) कल्याणके साथ (प्रिये धामनि धामनि) हरएक प्रिय स्थानमें (दधातु) रखे ॥ ५२ ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥५३

(द्यौः च पृथिवी च अन्तरिक्षं च) द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष (मे इदं व्यचः) मुझे यह विस्तार देवें तथा (अग्निः सूर्यः आपः विश्वे देवाः) अग्नि, सूर्य, जल और सब देव (मे मेधां संददुः) मुझे मेधा बुद्धि देवें ॥ ५३ ॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाड्
आशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

(अहं सहमानः) मैं विजय करता हुआ (भूम्यां उत्तरः नाम) भूमिपर अपना नाम उंचा करता हूं। (अभी-षाट्) मैं चारों ओर विजयी होकर (विश्वा-षाट्) सब शत्रुओंका पराभव करता हू और (आशां आशां विषासहिः) प्रत्येक दिशामें विजयी हूं ॥ ५४ ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद्
देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीं
अकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥

हे (देवि) देवी पृथिवि! (यत् देवैः उक्ता) जब देवोंके कहनेके अनुसार (पुरस्तात् प्रथमाना) आगे दूर तक फैलती हुई (महित्वं व्यसर्पः) तूने अपनी महिमाको फैलाया, तब (त्वा सुभूतं आविशत्) तुझमें सुंदर विभूति आगई, (तदानीं चतस्रः प्रदिशः अकल्पयथाः) तब तूने चारों दिशाओंको सुयोग्य बनाया ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

(ये ग्रामाः) जो ग्राम, (यत् अरण्यं) जो अरण्य (भूम्यां अधि याः सभाः) भूमिपर जो सभाएं हैं, (ये संग्रामाः) जो युद्ध होते हैं तथा जो (समितयः) संमेलन होते हैं (तेषु ते चारु वदेम) उनमें तेरे विषयमें उत्तम भाषण हम करें ॥ ५६ ॥

तेरा हित हो ऐसे प्रस्ताव वहां हम करें।

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान्जनान् ।
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

(अश्वः इव रजः दुधुवे) घोडा जैसे धूलीको झाडता है, उसी प्रकार (यात् अजायत) यह पृथिवी जबसे उत्पन्न हुई है तबसे (पृथिवीं ये आक्षियन्) पृथिवीपर जो रहते थे, (तान् जनान् वि दुधुवे) उन जनोंको झाडती आयी है। यह पृथिवी (मन्द्राअग्रे त्वरी) हर्षित

*

होकर आगे बढनेवाली और (भुवनस्य गोपा) उत्पन्न होनेवालोंकी सुरक्षा करनेवाली और (वनस्पतीनां ओषधीनां गृभिः) वनस्पती और औषधियोंको पकड कर रखनेवाली है ॥ ५७ ॥

यद्वदा॑मि मधु॑मत् तद् व॑दामि
यदीक्षे॒ तद् व॑नन्ति मा ।
त्विषी॑मानस्मि जू॒तिमा॒न्
अवा॒न्यान् ह॑न्मि॒ दोध॑तः ॥ ५८ ॥

(यद् वदामि) जो मैं कहता हूं (तत् मधुमत् वदामि) वह मीठाससे भरा कहता हूं। (यत् ईक्षे) जिन्हें मैं देखता हूं (तत् मा वनन्ति) वे लोग मुझे प्यार करते हैं। मैं (त्विषीमान् अस्मि) मैं तेजस्वी हूं तथा (जूतिमान्) स्फूर्तिसे युक्त हूं। (दोधतः अन्यान्) दूसरोंको कष्ट देनेवालोंको मैं (हन्मि) मारता हूं ॥ ५८ ॥

श॒न्तिवा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒लालो॑ध्नी॒ पय॑स्वती ।
भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृथि॒वी पय॑सा स॒ह ॥ ५९ ॥

(शन्ति-वा) शान्तिसे युक्त (सुरभिः) सुगन्धसे युक्त (कीलालोध्नी) मधुर रसोंको प्राप्त करानेवाली (पयस्वती) दूधसे युक्त (पृथिवी भूमिः) विस्तृत भूमि (पयसा सह) दूधके साथ (मे अधि ब्रवीतु) मुझे आशीर्वाद देवे ॥ ५९ ॥

याम॒न्वैच्छ॑द्ध॒विषा॑ वि॒श्वक॑र्मा॒
अन्तर॑र्ण॒वे रज॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
भु॒जि॒ष्यं॑ पात्रं॒ निहि॑तं॒ गुहा॒ यत्
आ॒विर्भो॒गे अ॑भवन्मा॒तृमद्भ्यः॑ ॥ ६० ॥

(यां रजसि अर्णवे प्रविष्टां) जिस अन्तरिक्षके समुद्रके अन्दर प्रविष्ट हुई भूमिको (विश्व-कर्मा हविषा अन्वैच्छत्) विश्वकर्माने हविसे ढूंढा और (यत् भुजिष्यं गुहा निहितं पात्रं) जो भोगोंसे भरा हुआ गुप्त स्थानमें रखा पात्र था (मातृमद्भ्यः भोगे आविः अभवत्) वह मातावालोंके भोगके रूपमें प्रकट हो गया ॥ ६० ॥

त्वम॑स्या॒वप॑नी॒ जना॑ना॒म्
अदि॑तिः का॒म॒दुघा॑ पप्रथा॒ना ।
यत् त॒ ऊ॒नं तत् त॒ आपू॑रयाति
प्र॒जाप॑तिः प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑ ॥ ६१ ॥

(त्वं जनानां आवपनी असि) तू लोगोंका आश्रय स्थान है (कामदुघा अदितिः पप्रथाना) कामनाओंको पूर्ण करनेवाली सुप्रसिद्ध अदिति है। (यत् ते ऊनं) जो तेरेमें न्यूनता हो (तत् ते ऋतस्य प्रथमजा प्रजापतिः) उसको तेरा सत्यका प्रथम बना प्रजापति (आपूरयाति) पूर्ण करे ॥ ६१ ॥

उ॒पस्था॑स्ते अनमी॒वा अ॑य॒क्ष्मा
अ॒स्मभ्यं॑ सन्तु पृथिवि॒ प्रसू॑ताः ।
दी॒र्घं न॒ आयुः॑ प्रति॒बुध्य॑मानाः
व॒यं तुभ्यं॑ बलि॒हृतः॑ स्याम ॥ ६२ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (ते उपस्थाः प्रसूताः) तेरे ऊपर रहनेवाले तथा तेरेसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ (अस्मभ्यं अनमीवाः अयक्ष्माः) हमारे लिये रोगरहित और क्षयरहित (सन्तु) हों, (नः आयुः दीर्घं) हमारी आयु दीर्घ हो, (प्रतिबुध्यमानाः) जाग्रत रहते हुए (वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम) हम तेरे लिये बलि अर्पण करनेवाले हों ॥ ६२ ॥

भूमे॑ मात॒र्नि धे॑हि मा भ॒द्रया॑ सुप्रति॑ष्ठितम् ।
सं॒विदा॒ना दि॒वा क॑वे श्रि॒यां मा॑ धेहि॒ भूत्या॑म् ॥ ६३ ॥

हे (मातः भूमे) मातृभूमे ! (मा भद्रया) मुझे कल्याणसे युक्त करके (सुप्रतिष्ठितं निधेहि) उत्तम प्रतिष्ठित बनाकर रख। हे (कवे) ज्ञानी पृथिवी ! (दिवा संविदाना) द्युलोकके साथ एक चित्त हुई तू (मा भूत्यां श्रियां धेहि) मुझे भाग्य और ऐश्वर्यमें रख ॥ ६३ ॥

६ अक्टूबर १९४४ को नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसका महात्मा गांधीके नाम रंगून रेडियोसे प्रसारित भाषण

नेताजीकी वाणी

भाषण कर्ता–
नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस

अनुवादक–
श्री कृष्णदत्त, साहित्यरत्न

[गताङ्कसे आगे]

महात्माजी ! मैं आपको यह विश्वास दिला सकता हूं कि स्वाधीनताकी उपलब्धिके लिये सशस्त्राभियान आरम्भ करनेके लिये संकटाकीर्ण पथका अवलम्ब लेनेसे पूर्व मैंने इस प्रश्नके सभी सम्बद्ध पक्षोंको विचारानुयोगका विषय बनाया एवं उसके सभी पक्षोंका समीचीन विश्लेषण किया। इतने समय तक अपनी योग्यतानुसार अपनी जनताकी सेवा करनेके उपरान्त, मेरे लिये यह कल्पनीय भी नहीं है कि मैं देशद्रोही बननेकी इच्छा करने, यहांतक कि इस प्रकारकी अभिलाषितके लिये मैं कोई लघुतम आधार भी प्रस्तुत नहीं कर सकता।

मेरे लिये यह सरलतम था कि मैं अपने देशमें रहकर उसी प्रकार जनसेवामें रत रहता जैसा मैं इतने दीर्घ समय तक रहा। एक भारतीय बन्दीगृहमें विश्वयुद्धके अन्त तक पड़े रहना मेरे लिये सुगम था। इस प्रकार करनेसे व्यक्तिशः मुझे कोई हानि नहीं थी। मैं अपने देशवासियों द्वारा मेरे प्रति प्रदर्शित प्रेम एवं उदारताके लिये उनका आभारी हूं और इसीके आधारपर किसी भी सार्वजनिक कार्यकर्ताको प्राप्त होनेवाला सर्वोच्च सम्मान मुझे प्राप्त हुआ। मैंने ऐसे व्यक्तियोंका अपना एक दल भी बना लिया था जिन्हें मुझ पर असाधारण स्नेह संपृक्त अडिग विश्वास था।

इस प्रकार एक आशंकामयी खोजमें विदेश जानेसे मैं अपने जीवनको आशंकाओंसे अभिद्रुत कर रहा था और इसका प्रभाव स्वयं मेरे भविष्य पर भी पड़ता। यहां तक कि मेरे दलके भी इन आशंकाओं द्वारा ग्रस्त होनेकी पूरी संभावना थी। यदि मुझे यह क्षीणतम आभास भी होता कि हम देशमें रहकर ही विदेशमें कार्य किये बिना स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं तो मैं इस संकटकी स्थितिमें भारत कभी नहीं छोड़ता। यदि मुझे अपने जीवन कालमें भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के ऐसे स्वर्णावसर मिलनेकी आशा होती जैसा कि अब युद्ध कालमें मिला है तो मैं घरसे कभी बाहर नहीं जाता। किन्तु मुझे दो बातोंका पूरा विश्वास था। प्रथम तो यह कि ऐसा स्वर्णावसर अगले सौ वर्षोंमें नहीं आयेगा और दूसरे यह कि विदेशसे सहायता लिये बिना अपने देशमें अपने ही प्रयत्नोंसे हम अपने उद्देश्यमें सफल नहीं होसकते। यही कारण था इस आशंकानदमें अवगाहन करनेके निश्चयका।

दैव मुझ पर कृपालु रहा है। अनेक प्रकारकी कठिनाइयां होने पर भी अभी तक मेरी सभी योजनायें सफल रही हैं। भारतसे बाहर आने पर मेरा पहला प्रयास अपने देशवासियोंको जहां कहीं वह मेरे सम्पर्कमें आये, संगठित करना था। मुझे यह कहते हुये प्रसन्नता है कि मैंने उन्हें सर्वत्र पूर्णतः जागरूक पाया। इसके पश्चात् मैंने हमारे शत्रु से युद्ध रत राज्योंका भारत सम्बन्धी दृष्टिकोण जाननेके लिये उनसे सम्पर्क स्थापित किया। मैं यह देखकर आश्वस्त हुआ कि वर्षोंके अनवरत ब्रिटिश प्रचारके एकदम विपरीत ये राष्ट्र रूपेण भारतीय स्वतन्त्रताके मित्र हैं। मैंने यह भी पता लगाया कि वह हमें अभीष्ट सहायता अपने सामर्थ्यानुसार देनेको उद्यत हैं।

मैं उस प्रचारसे भी अनवगत नहीं हूं जो मेरे विरुद्ध हमारे शत्रु द्वारा किया जा रहा है। किन्तु मुझे विश्वास है कि मेरे देशवासी जो मुझे भली भांति जानते हैं इससे प्रभावित नहीं होंगे। जो व्यक्ति स्वदेशाभिमान एवं

सम्मानका पोषक जीवन पर्यन्त रहा हो और इसके निमित्त जिसने पर्याप्त कष्ट उठाये हों, वह कदापि इस प्रश्नपर किसी अन्य विदेशी सत्ताके समक्ष नतमस्तक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मुझे व्यक्तिशः इन विदेशी सत्ताओंसे कोई लाभ प्राप्त नहीं करना है। एक भारतीयके लिये अपने देशमें प्राप्य सर्वोच्च सम्मान प्राप्त करनेके उपरान्त मेरे लिये विदेशी सत्तासे प्राप्त करने योग्य क्या रह जाता है। केवल वही व्यक्ति उनके हाथोंमें क्षुद्रोपकरण बन सकता है और उनका संकेतानुगामी हो सकता है जो आत्म सम्मानकी भावनासे शून्य हो और जिसे अपने लिये दूसरोंको प्रभावित करनेके लिये सुदृढ स्थितिका निर्माण अभिप्रेत हो।

मेरा प्रबलतम शत्रु भी मेरे विषयमें यह कहनेका दुस्साहस नहीं कर सकता कि मैं राष्ट्रके सम्मान और प्रतिष्ठाको विदेशियोंके हाथ बेच सकता हूं। इसी प्रकार मेरा प्रबलतम शत्रु मेरे प्रति अपने विषैले आधिक्षेपको भी इस असत्य भाषणके द्वारा प्रकट नहीं कर सकता कि मैं अपने देशमें एक तिरस्कृत अकिंचनकी स्थितिमें था और स्वदेशमें प्रतिष्ठाकी स्थापनार्थ मुझे विदेशी सहायताकी अपेक्षा थी। देशको छोडते समय मुझे अपना सभी कुछ, यहांतक कि अपने जीवनको भी आपद्ग्रस्त करना पडा। किन्तु इन सभी आशंकाओंको मैंने स्वयं निमन्त्रण दिया क्योंकि भारतीय स्वाधीनताके स्वप्नको साकार करनेके लिये अन्य कोई विकल्प मेरे समक्ष नहीं था। अब मेरे लिये एक ही प्रश्न शेष है जो उत्तरकी अपेक्षा रखता है, वह है क्या धुरी शक्तियोंके लिये मुझे किसी प्रपंच-पाशमें फांस लेना सम्भव है ?

ब्रिटिश क्षेत्रोंमें ही सर्वाधिक चतुर एवं वंचक राजनीतिज्ञोंकी उपलब्धि होती है– मैं समझता हूं कि मेरे इस विश्वासको आज विश्वजनीन मान्यता प्राप्त है। जिसने जीवन पर्यन्त ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंके विरुद्ध कार्य एवं उनसे संघर्ष किया है वह संसारके किसी अन्य राजनीतिज्ञकी प्रवंचनाओंका भाजन नहीं बन सकता। यदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ किसी प्रलोभनसे मेरी चेतनाको विप्रदुष्ट कर मुझे अभ्युपायित करनेमें असमर्थ रहे हैं तो संसारके किसी भी व्यक्तिमें यह शक्ति नहीं कि वह अपने इस घृणित मनोरथमें सफल हो सके। यदि अंग्रेजों द्वारा मेरे लिये नियोजित सुदीर्घ कारावास, अनवरत उत्पीडन जिसमें शारीरिक प्रहार भी सम्मिलित है, इनके संयुक्त दल-दलमें पोषित हो मेरे स्वदेश प्रेमोन्मुखी साहसका कमल विकृत नहीं हो सका तो संसारकी कोई शक्ति उसकी सुविकचताको अभिम्लान नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त यह भी आपके ज्ञानातीत नहीं है कि मैं अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्रका उत्सुक विद्यार्थी रहा हूं। युद्ध आरम्भन होनेसे पूर्व मैंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महत्वपूर्ण व्यक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित किया।

अतः मैं कोई नौसिखिया नहीं हूं जिसे कोई चतुर और कपटी अपने धूर्ततापूर्ण मनोरथोंकी सिद्धिका उपकरण बना सके। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि धुरी राष्ट्रोंके हमारे आन्दोलन सम्बन्धी दृष्टिकोणके प्रति कोई सम्मति निर्धारणसे पूर्व मैंने राष्ट्रोंके महत्वपूर्ण नेताओंसे निकट सम्पर्क स्थापित किया। परिणाम स्वरूप, मैं बलपूर्वक निवेदन करना चाहूंगा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिके सम्बन्धमें मेरे मूल्यांकनकी यथार्थता पर मेरे देशवासियोंको पूर्ण विश्वास है। विदेशोंमें रहनेवाले भारतीय इसकी साक्षी देंगे कि भारत छोडनेके उपरान्त मैंने कोई कार्य ऐसा नहीं किया जिससे इस बातका क्षीणतम आभास मिले कि विदेशियोंके हाथ मैं राष्ट्रीय सम्मान बेच रहा हूं। मेरी सभी चेष्टायें भारतके हित एवं संसारकी दृष्टिमें उसके सम्मान वृद्धि एवं उसकी स्वतंत्रताकी दिशामें ही रही हैं।

महात्माजी! जबसे पूर्वी एशियामें युद्ध आरम्भ हुआ है हमारे शत्रुकी ओरसे जापानके विरुद्ध अनर्थक प्रचार किया जा रहा है। अतः इस बातके संदर्भमें कि सम्प्रति मैं जापानी शासन, सेना एवं जनतासे निकटतम सम्पर्क स्थापित कर कार्यरत हूं, उसी देशके विषयमें कुछ निवेदन करूंगा।

समय था जब जापानकी हमारे शत्रुसे मित्रता थी। जब तक इस संधिकी वैधता रही मैं जापानमें नहीं आया। दोनों देशोंके मध्य जब तक सामान्य दौत्य सम्बन्ध रहे मैं जापानमें नहीं आया। मेरा आगमन स्वेच्छासे जापानमें उसी समय हुआ जब उसने अपने इतिहासमें ब्रिटेन और अमरीकाके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण पग उठाया।

अपने अन्य कई देशवासियोंके समान मैंने भी जापान

विरोधी प्रचुर प्रचार सामग्रीका वर्षों तक अध्ययन किया है। अपने अनेक देशवासियोंकी भांति मैं भी यह नहीं समझ पाया कि जापानने १९३७ में चीनसे युद्ध क्यों किया। १९३७ और ३८ में अनेक देशवासियोंकी भांति मेरी सहानुभूति भी चुंगकिंग (चीन) के साथ थी। आपको यह स्मरण होगा कि दिसम्बर १९३८ में कांग्रेस अध्यक्षके नाते मैंने एक चिकित्सा दल चुंगकिंग भेजा था। किन्तु जापानमें स्वयं आकर मैंने जो देखा और जिसे बहुतसे भारतीय हृदयङ्गम नहीं कर पाये, वह है एशियाई देशोंके प्रति विशेषतः और विश्वके प्रति सामान्यतः जापानियोंका आधुनिक दृष्टिकोण जिसमें उस समयसे अब आमूल परिवर्तन होचुका है। यह परिवर्तन मात्र जापानी शासन तक ही परिमित नहीं, प्रत्युत् जापानी जनता भी इससे प्रभावित है। जापानी जनताकी आत्मा आज एक नवीन एशियाई चेतना से अवभासित है। इसीके द्वारा हम फिलिपाइन्स, बर्मा, भारत एवं चीनके प्रति उसकी नई नीतिको भलीभांति समझ सकते हैं। जापानमें अपने प्रवासान्तर्गत मैंने जापानी नेताओंसे निकट सम्पर्क स्थापित कर यह भलीभांति देख लिया है और इससे मुझे पूर्ण सन्तोष है कि यह नीति परिवर्तन एक प्रपंच मात्र न होकर सहृदयतासे प्रेरित है।

इतिहासमें यह पहला अवसर नहीं है जब कोई राष्ट्र सर्वथा नवीन चेतनासे अभिभूत हुआ है। इतिहासमें इसके दो उदाहरण हमें मिल चुके हैं। फ्रेंच क्रान्तिके समय फ्रांसमें और दूसरा बालशेविक क्रान्तिके समय रूसमें। जापानकी अपनी नवम्बर १९४३ की दूसरी यात्राके उपरान्तमें फिलिपाइन्स गया और वहांके नेताओंसे विचार विमर्श कर मैंने स्वयं स्थितिका अध्ययन किया। स्वतन्त्रताके उपरान्त बर्मामें भी पर्याप्त समय तक रह कर मैं वहांकी स्थितिसे अवगत हो चुका हूं।

यह जाननेके लिये कि जापानकी नई नीति कहां तक वास्तविकता पर आधृत है, मैं चीन गया। चीन एवं जापानके नवीनतम समझौतेसे चीनी लोगोंको वह सब मिल गया है जो वह चाहते थे। पारस्परिक शत्रुताकी समाप्ति पर जापानने चीनसे अपनी सेनायें हटाना भी स्वीकार कर लिया। फिर चीन किस लिये संघर्ष कर रहा है? क्या कोई विश्वास कर सकता है कि ब्रिटेन और अमरीका चुंगकिंगचीनका विशुद्ध सैद्धान्तिक आधार पर समर्थन कर रहे हैं? क्या जापानसे युद्धमें सहायता देनेका वह चीनसे भारी पारिश्रमिक नहीं लेंगे? मैं स्पष्टतः यह देख रहा हूं कि चीनको जापानसे अतीत कालीन घृणा और शत्रुताके कारण ब्रिटेन और अमरीकाके पास गिरवी रखा जा रहा है। जापानसे संघर्षके लिये चीन द्वारा ब्रिटिश और अमरीकी सहायता प्राप्त करनेका औचित्य उस समय तक समझमें आ सकता था जब तक जापानने उसके प्रति अपनी वर्तमान नीति पर आचरण आरम्भ नहीं किया था। किन्तु अब जब चीनी जापानी सम्बन्ध क्षेत्रमें सर्वथा नवीन अध्यायकी अभिव्यक्ति हुई है, चीनके लिये जापानके विरुद्ध निरुद्देश्य संघर्ष निर्बाध रूपेण चलानेके लिये किंचित् भी युक्ति संगत आधार नहीं है। यह चीनी जनताके और एशियाके हितमें नहीं है।

अप्रैल १९४२ में आपने स्वतन्त्र होनेकी स्थितिमें जापान और चीनको निकट लानेके लिये यत्नशील होनेकी बात कही थी। आपका वह कथन असंशयेन आपकी असाधारण बुद्धिमत्ताका द्योतन करता था। मूलतः यह भारतीय दासता ही है जो चीनमें अव्यवस्थाके लिये उत्तरदायी है। भारत पर ब्रिटिश आधिपत्यके कारण ही अंग्रेज–अमरीकी कूटनीतिज्ञ चुंगकिंगको इस भ्रममें रख सके कि जापानके विरुद्ध उसके संघर्षमें उसे उनकी ओरसे अपेक्षित सहायता पर्याप्त मात्रामें मिलेगी। आपका यह विचार पूर्णतः उचित ही है महात्माजी, कि स्वतंत्र भारत चीन और जापानके मध्य शान्ति स्थापनके लिये प्रयत्न शील होगा। मैं तो यहां तक कहूंगा कि दोनों देशोंमें सौहार्द स्थापन स्वयंमेव ही भारतीय स्वाधीनताका अनुवर्ती होगा, चुंगकिंगको उसकी भूल बतानेके पश्चात्।

जबसे मैंने पूर्वी एशियामें पदार्पण किया है और चीनका भ्रमण किया है, मैं चीनकी समस्याका गम्भीर अध्ययन करनेमें सफल हुआ हूं। मेरा यह अनुभव है कि चीनमें अधिनायक–वादी शासन है। व्यक्तिशः मुझे इस शासन व्यवस्था पर कोई आपत्ति नहीं, यदि यह किसी सदुद्देश्यके निमित्त हो। किन्तु चीनका अधिनायकवाद स्पष्टतः अमरीकी प्रभावान्तर्गत है। दुर्भाग्यसे आंग्ल–अमरीकी गुट जापानको यह अनुचित विश्वास दिलानेमें सफल होगया है

कि यदि किसी प्रकार जापान पराजित हो जाये तो चीन एशियामें प्रभावशाली सत्ता हो जायेगी । वस्तुस्थिति यह है कि यदि जापान किसी प्रकार पराजित होगया तो चीन सीधे अमरीकी प्रभाव और नियंत्रणमें चला जायेगा । यह चीन और एशिया दोनों ही के दुर्भाग्यकी बात होगी ।

एशियाकी प्रभावशालिनी सत्ता बननेकी दुराशाको लेकर ही चुंगकिंगके शासक वर्गने व्हाइट हाउस और व्हाइटहाल से अपवित्र गठबन्धन किया है । मुझे उन कार्यवाहियोंका ज्ञान है जो चुंगकिंगका शासन भारतीयोंकी सहानुभूति प्राप्त करनेके लिये भारतमें ही कर रहा है । किन्तु मैं सहृदयता पूर्वक निवेदन करना चाहता हूं कि जापान द्वारा चीनके प्रति नई नीति अपनानेके आलोकमें वह चुंगकिंग भारतीय जनताकी सहानुभूतिका अधिकारी नहीं है जिसने वाल स्ट्रीट और लाम्बार्ड स्ट्रीटके पास अपनेको गिरवी रख दिया है ।

महात्माजी ! आप इस विषयमें सबसे अधिक जानते हैं कि भारतके लोग मात्र मौखिक वचनोंके प्रति कितने सशंकित रहते हैं । यदि जापानियोंकी नीति सम्बन्धी घोषणा अव्यावहारिक आश्वासन मात्र ही होती तो मैं कदापि उसके प्रति आकृष्ट नहीं होता । किन्तु इस युद्धके ठीक मध्यमें जापानने जो क्रान्तिकारी परिवर्तन फिलिपाइन्स, बर्मा तथा राष्ट्रवादी चीनमें किये हैं, उन्हें मैंने स्वयं अपनी आंखोंसे देखा है । अपने वचनोंका मूल्य जापान भली भांति समझता है और उसके कार्य घोषणाओंके अनुरूप ही होते हैं ।

मैं यह भी कह सकता हूं कि भारतके प्रति जापानने अपनी सहृदयताका अपने कार्योंसे उचित अनुमोदन किया है । समय था जब भारतके प्रति जापानकी ' स्वार्थानुप्रेरित आकांक्षाओं ' के प्रति लोग सशंकित थे । यदि ऐसा ही था तो जापानने आजाद हिन्दकी अस्थायी सरकारको क्यों मान्यता प्रदान की ? इसमें अंडेमान और निकोबार द्वीपोंको हमारी अस्थायी सरकारके शासनमें क्यों दिया । अब अंडेमान और निकोबारका भारतीय मुख्यायुक्त क्यों है जो इस समय पोर्ट ब्लेअरमें स्थित है ? इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि जापानने पूर्वी एशियामें भारतीय जनताको उसके स्वातन्त्र्य संग्राममें बिना पूर्वाग्रहके सहायता क्यों दी ? समस्त पूर्वी एशियामें ऐसे भारतीय हैं जिन्हें जापानको निकटसे देखनेका अवसर मिला है । यदि उन्हें जापानके मनोभावोंके विषयमें कोई संदेह होता तो पूर्वी एशियामें रहनेवाले तीस लाख भारतीय जापानियोंसे निकटतम सहयोगकी नीति क्यों अपनाते ? आप कुछ व्यक्तियोंको छलसे अथवा बलसे फुसला कर अपना मन चाहा काम करवा सकते हैं; किन्तु समस्त पूर्वी एशियामें फैले हुये तीस लाख भारतीयोंको किसी प्रपंचसे पराभूत करना अचिन्तनीय है ।

यदि यह भारतीय अपना यत्न किये बिना अधिकतम उत्सर्ग किये बिना मात्र जापानी सहायता पर ही निर्भर रहते तो वह भयंकर भूल करनेके अपराधी होते । किन्तु, इसके विपरीत मैं यह कहते हुये अतीव हर्षका अनुभव कर रहा हूं कि मेरे देशवासी जिस मनोयोगसे मानवीय संगठनमें प्रवृत्त हैं, धन एवं सामग्री जुटानेमें उनके द्वारा प्रदर्शित उत्साह भी निश्चय ही श्लाघास्पद है । मुझे देशमें रह कर धन संचय एवं राष्ट्र सेवाके लिये मनुष्योंकी सेवायें प्राप्त करनेका बीस वर्षीय अनुभव है । इस अनुभवके आलोकमें मैं उस त्यागकी उपोदयता एवं मूल्यका उचित मूल्यांकन करनेकी स्थितिमें हूं, जो पूर्वी एशिया स्थित मेरे देशवासी सम्प्रति कर रहे हैं । उनकी उद्यमशीलता असंशोधन भव्य है । उनके यत्नोंकी इसी आदर्श भव्यताके प्रति पूर्ण विश्वस्त होकर मैं जापानसे शस्त्रास्त्र आदि ऐसे युद्धोपकरण जिनका निर्माण हम स्वयं नहीं कर सकते—प्राप्त करनेमें कोई हानि नहीं देखता ।

महात्माजी, अब मैं उस अस्थायी सरकारके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहूंगा जिसकी हमने यहां स्थापना की है । आजाद हिन्दकी इस अस्थायी सरकारको जापान एवं जर्मनके अतिरिक्त सात अन्य मित्र राष्ट्रोंने भी मान्यता प्रदानकी है । इससे भारतीयोंको संसारकी दृष्टिमें एक नया स्तर और नया सम्मान मिला है । इस सरकारका प्रधानोद्देश्य ब्रिटिश राज्यसे सशस्त्र संग्रामके माध्यमसे भारतको मुक्त कराना है । यदि एक बार भारत भूमिसे हमारे शत्रुओंका निष्कासन हो जाये एवं वहां सुव्यवस्था हो तो अस्थायी सरकारकी इतिकर्तव्यता हो जाती है । तदनन्तर यह भारतीय जनताका कार्य होगा कि वह अपने अनुकूल शासनका चयन करे एवं यह निर्णय करे कि शासन सूत्र किसे सौंपा जाये ।

मैं आपको यह विश्वास दिला सकता हूं महात्माजी, कि मैं एवं मेरे अन्य सहयोगी अपनेको भारतीय जनताका सेवक समझते हैं । हम अपने त्याग एवं सेवाओंका एक ही

प्रतिदान चाहते हैं और वह है हमारी मातृभूमिकी स्वतंत्रता। हममेंसे अनेक ऐसे हैं जो भारतके स्वतन्त्र होते ही सेवा निवृत्त होकर राजनैतिक क्षेत्रका परित्याग कर देंगे। शेष व्यक्ति भी स्वतन्त्र भारतमें किसी भी वृत्तिका जिसके वह योग्य माने जायें वरण सहर्ष करेंगे, चाहे वह कितनी ही क्षुद्र हो। हम आज जिस भावनासे अनुप्राणित हैं वह यह है—स्वतन्त्र भारतमें एक भंगीकी वृत्ति भी ब्रिटिश शासनान्तर्गत उच्चतम पदसे अधिक सम्मानपूर्ण है। हम सब यह जानते हैं कि स्वाधीनता प्राप्त होनेके अनन्तर हमारे देशमें लाखों ऐसे स्त्री पुरुष उपलब्ध होंगे जिनके सूक्ष्म करोंमें भारतके भाग्य निर्माणका कार्य निस्संकोच सौंपा जा सकता है।

भारतसे अंतिम ब्रिटिशके निष्कासन पर्यन्त जापानसे ली जानेवाली सहायताका परिमाण भारतमें रहनेवाले व्यक्तियोंसे प्राप्त होनेवाले सहयोग पर निर्भर है। हम पर सहायता थोपनेका जापानका विचार नहीं है। जापानको इसमें प्रसन्नता ही होगी यदि भारतीय ही अपने प्रयत्नोंसे स्वराज्य प्राप्त करें। अपने शत्रुको अन्य शक्तियोंसे सहायता प्राप्त करते देखकर हमने ही जापानसे सहायता ली है, ब्रिटेन और अमरीकाके विरुद्ध युद्धकी घोषणा करनेके उपरान्त। यदि देशवासियोंके आन्तरिक प्रयत्नोंसे अथवा ब्रिटिश सरकार द्वारा आपका 'भारत छोडो' प्रस्ताव स्वीकार करनेके परिणाम स्वरूप हम स्वतन्त्र हो जायें तो किसीको हमसे अधिक प्रसन्नता नहीं होगी। किन्तु हमारे समस्त क्रिया कलाप इस सुनिश्चित धारणा पर आधृत हैं कि इन दोनोंमेंसे किसीकी सम्भावना नहीं है और सशस्त्र संघर्ष अनिवार्य है।

महात्माजी! अब केवल एक और बात शेष है जिसका समाप्त करनेसे पूर्व मुझे उल्लेख करना है और वह है इस युद्धका परिणाम। मैं उस प्रचारसे परिचित हूं जो हमारे विरोधी अपनी विजयकी पूर्ण सम्भावना बताते हुये हमारे विरुद्ध कर रहे हैं। किन्तु मुझे इस बातका पूर्ण विश्वास है कि हमारे देशवासी उनके पाशमें नहीं फंसेंगे और उनकी विजयकी भ्रान्त धारणाके वशीभूत हो उनसे कोई समझौता नहीं करेंगे। जाग्रत नेत्रोंसे युद्धकालमें विश्वके अनेक भागोंके पर्यटनके उपरान्त और भारत बर्मा सीमा पर शत्रुकी आन्तरिक दुर्बलताको देखकर और हमारे उपकरण, शक्ति और साधनोंको ध्यानान्तर्गत कर मैं हमारी अन्तिम विजयमें पूरा विश्वास रखता हूं।

शत्रुकी शक्तिको जानबूझ कर अल्प समझनेवाला मैं कोई मूर्ख नहीं हूं। भली भांति अभिज्ञ हूं मैं उस सुदीर्घ एवं कठोर संघर्षसे जिसका संक्रमण हमें लक्ष्य प्राप्ति तक करना है। ब्रिटिश लोग निश्चय ही भारत भूमि पर अपने आधिपत्यकी रक्षार्थ जी तोड कर युद्ध करेंगे। किन्तु संघर्ष चाहे कितना कठोर और कष्टप्रद हो परिणाम केवल एक ही होसकता है—हमारी अंतिम विजय।

भारतका अंतिम स्वाधीनता संग्राम आरम्भ होचुका है। आजाद हिन्द सेना भारत भूमि पर वीरतासे लडती हुई धीरे-धीरे विश्वास पूर्वक बढ रही है। यह सशस्त्र संघर्ष उस समय तक रहेगा जब तक अंतिम ब्रिटिश देशसे नहीं जाता और तब तक वायसराय भवन पर हमारा तिरंगा झंडा नहीं लहराता। राष्ट्रपिता! भारतीय स्वाधीनताके इस धर्मयुद्धके लिये हम आपके आशीर्वाद और शुभकामनाओंकी याचना करते हैं। ● ● ●

४– अग्निके तीन भ्राता

[डा. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय काशी]

ऋग्वेदमें महर्षि दीर्घतमाका एक प्रसिद्ध सूक्त है, जिसे 'अस्य वामीय' सूक्त कहते हैं। उसके पहले मंत्रमें अग्निके तीन भ्राताओंका उल्लेख है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुः
तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य
अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ ऋ. १।१६४।१

इसका अनुवाद प्रायः इस प्रकार किया जाता है कि 'इस सुन्दर बूढे होताका मंझला भाई बहुत खानेवाला है। तीसरा भाई वह है कि जिसके पीठपर घी है। मैं यहां विश्पतिको देखता हूं, जिसके कि सातपुत्र हैं'। 'ग्रिफिथ' ने अपने अंग्रेजी अनुवादमें इस मंत्रका अनुवाद करते हुए एक टिप्पणीमें लिखा है– कि पहला भाई आदित्य है, दूसरा भाई विद्युत् है, जो अग्निका ही रूप है और तीसरा गार्हपत्य अग्नि है, जिसे प्रत्येक गृहपति घृताहुतिसे प्रदीप्त करता है। सप्तपुत्र यज्ञके सात होता या ऋत्विज हैं।

सायणके अनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है--

'अत्र द्वितीयपादे तच्छब्दश्रुतेः प्रथमपादे प्रतिविशेषणं योग्यक्रियार्थसंबद्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः। योऽयं दिवि द्योतते तस्य (अस्य वामस्य) वननीयस्य संभजनीयस्य आरोग्यार्थिभिः सर्वैः सेवनीयस्य (पलितस्य) पालयितुः प्रकाशवृष्ट्यादिप्रदानेन पालकस्य तथा योऽयं दिवि द्योतते (तस्य) अस्य (होतुः) ह्वातव्यस्य आह्वानार्हस्यादित्यस्य (मध्यमः) मध्यमस्थानः। मध्ये भवो वायुरुच्यते। आदित्याग्नी अपेक्ष्य अस्य मध्यमत्वम्। स च (अश्नः) सर्वत्र व्याप्तः। न हि वायुरहितः कश्चित्प्रदेशोऽस्ति। तादृशः (भ्राता अस्ति) भ्रातृस्थानीयो भवति। यथा लोके भ्राता पितृधनस्य भागं हरति तद्वत्। मध्यस्थानं अन्तरिक्षलोकं हरतीति वा। वृष्ट्यर्थं रश्मिभिराहृतानां भौमानां रसानां हरणाद्वा भ्रातेत्युच्यते। पित्र्येण धनेन स्वार्जितेन वा भर्तव्यः भवतीति भ्राता। मध्यमो वायुरपि वृष्ट्यर्थं रसैः भर्तव्यो भवति। किंच (घृतपृष्ठः) घृतमाहुतिलक्षणं पृष्ठे यस्य तादृशः (भ्राता) तस्य (तृतीयः अस्ति) भवति। त्रयाणां पूरणः तृतीयः। उक्तोभयापेक्षया तृतीयत्वम्। भ्रातृत्वं प्रतिपादितप्रकारेणात्राऽपि द्रष्टव्यम्। रात्रौ सवितुस्तेजोभागस्य हरणात् दिवा स्वकीयतेजसो भागस्य तदर्थमेव भर्तव्यत्वात् वा भ्रातृत्वम्। (अत्र) एषु भ्रातृषु मध्ये पुरोदेशे वा (विश्पतिं) विशां प्रजानां पालयितारं (सप्तपुत्रं) सर्पणरश्मिपुत्रोपेतम्। ऐतिहासिकपक्षे 'अदितिः पुत्रकामा' इति प्रस्तुते मित्रावरुणादिषु अदितिपुत्रेषु अस्य आदित्यस्य सप्तमपुत्रत्वम्। ईदृशं महानुभावमादित्यं (अपश्यम्) अद्राक्षं भावनया आत्मत्वेन साक्षात्करोमीत्यर्थः। 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं' इति श्रुतिः। एवं वा। अस्य वामस्य विश्वस्योद्गरितुः स्रष्टुरित्यर्थः। पलितस्य पालयितुः स्वसृष्टजगत्पालनशीलस्य होतुरादातुः स्वस्मिन् संहर्तुरित्यर्थः। परमेश्वरस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वं श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु प्रसिद्धम्। तस्य तादृशस्य परमेश्वरस्य भ्राता तद्भागहारी तदंशभूतः सूत्रात्मा मध्यमः सर्वत्र मध्ये वर्त्तमानोऽस्ति जगद्धारकत्वेन वर्तते। स च अश्नः व्यापनशीलः। 'वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि। (बृ. उ. ३।७।२) इति श्रुतेः। वक्ष्यमाणविराडपेक्षया वा मध्यमत्वम्। किञ्चास्य परमेश्वरस्य तृतीयो घृतपृष्ठः। घृतमित्युदकनाम। तेन तत्कार्यं शरीरमुच्यते। तदेव पृष्ठं स्पर्शकं वा यस्य स तादृशः। 'पृष्ठं स्पृशतेः' (निरु. ४।३) इति निरुक्तम्। यद्वा प्रदीप्तपृष्ठः। पृष्ठः शब्दः कृत्स्न-

शरीरोपलक्षकः। प्रकाशितशरीराभिमानीत्यर्थः। न त्वयं सूक्ष्मशरीराभिमानिसूत्रात्मवत् स्पर्शनाविषयो भवति। अत्र एषु मध्ये विश्पतिं विशां प्रजानां पतिं। उपलक्षणमेतत्। सर्वस्य पतिमित्यर्थः। ' सर्वस्य पतिः सर्वस्येशानः ' इति श्रुतेः। सप्तपुत्रं सप्तलोकाः पुत्राः यस्य तादृशम्। स्वमायया सृष्टसर्वलोकमित्यर्थः। अपश्यं पश्येयं साक्षात्करोमीत्यर्थः। अयमर्थः। स्वाधीनमायो जगत्कारणभूतः परमेश्वर एकः। तत उत्पन्नौ स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानिनौ द्वौ विराट्सूत्रात्मानौ। तेषु मध्ये द्वयोः साक्षात्कारेण मोक्षाभावात् सृष्ट्यादिकारणं परमेश्वरं ज्ञेयत्वेन प्रसिद्धं श्रवणमननादिसाधनेन साक्षात्करोमीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि अध्यात्मपरतया योजयितुं शक्यम्।,

इसप्रकार सायणके अनुसार ' वाम पलित होता ' आदित्य है। ' वाम ' का अर्थ सुन्दर या सेवनीय और ' पलित ' का अर्थ पालक किया गया है। मध्यमस्थानीय भ्राता वायु है जो सर्वत्र व्याप्त है। वायु आदित्यकी शक्तिमें भाग प्राप्त करनेके कारण भ्राता कहा जाता है, अथवा मध्यमस्थान या अन्तरिक्ष लोकमें रहनेके कारण वायु मध्यम भ्राता कहा जाता है, अथवा वृष्टिके लिए रश्मियों द्वारा जलका आहरण करनेके कारण भी वायु भ्राता कहा जाता है। पितासे अर्जित या स्वयं उपार्जित धनसे जिसका भरण होता है, वह भ्राता कहलाता है। वृष्टिके लिए पृथ्वी स्थानीय रस मध्यस्थानीय वायुको भजते हैं। उसका तीसरा भाई घृतपृष्ठ है, अर्थात् घृतकी आहुति उसके पृष्ठ भाग पर है। वह रात्रिमें सविताके तेजांशको धारण करता है और दिनमें उसे सविताको ही अर्पित कर देता है।

इस कारण ' अग्नि ' को आदित्यका भ्राता भाई कहा है। इन तीन भाइयोंके बीचमें प्रजाओंके पालन करनेवाले तथा सातरश्मियां जिसके सात पुत्र हैं ऐसे आदित्यका मैंने साक्षात्कार किया है। ऐतिहासिकोंके मतमें देवमाता अदितिसे उत्पन्न मित्र, वरुण आदि सात आदित्य ही सात पुत्र हैं। इस प्रकार महान् अनुभाववाले आदित्य देवताका मैंने अपनी आत्माके रूपमें अनुभव किया है। जैसे कि श्रुतिमें कहा है। अथवा वामका अर्थ है सृष्टिकी उत्पत्ति या उद्गिरण करनेवाला। पलितका अर्थ जगत्की स्थिति या पालन करनेवाला। देवता और होता का अर्थ है सृष्टिका संहारक देव। ये तीन शब्द विश्वका निर्माण, पालन व संहार करनेवाले परमेश्वरकी ओर संकेत करते हैं।

जैसा कि श्रुतिस्मृति तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। ऐसे परमेश्वरका भ्राता या उसके अंशको प्राप्त करनेवाला जीव रूप सूत्रात्मा मध्यस्थानीय वायु है। जो परमेश्वर और जगत् के बीचमें है। वह व्यापनशील है। जैसे कहा भी है- ' हे गौतम! वायु रूपी सूत्रके आधारसे यह लोक, परलोक और सब प्राणी ठहरे हुए हैं। अथवा विराट्की तुलनामें यह जीव मध्यम है। परमेश्वरका तीसरा भाई घृतपृष्ठ है। घृत पानीको कहते हैं। उससे शरीरका बोध होता है, वह शरीर ही जिसका पृष्ठ या जिसका स्पर्श करनेवाला है वह परमेश्वर घृतपृष्ठ है। अथवा पृष्ठका अर्थ शरीर और घृतका अर्थ प्रकाश है। वह ईश्वर प्रत्यक्ष शरीरका अभिमानी देवता है। सूक्ष्मशरीरका अभिमानी देवता सूत्रात्मा है। विश्पतिका अर्थ प्रजापति है। वही ' सर्वपति ' या सबका ईश्वर है। सप्तलोक ही प्रजापतिके सप्तपुत्र हैं। अपनी मायाके द्वारा वह समस्त लोकसृष्टिके रूपमें विद्यमान है।

' अपश्यं ' का अर्थ साक्षात्करना है। इस मंत्रका तात्पर्य यह है कि मायाका अधिपति विश्वका कारण परमेश्वर एक है, उससे ही स्थूल विश्व या शरीरका अभिमानी विराट् और सूक्ष्म विश्व या शरीरका अभिमानी सूत्रात्मा उत्पन्न होते हैं। इन तीनोंमें केवल विराट् या सूत्रात्माके साक्षात्कारसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, अतः तीसरा परमेश्वर ही साक्षात्कारके योग्य है। इसी अध्यात्मकी दृष्टिसे इस सूक्तके अन्य मंत्रोंका अर्थ भी समझना चाहिए।

सायणने इस मंत्रका दो प्रकारसे अर्थ किया है, एक आदित्य, वायु और अग्नि नामक देवताओंको भ्राता मानकर आधिदैवत अर्थ है। दूसरा अर्थ आध्यात्मिक है। वैदिक यज्ञविद्या एवं लोकविद्याके 'अनुसार विराट्का भौतिक जगत् और सूक्ष्म सूत्रात्मा प्राणका सूक्ष्म जगत् ये दोनों ईश्वरकी मायासे आविर्भूत होते हैं। इनसे मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय केवल ईश्वरका साक्षात्कार ही है। सायणका यह अर्थ भी ब्रह्मवाद पर आधारित है।

*

इस मंत्रका अर्थ यास्काचार्यने भी निरुक्तमें किया है, जिसका अन्तर्भाव सायणके पहले अर्थमें होजाता है—

अस्य वामस्य वननीयस्य पलितस्य पालयितुर्होतुः ह्वातव्यस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नो भ्राता भरतेर्हरति कर्मणो भरतेर्भागं भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो यस्यायमग्निस्तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिं सप्त पुत्रं सप्तम पुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृप्ता संख्या सप्त आदित्यरश्मयः इति वदन्ति। (निरु. ४।२६)

दुर्गाचार्यने अपने निरुक्त भाष्यमें यह माना है कि यास्क भी अग्नि, वायु और आदित्यको तीन भ्राता मानते हैं। श्री गैल्डनरने 'अस्य वामीयसूक्त' को 'ब्रह्मोद्य' कहा है। इसका आशय यह है कि इसके अधिकांश मंत्र पहेली या बुझौवलके रूपमें हैं और उनमें जानबूझकर रहस्यात्मक शैली और परिभाषाओंका प्रयोग किया है। बहुत अंशमें यह बात ठीक है। डॉ. कुन्हन राजाने इस सूक्तका एक संस्करण प्रकाशित किया है। इनका भी मत है कि यह सारा सूक्त ही प्रहेलिकाओंसे भरा हुआ है, जिनके अर्थ धुंधले पड गये हैं और जिनकी कुंजियां खो गई हैं। यद्यपि ऋषि दीर्घतमाके इस सूक्तके कथनकी शैली गंभीर है, फिर भी यह माननेका पर्याप्त कारण नहीं है, कि मंत्रोंके अर्थोंका उद्घाटन नहीं हो सकता या ऋषिने जानबूझकर मंत्रको क्लिष्ट बनाया है। वस्तुतः समस्त ऋग्वेद सृष्टिविद्यासंबन्धी अनेक विशिष्टविद्याओंका संग्रह है। उन्हीं विद्याओंका संकेतरूपमें या कुछ विशदरूपमें इस सूक्तमें उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणके लिए प्रथम मंत्रमें 'अग्निके तीन भ्राताओंकी विद्या' है। पंचम मंत्रमें 'सप्त तन्तु विद्या' है। जिसका सम्बन्ध सूर्य, संवत्सर और यज्ञसे है। छठे मन्त्रमें 'अव्यय,' 'अज' एवं उस पर आधृत छै रजोंकी विद्या है। सातवें, आठवें और नौवें मंत्रमें 'गोविद्या' एवं 'मातृविद्या' के अनेक सूत्र हैं।

मंत्र दसमें भी एक 'अविचाली ऊर्ध्वतत्व' की तथा उस पर आश्रित मातापिताओंके तीन युग्मोंकी विद्या है। मंत्र ११, १२, १३, १४ में 'चक्र विद्या' है, जिसे द्वादशार, षडर और पंचार कहा गया है। १५ वें मंत्रमें 'सप्त साकंज' 'प्राण विद्या' और मंत्र १६ में 'स्त्री पुमान् विद्या' है। मंत्र १७, १८, १९ में 'परार्ध, अवरार्ध या परावर विद्या' का वर्णन है। मंत्र २०, २१, २२ में 'सुपर्ण विद्या' है। मंत्र २३, २४, २५ में 'त्रिसुपर्ण विद्या' अथवा 'तीन छन्दोंकी विद्या' है। मंत्र २६ में 'घर्म-विद्या' और २७, २८, २९ में 'गो विद्या' है। मंत्र ३० में 'जीवविद्या' है, जिसे अमृत और मर्त्यका संयोग कहा है। मंत्र ३१ में 'गोपा विद्या' है। ३२, ३३ में 'मातृ-पितृविद्या' या 'योनि विद्या' है। मंत्र ३४, ३५ में ब्रह्मोद्यके प्रश्नोत्तर शैली द्वारा 'यज्ञविद्या' के कई सूत्रोंका वर्णन है। मंत्र ३६ में 'सप्तार्ध गर्भविद्या' है। जिससे भुवनका रेतस् तत्व निर्मित हुआ है। ३७ में 'ऋतस्य प्रथमजा वाक्' विद्या है। ३८ में 'मर्त्यामृतसयोनि' विद्या है, जिसका मंत्र ३० में उल्लेख आचुका है। मंत्र ३९ में 'अक्षर' विद्या है। मंत्र ४० में 'भगवती अघ्न्या गौ' विद्या है। ४२ में 'क्षराक्षर' विद्या है। ४३ में 'उक्षापृश्नि' विद्या है। मंत्र ४४ में 'त्रयः केशिनः' विद्या है। ४५ में 'चतुष्पदी वाक्' विद्या है। ४६ में 'एकं सत् बहुधा' विद्या है। ४७ में वरुणके 'आपो कोक' या 'ऋत सदनकी कृष्णनियान' विद्या है। मंत्र ४८में 'संवत्सर चक्र' विद्या है। ४९में 'सरस्वतीकी अमृत-पोषण' विद्या है। मंत्र ५० में 'यज्ञद्वय' विद्या है। मंत्र ५१ में 'पर्जन्य विद्या' है। मंत्र ५२ में 'दिव्यसुपर्ण' या 'बृहद् वायस' विद्या है।

इस प्रकार 'अस्य वामीयसूक्त' के ५२ मंत्रोंमें दीर्घतमा ऋषिने ऋग्वेदकी अनेक विद्याओंका सूत्र रूपसे संकलन करते हुए उनके विषयमें कितनी ही नवीन व मार्मिक व्याख्यायें दी हैं। दीर्घतमाका यह प्रवाचन संक्षिप्त और सारगर्भित होते हुए भी कितने ही नये तत्वोंकी ओर हमारा ध्यान दिलाता है। यदि हमें इन विद्याओंमें रुचि हो और ऋग्वेदमें अन्यत्र भी हम इनका अन्वेषण करें, तो हम संभवतः 'अस्य वामीयसूक्त' के पूरे महत्व तथा सृष्टि विद्यापरक संगतिका अनुभव कर सकेंगे। यह सूक्त पूर्व समयसे ही शीर्षप्रहेलिका माना जाता रहा है, किन्तु इसके रचयिताने जिस ऊंचे धरातलसे सृष्टिके मूलभूत तत्वोंका परिगणन चाहा था, वहां तक ऊंचे उठकर सोचा जाए, तो सूक्तिके अर्थ बहुधा प्रसन्न हो उठते हैं। अकेले 'अस्य-वामीय' सूक्तको ऋग्वेदीय विद्याओंकी अनुक्रमणिका कहा

जा सकता है। ऋग्वेदकी पारिभाषिक शब्दावलि की सहायतासे 'अस्य वामीय' के मंत्रोंपर पूरा भाष्य रचनेकी आवश्यकता है।

सायणके अतिरिक्त इस सूक्त पर आत्मानन्द (१३ वीं शती) की टीका भी मिलती है। ये भाष्यकार सायणके पूर्ववर्त्ती हैं। इस टीकाका प्रकाशन पहले लाहौरसे हुआ था, पुनः डॉ. कुन्हनराजाने किया। इसमें प्रथम मंत्रका भाष्य इस प्रकार है—

"अस्य वामस्य इत्यस्यां ऋचि अवस्थात्रयोक्तिपूर्वं आत्मा उच्यते चित्स्वरूपः। अस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणस्यापरोक्षस्य। वामस्य कुब्जस्य शरीरेण परिच्छिन्नस्य व्यापकस्य वा। यो होता उद्गाता विचारकः तस्य होतुः। जाग्रदवस्थायां नाम्ना विश्वस्य प्रथमस्य भ्रातुः द्वितीयो मध्यमः अस्ति भवति। मध्ये स्वप्ने भवतीति मध्यमः। नाम्नो तैजसः। अश्नः। मेघस्य गिरेर्वा नामैतत्। तेजसो हि मेघसदृशः निद्रया तिरोहिततेजस्त्वात्। स्वप्नाख्यगन्धर्वनगराधिष्ठातृत्वाच्च। गिरिवदाश्चर्यविषयः। तदुक्तम्—

भ्रात्रो विश्वस्तैजसोऽद्रिश्चान्तिमः प्राज्ञ ईरितः।
तुरीयं श्वेतमत्राहुः सर्वानुस्यूतमद्वयम्॥

इति। अस्य होतुस्तृतीयो भ्राता सुषुप्तो नाम्ना प्राज्ञो घृतपृष्ठः। घृतौ क्षरितौ लीनौ पृष्ठौ परिभवौ बाह्यप्रदेशसमौ जागरस्वप्नौ यस्मिन्स घृतपृष्ठः प्राज्ञः। घृ क्षरणदीप्त्योः। अत्र विश्वादिषु त्रिषु विश्पतिं विश्वतैजसप्राज्ञानां पतिं पालारं स्वचैतन्यदानेन रक्षकं तुरीयम्। सप्तपुत्रम्। सप्त महदादयो जगत्प्रकृतयः पुत्राः कार्यभूताः विकृतयो यस्य स तथा। अपश्यं दृष्टवानस्मि।

महा माहात्म्ययोगाद्दीर्घतमा अपरोक्षं परोक्षं च तत्तदात्मैवं भूत्वा वक्ति जगदनुग्रहार्थम्। प्रथमं-अस्य इति पदं अन्तोदात्तम्। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' इति तृतीयादिविभक्तिरुदात्ता। द्वितीयं-अस्य इति पदं अनुदात्तम्। 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' इत्यनुदात्तत्वान्नान्तोदात्तं शास्त्रमस्ति।'

"इसमें आत्मानन्दने तीन भाइयोंको चित्स्वरूपक आत्माकी तीन अवस्थायें माना है, जिनके नाम वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ हैं। एवं इन तीनोंसे ऊपर चौथी अवस्था तुरीय कहलाती है। जो वामपलित है वही कुब्ज या प्रत्यक्ष शरीर है, वही भूतात्मा है, जो पृथिव्यादि पंचभूतोंसे निर्मित होनेके कारण वाम अर्थात् कुब्ज या प्रत्यक्ष है, अर्थात् जो प्राण रूपमें विराट् है वही शरीर रूपमें वामन या कुब्ज हो जाता है। होता का अर्थ विचारक अर्थात् जाग्रत अवस्थामें रहते हुए मन या बुद्धि द्वारा विचार करनेवाला है। यही वैश्वानर नामका पहला भाई है। इसका दूसरा भाई मध्यम अर्थात् स्वप्नावस्थावाला है, जिसे तैजस् कहते हैं। अश्नका अर्थ है मेघ या पर्वत। जो तैजस् है वह स्वप्नस्थानीय होनेके कारण मेघके समान प्रकाशको तिरोहित करता है। अथवा पर्वतके समान आश्चर्यका विषय है। जैसे कि कहा है कि वैश्वानर भ्राम और तैजस् अद्रि है। इसका तीसरा भाई वही है. जिसे सुषुप्त या प्राज्ञ कहते हैं। इसे घृतपृष्ठ कहा गया है, क्योंकि पृष्ठ अर्थात् बाह्य स्थानके रहनेवाले जागरित और स्वप्न इसमें घृत या लीन रहते हैं। इनमें चौथा तुरीय ही 'विश्पति' है। क्योंकि वह तीनोंका पति या पालक है। उसे सप्त पुत्र, इसलिए कहा जाता है, कि मध्यमादि सप्त, जिनसे जगत् बना है, उसी तुरीयके पुत्र या विकृति हैं। ऐसे ही तुरीय चैतन्यात्माका मैंने साक्षात्कार किया है।'

वस्तुतः आत्मानन्दका जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिपरक अर्थ और सायणका अग्नि, वायु, आदित्यपरक अर्थ दोनों ही ग्राह्य हैं। वैदिक सृष्टिविद्याके अनुसार एक ही परात्पर ब्रह्मतत्व चतुष्पादके रूपमें अपने एक अंशसे अमृत और अनिरुक्त बना रहता है, और तीन भागोंसे इस त्रेधा विश्वका निर्माण करता है। वैदिक त्रिकवाद ही अग्निके तीन भ्राताओंके रूपमें यहां अभीष्ट है। अग्नि ही प्रजापति है। जिस प्रकार एक ही अग्नि यज्ञके लिए त्रेधा विभक्त हो जाता है, इसीप्रकार एक अनिरुक्त अमूर्त प्रजापति त्रिगुणात्मक विश्वके रूपमें मूर्त या प्रकट हो रहा है। यद्यपि यास्कने अपनी व्याख्यामें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा है, किन्तु दुर्गाचार्यने अपनी टीकामें लिखा है। यास्कके मतमें भी अग्नि, वायु, और आदित्य ही तीन भ्राता हैं। ये तीनों ही वैदिक त्रिकके मूल हैं। इन तीनोंकी नाम गणनाके बाद

फिर और तो दूसरे त्रिकोंकी व्याख्या ही शेष रह जाती है। अग्नि, वायु और आदित्य ये तीन संचालक प्राण हैं। ये तीन देव तीन लोकोंके अधिपति हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार अग्नि पुरोहित है और पृथ्वीलोक उसका पुरोधा है। वायु पुरोहित है और अन्तरिक्ष लोक उसका पुरोधा है, इसी प्रकार आदित्य पुरोहित और द्युलोक उसका पुरोधा है—

अग्निर्वाव पुरोहितः पृथिवी पुरोधाता ।
वायुर्वाव पुरोहितः अन्तरिक्षं पुरोधाता ।
आदित्यो वाव पुरोहितः द्यौः पुरोधाता ।
(ऐत. ब्रा. ८।२७)

पुरोहितका शब्दार्थ है प्रत्यक्षरूपसे आया हुआ प्राण अर्थात् वह अध्यात्मप्राण जो भौतिक शरीरमें प्रकट होता है। शतपथके अनुसार प्राणसे बढकर सब भूतोंका और कोई हितकारी नहीं है। अतएव प्राणोंका ही नाम हित है—

प्राणो वै हितं प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः॥
(शत. ब्रा. ६।१।२।१४)

अत एव तीन लोक और तीन देव एक दूसरेसे अभिन्न हैं। तीन देवता अथवा तीन संचालक प्राणोंको ही वैदिक भाषामें नर कहा जाता था। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ रूपी तीन विषयोंके तीन नरों या प्राणोंकी जो समष्टि है, उसीकी वैदिक संज्ञा वैश्वानर थी—

स यः स वैश्वानरः। इमे स लोका। इयमेव पृथिवी विश्वं अग्निर्नरो, अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरो, द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः॥
(शतपथ ब्रा. ९।३।१।३)

मंत्रार्थ करते हुए कई प्रश्न होते हैं; जैसे पहले भाईको वाम और पलित एक साथ ही क्यों कहा गया है? वामका अर्थ है सुन्दर और पलितका अर्थ है वृद्ध। इन दोनोंका पहले भाईमें कैसे समन्वय है? अश्नका अर्थ है बहुत खानेवाला। मंझला भाई कौन है? उसे भक्षणशील क्यों कहा गया है? तीसरा भाई कौन है? उसके सम्बन्धमें घृतपृष्ठका ठीक अर्थ क्या है? विश्पति कौन है, उसे सप्तपुत्र क्यों कहा गया है? वे सात पुत्र कौनसे हैं? सायणने 'तस्य' के साथ 'यस्य' का अध्याहार किया है। किन्तु प्रश्नको उठाकर उसका समाधान नहीं किया। पलित शब्दका अर्थ सायणने 'पालयिता' किया है। क्या वह उचित है? मंत्रोंमें ऋषियोंकी यह शैली होती है, कि शब्दका जो प्रतीत अर्थ है उसे स्वीकार करते हुए वे अपने अभिप्रायकी व्यंजना करते हैं। ऐसा ही वाम, पलित, अश्न, घृतपृष्ठ, विश्पति, सप्त पुत्र आदि शब्दोंके विषयमें यहां है।

इस मंत्रमें अग्नि और उसके तीन भ्राताओंका वर्णन है। अग्नि ही विश्पति है, वही सप्त पुत्र है। अग्नि यहां प्राण तत्व है, जो हरएकके भीतर विद्यमान है। विश्का अर्थ प्रजा है—

आद्या हीमाः प्रजा विशः। (शत. ब्रा. ४।२।१।१७)

विश्पति प्रजापति है। वह प्रजापति अग्नि है—

अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः।
(शत. ब्रा. २।५।१।८; ३।९।१।६)

एष वै प्रजापतिः। यदग्निः। (शत. ब्रा. ११।१।५।५)

प्रजापतिरेषोऽग्निः। (शत. ब्रा. ६।५।३।७;६।८।१।४)

प्रजापतिर्वाऽअग्निः। (शत. ब्रा. २।३।३।१८)

प्रजापतिरग्निः। (शत. ६।२।१।२३;१०।६।५।३)

यदि अग्निको मध्य प्राण कहें तो अवान्तरप्राण उसकी प्रजा हैं। इस दृष्टिसे अग्नि प्रजापति या विश्पति है। वसु, रुद्र, आदित्य ये तीन गण देवता भी प्राणोंके ही भेद हैं, और इन सबका अधिष्ठाता तत्त्व वह अग्नि है। जिसे नृषद अर्थात् प्रत्येक मनुष्यमें रहनेवाला उसका संचालक प्राण कहते हैं—

प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतदाह। (शत. ब्रा. ६।७।३।११)

प्राणो वै नृषद्। (शत. ब्रा. ९।२।१।८)

प्रत्येक मनुष्य या प्रजा या विशमें रहनेवाला और उनका शास्ता, स्वामी या पति कौन है? इस प्रश्नका उत्तर है कि वैश्वानर अग्नि राजा है। वही अधिपति प्रजापति है, जिसके शासनमें समस्त भुवन हैं—

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदं अन्नं पच्यते, यदिदमद्यते, तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैतं घोषं शृणोति। (बृ. उ. ५।९।१)

इसी तत्वका स्पष्ट उल्लेख गीतामें भी है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
(गी. १५।१४)

वैश्वानर शब्दमें जिन तीन नरोंका उल्लेख है, वे ही अग्नि

के तीन भ्राता हैं। भ्राता उन्हें कहते हैं, कि जिनमें एक ही पिताकी शक्ति समान रूपसे आविर्भूत होती है। प्रत्येक भाईके लिए पिताका सर्वहुत यज्ञ समान होता है। यही भ्राताओंकी सयोनिता और सबन्धुता है। समान माता-पितासे भ्राताओंका जन्म होता है। माता और पिता दोनों के प्रजनन कर्मसे भ्रातृत्व अस्तित्वमें आता है। द्युलोक और पृथ्वीलोक सबके मातापिता हैं। वे पृथक् होते हुए भी एक दूसरेसे अविनाभूत हैं। दोनोंकी पुत्रकृथ योनियां मिलकर समानभाव उत्पन्न करती हैं।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र
बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः
अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ ऋ. १।१६४।३३

प्रत्येक पुरुषके भीतर जो वैश्वानर है वह प्राणाग्निकी ज्योति है। प्राण और अपान दोनोंके घर्षणसे वह ज्योति या रोचना उत्पन्न होती है और शरीरकी सीमामें नित्य संचरण करती है। विराट् विश्वमें जो अमृत और अनन्त सूर्य है, वह भी त्रयी विद्या और वैश्वानरका रूप है। वह अनादि अनन्त ब्रह्मके विज्ञानका ही प्रतीक है।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः। (यजु. २३। १)

उसी महदात्मा विज्ञानकी एक-एक रश्मि वह संज्ञा या चेतना है, जो प्रत्येक व्यक्ति, मनुष्य, प्रजा या जीवन केन्द्रमें अभिव्यक्त होती है। प्राण और अपान ही उसके प्रत्यक्ष हैं और इन दोनोंका मध्यवर्ती ध्रुव आधार व्यान है, जिस पर ये दोनों आश्रित हैं—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते॥

जो वामन है, वही व्यान है, वह प्राण और अपान दोनोंकी प्रतिष्ठा है। वामन ही यहां मंत्रमें वाम कहा गया है। सायणने वामका अर्थ जो कुछ किया है, वह तत्व दृष्टिसे ठीक ही है।

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ (ऋ. १०।१७९।२)

मध्यरूपी प्राण वामन ही प्रजा या सामान्य प्राणोंके रूपमें विराट् भाव धारण करता है। उसीसे प्रत्येक शरीरकी रचना होती है। द्युलोक और पृथ्वी अर्थात् अमृत और मर्त्य अथवा अध्यात्म और भूत इन दोनोंकी जितनी शक्तियां हैं, इन सबका सम्राट् वैश्वानर है—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम
राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे
वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ (ऋ. १।९८।१)

वैश्वानर साभिप्राय संज्ञा है। जैसा कि ऊपर शतपथकी व्याख्यासे स्पष्ट किया जा चुका है। तीन नरोंकी समष्टि या साथ रहनेसे वैश्वानरका स्वरूप बनता है। तीन नर अग्नि, वायु, आदित्य हैं। तीन लोक पृथ्वी, अन्तरिक्ष और और द्यौ हैं। तीन प्राण प्राण, अपान और व्यान हैं। तीन छन्द गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती हैं। वे ही त्रिसुपर्ण भी कहे जाते हैं। इन्हींके द्वारा स्वर्ग या अमृतलोकसे सोमका आहरण किया जाता है। विराट् पारमेष्ठ्य अमृत मधु या चैतन्य ही सोम है, गायत्री जिसे त्रिष्टुप् और जगतीके साथ मिलकर पार्थिव भूतलके धरातल पर लाती है। यही प्राणका भूतमें प्रकट होना है। जगती मनस्तत्व है। त्रिष्टुप् प्राणतत्व है और गायत्री वाक् या भूततत्व है। केवल मनस् और केवल प्राण रूपी सुपर्णोंकी शक्तिसे सोम या अमृत मर्त्यमें प्रकट नहीं हो सकता। अमृतको भौतिक धरातल पर लानेके लिए गायत्री या वाक् या भूतका प्रयत्न भी आवश्यक है। अत एव गायत्री द्वारा ही पृथ्वी पर सोम लाया जाता है। अथर्ववेदमें 'त्रयः सुपर्णाः' का स्पष्ट उल्लेख है—

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्
एकाक्षरमभिसंभूय शक्राः। (अथर्व ५।२८।८)
त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू
नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा
इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥ (अथर्व १८।४।४)

तथ्य यह है कि जहां भी त्रिकका अस्तित्व है, वहीं वैश्वानरकी सत्ता है, अथवा यों कहा जा सकता है, कि वैश्वानरके साथ त्रिकका अभिन्न सम्बन्ध है। वेदोंकी वैश्वानरविद्या प्राणाग्निविद्याका ही दूसरा नाम है। वस्तुतः यह सृष्टि विश्वनरों या तीन पुरुषोंका समाहार है। एक पुरुष क्षर है, दूसरा अक्षर, तीसरा अज या अव्यय है। क्षर पंचभूतोंकी संज्ञा है। इन्हीं पंचभूतोंको वाक् भी कहते हैं। पंचभूतोंमें आकाश सबसे सूक्ष्म है और आकाशका गुण शब्द या वाक् है। अतः वाक्से भूतमात्रका ग्रहण होता है। दूसरा पुरुष अक्षर है, जो प्राणका पर्याय है।

प्राण ही भूतोंकी विधृति है। अत एव भूतोंके कूट या ढेर पर रहनेवाले कूटस्थ प्राणको अक्षर कहा गया है। गीतामें यह परिभाषा और भी स्पष्ट हो जाती है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ गीता

तीसरा पुरुष गीताके अनुसार अव्यय है, वही अज भी कहा जाता है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। गीता

ये ही तीन पुरुष सृष्टिके मूल कारण हैं। ये ही दर्शनोंमें सत्व, रज, तम नामक तीन गुण और पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश या शिव कहे जाते हैं। त्रिगुण और त्रिदेव एक दूसरेसे अभिन्न हैं। इन्हीं तीनोंको शरीरकी तीन प्राणाग्नियां या वैध यज्ञकी तीन अग्नियां कहा जाता है। भूत, प्राण, और मन इन्हीं तीन अग्नियोंके समिन्धनसे यह अध्यात्मयज्ञ या शरीरयज्ञ प्रवृत्त हो रहा है। जीवन या प्राण ही वैश्वानर अग्नि है। इसकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की जा सकती है। किन्तु प्रस्तुत मंत्रमें ऋषि दीर्घतमाने जीवनतत्वके तीन विशेष लक्षणोंकी ओर हमारा ध्यान दिलाया है। जहां भी प्राण या जीवनकी सत्ता है, उस केन्द्रमें ये तीनों अवश्य रहते हैं। इन्हें तीन नियमोंके रूपमें समझा जा सकता है। जीवनका पहला लक्षण वृद्धि है, दूसरा अशन या अन्न ग्रहण और तीसरा प्रजनन। जहां भी भूत प्राणका संयोग होता है, वहां शारीरिक वृद्धि अवश्यम्भावी होती है। वृद्धिका अर्थ है छोटेसे बडा होना। प्रतिक्षण शरीरमें भूतोंका कूट बदलता रहता है। वृद्धिके नियममें एक पक्षका छोटा और दूसरेका बडा होना आवश्यक है। पहलेको बालक और दूसरेको वृद्ध कहा जाता है। एकको वामन और दूसरेको विराट् भी कहा जा सकता है। जो वामन है, वही विराट् रूपमें आता है—

वामनो ह विष्णुरास। (शत. ब्रा. १।२।५।५)

स हि वैष्णवो यमद्वामनः (श. ब्रा. ५।२।५।४)

अर्थात् जो वामन जान पडता था, वह वस्तुतः विष्णु ही था। वामन ही विराट् बनता है। वामन जब महिमाभावसे युक्त होता है, तब विराट् भावमें आता है। माता पिताके शोणित-शुक्र संयोगसे जो गर्भित भ्रूण बनता है, वह वामनका रूप है। वही क्रमशः बढता हुआ पूरा शरीर बन जाता है। प्रत्येक क्षणमें वृद्धिका यह क्रम चालू है। वामनको विष्णु रूपमें लानेका हेतु गति है, जो देश और कालमें प्रकट होती है। तीन लोक और तीन काल यही विष्णुके तीन चरण हैं। ऋग्वेदमें वामन और विराट्की कल्पनाको क्रमशः युवाकुमार और बृहद् शरीर भी कहा गया। जो वामन है, वही युवाकुमार या बटु रूपधारी है। युवा वाम या सुन्दर होता है। ऋग्वेदमें वामन और विष्णुके इस पारस्परिक सम्बन्धको गणितकी भाषामें बहुत ही सुन्दर ढंगसे कहा गया है—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः
चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिः
युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्॥ (ऋ. १।१५५।६)

यह जीवन या प्राण युवाकुमार है। उसका विमान या सुनमापन होता है। किस क्रमसे और किस रूपमें वृद्धि होगी, इसका निश्चय गर्भके समयमें ही हो जाता है। मूल भूत युवाकुमार वृद्धिके द्वारा बृहत् शरीर धारण कर लेता है। उस कुमार या वामनके पास एक चक्र है। यह वृत्त चक्र चार नवतियोंसे बना है अर्थात् इसके ३६० भाग होते हैं। प्रत्येक भाग या अंश गतिशील है। जहां गति है, वहीं अश्वतत्व रहता है। सरल शब्दोंमें गति ही अश्व या अश्व ही गति है। अतएव चार नवति या समकोण रूपी नमनसे वृत्तचक्र बनता है, वही काल चक्र है। जिसमें तीनसौ साठ अश्वोंका वेपन या कम्पन हो रहा है। इसीसे संवत्सर चक्रका स्वरूप बनता है। प्रत्येक अहोरात्र एक एक अश्व है। उन्हें युवाकुमार अपने चारों ओर परिकल्पित करता है। वही चक्र वामनके पास है और वही विराट् विष्णुके। इसका आशय स्पष्ट है अर्थात् वृत्तका जो केन्द्र है, उसमें भी तीनसौ साठ अंश हैं और जो परिधि है, उसमें भी चार समकोण या तीन सौ साठ अंश हैं। केन्द्र ही गतिके प्रभावसे महिमाभावको प्राप्त होता है। वामन और विराट्, केन्द्र और परिधि, बिन्दु और मण्डल, अणु और महान् इन द्वन्द्वोंमें यद्यपि परस्पर महान् भेद दिखाई देता है, किन्तु तत्वतः दोनों एक हैं। दोनोंका अन्तर वृद्धि या महिमा भाव पर ही है। उन्हीं

की ओर यहां वाम और पलित इन दो शब्दोंसे संकेत किया है। जो वाम है, वह सुन्दर है, युवा है। वह कुमार है, जो बार बार नये नये रूपमें जन्म लेता है। उसीके लिए कहा है—

नवो नवो भवति जायमानः।

प्रत्येक बालक प्राणका वही नूतन रूप है, जो देश और कालके सांचेमें ढलकर बहुधारूपमें आता है और फिर चला जाता है। जो वाम है, वही वामन, बटुक, कुमार या प्राणका नया नया अवतार है, इसके विपरीत अखण्ड, चैतन्य, अनादि, अनन्त प्राणतत्व सदा अविचल है। वह मार्कण्डेय या लोमशके समान सहस्रायु है, वही पलित है। जिसके एक एक लोममें प्रजापति ब्रह्माकी एक एक आयु निहित है। वह कभी मरता नहीं। पृथ्वी और आकाशके विशाल अन्तरालमें स्थाणु वृक्षके समान स्तब्ध और ऊर्ध्व है। जितना इस विश्वरूपी अश्वत्थका विस्तार है, उतना ही पलित, प्रजापति या ब्रह्मका है। वह सबका पिता और पालक है।

इसप्रकार प्राणाग्निके दो रूप हैं। एक देश कालमें जन्म लेनेवाला बालक है और दूसरा वह जो देशकालसे अतीत है, पर ध्रुव सत्तावान् है, वही पलित है। बाल और वृद्ध दोनों एक ही तत्वके दो पक्ष हैं। उसे 'उभयतः शीर्ष्ण' कहा जाए तो उपयुक्त होगा, जिसका एक सिर कुमारका तथा दूसरा वृद्धका है। वृद्धि या महिमा भाव दोनोंका नियामक स्पन्दन है। यही अग्निका पहला भ्राता है।

यहां सायणने 'तस्य' के अन्वयके लिए 'यस्य' का अध्याहार किया है। पर 'तस्य' के लिए प्रयुक्त यह 'यस्य' कौन है, इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। वस्तुतः यहां 'यस्य' के अध्याहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'अस्य' और 'तस्य' ही पर्याप्त हैं। 'अस्य' का संबन्ध वामसे और 'तस्य' का सम्बन्ध पलितसे है। दोनों ही अग्नि रूप होता के लिए हैं। जो वाम या कुमार या प्रत्यक्ष है उसके लिए 'अस्य' है और जो पलित या परोक्ष है उसके लिए 'तस्य' है। 'अस्य वामस्य' और 'तस्य पलितस्य' यही अन्वय अर्थकी दृष्टिसे समीचीन है। वैदिक शैलीमें प्रत्यक्षके लिए 'यह' और परोक्षके लिए 'वह' प्रयुक्त होता है।

जीवनका दूसरा लक्षण 'अन्न ग्रहण' है। जहां भूतमें प्राणकी सत्ता है, वहां अन्न और अन्नादका नियम अनिवार्य है। इसे ही ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य भी कहते हैं। (Assimilation, Allimination)। प्राण या अग्नि अन्नाद है। वह शक्तिरूप है, उसे जीवित रखनेके लिए अन्न या ईंधन चाहिए। उसका अन्न सोम है। फल, शाक, धान्य, दुग्ध आदि समस्त अन्न सोमके रूप हैं। इसी सोमको खाकर अग्नि जीवित रहती है। अत एव प्राणाग्निका जो दूसरा भाई है, उसे 'अश्नः' कहा गया है। बहुत खानेवाला उसका यही लक्षण है। जन्मसे मृत्यु पर्यन्त यह क्रम चलता रहता है। अग्नि बाहरसे अन्न लेती है और उसे अपनी शक्तिसे पचाकर अपने लिए बल उत्पन्न करती है। स्थूल अन्नसे सूक्ष्मशक्तिका निर्माण शरीरके भीतर अनेक यंत्रोंके विचित्र रासायनिक प्रक्रियाओंसे होता है। चींटीसे लेकर हाथीतक सबके शरीरोंका यही नियम है। वृक्ष वनस्पतियोंमें भी प्राणाग्नि है। वे भी अन्न और जल लेकर ही जीवित रहते हैं। स्थूल अन्नको इष और शक्तिको ऊर्ज कहा है—

इषे त्वा ऊर्जे त्वा। (यजु. १।१)

यही प्राणियोंके जीवनका पूर्ण सत्य है। अन्न खाना और उससे शक्ति उत्पन्न करना, यही प्रकृतिसिद्ध यज्ञ प्राणीशरीरका अनिवार्य धर्म है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम बाहरसे जो अन्न लेते हैं, उसे पचाकर शक्तिके रूपमें परिवर्त्तित करते हैं और उस अन्नका एक अंश उच्छिष्ट या व्यक्त भागके रूपमें शरीरसे बाहर फेंकते हैं। इसे 'प्रवर्ग्य' भी कहा जाता है। अन्नका जो अंश शरीरकी अग्नि शक्ति और शरीर संवर्धनके लिए अपने ही केन्द्रमें आत्मसात कर लेती है, उसे 'ब्रह्मौदन' कहा जाता है। वैश्वानर अग्नि ही शरीरस्थ ब्रह्म है। इसका जो ओदन, भात या अन्न है, वही 'ब्रह्मौदन' है। ब्रह्मौदन अन्नादका रूप है। जहां ब्रह्मौदन है, वहां प्रवर्ग्य अवश्य रहता है। प्राणीकेन्द्रसे प्रवृत्त अर्थात् अलग किए भागको 'प्रवर्ग्य' कहते हैं।

वस्तुतः यह समस्त विश्व ब्रह्मका उच्छिष्ट प्रवर्ग्य है। ब्रह्मौदन या प्रवर्ग्यका नियम प्रत्येक प्राणीकेन्द्रमें अनिवार्य रूपसे रहता है। वह चेतना या जीवनका लक्षण है। ब्रह्मके

लिए भी सृष्टिभावमें आना आवश्यक है। अर्थात् उसकी निःश्वसित या प्राणन क्रियासे विश्वका प्रादुर्भाव होता है। अग्नि प्रजापति है। सोमात्मक विश्व अन्नाद रूप प्रजापतिका अन्न है। ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य अथवा अन्नाद और अन्न इस नियमके बलसे ही सृष्टिकी प्रक्रिया चालू है। अग्निरूप प्रजापतिका जो मध्यस्थानीय भक्षणशील आत्मा है, वह हम सबके भीतर विद्यमान है। अशनाया या बुभुक्षा उसका स्वरूप है। प्राणकी बाहरसे अन्न लेनेकी इच्छाको क्षुधा या भूख कहते हैं। अशनाया तत्वकी ही संज्ञा रुदन है। बालक भूखसे रोता है। ऐसे ही प्रत्येक प्राणीके भीतर जो प्राणाग्नि है, वह भूखसे व्याकुल होकर मानों रुदन करने लगती है, और हम उसे अन्न देकर कुछ समयके लिए चुप कर देते हैं। जब अन्न पच जाता है, तो वैश्वानर प्राण या जठराग्नि पुनः व्याकुल हो उठती है। शौनकने बृहद्देवतामें इसी अग्निको लक्ष्य करके 'जठरे जठरे ज्वलन्' कहा है। जठराग्निका बुभुक्षित रूप 'रुद्र' कहा जाता है। रुद्रकी दो व्याख्या हैं। जैसा कि शतपथ ब्राह्मणमें कहा है—

यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः।

मध्य प्राण इस शरीरमें आया, उसने अशनाया भूखके कारण रुदन किया, इसलिए वह रुद्र कहा जाता है। प्राणाग्निरूपी रुद्रका यह स्वरूप आयुपर्यन्त चलता रहता है। यही रुद्रका मन्यु या क्रोध है। जब रुद्र क्रोधित हो उठते हैं तो उनका यह भयंकर रूप विनाशकारी होता है। इसे ही पुराणोंकी परिभाषामें भैरव कहा गया है। यही रुद्र शब्दका दूसरा अर्थ है। जो अग्नि सोम या अन्न नहीं पाती, वह शरीरको ही भस्म करने लगती है। यदि कोई हठपूर्वक प्राणको अन्न न दे अथवा अन्नाद अग्निमें अन्न रूप सोमकी आहुति न डाले, तो उस रुद्ररूपी अग्निका क्रोध इतना बढेगा, कि वह जिस शरीरका प्रतिपालक है, उसे ही नष्ट कर डालेगा। अग्नि सोमके बिना रुद्र और सोमके साथ शिव बनता है। रुद्र और शिवका यह स्वरूप और नियम प्रत्येक प्राणीकेन्द्रमें विद्यमान है। यही अन्न और अन्नादका नियम है। हाथीसे चींटीतक सब प्राणियोंका मुंह अन्नके लिए खुला हुआ है। यही अग्निका मंझला भाई सबके भीतर है। ऋषि सृष्टिके महान् तत्वको कहना चाहते थे। उसकी अभिव्यक्तिके लिए उन्होंने विशेष प्रकारकी शैली चुनी। उनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ वैदिक साहित्यमें ही पाये जाते हैं। पुराण-भाषामें जो त्रिदेव हैं, वे ही अग्निके तीन भाई हैं। वृद्धिके नियमको यदि विष्णु कहा जाए तो अन्न और अन्नादका नियम ब्रह्माका रूप है।

अग्निका तीसरा भाई 'घृतपृष्ठ' कहा गया है, अर्थात् उसकी पीठ पर घी है अथवा चारों ओर घीका आवरण या लेप है। घृत संज्ञा आज्य या रेतस् तत्वकी है—

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्। (अथर्व ११।८।२९)

अर्थात् पुरुषके शरीरका जब निर्माण होने लगा, तब जिस रेतस् या शुक्रसे शरीर बना, उसीके माध्यमसे सब पार्थिव शक्तियां व देव पुरुषके शरीरमें प्रविष्ट हुए। ब्राह्मण ग्रंथोंमें इस परिभाषाको बार बार स्पष्ट किया है—

प्राणो वै आज्यम्। (तै. ३।८।१५।२।३)
रेतो वै आज्यम्। (शत. १।३।१।१८;१।५।३।१६)
एतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यम्। (शत. १३/३।६।२)

जो आज्यकी परिभाषायें हैं, वे ही घृतकी भी हैं—

तेजो वा एतत्पशूनां यद् घृतम्। (ऐ. ८।२०)
आग्नेयं वै घृतम्। (शत. ८।४।१।४१;९।२।२।३)
सर्वदेवत्यं वै घृतम्। (कौ. २१।४)
रेतो वै घृतम्। (शत. ९।२।३।४४)
रेतः सिक्तिर्वै घृतम्। (कौ. १६।५)

आज्य, घृत, रेत ये एक ही तत्वके सूचक हैं। विश्वके जन्मके लिए जिस शुक्रतत्वकी आवश्यकता थी, उसे ऋग्वेदमें 'भुवनस्य रेतः' कहा है—

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः। (ऋ. १।१६४।३६)

वही 'प्रत्न रेत' भी कहा जाता है अर्थात् वह अनादि अनन्त और सनातन रेतस् तत्व है, जिससे एक ओर समस्त विश्वका और दूसरी ओर उसीके अंगभूत समस्त प्राणियोंका जन्म हो रहा है। यही रेत या घृत प्रजननका प्रतीक है। इससे जीवन या प्राणका तीसरा नियम सूचित होता है। जहां जीवन है वहां रेत या प्रजनन भी अवश्य रहता है। जीवनका यही स्वभाव है, वह जिस बीजसे उत्पन्न होता है। स्वयं परिपक्व होने पर उसी प्रकारके बीजका निर्माण करता है। आमका वृक्ष जिस गुठलीसे जन्म लेता है, फिर उसी प्रकारकी गुठलीको उत्पन्न करता है। बीजसे प्रारंभ करके पुनः बीजतक पहुंचना यही जीवनका चक्र है।

इसी पहियेके घूमनेसे जीवन आगे बढता रहता है। प्रकृतिका यही अटल विधान है। जो बालक बीजसे जन्म लेता है, वह पहले कच्चा रहता है, किन्तु बीजकी सत्ता उसकी शारीरिक धातुमें अवश्य रहती है। वही कच्चा बीज उसके युवा होने पर पक जाता है। जैसे फलोंमें उनकी गुठली पकने पर प्रकट दिखाई देने लगती है। पका हुआ बीज अपने जैसे बीजको उत्पन्न करनेकी क्षमता रखता है। यही यौवनका प्रभाव है। बालपन, यौवन और वृद्धावस्था ये ही जीवन रूपी संवत्सरकी तीन ऋतुयें है। जीवनको यदि गायत्री शक्ति कहा जाए तो आयुकी तीन अवस्थायें उसकी तीन समिधायें हैं, जिनके क्रमशः समिन्धन या प्रज्वलनसे प्राणाग्नि अपना स्वरूप प्रकट करती है। इस प्रकार शरीरस्थ प्राणाग्नि और घृत या रेततत्व दोनोंका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है, वही अग्निका तीसरा भाई है।

शरीररचनाकी दृष्टिसे भी तृतीय भ्राता सचे अर्थोंमें घृत-पृष्ठ है। जो शरीरस्थ सप्त धातुएं हैं, वे रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि और मज्जाके क्रमसे संचित और परिणत होती हुई अन्तमें शुक्रका निर्माण करती हैं। और वही शुक्र केन्द्रीय नाडी जालको सींचता हुआ मस्तिष्कको पोषण और शक्ति देता है। उसे वैज्ञानिक भाषामें सुषुम्ना और मनस्तत्वका पोषक सोम कहा जाता है, (Cerebro-Spinal Fluid)। यह शरीरका सबसे मूल्यवान् रस है। इसीसे मस्तिष्कके असंख्य कोषाणु सिंचित होते हैं। इसीके लिए संकेत है—

सोमो राजा मस्तिष्कः। (अथर्व ९।७।१)

मस्तिष्कके कोष मनःतत्वके भौतिक आधार हैं और शरीरके प्रत्येक कोष या अणु-परिमाणुमें उसकी चेतना व्याप्त रहती है। वस्तुतः जिसे केन्द्रीय नाडीजाल कहते हैं, उसीका ऊपरी भाग मस्तिष्क और निचला भाग सुषुम्ना है। इसमें घृत, रेत या सोम व्याप्त रहता है। वही अग्निके तृतीय भ्राताका घृतपृष्ठ रूप है। इस भाईकी पहचान त्रिदेवोंमें शिवसे की जा सकती है। शिवका ही सम्बन्ध मनसिज या कामदेवसे है। एक ओर उन्होंने कामको वशमें किया है, दूसरी ओर वे अर्धनारीश्वर हैं। अर्थात् सृष्टि रचनाके लिए अपने वामांगसे वे मातृरूप भी धारण किए हुए हैं। पिता माताके युगसे ही प्रजनन या प्रजाकी सृष्टि होती है। पिताका शुक्र और माताका शोणित दोनोंकी समुदित संज्ञा घृत है। वे परस्पर अविनाभूत हैं। प्रकृतिने प्रजोत्पादनके लिए दो पुत्रकृथ योनियोंका निर्माण किया है। इन्हीं की संज्ञा माता पिता है। पृथक् होते हुए भी इन दोनोंकी एक योनिता है। इसी दृष्टिसे 'शान्ति पर्व' में अग्नि और सोमको एक योनि कहा है—

अग्निषोमौ कथं पूर्वमेकयोनिप्रवर्ततौ।
(शान्तिपर्व ३२९।१। पूना संस्करण)

ये ही दो अरणियां हैं, जिनके पारस्परिक घर्षणसे अग्नि-रूप पुत्र जन्म लेता है।

अरण्योर्निहितो जातवेदा
गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।
दिवेदिवे ईड्यो जागृवद्भिः
हविष्मद्भिः मनुष्येभिरग्निः॥ (ऋ. ३।२९।२)

इस प्रकार अग्निके तीन भ्राता जीवनतत्वके ही तीन विशेष लक्षण हैं, अर्थात् बुद्धितत्व, अन्न अन्नादतत्व और प्रजनन तत्व। इन्हें ही क्रमशः भूत, वाक्, प्राण और मन भी कहा जा सकता है। मन, प्राण और वाक्की समष्टि ही आत्मा या प्रत्येकका जीवन केन्द्र है—

एतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयो प्राणमयः। (शत. ब्रा. १४।४।३।१०)

वाक् या भूत तत्व अग्निका पहला भाई है। प्राण दूसरा या मंझला भाई है और मन या प्रजनन तत्व तीसरा भाई है। एक ही पिताकी शक्ति इन तीनों भाइयोंके रूपमें प्रकट होती है। यही तो वैश्वानरके स्वरूपके निर्माण करनेवाले तीन नर हैं।

अग्निको सप्त पुत्र क्यों कहा गया है, इसका भी कारण है। मन, प्राण और पंचभूत ये ही सप्त पुत्र हैं। एक ही मध्य प्राण या मूल प्राणाग्नि इन सात रूपोंमें विभक्त होकर शरीरको धारण करती है। ये ही इस शरीर यज्ञके सात होता हैं। इन्हें ही दूसरी परिभाषाके अनुसार सप्तविप्र या सप्त ऋषि भी कहा जाता है। एक ही पिताकी सन्तान होने पर भी ये एक दूसरेसे भिन्न हैं। जैसा कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं। मन सबसे अधिक सूक्ष्म है, उसकी अपेक्षा प्राण कम सूक्ष्म है और इसकी तुलनामें आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी उत्तरोत्तर क्रमशः स्थूल होते जाते हैं। इन

पंचभूतोंका सम्मिलित संकेत वाक् है। वाक् या शब्द आकाशका गुण है और आकाश पांचोंमें सूक्ष्म होनेके कारण सबका संग्राहक है।

इसप्रकार दीर्घतमा ऋषिने अपनी अपूर्व शैलीमें अग्निके तीन भ्राता और सप्त पुत्रोंका जो वर्णन किया है, वह वैश्वानररूपी शारीरिक अग्निके लिए चरितार्थ है। मंत्रके 'अत्रापश्यं' शब्द सूचित करते हैं कि इस रहस्यमय प्राणाग्निका यहीं अर्थात् इसी शरीरमें दर्शन संभव है। शरीरसे बाहर वैश्वानर प्राणका दर्शन नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टिसे ऋग्वेदमें जो सबसे पहला विशेषण अग्निको दिया गया है- वह है 'पुरोहित'। पुरोहितका अर्थ यज्ञके सम्बन्धमें लोक विदित है, किन्तु उसका दूसरा संकेत भी सुनिश्चित है। पुरः का अर्थ है- सम्मुख दृश्य या प्रत्यक्ष और हितः का अर्थ है- प्राण—

प्राणो वै हितं, प्राणो वै सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः।
(शत. ब्रा. ६।१।२।१४)

'अस्य वामीय' सूक्तके इस प्रथम मंत्रमें जिस अग्निके तीन भ्राताओंका उल्लेख है, वह वैश्वानर अग्नि है। 'वैश्वानर' तत्वकी पूरी व्याख्याके लिए ऋग्वेद १०।८८ सूक्त देखना चाहिए। यहां अग्निको होता कहा गया है। वहां वैश्वानरको प्रथम होता कहा गया है, सब देव जिसका आश्रय लेते हैं—

यो होताऽऽसीत् प्रथमो देवजुष्टः॥ ऋ. १०।८८।४

इसी वैश्वानर अग्निको देवोंने विश्वविकासके लिए तीन रूपोंमें कल्पित किया—

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्नि
अजीजनन् शक्तिभिः रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं
स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥
(ऋ. १०।८८।१०)

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः॥

इस नियमके अनुसार एक ही अग्नितत्व विश्वनिर्माणमें त्रेधा विभक्त हो जाता है। उसीसे तीन विश्व, तीन नर और तीन रूपोंका विकास होता है। इन्हींकी समुदित संज्ञा 'विश्वरूप्य' या 'वैश्वानर' है। वैश्वानर पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकोंमें व्याप्त है। इसे समस्त विश्वका केतु कहा गया है। जितने मनुष्य या औषधियां हैं, सब उसकी प्रजायें हैं। वह भुवनोंका राजा है। विश्पति शब्द का अध्यात्मसंकेत स्पष्टतासे समझ लेना चाहिए। जैसा कि ताण्ड्य ब्राह्मणमें कहा है—

अग्निरकामयत विशोऽतिथिः स्यां
विशोविशः आतिथ्यमश्नुवीयेति।
(ताण्ड्य ब्रा. १४।११।३७)

अग्निको विश्पति अर्थात् सब देवोंका अधिपति कहा गया है—

अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति।
(शत. ब्रा. १।६।२।८)

प्रजापतिका जो घृतसंज्ञक विराट् नियम इस ब्रह्माण्डमें ओतप्रोत है, उसे 'वेदिषद्' होता कहा गया है। वही 'दुरोणसद्' अतिथि है। अर्थात् घर घरमें रहनेवाला अतिथि है। प्रत्येक शरीर एक एक घर है, वही यज्ञ है या यज्ञकी वेदी है। हर घरका गृहपति अग्नि है। वही गार्हपत्य अग्नि वैश्वानर है। इस अग्निको सप्त पुत्र कहनेका आशय अनेक वैदिक सप्तकोंके प्रकाशमें समझना चाहिए। उनके अनेक नाम संहिता और ब्राह्मण ग्रंथोंमें मिलते हैं, जैसे—

सप्त होता, सप्ततन्तु, सप्तरत्न, सप्तपुरुष,
सप्तधाम, सप्तलोक, सप्तार्धगर्भाः।
(ऋ. १।१६४।३६)

सप्तस्वसारः, सप्तमातरः, सप्तवाणी,
सप्तप्राणाः, सप्तपदानि, सप्तछन्द, सप्त
अदिति देव, सप्तविप्र, सप्तपद आदि।

त्रिक और सप्तक वैदिकपरिभाषाओंके सूत्र हैं। जो मूलमें एक है, वही पहले त्रिक भावमें आता है और त्रिक से मन, प्राण और पंचभूतोंका सप्तधा रूप बनता है। शरीरमें प्राणाग्नि और विराट् ब्रह्माण्डमें सूर्य दोनों एक ही तत्वके रूप हैं—

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। (प्रश्न उ.)
\+ \+ \+
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (यजु. ७।४२)

अग्नि भी प्राण और आत्मा है। वैश्वानरसूक्तमें उसे 'यक्षस्य अध्यक्षम्' अर्थात् रहस्यमय यक्षतत्त्वका अधिपति कहा गया है। जीवनतत्व ही विश्वका सबसे महान्, गुह्य, अपीच्य या अज्ञात रहस्य है।

कर्म और पुनर्जन्म

(लेखक— श्री टी. एम्. पी. महादेवन)

नैतिकताके अन्तर्गत मनुष्यके ज्ञानपूर्वक किए गए कार्यों-का ही अध्ययन किया जाता है। अर्थात् ज्ञानपूर्वक किए गए कर्मोंका ही नैतिक व अनैतिक दृष्टिसे विचार किया जाता है। एक यंत्रका अथवा एक जानवरका व्यवहार नैति-कताकी सीमाओंसे परे है। यंत्रों एवं बुद्धिहीन प्राणिओंका व्यवहार न नैतिक होता है और न अनैतिक, वह इन दोनोंसे रहित है। इसीप्रकार एक मनुष्य भी जब अन्त-र्बाह्य परिस्थितियोंके कारण बाध्य होकर कुछ कार्य करता है, तो उस कार्यका भी नैतिकताकी दृष्टिसे कोई मूल्य नहीं होता।

इसीतरह एक आदमी जब संवेदनाओं (Passions) के प्रवाहमें कुछ का कुछ कर जाता है और बादमें पश्चात्ताप करता है कि 'ओह! जब मैंने यह किया उस समय मैं अपनेमें नहीं था,' तो ऐसी स्थितिमें भी उसके कार्य या व्यवहारके लिए उसको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इन सब उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि 'नैतिकताके लिए स्वतंत्रता आवश्यक है।' यदि कोई स्वतंत्रतापूर्वक अपने कार्यका चुनाव करता है तो उसी दशामें वह अपने कार्यके लिए नीतिशास्त्रकी दृष्टिमें उत्तरदायी है। पर क्या अपनी इच्छानुसार कार्य चुननेकी स्वतंत्रता हमें प्राप्त है? क्या हम पर प्रायः ऐसी परिस्थितियां हावी नहीं होजातीं कि जिन्हें हम वशमें नहीं कर सकते? तब क्या हमारी इच्छायें स्वतंत्र हैं?

इन समस्याओंके हलके लिए हिन्दुधर्म 'कर्मका' सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, जो प्रसिद्ध तो है, पर समझा कम गया है। कई विद्वान् कर्मका सम्बन्ध भाग्यके साथ जोडकर कर्मके सिद्धान्तको निराशाजनक बताते हैं। उनके अनुसार यह कर्मका सिद्धान्त वस्तुतः आलस्य और जडता के लिए एक बहाना मात्र है। पर उनकी यह धारणा सत्य-तासे कोसों दूर है। कर्म मनुष्यकी इच्छा विषयक स्वतंत्रता को देनेवाला है। कर्मका सिद्धान्त कहता है कि 'जो कुछ तुम हो उसके लिए दूसरोंको दोषी ठहरानेके बजाय तुम ही अपनी वर्तमान स्थितिके लिए उत्तरदायी हो'। नैतिक जीवन उपद्रवों अथवा विकृतियोंका जीवन नहीं है, इसमें परिस्थिति पर बैठकर रोनेके लिए कोई मौका नहीं है। नैतिक नियमोंका अर्थ ही यह है कि मनुष्यके पूर्व कर्म ही उसके वर्त्तमान परिस्थितिके लिए उत्तरदायी हैं और उसके वर्त्तमान कर्म ही उसके भावी जीवनके प्रसाधक हैं।

ऋग्वेदके मंत्रोंमें आए हुए 'ऋत' शब्दमें कर्म सिद्धा-न्तका संकेत है। ऋतका अर्थ है 'पदार्थोंका अनुशासित क्रम' जैसे-सूर्यका उदय और अस्त होना, चन्द्रमाका बढना घटना, ऋतुओंका क्रमिक परिवर्तन आदि। मंत्रोंमें इस शब्दका अर्थ कुछ विस्तृत है और प्रकृतिके अनुशासित क्रमके साथ साथ मनुष्योंकी नैतिकताका भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। ऋग्वेदमें देवोंको 'ऋतका पालक' कहा गया है।

वे सज्जनोंको सुख और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। श्रेष्ठ वे हैं, जो 'ऋत' का अनुसरण करते हैं। वरुण ऋग्वेदमें नीतिका देवता कहा गया है, वह शारीरिक और नैतिक व्यवहारों पर शासन करता है। वह न्यायशील है। कोई भी उसके निरीक्षणसे बच नहीं सकता। प्रायः वरुणके सभी सूक्तोंमें पापसे बचाने व किए हुए पापोंको क्षमा करनेकी प्रार्थना है। ब्राह्मणग्रंथोंमें, जिनमें यज्ञको मुख्यता दी गई है, 'ऋत' यज्ञका पर्यायवाची हो गया है। प्रत्येक यज्ञका अपना अपना फल है। इह लोकमें सुख और परलोकमें आनन्द प्राप्त करनेका यज्ञ एक साधन है। ये दोनों ऋत और यज्ञ कर्मसिद्धान्तके समर्थक हैं, क्योंकि ये दोनों यह बताते हैं कि हर कर्मके साथ अपना भला-बुरा फल अवश्य संयुक्त रहता है।

उपनिषदोंमें इस कर्मसिद्धान्तका बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है। यहां कर्मका अर्थ केवल कर्म ही न होकर कर्मविपाक भी है। इस नियमके अनुसार नैतिक संसारमें

कुछ भी अनियमित व अकारण नहीं है। हम जैसा बोते हैं, वैसा ही काटते हैं। हम अब जो कुछ हैं अथवा जिस परिस्थितिमें हैं, वह सब 'हम पूर्व जन्ममें क्या थे और तब हमने क्या किया' इस पर आधारित है। उसी प्रकार 'हम आगे क्या होंगे और किस परिस्थितिमें होंगे' इस सबका आधार हमारा वर्तमान जीवन व कार्य है। कर्मका सिद्धान्त हमें यह बताता है कि हम अपने नैतिक बलको क्षीण होनेसे बचा सकते हैं।

जिसप्रकार शारीरिक बल क्षीण होनेसे बचाया जा सकता है, उसीप्रकार नैतिक बल भी क्षीणतासे बचाया जा सकता है। जो कर्मोंके द्वारा कमाया जा चुका है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और जिसके हम अधिकारी नहीं बन पाये उसे हम कभी पा भी नहीं सकते। प्रत्येक कर्म दो रूपोंमें प्रभाव डालता है, (१) हर कर्म अपने परिणामको उत्पन्न करता है और (२) साथ ही चरित्र पर भी प्रभाव डालता है। हर कर्म मानव मन पर अपना संस्कार छोड जाता है। इसी संस्कारसे प्रेरित होकर कर्ता आगेके कर्मोंको करता है। इसीप्रकार मनुष्य चरित्रके अनुसार व्यवहार करता है और फिर उसके व्यवहारके अनुसार उसका चरित्र बनता है। 'एक मनुष्य उत्तम कर्मोंसे उत्तम और बुरे कर्मोंसे बुरा बनता है' (बृह. उ. ४।४।५)

यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि नैतिक संसारका कर्मसिद्धान्त बाह्यसंसारके 'कार्यकारणके स्वाभाविक नियम' (Mechanical Law of Causality) के समान ही है तो फिर स्वतंत्रता कहां रही? उत्तर है-कि आजका विज्ञान एक अपरिवर्तनीय और पूर्णतया निश्चित स्वाभाविक नियममें अब विश्वास नहीं रखता। इसके विरुद्ध उसका यह विश्वास है कि प्रकृतिमें कोई भी पदार्थ निश्चित और अपरिवर्तनीय नहीं है। भूतकाल यद्यपि निश्चित किया जा सकता है पर भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है। इसका कारण हमारी अज्ञानता नहीं है अपितु पदार्थोंका स्वभाव ही है। पदार्थ हमेशा बदलते रहते हैं, अतः भविष्यके पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय करना असम्भव है। कार्यकारणका नियम भी सब पदार्थोंकी व्याख्या करनेमें असमर्थ है। बहुतसे कारण भी मिलकर एक निश्चित पदार्थको उत्पन्न नहीं कर सकते। (आजके विज्ञानके अनुसार परमाणु परिवर्तनशील हैं, अतः प्रत्येक पदार्थके परमाणु प्रतिक्षण बदलते रहते हैं।)

अब वैज्ञानिक समझ गए हैं, कि 'कार्यकारणके नियम' में यह बडा भारी दोष है। जब मनुष्यकी शारीरिक प्रकृतिमें ही परिवर्तन होते रहते हैं, तो उसकी आन्तरिक प्रकृतिमें परिवर्तन होंगे ही, यह सहज अनुमेय है। कर्म पूर्णरूपसे मनुष्यको बन्धनमें नहीं डालता। संसारचक्र अनिवार्य नहीं है। मनुष्य इस चक्रसे छूट भी सकता है। मनुष्यमें यदि चक्रसे छूटनेका एक निश्चयात्मक संकल्प है, तो कर्म उस मनुष्यकी सहायता ही करेगा, उसके उन्नतिके मार्गमें वह बाधक नहीं हो सकता। मनुष्य इस प्रकारके संकल्प करनेमें पूर्णतया स्वतंत्र है। डॉ. राधाकृष्णन्‌के शब्दोंमें—

'जीवन रूपी खेलमें हमारे हाथमें पत्ते दे दिए गए हैं। हम उन्हें चुनते नहीं। वे हमारे पूर्व कर्मोंके अनुसार मिलते हैं, हम उन्हें अपनी इच्छानुसार नाम दे सकते हैं, अपनी इच्छानुसार यह खेल चला सकते हैं, पर हम जैसा खेलेंगे, उसीके अनुसार हम जीतेंगे या हारेंगे। यही है स्वतंत्रता' (दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ. ७५)

भारतीय विद्वान् कर्मको तीन स्वरूपोंमें बांटते हैं-- **संचित, प्रारब्ध और आगामी अथवा क्रियमाण**। **संचित** पूर्व जन्ममें किये हुए कर्म हैं। इसकी थोडीसी झलक मनुष्यकी इच्छा, विचार, आचार और व्यवहारमें दिखाई देती है। **प्रारब्ध** पूर्व जन्मके कर्मोंका वह भाग है जो वर्तमान जीवनके लिए उत्तरदायी है। **क्रियमाण** या **आगामी** कर्म आगे किए जानेवाले और वर्तमान समयमें भी किए जानेवाले कर्म हैं। कर्म करनेमें स्वातंत्र्यके मन्तव्यको समझानेके लिए यह उदाहरण प्रायः दिया जाता है।

कल्पना करो कि, एक धनुर्धारी, जिसकी पीठ पर तीरोंसे भरा तरकश लटका हुआ है, एक लक्ष्य पर निशाना लगाता है। एक तीर वह छोड चुका है और दूसरेको छोडनेकी तैयारीमें है। तरकशमें भरे हुए तीर '**संचित**' हैं, वह तीर, जो धनुर्धारी छोड चुका है, '**प्रारब्ध**' है, और जिसे वह छोडनेकी तैयारीमें है (अभी छोडा नहीं) '**क्रियमाण**' या '**आगामी**' है। इनमें 'संचित' और 'आगामी' पर उस धनुर्धारीका पूरा वश है, पर प्रारब्ध पर नहीं। इसी तरह मनुष्य अपने मार्गको बदलनेमें पूरा

स्वतंत्र है। केवल वे ही पूर्व कर्म जो अब परिणाम ला रहे हैं, उसे भोगने ही होंगे।

कुछ लोगोंकी धारणा यह है कि कर्मके सिद्धान्तमें समाज या मनुष्यताकी सेवाका कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मनुष्य अपने कर्मोंका परिणाम भोग रहा है, अतः उसके भोगमें किसीको टांग अडानेका अधिकार नहीं है। पर वस्तुतः यह एक महान् भ्रान्ति है। यह धारणा प्रत्येक मनुष्यको एक स्वतंत्र इकाईके रूपमें सिद्ध करती है। पर वास्तवमें मनुष्यका समाजके साथ बडा भारी सम्बन्ध है। वह अपने चारों ओरके समाजसे प्रभावित भी होता है। उसे स्वभावतः ही अपने अन्य सदस्योंके सुख दुःखमें भाग लेना होता है। यदि वह अपने सदस्योंके दुःखका कोई हल निकालता है, तो अंश रूपसे उसको भी सुख मिलता है।

इसलिए समाजसेवा कर्मसिद्धान्तमें न केवल संगत ही है अपितु संसारसे छूटनेका साधन भी है। स्वार्थयुक्त कार्य कर्त्ताको बन्धनोंमें डालता है और स्वार्थरहित कार्य बन्धनसे मुक्त करता है। जिस प्रकार कि जहर, जो साधारणतया मारक होता है, शुद्ध कर दिए जानेपर बीमारको जीवन प्रदान करता है। 'इसी मार्गसे, अन्यसे नहीं, किया गया कर्म कर्त्तामें लिप्त नहीं होता' (ईश. उ. २)। इसी निःस्वार्थ कर्मका विवेचन भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें किया है।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त

पुनर्जन्म कर्मके सिद्धान्तका परिणाम है। दो मनुष्योंके आचार विचारकी भिन्नता उनके पूर्व कर्मोंका द्योतन कराती है, और पूर्व कर्म उनके पूर्व जन्मके निदर्शक हैं। इसीतरह हम देखते हैं कि हम अपने सभी कर्मोंका फल इसी जन्ममें नहीं भोग पाते। अतः इन शेष कर्मोंके भोगके लिए आगे भी जन्म आवश्यक हैं। प्रत्येक आत्मा जन्ममरणके चक्रमें फंसी रहती है। 'धान्यके समान ही एक मनुष्य पकता है और धान्यके समान ही वह फिर नवीनता लेकर उगता है' 'जिसप्रकार मनुष्य फटे पुराने कपडोंको फेंककर नये धारण करता है, उसीप्रकार आत्मा जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोडकर नये शरीर धारण करती है।' (गीता) 'जिस प्रकार कीडा एक घासके सिरेसे दूसरी घासके सिरे पर पहुंचता है उसीतरह आत्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाती है।' वर्ड्स्वर्थ भी कहता है—

'हमारा जन्म, जिसमें आत्मा हमारे साथ संयुक्त होती है, एक निद्रा है। हमारा जीवन एक तारा है जो बहुत दूरसे आता है और कहीं जाकर अस्त होजाता है। हम परमात्माके पाससे आते हैं, जो हमारा घर-मूल स्थान है।'

अनेक शरीरोंमें आत्माके इस आनेजानेको 'संसार' या 'भवचक्र' कहते हैं। यह चक्र तब तक चलता रहता है, जब तक कि सब कर्म क्षीण नहीं हो जाते और परमात्माका साक्षात्कार नहीं होजाता।

मुक्तावस्थाकी प्राप्ति तक आत्मा जन्म-मरणके नियमोंमें बंधी रहती है। कवि लॉंगफेलोकी भौतिकवादी कल्पना कि 'तुम मिट्टी हो और अन्तमें तुम मिट्टीमें ही मिल जाओगे' वैदिक ऋषियोंको मान्य नहीं। हिन्दुशास्त्रोंमें यह प्रश्न प्रायः उठाया गया है कि क्या मनुष्य मृत्युके बाद भी रहता है अथवा शरीरके साथ वह भी नष्ट होजाता? उत्तर दिया गया है कि आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। यदि ब्रह्मज्ञानसे इसके सब कर्म क्षीण हो जायें, तो फिर इसे जन्म नहीं लेना पडता। यह नित्य और शाश्वततत्वका साक्षात्कार कर लेता है और फिर संसारमें नहीं लौटता। पंचदशीकार के शब्दोंमें—

'जैसे जलचर प्रवाहके द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाये जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे फिर जन्म इस प्रकार संसारके चक्रमें घूमता रहता है'। इस चक्रमें वह अपने कर्मोंके कारण घूमता है।

मृत्यु जीवनका द्वार है। और किस तरहका जीवन एक मनुष्य बिताता है यह उसके कर्म पर आधारित है। वे जिनके कर्म अच्छे रहे हैं, अच्छा जन्म पाते हैं, और बुरे कर्मयुक्त आत्मायें पापपूर्ण जन्मोंमें भेज दी जाती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है कि कर्म तथा ज्ञानके स्तरके अनुसार आत्मायें मनुष्यसे लेकर कीट तकका शरीर धारण करती हैं। लिंग या सूक्ष्म शरीरके साथ साथ आत्माका आवागमन होता है। मृत्युके समय केवल स्थूल शरीर नष्ट होता है। सूक्ष्म शरीर, जो मन, बुद्धि तथा सूक्ष्म इन्द्रियोंका आधार है, पुराने स्थूल शरीरसे वियुक्त होकर नये स्थूल शरीरसे संयुक्त होता है। इस प्रकार चक्र चलता रहता है और उद्देश्य प्राप्त होने पर रुक जाता है।

सहायता दीजिये

सभी दानदाताओंसे नम्र निवेदन

स्वाध्याय-मण्डल, वैदिक संशोधन संस्थान ', पारडी, (जि. सूरत) के पास अमूल्य पुस्तकोंका प्रशंसनीय संग्रह है, जिनकी सुरक्षा करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। उन पुस्तकोंकी सुरक्षाके लिए एक बृहद् पुस्तकालय बनवानेकी योजना है। जिसका नाम '**महर्षि पुस्तकालय**' होगा। इस योजनामें कमसे कम ४०,००० व्यय होनेकी संभावना है। हम इस बातके लिए प्रयत्नशील हैं कि इस उत्तम कार्यके लिए सरकारसे भी कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त हो और प्रसन्नताकी बात है कि गुजरात सरकारसे इसके लिए १०,००० की प्राप्ति भी हो चुकी है। पर हमारी आशा आप जैसे दानदाताओंकी सहायतासे ही पूरी हो सकती है। अतः आपसे नम्र निवेदन है कि आप यथाशक्ति इस कार्यमें हमारी सहायता करें। यदि प्रत्येक व्यक्ति कमसे कम भी दान, दे तो हमें बहुत सहायता मिल सकती है। दानी महानुभाव अपनी सहायता मनिआर्डर अथवा चेक द्वारा '**अध्यक्ष, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि. सूरत (गुजरात)**' के पते पर भेज सकते हैं। पर पत्रमें अथवा मनिआर्डरके कूपन पर '**पुस्तकालयकी सहायताके लिए**' अवश्य लिखें। जो भी दान देंगे उनके नाम हम अपनी मासिक पत्रिकाओंमें छापेंगे।

मन्त्री—

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

वेदगीता पञ्चदशोऽध्यायारंभः
भगवद्गीताया षोडशोऽध्यायारंभः

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
भग. १६।१-३

अर्थ— (हे भारत) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! यद्वा ज्ञानज्योतिः में प्रेम रखनेवाले अर्जुन ! (अभयं) किसीसे भय न करना अथवा जिससे कोई भय नहीं करता । क्योंकि नियम यह है ।

' द्वितीयाद्वै भयं भवति ' ।

दूसरेसे ही डर लगता है ।

इतरं पश्यति स इतराद्बिभेति, ।

जो अपनेसे भिन्न किसीको देखता है वह दूसरेसे डरता है । जो प्राणी सारे संसारको आत्मरूप देखता है, वह नहीं डरता ।

(सत्त्वसंशुद्धिः) मनकी शुद्धता अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका संयमन करना ।

ध्यानं निर्विषयं मनः ।

मनको सब बाह्यविषयोंसे रोककर ब्रह्माकार वृत्तिमें लगाना, (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः) ज्ञानकी मर्यादाको स्थिर रखना अर्थात् सत्याऽसत्य विचारकी मर्यादा स्थिर रखनी, (योगव्यवस्थितिः) ' योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ' चित्तको वृत्तियोंको वशमें रखनेवाले योगाभ्यासकी मर्यादाको स्थिर रखना अथवा ' योगक्षेम ' वैदिक कर्मानुष्ठानकी मर्यादा स्थिर रखना, (दानं) अतिथियोंको यथाशक्ति अन्नादि देना, अथवा दूसरोंको ब्रह्मज्ञान देना, अथवा ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

इस वचनानुसार सात्त्विक दान देना, (दमः) दशों इन्द्रियोंका दमन करना अर्थात् इन्द्रियाधीन न होना, (यज्ञः) सत्संगति, गुरुसेवा और श्रौताग्नि स्थापन अर्थात् प्रतिदिन दोनों समय अग्निमें हवन करना (चः चकारात् स्मार्ताग्न्याधानम्) स्मृत्यनुसार स्थालीपाकादि (स्वाध्यायः) तथा ब्रह्मयज्ञादिका अनुष्ठान करना, (तपः) शीतोष्णसहनशीलता अथवा ' ब्रह्मचर्य और मौन आदि व्रतोंकी इन्द्रियोंमें क्षमता धारण करना, (आर्जवम्) मन, वचन और कर्ममें एकरस रहना, अर्थात् मन, वचन, और कर्मद्वारा कुटिलता न करना, (अहिंसा) शरीर, वचन और मनसे किसी प्राणीको पीडा, न देना ।

' मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, इस उक्तिका समर्थन करना, (सत्यम्) यथार्थ भाषण करना अर्थात् किसीके साथ असत्य संभाषण न करना, (अक्रोधः) क्रोधका परित्याग करना ।

' कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् '

(त्यागः) प्रतिदिन किये हुए श्रौत स्मार्त कर्मोंके फलका त्याग करना अर्थात् कृत कर्मोंके फलकी इच्छा न रखना ।

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूः ॥

इत्युक्तिका समर्थन करना, (शांतिः) प्राप्त वस्तुओंमें शान्त रहना अर्थात् दूसरोंकी उन्नतिको देख कर चित्तमें विकलता न करना, (अपैशुनम्) किसी प्राणीकी अनुपस्थितिमें सत्याऽसत्य बातको ईर्ष्याके भावसे कथन न करना, (भूतेषु दया) धनसे दीन अथवा शरीरसे दीन दुःखी जीवों पर दया करना (अलोलुप्त्वम्) अच्छेसे अच्छे पदार्थोंके संमुख उपस्थित होने पर भी इन्द्रियोंमें विकार न होने देना, (मार्दवं) कोमलता रखना अर्थात् कठोर वचन न बोलना और क्रोधका परित्याग करना, (ह्रीः) दुष्कर्म करनेमें लज्जा करना, (अचापलम्) इन्द्रियों और मनका बिना कारण किसी विषयके लिए चंचल न होना, (तेजः) गुणोंके गौरवसे अपनेमें तेज रखना अर्थात् दूसरा प्राणी उसके गुणोंको देखकर उसे तेजस्वी जाने, (क्षमा) दूसरोंसे किये गये उपद्रवों अर्थात् गाली गलोजको सुनकर सहन करनेकी शक्ति रखनी, (धृतिः) कार्यके बिगड जाने पर भी अर्थात् अन्नादि पदार्थके नाश हो जाने पर भी धैर्य रखना,

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले
दैवात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात् सः।

इस उक्तिका समर्थन करना, (शौचम्) शरीर, मन, और वाणीसे पवित्र रहना, (अद्रोहः) किसी प्राणीके साथ द्रोह न करना अर्थात् धोखा न देना अथवा अपनी बुराई करनेवाले प्राणियोंके विरुद्ध भी आचरण न करना (नातिमानिता) अतिमानका धारण न करना, अर्थात् पूर्वोक्त गुणोंके होने पर भी चित्तमें अभिमान न रखना।

'अमानी मानदो मान्यः'

इस उक्तिका समर्थन करना, (दैवीं सम्पदं अभिजातस्य भवन्ति) सत्त्व गुणविशिष्ट सम्पत्तिमें उत्पन्न हुए प्राणीके ये कल्याणकारी सात्विक गुण होते हैं। १,२,३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अष्टाविंशानि[1] शिवानि शग्मानि सह
योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च
नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु[2] ॥ अथर्व. १९।८।२

अर्थ— मुमुक्षु प्राणी परमात्मासे प्रार्थना करता है, हे परमात्मन्! (अष्टाविंशानि) अभयता, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान-व्यवस्था, योगव्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, श्रौत, स्मार्तयज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन्य, भूतों पर दया, लोभका न होना अर्थात् अलोलुप्त्व, मृदुता ही अर्थात् लज्जा, अचापलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, द्रोहाऽभाव, अतिमानराहित्य यह सात्त्विक धर्म (शिवानि) कल्याण रूप (शग्मानि) सुखकारी (मे) मुझ सात्त्विक प्राणीको सात्त्विक फल देनेके लिये (सहयोगं भजन्तु) सहयोग अर्थात् सहायताको प्राप्त हों। (योगं प्रपद्ये) मैं सात्त्विक पुरुष दैवीसम्पत्तिवाला होकर इन सात्त्विक धर्मोंके प्रभावसे अलभ्यवस्तु अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके योगको प्राप्त होऊं। अर्थात् अलभ्यवस्तु अपवर्ग (मोक्ष) योगको प्राप्त होजाऊं, (क्षेमं प्रपद्ये) लब्धवस्तुकी रक्षाकी योग्यताको पाऊं। मुझसे ऐसा कोई दुष्कर्म न हो जिससे मैं अपवर्गको खो बैठूं। इस मंत्रमें योग और क्षेमकी प्रधानताकी सिद्धिके लिये द्विरावृत्ति हुई है। (अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु) दिन और रात्रि मुझे दैवी सम्पत्ति रूप सात्विक धर्मोंमें चलाती रहें, अतः उन दोनों दिन रात्रिको भी नमस्कार हो, अर्थात् उनका मैं आदर करता हूं, जो मुझे दैवी सम्पत्तिमें रहनेका समय देते हैं।

स्वामीदयानन्द कृतभाष्य यह है—

अष्टाविंशानीति– हे परमेश्वर! कृपा करके अट्ठाईस (मेरे) कल्याणकारक हों। अर्थात् १० इन्द्रिय १० प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर, बल, (शग्मानि) सुख कारक होकर (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रातमें उपासनामय व्यवहार योग मुझे (भजन्तु) प्राप्त हों; तथा आपकी कृपासे मैं योगको पा कर क्षेमको प्राप्त होजाऊं और क्षेमको पाकर योगको प्राप्त होजाऊं, क्योंकि आप हमारे सहकारी होंगे अतः नित्य आपको नमस्कार हो ॥ २ ॥

तुलना— गीता और वेद दोनोंमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान और योगका स्थिति आदि अट्ठाईस कल्याणकारी सुखकारी सात्त्विकधर्म एक ही स्वरूपमें बताए हैं। जिस पुरुषमें ये अट्ठाईस सात्विक धर्म रहते हैं, वह संसारमें सुख भोग कर ब्रह्मयोग अर्थात् मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। ऐसा कहा है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ भग. १६,४

अर्थ— हे अर्जुन! (दम्भः) अपनी स्वार्थ सिद्धि अथवा अपनी महत्त्वसिद्धिके लिये अपने दोषोंको छिपाकर बगुलाभक्त जैसा दिखावा दिखाना, (दर्पः) अपनी सम्पत्ति अथवा अपने परिवार अथवा अपने धनके घमंडसे सज्जनोंका अपमान करना, (अभिमानः) अपनेमें ही उत्कृष्टताकी बुद्धि रखनी, (च= चकारात् लोभः) लोभ, जो सर्वथा त्याज्य बताया गया है क्योंकि कहा है। 'लोभः पापस्य कारणम्' 'कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्, भग. (क्रोधः) चित्तको विक्षिप्त करना, (पारुष्यम्) कठोरतासे वार्तालाप करना, (अज्ञानं च) और अज्ञान अर्थात् सदसद्विवेकाऽभाव यद्वा सत्में असत् और असत्में सत् ऐसी विपरीत बुद्धिका होना ये सात

(१) अष्टाविंशानि= पूरणार्थे डट् प्रत्यये कृते 'विंशतेर्डिति', इति तिलोपः 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्' इत्यष्टशब्दस्य आत्वम्।

(२) अहोरात्राभ्याम्= अहश्च रात्रिश्च 'अहः सर्वैक देश—' इत्यच् समासान्तः।

दोष (आसुरीं सम्पदं अभिजातस्य) प्राणियोंको कष्ट देनेवाली सम्पत्तिमें उत्पन्न हुए हुए पुरुषके होते हैं ।

वेदगीता (मंत्र)

सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः
तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

ऋ. १०।५।६; अथर्व. ५।१।६; निरु. ६।२७

अर्थ— (कवयः) सदसद्विवेकी अर्थात् ज्ञानी पुरुष (सप्तमर्यादाः) दम्भ, दर्प, अभिमान, लोभ, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, ये सात, यद्वा मद्यपान, दुर्भक्ष्य, पर स्त्री, मृगया, दण्ड, पारुष्य, दूषण ये सात, यद्वा स्तेय, गुरुस्त्रीतल्पारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, पुनः पुनः दुष्कर्मोंका करना, पाप करने पर असत्य भाषण करना, ये निरुक्तकारके द्वारा बताई सात मर्यादायें हैं, इन सप्त मर्यादाओंको (ततक्षुः) त्याग करते हैं अर्थात् अपनेसे दूर रखते हैं । (तासां एकां) उन सात मर्यादाओंमेंसे एक मर्यादाको ही (अंहुरः) पापी अर्थात् आसुरी जीव (अभिगात्) प्राप्त होता है अर्थात् करता है (यः) जो मनुष्य ऐसी पापमयी मर्यादाओंको अपनाता है (आयोः) इस आसुरी मनुष्यका (स्कंभः) पापियोंको पापका दण्ड देनेवाला परमात्मा (उपमस्य) समीप आ जानेवाले दैवी पुरुषके (नीडे) उत्संगरूप आत्मामें (पथां) सुन्दर मार्गके (विसर्गे) विसर्जन स्थान स्वर्गमें (धरुणेषु) और धर्मके धारण करनेवाले मनुष्योंमें (तस्थौ) ठहरता है अर्थात् परमात्मा धर्मात्मा पुरुषोंके मनमें विराजता है ॥ ६ ॥

तुलना— गीतामें बताया है कि दम्भ, दर्प, अभिमान, लोभ, क्रोध, कठोरभाषण, अज्ञान, यह सात दोष आसुरी जीव अर्थात् पापी जीवमें रहते हैं ।

वेदमें कहा है कि धर्मात्मा मनुष्य दम्भ, दर्प, अभिमान, लोभ, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान इन सात दूषित मर्याद ओंको यद्वा मद्यपान दुर्भक्ष्य, स्त्रीसेवन, शिकार, दण्ड, पारुष्य, अन्यदूषित कर्म, इन सात दूषित मर्यादाओंको यद्वा स्तेय, गुरुस्त्रीतल्पारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, फिर फिर दुष्कर्म करना, पाप करनेपर भी असत्य बोलना, इन सात दूषित मर्यादाओंका परित्याग करते हैं । जो मनुष्य इनमेंसे एक भी दूषित कर्मको करता है वह आसुरी जीव कहलाता है । जो धर्मात्मा पुरुष इनका परित्याग कर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, परमात्मा उनको आत्मामें स्वयं वास करता है ।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ भग. १६।५

अर्थ— (हे पांडव) हे पांडुपुत्र अर्जुन ! (दैवी सम्पत्) अभय सत्त्वसंशुद्धि आदि अठ्ठाईस दैवी सम्पत्तियें पुरुषके (विमोक्षाय) संसारसे छुडानेके लिये अर्थात् विमुक्तिके लिये (मता) कही गई हैं. (आसुरी संपत्) काम क्रोधादि सात आसुरी सम्पत्तियां (निबंधाय) संसारमें वारंवार जन्म मृत्यु दिलानेके लिये (मता) कही गई हैं । (दैवीं सम्पदं) तू दैवी सम्पत्तिमें (अभिजातः असि उत्पन्न हुआ है अर्थात् तुझमें सब दैवी सम्पत्तियें विद्यमान हैं, (मा शुचः) अतः तू किसी प्रकारका शोक मत कर । तू युद्ध करता हुआ भी पापसे लिप्त न होगा, प्रत्युत मुक्त हो जाएगा ।

वेदगीता (मंत्र)

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो
गोपाः पुष्टपतिर्वः आजत् । अथ. ३।८।४

अर्थ— हे जीवात्माओ ! (इह) अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि आठ्ठाईस दैवी सम्पत्तिमें (इत्) ही (असाथ) सर्वदा स्थिर रहो अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें वास करो । (परः न गमाथ) इस दैवी सम्पत्तिसे दूर मत जाओ । (इर्यः) सद्व्यवहारसे उपार्जन किये हुए अन्नादि पदार्थोंसे युक्त (गोपाः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले (पुष्टपतिः) दैवी सम्पत्तिका पोषण करते हुए (आजत्) इस लोकमें रहो ।

तुलना— गीतामें कृष्णजीने कहा है अभय, सत्वसे शुद्धि आदि दैवी सम्पत्ति संसार बंधनसे मुक्त करती है और असुरी सम्पत्ति संसारमें जन्म मृत्युके बंधनमें लाती है, वेदमें भी यही कहा है हे जीवात्माओ ! वस्तुतः तुम सब दैवी सम्पत्तिमें उत्पन्न हुए हो । अपनेमें उसी दैवी संपत्तिको पुष्ट करते हुए सब मिलकर इस संपत्तिमें वास करो ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ भग. १६।६

अर्थ— हे अर्जुन ! (अस्मिन लोके) इस संसारमें (दैवः आसुरः एव च) दैवी और असुरी अर्थात् राक्षसी ही सृष्टि

(द्वौ) दो प्रकारवाली (भूतसर्गौ) पांच भौतिक मानी हुई है। (दैव) दैवी सृष्टिका वर्णन (विस्तरशः) विस्तारसे (प्रोक्तः) कहा है। (हे पार्थ !) हे पृथापुत्र अर्जुन ! (मे) मुझसे (आसुरं) आसुरी सृष्टिको (शृणु) सुन।

वेदगीता (मंत्र)

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते। हरिरन्यस्यां भवति स्वधावान् शुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥ यजु. ३३।५

अर्थ— (द्वे) दो भूत सृष्टियें अर्थात् दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि (विरूपे) विरुद्ध स्वरूपवाली एक रक्षक और दूसरी घातक (स्वर्थे) अपने अपने विचारमें गमन करनेवाली अथवा अपने अपने प्रयोजनवाली (चरतः) संसारमें चलती रहती हैं। (अन्यान्या) अन्य अन्य अर्थात् पृथक् पृथक् स्वरूपवाली (वत्सं उपधापयेते) दैवी संपत्ति अपने दैवी पुत्रको और आसुरी संपत्ति अपने आसुरी पुत्रको अपने अपने रस स्वरूप कर्म फलको पान कराती रहती हैं। (अन्यस्यां) एक आसुरी सृष्टिमें (हरिः) सब शुभ कर्मोंके फलोंको हर लेनेवाला आसुरी ज़ीव (भवति) उत्पन्न होता है। (अन्यस्यां) एक दैवी सृष्टिमें (स्वधावान्) प्रशस्त शान्ति, अभयादि अमृत गुणोंवाला (सुवर्चाः) तेजस्वी (शुक्रः) निर्मल ज्ञानवाला अर्थात् सत्वगुण विशिष्ट दैवी जीव (ददृशे) दृष्टिगोचर होता है।

तुलना— गीतामें भूत सृष्टि दो प्रकारकी कही है। एक दैवी सृष्टि और दूसरी आसुरी सृष्टि।

वेदमें भी यही कहा है। संसारमें परस्पर विरुद्ध रूपवाली दो भूत सृष्टियें चल रही हैं, एक दैवी दूसरी आसुरी सृष्टि। दैवी सृष्टिमें दैवी जीव उत्पन्न होते हैं और आसुरी सृष्टिमें आसुरी जीव पैदा होते हैं। दैवी सम्पत्ति दैवी जीवोंको दैवी सम्पत्तिका रस पिलाकर उन्हें दैवी कर्मोंमें परिपुष्ट करती है और आसुरी संपत्ति आसुरी जीवोंको आसुरी कर्मोंके रससे पुष्ट करती है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ भग. १६।७

अर्थ— (आसुराः जनाः) आसुरी सम्पत्ति अर्थात् दंभ दर्प, अभिमानादि आसुरी सम्पत्तिमें वास करनेवाले तामसी मनुष्य (प्रवृत्तिं) शास्त्राऽनुसार संध्या देवोपासनादि धार्मिक कर्मोंमें प्रवृत्तिको और छलकपटादि पापी वृत्तियोंसे (निवृत्तिं च) निवृत्ति अर्थात् पाप कर्मोंसे दूर रहनेको (न विदुः) नहीं जानते और (तेषु) उन आसुरी जीवोंमें (न शौचं) देह और वस्त्रादिकी शुद्धि (न चाऽपि आचारः) और न सद्व्यवहार (न सत्यं) और न ही सत्यभाषण (विद्यते) रहता है।

वेदगीता (मंत्र)

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥ अथ. २।३।३

---

(१) स्वर्थे = 'ऋ-गतौ' 'उशिकुषिगार्थिभ्यः स्थन्' इति भावे कर्मणि वा थन् प्रत्ययः।

(२) अन्याय = कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः, 'समासवच्च बहुलम्' इति द्वित्वम्।

(३) धापयेते 'धेट्-पाने' 'आदेश उपदेशे शिति' इत्यात्त्वम्, हेतुमति णिच्- 'अर्त्तिह्री०' इति पुगागमः तत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नास्तीति ज्ञापितम्। 'शाच्छासा०' कृतात्वातनिर्देशेन सहि पुक् प्राप्तिख्यापनार्थः, यदि तत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया पुक् न प्राप्नोति सोऽनर्थकः स्यात्तस्मात् अध्यापयतीत्यादाविव 'धापयेते' इत्यत्राऽपि पुगागमः सिद्धः। 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति प्राप्तस्य परस्मैपदस्य 'पादिषु धेट् उपसंख्यानम्' इति प्रतिषेधादात्मनेपदम्।

(४) 'हृञ्-हरणे' औणादिक इन् प्रत्ययः।

(५) ददृशे- 'दृशेश्छन्दसि' लुङ्, लङ्, लिट् इति वर्तमाने लिट्।

(६) असुराः = 'असेरुरन्' इति उरन् प्रत्ययः।

(७) अरुस्राणम् = 'स्नै-पाके' अधिकरणे ल्युट् उरु स्नयति, पक्वं भवति, उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति उरुस्राणम्।

(८) आस्रावस्य = 'स्रु गतौ' अस्मात् आङ् पूर्वात् 'श्याद्व्यधास्रुसंस्रु०' इत्यादिना 'ण प्रत्ययः' 'अचोञ्णिति' इति वृद्धिः।

(९) रोगं = 'रुज्यते भज्यते शरीरं अनेनेति रोगः' 'हलश्च' इति करणे घञ् प्रत्ययः 'चजोः कु०' इति कुत्वम्।

(१०) अनीनशत् = णशेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्।

अर्थ— (असुराः) असु अर्थात् छलकपटादिसे जो दूसरोंके प्राणोंको ग्रहण करते हैं अर्थात् हडप कर जाते हैं, यद्वा जो अपने शरीरोंको काम क्रोधादि दुष्कर्मोंसे नरकमें (क्षिपन्ति) डालते हैं, वह तमोगुण प्रधानतावाले आसुरी मनुष्य (इदं) सामने स्पष्ट प्रतीत होते हुए (महत्) सबसे उच्च (अरुष्माणम्) स्वप्रकाशसे परिपक्व अर्थात् मुक्तिधामको (नीचैः खनन्ति) नीचे ही खोदते हैं अर्थात् अपने दुष्कर्मोंके प्रभावसे उच्च पदका परित्याग करके नरकादि नीच योनियोंको प्राप्त करते हैं, वही आसुरी जीव जन्ममृत्यु द्वारा नीचसे नीच गतिको पाते हैं। (तत्) सर्वव्यापक ब्रह्म ही (आस्रावस्य) (आ समन्तात्) चारों ओर स्रव करनेवाला अर्थात् चलनेवाला जन्ममरणात्मक रोग अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरणात्मक रोगका (भेषजं) औषधरूप है। दैवी जीवोंके लिये 'औषधं जान्हवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः' यह किंवदन्ती सत्य हो जाती है। (तत् उ) वह परब्रह्म ही (रोगं) मनुष्यको दुःखी करनेवाले जन्ममरणात्मक आसुरीभावरूपी रोगको (अनीनशत्) नाश करता है अर्थात् शुभ कर्मोंके करनेसे आसुरी रोगका नाश हो जाता है।

तुलना— गीतामें कहा है, आसुरी सम्पत्तिवाले जीव धर्म मर्यादाकी प्रवृत्ति और धर्मविरुद्ध कर्मोंसे निवृत्तिको नहीं जानते, उनमें शुद्धाऽशुद्ध वस्तुका विचार और सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति तथा सत्यभाषण नहीं होता। वेदमें भी यही कहा है आसुरी जीव ब्रह्म प्राप्तिके मार्गको छोडकर, बुरे कर्मोंके करनेसे जन्ममरणात्मक नीच योनियोंको बार बार प्राप्त होते हैं। वह ब्रह्मोपासनासे दूर रहते हैं। जो जीव सत्कर्मों द्वारा ब्रह्मोपासना करते हैं। परमात्मा ही उनके जन्ममरणात्मक रोगका नाश कर देता है, अर्थात् वह दैवी जीव मुक्त हो जाते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ भग. १६।८

अर्थ— (ते) वे आसुरी संपत्तिवाले मनुष्य (जगत्) इस संसारको (असत्यं) स्वाप्निक पदार्थकी तरह मिथ्या (अप्रतिष्ठं) और धर्म अथवा अधर्मके कारण संसार चलता है इस स्थिति अर्थात् मर्यादासे रहित (अनीश्वरं) इसका कोई स्वामी अथवा नियंता नहीं है अर्थात् ईश्वर सत्तारहित है ऐसा (आहुः) कहते हैं। तथा (अपरस्परसंभूतं) प्रकृति और पुरुष अर्थात् स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है। ऐसा कहते हैं। (कामहैतुकम्) स्त्रीपुरुषकी कामचेष्टा ही संसारोत्पत्तिका कारण है, ऐसा मानते हैं। (किम् अन्यत्) और कुछ भी संसारका कारण नहीं अर्थात् जिसको किसीने देखा नहीं क्या वह कारण हो सकता है अतः (अन्यत्) अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म संसारकी प्रतिष्ठाका कारण नहीं है।

वेदगीता (मंत्र)

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति। नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम॥ ऋ. ८।१००।३

अर्थ— हे मनुष्यो! (वाजयन्तः) अपने उदरकी पालनाके लिये केवल अन्न और बलकी कामना करते हुए तुम सब अथवा 'वाजि इति संग्रामनाम' संसार संग्रामको चाहते हुए भी तुम सब (इन्द्राय) परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्माके लिये ही (सत्यं स्तोमं) सच्ची स्तुतिको (सु-प्र-भरत) अच्छी रीतिसे पूर्णतया करो। परंतु आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य ऐसा कहते हैं। (यदि) यदि (सत्यं अस्ति) सत्य ही सत्यरूप ईश्वर है तो उसकी स्तुति करें, परंतु (नेमः इन्द्रः) प्रसिद्ध यशवाला परमात्मा (त्वः) कोई (न अस्ति) नहीं है। क्योंकि (कः ईं ददर्श) किसने इस परमात्माको प्रत्यक्ष रूपसे देखा, अर्थात् किसीने नहीं देखा। अतः इस जगत्को स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ हुआ और स्त्री पुरुषकी कामचेष्टाके कारणरूप, ईश्वर सत्तासे रहित, जगत्को मिथ्या मानते हुए हम (कं अभिस्तवाम) किस ओंकार नाम परमेश्वरकी स्तुति करें, अतः जगत्का स्वामी कोई है जिसे परमात्मा कहते हैं यह वादमात्र है, न कि सत्य रूप, यह आसुरी सम्पत्तिवालोंका विचार है।

तुलना— गीतामें आसुरी सम्पत्तिवाले जीव जगत्को ईश्वर सत्तासे रहित, मिथ्या, धर्माधर्म मर्यादासे शून्य और केवल स्त्री पुरुषके संयोगसे जगत् उत्पन्न होता है इसमें ईश्वरकी सत्ता कारण नहीं है ऐसा मानते हैं वेदमें प्रश्नरूप मंत्र देकर कहा है हे जीवात्माओ! सत्यस्वरूप, जगदुत्पादक, धर्माधर्म मर्यादा स्थापक परमेश्वरकी स्तुति करो, परंतु आसुरी जीवोंका यह कहना है कि इस संसारमें ईश्वरको प्रत्यक्ष रूपसे किसने देखा है, अतः हम किसकी स्तुति करें, कोई परमेश्वर नहीं है, स्त्री पुरुषके संयोगसे जगत् चल रहा है, इसको चलानेवाली और कोई सत्ता नहीं है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ भग. १६।९

अर्थ— (एतां दृष्टिं) संसारका कर्ता और स्वामी कोई नहीं है यह केवल स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होता है, इस विचारदृष्टिका (अवष्टभ्य) आश्रय लेकर (नष्टात्मानः) काम क्रोध लोभादिसे गिरे हुए मनवाले (अल्पबुद्धयः) अनात्मक तुच्छ देहमें आत्मबुद्धि रखते हुए (उग्रकर्माणः) हिंसा, छल, कपटादि बुरे बुरे कर्मोंको करते हुए (अहिताः) परोपकार, परपोषणादि भलाईसे शून्य होकर (जगतः क्षयाय) जगत्के नाशके लिये अर्थात् प्राणिमात्रकी अधोगतिके कारणरूप होकर (प्रभवन्ति) जगत्में उत्पन्न होते हैं ।

वेदगीता (मंत्र)

**अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे
स च त्वाऽनु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥**

अथ. ५।३०।१७

अर्थः— हे जीवात्मन् ! (अयं लोकः) यह समक्ष दृष्टिगोचर होता हुआ संसार अर्थात् देह (प्रियतमः) प्राणिमात्रको परमप्रिय लगता है, परन्तु आसुरी जीवोंका तो परम प्यारा यह देह ही है । (देवानां अपराजितः) ज्ञानी लोगोंसे भी जीता नहीं जा सकता अथवा इन्द्रियोंसे भी अर्थात् इन्द्रियोंके वश करनेपर भी पूरा जीता नहीं जा सकता । क्योंकि कहा है— '**बलवानिन्द्रियग्राम, विद्वांसमपि कर्षति** (त्वं पुरुष)— तू जीवात्मा (यस्मै) जिस देहके कारण (इह) इस देहमें स्थित होकर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्युके लिये जतलाया हुआ (पुरुषः) तू देहमें शयन करनेवाला नित्य भी (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है, अर्थात् जन्म लेता है । देहके नाश होनेपर जीवात्माकी मृत्यु भी औपचारिक कही जाती है, वस्तुतः मृत्यु तो देह ही की है न कि आत्माकी । (स च) और वह तू जीवात्मा उस देहसे पृथक् है । (त्वा) तुझ जीवात्माका (अनुह्वयामसि) फिर फिर आह्वान करता हूँ अर्थात् संबोधित करता हूँ, (जरसः पुरा) जरावस्था अर्थात् वृद्धाऽवस्थासे पहले (मा मृथाः) मत मृत्युको प्राप्त हो । यदि तू दैवी सम्पत्तिमें वास करेगा तो शुभ कर्मोंके करनेसे पूर्णायु भोगेगा, यदि तू आसुरी सम्पत्तिको अपनाएगा, तो अभोग्य भोगनेसे युवाऽवस्थामें ही मर जाएगा ॥ १७ ॥

तुलना— गीतामें कहा है आसुरी सम्पत्तिवाले जीव, मानसिक सदुपयोगसे रहित होकर प्रत्युत बुरे कर्मोंको करते हुए, परहितसे शून्य होकर जगत्के नाशके लिये ही जन्म लेते हैं ।

वेदमें कहा है, यह संसार अर्थात् देह सबको प्रिय है । देवता भी इसीके अधीन हो जाते हैं, यह नित्य आत्मा देहको ही अपना समझती है, उसके आधीन होकर आसुरी सम्पत्तिको अपनाती है, जिससे यौवन कालमें मृत्यु होती है, परमात्मा उपदेश देता है, यदि पूर्णायु भोगनेकी तेरी इच्छा है, तो दैवी सम्पत्तिको अपना ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

भग. १६।१०

अर्थ— (दंभमानमदान्विताः) दम्भः = दिखावेके लिये धार्मिक चिन्ह रखना, मान = अपने आपको सबसे उत्तम दिखानेका प्रयत्न करना, मद = धन, बल, परिवारकी अधिकता जतलानेकी मस्ती, इनसे युक्त हुए हुए आसुरी जीव (दुष्पूरं कामं) विषयोपभोगसे न पूरी हो सकनेवाली अथवा कठिनतासे पूरी होनेवाली कामना अर्थात् इच्छाको (आश्रित्य) आश्रय करके (मोहात्) आसुरी सम्पत्तिके मोह वशसे (असद्ग्राहान्) न ग्रहण करने योग्य भी अनर्थोत्पादक वस्तुओंको (गृहीत्वा) लेकर (अशुचिव्रताः) अपवित्र नियमवाले होकर (प्रवर्तन्ते) जगत्के विनाशके लिये प्रवृत्त रहते हैं ।

वेदगीता (मंत्र)

**यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे
अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता
असन्नस्त्वाऽसत इन्द्र वक्ता ॥**

अथर्व. ८।४।८; ऋ. ७।१०४।८

अर्थ— (इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (यः) जो मनुष्य दम्भमान मदसे युक्त होकर अशुद्ध नियमोंपर चलता हुआ, आसुरी सम्पत्तिवाला नास्तिक (पाकेन मनसा) अन्यायाचरणसे परिपक्व मनसे (चरन्तं मा) सर्वत्र गतिशील होनेसे व्यापक स्वरूप मुझ परमात्माको (अनृतेभिः वचोभिः) जगत्का कर्ता-धर्ता, ईश्वर नहीं है, और न परलोक है और न कर्मफल है, इत्यादि असत्य वचनोंसे (अभिचष्टे) वर्णन करता है । (असतः

वक्ता) विनश्वर देह और उसकी इन्द्रियें ही संसारमें सत्य और इससे भिन्न आत्मा कोई नहीं है, यही सब कुछ है इसका ही वर्णन करता हुआ (असन्) मुक्तिपदमें अविद्यमान अर्थात् मुक्तिसे भ्रष्ट हुआ हुआ (अस्तु) होता है (काशिना संगृभीता आपः इव न) जैसे मुष्टिमें पकडा हुआ जल अंगुलियोंकी छेदोंसे निकल कर मुष्टिमें विद्यमान नहीं रहता ऐसे आसुरी जीव भी मुष्टिसे जलकी तरह मुक्तिपदसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, जब मनुष्य दम्भी, मदमस्त्री मान्याऽवस्थामें प्राप्त होता है, तब कठिनसे कठिन कामनाओंका सहारा लेकर, अग्राह्य वस्तुओंको ग्रहण कर लेता है, फिर अशुद्ध नियमोंमें प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसकी असद्गति होती है, और वह जन्म मरणके बंधनमें फंसा रहता है।

वेदमें भी कहा है, जो प्राणी अशुद्धाचरणों द्वारा परिपक्व मनसे सर्वव्यापक परमात्माको ' कोई ईश्वर नहीं और परलोक नहीं ' इत्यादि असत्य वचनोंसे वर्णन करता है और देहको ही आत्मा मानता है, वह प्राणी मुक्ति पदसे बहुत दूर रहता है, वह आसुरी जीव कहा जाता है ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

भग. १६।११-१२

अर्थ— (अपरिमेयां) तोल और मापके परिमाणोंसे बाहर अर्थात् बहुत (प्रलयान्तां) मृत्युपर्यन्त जानेवाली (चिन्तां) चिन्ताको (उपाश्रिताः) आश्रित किये हुए (कामोपभोगपरमाः) कामनाओंके उपभोगको परम उद्देश्य माननेवाले (एतावत् इति निश्चिताः) विषयजन्य सुख ही सुख है, इससे भिन्न और कोई सुख नहीं है इतने निश्चयवाले होकर (आशापाशशतैः बद्धाः) सैंकडों ही अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्तिमय आशा रूपी जालसे बंधे हुए (कामक्रोधपरायणाः) काम और क्रोधमें तत्पर (कामभोगार्थं) अपनी कामनाओंके उपभोगके लिये (अन्यायेन) अनीति अथवा अनर्थसे (अर्थसंचयान्) धनके उपार्जन करनेका (ईहन्ते) प्रयत्न करते हैं ॥

वेदगीता (मंत्र)

तेऽधराञ्चः[1] प्रप्लवन्तां[2] छिन्ना नौरिव बंधनात् ।
न वै बाधप्रणुत्तानां[3] पुनरस्ति निवर्तनम् ॥

अथर्व. ३।६।७

अर्थ— (ते) जन्मसे लेकर मृत्युतक बहुत प्रकारकी चिन्ता रखनेवाले, कामी, क्रोधी, दम्भी, लोभी बने हुए, दिन रात विषय वासनामें लम्पट आसुरी जीव (अधराञ्चः) अधोगतिको लेजानेवाले काम क्रोध लोभ दम्भादि विषयोंकी ओर जाते हुए, अर्थात् परमात्मासे विमुख हुए हुए (प्रप्लवन्तां) संसार समुद्रके प्रवाहमें उछलते कूदते रहते हैं अर्थात् पुनः पुनः नीच योनियोंमें जन्म लेते रहते हैं। न कि संसाररूपी समुद्रसे पार होकर जन्ममरणके बंधनसे छूट जाते हैं। (बन्धनात् छिन्ना नौः इव) नदीके तीर पर रस्सी द्वारा वृक्षादि बंधनसे काटी हुई अर्थात् भिन्न हुई हुई नौका जिस तरह नदीके प्रवाहसे दूर बहा ले जाई जाती है, फिर अपने स्थानपर नहीं आती, ऐसा मनुष्य भी परमात्माके नियम बंधनोंसे छूटा हुआ संसारसमुद्रमें जन्ममरणके प्रवाहमें बहता रहता है। (वै बाध प्रणुत्तानां) विशेष विशेष प्रकारकी काम क्रोधादि बाधाओंसे प्रेरित हुए हुए आसुरी जीवोंका (पुनः निवर्तनं न अस्ति) फिर संसार समुद्रसे पार होनेका कोई मार्ग नहीं है अर्थात् मुक्तिपथ पर वापिस नहीं आते।

तुलना— गीतामें कहा है सांसारिक विषयोंका अधिक चिन्तन करनेवाले, सांसारिक विषयोंके उपभोगमें ग्रस्त आसुरी जीव, अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये अन्यायसे धनोपार्जन करनेका प्रयत्न करते हैं; इसी कारण सदा नीच योनियोंमें जन्म लेते रहते हैं, परमात्मासे दूर रहते हैं वेदमें भी यही कहा है, कि कामी, क्रोधी, लोभी, आसुरी जीव संसार समुद्रमें डूबे रहते हैं, जैसे बंधनसे कटी हुई नौका नदी प्रवाहमें बह कर फिर वापिस नहीं आती। ऐसे आसुरी जीव भी परमात्मासे विमुख होकर, परमात्मासे दूर ही रहते हैं ॥ ८ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

---

(१) अधराञ्चः = अधरशब्दोपपदात् अञ्चेतेः क्विन् ।
(२) प्लवन्ताम् = प्लुङ् ल्पुङ् गतौ भ्वादि ।
(३) प्रणुत्तानाम् = ' नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ' इति विकल्पनात् निष्ठायाः नत्वाभावः ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अर्थ— (मया अद्य इदं लब्धं) मैंने आज यह वस्तु पाली है (इमं मनोरथं प्राप्स्ये) इस वस्तुके पानेसे मैं इस मनोरथको पा लूंगा (इदं अस्ति इदं अपि मे) यह घर मेरा है और यह दृश्यमान वस्तु भी मेरी है (पुनः इदं धनं अपि मे भविष्यति) इस पुरुष (चाचा, भ्राता आदि) की मृत्युके बाद इसका धन भी मेरा धन होगा । (मया असौ शत्रुः हतः) मैंने वह दूर रहनेवाला शत्रु मार दिया है (च अपरान् अपि हनिष्ये) और दूसरे उसके साथी शत्रुओंको भी मार दूंगा । (अहं ईश्वरः) मैं धन, जन, घरका स्वामी हूं अथवा मैं देशका राजा हूँ (अहं भोगी) मैं सांसारिक पदार्थोंका भोक्ता अर्थात् विषय वासनाका आनंद लेनेवाला हूं (अहं सिद्धः) मैं सब कार्य करनेमें निपुण हूं अथवा योग समाधिद्वारा सिद्ध हो चुका हूँ । (अहं बलवान्) मैं बली हूँ । (अहं सुखी) मैं सब प्रकारसे सुखी हूं । (आढ्यः अस्मि) मैं परिपूर्ण धन होनेसे सेठ हूँ । (अभिजनवान् अस्मि) मैं बहुत परिवारवाला हूं । (मया सदृशः अन्यः कः अस्ति) इस संसारमें मेरे समान और कौन है । (यक्ष्ये) अपने मनकी वृद्धिके लिये यज्ञ करता हूं और यज्ञ करूंगा (दास्यामि) यज्ञमें अपने नामकी प्रसिद्धिके लिये नट और गाने बजानेवालोंको धन दूंगा । (मोदिष्ये) नटादियोंको धन देकर और स्वयं भी भोजन करके प्रसन्न हूंगा । (इति अज्ञान वि मोहिताः) इत्यादि अज्ञानसे मोहित हुए हुए (अनेकचित्तविभ्रान्ताः) यह पा लिया, इसे पालूंगा, यह मेरा धन है, यह मेरा परिवार है इत्यादि अनेक प्रकारके चित्तविकारोंसे भ्रांत हुए हुए (मोहजालसमावृताः) सदसद्विवेक शून्यतामय मोह जालोंसे घिरे हुए (कामभोगेषु प्रसक्ता) इच्छित सांसारिक विषयोंके उपभोगोंमें लगे हुए (अशुचौ नरके) रौरवादि परम अशुद्ध नरकोंमें अर्थात् नीचसे नीच योनियोंमें (पतन्ति) गिरते हैं अर्थात् अत्यन्त अधोगतिको पाते हैं ॥ १६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

न हि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षञ्चन प्रति ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ऋ. १०।११९।८

हन्ताऽहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ऋ. १०।११९।९

अर्थ— (उभे = उभयोः, रोदसी = रोदस्योः) आकाश और पृथिवी दोनोंके मध्यमें (मे अन्यं प्रतिपक्षं) मेरा प्रतिपक्ष अर्थात् मेरे जैसा और (न हि) कोई नहीं है । (इति) इसलिये (कवित् सोमस्य (सोमं) अपाम्) निश्चयसे बहुत बार अमृतमय औषधियोंका अनुपान करता हूं ॥ ८ ॥

(हन्त) यह मैं संभावना करता हूँ अथवा मैं जानता हूँ (अहं) मैं बलवान् राजा होकर (इमां पृथिवीं) इस सारी पृथिवीको अर्थात् पृथिवी पर वास करनेवाले लोकोंको (इह निदधानि) इस अपने हाथमें धारण करता हूँ अर्थात् इस पृथिवीलोकके मनुष्य मेरे वशमें हैं । क्योंकि मैंने बहुत बार बलवर्द्धक औषध पान किया हुआ है ॥ ९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते ।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥
अथ. ३।२२।५

अर्थ— (चतस्रः प्रदिशः) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ये चारों दिशाएँ और चारों दिशाओंके कोण (यावत्) जितने तक फैले हुए हैं (यावत् चक्षुः समश्नुते) जितने पर्यंत मेरा नेत्र व्याप्त होता है अर्थात् देखता है (तावत्) उतने तक अर्थात् उतना ही (इन्द्रियम्) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य युक्त धनाढ्यका चिह्न रूप धन (समैत) सम्यक्तया प्राप्त होता है (तत्) उस धन और जनसे उत्पन्न हुआ हुआ (हस्तिवर्चसम्) हाथीके बलकी तरह बल (मयि) मुझ धनीमें विद्यमान है, अतः मेरे समान इस संसारमें और कौन हो सकता है ।

---

(१) सोमस्य– क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्, इति सोमस्य सम्प्रदानसंज्ञा– ' चतुर्थ्यर्थे बहुलम् ' इति षष्ठी ।

(२) अपाम्– पा = पाने, ' गातिस्था० ' इति सिचो लुक् ।

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमन्त्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

[illegible] श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मार्च १९६२

★

रानी लक्ष्मीबाई

★

५० नये पैसे

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक ३

क्रमांक १७० : मार्च १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

ॐ फाल्गुन : विक्रमी संवत् २०१९

शत्रुसेनाका नाश

अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥

अथर्व ३।१।३

हे (मघवन् इन्द्र) धनवान् इन्द्र ! (अ-मित्र-सेनां) शत्रुकी सेना। (अस्मान् अभि शत्रूयतीं) हमारे सामने शत्रुता करती है, हे (वृत्र-हन्) शत्रुको मारनेवाले इन्द्र और (अग्निः च) और अग्नि ! तुम दोनों मिलकर (तान् प्रति दहतं) उन सैनिकोंको जलाकर भस्म कर दो ॥

युद्धमें शत्रुकी सेनाको मोहित करके जलाकर नष्ट करना उचित है। शत्रुको जीवित रखना नहीं है। यदि हो सके, तो तीक्ष्ण शस्त्रोंसे उनका वध करना चाहिए अथवा अग्निसे जलाकर उनको भस्म करना चाहिए। जो हो वह करके शत्रुसेनाको नष्ट करना ही योग्य है।

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा. व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता- (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता- (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता- (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	.२५
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	.२५
५ काण्व	,,	,,	२)	.२५
६ सव्य	,,	,,	१)	.२५
७ नोधा	,,	,,	१)	.२५
८ पराशर	,,	,,	१)	.२५
९ गोतम	,,	,,	२)	.३७
१० कुत्स	,,	,,	२)	.३७
११ त्रित	,,	,,	१.५०	.३१
१२ संवनन	,,	,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	.५०	.१२
१४ नारायण	,,	,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

यज्ञकी दक्षिणा

(लेखक— श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी, वेद-सदन, महारानी रोड, इन्दौर नगर)

दक्षिणाका महत्व

यज्ञ और दक्षिणाका परस्पर अत्यंत घनिष्ट सम्बन्ध है। जितना महत्व यज्ञका है उतना ही दक्षिणाका महत्व है। दक्षिणासे ही यज्ञ महत्वको प्राप्त होता है और यज्ञके बिना दक्षिणाकी भी कोई प्रतिष्ठान नहीं। यज्ञके अतिरिक्त कर्मके लिये दिये जानेवाले द्रव्यकी दक्षिणा संज्ञा भी नहीं होती। यज्ञ करानेके निमित्त दिये गये धनको जो बडी श्रद्धा एवं आदरसे दिया जाता है, वही दक्षिणा नामको सार्थक करता है। परमात्माकी प्रीति प्राप्त करने, आत्मोन्नति तथा समस्त विश्वके कल्याणके लिये यज्ञ होता है। उस यज्ञका प्रारंभ ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना, स्वस्ति एवं शान्तिके मन्त्रोंके उच्चारणके अनन्तर ऋत्विग्वरणपूर्वक अग्न्याधानादि कर्म करके अखिल ब्राह्मण्डके दैवत तत्वकी शुद्धि एवं पुष्टिकी जाती है, और उस यज्ञका अन्त दक्षिणाकी क्रियासे होता है।

दक्षिणासे यज्ञकी सफलता

आदि और अन्तके ऋत्विग्वरण एवं दक्षिणा प्रधान. इन्हीं दो कर्मोंके आश्रित यज्ञकी सफलता एवं यजमानको फल प्राप्ति होती है- अन्यथा नहीं। इसीलिये शास्त्रकारों ने दक्षिणा रहित यज्ञको नष्ट हुआ यज्ञ माना है। 'घ्नन्ति वा एतद्यज्ञम्'— 'एष यज्ञोहतो न दक्षते' इत्यादि शतपथके वाक्य दक्षिणाकी महती आवश्यकताको प्रकट कर रहे हैं, इस नष्टताका तात्पर्य यजमानके फल प्राप्ति विशेषसे ही सम्बन्धित है, सर्व सामान्य फलके नाशसे नहीं। अतः सभी यज्ञोंमें दक्षिणादिकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु जो यज्ञ व्यक्तिगत लाभ प्राप्तिके लिये किये जाते हैं अथवा संस्कारादि यज्ञ कर्म हैं, उनमें तो दक्षिणा देना और भी अधिक आवश्यक है।

यज्ञपत्नी-दक्षिणा

यजुर्वेदके १८ वें अध्यायमें राष्ट्रभृत् होमके मन्त्रोंमें यज्ञ और दक्षिणाके परस्पर गूढ, प्रेममय, फलप्रद एवं अभिन्न सम्बन्धको समझानेके लिये अलंकार रूपमें वर्णन किया है। परमात्माके अखिल विश्व या ब्रह्माण्ड रूपी राष्ट्रके भरण एवं पोषण करनेमें यज्ञ और दक्षिणाका भी प्रमुख भाग होनेसे इसको राष्ट्रभृत् मन्त्रोंमें ग्रथित किया है। मन्त्रमें— 'भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम। स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु०' इस मन्त्रमें यज्ञको गन्धर्व एवं दक्षिणाको अप्सराका रूप दिया है। यज्ञ पुरुष रूप है तो दक्षिणा उसकी पत्नी रूप है। जिस प्रकार पतिपत्नीके दाम्पत्य रूप एकत्वसे सृष्टिका प्रवाह चलता रहता है और पोषण भी होता रहता है, उसी प्रकार यज्ञ एवं दक्षिणाके दाम्पत्य रूप एकत्व सम्बन्धसे वेदका सतत प्रवाह चलता रहता है और वेदका पोषण होता रहता है। यदि पुरुष कितना ही हृष्टपुष्ट एवं सुन्दर हो और वह पत्नी विहीन हो, तो वह सृष्टि प्रवाह चलानेमें या सन्तानोत्पत्तिमें निष्फल होता है। इसी प्रकार बहुत व्ययसे, उत्तम प्रकारसे रचाये तथा श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञकी सफलता तबतक नहीं हो पाती जबतक दक्षिणाका साहचर्य न हो।

प्रशंसनीय दक्षिणा देवे

यदि पुरुष हृष्टपुष्ट हो और पत्नी रोगी, दुर्बल एवं अप्रसन्न हो तो भी फल प्राप्ति संभव नहीं। यदि कदाचित् फलकी आशा भी हो जावे तो फल प्राप्तिका अवसर आने-पर वह नष्ट भ्रष्ट हो जाता है या दाम्पत्य जीवन ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार बहुत व्यय साध्य उत्तम यज्ञोंमें यदि दक्षिणाकी स्थिति क्षीण, दुर्बल, दरिद्र या खेद जनक हो तो उससे भी फल प्राप्ति संभव नहीं। इसीलिये वेदमें यज्ञकी अप्सराका नाम 'स्तावा' बताया है। अर्थात् यज्ञकी दक्षिणा 'स्तावा' स्तुति योग्य, प्रशंसा योग्य हो। प्रशंसा स्वयंके द्वारा की हुई निरर्थक है। ऋत्विजों और यज्ञमें आगत महानुभावों द्वारा जो प्रशंसनीय हो वही 'स्तावा' नामको सार्थक करनेवाली होगी। यही स्तावा रूपी-प्रशंसारूपी दक्षिणा यजमानके यशका विस्तार देश

देशान्तरमें तथा युगयुगान्तरमें भी करती हुई, सबके आशीर्वाद रूपी प्रशंसा रूप वचनोंसे यजमानके लिये चारों ओरसे सुख समृद्धिका कारण बनती रहती है।

यज्ञके अनुरूप दक्षिणा देवे

दक्षिणा प्राप्त ऋत्विजादि एवं उपस्थित विद्वान् यजमानकी कीर्तिका विस्तार उतने ही सामर्थ्यसे करते हैं, जितने सामर्थ्यसे यजमान दक्षिणाको 'स्तावा' प्रशंसा योग्य बनाता है। शतपथमें दक्षिणा देनेके बारेमें विवेचन करते हुए लिखा है — 'यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षिणाभिर्दक्षयति- एकमात्रा दक्षिणानां दद्यात्' अर्थात् जितना बडा यज्ञ हो, जिस मात्रासे किया जावे, उतनी ही बडी मात्राकी दक्षिणासे वृद्धिको प्राप्त होता है- इस प्रमाणसे दक्षिणा देवे।

गौ दक्षिणा

प्रायः दक्षिणाके बारेमें गृह्य सूत्रोंमें संस्कारादिकी दक्षिणा कमसेकम गौ नियतकी है। शतपथमें भी– 'तस्यै धेनुर्दक्षिणा' धेनु दक्षिणामें देनेको बताई है। प्राचीन समयसे धेनु ही हमारी अर्थ व्यवस्थाका आधार रही है। यज्ञके साथ तो धेनुका और भी सम्बन्ध है। यजमानके लिये यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें- 'अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीः' इस गोपति यजमानके पास बहुतसी गौएँ हों- यह प्रार्थना की है। जिस प्रकार यज्ञके द्वारा सर्व कामनाओंका दोहन होता है, उसी प्रकार हमारे जीवनकी धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी साधनाओंकी आश्रयभूत पूरक कामनाओंका दोहन-प्राप्ति धेनु-गौके द्वारा होती है। अतः दक्षिणाकी प्रधान इकाई गौको ही नियत किया गया। और इसीकी अपेक्षासे दक्षिणाकी मात्रा बढाई गई। शतपथमें-' ता वै षड् दद्यात्-द्वादश दद्यात्-चतुर्विंशति दद्यात्' कहकर ६,१२, एवं २४ संख्या दक्षिणामें देनेका विधान किया है। इतनी दक्षिणा देनेका महत्व प्राचीन ऋषियोंने समझा था। इसका प्रधान कारण यह भी था कि दक्षिणाकी समुचित मात्राके विना यज्ञका जो पश्चात्परिणाम, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्रसे प्राप्त होता है, वह यजमानको प्राप्त नहीं होता और हानि भी हो सकती है।

दक्षिणासे मनुष्य देवोंकी तृप्ति

जो लोग यह समझते हैं कि अग्निमें आहुतिकी सम्पूर्णतासे ही यज्ञ पूर्ण हो जाता है और दक्षिणाकी आवश्यकता नहीं, वे- 'घ्नन्ति वा एतद्यज्ञम्' (शतपथ) के अनुसार यज्ञको निःसन्देह नष्ट ही करते हैं, क्योंकि- 'आहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्' यह सिद्धान्त महर्षि याज्ञवल्क्यने यज्ञके लिये स्थिर किया है; अर्थात् आहुतिसे तो देवता प्रसन्न होते हैं और दक्षिणासे वेदज्ञ विद्वान् देव तृप्त होते हैं। इस प्रकार जब दोनों प्रकारके देव प्रसन्न होते हैं तो यजमानको सुनिश्चित, निर्धारित फलकी प्राप्ति होती है।

क्या दक्षिणा लेना बुरा है

आजकल जन समाजमें दक्षिणा देनेकी प्रणालीकी बहुत उपेक्षा है। कुछ लोग तो ऐसे भी हैं, जो यह भी बडे बुरे भावमें कहते है कि अमुक तो दक्षिणा लेते हैं। मानो यज्ञकी दक्षिणा लेना बडा भारी दोष है। परन्तु संस्कारविधिमें महर्षि स्वामी दयानन्दजीने 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः' इस मनु वाक्यका अर्थ करते हुए व्यक्तिगत कार्यके लिये दान लेनेको निन्दित लिखा है और यज्ञादि कराकर दक्षिणा लेनेको श्रेष्ठ लिखा है तथा संस्कारोंके अन्तमें भी दक्षिणा देनेका विधान किया है। जब यज्ञ श्रेष्ठ कर्म है और दक्षिणा उसीका प्रमुख अंग है तो वह भी श्रेष्ठ ही है। यदि दक्षिणा लेना दोष होता तो उसको विद्वान् देवोंको देनेका विधान शास्त्र भी क्यों करते ? यदि विधान करते तो मूर्खोंको देनेका विधान कर देते या अपंगोंको, अपाहिजोंको ही देनेके लिये लिखते। अतः दक्षिणा लेना श्रेष्ठ ही है।

दक्षिणा छिपाकर न दें

वेदमें दक्षिणाको यज्ञकी पत्नीका रूप दिया है और उसका नाम 'स्तावा' प्रशंसा योग्य लिखा। यदि वह अग्राह्य होती तो उसका नाम 'स्तावा' नहीं होता अपितु 'निन्द्या' ही होता। अतः दक्षिणा लेना और देना श्रेष्ठ कर्म है। बहुतसे यजमान आजकल दक्षिणाको लिफाफेमें बन्द करके देते हैं जिससे किसीको मालूम न पडे कि क्या दिया है, जबतक यज्ञकी दक्षिणा प्रकट रूपमें, यज्ञ शालामें अच्छी प्रकार सत्कारसे, सबके सामने नहीं दी जावेगी तो उसकी प्रशंसा भी नहीं होगी 'स्तावा' नाम सार्थक नहीं होगा। अतः गुप्त रूपसे दक्षिणा नहीं देनी चाहिये। दक्षिणा छिपानेकी वस्तु नहीं है। दानको छिपाकर गुप्त रूपसे विना अपना स्वामित्व एवं अभिमान प्रकट किये देना तो अच्छा है। परन्तु आजकल दक्षिणा तो गुप्त रूपमें देकर अपनी

कृपणताको छिपा लेते हैं और दानकी राशिकी खूब पब्लिसिटी करते हैं। वह दान दान नहीं जिसके द्वारा अपनी पब्लिसिटी कराई जाती है। वह तो अपनी पब्लिसिटीपर व्यय किया गया धन हुआ। दान वास्तवमें नहीं हुआ।

क्या दक्षिणा अग्राह्य है?

यज्ञ श्रेष्ठ कर्म है तो यज्ञांग दक्षिणाभी श्रेष्ठ कर्म है। कुछ लोग कहते हैं कि यज्ञमें दक्षिणा न लेना भी त्याग है। ऐसे त्यागका ढोंग रचनेवाले शास्त्राज्ञाका उल्लंघन तो करते ही हैं और चतुर्विध परम पुरुषार्थमेंसे एक अंग-अर्थका ही लोप करके अधर्मका प्रचार करते हैं। ऐसा त्यागवाद वेद प्रचारके लिये और वेदकी रक्षाके लिये हानिकारक ही है।

क्या दक्षिणामें द्रव्य न हो?

कुछ लोग कहते हैं कि यज्ञमें दक्षिणा लेनी चाहिये, परन्तु वह दक्षिणा भौतिक या द्रव्यमयी नहीं होनी चाहिये। यजमानके दुर्गुणोंको ऋत्विज् ब्रह्मादि उनसे मांगकर उनका त्याग कराकर बुराईको ले लेना और यजमानमें व्रतादि की स्थापना करा देना ही साधुसन्तोंके लिये महान् दक्षिणा रूप उपकार कर्म है। इसमें जहां तक बुराईयोंके त्याग एवं व्रतानुष्ठान रूप आचरणकी ओर यजमानकी प्रवृत्ति कराना है वह तो ठीक है परन्तु उसे दक्षिणाका रूप दे देना ऋषि-महर्षियोंके तथा वेदके सिद्धान्तके प्रतिकूल है।

दक्षिणासे वेद रक्षा

धर्म और अर्थका साहचर्य रहना चाहिये। धर्मसे अर्थोपार्जन करना श्रेष्ठ है तो धर्मकार्योंसे भी अर्थोपार्जन श्रेष्ठ कार्य है। यदि धर्म एवं धर्मकार्योंसे अर्थोपार्जनको हेय या उपेक्षित कर दिया जावे तो फिर अधर्मसे अर्थोपार्जनकी प्रवृत्ति बढती है। उस अवस्थामें अधर्मसे अज्ञान एवं असत् कर्मोंका प्रवाह चलने लगता है। हमारे ऋत्विज् पुरोहित, आचार्योंको यदि हम यज्ञमें अच्छी दक्षिणा नहीं देंगे तो यज्ञयागादि कर्मोंका लोप भी हो जावेगा और उन पुरोहितोंको अर्थोपार्जनके लिये किसी न किसी वृत्तिको अपनाना पडेगा। यदि यज्ञादि बहुत मात्रामें होंगे और उनमें हमारे पुरोहितोंको अच्छी दक्षिणा मिलती रहेगी तो वे वेदके ही स्वाध्यायमें दिनरात लगे रहेंगे और उनकी सन्तान भी वेदके अध्ययन-अध्यापनमें लगी रहेगी अन्यथा वेदकी परम्परा लुप्त हो जावेगी। अतः दक्षिणा देनेमें अर्थकी उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं करनी चाहिये। वेदकी रक्षा एवं प्रचारके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

महर्षिदयानन्दजीका आदेश

दक्षिणाके बारेमें महर्षि स्वामीदयानन्दजी सरस्वतीने संस्कारविधिमें प्राचीन शास्त्रोंके आधारपर बहुत कुछ लिखा है। उनके दिये हुए उद्धरण ध्यान देने योग्य है। यज्ञपात्रोंके लक्षण प्रकरणमें उन्होंने लिखा है कि— 'ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलांगुलीयकवासांसि'— अर्थात् यज्ञके प्रारम्भमें जब ऋत्विजोंका वरण किया जावे तो उनको वरण के साथ सुवर्णका कुंडल, अंगूठी और उत्तम वस्त्र देकर वरण करे। इसके पश्चात् अग्न्याधानकी दक्षिणाके बारेमें लिखा है कि— 'अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपंचाशद्गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदशः, सर्वेषुपक्षे आदित्ये अष्टौ धेनवः। वरार्थचतस्रो गावः।' अर्थात् अग्न्याधानके लिये ४९ या २५ या १३ या ८ धेनु दक्षिणा में देनी चाहिये। यहां पर आठ धेनु (गौ) न्यूनसेन्यून अग्न्याधानकी दक्षिणा देनी चाहिये, ऐसा मतव्यक्त किया है। जहां गौके प्रमाणसे दक्षिणा देना या विधान है वहां वरके प्रमाणसे भी दक्षिणा देनेका विधान है। अमुक कर्मकी दक्षिणा वर या दो वर आदि देवे, ऐसा विधान शास्त्रोंमें लिखा है वहां वरसे तात्पर्य ४ गौवोंका ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् किन्हीं कर्मोंमें न्यूनसेन्यून एक वर भी दक्षिणा मानने पर ४ गौ न्यून से न्यून दक्षिणा भी होती है। गौ शब्दसे तात्पर्य प्रथम प्रसूता सवत्सा गौसे होता है।

दक्षिणासे वेदमें प्रवृत्ति

यदि ऋत्विग्वरणके बाद अग्न्याधान या यज्ञके सम्पूर्ण कर्मके अन्तकी दक्षिणा इसे मान ले और इतनी या इससे आधी या चौथाई भी दक्षिणा समाजके विद्वानोंको प्राप्त होने लगे तो उनको वेदके अतिरिक्त अन्य किसी व्यवसायमें लगना ही न पडेगा और प्रत्येक अपना वेदानुसन्धान कार्य स्वतन्त्ररूपसे प्रसन्नतासे चला सकेगा। धेनुका प्रतिनिधि-रूप द्रव्य भी माना जाता है। अतः कमसे कम ८ सद्यः प्रसूता गौओंका जो मूल्य होता हो उतना ऋत्विजोंको दक्षिणामें देना भी प्राचीन ऋषि मुनियोंको अभीष्ट था।

दक्षिणा कैसे दें?

दक्षिणादि देनेकी क्रिया किसप्रकारसे करनी चाहिये, इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। निरादर भावसे,

उपेक्षित रूपसे या अभिमानसे या ऋत्विजों पर हम बडी कृपा कर रहे हैं इत्यादि प्रकारसे दक्षिणा नहीं देनी चाहिये, अपितु ऋत्विजोंने हमारे प्रति बडी कृपाकी है और इनकी कृपासे परमात्माकी कृपा एवं प्रसाद प्राप्त होगा तथा यज्ञकी सफलता होगी, ऐसे पूजनीय एवं श्रद्धायुक्त भावसे बडे विनम्र होकर दक्षिणा देनी चाहिये। महर्षि स्वामी दयानन्दजीने इसके लिये 'उत्तम प्रकारसे यथासामर्थ्य' देनेके लिये लिखा है। उत्तम प्रकार वही है जिसका ऊपर उल्लेख किया है और यथा सामर्थ्यका तात्पर्य न्यूनसे न्यून दक्षिणासे लेकर जो अधिकसे अधिक देनेकी सामर्थ्य हो वह दक्षिणामें देना योग्य है। महर्षिस्वामी दयानंदजी सरस्वती देनेकी वस्तुओंमें-आसन, अन्न (फलादि) जल (विविध-पेय), वस्त्र पात्र एवं धनादिका उल्लेख करते हैं। अतः यथासामर्थ्य शब्दसे इन्हींका न्यूनाधिक परिमाण ग्रहण किया जाना चाहिये।

दक्षिणाके बाद क्या हो

दक्षिणा देनेके पश्चात् ऋत्विजोंको प्रथम भोजन कराना चाहिये। आजकल ऋत्विजोंके भोजनादिके लिये तो कोई पूछता नहीं है, स्वयंके भोजन एवं अपने इष्ट मित्रोंके चाय, नाश्ता या भोजनादिकी व्यवस्था करते हैं। ऋत्विज भूखे रहें, इसकी चिन्ता नहीं रहती है। परन्तु महर्षि स्वामी दयानंदजी लिखते हैं कि- हुतशेष घृतभात मोहनभोग (यज्ञशेष) को यजमान एवं यजमान पत्नीको ग्रहण करना चाहिये परन्तु उससे भी पूर्व ऋत्विजोंको यज्ञकी दक्षिणा देकर पुनः भोजन करावे और भोजनोपरान्त भी पुनः दक्षिणा देके उन्हें सत्कारपूर्वक विदा करे। पश्चात् यजमान एवं यजमान पत्नी यज्ञ शेषको पहले खाकर फिर भोजन करें। इस प्रसंगमें महर्षिने भोजनके बाद भी दक्षिणा देनेको लिखा है जैसा कि आर्य समाजियोंसे अन्य जनोंमें भोजनके बाद दक्षिणाकी प्रथा है। आर्य समाजियोंको भी यह व्यवहार प्रचलित करना चाहिये। यह भी वैदिक विधि ही है।

न्यून दक्षिणासे शूद्रत्वकी वृद्धि

यज्ञके प्रारम्भमें वरणमें कुंडल, अंगूठी, उत्तम वस्त्रादि और यज्ञके अन्तमें उत्तम दक्षिणा, पुनः भोजनोपरान्त दक्षिणा देनेके लिये विधान किया है। कुछ लोग कहेंगे कि यह तो बहुत हो जाता है। तो क्या आप चाहते हैं कि वैदिक विद्वानोंको बहुत न दिया जावे और उनका शोषण ही होता रहे। वैदिक विद्वानोंके शोषणसे वेदकी हानि हो रही है और हमारा समाज वेदप्रेमी होते हुए भी वेद विहीन होता जा रहा है। भजन कीर्तनके व्यर्थके जोशीले व्याख्यानोंके प्रवाहमें बहे जा रहे हैं। इस प्रकार वेद और वैदिक विद्वानोंकी उपेक्षासे शूद्रत्वकी वृद्धि हो रही है और आस्तिक कहे जानेवाले समाजमें नास्तिकताका साम्राज्य फल फूल रहा है। यह सामाजिक तथा जातिगत अपराध है अतः इसका फल आर्य समाजको बुरी तरहसे भोगना पडेगा और भोगना पड रहा है। परिणामतः आज हमें कहीं भी उन्नति तो दृष्टिगोचर नहीं हो रही है अपितु सर्वत्र अवनति कलह और विनाश ही दृष्टिगोचर हो रहा है। यह सब अपने उद्देश्यसे विमुख होनेका ही परिणाम है।

दक्षिणा कब देवे

यज्ञकी दक्षिणा यज्ञके तुरन्त बाद ही देनी चाहिये, विलम्बसे नहीं। विलम्बसे देनेसे यज्ञ और दक्षिणाका स्वरूप बिगडता है। महर्षि स्वामी दयानंदजीने पूर्णाहुतिके उपरान्त ही इस क्रियाका विधान किया है, अतः दक्षिणाकी क्रिया पूर्णाहुतिके पश्चात् तुरन्त ही करनी चाहिये। तुरन्त दक्षिणा देनेके लाभ और विलम्बसे दक्षिणा देनेमें दोषको प्रकारान्तरसे ग्रन्थोंमें निम्न प्रकार प्रकट किया गया है।

यज्ञो दक्षिणया सार्धं पुत्रेण च फलेन च।
कर्मिणां फलदाता चेत्येवं वेदविदो विदुः॥
कृत्वा कर्म च तस्यैव तूर्णं दद्याच्च दक्षिणाम्।
तत्कर्मफलमाप्नोति वेदैरुक्तमिदं मुने॥
कर्त्ता कर्मणि पूर्णे च तत्क्षणं यदि दक्षिणाम्।
न दद्याद्ब्राह्मणेभ्यश्च दैवेनाज्ञानतोऽथवा॥
मुहूर्ते समतीते तु द्विगुणा सा भवेद्ध्रुवम्।
एकरात्रे व्यतीते तु भवेत् शतगुणा च सा॥
त्रिरात्रे तद्दशगुणा, सप्ताहे द्विगुणा ततः।
मासे लक्षगुणा प्रोक्ता ब्राह्मणानां च वर्धते॥
संवत्सरे व्यतीते तु सा त्रिकोटि गुणा भवेत्॥

अर्थात् यज्ञ दक्षिणाके साथ पुत्र और फलके द्वारा यज-

मानको फल दाता होता है, ऐसा वेदको जाननेवालोंका अभिमत है। यज्ञकी समाप्तिपर तुरन्त ही दक्षिणा प्रदान करनेसे यज्ञका फल प्राप्त होता है, ऐसा वेदोंमें प्रतिपादित किया है। यदि यजमान ऋत्विजोंको यज्ञके पश्चात् उसी क्षण दक्षिणा अज्ञानसे या अन्य कारणोंसे नहीं देता है तो एक मुहूर्त बीत जानेपर उस दक्षिणाकी मात्रा दुगुणी देनी चाहिये। यदि एक रात्रिका विलम्ब दक्षिणाके देनेमें हो जावे तो सौ गुणा अधिक देना चाहिये। तीन रात्रिका विलम्ब हो जानेपर सौ गुणेका दश गुणा अर्थात् सहस्र गुणा अधिक दक्षिणा देनी चाहिये। एक सप्ताहका विलम्ब दक्षिणा देनेमें हो जानेपर उसका दो गुणा अर्थात् दो हजार गुणा दक्षिणा देनी चाहिये। यदि १ मासका विलम्ब हो जावे तो एक लाख गुणा, और एक वर्षका विलम्ब दक्षिणा देनेमें हो जावे तो ३ करोड गुणा दक्षिणा देनी चाहिये। यह सब विवरण दक्षिणाको तुरन्त देनेके महत्वको प्रकट करता है। १ वर्षके व्यतीत होनेपर भी दक्षिणाके न देनेपर यज्ञका फल नष्ट हो जाता है ऐसा विधान किया है।

दक्षिणाका अर्थ

दक्षिणा शब्द 'दक्ष' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ 'वृद्धि और शीघ्रता' है। अतः दक्षिणासे यजमानके यज्ञके फलकी वृद्धि होती है और शीघ्रतासे भी होती है, यह ज्ञात होता है। इसीलिये प्राचीन कालसे आजतक यही मान्यता चली आ रही है कि यज्ञमें दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये और तुरन्त देनी चाहिये, अन्यथा फलकी प्राप्ति नहीं होती है। वेदने दक्षिणाको यज्ञ पत्नी कहकर उसका महत्व प्रकट किया है और उस दक्षिणाका नाम 'स्तावा' परमात्माकी ओरसे निर्धारित किया होनेसे तो और भी विशेष महत्व हो जाता है। वेदके इसी अर्थको प्रकट करनेके लिये प्राचीन भाष्यकारोंने 'दक्षिणा वै स्तावा दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयते' कहा है। अर्थात् यज्ञकी दक्षिणाका नाम 'स्तावा' है क्योंकि दक्षिणासे ही यज्ञकी प्रशंसा होती है। अतः दक्षिणाका महत्व समझना चाहिये।

वेदमें दक्षिणाका महत्व

ऋग्वेदमें दक्षिणाकी प्रशंसामें कुछ मन्त्र हैं। उनमें बताया है कि– 'दक्षिणा देनेवाले यजमान दक्षिणाके प्रभावसे सातमाताओंका दोहन प्राप्त करते हैं। दक्षिणाके प्रभावसे यजमानको महान् श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त होता है। दक्षिणा देनेवाले आयुको अनेक सुखोंको और मोक्षको प्राप्त करते हैं।' इत्यादि।

दक्षिणाका महत्व वेदमें है तथा प्राचीन ऋषियोंने भी इसका प्रतिपादन किया है। महर्षि स्वामी दयानन्दजीने भी किया है, अतः इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये और यथा शक्ति, श्रद्धापूर्वक, बडे सत्कारसे देना चाहिये। ऋत्विजोंको दी हुई दक्षिणा वेदको ही जा रही है– या वेदका ही यह सम्मान करना है तथा वेदको अर्पण किया गया धन परमात्माको ही भेंट होरहा है एवं उससे परमात्माकी प्रीति एवं प्रसन्नता प्राप्त होगी, ऐसा समझकर दक्षिणा देनी चाहिये।

अनेक दक्षिणायें

ऋत्विग्वरण एवं यज्ञान्तकी प्रमुख दक्षिणाके अतिरिक्त ब्रह्मपीठ दक्षिणा भी दी जाती है। यज्ञान्तकी दक्षिणासे पूर्व सर्व प्रथम इसे ही ब्रह्माके सामनेकी चौकी पर रखे वेदको अर्पित की जाती है। यह वेदका पृथक् भाग रखना पडता है और वह ब्रह्माका भाग होता है। इससे वेदादि ग्रन्थोंके संरक्षण एवं क्रयादिमें सहायता होती है। यह प्रथा उत्तम भी है। इसे भी प्रचलित करना चाहिये। ब्रह्मपीठ दक्षिणाके पश्चात् ब्रह्माको दक्षिणा देनी चाहिये, पुनः अन्य ऋत्विजोंको देना चाहिये। ब्रह्माकी दक्षिणासे आधी दक्षिणा अन्य ऋत्विजोंको देनी चाहिये। दक्षिणामें आसन, पात्र, फल, मेवा, अन्न, उत्तम वस्त्र एवं द्रव्य देना चाहिये। ऋत्विजोंको वस्त्रादि देते समय उनकी पत्नियोंके लिये भी यथा संभव उत्तम वस्त्राभूषण भी देने चाहिये।

भूयसी दक्षिणा एवं भोजनकी दक्षिणा

इसके अतिरिक्त भूयसी दक्षिणा भी दी जाती है। मुख्य दक्षिणादिके अतिरिक्त जो दक्षिणा बादको दी जाती है और यज्ञमें उपस्थित सर्व सामान्य विद्वान ब्राह्मणोंको भी सत्कारार्थ जो द्रव्यादि दिया जाता है उसे भूयसी दक्षिणा कहते हैं। यह क्रिया भी वैदिकोंके संरक्षणके लिये उत्तम है। इसके पश्चात् ऋत्विजोंको सत्कार पूर्वक सबसे पृथक् रूपमें भोजन यजमान एवं यजमान पत्नी करावें और भोजनो-

परान्त भी दक्षिणा देवें। इतनी दक्षिणाकी क्रिया करनी चाहिये।

यज्ञपात्र ऋत्विजोंको दे देवे

ऋत्विजोंको पात्र देनेके सम्बन्धमें भी ध्यान देना आवश्यक है। अन्वाहार्य पात्र ऋत्विजोंको देना चाहिये। अन्वाहार्य पात्रोंका संस्कारविधिमें लक्षण निम्नप्रकार लिखा है– 'पुरुष चतुष्टयाहार पाक परिमाणार्थम्'। अर्थात् ऐसे पात्र जिनमें ४ व्यक्तियोंका भोजन बन सके। इसके अतिरिक्त यज्ञके लिये जो पात्र आते हैं वे भी यज्ञसमाप्ति पर ऋत्विजोंको ही दे देने चाहिये। परन्तु आजकल इस बातको न समझकर यजमान उन्हें अपने पास ही रख लेते हैं। यज्ञका तात्पर्य है देवपूजा, संगतिकरण और दान, अतः यज्ञके लिये आये पात्रादि भी इसी निमित्त हुए। जो यज्ञके लिये पात्र लाये जाते हैं उनसे देव पूजा अर्थात् होम किया जाता है और उनका होम कार्योंमें संगतीकरण–उपयोग किया जाता है। दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर उन पात्रोंका ऋत्विजोंको प्रदान कर देनेसे यज्ञका पूर्ण अर्थ पात्रोंमें भी घटित होजाता है। अतः यज्ञ निमित्त आये पात्रादि यजमान अपनी सम्पत्ति न समझ कर उनको ऋत्विजोंको ही दे देना चाहिये। अन्य दानकी वस्तुका वह स्वयं उपभोक्ता और अधिकारी बननेका दोषी होजाता है और यज्ञके अर्थको नष्ट करता है।

दक्षिणा देनेका क्रम

दक्षिणादि द्वारा सम्मान करते समय सर्वाधिक सम्मान ब्रह्माका तदुपरान्त अन्य ऋत्विजोंका, तदुपरान्त यज्ञके अन्य सहयोगी व्यक्तियों, उपदेशकों, प्रचारकों एवं अन्य सहानुभावोंका करना चाहिये। सब धान २२ पसेरी न्यायके अनुसार व्यवहार नहीं करना चाहिये। आशा है आर्यजन दक्षिणादिके व्यवहारके बारेमें इसपर ध्यान देकर सुधार करेंगे।

संस्कृत कथाओंकी विश्वव्यापकता

(लेखक— श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी)

प्रत्येक राष्ट्रकी सांस्कृतिक धरोहर उस देशकी लोक कथायें हैं। भारतकी लोक कथायें भी अत्यन्त प्राचीन हैं। इसके साथ ही साथ वे उत्कृष्ट भी हैं, वे विश्वकी सभी साहित्य निधियोंका भण्डार भरती रहती हैं। ये जहां रोचक हैं, वहींपर शिक्षाप्रद भी हैं। हमारे यहांकी कथाओंमें मनु, शुक्र और चाणक्य, विदुर आदि प्रसिद्ध नीति शास्त्रज्ञोंके नीति वाक्योंको कथाओंके माध्यमसे बड़े ही सुन्दर और सरल ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ विष्णुशर्मा रचित पंचतंत्रकी कथायें निरुद्देश्य या केवल मनोरंजनकी दृष्टि मात्रसे लिखी गई कहानियां नहीं हैं, उसकी कथाओंमें भारतीय नीति शास्त्रका निचोड़ भरा है।

प्रत्येक कथा नीतिके किसी न किसी विषयविशेषको प्रतिपादित करती है। प्रत्येक कथाके लेखनके पीछे एक प्रेरक सदुद्देश्य निश्चित है। नीतिके वे सिद्धान्त जो पण्डित भी वर्षोंके माध्यमसे अध्ययनरत रहकर नहीं सीख पाते थे, जन साधारण इन नीति सिद्धान्तोंको घण्टोंके व्याख्यानोंसे नहीं समझ पाती, वह इन छोटी छोटी कथाओंके माध्यमसे अनायास ही वे सिद्धान्त उनके हृत्पटलपर अङ्कित किये जा सकते हैं, इस प्रकार इन लघु कथाओंका प्रभाव भी चिरस्थायी रूपसे पड़ता है। ये ही वे कारण हैं जिनसे कि संस्कृतकी इन कथाओंने विश्व व्यापी लोकप्रियता अर्जित की है, यही कारण है कि प्रत्येक भाषाके साहित्यने उसे अपनाकर अपना साहित्य समृद्ध किया है।

इस प्रकार ये कथायें विश्व भरमें लोक प्रियता प्राप्त कर चुकी हैं। सर्व प्रथम इनका अनुवाद करीब ६ ठीं शताब्दीमें हुआ था, और तबसे अबतक ये कथायें यूरोपकी करीब हर भाषाओंमें स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। तभी तो सर विलियम जोन्सने पंचतंत्रके विषयमें आज करीब १५० वर्ष पूर्व लिखा था—

'हिन्दुओंका नीतिशास्त्र अभीतक सुरक्षित है और विष्णु शर्माकी कहानियां संसारकी सबसे पुरानी नहीं तो सर्व श्रेष्ठ कहानियां अवश्य हैं।'

सचमुच पंचतंत्र विश्व साहित्यकी एक अमूल्य निधि है इस बातका अनुमान इसीसे सहज ही लग सकता है कि अबतक ५० से भी अधिक विविध भाषाओंमें इसका अनुवाद हो चुका है। जिनमें ३५ अभारतीय भाषायें हैं, जिनमें बहुतोंके तो करीब २००, २०० संस्करण हो चुके हैं। इसकी इसी बढ़ती हुई लोकप्रियतासे प्रभावित होकर के प्रोफेसर मूरकेने पंचतंत्र वा हितोपदेशकी प्रस्तावनामें लिखा था कि—

'पंचतंत्रके नीति वाक्योंमें सांसारिक ज्ञानका जो कोष है, वह समय और स्थानकी दूरी होनेपर भी सदैव उपयोगी है। पंचतंत्रकी प्रत्येक कहानी आज भी मानव चरित्रका सच्चा चित्रण करती है और उसमें लिखे गये दो तीन हजार वर्ष पूर्वके नीति वाक्य आज भी मानवमात्रका पथ प्रदर्शन कर सकते हैं, आज भी उनका प्रवचन घरोंमें वा गिरजा घरोंमें हो सकता है।'

उपरोक्त कथनमें यह बात स्वीकार की गई है कि ये कथायें मनोरंजनके लिये नहीं वरन् मानव मात्रके पथ प्रदर्शनके लिये ही अपनाई और प्रचारित की गई थी। तभी तो सुप्रसिद्ध पौरस्त्य विद्या विशारद पाश्चात्य मनीषी विंटरनिट्जने लिखा है—

'विश्वमें बाईबिलके अतिरिक्त पंचतंत्रके समान किसी दूसरी पुस्तकका इतना प्रसार नहीं हुआ।'

इसके साथ ही साथ इस कथा संग्रहकी लोकप्रियता केवल अनुवाद मात्रतक ही सीमित रही हो यह भी नहीं है। अपितु प्रत्येक भाषा भाषीने देश, काल, परिस्थितिके औचित्यपर नजर रखते हुए इन कथाओंमें आवश्यक परिवर्तनोंको स्थान दिया है। इस बातका प्रमाण यह है—

५७० ईस्वीशतीमें सीरियन भाषामें पंचतंत्रका अनुवाद एक बूद नामी ईसाई द्वारा हुआ था। उस अनूदित पुस्तकका नाम 'कलिलग और दमनग' था। पंचतंत्रमें मित्र भेदमें करटक और दमनक नामक गीदडोंकी बातोंके तारतम्यमें ये कथायें कही गई थी। अतः इस अनुवादमें पुस्तकका नाम करण उन्हींके आधारपर हुआ। अन्तर सिर्फ इतना ही आया कि सीरियन भाषामें करटक और दमनकका नाम रूप कलिलग और दमनग १ हो गया, जो देश, काल, परिस्थितिके अनुसार किया गया परिवर्तन कहा जा सकता है।

इसी प्रकार ७५० ई. के करीब पंचतंत्रका अरबी अनुवाद खलीफा अबूफजफरकी प्रेरणासे अब्दुल्ला इब्नअल मोरुफा नामक व्यक्तिने किया था। इस अनुवादका नाम 'कलीलह' और 'दमनह' रक्खा गया था।

इसी प्रकार मूल कथाओंके पात्रोंमें भी अनुवाद करते समय परिवर्तन कर दिया गया, परन्तु कथाके मूल प्लाटोंमें किसी भी प्रकारका विशेष परिवर्तन नहीं आया। श्री जयदेवजी विद्यालंकार द्वारा प्रस्तुत इस प्रमाणसे यह बात स्पष्ट है; वे लिखते हैं—

'इसके निदर्शनमें एक भारतीय कथाको प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके चरित नायकको एक ईसाई सन्तका रूप दे दिया गया है। जातकोंमें उपलब्ध महात्मा बुद्धकी जीवन कथाको 'जॉन ऑफ दमस्कस' ने ईसाई सन्त महात्मा जोस फैटके जीवन चरित्रके रूपमें बदल दिया है। 'बर्लाम और जोसफैटके' शीर्षकसे यह कथा ग्रीक भाषामें लिखी गई थी।'

जौसफेट चरित्र और 'ललित विस्तर' में वर्णित गौतम बुद्ध चरित्रमें पर्याप्त समानता है। कई विद्वज्जनोंने यह स्वीकार भी किया है कि जोसफैट चरित्र बुद्धके चरित्रका ही प्रतिरूप है। 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' के पृष्ठ ५०२ पर प्रो. कीथने यह स्वीकार किया है कि—

''जौसफेट' नाम बुद्धके प्रसिद्ध नाम बोधिसत्वका ही परिवर्तित नाम है।'

पंचतंत्र लोक व्यवहार और नीतिका अनुपम ग्रंथ है, इसे वर्षोंसे स्वीकार किया जा रहा हैं। पंचतंत्रका प्राचीनतम अनुवाद ईरानकी प्राचीन भाषा पहलवीमें प्राप्त होता है। यह अनुवाद ईसाकी ६ ठी शताब्दीमें किया गया था इस अनुवादके संबंधमें एक मनोरंजक एवं प्रेरक कथा प्रचलित है। ईरानके इतिहास-प्रसिद्ध न्याय प्रिय बादशाह नौशेरवांने यह सुन रक्खा था कि भारत वर्षमें एक ऐसी बूटी उपलब्ध है जिसका सेवन करनेसे मनुष्य अमर हो जाता है। उसने भी अमर बनने हेतु उक्त बूटीको प्राप्त करनेकी इच्छा की, अस्तु उसने उस बूटीको खोजकर लानेके लिये बुर्जोई नामक अपने प्रसिद्ध हकीमको भारत वर्षमें भेजा। यहां आकर बुर्जोईने उस बूटीकी खूब खोजकी परन्तु वह नहीं मिली।

अन्तमें उसने एक संस्कृत प्रेमीसे अपना उद्देश्य कहा तो उनने उसे बडे प्रेमपूर्वक यह समझाया कि, ऐसी कोई बूटी यहां तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु पंचतंत्र नामक ग्रंथ अवश्य है उसीका उपदेश वह अलौकिक दिव्य बूटी है, जिसके सेवन मात्रसे मनुष्य इस जीवनमें सुखी और समृद्धिका वरण कर सकता है। बुर्जोईने उस ग्रंथका उपदेश सुना, एक प्रति प्राप्त की और पहलवी भाषामें उसका अनुवाद करके वह स्वदेश लौट गया। वहां जाकर उसने नौशेरवांको यह अनुवाद सुनाया। वह सुनकर खूब प्रसन्न हुआ, और उसे अभीष्ट पुरस्कार प्रदान किया।

उपरोक्त वृंत कथामें वास्तविकता कुछ भी रही हो परन्तु इससे पंचतंत्रके प्रति विश्वकी अन्य भाषा भाषी लोगोंकी रुचिकी झलक अवश्य मिल जाती है।

प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक लाफँटेनने अपने कथा संग्रह 'फेबल्स' में भूमिकामें स्वीकार किया है कि इन कथाओंके लिये वह भारतीय साहित्यका आभारी है। उसने स्वीकार करते हुए लिखा है कि अधिकांश नवीन सामग्रीके लिये मैं भारतीय मुनि पिल्पेका आभारी हूँ। यह पिल्पे नाम अरबी अनुवादमें उपलब्ध 'विदबाह' का विकृत रूप है। 'विदबाह' विद्यापतिका अरबी रूप है, जो कि पंचतंत्रके अरबी अनुवाद 'कलीलह और दिमनह' में आया है।

हमारे पूर्वज बडे मेधावी थे, इसीलिये उन्होंने वैदिक वाङ्मयके कठिनतम ज्ञानको अत्यन्त सरल रूपमें छोटी छोटी कथाओंके माध्यमसे हमारे सामने प्रस्तुत किया है, पर हमने उनके प्रचारकी ओर बहुत कम लक्ष्य दिया है, डा. 'महेन्द्र' के ये विचार इस विषयमें प्रेरक और ग्राह्य हैं—

(1) Macdonell, A, A:... A History of Sanskrit literatures, (1058) Page 370.

'हमारे पुराणोंमें जो छोटी छोटी कथायें हैं उनमें भारतीय संस्कृतिका खजाना छिपा हुआ है। अनेक प्रकारके उच्च कोटिके उपदेश, ज्ञानसूत्र, प्रतीक, उपयोगी तत्व इनमें भरे पडे हैं। हमारे पुराणोंमें हमारे उन पूर्वजोंकी यशो गाथाओंका संग्रह है, जिनसे हमारा संस्कारों और रक्तका संबंध है। वे स्वभावतः हमें प्रिय हैं। उनका प्रभाव केवल हमारे मस्तिष्कपर ही नहीं, हृदयपर भी पडता है। यदि हम पुराणोंकी कथाओंको ही सुनायें तो उन अलौकिक कथाओंके साथ ऐसी कथायें भी सुननेको मिलती हैं, जो हमारे अन्धकारमय जीवनमें प्रकाश उत्पन्न करती हैं, जो हमारे इतिहासकी कसौटीपर भी सत्य उतरती हैं।

पुराण स्वयं अपने पाठकोंकी त्रुटियोंको पहचानते और शंकाओंका समाधान करते हैं। उनकी कथाओंको कह और सुनकर जो आनन्द और उच्च जीवनके लिये प्रेरणा मिलती है, वह वर्णनातीत है। पौराणिक गाथायें तो हमारे वे भण्डार हैं, जिनमें छोटी छोटी वस्तुसे लेकर बडीसे बडी वस्तु एक स्थानपर सरल ढंगसे सजाकर रख दी गई है। हम उनके एक मात्र अधिकारी हैं। फिर यदि हम उनकी उपेक्षा करें तो यह हमारा ही तो दुर्भाग्य है।

सचमुच अपने हमने ही पूर्वजोंके इस महान धनकी उपेक्षाकी जब कि दूसरे राष्ट्रोंने इसे अपनाया और अपने साहित्यको समृद्ध किया। विदेशोंमें अनेक भारतीय लोक कथायें लोक प्रिय हुई, उसने विदेशी भाषाओंके साहित्यको सम्पन्न किया। अनेक राजाओं, सम्राटों, खलीफाओं, पादरियोंने उनसे अपना ज्ञान प्रशस्त किया तो करोडों विदेशी पाठकोंने इनसे अपना मनोरंजन भी किया है।

इन लघुकथाओंने करोडों विदेशियोंपर भारतीय संस्कृतिके महान गौरवकी छाप अंकित की, और अन्ततः वे उनके साहित्यमें घुल मिल करके उनके साहित्यकी ही निधि बन गई और आज स्थिति यह है कि उनके वास्तविक स्वरूपको समझनेके लिये गम्भीर अन्वेषणकी आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

हमारी इसी अमूल्य निधिकी उपेक्षाकी ओर लक्ष्य करते हुए हिन्दीके मूर्धन्य साहित्यकार पं. सत्यकाम विद्यालंकारने हिन्द पाकेट बुक्स प्रा. लि. दिल्ली द्वारा प्रकाशित पंचतंत्रमें लिखा है—

'हमारे देशवासी अपने अमूल्य साहित्यके प्रतिगत कब्से अरसेसे उदासीन रहे, यह उनकी मानसिक पराधीनताका चिन्ह है। किन्तु अब जब कि हमारा देश स्वतंत्र हो चुका है, हमारा यह कर्तव्य है कि हम सभी अपने अक्षय कोषको पहचानें।

इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये पंचतंत्र जैसे अमर ग्रंथोंको सर्व सुलभ करनेकी बडी आवश्यकता थी। पंचतंत्रको हिन्दीमें पॅकिट बुकके सस्ते संस्करणमें प्रकाशित होते देखकर मुझे संतोष हो रहा है। इधर कुछ ही समय पूर्व संसारकी सबसे अधिक लोकप्रिय संस्था 'पाकेट बुक इंक.' ने भी पंचतंत्रके अंग्रेजी अनुवादका सस्ता संस्करण प्रकाशित किया है, इस अनुवादकी लाखों प्रतियां बिक चुकी है।'

सचमुच आजतक हमने अपनी संस्कृति अपने साहित्यकी उपेक्षा ही तो की है, अब हमें चेत जाना ही चाहिये और संस्कृतकी इस विश्व व्यापकतासे प्रेरणा लेकर संस्कृतके इन अमर ग्रंथोंका अध्ययन कर जीवनमें उतारकर भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करनी है। ● ● ●

योगेश्वर कृष्ण और नारी

(लेखिका— श्रीमती शक्ति शर्मा)

⊙

प्रत्येक वर्षकी भांति इस वर्ष भी हम श्रीकृष्ण जन्माष्टमीका पुनीत पर्व उत्साहसे मना रहे हैं। इसके साथ ही श्रीकृष्णके जीवनकी पुण्य स्मृतियां और उनके साहसपूर्ण कार्य स्मृति पटलको झकझोर देते हैं। श्रीकृष्णका स्मरण होते ही हमारे सामने एक ऐसा व्यक्तित्व आ जाता है जिसमें चरित्रका अद्भुत विकास है। मानव कल्पना चरित्र की जिस ऊंचाईका स्पर्श कर सकती है, उनके चरित्रका हम वैसा ही विकास पाते हैं। साधारणतः हम यही देखते हैं कि जीवनके किसी एक क्षेत्र विशेषके उत्तम कार्य करने पर कोई व्यक्ति महापुरुषत्वका वरण कर लेता है, परन्तु हमारे आजके श्रद्धा-अर्घ्यके पात्र तो ऐसे विलक्षण थे कि जीवनके जिस क्षेत्रमें भी उन्होंने प्रवेश किया, सफलता उनकी अनुगामिनी रही और श्रीकृष्णके दिव्यत्वसे वह क्षेत्र स्वयं चमक उठा। बंकिम बाबूके शब्दोंमें, 'ऐसा सर्वगुण सम्पन्न और सर्व पाप रहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं हैं, न किसी देशके इतिहासमें और न काव्यमें।' प्रस्तुत निबन्धमें हमने योगेश्वर कृष्णके नारी विषयक दृष्टिकोण पर ही विचार करना है। दुर्भाग्यसे उनके जीवनका यही पक्ष अत्यन्त हीन कोटिकी भ्रान्तियोंका शिकार रहा है।

इस प्रकारकी भ्रान्तियोंका मूल स्रोत पौराणिक साहित्य और विशेषतः भागवत है जिसमें उन पर नारीके प्रति पाशविक वासनाके वशीभूत होकर अश्लील कार्योंमें रत रहनेके आरोप है जिनसे हमारे साहित्यमें ऐसे दूषित प्रसंगों की सृष्टि हुई है।

जिनका उद्घाटन करनेका अर्थ होगा शिष्टताकी सीमाओंकी ऐसी अवहेलना जो किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं। जहां यह तथ्य कि श्रीकृष्ण पर विशाल साहित्यकी रचना हुई, महापुरुषोंके प्रति [illegible] है, वहां यह देखकर हमें दुःख भी कुछ कम नहीं होता कि यह अधिकांश दूषित भावनाओंसे ही प्रेरित है। इस प्रकार हमने इस महापुरुषको अत्यन्त हीन रूपमें प्रस्तुत कर उन्हें विदेशियोंकी दृष्टिमें गिरानेका अपनी संस्कृतिके प्रति महान् अपराध किया है। इस प्रकार हमने चिर जागरूक समाज-नायकको अवांछनीय बना दिया, संयम, शालीनता और मर्यादाके पोषकको वासनाका घृणित कन्दुक बना दिया और बना दिया हाय रे दुर्भाग्य! नारीके परित्राता, उसके सम्मान और उसकी लाजके लिये बड़ीसे बड़ी शक्तिको ललकारनेवाले असाधारण तेज और शक्तिके पुंज श्रीकृष्णको नपुंसक, धूर्त और लम्पट।

महाभारतके युद्धके जहां और कई कारण थे, वहां नारी के सम्मानकी रक्षाका प्रश्न भी इसमें निहित था, यह न मानना असत्यकी अवहेलना ही कही जा सकती है। अनेक राज्य खंडोंमें बंटे भारतको एक सूत्रमें बांधना जहां उनका मुख्य लक्ष्य था, वहां बुद्धिहीन वृद्धों, पक्षपाती राज्य सत्ता और कुंठित शस्त्रवाले वीरोंके अत्याचारोंसे पीडिता द्रौपदीकी करुण पुकारने उनके अंतस्तलको झकझोर दिया था। यह कारण गौण होते हुये भी महत्वपूर्ण है। अत्याचारी चेदिराज शिशुपालके अत्याचारों और क्षुद्र वासनाका शिकार होनेसे बचानेके लिये उन्होंने रुक्मिणीका पत्नी रूपमें वरण कर उसे विरल सौभाग्य प्रदान किया था। उनका गृहस्थ जीवन इतना उच्च था कि उसे अनुकरणीय समझते हुये भी हम अपनी वर्तमान स्थितिमें उसका अनुकरण करनेनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। १२ वर्ष तक पत्नी पास रहते हुये भी जो तप उन्होंने किया तथा उसके फलस्वरूप उन्हें प्रद्युम्न जैसा तेजस्वी पुत्र प्राप्त हुआ, क्या कहें हम उनके उस संयमको जिसने उन्हें गृहस्थी होते हुये भी ब्रह्मचारी रखा। यदि हम लोग जो ब्रह्मचारी कहलाते हुये भी गृहस्थियोंसे

भी अधिक संयम हीन रहते हैं, इस दृष्टान्तसे समझ पाते कि नारीके प्रति उनके स्वस्थ और उज्ज्वल दृष्टिकोणको तो हमारे इतिहासके पन्नों पर कालिमा न पोती गई होती ।

शत्रुओंका दलन करनेमें जहां हमें उनकी शूरवीरताके दर्शन होते हैं, वहां मित्रजनोंके लिये वह पूर्ण रसमय होनेके कारण रसिकोंमें अग्रणी थे। उनकी मोहिनी शक्ति अद्भुत रहती थी कि बरबस नर नारी उनकी ओर खिंचे जाते थे। व्यक्तित्व रसका स्रोत था। कहीं अन्याय हो तो वह वीर रसकी सजीव मूर्ति बन जाते। पीडित और असहायोंकी प्यास वह अपने हृदयमें उमडते प्रेम रससे बुझाते। उनकी इसी रसमयताके कारण ही ताजने मुसलमानी होते हुये भी उन पर कुर्बान जानेकी बात कही। और मीराने तो सब कुछ छोड उनके प्रति पूर्ण आत्म समर्पण कर दिया। आंसुओं के जलसे प्रेम बेल सींचनेवाली इस वियोगिनीने बडी तन्मयतासे उनके गीत गाये। यह संसार जो उसका दर्द नहीं समझ पाया, उसके लिये उपेक्षाकी ही वस्तु हो सकता है। उसके लिये तो मनकी पीड समझनेवाला 'गिरिधर गोपाल' ही अपना हो सकता है और दूसरा कोई नहीं। आजके दिन हमने कृष्णके नारी विषयक दृष्टिकोणको समझना है। समानाधिकारकी बात होने पर और विभिन्न क्षेत्रोंमें काम करने पर भी नारीका शोषण आज पूर्णतः बन्द नहीं है आज एक नहीं अनेकों नर पिचाश ऐसे हैं जो उसके शील पर कुदृष्टि रखते हैं। इसके विरोधमें हमने अपनेको तैयार करना है और दृढतासे उनको समाप्त कराना है। तभी यह पर्व मनाना सार्थक है। देवी रुक्मिणीके नाथ, द्रोपदीके परित्राता, सूरके 'रसिक शिरोमणि' मीराके 'भक्त वल्लभ, ब्रज बनिताओंके 'मनमोहना' और आधुनिक नारी अपने परित्राणके लिये जिनकी पुण्य स्मृति बडी श्रद्धासे हृदयमें संजोये हैं, उस दिव्यतम् विभूति श्रीकृष्णको हमारा कोटिशः प्रणाम।

तरुणोंमें राष्ट्रसंरक्षक होनेकी क्षमता

चीनके आक्रमण होनेसे भारत जाग उठा है। और अपने तरुणोंमें 'राष्ट्रके संरक्षक होनेकी क्षमता' कितनी है इसका विचार करने लगा है। चीनके आक्रमणसे यह जाग्रती भारतमें हुई है, इसलिये चीनके आभार मानने चाहिये, इसलिये कि चीनने हमें जगाया है। जगानेवाला उपकार ही करता है।

गुजरात युनिवर्सिटीने अपना एक रिपोर्ट प्रकाशित किया है, जिसमें अपने अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह लिखा है, कि गुजरात युनिवर्सिटीके पदवी धरोंमें '**सैकडा पांच भी तरुण सैनिक होनेके लिये योग्य नहीं हैं।**' यह युनिवर्सिटीका रिपोर्ट है इसलिये यह लेख विचार करने योग्य है।

शिक्षित सैनिक

आज कलके सैनिकोंमें शिक्षित सैनिक ही होने चाहिये। पूर्व समयमें समझा जाता था कि, सेनामें अशिक्षितोंसे भी काम हो सकेगा। पर आज कलकी लडाइयोंमें अच्छे शिक्षित सैनिक हों तो ही वे आज कलकी लडाई जीत सकते है। अशिक्षितोंसे यह कार्य उत्तम रीतिसे नहीं हो सकता?

इसलिये शिक्षित तरुण सेनामें भरती होने चाहिये यह बात सत्य है। यदि यह सत्य है तो हमारे देशके शिक्षित तरुण सेनाके योग्य कितने हैं और सैंकडा कितने शिक्षित तरुण सेनामें भरती हो सकते हैं, इसका विचार करना चाहिये।

हमारे देशमें स्कूल, हाईस्कूल और कालेजोंमें तरुणोंको शिक्षित किया जाता है। शिक्षामें शारीरिक, इन्द्रिय विषयक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक तथा सांधिक ऐसे अनेक प्रकार हैं। इनमेंसे कौनसी शिक्षा इन शिक्षणालयोंमें दी जाती है? हमारे अनुभवसे हमारे शिक्षणालयोंसे केवल '**साक्षरता**' का ही शिक्षण दिया जाता है, **मनका सुधार, बुद्धिकी प्रगल्भता और आत्मिक दिव्य शक्तिका विकास** इनका विकास आज कलके शिक्षणालयोंमें होता है ऐसा कोई नहीं कह सकता। शारीरिक शिक्षाके लिये सप्ताहमें २।३ पीरियड होते हैं और वे शामके ३।४ बजे होते हैं। यह समय शारीरिक विकासके लिये साधक है ऐसा कोई नहीं कह सकता। क्योंकि इस ३।४ बजेके समयमें शरीर और मन थका हुआ रहता है। और थके हुए समयमें शारीरिक शिक्षणका समय रखा तो शरीर बढनेके समयमें शरीरका बिगाड होनेकी संभावना अधिक होगी। इसलिये यह दोपहरका समय शारीरिक व्यायामके लिये योग्य नहीं है।

व्यायामका समय

भारत उष्ण देश है, इसलिये प्राचीन समयसे जो व्यायामके अखाडे चल रहे हैं वे प्रातःकालके ४ बजेसे ७ बजेतक ही चलते हैं। और उनका परिणाम शरीरपर अच्छा होता है। इस कारण हमारे लडकोंके लिये व्यायाम सवेरे सात बजे मिलना चाहिये।

परन्तु हमारी सब पाठशालाएं १० बजेके बाद शुरू होती हैं और शारीरिक व्यायामका समय उनमें ३ या ४ बजे होता है। क्या यह योग्य समय शरीर मजबूत होनेकी दृष्टीसे है इसका विचार होना चाहिये।

दस बजेका समय

स्कूलों और हायस्कूलोंका समय १० बजेका होता है। क्या यह ठीक है? देखिये १० बजे शालामें जानेके लिये ९ बजे भोजन करना पडता है। ९ बजे भूख लगनेका समय नहीं है। भूख न लगनेकी अवस्थामें भोजन पेटमें डाला जाय तो वह वहां पचता नहीं सडने लगता है।

भोजन करके लडका पुस्तकें लेकर स्कूलमें जानेके लिये भागने लगता है, इसलिये रक्त पांवोंमें जाता है, स्कूलमें जाते ही अभ्यास शुरू होता है। इस कारण रक्त मस्तकमें जाता है। और पेटमें गया अन्न पचानेके लिये आवश्यक रक्त मिलता नहीं। इस कारण वहां पेटमें अन्न सड जाता है। इस कारण तरुणोंमें पेटके और वीर्य बिगडनेके विकार अधिक हो रहे हैं। जो यह समय ठीक किया जाय तो

होंगे नहीं। भारतीय तरुणोंकी निर्बलता इस अशुद्ध समझके कारण बढ रही है।

ठीक समय विभाग

समय विभाग ठीक कैसा हो सकता है इसका अब विचार करते हैं—

सवेरे ७ बजे स्कूलमें विद्यार्थी आजाय—

७– ७–३० तक व्यायाम, सूर्यनमस्कारका करें

७–४५ –११ तक पाठशालाका अभ्यास हो

११–२ तक विद्यार्थी घरमें जाकर भोजन करे

२–५ तक विद्यार्थीयोंका शामका अभ्यास हो

५–६ खुली हवामें खेल कूद करे

इस तरह करनेसे, अर्थात् ७ से ७·३० शारीरिक व्यायाम करनेसे तरुणोंके शरीर बलवान् बनेंगे और आवश्यकता होने पर तरुण सेनामें भी भरती हो सकेंगे।

इस प्रकार करनेके लिये पाठशालाएं दो समयकी करनी चाहिये। व्यायामका समय सवेरे ७ से ७–३० ही रखना चाहिये। इस समय २०–२५ मिनिट किया हुआ सूर्य नमस्कारका व्यायाम ठीक तरह करनेसे शरीरको बलवान् कर सकता है और ऐसा करनेसे हमारे तरुण सुयोग्य वीर बन सकते हैं।

दूरसे आनेवाले छात्र

स्कूलोंमें ३–४ मैलों परसे भी विद्यार्थी चलकर आसकते हैं, वे किस तरह सवेरे आसकते हैं? यह प्रश्न यहां उत्पन्न होता है। स्कूलमें सैकडा २० इतने ही विद्यार्थी बाहर गांवके होते है। वे डब्बेमें अपना भोजन रखकर साथ ले जांय, अथवा स्कूलके बोर्डिंगमें उनसे धान्य लेकर उनके भोजनका प्रबंध किया जाय। यह कदापि योग्य नहीं कि २० विद्यार्थियोंके खातर ८० विद्यार्थीयोंके दुर्बल रखा जाय। अतः स्कूल दो समयका करना ही चाहिये और सवेरे ७ बजे आते ही २०।२५ मिनिट सूर्यनमस्कारका दस आसनोका व्ययाम उनसे करवाया जाय तथा १५ मिनिट विश्राम कर नेके पश्चात् स्कूलका अभ्यास शुरु हो जाय।

यदि सवेरे ७॥ बजे व्यायाम होते ही एक प्याला भर गायका दूध देनेकी व्यवस्था हो तो बहुत ही अच्छा है। दूध न मिले तो पूर्व दिन चणे या मूंग (दोनो साबित) भिगा कर सवेरे उबाल कर व्यायमके पश्चात् एक एक मुट्ठी भर हरएकको खानेके लिये दिये जांय तो भी अच्छा होगा।

तरुणोंका शारिरीक सुधार करनेकी यह आयोजना है। ऐसा करनेसे एक वर्षमें हमारे तरुणोंकी शरीर स्थिति सुधर सकती है और सैनिकीय शिक्षा लेनेके योग्य वे बन सकते हैं और अपने राष्ट्रकी सुरक्षा करनेका हरएक कार्य कर सकते हैं। ऐसे तयार तरुण भारतमें होंगे तो कोई दूसरा राष्ट्र भारत पर आक्रमण भी नहीं कर सकेगा।

तरुणोंकी उन्नति करनेकी जिम्मेदारी जिन पर है वे तथा तरुणोंके रिश्तेदार तथा राष्ट्र रक्षण करनेके इच्छुक इसका विचार करें।

गुजरात प्रांतके शिक्षा विभागके संचालकजीसे हमारी बात हुई थी और उन्होंने इस विषयके अनुकूल सरक्युलर हायस्कूलोंको भेजा है, जिसके लिये हम उस शिक्षा विभाग के संचालकको हार्दिक धन्यवाद देते हैं और हम आशा करते हैं कि इस सूचनाके अनुसार कार्य शुरू होजाय।

विश्व समाज बनाओ

[लेखक— श्री विश्वामित्र वर्मा, विषहर जंगल, (रीवा) म. प्र.]

★

अन्धलोक

अनन्त असीम आकाशमें अगणित तारे चमकते हैं, सूर्य प्रकाश चन्द्र पर प्रतिबिम्बित होकर चमकता है, परन्तु हमारी पृथ्वी स्वयं प्रकाशित नहीं है। पृथ्वी पर स्वयंका प्रकाश न होनेसे इस लोकको सूर्य चन्द्र पर आश्रित रहना पड़ता है, यदि सूर्य चन्द्र न हों तो पार्थिव वनस्पति एवं प्राणी मिट जांय। पृथ्वी पर मिट्टी, पहाड़ जंगल और सागर होनेसे, इसके रंग पीले हरे गहरे मिश्रित होकर दूर लोक वासियोंको धुंधले भूरे रूपमें यह दिखती होगी, जैसे कि विभिन्न सुन्दर प्रकाशवान् मंगल शुक्र और शनि आदि यहांसे देखे जाते हैं। हमारी पृथ्वीकी आयु एडिन वर्गके प्रोफेसर होम्स (Holmes) की वैज्ञानिक खोजोंके अनुसार तीन अरब पैंतीस करोड़ वर्ष है, इतनी आयु होकर भी इसमें स्वयं प्रकाश न आया और मानवका अवतार विकास सात लाख वर्ष पहले होना आरंभ हुआ।

इतने कालका इतिहास प्रमाण साक्षी नहीं है, वैज्ञानिकोंकी कल्पना है। पुरातत्व और इतिहासको ढूंढें तो पता चलता है कि पांच सौ वर्ष पहले कोलम्बसने अमेरिकाका पता लगाया, एक हजार वर्ष पहले आल्फ्रेड इंगलेण्डका राजा था, और पीछे चलें तो दो हजार वर्ष पहलेका ब्रिटिश या भारतीय इतिहासका क्रम बद्ध निश्चित रूप नहीं मिलता, उस समय ब्रिटिश द्वीप समूह अज्ञात था, और केवल किंवदंती प्रचलित मिलती हैं, तीन हजार वर्ष पहले रोम साम्राज्यका नाम भी न था, परन्तु केवल रोम नगर था, उस समय केवल चीन और ईजिप्टके मध्य देश शिक्षित सुसंस्कृत थे, पांच हजार वर्ष पहलेसे कहीं कुछ एवं अनिश्चित इतिहास मिलता है, दो करोड़ वर्ष पहले तो मानव था ही नहीं।

पार्थिव इतिहासमें जबसे मनुष्य आया, उसकी आयुमें तबसे पतिशत समय तक प्रायः मानवने नहींके बरा बर उन्नतिकी, वह दुःखकी अवस्था बीती। शताब्दियां बीतीं, पेड़ों और गुफाओंसे अब मानव पृथ्वी पर घर बनाकर रहने लगा। उसकी जातियां क्रमशः फैलीं और भौगोलिक परिस्थितियोंके अनुसार विकसित होने लगीं। इन जातियोंका इतिहास विकास होते होते अब आज हम जो चमत्कार देखते हैं उससे सन्तुष्ट प्रायः होकर भविष्यकी भयंकर कल्पना करते हैं, मानवकी बुद्धिसे चकित होते हैं, परन्तु इतना कहना होगा कि अब तक उसमें अपनी व्यावहारिक व्यवस्था सम्यक् स्थिर बनाये रखनेके लिए समुचित ज्ञान न हो पाया। उसकी सामाजिक, आर्थिक वैज्ञानिक एवं राजनीति व्यवस्थामें सदैव विषमता, संकीर्णता और संघर्ष, होता है।

यह परिवर्तन लगभग प्रति ६ हजार वर्षके लगभग हर बार प्रलय रूपसे होता है जब संभवतः पृथ्वी पर महान् जिस लोकमें प्रकाश न हो, अन्धेरा हो, और मानवको अन्धेरेमें देखने व्यवहार करनेके लिए बनावटी प्रकाश और ऐनक (चलने) की आवश्यकता पड़े, दूसरे लोकोंसे प्रकाश पानेके लिए आश्रित रहना पड़े, विचारोंमें अन्धेर, अज्ञान, संकीर्णता विषमता भरी हो, सब व्यवहार अन्धेर पूर्ण, अनियमित अनिश्चित हों, जो सजातीय मानव होकर भी परस्परसे भ्रान्त और न पहचान कर परस्परको ही मारने लूटते खाते हों, न्यायके नाम पर अन्याय, ज्ञानके नाम पर अज्ञान हो, बाहुल्यमें भी अल्पता, और विनाशक विज्ञानमें विकास मानकर गर्व करते हों, निश्चय ही यह लोक अन्धलोक है और यहांका सर्व श्रेष्ठ कहा जानेवाला मानव अन्धज्ञानी है, अविज्ञानी, अज्ञानी है। किसीने कहा है कि दुनियां पागलखाना है। जिस प्रकार यहांके मानव समाजमें विकृत मस्तिष्क अथवा पागलोंके लिए एकान्त पागलखाना होता है, उसी प्रकार दूसरे लोकोंमें जो लोग पागल होजाते हैं उन्हें वहांके लोक धक्का देकर इस अन्धलोक पृथ्वी पर भेज देते हैं।

सूर्य तारे चमकते हैं, पृथ्वी नहीं चमकती, और पृथ्वी तथा सूर्यके मध्य अन्तरिक्षमें भी बहुतसे छोटे छोटे अन्ध-

लोक धूल पाषाणवत् मंडराते हैं। इस पृथ्वी पर मानवने सीमाएं करके टुकडे बाट लिए भौगोलिक प्रभावसे रंग रूप रहन सहन, अनुकूलतासे देश, समाज, सम्प्रदाय, बनाकर वह अर्थनीति, धर्म और राजनीति-कपटनीतिसे अपनी अपनी सम्पत्ति, बेटा-बेटी स्त्रीको भी सम्पत्ति बनाकर परस्पर लेन देन व्यवहारमें संकीर्णता और संघर्ष उत्पन्न किया है। इस व्यवस्थाको अन्धविश्वास कहूं तो उचित होगा, जो अज्ञानके कारण उत्पन्न है, जिसे भ्रमसे ज्ञानविज्ञान माना जाता है। अन्धविश्वास अर्थात् अन्धे और भ्रान्त होकर अन्धेरेको प्रकाश मान कर व्यवहार करना। प्रकाशके अभाव में कुछ न दिखनेके कारण भय होता है, इस भयमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएं होती हैं, और उससे छुटकारा पाने 'अज्ञात' की अनेक कल्पित रूपोंमें पूजा होती है।

अज्ञान

मानव जबतक अपने विराट् शरीरको नहीं पहचान पाता, जब तक वह विराट् आत्म दर्शन नहीं कर लेता, तब तक वह अपनेसे भिन्न, अथवा अनेक देवताओं, देवियों, भूत प्रेतोंसे भय खाता उनको मूर्तिमान कल्पनामें पूजता है। आत्मसाक्षात्कार और ज्ञान प्रकाश होने पर, उनकी व्यर्थता सिद्ध होने पर उनकी पूजा बन्दकर देता है, त्याग देता है। वह जान लेता है कि आत्मा-परमात्मा एक है, सारा विश्वका मानव और सारे प्राणी आत्मवत्, अभिन्न, एक हैं, जैसे प्रकाशसे अन्धकार लुप्त हो जाता है, फिर प्रकाश लेकर अन्धकार ढूंढने पर भी नहीं मिलता। फिर भय नहीं रहता किसीको भेंट पूजा नहीं चढाता, खुशामद प्रार्थना नहीं करता। ज्ञान होने पर सब बाह्याडम्बर मिट जाता है। पार्थिव मानवीय सम्बन्ध व्यवहारमें भेद यथा राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक जातीय, गरीब अमीर ऊंचनीचके भाव लुप्त होकर, नष्ट होकर साम्य भाव स्थापित होता है। अज्ञानी इनमें फंसे हुए संघर्ष करते हैं, आधुनिक युगमें ज्ञानी-अज्ञानी समान अन्ध विश्वाससे आचरण करें तो ज्ञानी या विद्वान भी अज्ञानीकी श्रेणीमें हो जाते हैं, अन्यथा ज्ञानी होनेसे क्या लाभ, क्या विशेषता?

अब हम अन्धलोकके मानव समाजमें अन्धविश्वास एवं अज्ञानका दर्शन कराकर और सम्यक् सुधारकी ओर संकेत कर क्रमशः आर्थिक अन्धनीति, राजनीति-कपट-नीति, तथा अन्य वैज्ञानिक [illegible] चर्चा करेंगे।

अन्धेर

दिल्लीसे प्रकाशित सिनेमा-कहानी विषयक 'रंग भूमि' मासिक पत्रके जून १९६० में समाचार प्रकाशित था एक पचास वर्षकी महिलासे उसकी आधी उम्रका एक नव युवक प्रेम करता था। उसने अपने आफिसके समझदार सहयोगियोंसे, उस महिलासे विवाह करनेके विषयमें परामर्श किया। शुभ चिन्तकों (?) ने समाज परम्परा और धर्म रिवाजके आधार पर सलाह दी कि यह प्रेम अनुचित, और विवाह बे मेल है, वे दोनों विजातीय थे। युवकने निराश हृदय होकर, आघात न सहन कर, आत्महत्या कर ली। इससे भारतीयोंकी 'प्रेम' सम्बन्धमें संकुचित भावनाका दर्शन हुआ। हमें याद है किसीने विवाह निमंत्रण पत्रिकामें निम्न पंक्तियां लिखी थी—

> 'परिणय प्रणय बन्धन जगत्में
> सर्व श्रेष्ठ विधान है।
> आत्म विनिमय है परस्पर
> महा मंगल दान है॥'

आदर्श और व्यवहारमें कैसा ढकोसला! विवाह 'आत्म विनिमय' के बदले आयु, समाज जातिके विचारसे आज कल 'शरीर विनिमय' बन गया। प्रेम आत्मीय गुण है, उसे शारीरिक दुर्गुण बनाकर, राष्ट्र एवं समाजके एक बहु मूल्य तत्व-युवकको दुनियांसे ही, लोगोंने परम्परासे अनुचित बताकर-उठा दिया, हत्या कर दी।

उसी पत्रमें एक पत्नीकी आत्म कहानी छपी है जिसका शराबी पति पैसे कमाने और अपने व्यसनकी आवश्यकता पूर्ण करनेके उसको जबर्दस्ती अपने मित्रों, अधिकारीयों, अथवा अपरिचत धनिकोंको लाकर व्यभिचारमें प्रेरित करता था, अपने ही घरमें। दाम्पत्य जीवनमें यह दूकानदारी! भारतकी स्वतंत्रतामें लगभग प्रत्येक व्यक्तिके विचार और आचरण भी किसी हदतक आजाद होगये हैं, सचमुच अकल्पनीय वृत्तान्त अखबारोंसे मिलते हैं और यत्र तत्र वार्तामें सुने जाते हैं।

बम्बईसे प्रकाशित अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र 'करेंट' के १२ अक्टूबर '६० के अंकमें भारतकी राजधानीमें होनेवाले अन्धेर और अनाचारके शर्मनाक और भयावह समाचार छपे हैं। इन समाचारोंसे जनता सचेत होती है परन्तु इनको रोकनेके लिए स्वतन्त्र सरकार नपुंसकवत् रहती है,

क्योंकि जब तन्त्र विधानमें अपनी रोजी और रोटी कमाने की स्वतंत्रता सबको बराबर है, कोई गुलामी–नौकरी करता अपना समय और दिमाग किराये पर देता है, कोई परिश्रम करके अपना शरीर देता है, या कोई क्षणिक 'शरीर' किराये पर आनन्दाभासके लिए परस्पर राजी होकर देते–लेते है, इस स्वतंत्र व्यवसायमें सरकार और कानूनको क्या नुकसान ? जो सम्पन्न लोग वासनाके व्यसनी हैं, और जो गरीब हैं, जो ठगे, लूटे या मारे जाते हैं वह उनकी कमजोरी, बेवकूफी, नालायकी तथा लाचारीके कारण। जो अपनी बहिन बेटियों, स्त्री अथवा अन्यको पैसे कमानेका साधन बनाते है वे परस्पर राजी होकर ऐसा करते हैं।

इसमें सरकार अथवा कानूनको आपत्ति नहीं क्योंकि वे स्वतन्त्र जनताके हितमें बनाये गये हैं। एक सन्यासीने बताया था कि एक व्यक्तिने अपनी बेटी एक रात्रिके लिए एक उच्चाधिकारीके पास अर्पित करके दस हजार सरकारी रकम व्यवसायसे अर्जितकी। बेटीसे पूछा गया कि ऐसा क्यों करती हो, जवाब दिया, हम अपने माता–पिताकी सम्पत्ति हैं, हमें पूंजीवत् नियोजित (Invest) करके पिताजीको इतनी रकम लाभमें मिलती है, तो इसमें धर्म रिवाजकी हानिके अपेक्षा हम 'नगद धर्म,' अच्छा समझते हैं, इसमें मुझे हानि क्या है ? धर्म–शर्मका विचार तो उस अधिकारीका वर्त्तव्य है जो क्षणिक भावावेगके लिए हमारी गरीबी–लाचारीसे लाभ उठाता, जनताके अर्पित धनको सरकारी कोषसे तिकडम और द्वैतनीति (Treachery) से उडेलता है।

पश्चिमी स्वतंत्र संस्कृति (?) के उन्मादमें अनुगामी होकर, अपनी संस्कृति छोडकर धर्म–निरपेक्ष सरकारने विवाह–परिवारके स्वैच्छिक कानून बनाकर बढती हुई आबादी रोकने और जन्म संख्या घटानेके लिए सन्तति नियमनके वैज्ञानिक साधन–उपकरण और शल्य क्रिया स्त्री पुरुषोंको वन्ध्या– नपुंसक बनानेका व्यापक प्रचार परिवार नियोजनके रूपमें जो आरंभ किया उससे लाभ उठानेके लिए हो यह नया व्यवसाय खडा हो गया।

एक फौज !

१९५१ की जनगणनामें ३५,३८,७९,३९४, भारतमें अविवाहितों, विधुरों, कुमारियों एवं विधवाओंकी संख्या अवस्थाके अनुसार निम्न प्रकारसे बतायी गयी है:—

आयु–क्रम	पु. वर्ग अविवाहिता	विधुर स्त्री वर्ग	अविवाहित	विधवाएं
१५–२४ वर्ष	१६६,२७,५३७	३,८४,४३८	५१,८४,४४७	८,२६,५८२
२१–३४ वर्ष	३७,००,९०३	१०,५२,१८७	७,७२,५७८	२२,२९,८३६
३५–४४	११,४९,५७८	१५,५९,०७६	३०३,५८६	३,८७९,३०९
४५–५४	६१४,०१२	२०,३७,९६२	१,७३,०४८	५४,११,८११
५५–६४	२,९८,६२३	१९,८८,९९१	८८,९४३	५२,०१,१०८
६१–७४	१,०४,३४३	१२,१९,७५१	३७११५	१८,४६,४९१
७५–से ऊपर	४६,४३८	७,००,६२०	१८४६८	१३,६७,२३७
अज्ञान उम्र	५१,४२७	१४,३९५	६०१३८	१५,२०१

इसमें ५–१४ वर्ष आयुके विधुर ६६०३८, और बाल-विधवाएं १३३,८२८ शामिल नहीं है। और संभवतः उनमें बहुतोंको आजीवन एकाकी रहना पडेगा।

राष्ट्र, जाति गोत्रके संकीर्ण भेदको त्याग कर यदि ये परस्पर सहयोग करें तो ... विदेशोंमें भी राष्ट्र और जाति भेद, आर्थिक विषमता तोडकर विवाह होते हुए भी हरेक देशमें कुमारों कुमारियोंविधुरों और विधुरोंकी संख्या अधिक है। विदेशोंमें प्रायः सभी शिक्षित होनेके कारण यद्यपि परस्परको चुननेमें स्वतन्त्र होते हैं फिर भी अपने ... इच्छा विचार कर और

स्वतंत्रताके उन्मादमें परस्परका स्वभाव मेल नहीं खाता। जो विवाह कर भी लेते हैं वे मन मुटावके कारण परस्परको तलाक दे देते हैं। विवाहित होकर भी भारतमें अब स्वैच्छिक स्वतंत्रताके कानून बन जाने पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आर्थिक लेन देनके संबंधसे बहुतोंमें परित्याग होजाने पर अथवा कुमारों कुमारियोंकी अवस्था बढ जाने पर तथा उनकी जातिमें कन्याएं अथवा लडके कम होने पर, लडके लडकियोंको एकाकी रहना पडता है। जाति गोत्र और दहेज उन्हें बाधा डालती है। समाजमें ऐसे लोग खोटे रुपये-पैसेकी भांति होते हैं और जीवनसे निराश, अथवा गुप्त कृत्यका नतीजा खुलने पर गर्भपात या आत्मघात कर लेते है। उत्तर प्रदेशकी पुलिस विभागने १९५४की वार्षिक रिपोर्टमें २३६५ स्त्री पुरुषोंको आत्महत्या कई कारणोंसे बतायी गई है जिसमें १०८० पुरुष और बाकी १२८५ स्त्रियां थी।

आत्म हत्याके आंकडे और परिणाम

कारण: असह्य लम्बी बीमारीके दुःखसे सामाजिक, पारिवारिक बदनामीसे पागल पन इत्यादि बेकारी, गरीबी, कर्ज, आर्थिक कठिनाइयोंसे प्रेम एवं विवाहमें निराशा परीक्षामें न पास होनेसे—

कारण	पुरुष	स्त्रियां	कुल
	४६०	४७१	९३१
	२८०	५६५	८६५
	१३६	८९	२२५
	१२०	७५	१९५
	४९	५६	१०५
	३५	९	४४
	१०८०	१२८५	२३६५

उसी वर्ष जिन लोगोंने आत्महत्याके प्रयत्न किये किन्तु असफल हुए वे ये है—

कारण: असह्य लम्बी बीमारीके दुःखसे गृह कलह, बदनामी आदिसे पागलपन इत्यादि गरीबी, बेकारी, कर्ज, आर्थिक कारणोंसे विवाह, प्रेम में निराशासे परीक्षामें न सफल होनेसे—

कारण	पुरुष	स्त्रियां	कुल
	४५	१४	५९
	७१	७६	१४७
	२०	—	२०
	१९	९	२८
	९	१२	२१
	९	७	१६
	१७३	११८	२९१

बंगालमें सामाजिक दुरवस्था और अन्धेरसे जो वासनाका बाजार चलता है उसकी चर्चा बम्बईसे प्रकाशित अंग्रेजी साप्ताहिक ब्लिट्स,के १९६० अंतिम चरणके एक अंकमें कही गई थी उसको पढकर अपने भण्डाफोड पर बंगालवालोंने रोष बरसाया था, लोगोंको अपने कुकर्मोंके भण्डाफोड सुननेका साहस नहीं, कुकर्म करने और चलते रहने देनेमें, बदनामीसे बचे रहनेमें अपना धर्म और इज्जत समझते हैं। धर्माचरणमें सत्य बोलनेकी शिक्षा दी जाती है, न्यायालयमें सत्यकी शपथ दिलाई जाती है, शासन पद्धतिमें उच्च अधिकार पद मिलनेवालोंको सत्यनिष्ठा और राष्ट्र भक्तिकी शपथ खानी पडती है, परन्तु अपने स्वार्थी या स्वाभाविक अनैतिक कर्मों एवं दुर्गुणोंकी-सत्य कहानी सुनने पढनेका साहस

(७८

कितने व्यक्तियों, समाज सेवियों एवं राष्ट्र सूत्रधारोंको है? यह बडा भयंकर रोग है। किसके हृदय और कर्म, भीतर बाहर पारदर्शक कांचकी भांति स्वच्छ बेदाग है? अपने विचार-कर्मके मल-विकार वैज्ञानिक दवाओंसे दबाने पर भी नहीं छिपते, वरन् एटमबमकी तरह फूटकर व्यक्तिके मन-शरीर-व्यवहारमें प्रकट होते हैं जैसे कोई भी बीज अंकुर बन कर पौधा प्रकट होने पर पत्थरसे दबा देनेसे वह टेढे रास्ते पृथ्वीके भीतरसे बाहर प्रकाशमें आनेको मार्ग खोज लेता है।

सभ्यदेशमें !

न्यूयार्क अमेरिकन गृहस्थ संस्थाके संचालक डॉ. पोपेनोने एक भाषणमें सिनसिनाटीमें कालेज कुमारियोंकी वैवाहिक असफलता बताते हुआ कहा है कि कालेजमें पढनेवाली कुमारियाँ विवाहित जीवनके हेतु बहुधा अयोग्य हो जाती हैं। कालेजकी शिक्षा पूरी करके निकलनेवाली २५ से ५० प्रतिशत कुमारियाँ विवाह करनेमें सफल नहीं होतीं; जो विवाह कर भी लेती हैं वे अविवाहितोंकी अपेक्षा चौगुनी संख्यामें तलाक देती रहती हैं। ऐसी दशामें ये शिक्षिताएं जीवनमें असन्तुष्ट रहती हैं और लाचार होकर अक्सर कहती हैं। कि परमात्माने हमें क्यों स्त्री बनाया? उन्हें स्त्री होनेका बडा दुःख है।

कालेजके विद्यार्थियोंने अब शिक्षा पद्धतिके विरोधमें आन्दोलन उठाया है, वे कहते हैं-यह शिक्षा पद्धति और ये संस्थाएं हमें जीवनके सर्वोच्च महत्वपूर्ण अनुभवके हेतु बिल्कुल बेकार बना देती हैं। हमें इस बातकी शिक्षा नहीं दी जाती कि सगाई कैसेकी जाय, अपने लिए जीवन साथी कैसे पसंद किया जाय, विवाहित जीवन कैसे सुखी और सफल बनाया जाय, गृहस्थ धर्म कैसे निभावें, बाल-बच्चोंका पालन पोषण कैसे करें, उन्हें राष्ट्रके हेतु किस प्रकार योग्य बनावें, सम्बन्धियोंसे कैसे अच्छा बर्ताव करें?'

अमेरिकामें कुंवारेपन, वैधव्य विधुरता और तलाकके परिणामसे स्वतंत्रताके उन्मादमें कितना नैतिक पतन है और परस्पर स्वतंत्र सहयोगसे अकस्मात अनैच्छिक गर्भाधान, प्रसव और गर्भपात होता है, यह अमेरिकी सेक्सरिसर्च इन्स्टीट्यूट, इण्डियाना यूनिवर्सिटीके तत्वावधानमें हुई खोजका परिणाम एक पुस्तक 'प्रेग्नेंसी, बर्थ एण्ड अबार्शन (Pregnancy, Birth and Abortion, 50 shilings- villiam Heinomanv) पुस्तकसे स्पष्ट मालूम होता हैं। बताया गया है कि जेलमें ५२९३ गोरी नारियां, ५७२ काली (निग्रो) और १२०९ मिश्रित स्त्रियां थीं। इनमें उम्रके हिसाबसे इनके कुंवारे पन अथवा शादीके बाद गर्भाधान, गर्भपात अथवा प्रसवकी चर्चाके साथ ही उनकी शिक्षा और धार्मिक विश्वास भी वर्णित है।

इसे पढकर सभ्यता और उनके नैतिक चरित्रका भण्डाफोड होकर बडी चौंका देनेवाली बातें मालूम होती हैं। दस प्रतिशत गोरियोंको शादीके पहले ही गर्भ होगया ८९ प्रतिशत गर्भ तो 'वैज्ञानिक कला' से गिराये गये, पांच प्रतिशत अपने आप गर्भपात अथवा मरे बच्चे पैदा हुए ६ प्रतिशत जीवित जन्मे। जिन गोरी स्त्रियोंने अपने पतिको तलाक देकर पृथक जीवन-यापन अपनाया उनमें ७५ प्रतिशत दूसरोंसे व्यभिचार करातीं थीं जिनमें २० प्रतिशत गर्भवती होजाती थीं, इनके ८० प्रतिशत अपराधयुक्त गर्भपात करती थीं। काली (नीग्रो) नौकर स्त्रियोंके विषयमें बताया गया है कि पन्द्रह वर्ष उम्र होते अशिक्षा और दासतामें व्यभिचार, गर्भाधान और गर्भपात होना उनके लिए स्वाभाविक अनिवार्य समझा जाता है। जेल जीवनमें परस्पर संयोगसे अवैध गर्भपात और अवैध जन्म तो साधारण बात है। जेल अधिकारियोंने बताया कि केवल एक युवती अक्षत योनि है क्योंकि वह समाजसे ही घुली मिली रहती है, दूसरोंसे नहीं मिलती जुलती।

स्वतंत्र भारतमें पश्चिमके ऐसे ही कीटाणुओंका बीजारोपण हुआ है, परन्तु कट्टर पंथी, अंध विश्वासी परम्परावादी समाज अभी इतना बेशरम नहीं हुआ है परन्तु यहां धर्म और इज्जतकी रक्षा करते हुए कितने अनुपातमें यहां भी उतनी अनैतिकता है उसकी खोज नहीं हुई आकडे उपलब्ध नहीं हैं परन्तु लुके छिपे श्वसुर-पुत्रवधू, बाप-बेटी, भाई-बहिन, मा-पुत्र और अन्योंमें असंबंधित अनुपयुक्त संयोग और परिणामतः अवैध जन्म, गर्भपात और स्त्रियोंका तिरस्कार बहिष्कार होनेपर उन्हे जीवन असह्य होनेपर वेश्या बनकर अनैतिक कर्मोंकी दूकान खोलनी अथवा आत्महत्या करनी पडती है। यद्यपि कानूनसे वेश्यावृत्तिपर अंकुश डाला जा चुका है, परन्तु अब उनका जीवनोपार्जनका साधन क्या बना है, इनको कितना गृहस्थ

जीवनमें बताया जा चुका है इत्यादिकी जानकारी कानून कितना दे सकता है।

जो अनैतिक कर्म स्वतंत्रतामें होता है, उससे अधिक सामाजिक व्यवस्थाके बन्धनमें, घर-घर दाम्पत्य जीवनकी ठेकेदारीमें धर्मके नामपर क्या नहीं होता जब कि स्त्रीपर पुरुषके अधिकारसे सब कुछ होता है ? स्वतन्त्र स्त्री तो केवल अपनी आर्थिक आवश्यकता एवं कमजोरीसे अनैतिक कर्म करती है परन्तु गार्हस्थ जीवनमें स्त्री तो बिकी हुई गुलामकी भांति रहती है। उसे पतिकी इच्छा पर रहना पडता है। संसारमें सर्वत्र यही व्यवस्था है।

निरक्षर—ज्ञान

एक मजदूर स्त्रीने मुझसे कहा- कि 'हम स्त्रियां बहुत सुन्दर हों, अनेक गुण हों, कलाएं हों परन्तु ये सब गुण, कलाएं और सुन्दरता हमारे स्वयंके लिए किस अर्थ की ? पुरुष बिना हमारी कद्र कौन करेगा ? हम पुरुषके मनोरंजन एवं गृहस्थके लिए दो पहिएकी गाडीकेसमान अभिन्न उपयोगी हैं। यदि संसारमें केवल स्त्रियोंकी सृष्टि होती तो हम नष्ट हो जाते। यदि केवल स्त्रियां होती तो संसार न चलता। एक पहिएकी गाडी नहीं चलती, डगमग होती है, गिर पडती है। और पुरुष बिना हम बेकार हैं। हमें साथ रख लो, तुम्हारी सब प्रकार सेवा करते हुए, गृह प्रबंध करते हुए तुम्हें आराम देंगे, सब परेशानियोंसे दूर रख, तुम्हारा मनोरंजन करेंगे। तुम्हारी उन्नति होगी। हमारे पास पांच सौ रुपये हैं, तुम्हें अर्पित कर देंगे, नौकरी छोड दो, व्यापार करो। जीवन प्रेमपूर्वक सहयोगसे निभानेसे निभता है।

मुझे अकेला, मजेमें खाता-पीता सांड्-वत् देखकर ही उसने ऐसा कहा था। बहुत-बहुत वर्षोंकी बात है, कई सौ स्त्रियां तरह तरहकी बातें, सब गंभीर सिद्धान्त-भरी, और वे निरक्षर थीं।

मैंने कहा- कुछ सोच समझ लेने दो।

उसने कहा- इसमें सोचना समझना क्या ? क्या कोई मुकदमा थोडेही है कि कानून देखना पडे ? स्त्री-पुरुष आपसमें मन मिलाकर जीवनकी गाडी चलाते हैं। हमें अपनी रक्षार्थ पुरुषकी जरूरत पडती है, पुरुष हमारी ढाल है, यही हमारा बन्धन है, एक बैल गाडीमें दो पहिये, एक धुरीमें पिरोये रहते हैं, यदि धुरी न हो तो गाडी नहीं चल सकती। नहीं चल सकती। जीवन अंधे-लंगडेका साथ है, हम अंधी है, हमारे हृदय है, पुरुषमें दिमाग है पर वह हृदयके बिना लंगडा है। दोनोंका सहयोग ही संसार है। देखो बिजली भी दो तारसे उजेला देती है, काम करती है।

शिक्षितोंमें जीवन दर्शन समझानेकी इतनी बुद्धि आ जाय तो उन्हें अविवाहित रहने, योग्य वर-कन्या मिलनेमें कोई बाधा न हो, तलाक न हो, कोई सामाजिक साम्प्रदायिक जाति-गोत्र, लेन-देन, दहेज और अहंकार-स्वार्थकी संकीर्णता न हो, परन्तु कितने अफसोसकी बात है कि शिक्षित सम्पन्न विकसित होकर भी मानवको हजारों वर्षमें भी अबतक सहयोग-बुद्धि न आयी।

स्वार्थ भावना

जो हाल पूर्वका है वही पश्चिमका चाहे वे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय अथवा कानूनको मानते हों, उस विषमताका एक मूल कारण है— अपना अपना स्वार्थ ! लडकी पक्षके अभिभावक चाहते हैं कि हम अपनी लडकीकी ऐसी जगह शादी करें जहां उसको सुख मिले। घर सम्पन्न हो, वर विद्वान् उद्योगी हो, इत्यादि। वर पक्षके लोग चाहते हैं— लडकी सुन्दर, सुशील, सेवाभावी, पतिव्रता होकर रहे, हमारे लडकेको सुख दे।

दोनों पक्षके, वर-कन्या सुख चाहते हैं, परस्परको सुख देने, आत्मत्यागकी भावना किसीमें नहीं। इसी खींचतानसे सुख किसीको न मिलकर, संघर्ष होता रहता है, त्याग, मुकदमे बाजी, तलाक होते रहते हैं, जीवनमें एक एक स्त्री-पुरुष बार-बार १०-१५ तलाक और पुनर्विवाह करते हैं।

चाहे धर्म-सम्प्रदायकी बात सोचें या कानून व्यवस्थाकी खोज करें, सब रीति रिवाज व्यवहार सैकडों वर्षोंसे सर्वत्र ही अंधियाधसान चल रहे हैं क्योंकि दाम्पत्य सम्बन्धी व्यावहारिक नियम मनुष्योंने धर्मशास्त्र रचकर मनुष्यवर्गके हित बनाये, और विशेष उच्च वर्गके शिक्षित ब्राह्मणो एवं विद्वानोंने बनाये जिसमें स्त्रियों और शूद्रोंको नीच और अयोग्य समझा गया, जिनको विद्या पढनेका अधिकार भी नहीं दिया गया। कोई भी रिवाज या धर्मशास्त्र शूद्रों या स्त्रियोंने नहीं बनायें। कितना इन पण्डितोंका स्वार्थ, संकी-

णता और अन्धेर ! इनमें स्मृतिकारोंकी, विशेष कर मनुकी धूर्तता तारीफ करने योग्य है ।

इसका विस्तार मनुस्मृति अध्याय ४, ८, १०, ११ में, गौतम धर्मसूत्र अध्याय १२, आप स्तम्ब धर्म सूत्र पटल १०, खण्ड २७, विष्णु स्मृति ५, संवर्त संहिता १५२ से १६६, वसिष्ठ धर्मसूत्र ६, १४, शतपथ ब्राह्मण ३, काठक संहिता ३१, गौतम स्मृति १२, पराशर स्मृति २।१९-२०, ८-३३ तथा ५५-८८ में मिलेगा ।

हिमालयके अंचलमें रहनेवाले एक शिक्षित बी. ए. सज्जनने बताया कि वहां (सर्वत्र ग्रामीण भारतमें) स्त्रीको पांवका जूता सदृश समझा और व्यवहार किया जाता है, जब जूता पुराना हो जाय, फट जाय अथवा जब हमारा जी चाहे, पुराना फेंक दें और नया पहन लें, उसी प्रकार स्त्री भी चाहे जब त्यागी और नयी प्राप्त की जा सकती है। स्त्री घरका सब काम प्रातः चार बजेसे रात्रिके बारह बजेतक करती है, पशु-पालन और खेतीका भी सब काम करती है, पुरुष आराम करता, घूमता फिरता दूध मलाई दही, माल टाल खाकर मौज करता है, जो बचता है वह स्त्री खाती है, नही बचता, न सही । वह शिकायत नहीं कर सकती पुरुषोंका हुक्म मानना उसका कर्तव्य है पति उसका परमात्मा है। यदि किसी दिन भूख लगनेपर या समय पर भोजन न बनाया तो पुरुष उसे लात-मुक्के भी मारता है । यदि विवाह होनेपर उसने सर्व प्रथम पुत्र प्रसव किया तो ठीक; अन्यथा कन्या उत्पन्न होने पर वह निन्दनीय होती है और लगातार तीन बार कन्या उत्पन्न हो तो उसका मुख देखना दोष और पाप माना जाता है। दाम्पत्य जीवनमें हंसी खुशीके दिन नहीं बीतते । ऐसे दाम्पत्यसे तो वेश्या अच्छी ! जो स्वतंत्र रहकर एक रात गा नाचकर ५००) कमा लेती मौज करती है ।

अन्ध परम्परा

' तीक्ष्ण ' मूल नक्षत्रमें प्रसव होनेपर स्त्री सन्तान सहित गंगापुत्रको दान करनेकी प्रथा कभी रही होगी, परन्तु यह प्रथा किसने चलायी होगी ? अवश्य ही ब्राह्मणोंने । और फल स्वरूप गृहस्थको जब यह सहन न हुआ तो उसके प्रतीकमें पूजापाठ दक्षिणा आदिका विधान आरंभ हुआ उसीके अनुसार अब जब तब किसी यहां ' सताईसवां ' का पाखण्ड किया जाता है, संसारमें अन्यत्र अन्य समाजमें कहीं ऐसे जन्मको दोष नहीं माना जाता । यही पाखण्ड अब पशुओंमें प्रचलित है। श्रावण महीनेमें यदि घोडीको प्रसव हो तो दूषित मानकर गंगा पुत्रको दे दी जाती है। तीक्ष्ण उत्तराषाढ और श्रवणकी संधि अभिजित् नक्षत्रमें गाय ब्याने और माघ मासमें भैंस ब्याय तो इन प्रसूता पशुओंपर गंगापुत्रका हक होता है । वह इन नक्षत्रोंमें अपने गांवसे अपने क्षेत्रके गांवोंमें दूर दूर दौरा करता है और सम्पत्ति पाता है क्योंकि इन नक्षत्रोंमें ब्याई हुई गाय भैंसका दूध मालिकको खाना दूषित समझा जाता है, दूसरोंको नहीं, अतः गंगापुत्रसे मूल्य तय करके दूसरा व्यक्ति खरीद लेता है । यदि मालिक न दे गांवके लोगोंको एकत्र कर उनके द्वारा उसपर यह रिवाज उसके सिर लाद जाता है, उसे देनी पडती है, वर्ना गांवके लोग उस मालिकसे व्यवहार-सहयोग बन्द कर दे, आग, पानी आदि लेना-देना बहिष्कृत कर दें ।

इसी प्रकार गौर श्वेत वर्णोंने अपना आधिपत्य अन्य वर्णों पर रखा है, मनुस्मृतिके अनुसार ब्राह्मणोंने हर दशामें अपना हक सर्व श्रेष्ठ और सबसे अधिक रखा है, चारों वर्णोंमें विवाह कर सकते हैं, निम्न वर्णके लोग निम्नत्तर वर्णोंमें विवाह करें, अपनेसे उच्च वर्णमें नहीं । ब्राह्मणोंका विशेष गुण मीठी वाणी बोलना, चाटुकारी कवितामें निपुण, कल्पना-रचना करना, और आत्मबली बहुबली क्षत्रिय राजाओंको तारीफ खुशामद कविता श्लोक सुनाकर, आशीर्वाद उपदेश देकर उनसे दान दक्षिणा लेकर वैश्यों और शूद्रोंको पशुवत् कठोर कर्म ' कृषि ' को उत्तम बनाकर उसमें संलग्न करने और सबकी सेवा करके ही स्वर्ग जाते, स्त्रीको पतिसेवामें ही परमात्माका दर्शन और मुक्तिका मार्ग बताया दिखाया है, वेद-विद्या पढने और समानाधिकारकी बातें नहीं बतायीं, क्योंकि इनको मूर्ख रखकर, विकास न करने देकर, स्वयं परिश्रम न कर केवल मीठी बातें करके मौज करनेका विधान बनाया। जन्मसे मरण तक सब विधान और मरनेपर मोक्ष मार्गपर भी ब्राह्मणोंने अपना नियंत्रण रखा है, इस परम्पराके भ्रम जालसे सैकडों वर्षोंसे समाजके सब अंगों, जातियोंको अंधवत फंसा रखा है, सब मानते हैं । कोई व्यक्ति न माने तो सब लोग उसका सामाजिक व्यवहार बहिष्कार कर दें, आग पानी देना, आपसके

सब व्यवहार बंद कर दें । इस अन्ध विश्वासको अनिच्छासे जबरदस्ती उन्हें निभाना पडता है ।

अथर्व !

वैदिक और प्राग्वैदिक युगमें आजके समान साम्प्रदायिक एवं स्वार्थकी संकीर्णता नहीं थी वरन् वैदिक मंत्रोंको समझनेसे मालूम होता है कि वह काल सम्यक् शांति और साम्यवादका ज्ञानयुग था जब कि मानवोंमें कोई भेद न था, कोई वर्ण न था, वरन् एक वर्ण था, एक राष्ट्र और एक धर्म था, वह स्वभाविक था किन्तु कालान्तरसे प्रलयंकर परिवर्तन एवं स्वार्थगत इतिहास और भौगोलिक विस्तारसे मानवोंमें रंग-रूप रहन सहनमें परिवर्तन होनेसे अब वही वैदिक संस्कृति बदलते बदलते अनेक रूपा होकर अत्यन्त मलिन और विकृत हो गई है जिससे मानव मानवको नहीं पहचानता।

जिस प्रकार अलग अलग भरे हुए पानीके हौजों का पानी परस्पर दीवालोंकी सीमामें बन्द होनेसे एक-दूसरेमें नहीं जा सकता (Watar-tuht-compartment) उसी तरह इस एक लोटेकी पृथ्वी पर अनेक देशोंकी सीमाओंसे मानवोंके आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवहार भी परस्परसे अलग और बन्द हो गये हैं कि परस्परसे स्पर्श भेद रखकर रोटी--बेटीका सम्बन्ध नहीं करते। और अपनी सम्प्रदाय समाज सीमामें व्यवस्थित भी नहीं रहते । वैदिक युगोंमें बिवाहेच्छु युवक किसी इष्ट कन्याका परिणय करनेके लिए कन्याके पिताके पास जाकर उसकी कन्याकी भिक्षा मांगता था, अब उसके विपरीत, बेटीवाले वर खोजने दूर दूर पांव रगडते, धन भी देते हैं, और बेटा पक्षके लोग अधिक धनकी मांग करते बेटीवालेको कंगाल बना देनेका प्रयन्त करते हैं । बेटा पक्षवालोंकी संकीर्ण भावना और अर्थलाभके लालचमें सैकडों कन्याओंका आजीवन कुमारी रहना, गुप्त अनैतिक कृत्य और फलतः आत्महत्या भी करना पडता है, और विवाहेच्छु युवक भी इष्ट कन्याको जीवन संगिनी नबना सकनेसे कारण अभिभावकोंकी संकीर्णता और लालचवश अनेक बाधाओंके कारण आत्महत्या करनी पडती है । धर्म और परम्परा'के नामपर कितना अंधेर ।

धर्म और शास्त्रोंकी मान्यता कितनी है एवं उनकी सार्थकता क्या ? जाति गोत्रको लेकर ही इतनी दुरवस्था हुई, कूप मण्डूक बनकर सब दुर्व्यवस्था हुई । भारतीय कट्टर पंथी लोग धर्म शास्त्रादिकी दुहाई देते हैं परन्तु वे इन्हें कितना जानते हैं ? प्राचीन परिवाटीकी लकीर पीटनेवाले, बुद्धिके फकीर इन शास्त्रोंको यदि सचमुच जानें और मानें तो वास्तवमें सब आधुनिक पाखण्ड दुर्व्यवस्था दूर हो जाय, इससे जाति गोत्र, लेन-देन ऊंच नीच भावनासे मुक्त स्वतंत्र रीतिसे समाज सुव्यस्थित हो जाय । वर्ण संकरतासे नाक सिकोडनेवाले बुद्धिपूर्वक उन ग्रन्थोंको पढें जिनको वे मानते हैं तो आधुनिक रक्त-संकर बननेके वैज्ञानिक साधनोंको पहचाने जो वर्ण संकरतासे कही अधिक दूषित एवं घातक है जो मानवको अधिक पतित, रोगी, घृणित और पशुसे भी नीच बना रहा है- वह है रोगोंके इलाज एवं निरोधके नामपर वैज्ञानिक इंजेक्शन और दवाओं द्वारा इलाज ।

ये रोग निरोधक अभियानके टीके और इंजेक्शन क्या हैं ? अनेक घृणित रोगोंसे आक्रान्त रोगियों एवं पशुओंके मल, मूत्र, रस, रक्त, मांस, मवाद, बलगम आदिसे बने हुए बिषाक्त कीटाणुओसे मिश्रित घृणित पदार्थ जो मानवने रक्तमें घोले जाते हैं, क्या इनसे मानव रक्तसंकर, रोगी, हीन नहीं बनता ? फिर वर्ण संकरता क्या इससे अधिक पतित है।

इतिहास मानवके सर्व देशी आवागमनका साक्षी है जिससे सदैव जातियोंका सम्मिश्रण हुआ है । आज संसारमें कौनसी जाति हैं जिसमें किसी विदेशी जातिका रक्त सम्मिश्रित न हों, विवर्ण न हो ? इस परम्परागत वर्णसंकरताके विरुद्ध कौन व्यक्ति अपनी जाति गोत्र रक्तकी पवित्रताका हजार पीढी तकका भी प्रमाण दे सकता है ? किसके पुरुषोंने व्यभिचार नहीं किया अथवा विवर्ण सम्बन्ध नहीं किया कोई प्रमाणित कर सकता है ? अपने माता--पिताको स्वयं कौन ज्ञान पूर्वक जानता है ? अमुक स्त्री पुरुषके ही रज-वीर्यसे उत्पन्न हुआ हूं, ये ही मेरे माता-पिता हैं, ऐसा स्वयं ज्ञान किसको है और कौन प्रमाणित कर सकता है ?

अभेद संयोग

इतिहास-पुराणोंमें भी ऊंच-नीच वर्ण व्यवस्थासे मुक्त होकर अनेक लोगोंके सम्बन्धका वर्णन है। ब्राह्मण शुक्राचार्यने क्षत्रिय राजा प्रियव्रतकी कन्या ऊर्जस्वतीसे विवाह किया, ब्राह्मण श्रृंगीने राजा लोमपादकी पुत्री शान्तासे; राजा दशरथकी गोदली हुई पुत्रीसे विवाह किया था; ब्राह्मण जमदग्निने सूर्यवंशी राजा प्रसेनजितकी कन्या रेणुकाको ब्याहा जिसके बेटे परशुराम हुए। क्षत्रिय राजा गाधिकी कन्या सत्यवतीको ब्राह्मण ऋचीकने ब्याहा। ब्राह्मण पिप्पलादने क्षत्रिय कन्या पद्माको ब्याहा। (उत्तरार्ध शिव-पुराण, अध्याय ३०)

ब्राह्मण अगस्त्यने क्षत्रिय कन्या लोपामुद्रासे ब्याह किया ब्राह्मण सौभरिने क्षत्रिय राजा मान्धाताकी कन्यासे, तथा देवलोककी अप्सरा मेनकासे विश्वामित्र क्षत्रिय राजाने शकुन्तला उत्पन्नकी जिसका विवाह राजा दुष्यन्तसे होने पर पुत्र भरत हुआ और देश भरतखण्ड कहलाया। (देवी भागवत पुराण-स्कन्ध) महाभारतके भीमसेनने हिडिम्बा राक्षसीसे विवाह किया। जिसका बेटा घटोत्कच हुआ।

उच्च वर्णका निम्न वर्णसे विवाह होनेके भी प्रमाण हैं-क्षत्रिय राजा प्रियव्रतने ब्राह्मण विश्वकर्माकी लडकी बर्हिष्मतीसे विवाह किया। वायु पुराण अध्याय २८ में कर्दम ऋषिकी कन्या काम्याका विवाह क्षत्रिय राजा प्रियव्रतसे होना लिखा है जिससे प्रियव्रतके दस पुत्र और दो पुत्रियां हुईं। क्षत्रिय राजा नीपने ब्राह्मण शुक्राचार्यकी पुत्री कृत्वीसे विवाह कर ब्रह्मदत्तको पैदा किया, इसी कुलमें मुद्गल पैदा होनेसे मौद्गल्य गोत्र चला (भागवत् पुराण स्कन्ध ९।२२)

क्षत्रिय राजा ययातिने ब्राह्मण शुक्राचार्यकी लडकी देव पत्नीसे विवाह किया जिससे पांच पुत्र हुए। ब्राह्मण कन्या ममताका विवाह एक नाईसे हुआ जिसके पुत्र मतंग महामुनि हुए। (महाभारत- अनुशासन पर्व, ५९ अ. २२)

वेश्या पुत्र वसिष्ठ मुनि और कर्दम ऋषि कन्या अरून्धतीके विवाहसे शक्तृ या शक्ति नामक पुत्र हुआ जिसका चाण्डाल कन्या अदृश्यन्तीसे विवाह हुआ, इनका पुत्र पाराशर हुआ। (पूर्वार्ध- लिंग एवं शिव पुराण) । पाराशरने धीवर कन्या सत्यवतीसे विवाह किया जिसके पुत्र वेद व्यास हुए जिनने [illegible] तथा जिनसे कौरव और पाण्डव हुए। (भविष्य पुराण १। २४-४९) तथा ऋग्वेद ७।३३।११

उत्तर पुराण, हरिवंश पुराणमें भी सभी वर्णोंका पारस्परिक संबंध होना पाया जाता है। क्षत्रिय राजा श्रेणिकने अपनी पुत्री वैश्य धन्यकुमारको दी थी। क्षत्रिय राजा जयसेनकी पुत्री पृथ्वीसुन्दरी प्रीतिकर वैश्यको; अरिजय क्षत्रिय राजाने अपनी पुत्री भविष्यारूपा वैश्य भविष्यदत्तको दी थी। जिसने हस्तिनापुरके क्षत्रिय राजा भूपालकी कन्या स्वरूपासे भी विवाह किया था। वसुदेव क्षत्रियने वैश्य चारुदत्तकी पुत्री गन्धर्वसेनाको ब्याही था और उसने उपाध्याय ब्राह्मण सुग्रीव और यशोग्रीवकी दो कन्याओंसे भी ब्याहा था। क्षत्रिय राजा उपश्रेणिकने भील कन्या तिलकवतीसे विवाह किया जिसका पुत्र राज्याधिकारी हुआ। उत्तर पुराणमें लिखा है कि ब्राह्मण अग्निभूतकी एक पत्नी ब्राह्मण और दूसरी वैश्य थी (उत्तर पु. ७५।७१-७२) वैश्य पत्नीसे उत्पन्न चित्रसेना कन्या देवशर्मा ब्राह्मणको ब्याही गई।

नागकुमार चरित्रमें लिखा है कि नागकुमारने वेश्यापुत्रियोंसे विवाह करके दिगम्बर मुनिकी दीक्षा ग्रहण की थी और जैनियोंके पूज्य बने रहे। चन्द्रगुप्तका विवाह एक ब्राह्मण कन्यासे हुआ था, जिनका बेटा अशोकका पिता था और अशोकने वैश्य कन्यासे विवाह किया था। हर्ष ब्राह्मण था और अपनी लडकी क्षत्रियको ब्याही थी। विक्रमादित्यका आचार्य व्याधकी सन्तान था जिसका विवाह ब्राह्मणीसे हुआ था। कृष्ण भट्ट ब्राह्मणका प्रेम चाण्डाल कन्यासे होने पर मातंग पंथ चला।

जाति गोत्र कोई दैवी योजना नहीं वरन् देशकालगत इतिहाससे प्रभावित एवं विकृत मानव रचित व्यवस्थाएं हैं जिनसे कालान्तरसे बहुत विकार हुआ और अब मानव इनमें कूप मण्डूक बना हुआ समाजको विकृत करता है। यदि भारतीय सचमुच इन धर्म प्रन्थोंको व्यवहारमें मानें तो विषमता संकीर्णता लुप्त हो जाय, यदि इनके अनुसार आचरण नहीं करना है तो इन्हें पानीमें डाल दो, यदि ये झूठे हैं तो इन्हें जला दो, सुनना पढना बन्द कर दो। अपना रिवाज अथवा ये ग्रंथ- इनमें अपनी अनुकूलता देखकर एकको अवश्य त्यागना होगा।

महाभारत वनपर्व ३१३-१७ में इनका निर्णय करनेको लिखा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषि-
र्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्वं निहितं
गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

बहुत तर्क करके भी कुछ निश्चय नहीं होता, ग्रन्थोंमें मत विभिन्न हैं, ऋषियोंके मत परस्पर मेल नहीं खाते, कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय गहरा है। अतएव महापुरुष लोग जो करें वही अनुकरणीय है।

ऊपर महापुरुषोंके उदाहरणोंसे जाति गोत्र तोड़कर स्वच्छन्दित मुक्त होकर विवाह करना लिखा है। सन्त कबीरने निष्पक्ष मानव भावसे लिख दिया है—

एक बूंद, एक मल मूतर, एक चर्म एक गूदा।
एक ज्योति थें सब उत्पन्ना, को बाह्मन को सूदा ॥

जाति गोत्रके विषयमें तुलसीदासने लिखा है—

तुलसी जो जग शोध, अत मन निरोध कुछ शोध।
चाहै ते पामर मन्दमति, सपनें सुख न सुबोध ॥

सब संसारकी खोज करना, मनको रोक लेना, अपने कुलके उद्गमका शोध करना जो लोग चाहते हैं, वे नीच और मूर्ख हैं, इन बातोंमें तो स्वप्नमें भी समाधान नहीं होता।

देशकाल परिवर्तन क्रमशः होते होते युगान्तरसे धर्म विचार व्यावहारिक व्यवस्थाएं बदलती हैं अतः अब उचित समय है कि सब मानव, ऋग्वेदके मन्त्रको एक समान वैदिक साम्यवादी संगठनसे सार्थक करें।

वैदिक साम्यवाद

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

ऋग्वेद १।१९१।२

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः
सह चितमेषाम्। समानं मन्त्रः अभिमन्त्रये
वा समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानस्तु वो मनो यथा वः सुहासति ॥

हम सब एक होकर प्रगति करें। सब मिलकर उत्तम प्रकार संवाद करें। सबके मन उत्तम संस्कार युक्त हों। पूर्व कालीन देव उत्तम ज्ञानी जिस प्रकार अपने कर्तव्यका पालन करते आये उसी प्रकार हम भी अपने कर्त्तव्यका पालन करें।

हम सबका एक विचार हो, हमारी सभा एक जैसी हो, सबका मन विचार युक्त हो, सबका चित्त भी सबके साथ ही हो। परमात्मा सबको एक विचारसे युक्त करता है, सबको अन्न और उपयोग सामग्री प्राप्त होती है।

हम सबका ध्येय समान ही हो, हम सबके हृदय समान हो, हम सबका मन समान हो, हम सबकी शक्ति उत्तम हो।

यह भावना एक व्यक्तिके लिए नहीं समस्त राष्ट्र संगठनके लिए है। विश्व समाज और विश्वराज्य व्यवस्थाके लिए भेद रहित वैसा सुन्दर वह प्रेरक पुरानी भावना है। हम इसे ग्रहण कर व्यवहार करें तो सब समस्याएं हल हो जायें।

एक जटिल समस्या

तथागत पर मांसाहारका मिथ्या दोषारोपण

[लेखक- आचार्य शिवपूजनसिंह कुशवाहा, 'पथिक' बी. ए., कानपुर]

तथागत (महात्माबुद्ध) का जन्म कपिलवस्तु नगरमें सूर्यवंशान्तर्गत शाक्यवंशमें हुआ था। सुमंगलविलासिनी १ और 'महावंश' २ की कथाओंमें शाक्योंका राजा इक्ष्वाकुका वंशज बताया गया है। 'विष्णुपुराण' ३ से भी इसी मतकी पुष्टि होती है। 'महावस्तु' ४ में शाक्योंको आदित्यबन्धु कहा गया है। आदित्यबन्धु और सूर्यवंशी एक ही बात है। सम्प्रति शाक्यवंशके प्रतिनिधि 'शाक्यसेनी मुराव' हैं।

तथागतकी मृत्यु कैसे हुई, इस पर विद्वानोंके भिन्न भिन्न विचार हैं। कहा जाता है कि उन्हें 'सूकर मद्दवम्' खिलाया गया था जो कि सुअरका मांस था। उसे वे पचा न सके। उन्हें अतिसार होगया और अन्तमें उसी रोगसे उनका कुशीनगर (वर्तमान कसियां जिल्देवरिया) में देहावसान होगया।

'सूकर मद्दवम्' क्या पदार्थ है? इसके सम्बन्धमें महापरिनिब्बानसूक्त' के भाष्यकारोंने अपने अपने विभिन्न मत प्रकट किए हैं। एक लिखते हैं— 'सुक्कमद्दो एक प्रकारकी रसायन का नाम है जो शारीरिक रक्षाके लिए अद्वितीय है। भगवान् बुद्धको पुष्ट, करनेके लिए यह रसायन खिलाया गया था'।

एक दूसरे भाष्यकार लिखते हैं कि— 'सुक्कमद्दो पंच गोरससे बना हुआ एक प्रकारका भात है, जो बुद्धको खिलाया गया था।' ५

श्री बुद्धघोषाचार्यकी टीका— सूकरमद्दवंतिनाति तरुणस्स नातिजिण्णस्स एक जेट्ठक सूकरस्स पवत्तमंसं। तं किर मुदुं चेव सिनिद्धं चहोति। तं पटियारापेत्वा साधुकं पचापेत्वा ति अत्थो। एक भणन्ति, सूकरमद्दवं ति पन मुदु-ओदनस्स पञ्चगोरसयूसपाचनविधानस्स नाममेतं, यथा गवपानं नाम पाकनामं ति। केचि भणन्ति सूकरमद्दवं नाम रसायनविधि, एवं पन रसायनत्थे आगच्छति, तं चुन्देन भगवतो परिनिब्बानं न भवेय्या ति रसायनं पटिपत्तं ति।' ६

---

१ 'सुमंगलविलासिनी' भाग १ पृष्ठ २५८ ६० तुलनाकरो आचार्य रामदेवजी तथा डॉ० सत्यकेतुजी 'विद्यालङ्कार' कृत 'भारतवर्षका इतिहास' तृतीयखण्ड, पृष्ठ १९८ (संवत् १९९० वि. में गुरुकुलकांगड़ी विश्व-विद्यालय, हरि-द्वारद्वारा प्रकाशित)

२ 'महावंश' पृष्ठ १२-१४ [सम्पादितश्रीगेगर] तुलना करो अपरोक्त 'भारतवर्षका इतिहास' तृतीयखण्ड, पृष्ठ १९८

३ 'विष्णु पुराण' चतुर्थ खंड, अध्याय २१ पृष्ठ ३५७ [गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित, सं. २०१८ वि. पञ्चमसंस्करण]

४ 'महावस्तु' २, पृष्ठ ३०३ तुलनाकरो, आचार्यरामदेवजीकृत 'भारतवर्षका इतिहास' तृतीयखण्ड, पृष्ठ १९८

५ मासिक 'श्रद्धानन्द' पत्र, दिल्ली, वर्ष ३, जनवरी १९३५ ई. संख्या ४, पृष्ठ १३ में प्रकाशित स्वामी विद्यानन्दजी संन्यासीका 'माथाकुंकर और बुद्धनिर्वाण' शीर्षक लेख।

६ आचार्य धर्मानन्दको सम्बीकी मराठी पुस्तक 'भगवान् बुद्ध' उत्तरार्द्ध, प्रकरण ग्यारह; तुलना करो मासिक पत्रिका 'विशाल भारत' कलकत्ता, भाग १५, मई १९४५ ई. अङ्क ५, पृष्ठ १९२ १९३ में प्रकाशित श्री लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेयका 'मांसाहार और बौद्ध तथा जैन' शीर्षक लेख।

अर्थात्— ' जो न बिलकुल बूढा हो और बिलकुल जवान, जो हो तो कम उम्रका, पर खूब मोटा-ताजा, ऐसे सूअरका पका-पकाया मांस । वह नरम और चिकना होता है । उसे तैयार करके अर्थात् अच्छी तरहसे पका करके यह अर्थ समझना चाहिए । कुछ लोग कहते हैं कि पंचगोरससे बनाए गए नरम भातका यह नाम है । जैसे कि ' गवपान ' एक विशिष्ट पक्वानको कहते हैं । कुछ लोगोंकी समझमें सूकरमद्दव नामक एक रसायन था । रसायनके अर्थ में ' ही उस शब्दका प्रयोग किया जाता है । चुन्दने बुद्ध भगवान्को वह पदार्थ इसलिए दिया कि उनका परिनिर्वाण न हो । ×

मूल श्लोक

' चुन्दस्स भत्तं भुंजित्वा कम्मारस्सातिं ये सुतं । आबाधं सम्फुसो धीरो पवाळ्हं मारणन्तिकं । भतस्स च सूकरमद्दवेन, ब्याधि पवाह उदपादि- सत्थुनो । विरेचमानो भगवा आवोच गच्छा मह्ं कुसिनारं नगरंति । ' [दीर्घ निकाय महावग्गसूत्त, महापरिनिब्बानसूत्त, अध्याय ४]

' सूकरमद्दव ' का वास्तविक तात्पर्य और भाष्य- कारोंका भ्रमः— ' तथागत ' जीवनमें कभी भी मांसा- हार न किए, वरन् जीवन पर्यन्त उन्होंने मांसाहारके विरुद्ध उपदेश किया ।

उनका जन्म शुद्धोदनके घर हुआ । शुद्धोदनको यह उपाधि शुद्ध भोजनका व्यवहार करनेसे प्राप्त हुई थी । ७

' मांस भक्षण और कुकर्मका कलङ्क देवदत्तने बुद्धके ऊपर झूठमूठ ही लगा दिया था । वह बुद्धका एक शिष्य था और उसने अपने गुरुके प्राणपर भी आघात करनेकी चेष्टा की थी । किन्तु इतने पर भी बुद्ध सदा उसे क्षमा कर दिया करते थे और उसे अपने साथ ही रखते भी थे । निसन्देह, जिस ओरसे मनुष्य एकदम निश्चिन्त रहता है उसी ओरसे उस पर घोर आपत्ति आती है । बुद्धको भी सांसारिक क्लेश भोगने पडे थे । ' ८

बौद्धमतकी आदि और प्राचीन शाखा ' **हीनयान** ' है जिसके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं ।

आठवीं शताब्दीमें भारतके प्रायः सभी बौद्ध सम्प्रदाय वज्रयान गर्भित ' महायान ' के अनुयायी हो गए थे । महायान शाखावाले तथागतकी मूर्तिकी पूजा, बोधिसत्वोंकी प्रतिमा, पूजा, भैरवीचक्र, मांस, शराब, प्रभृति पूरे वाम- मार्गके उपासक थे । उससे ' सहजयान ' भी कहने लगे ।

इसी ' महायान ' शाखावाले तथागत पर मांसाहारका दोषारोपण करते हैं ऐसा सम्भव है ।

' सूकरमद्दव ' का अर्थ ' सूअरका मांस ' कभी नहीं हो सकता है । यह तो ' दीर्घनिकाय ' के भाष्यकारोंकी कल्पना- मात्र है ।

मूल पालीमें ' सूकरमद्दव ' शब्द आया है जिसका अक्षरार्थ है— ' सूकर के मांसकी भाँति मुलायम ' । यह गोबरछत्ते (छत्रक) के पौधेका नाम है । इसका अर्थ सूकरका मांस नहीं है जैसा लोग भ्रमवश समझते हैं । ९

× वही.

७ देखो ' भविष्यपुराण ' २।८३।११६ में लिखा है कि ' सुद्धोदन (भोजनकी शुद्धताके गुण) के कारण उनके यहां स्वयं भगवान्ने पुत्ररूपमें जन्मधारण किया ' । तुलना करो ' अशोकावदान ' (पाइलुस्कीका फ्रेंच अनुवाद, पृष्ठ २५३), ' दिव्यावदान ' (फॉवेलवलीलद्वारा रोमन भाषामें अनूदित), श्री स्वामी महाराज योगिराजद्वारा सम्पादित व योगि- राजद्वारा सम्पादित व योगिराज शिष्य मैत्रेय प्रणीत तथा पंणविश्वनाथ प्रसादामिश्र बी. ए. साहित्यरत्न द्वारा आंग्ल भाषासे आर्य भाषामें अनुवादित ' बुद्ध मीमांसा ' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५५ की पाद टिप्पणी ।

८ देखो ' रायलएशियाटिक सोसाइटीका जरनल, मई १८४१ ई. में साइकेसका ' नोट्सऑन एनसियार इण्डिया; ' नाइटन कृत ' हिस्ट्रीऑफ सिलोन ' पृष्ठ ७१ की पाद टिप्पणी; श्रीबीलका ' बुद्धिष्टरेकार्ड्स ऑफ दी वेस्टर्न- वर्ल्ड ' भाग, २, पृष्ठ ८; तुलना करो ' बुद्ध मीमांसा ' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५३

९ देखो— न्यूमैनः Die Raden Gotama Buddha's etc; नरीमैनका Preface to Tiel's Religion of the Iranian people, शोकाचारका ' Catachism ' पं. सुकीलाल शास्त्री बरेलीकृत ' बुद्धास्तिकता विचार ' तुलना करो— ' बुद्ध मीमांसा ' पृष्ठ २५४ की पाद टिप्पणी ।

*

इस विषय पर विचार करनेके लिए 'सूखा' शब्द बडे महत्त्वका है। सूकरका सूखा मांस कोई वस्तु ही नहीं है' पर गोबरछत्ता (छत्रक) जो वर्षा ऋतुमें उत्पन्न होता है। वर्ष भरतक काम में लानेके लिए सुखाकर रख लिया जाता है। भगवान् तथागतकी मृत्यु बसन्त ऋतुमें हुई थी। इस ऋतुमें सूखा ही गोबरछत्ता प्राप्त होसकता था। अतः यह स्पष्ट है कि उनकी मृत्यु सूखे गोबरछत्तेके विषाक्त प्रभावसे हुई; और उनकी मृत्युके लक्षण भी सचमुच वे ही थे जो गोबरछत्तेके विषके कारण होनेवाली मृत्युमें होते हैं १०.

बुद्धघोषाचार्यजीकी जोटीका है— 'इस टीकामें सूकर-मद्दव शब्दका मुख्य अर्थ सूअरका मांस ही किया गया है। लेकिन टीकाकार बुद्धघोषको इस अर्थके सम्बन्धमें कुछ शङ्का थी। बात यह है कि उनदिनों उक्त शब्दके दो अर्थ और भी प्रचलित थे। इसके सिवा 'उदान अट्ठकथा' में भी दो भिन्न अर्थ दिए हुए हैं— 'केचिपन सूकरमद्दवं तिन सूकर-मसं, सूकरेहिमद्दितवंसकळीरो ति वदन्ति अञ्ञे सूकरेहि मद्दितपदेसे जात अहिच्छत्रकं ति।' अर्थात् कुछ लोगोंका कहना है कि सूकरमद्दवका अर्थ सूअरका मांस नहीं है। वह तो बांसका ऐसा कोमल अंकुर है, जिसे सूअरने रौंद डाला हो। औरोंकी रायमें सूअरोंकी रौंदी हुई जगहमें उपजा हुआ कुकुरमुत्ता उक्त वस्तु (उक्त दोनों वस्तुओंकी कहीं कहीं तरकारी बनाई जाती है।)' ११

श्री नेहपालसिंहजी, डिप्टी डाइरेक्टर शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश लिखते हैं— 'सूकर मार्दव साधारण कुकुर-मुत्ताके अर्थमें समझना चाहिए— इसका बडा सुन्दर शाक बनता है। पर वह 'कुत्तेका मूत्र होता है' बम्मीन्यायके अनुसार कोई कहने लगे तो कितनी बेढंगी बात होगी। कुकुरमुत्ता है भी बडे डरकी चीज। कोई कोई ही खानेमें जाता है। कुछ उग्र विष होते हैं। कभी कभी परिवारके परिवार खाकर समाप्त हो जाते हैं ... जो अनजान हैं वह पहचानमें भूलकर बैठते हैं। चुन्दने सम्भव है ऐसी ही भूल की हो।' १२

श्री बच्चीराम आर्य, रामगढ, नैनीताल— 'शूकर-मार्दवशाक नहीं कन्द ही हो सकता है। वराही कन्दको कुमाऊँमें गेठी कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है एक घरेलू मीठा, दूसरा जंगली कडवा। बाराह या सुअर इसको प्रिय समझते हैं। इस कन्द पर छोटे शूकरके समान बाल होते हैं। गेठीके अतिरिक्त एक और कन्द होता है। यह चेपदार मधुर और गरिष्ठ होता है। यह आतिसार उत्पादक है। गोरखपुर, देवरियाकी तराईमें ही महात्मा बुद्धका निर्वाण हुआ था। तराईकी इस उपजका तब भी प्रयोग होता ही होगा।' १३

श्री जगन्नारायण शर्मा वैद्य, बतरौली, देवरिया— 'आयुर्वेद शास्त्रमें एक कन्द होता है जो बल्य, वृष्य एवं रसायन होता है जिसे लोकमें बराही कन्द कहते हैं। आयु-र्वेदमें इसके बाराही कन्द शकरकन्द शूकरी आदि नाम है।' १४

श्री राकहिल (Rockhill) ने बुद्धकी जीवनी तिब्बती ग्रन्थोंके आधारपर लिखी है उसमें सुअरके मांसका उल्लेख नहीं है। स्वादुभोजनका ही वर्णन है। उन्होंने यह टिप्पणी दी है—

" It is Curious that the text contains no mention of the fork which is said to have caused inflamation the Cause of Buddha's death. " 15

---

१० गोबरछत्तेके विषाक्त प्रभावके लिए देखो डॉ० कॉरेण्डकी 'Health and longevity through rational diet' पुस्तक, पृष्ठ २४१-२४६; तुलना करो 'बुद्ध-मीमांसा' पृष्ठ २५५ की पाद-टिप्पणी; आचार्य रामदेवजी कृत 'भारतवर्षका इतिहास' तृतीय खण्ड, पृष्ठ ८६-८७ की पाद टिप्पणी।

११ देखो मासिक पत्रिका 'विशाल भारत' कलकत्ता, भाग ३५, मई १९४५ ई., अङ्क ५, पृष्ठ १९३ कॉलम १।

१२ पं. गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय एम. ए. कृत 'जीवन-चक्र' प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४७७

१३ वही, पृष्ठ ४७७-४७८

१४ वही पृष्ठ ४७८

१५ वही पृष्ठ ४७८

अर्थात्— 'यह अपूर्व है कि पाठमें सूअरके मांसका वर्णन नहीं है जो बुद्धकी मृत्युका कारण उसकी ज्वालाके कारण होना कहा जाता है।'

श्री रीज डेविस (Rhys Davids dialogues of Buddha:- Sukker Maddava- see the note in my translation of Milinda (1890); VOL. I, P. 244, Dr. Hoey informs me that the peasautry in these districts are still very fond of a loullouons root, a sort of Tuffle found in the jungle aud called Sakarkand; Mr. K. E. Neumawn in his translation of the Majhim (1896) has Collected several similar instances of tuffle-like roots or edible plants having such names. " 16

अर्थात्— 'रीज डेविसने बुद्धके वार्तालाप पर जो पुस्तक लिखी है उसमें ' सूकरमद्दव ' मिलिन्द (१८९०) जिल्द १, पृष्ठ २७४ के अनुवादमें एक टिप्पणी दी है। डॉ. होने उनको लिखा कि इन प्रान्तोंमें एक कन्द होता है जिसे शक्करकन्द कहते हैं। श्री के. ई. न्यूमैनने अपने मज्झिम (१८९६) के अनुवादमें ऐसे कई कन्दोंका उल्लेख किया है।'

अन्य विद्वानोंके स्पष्ट मत

आचार्यरामदेवजी गुरुकुलकाङ्गडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार लिखते हैं— ' मूल पालीमें खुम्बके लिए ' सूकरमाद्दव शब्द आया है। अनेक विद्वानोंने इस शब्दका अर्थ खुम्ब ही किया है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक रॉकहिल भी हमारे इसी मतका समर्थन करते हैं। अपने ' Life of Buddha ' नामक ग्रन्थके १३३ पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि मूल-पाली ग्रन्थोंमें सूअरके मांसका कहीं वर्णन नहीं मिलता। रीज डेविड्सने भी इसी मतका समर्थन किया है। १७

पं. गङ्गा प्रसादजी उपाध्याय एम. ए'— '... महात्माबुद्धके सुअरके मांस खानेकी सम्भावना बहुत कम है। प्रथम तो विदेशी और विशेषकर यूरोपके विद्वान् यह नहीं जानते कि भारतवर्षमें सुअरके मांसको कैसा समझते अन्य देशोंमें मांस खाने या किसी पशु पक्षीको मारनेमें किसीको संकोच नहीं होता। भरतमें होता है। फिर सुअरका मांस तो मेहतर और पासियोंके अतिरिक्त कोई खाता ही नहीं। चुन्द ऐसी जातिका व्यक्ति न था। दूसरी बात यह कि भारत वर्ष तथा अन्य देशोंमें भी कई वनस्पतियों नाम पशुओंके अंगों पर हैं। इससे केवल धातुओंके अर्थोंसे कोरे व्याकरण जाननेवालेको भ्रान्ति होजाति है।...... भारतवर्षसे जब बौद्धधर्म अन्य देशोंमें गये तो इसमें बहुतसे परिवर्तन और विकार आ गए। पुरानी परिपाटीके विस्मृत हो जाने पर लोगोंने अटकलसे अर्थ लगाए होंगे। और विशेष कर विदेशी भाष्यकारोंने। ' सुअरके मांस ' का विचार तो बुद्धघोषकी कल्पना प्रतीत होती है जिन्होंने महापरि निब्बान सुत्रकी सुमंगल विलासिनी टीका लिखी है। यह बुद्धजीके निर्वाणके ९३५ वर्ष पीछे सिंहल देशमें गए। उन्होंने वहां त्रिपिटक ग्रन्थके उत्त कथा समूहका पालीभाषामें अनुवाद किया। यह अनुराधपुरके महाविहारमें रहते थे। उनके समय ' सूकरमद्दव ' के विषममें वहांके लोगोंके कई मत थे। एक मत था।

' नाति तरुण नातिवृद्ध पवत्त मंस ' दूसरा ' पंचगोरस से बना हुआ पायस विशेष '। तीसरा ' एक प्रकारका रसायन। किसी किसीने इसको एक प्रकारका पका चावल बताया है। क्योंकि इसके लिए ' मत्त ' (भात) शब्दका प्रयोग हुआ है।'...... १८

गुरुकुलकाँगड़ी विश्वविद्यालयके प्रतिष्ठित स्नातक, विद्वद्वरेण्य पं. धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड ' सम्पादक ' गुरुकुलपत्रिका ' हरिद्वार लिखते हैं—

" सूकर मद्दवम् (Sukar Maddavam) which was prepared by his devotee chunda for him and which, unfotunately caused dysentery and ended Mahatma Buddha's noble life. It is remarkable that neither in the Tibetan nor any of

---

१६ वही पृष्ठ ४७८

१७ ' भारतवर्षका इतिहास ' तृतीयखण्ड, बौद्धकलि, पुष्ट ८३ की पाद टिप्पणी।

१८ ' जीवनचक्र ' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७१ २८० २८१

the Chinese accounts of the death of the Buddha is there any mention of pork at the last breakfast. Nor is it mentioned in any of the Mahayanist books, nor in the acccount of chuda's feast given in the Sarvata Vinaya... ..." 19

अर्थात्— 'सूकरमद्दव उनके भक्त चुन्द द्वारा उनके लिए तैयार किया गया था और असौभाग्यवश अतिसारका कारण बना और महात्मा बुद्धके श्रेष्ठ जीवनको अन्त किया। यह विचारने योग्य है कि न तो तिब्बतियों और न चीनियोंमें बुद्धकी मृत्युका कारण उनके अन्तिम कलेवामें सुअरके मांसका कोई वर्णन नहीं है। न महायानियोंके किसी भी पुस्तकमें वर्णन है। न 'सरवत विनय' में चुन्दके दिए भोजका कारण है।' ...

डॉ. हो (Dr. Hoey) who was a civilian officer of gorakhpur, holds that at Pava Buddha ate at the house of Chunda Sukara (not hog's flesh but Sukara Kanda or hog's root) which aggravated the illness that terminated his life. An an article taken by those keeping a fast, Sukar Kand is taken boild. so this corresponds very nearly to Sukar Maddavam, the soft pulp of the Sukar Kand. It has got a sweet taste and has got thread like things with in their pulp when boiled, and these cause a griping pain in weak stomachs. It possesses many of the names of the boar, such as grishti, Sukari, Varahi and Varaha Kanda. This article of diet is spoken of in bad terms by medical authorities, it is always difficult of digestion, and some varieties of it are posisonons and cften Canse death with symptoms of dysentary." 20

अर्थात्— 'गोरखपुरके नागरिक ऑफिसर डॉ० हो विश्वास करते हैं कि पावामें बुद्धने चुन्दके गृहमें सूकर (सुअरका मांस नहीं वरन् सूकर कंद अथवा सूकरकी जड़) खाया जो बीमारीको बढाया और उनके जीवनको समाप्त किया। तेज सूकरकंदको लेकर उन लोगोंने उबाला। सूकर कंदका मुलायम गूदा सूकरमद्दवके बहुत ही अनुरूप होता है। इसका स्वाद मीठा होता है और उबालनेपर उसके गूदेमें तागाके समान वस्तु होता है, और यह निर्बल पाकस्थलीमें पेचिशकी पीडाका कारण होता है। यह सूअरके बहुत नामोंको रखता है, यथा ग्रिष्टी, सूअरी, वाराही और वाराहकंद। औषधीय अधिकारियोंके द्वारा आहारके सामानमें खराब शब्दोंमें कहा जाता है, यह पचनेमें सदैव कठिन होता है, और इसके कुछ भेद विषाक्त होते हैं और प्रायः पेचिशके लक्षणोंके साथ मृत्युका कारण होता है।'

इन प्रमाणोंके आधारपर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि भगवान् बुद्धदेव (तथागत) पर मांसाहारका मिथ्या दोषारोपण किया गया है।

भगवान् बुद्धदेवने जीवनपर्यन्त मांसाहारका विरोध किया। यथा—

'सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥'

[१२९ धम्मपद, दण्डवग्गो १]

टिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित एम. ए, कृत हिन्दीटीका—

'दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातोंको) जानकर न (किसीको) मारे, न मारनेकी प्रेरणा करे।' २१

'सब्बेतसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वान हनेय्य न घातये॥'

[१३० धम्मपद, दण्डवग्गो २]

अर्थात्— 'सभी दण्डसे डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है, (इन बातोंको) अपने समान जानकर न (किसीको) मारे और न मारनेकी प्रेरणा करे।' २२

---

19 " Mahatma Buddha an Arya reformer was he an atheist ? " pp. 130 [Published by the author, Ananda Kutir Jwalapur, up. in November 1957.]

२० वही पृष्ठ १३१

२१ 'धम्मपद' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९४ (मास्टर खेलाडीलाल ऐण्ड सन्स, संस्कृत बुकडिपो; कचौड़ीगली, वाराणसी ! द्वारा प्रकाशित)

२२ वही, पृष्ठ १५

'पाणं न हाने न च घातयेय्य, न चानु जञ्ञा हननं परेसं। सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥'

[सुत्तनिपात्र, धार्मिक सूत्र १९]

भिक्षु धर्मरत्नजी कृत टीका— 'संसारके स्थावर और जंगम सब प्राणियोंके प्रति हिंसा त्याग, न तो प्राणीका वध करे, न करावे और न करनेकी दूसरोंको अनुमति ही दे।' २३

'एकजं वा द्विजं वाणि, योऽध पाणं विहिंसति। यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति॥

[वसल सूत्र] २४

अर्थात्— जो अण्डा, पक्षी अथवा जानवरोंको मारता है और जीवित प्राणियोंके प्रति दयालु नहीं है, उसे चण्डाल के तुल्य जानना चाहिए।'

'न तेन अरियो होति ये पाणानि हिंसति। अहिंसा सब्ब पाणानं अरियोति पवुच्चति॥'

[२७० धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो]

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित एम. ए.— 'प्राणियोंकी हिंसा करनेसे (कोई) आर्य नहीं होता, सभी प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे आर्य कहा जाता है।' २५

'लोभार्थं हन्यते प्राणी, मांसार्थं दीयते धनम्। उभौ तौ पापकर्माणौ, पच्येते रौरवादिषु॥
वक्ष्यन्त्यनागते काले, मांसादा मोहवादिनः। कल्पिकं निरवद्यं च, मांसं बुद्धानुवर्णितम्॥
त्रिकोटिशुद्धं मांसं वै, अकल्पित मयाचितम्। अचोदितं च नैवास्ति, तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥'

[लङ्कावतार सूत्र अ. ८, मांसभक्षण परिवर्त]

अर्थ— 'जो व्यक्ति लोभवश प्राणीको मारता है, या मांस क्रय करनेके लिए धन देता है, ये दोनों ही पापी हैं और रौरव नरककी प्रचण्ड अग्निमें पकते हैं। आनेवाले समयमें कुछ अज्ञानी लोग यह कहेंगे कि महात्मा बुद्धने भी ऐसा मांस खानेकी अनुमति दी है जिसको न देखा जा सके, न सुना जा सके और न कल्पनाकी जा सके। परन्तु ऐसे मांसकी प्राप्ति असम्भव है, अतः मांस निषिद्ध है।

'योऽतिक्रम्य मुनेर्वाक्यं, मांसं भक्षति दुर्मतिः। लोकद्वयविनाशार्थं, दीक्षितः शाक्य शासने॥'

[लङ्कावतार सूत्र]

अर्थ— 'शाक्यशासनमें दीक्षित होकर भी जो दुर्बुद्धि-मुनि (बुद्ध) के वचनका उल्लंघन करके मांस खाता है, वह अपने इस लोक और परलोक दोनोंका नाश करता है।'

'अनुज्ञातवानस्मि स्वयं वा परिभुक्तवानिति नेदं स्थानं विद्यते। नहि आर्यश्रावकाः प्राकृतमनुष्याहार-माहरन्ति कुत एवं मांस रुधिराहारमकल्प्यम्। तथागता धर्माहार स्थितयोन सर्वामिषाहारस्थि-तयः। अकल्प्यं मांसभोजनम्। सर्वसत्त्वैकपुत्रसंज्ञी कथमिव स्वपुत्रमांसमनुज्ञास्यामि परिभोक्तुम्।'

(लङ्कावतार सूत्र, अ० ८)

अर्थ— 'यह सर्वथा मिथ्या है कि मैंने कभी मांस खाया है या दूसरोंको मांस भक्षणकी अनुमति दी है। आर्य गृहस्थ तो साधारण मनुष्योंके खानेकी सब चीजोंको भी नहीं खाते, तो फिर मांस और रुधिर खानेकी तो कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। बुद्ध लोग धर्मानुमोदित भोजन करके जीवित रहते हैं। मांस भोजन नहीं करते। मांस भोजन सर्वथा निषिद्ध है। मैं जो सब प्राणियोंको अपना पुत्र कहकर पुकारता हूँ, कैसे इस बातकी अनुमति दे सकता हूँ कि लोग मेरे पुत्रोंका मांस खायें? अर्थात् किसी भी प्राणीके मांस खानेकी अनुमति देना ऐसा अनर्थ है, मानों मैं अपने ही पुत्रका मांस खानेका आदेश दे रहा हूँ।

जब तथागत स्वयं कह रहे हैं कि मैंने मांस कभी न खाया और न किसीको खानेकी अनुमति देता हूँ। अतः ऐसी परिस्थितिमें उनपर मांसाहारका आक्षेप नितान्त निर्मूल हो जाता है।

---

२३ देखो पं. धर्मदेवजी 'विद्यामार्तण्ड' कृत "Mhatma Buddha an Arya reformer was he an atheist?" pp. 129.

२४ वही पृष्ठ १२६

२५ 'धम्मपद' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८५ [मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुकडिपो, कचौड़ीगली, वाराणसी १ द्वारा प्रकाशित]

वेदोंका रचना--काल

(लेखक- श्री अरुणकुमार शर्मा, हरिश्चन्द्र रोड, वाराणसी १ [उ. प्र.])

वैदिक साहित्य

भारतीय दृष्टिसे श्रद्धा रखनेवाले विद्वानोंके सामने तो वेदोंके काल निर्णयका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनकी दृष्टिमें वेद अनादि हैं- नित्य हैं- कालसे अनवच्छिन्न है। वैदिक ऋषिजन वेदोंके मन्त्रोंके द्रष्टामात्र माने गये हैं। रचयिता नहीं। परन्तु पाश्चात्य विद्वानोंके अनुयायी भारतीय विद्वानोंकी दृष्टिमें वेदोंके अविर्भावका प्रश्न-ऐतिहासिक पद्धतिसे हल करनेकी वस्तु है। अभी हालमें मैंने एक ' वैदिक साहित्य ' नामक ग्रन्थका सम्पादन करनेका प्रयास किया है। वस्तुतः प्रस्तुत लेख उसी ग्रन्थका एक अंश मात्र है। अस्तु

सर्व प्रथम जानने योग्य बात यह है कि सर्वप्राचीन ऋग्वेदकी रचना- डा० मैक्समूलरके विचारके अनुसार— १२०० विक्रम पूर्वमें सम्पन्न हुयी। विक्रमसे लगभग ५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्धने धाराधाम पर अवतार लिया। बुद्ध धर्मका उदय समस्त वैदिक वाङ्मयके अस्तित्वको अंगीकार करता है। ब्राह्मणों तथा श्रौत सूत्रोंमें विस्तृत रूपसे वर्णित यज्ञानुष्ठान बुद्धकी तीखी आलोचनाओंका प्रधान विषय था, तथा उपनिषदोंमें विवेचित अनेक अध्यात्म तत्व उसके लिये सर्वथा ग्राह्य था। अतः इसी बुद्ध धर्मके उदयकी आधार शिला पर वैदिक कालके आरम्भका निर्णय सर्वतो भावेन अवलम्बित है।

समग्र वैदिक युगको चार भागोंमें बांटा गया है! छन्दःकाल, मंत्रकाल, ब्राह्मणकाल, तथा सूत्रकाल। और प्रत्येक युगकी विचार धाराके उदय तथा ग्रन्थ निर्माणके लिये २०० वर्षोंका समय लगा था, अतः बुद्धके प्रथम होनेसे सूत्रकालका प्रारम्भ ६०० विक्रम पूर्व माना गया है। इस कालमें श्रौत सूत्रों— कात्यायन आपस्तम्भ आदि— तथा गृह्य सूत्रोंकी निर्मिति प्रधान रूपेण अंगीकृत की जाती है। इससे पूर्वका ब्राह्मणकाल जिसमें भिन्न भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना यज्ञानुष्ठानका विपुलीकरण, उपनिषदोंके आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका विवेचन आदि सम्पन्न हुआ। इसके विकासके लिये ८०० वि. पू. ६०० वि. पू. तक दो सौ सालोंका काल माना गया है।

इससे पूर्व वर्ती मंत्र युगके लिये जिसमें मन्त्रोंका यागविधानकी दृष्टिसे चार विभिन्न संहिताओंमें संकलन किया गया। १००० वि. पू. से लेकर ८०० वि. पू. का समय स्वीकार किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती कल्पना तथा रचनाकी दृष्टिसे नितान्त श्लाघनीय युग थी-छन्दःकाल-था जिसमें ऋषियोंने अपनी नवोन्मेष शालिनी प्रतिभाके बल पर अर्थ- गौरवसे भरे हुये मन्त्रोंकी रचना की थी। यही मौलिकताका युग था। कमनीय कल्पनाओंका यही काल था। जिसके लिये १२००-१००० का काल विभाग माना गया है। ऋग्वेदका यही काल है। अतः बुद्धके जन्मसे पीछे, हटते हटते हम ऋग्वेदके काल तक सुगमतासे पहुंच जाते हैं। इस मतके अनुसार ऋग्वेदकी रचना आजसे लगभग ३२०० वर्ष पूर्व की गयी थी। अस्तु हमारे इस खोजके आधार पर लिखे गये ग्रन्थ,- जिसका एक अंश आपके सामने प्रस्तुत है.. इनके प्रमाणोंको समझनेके लिये ज्योतिष संबंधी सामान्य तथ्योंसे परिचय पाना नितान्त आवश्यक है।

प्राचीन वर्षारम्भ

वर्षके छै ऋतुओंका आविर्भाव सूर्यके संक्रमण पर निर्भर रहता है! प्राचीन कालसे आज तक ऋतुयें पीछे हटती जा रही हैं। प्राचीन कालमें जिसे नक्षत्रके साथ जिस ऋतुका उदय होता था आज वही ऋतु उस नक्षत्रसे पूर्ववर्ती नक्षत्रके समय आकर उपस्थित होती है। प्राचीनकालमें वसन्तसे वर्षका प्रारम्भ माना जाता था। ' ऋतूनां कुसुमाकरः '— गीता। आजकल वसन्त सम्पात मीनकी संक्रान्तिसे आरम्भ होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्रके चतुर्थ चरणसे आरम्भ होती है, किन्तु यह स्थिति धीरे धीरे नक्षत्रोंके एकके बाद एकके पीछे हटनेसे हुयी है। किसी

समय वसन्त-सम्पात, उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी मृगशिरा आदि नक्षत्रोंमें था—जहांसे वह क्रमशः पीछे हटता हुआ—आज वर्तमान स्थिति में पहुंच गया है।

नक्षत्रोंके पीछे होनेसे ऋतु परिवर्तन तब लक्ष्यमें भलीभाँति आने लगता है जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्यसे संक्रमण वृत्तको २७ नक्षत्रोंमें भारतीय ज्योतिषियोंने विभक्त कर रखा है: पूरा संक्रमण वृत्त ३६० अंशोंका है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (३६०÷२७) = १३$\frac{1}{3}$ अंशोंका एक चाप बनाता है। संक्रमण विन्दुको एक अंश पीछे हटनेमें ७२ वर्ष लगते हैं। अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटनेके वास्ते उसे (७२×१३$\frac{1}{3}$) ९७१ वर्षोंका महान् काल लगता है। आज कल वसंत सम्पात पूर्वा भाद्रपदके चतुर्थ चरणमें पड़ता है। यानी जब वह कृत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तबसे लेकर आज तक वह लगभग साढ़ेचार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतएव ज्योतिष गणनाके अनुसार कृत्तिका नक्षत्रमें वसन्त-सम्पातका काल आजसे लगभग (९७२× ४$\frac{1}{2}$ = ४३७४) साढे चार हजार वर्ष पहले था अर्थात् २५०० वि. पू. के समय यह ज्योतिषकी घटना मोटे तौर पर सम्भवतः घटी होगी।

अन्य विवरण

शतपथ ब्राह्मणमें कृत्तिकाओंके ठीक पूर्वीय विन्दु पर उदय लेनेका वर्णन है जहांसे वे तनिक भी च्युत नहीं होतीं (श. प. ब्रा. २।१।२) आजकल वे पूर्वीय बिन्दुसे कुछ उत्तरकी ओर हट कर उदय लेती हैं। ऐसी ग्रहस्थिति ३००० वि. पू. हुई होगी, जो शतपथ ब्राह्मणका निर्माण काल माना जा सकता है। तैत्तरीय संहितामें कृत्तिका नक्षत्र तथा अन्य नक्षत्रोंका वर्णन है, जो निश्चय ही शतपथसे प्राचीन है। ऋग्वेद तो तैत्तरीयसे भी पुराना है। अब यदि प्रत्येकके लिये २५० वर्षका अन्तर मान लें, तो ऋग्वेदका समय ३५०० वि. पू. से इधरका कभी नहीं हो सकता। अतः ऋग्वेद आजसे लगभग ५५०० वर्ष नियमतः पुराना सिद्ध हो जाता है। ●

लेखकका खोज विवरण

मेरी विवेचनाके अनुसार वह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। ऋग्वेदका गाढ अनुशीलन कर मैंने मृगनक्षत्रमें वसन्तसम्पात होनेके अनेक निर्देश एकत्र किये हैं। तैत्तिरीय संहिताका मत है 'फाल्गुन पूर्णिमा वर्षका मुख है'। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी नक्षत्रमें था तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरामें रहेगा जब वसन्त-सम्पात भी होगा। ऋग्वेदमें मृगशिराको आकाश-स्थितिका निर्देश अनेक मन्त्रों तथा आख्यानोंमें पूर्ण तथा अभिव्यक्त किया है। जिसकी एक झलक कालिदासने अभिज्ञान शाकुन्तलके आरम्भमें ही 'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' में उपमा द्वारा दे दिया है।

मृगशिरामें वसन्त सम्पातका समय कृत्तिकावाले समयसे लगभग २००० वर्ष पूर्व अवश्य होगा। क्योंकि मृगशिरासे कृत्तिका तक पीछे हटनेमें उसे दो नक्षत्रोंको पार करना होगा (९७२×२=१९४४) अतः जिन मंत्रोंमें मृगशिराके वसन्त सम्पातका उल्लेख किया गया है। उनका समय मोटे तौर पर (२५००+१९४४) ४५०० वि. पू. होना माना है। वसन्त सम्पातके मृगशीर्षसे भी आगे पुनर्वसु नक्षत्रमें भी होनेका यथेष्ठ प्रमाण या संकेत ऋग्वेदमें मिलते हैं।

अदितिको देवमाता कहे जानेका भी यही रहस्य है। पुनर्वसु नक्षत्रका देवता अदिति है। अतः अदितिको देव जननी कहनेका रहस्य यही है कि पुनर्वसु नक्षत्रमें वसन्त सम्पात होनेसे वर्ष तथा देवयानका आरंभ इसी कालसे माना जाता था। पुनर्वसु ही उस समय नक्षत्र-मालामें आदि नक्षत्र था। पुनर्वसुमें सूर्यके संक्रमण होते ही देवताओंके पवित्र काल (उत्तरायण-देवयान) का आरम्भ होता था। यह काल दो नक्षत्र आगे हट कर होनेके कारण मृगशिरावाले समयसे लगभग २००० वर्ष अवश्य पहले होगा, अर्थात् यही अदिति युग भारतीय संस्कृतिका सबसे प्राचीन युग है+। यह युग ६०००—४००० वि. पू. तक माना जा सकता है। इस कालकी स्मृति भी आर्य-संस्कृतिमें उपलब्ध नहीं होती। न तो ग्रीक लोगोंकी

● द्रष्टव्य—शंकर बालकृष्ण दीक्षित, 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' पृ. १३६ (पूना १८९६ ई.) और अरुण कुमार शर्मा, भारतीय ज्योतिःशास्त्रका इतिहास पृ. २४१ (गुजराती संस्करण)

+ दस्रो यमोऽनलो ब्रह्मा चन्द्रो रुद्रोऽदितिर्गुरुः। ... क्रमान्नक्षत्रदेवताः ॥ लघुसंग्रहः श्लोक ६१-६२

ही सभ्यतामें, न पारसियोंके धर्म ग्रन्थोंमें इस सुदूर अतीतकी झलक दीख पडती है। इस प्रकार वैदिक कालको चार युगोंमें विभक्त किया गया है—

(१) अदितिकाल (६०००—४००० वि. पू.) इस सुदूर प्राचीन कालमें उपास्य देवताओंके नाम, गुण, तथा मुख्य चरित्रके वर्णन करनेवाले निविदों (यागसंबंधी विधिवाक्यों) की रचना कुछ गद्यमें कुछ पद्यमें की गई तथा अनुष्ठानके अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(२) मृगशिरा काल (लगभग ४०००—२५०० वि. पू.) आर्यसभ्यताके इतिहासमें नितान्त महत्वशाली युग यही था। जब ऋग्वेदके अधिकांश मन्त्रोंका निर्माण किया गया। रचनाकी दृष्टिसे यह युग विशेषतः क्रियाशील था।

(३) कृत्तिकाकाल (२५००—१४०० वि. पू.) इस कालमें तैत्तरीय संहिता तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणोंका निर्माण सम्पन्न हुआ। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' की रचना इस युगके अन्तिम भागमें की गयी—क्योंकि इसमें सूर्य और चंद्रमाके श्रविष्ठाके आदिमें उत्तर ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है × और यह घटना १४०० के आसपास गणितके आधार पर अंगीकृत की गयी है।

(४) अन्तिम काल (१४९०—५०० वि. पू.) एक हजार वर्षोंके अन्दर श्रौत सूत्रों एवं गृह्य सूत्रों तथा दर्शन सूत्रोंकी रचना हुई और बौद्ध धर्मका उदय वैदिक धर्मकी प्रतिक्रियाके रूपमें इसके अन्तिम भागमें हुआ।

शिलालेखसे पुष्टि

सन् १९०७ में टर्कीके 'वोघाज-कोई' नामक स्थान पर एक शिलालेख मिला, जो हमारे इस विषयका नितान्त महत्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। अस्तु, पश्चिमी एशियाके इस खण्डमें 'हित्तिति' और 'मितानी' नामकी दो प्राचीन जातियां थीं। दोनों जातियां अपने पारस्परिक कलह के निवारणके लिये आपसमें सन्धिकी— जिसके संरक्षणके रूपमें मित्र, वरुण, इंद्र, अश्विन आदि देवताओंका नाम उपलब्ध होता है। इस शिलालेखमें ये चार वैदिक देवताओंके नाम काफी महत्वके माने जाते हैं। ये शिलालेख १४०० वि. पू. के हैं। मितानी जाति भारतीय वैदिक आर्यों की एक शाखा थी, जो भारतसे पश्चिमी एशियामें आकर बस गयी थी या वैदिक धर्मको माननेवाली एक आर्य जाति थी।

ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधार पर पश्चिमी एशिया और भारतका पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता है। मित्र वरुण आदि चारों देवताओंका जिस प्रकार एक साथ निर्देश किया गया है, उससे इनके 'वैदिक देवता' होनेमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

जैसा कि कहा गया कि वह शिला लेख १४०० वि. पू. समयका है। इसका अर्थ है कि इस समयसे बहुत पहले आर्योंने आर्यावर्तमें अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओंकी कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्योंकी कोई शाखा आकर भारतवर्षसे जाकर पश्चिमी एशियामें बस गयी थी। अस्तु।

पश्चिमी विद्वान् इस आधार पर वेदोंका प्राचीनतम काल २०००—२५०० वि.पू. मानने लगे हैं। परन्तु वेदोंमें उल्लिखित ज्योतिष संबंधी तथ्योंकी युक्तियुक्तता तथा उसके आधार पर निर्णित काल-गणनामें अब विद्वानोंको विश्वास होने लगा है।

भूगर्भ संबंधी वैदिक तथ्य

ऋग्वेदमें भूगर्भ संबंधी अनेक ऐसी घटनाओंका वर्णन मिलता है, जिसके आधार पर ऋग्वेदका समय निरूपण किया जा सकता है। तत्कालीन युगमें सिन्धु नदीके तट पर आर्योंके यज्ञविधान विशेष रूपसे होते थे। सिन्धु नदीके संबंधमें ऋग्वेदका कथन है—

एकाचेतत् सरस्वती नदीनाम्
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। ऋ. ७।९५।२

एक दूसरे मन्त्रमें (३।३३।१) सरस्वती और शुतुद्रि नदियोंके गरजते हुये समुद्रमें गिरनेका उल्लेख मिलता है। आजकल जहां राजपूतानाकी मरुभूमि है वहां प्राचीन कालमें एक विशाल समुद्र था— जिसमें हिमालयसे निकल कर सरस्वती और शुतुद्रि नदियाँ गिरती थीं। तांड्य ब्राह्मणमें (२५।१०।६) स्पष्ट है कि सरस्वती विनशनमें लुप्त हो कर प्लक्ष-प्रस्रवणमें पुनः आविर्भूत होती थी। ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि सप्त सिन्धु प्रदेशके चारोंतरफ चार समुद्रोंका अस्तित्व था। (ऋग्वेद १०।१३६।५) सप्त सिन्धुके

× 'प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥ ६ ॥ ऋग्वेद ज्यो० '

इसकी मीमांसाके लिये द्रष्टव्य 'गीता रहस्य' पृ. ५४६ वैद्य 'हिस्ट्री-आफ वैदिक लिटेचर' भाग १ पृ. ३५-३७ तथा 'वेद रहस्य' [illegible] ([illegible] शर्मा, [illegible] रोड, वाराणसी- १)

पूर्व तथा पश्चिममें दो समुद्रोंके वर्तमान होनेका उल्लेख है जिनमें पश्चिम समुद्र तो आज भी वर्तमान है। परन्तु पूर्वी समुद्रका पता नहीं है। ऋग्वेदके दो मन्त्रोंमें चतुः समुद्रोंका निःसन्दिग्ध निर्देश है। प्रथम मंत्रमें—

'रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणः॥ (ऋ. ९।३३।६)

फिर दूसरे मन्त्रमें—

'स्वायुधं स्ववसं सुनीथं
चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्॥ (१०।४७।२)

भी चतुःसमुद्रोंका वर्णन है। इससे स्पष्ट है, कि ऋग्वेदीय युगमें आर्य प्रदेशके चारों तरफ चार समुद्र लहरा रहे थे। इनमें पूर्वी समुद्र आजके उत्तर प्रदेश तथा बिहारमें था। दक्षिण समुद्र राजपूतानाकी मरुभूमिमें था। पश्चिमी समुद्र आज भी वर्तमान है। उत्तरी समुद्रकी स्थिति उत्तर दिशामें थी, जिसका सम्बन्ध उत्तरमें आर्कटिक महासागरसे था। जो आजकलके 'कृष्णसागर' 'काश्यप सागर' 'अराल सागर' तथा 'वल्गास हृद' इसीके अवशिष्ट रूपमें माने जाते हैं।

उन दिनों समस्त गंगा प्रदेश, हिमालयकी पाद भूमि तथा आसामका विस्तृत पर्वतीय प्रदेश समुद्रके गर्भमें थे। कालान्तरमें गंगा नदी हिमालयसे निकल कर सामान्य नदीके रूपमें बहती हुई हरिद्वारके समीप ही पूर्व समुद्रमें गिरने लगी। यही कारण है कि ऋग्वेदके प्रसिद्ध नदी सूक्त (१०।७५) में गंगाका बहुत ही संक्षिप्त परिचय मिलता है। उस समय पंजाबके दक्षिण तथा पूर्वमें समुद्र था, जिसके कारण दक्षिण भारत एक पृथक् पृथ्वी खण्ड सा दीखता था। पंजाबमें उन दिनों शीतका प्राबल्य था, इसी लिये ऋग्वेदमें वर्षका नाम 'हिमं मिलता है। (ऋ. १। ६४। १४,२।१।११; (१) और ६।१०।७; (२)) भूतज्ञोंने सिद्ध किया है कि भूमि और जलके ये विभिन्न भाग तथा पंजाबमें शीत कालका प्राबल्य प्लीस्टोसिन कालका या पूर्व प्लीस्टोसिन काल की बात है।

यह काल इसीसे पचास हजार वर्षसे लेकर २५ हजार वर्ष तक निर्धारित किया गया है। भूतत्त्वोंके विज्ञजनोंने यह भी स्वीकार किया है, कि इस कालके अनन्तर राजपूताने के समुद्र गर्भके ऊपर निकल आनेके साथ ही हिमालयकी नदियोंके द्वारा आहृत मृत्तिकासे गंगा प्रदेशकी समतल भूमि बन गयी। पंजाबकी जल वायुमें उष्णता आ गयी।

पंजाबके आस-पाससे राजपूताना समुद्र तथा हिम-संहितिओंके तिरोहित होनेसे तथा वृष्टिके अभावके कारण ही सरस्वतीका पुण्य प्रवाह सूक्ष्म रूप धारण करता हुआ राजपूतानेकी वालुका राशिमें विलीन हो गया (३)। इन भूगर्भ घटनाओंके आधार पर ऋग्वेदकी रचना तथा तत्कालीन सभ्यतामें आविर्भावका समय कमसे कम इसीसे पचीस हजार वर्ष पूर्व मानना चाहिए। (डा. अविनाश चन्द्र दासका 'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, कलकत्ता १९२२)।

उपसंहार

ऋग्वेदके निर्माण-कालके विषयमें ये ही प्रधान मत हैं। इतना तो निश्चित प्रायः है, कि वेदोंका समय उतना अर्वाचीन नहीं है जितना पहले माना जाता था। और पश्चिमी विद्वान् लोग भी अब उनका समय आजसे पांच हजार वर्ष पूर्व मानने लगे हैं। परन्तु वेदोंका काल आजसे दस हजार वर्ष पूर्व माननेमें दोनों पक्षोंका सामञ्जस्य पर्याप्त रूपेण किया जा सकता है। और वस्तुतः यही वेदके निर्माणका काल है। अस्तु।

मैं इस समय वेदोंके विभिन्न अंगों पर खोज तथा शोध कार्य कर रहा हूं, मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही अपने पाठकों के समक्ष खोज पूर्ण वैदिकसाहित्य प्रस्तुत करूंगा। अन्तमें मैं अपने पाठकोंसे निवेदन करता हूं कि जिन पुस्तकोंका उल्लेख मैं अपने लेखोंमें करता हूं उनका द्वितीय संस्करण होने जा रहा है। प्रायः प्रथम संस्करण समाप्त हैं। हमारी प्रत्येक पुस्तकोंकी प्रकाशन व्यवस्था 'शर्मा पब्लिकेशन्स' के अन्तर्गत है। कोई भी पुस्तक व्यापारकी दृष्टिसे प्रकाशित नहीं की जाती है। किन्तु पाठकोंके अनुरोध पर उसे लागत मूल्य पर प्रेषित करनेकी व्यवस्था है।

(१) 'त्वमिडा 'शतहिमासि' ' दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती।

(२) वि द्वेषांसि नुहि वर्धयेडां मदेम 'शतहिमा' सुवीराः।

(३) 'वैदिक धर्म' के आगामी अंकमें प्रकाशित होनेवाला 'वेदका संहिता साहित्य' लेख देखें। (ले० अरुण कुमार शर्मा)

वेदकी व्यापकता पर कुठाराघात

(लेखक— श्री नाथूलाल वानप्रस्थी, वैदिक धर्म तथा संस्कृत विशारद, लश्कर, म. प्र.)

अगस्त सन् १९५९ के 'वैदिक धर्म' में श्री भवानी लालजी भारतीय एम. ए. सिद्धान्त वाचस्पति जोधपुरका एक लेख 'क्या वेदमें बहाई धर्मका वर्णन है' छपा है।

इस लेखमें लेखक महोदयने अप्रैल मासके वैदिक धर्ममें प्रकाशित मेरे एक लेख– 'वेदमें बाब शब्दकी प्रशंसा' का खण्डन करनेके आवेशमें वेदकी व्यापकतापर अत्यंत कुठाराघात किया है।

१– लेखक महोदयने मेरे लेखके आशयको यह समझा है कि मैंने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि 'वेदमें बहाई धर्मके प्रवर्तकका उल्लेख 'बाब' शब्दके रूपमें हुआ है' जो नितान्त मिथ्या है। क्योंकि यह बात कोई भी इतिहासकार स्वीकार नहीं करेगा कि 'वर्तमान कालके किसी भी धर्मका उल्लेख प्राचीन कालकी धर्म पुस्तकमें रूढी वाचक नामसे हो सकता है।' परन्तु धर्म प्रवर्तकके नामोंका उल्लेख यौगिक रूपमें होनेको सब स्वीकार करेंगे। जैसे– राम, कृष्ण, ईशा, बुद्ध आदि यौगिक रूपसे वेदोंमें आये हैं।

इसी प्रकार महात्मा 'बाब' के नामका शब्द भी वेदमें आया है। और जिस प्रकार राम कृष्ण शब्दोंके अर्थ भगवान् राम व कृष्णमें घटित होते हैं, इसी प्रकार 'बाब' शब्दका अर्थ भी घटित होता है। इसमें वेदकी व्यापकताका महत्व बढता है न कि घटता है। इसी हेतुसे मनुस्मृतिमें आदेश है– कि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' अर्थात् वेद सब धर्मोंका आदि मूल है। अतः मनुस्मृतिके इस आदेशसे यह नहीं सिद्ध होता कि वेदमें सब धर्मोंका उल्लेख है। बल्कि यही सिद्ध होता है कि वेदके शाश्वत धर्मकी बातोंको लेकर ही सम्पूर्ण धर्म निर्माण हुए हैं। इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि लेखक महोदयने मेरे लेखके आशयको समझनेमें बडी भारी भूल की है। जो वेदकी व्यापकताके महत्व पर कुठाराघात करती है।

२– लेखक महोदयने लिखा है कि 'वेदमें किसी शब्द विशेषको देखकर उसको कोई विशिष्ट व्यक्ति परक अर्थ करना वेदार्थकी परिक्रियासे अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है।' यह कथन भी भ्रम पूर्ण और वेदकी व्यापकता के महत्वको नष्ट करनेवाला है। क्योंकि वेदमूर्ति श्रीपाद् दामोदर महोदय संपादक 'वैदिक धर्म' ने 'वैदिक राज्य शासनमें आरोग्य मंत्रीके अनेक कार्य वेद मंत्रोंके द्वारा विशिष्ट परक अर्थ किये हैं। जो वेदोंकी महत्वताके प्रदर्शक हैं, न कि पतनके। यदि कोई व्यक्ति वेदके शब्दोंपर अपना व्यक्तिगत नाम रखते हैं तो इससे वेदके शब्दोंकी महत्वता प्रकट होती है, न कि पतन। इसी प्रकारके 'बाब' शब्दकी प्रशंसा किसी वर्तमान कालके महान आत्मामें घटित करना भी वेदकी व्यापकता और महत्वताका द्योतक है न कि पतनका। इससे सिद्ध है कि लेखक महोदयका यह कथन वेदकी व्यापकताके महत्व पर कुठाराघात करनेवाला है।

३– लेखक महोदयने लिखा है कि 'देवी' शब्दका अर्थ धार्मिक सम्प्रदाय किया है, जो सर्वथा अयुक्त व हास्यास्पद है। हम उनसे पूछना चाहते है कि 'देवी' शब्दका यह विचित्र अर्थ किस कोष और व्याकरणके अनुसार उन्होंने किया है?' लेखक महोदयका यह कथन भी 'देवी' शब्दके व्यापक अर्थकी अनभिज्ञताका सूचक है! क्योंकि जिस प्रकार 'आर्य' शब्द एक व्यक्ति पर घटित होते हुए 'आर्य समाज' एवं 'आर्य धर्म' पर भी घटित होसकता है। इसी प्रकार 'वैदिक धर्मी' शब्द एक व्यक्ति पर घटित होते हुए एक 'धर्म' एवं 'समाज' के लिये भी घटित हो सकता है। इसी प्रकार वेदके प्रत्येक गुणवाचक 'शब्द' पर व्यक्ति, समाज एवं धर्मके नाम रखे जाते है।

इससे सिद्ध है कि जो शब्द एक व्यक्ति पर घटित होता है, वही शब्द समाज, सम्प्रदाय और धर्म पर भी घटित हो सकता है। इसी हेतुसे वेदके अर्थकी व्यापकता मानी जाती है। इतना ही नहीं बल्कि इस 'देवी' शब्दके अर्थकी व्यापकताके हेतुसे ही 'देवी-पुराण' व 'देवी-सम्प्रदाय' का भी निर्माण हुआ है। इसके अतिरिक्त 'देवी' शब्दका अर्थ किस व्याकरणके अनुसार किया है इसका स्पष्टी

करण तो उस लेखमें विस्तारपूर्वक किया जा चुका कि है 'देवी' शब्दका उत्पादक 'दिव्' धातु है जिसके अर्थ क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न कान्ति, गति ये दश बताये गये है। अतः इतने विस्तारपूर्वक व्याकरणानुसार अर्थ होते हुए भी लेखक महोदयकी दृष्टिमें नहीं आया और मुझसे पूछा जा रहा है यह कितने हास्यकी बात है। इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि वेदके 'देवी' शब्दका अर्थ धार्मिक सम्प्रदायमें घटित करनेको अयुक्त बताना वेदकी व्यापकताके महत्व पर कुठाराघात करना है।

अन्तमें आपने यह भी लिखा है कि 'देवीके इस विचित्र अर्थके समझनेमें हम असमर्थ हैं।' इस असमर्थताका कारण महर्षि दयानन्दने सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें बताया हुआ है कि 'जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्यको भी सत्य, और विरोधी मतवालेके सत्यको भी असत्य सिद्ध करनेमें प्रवृत्त होता है। इस लिये वह सत्य मतको प्राप्त नहीं होसकता।' अतः महर्षिदयानन्दके इस कथनके अनुसार केवल पक्षपातके कारण ही लेखक महोदय इस वेदके 'देवी' शब्दके अर्थकी व्यापकताको समझनेमें असमर्थ हैं। यदि पक्षपात त्याग दें तो शीघ्र समझ सकते हैं।

४– लेखक महोदयने लिखा है कि 'धर्म रक्षाके लिये ईश्वरका अवतार होना भी नाथूलालजी स्वीकार करते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त अवैदिक होनेसे आर्योंके लिये सर्वथा अमान्य है।' इस कथनसे मालूम होता है कि लेखक महोदय 'वैदिक सिद्धान्त तथा वेदोक्त ईश्वरीय अवतार वादसे नितान्त अनभिज्ञ हैं।' क्योंकि वेदोक्त ईश्वरीय वाणी प्रकट होनेको वेदोक्त ईश्वरीय अवतार माना जाता है महर्षि दयानन्दने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें एक प्रश्नके उत्तरमें बताया है कि सृष्टिके आदिमें जिन चार पुरुषोंका अन्तःकरण शुद्ध था उन्हींके हृदयमें ईश्वरीयवाणी प्रकट हुई। ' इसी प्रकार उन्होंने सत्यार्थप्रकाशके ईश्वरावतार निषेधमें स्वीकार किया है कि 'ऐसा हो सकता है कि श्री कृष्ण धर्मात्मा थे और धर्मकी रक्षार्थ चाहते थे कि मैं जन्म लेकर श्रेष्ठोंकी रक्षा और दुष्टोंका नाश करूं तो इस प्रकारके अवतार माननेमें कोई दोष नहीं है। इसी बातको पं. गंगाप्रसादजीने 'धर्मके आदिस्रोत' नामक पुस्तकमें ऋग्वेद के वृत्रासुरकी कथाके अनुसार महापुरुषोंके हृदयमें ईश्वरीय वाणी प्रकट होकर होकर वेदोक्त धर्मका जीर्णोद्धार होना स्वीकार किया है। इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि लेखक महोदय वेदोक्त ईश्वरीय अवतार वादके ज्ञानसे नितान्त अनभिज्ञ हैं।

५– इसके पश्चात लेखक महोदयने पौराणिक बन्धुओंको भडकाते हुए लिखा है कि– 'धर्म संस्थापन और दुष्टोंके विनाशनके लिये महा पुरुष कृष्णके जन्म लेनेकी बात तो समझमें आती है। परन्तु बहाई मतके प्रवर्तक अली मोहम्मदको ईश्वरावतार स्वीकार करना तो पौराणिक बन्धुओंके लिये भी कठिन हो जायगा।' यह कथन भी केवल जातीयताके पक्षपातके कारण नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जिस प्रकार लेखक महोदयकी दृष्टिमें मुसलमान जातिकी भिन्नता है, इस प्रकार ईश्वरकी दृष्टिमें जातीय भिन्नता नहीं होती, वह तो जिस स्थान व उपजातिमें पाप और अत्याचारकी पराकाष्ठा देखता है उसी स्थान व जातिके पवित्रात्माके हृदयमें अपनी वाणी प्रकट कर देता है। और उसकी वाणीको पक्षपात रहित प्रत्येक व्यक्ति शीघ्र मान लेता है। जैसे गुणग्राही महर्षि दयानन्दने ईसामसीहके विजातीय होते हुए भी पादरी लालबहादुरके प्रति स्वीकार किया कि 'ईसामसीह महापुरुष अवश्य थे।' (सार्वदेशिक जीवन चरित्र पृष्ठ १६८)

इसी प्रकार पक्षपात रहित विशाल हृदय पौराणिक बन्धुओंने तो कच्छ, मच्छ, वाराह, आदि पशु योनिमें और बुद्ध जैसे नास्तिक मत प्रवर्तकमें अवतार होना माना है और अल्लोपनिषद्में मोहम्मद साहबको भी रसूल होना माना है। ऐसी परिस्थितिमें पौराणिकोंकी फिकर करना व्यर्थ है। क्योंकि इस समय भारतवर्षमें विशाल हृदयके पक्षपात रहित लाखों व्यक्ति बहाई धर्मके अनुयाई हो चुके हैं। तथा विदेशोंमें तो करोडोंकी संख्यामें अनुयाई हो चुके हैं इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि पौराणिकोंकी फिकर करना नितान्त मिथ्या है।

६– लेखक महोदयने एक ताना दिया है कि 'वानप्रस्थीजी अद्वैत विचार धाराके अनुयायी हैं, और आर्य समाजके त्रैतवादी दर्शनकी आलोचना करनेके कारण ही आपको आर्य समाजके क्षेत्रसे पृथक् किया गया था।' यह ताना देकर आपने अपना प्रच्छन्न बौद्ध मतका अनुयायी होना [illegible] लिखा है क्योंकि 'अद्वैतवादी–दयानन्द'

शीर्षक लेख जो 'वैदिक धर्म' अक्तूबर व नवम्बर सन् १९५३ में प्रकाशित हो चुके हैं जिनका उत्तर आजतक किसी आर्य समाजीने नहीं दिया इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि महर्षि दयानन्द 'अद्वैतवादी' थे ● किन्तु वर्तमान आर्य-समाज संकुचित एवं हानिकारक विचारधाराका होनेके कारण इसमेंसे वेद व्याख्याता पं. भीमसेनजी, महर्षि दयानन्दके अनन्य भक्त स्वामी सत्यानन्दजी, अखिलानंदजी, कर्मानन्दजी, यू. पी. प्रतिनिधि सत्ताके प्रधान फतेह सिंहजी, मंत्री लाला जगन्नाथ प्रसादजी, वेदमूर्ति पं. सातवलेकरजी, संपादक वैदिक धर्म, चतुर्वेद भाष्य कर्ता वेदमूर्ति स्वामी विद्यानन्दजी विदेह आदि अनेक विद्वान् आर्य समाजसे पृथक् हो चुके तथा होते जा रहे हैं।

वर्तमान समयके आर्य समाजका स्वरूप पं. भगवद्दत्तजीने 'ऋषि दयानंद सरस्वतीके पत्र और विज्ञापन' की भूमिकाके पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि 'दुर्भाग्यका विषय है कि ऋषिके निधनके पश्चात् ऋषि दयानन्द सरस्वतीकी स्मृतिमें स्थापित की गई संस्थामें वेद और आर्य ग्रन्थोंके अनेक विरोधी उत्पन्न हो गये हैं। जब कोई सच्चा आर्य पुरुष इसपर आपत्ति करता है तो अनेक कथित मात्रके आर्य समाजी जो प्रच्छन्न बौद्ध हैं और जो प्रबन्धक बने बैठे हैं उसका मुंह बन्द करनेका यत्न करते हैं'

इतना ही नहीं बल्कि लेखक महोदयने स्वयं 'न्याय' में अपना लेख प्रकाशित किया है कि 'वस्तुतः आज आर्य समाजमें छिछोरापन अपनी चरम सीमातक पहुंच चुका है। विद्वानोंका अपमान होता है। गंभीर और विचारशील लोगोंकी अपेक्षा स्वार्थी, अवसरवादी, उद्दण्ड और स्वेच्छाचारी व्यक्ति पदोंपर अधिकार किये बैठे हैं।' इतना होते हुए भी महर्षि दयानंदके भक्त एवं सच्चे आर्य समाजी आर्य समाजसे पृथक हो जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है।

७- लेखक महोदयने लिखा है कि 'संसारमें हजारों मत व संप्रदायोंकी विद्यमानतामें नाथूलालजीने 'सप्त' शब्दके अर्थमें केवल चार्वाक, यहूदी, पारसी, बौद्ध ईसाई, मुसलमान और माध्व संप्रदायोंको ही क्यों लिया है, समझमें नहीं आता।' इसके समझमें न आनेको कारण भी केवल पक्षपात ही है। क्योंकि इस लेखमें ही स्पष्ट रूपमें लिखा है कि 'यद्यपि ये संप्रदायें सेंकडों प्रकारकी हो गई हैं, परन्तु गंभीरतासे उनके आदि प्रवर्तककी अपेक्षासे देखा जावे तो इस समय संपूर्ण संसारमें मुख्य रूपसे केवल सात प्रकारके ही संप्रदाय हैं जिनके एकीकरण करनेवालेको वेदमें 'नाव' पदसे सम्बोधित किया है। इसीलिये इन सात सम्प्रदायोंका ऐतिहासिक विवरण भी दिया है' इतना विस्तार पूर्वक लिखा हुआ होनेपर भी लेखक महोदयकी दृष्टिमें इन सात संप्रदायोंको ही क्यों लिखा है। इसके समझमें न आनेका कारण उत्तर क्रमांक ३ में दिये हुए महर्षि दयानन्दके कथनानुसार एक मात्र पक्षपात ही हो सकता है।

८- इसके पश्चात लेखक महोदयने ईसाइयोंको भडकाते हुए लिखा है कि 'वानप्रस्थीजीने बाइबिलकी एक कथा भी उद्धृत की है। अतः हम आशा करते हैं कि कोई ईसाई विद्वान् बाइबिलपर किये गये बलात्कारका मुंह तोड उत्तर देगा' लेखक महोदयका यह कथन भी इस कथाके मूल लेखककी अनभिज्ञताका द्योतक है। क्योंकि- इस कथाके मूल लेखक ईसाई धर्मके एक उच्च कोटिके विद्वान् मिस्टर विलियम सीवर्स साहब अमेरिका निवासी हैं। जिन्होंने बाइबिलकी व्यापकता एवं महत्व बढानेके लिये बाइबिलकी इस भविष्यवाणीकी कथा अपनी लिखी हुई 'रिलीज दि सन्' नामक पुस्तकमें लिखी है।' और उनकी लिखी हुई इस कथाको मालूम करके, मैने वेदकी व्यापकता एवं महत्व बतानेके हेतुसे उस कथाका आदि स्रोत वेदमें होना बताया है। इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि- जिस प्रकार लेखक महोदयने अपने संकुचित विचारोंके कारण अपनी ही धर्म-पुस्तक, वेदकी व्यापकता एवं भविष्यवाणीके महत्व पर कुठाराघात किया है। इस प्रकार ईसाई लोग संकुचित विचारके नहीं होते जो अपनी ही धर्म पुस्तककी व्यापकताके महत्त्वपर कुठाराघात करें।

९- इसी सिलसिलेमें लेखक महोदयने लिखा है 'हमारी सम्मतिमें तो प्रसंगके विरुद्ध किसी भी ग्रंथमें कोई भी अर्थ निकालना नितान्त अनुचित है।' यह कथन भी वेदकी व्यापताके महत्त्वको नष्ट करके उसको कूपमण्डूकवत्

● यहां लेखक महोदय महर्षिको तथा उनके सिद्धान्तोंको समझनेमें सर्वथा असमर्थ रहे हैं, क्योंकि महार्षिको अद्वैतवादी बताना ही यह सिद्ध करता है कि लेखकने सत्यार्थप्रकाशको ध्यानसे नहीं पढा। महर्षिने अद्वैतवादका खण्डन कर त्रैतवादकी स्थापना की है— सम्पादक

बनानेका द्योतक है । क्योंकि–इस बीसवीं सदीमें अनेक विद्वान् वेदोंमेंसे, तार विद्या, विमान विद्या, वनस्पति विद्या आदि अनेक प्रकारके आविष्कार निकाल रहे हैं और वेद सब सत्यविद्याओंका पुस्तक होना सिद्ध करते हुए वेदकी व्यापकताके महत्वको बढा रहे हैं हाल ही में आर्यमुनिजीने वेदमेंसे कई प्रकारकी विद्यायें खोज कर निकाली हैं । इसी प्रकार पं. सुन्दरलालजी इलाहाबादने 'गीता और कुरान' नामकी समन्वयकारी पुस्तक लिखी है । जिसपर उनको ५००० पांच हजार रूपमें पारितोषकके मिले है । परन्तु लेखक महोदय इतने उच्चकोटिके विद्वान् होकर इस खोजके विरुद्ध वेदकी व्यापकताके महत्वको मिटाकर उसे कूपमंडूकवत् बनानेकी सम्मति दे रहे हैं । जो वेदकी व्यापकताके महत्व पर अत्यंत कुठाराघात करना है ।

१०– लेखक महोदयने वेद मंत्रोंको निजी धरोहर समझ कर लिखा है कि–'नाथूलालजी लिखते हैं कि महात्मा 'बाब' ने उपरोक्त वेद मंत्रके अनुसार सम्पूर्ण धार्मिक सम्प्रदायोंको परस्पर विरोधी और विज्ञानके विरुद्ध देखा, हमारा निवेदन है कि 'वेदमंत्रके अनुसार' शब्दोंका प्रयोग ही आपत्तिजनक है । क्योंकि हम यह निश्चित कर सकते है कि बहाई मत प्रवर्तक अलीमोहामदने तो क्या उनकी सात पीढीने भी वेदोंके दर्शन नहीं किये होंगे फिर यह लिखना दंभके अतिरिक्त क्या होसकता है ।' यह कथन भी 'वेद' शब्दके अर्थकी अनभिज्ञताका द्योतक है । क्योंकि 'वेद' शब्दकी उत्पत्ति 'विद्' धातुसे होती है जिसका अर्थ ज्ञान है इस ज्ञानसे उपार्जन करनेवाले ज्ञानीकी महत्वताके सम्बन्धमें यजुर्वेद ३१।१२ व कठोपनिषद् ३।२।९ में बताया है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप होता है और उसकी वाणी वेद रूप होती है । इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध अन्तःकरणवाले ब्रह्म वेत्ताके हृदयमें ईश्वरीय वाणी प्रकट होती है इस लिये वह वाणी वेद रूप होती है । इसी लिये निश्चलदासजीने अपने विचार सागर नामक ग्रंथमें लिखा है कि—

ब्रह्मरूप अतिब्रह्मविद् जाकी वाणी वेद ।
भाषा अथवा संस्कृत भेद-तम छेद ॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप होता है और उसकी वाणी वेद रूप होती है । वह वाणी हिन्दी, फारसी, अंग्रेजी आदि किसी भी भाषा अथवा संस्कृतमें हो अज्ञान रूपी तमको समूल नष्ट करनेवाली होती हैं ।

इसीप्रकार कबीर साहब कुछ नहीं पढे थे, तब भी उनके पास बडे-बडे पंडित वेद मंत्रोंकी संगति लगानेके लिये जाते थे

द्वासुपर्णा मंत्रके संबंधमें पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि 'एक तरुवर पै बैठे दो पक्षी ।
एक भोगे एक रहे अनिच्छी ॥'

इन प्रमाणोंसे स्पष्टता सिद्ध है कि लेखक महोदय ब्रह्म ज्ञानीके महत्वसे नितान्त अनभिज्ञ हैं ।

११– अन्तमें लेखक महोदयने अनेक अप शब्दोंके साथ अपनी सम्मति देते हुए लिखा है कि 'यदि वह बहाई मतसे सचमुच इतना प्रभावित हुआ है तो उसे उचित है कि वह अपने परंपरागत हिन्दु धर्मको तिलांजली देकर खुले रूपमें मुसलिमान्तर्गत बहाई सम्प्रदायको स्वीकार कर ले ।' लेखक महोदयकी यह सम्मति भी बहाई विश्वधर्मके सिद्धान्तकी अनभिज्ञताकी द्योतक है । क्योंकि बहाई विश्वधर्म एक वेदानुकूल धर्म है । इसकी पुष्टि वेद मूर्ति श्रीपाद दामोदरजी सातवळेकर साहब सम्पादक 'वैदिक धर्म' ने अपने वैदिक धर्म मास अक्तूबर सन १९५८ पृष्ठ ४४४ पर बहाई धर्म ग्रंथोंके समालोचनाके सिलसिलेमें 'बहाई–विश्व-धर्म' के सिद्धान्तोंकी वेदानुकूलता होनेकी पुष्टिमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि—

'बहाई-विश्व-नियमोंका अन्तःकरण पूर्वक अभ्यास करके इन्हें मानव जीवोंके सर्व क्षेत्रोंमें शीघ्राति शीघ्र उतारा जाय तो तुरन्त ही विश्व शान्ति स्थापित होगी । वैदिकधर्मी लोग इनका विरोध नहीं करेंगे । क्योंकि ये सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्तोंके साथ मिलते हैं । इसके अतिरिक्त लेखक महोदयकी सम्मतिके अनुसार बहाई विश्व-धर्म किसीके धर्मको परिवर्तन नहीं करता, बल्कि प्रत्येक धर्मके लोगोंको उनके ही धर्मके सच्चे अर्थ बताकर उनमें जाग्रति उत्पन्न करते हुए वेदोक्त धर्मियोंको सच्चा वेदोक्त धर्मी, व सनातन धर्मियोंको सच्चा सनातन धर्मी और मुसलमानोंको सच्चा मुसलमान तथा ईसाइयोंको सच्चा ईसाई बनाता है ।

इससे स्पष्टतः सिद्ध है कि लेखक महोदय 'वेदोक्त बहाई विश्व-धर्म' के मन्तव्योंसे अनभिज्ञ हैं इसी हेतुसे उन्होंने वेदकी व्यापकताकी महत्वतापर अत्यन्त कुठाराघात किया है । जो पाठकोंके लिए विचारणीय है ।

सहायता दीजिये

सभी दानदाताओंसे नम्र निवेदन

स्वाध्याय-मण्डल, वैदिक संशोधन संस्थान ', पारडी, (जि. सूरत) के पास अमूल्य पुस्तकोंका प्रशंसनीय संग्रह है, जिनकी सुरक्षा करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है। उन पुस्तकोंकी सुरक्षाके लिए एक बृहद् पुस्तकालय बनवानेकी योजना है। जिसका नाम '**महर्षि पुस्तकालय**' होगा। इस योजनामें कमसे कम ४०,००० व्यय होनेकी संभावना है। हम इस बातके लिए प्रयत्नशील हैं कि इस उत्तम कार्यके लिए सरकारसे भी कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त हो और प्रसन्नताकी बात है कि गुजरात सरकारसे इसके लिए १०,००० की प्राप्ति भी हो चुकी है। पर हमारी आशा आप जैसे दानदाताओंकी सहायतासे ही पूरी हो सकती है। अतः आपसे नम्र निवेदन है कि आप यथाशक्ति इस कार्यमें हमारी सहायता करें। यदि प्रत्येक व्यक्ति कमसे कम भी दान, दे तो हमें बहुत सहायता मिल सकती है। दानी महानुभाव अपनी सहायता मनिआर्डर अथवा चेक द्वारा '**अध्यक्ष, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि. सूरत (गुजरात)**' के पते पर भेज सकते हैं। पर पत्रमें अथवा मनिआर्डरके कूपन पर '**पुस्तकालयकी सहायताके लिए**' अवश्य लिखें। जो भी दान देंगे उनके नाम हम अपनी मासिक पत्रिकाओंमें छापेंगे।

मन्त्री—

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

Statement about ownership of VAIDIC DHARMA (Hindi)
(Rule 8 From IV), Newspapers (Central) Rule, 1956

1. *Place of Publication*	:	SWADHYAYA MANDAL P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Surat]
2. *Periodicity of Publication*	:	MONTHLY 5 th of each Calendar Month
3. *Printer's Name*	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR Swadhyaya Mandal, Bharat Mudranalaya,
Nationality	:	INDIAN
Address	:	P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Surat]
4. *Publisher's Name*	:	VASANT SHRIPAD SATWALEKAR Secretary, Swadhyaya Mandal
Nationality	:	INDIAN
Address	:	P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Surat]
5. *Editor's Name*	:	Pt. SHRIPAD DAMODAR SATWALEKAR
Nationality	:	INDIAN
Address	:	P. O. ' Swadhyaya Mandal (Pardi) ' Pardi [Dist : Surat]
6. *Name & Address of individuals who own the paper*	:	Pt. SHRIPAD DAMODAR SATWALEKAR President– Swadhyaya Mandal.

I, Vasant Shripad Satwalekar, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

28 th February, 1963

Vasant S. Satwalekar
Signature of the Publisher

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमन्त्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. ≈) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

अप्रैल १९६३

डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी

५० नये पैसे

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक ४
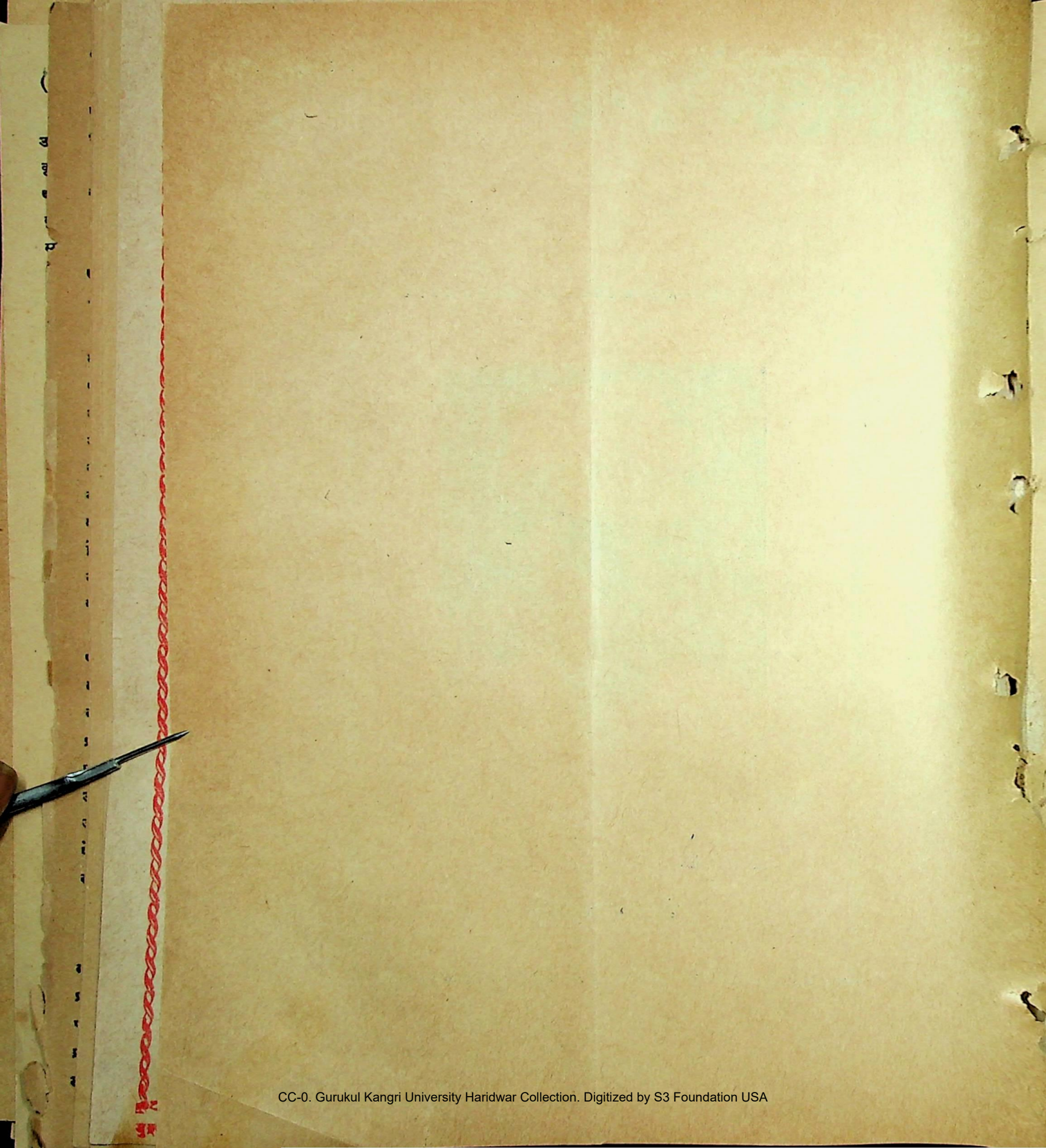
क्रमांक १७१ : अप्रैल १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

—•—

"वैदिक धर्म"

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०

डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,

पो.– 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता— (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता— (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता— (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	.२५
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	.२५
५ काण्व	,,	,,	२)	.२५
६ सव्य	,,	,,	१)	.२५
७ नोधा	,,	,,	१)	.२५
८ पराशर	,,	,,	१)	.२५
९ गोतम	,,	,,	२)	.३७
१० कुत्स	,,	,,	२)	.३७
११ त्रित	,,	,,	१.५०	.३१
१२ संवनन	,,	,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	.५०	.१२
१४ नारायण	,,	,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

उत्साहसे शत्रुओंका नाश

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्
तपसा युजा विजहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च
विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥

ऋ० १०।८३।४

हे (मन्यो) उत्साह ! (अभीहि) यहां आ और तू (तवसः तवीयान्) बलसे बलवान् हो । (तपसा युजा) द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे युक्त होकर (शत्रून् विजहि) शत्रूओंका नाश कर और विजय प्राप्त कर । तू (अमित्रहा वृत्र-हा, दस्यु-हा) शत्रुओंका संहारक, दुष्टोंका विनाशक और दुःखदायिओंका नाश करनेवाला है । (त्वं नः) तू हमें (विश्वा वसूनि आभर) सब प्रकारका धन भरपूर दे ।

वीरोंमें सर्व प्रथम शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए उत्साह पैदा होना चाहिए । उत्साहसे अनेक काम हो सकते हैं । उत्साहरहित मनुष्यमें चाहे जितनी शक्ति हो, पर उत्साहके बिना वह कुछ भी काम नहीं कर सकता । उत्साही मनुष्य विघ्नोंको पार करके ही यशस्वी हो सकता है । राष्ट्रकी रक्षा करनेवाले युवानोंको उत्साहयुक्त होना चाहिए। उनके अन्दर शीतोष्ण सहनेकी शक्ति होनी चाहिए । इसीलिये एक मंत्रमें यह उपदेश दिया है कि सब उत्साहसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश करें ।
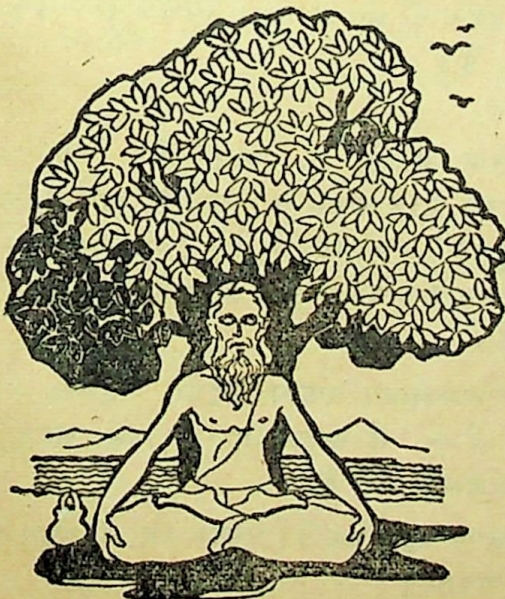
वेदका अंश कुरआनमें

[लेखक— श्री अमरसिंहजी आर्यपथिक, दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार, पंजाब]

संसारमें वेदसे पुराना कोई ग्रंथ नहीं है यह प्रायः निर्विवाद ही है। संसारके सारे मतमतान्तरोंका मूल भी यही है। इसका समर्थन भी संसारके बहुतसे अन्वेषक (रिसर्चस्कालर) करते हैं। इस विषय पर मि. जैकालियट की पुस्तक 'बायबिल इन इण्डिया' तथा अन्य लेखकोंके अनेक ग्रन्थ भी देखने योग्य हैं।

मुझको इस समय इस लेखमें केवल यह बताना है कि वेदसे बहुत कुछ कुरआनमें भी आया है।

अहमदी मजहबके संस्थापक और प्रवर्तक मिरजागुलाम अहमदी साहब सारी आयु भर वेदकी निन्दा करते रहे, पर अन्तमें उन्होंने लाहौरमें एक कान्फ्रेंस बुलाई और सुनानेके लिये एक लम्बा लेख लिखकर लाये। वह दुर्भाग्य से उसको सुना नहीं सके और अकस्मात् हैजा हो जानेसे परलोक सिधार गये। वह उनका लेख लाहौरी अहमदी पार्टीके लीडर श्री ख्वाजा कमालुद्दीन बार-ऐट-ला ने पुस्तकाकार छपवा दिया। उस छोटी सी पुस्तकका नाम 'पैगामें सुलह' है।

उसमें मिर्जा साहबने लिखा है कि—

(१) हम खुदाके खौफसे डरते हुए वेदको भी खुदा· का इलहाम मानते हैं।

(२) जो सिलसिला वेदसे तालीमका कायम हुआ है वह सिलसिला उससे कायम नहीं हो सकता जो किसी मुफ्तरा (झूठे) का कलाम हो।

(३) वेदकी तालीममें जो नुकायप नजर आते हैं वह वेदके नहीं हैं, उसकी तशरीह करनेवालोंके हैं।

(४) कुरआनमें जिस कदर तालीम है वह जरूर वेदके किसी हिस्सेमें मौजूद है।

इस प्रकार मिरजा गुलाम अहमद साहबको अपनी अंतिम अवस्थामें यह स्वीकार करना पड़ा कि कुरआनमें भी वेदका अंश विद्यमान है क्योंकि वेद कुरआन आदिके बननेसे बहुत पहिले विद्यमान थे और अरब आदि देशोंमें वेदका प्रचार उस कालमें बहुत कुछ 'ब्राह्मणादर्शनेन' लुप्त हो गया था, तथापि शेष था और वह कुरआनमें स्पष्ट दिखाई देता है।

यथा—

'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' का कुरआनमें भाव इस प्रकार है 'इहदिन्निस्सरातलमुस्तकीम-स्सरातल्लजीन अनअम्ता अलयहिम'। दिखा हमको सीधा रास्ता, रस्ता उनका जिन पर तूने कृपा की।

'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः' इसका भाव इस प्रकार है—

'गैरिल् मगज्बू ब अलयहिम' उनके रास्ते पर मत चला जिन पर तूने कोप किया।

'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' इसका भाव इस प्रकार है—

'इंय्याक नअबुदु व इंय्याक नस्तईन'—

तेरी ही हम इबादत करते और तुझीसे मदद मांगते हैं। अन्य वेद मन्त्रों और उपनिषद् वचनोंके भी भाव इसी प्रकार बहुत हैं।

यथा—

'पतिरेक आसीत्', अलाहोअहृद्' अल्ला एक है। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' 'लम् यालिद व लम् यूलद' न वह किसीसे पैदा हुआ, न कोई उससे पैदा हुआ अर्थात् न उसका कोई कारण है, न वह किसीका उपादान है।

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इसका भाव इस प्रकार है—'व लकुंल्लहु कुफवन् अहद'। कोई उसके बराबर नहीं है।

आदि आदि बहुत कुछ है। इसपर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

महर्षि महेश– उनके विचार और साधनपद्धति

[लेखक— श्री रामरक्खा, गुरुकुल कांगडी]

भारतवर्षकी विशेषता है कि यह अध्यात्म प्रधान देश रहा है। इस देशकी संस्कृति मुख्य रूपसे आध्यात्मिक है। इस समय मनुष्यके ज्ञानके इतिहासमें वेदका ज्ञान प्राचीनतम है। और वेदमें सब प्रकारके मानवोपयोगी ज्ञान संग्रहीत और सुरक्षित हैं। मानव मनकी रचना ऐसी हुई है कि वह सत्यकी तलाशमें है। सत्य ऐसा हो जो शिव भी हो और सुन्दर भी। जब तक उसे अपने इस लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो जाती वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। जबसे यह जीव अपने उस सच्चिदानन्दमय मूलसे पृथक् हो गया है, तभीसे यह फिर दो बारा उसी मूलको प्राप्त करनेका यत्न कर रहा है और जब तक उसे प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक इसे चैन नहीं आता और न यह चैनसे बैठ सकता है। उस परम तत्वको जाने और प्राप्त किये बिना दुःखका अन्त नहीं हो सकता।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवः।
तदा देवं अविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

जब मनुष्य आकाशको चमडेके समान इकट्ठा कर सकेगा तब बिना उस देवको जाने दुःखको हटा सकेगा। कहनेका मतलब यह है कि बिना उस देवके जाने मनुष्य अपने दुःखको नहीं हटा सकता।

अनादिकालसे यह प्रक्रिया चल रही है। मानव जातिके अध्यात्मके इतिहासमें इस प्रक्रियाके दर्शन सब जगह और सब देशोंमें होते रहे हैं। भारतवर्षमें कुछ विशेष प्रयत्न हुए हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदकालके ऋषि जिस एक देवको नाना नामोंसे पुकारते और स्तुति करते हुए उसके साथ एकात्मताका अनुभव करते आये हैं, उसी तत्वकी प्राप्तिके यत्न उपनिषद् कालमें एक ब्रह्मकी नाना उपासनाओं द्वारा हुए। दर्शनकालमें बौद्धिक चिन्तन द्वारा, फिर यज्ञोंके द्वारा, फिर पुराणकालमें भक्ति, अर्चना और भिन्न भिन्न पूजा पद्धतियों द्वारा वही प्रयत्न जारी रहा। हठयोग, मंत्रयोग, तन्त्रयोग, कर्म-भक्ति-ज्ञानयोगोंका त्रिक्, राजयोग आदि अनेक योग इसी प्रयत्नके रूप हैं।

मानवके द्वारा किये गए इस दिशामें सभी प्रयत्न सराहनीय हैं और वे सभी ऋषि, योगी, आचार्य, मुनि वन्दनीय हैं जिन्होंने मनुष्यकी इस यात्राके लिये नाना प्रकारके मार्गोंका आविष्कार किया, जिन पर चल कर मनुष्य अपने अभीष्ट ध्येयको पहुंच सका और पहुंच सकता है। भारतसे बाहर के देशोंमें भी विचारकों, सन्तों और धर्म संस्थापकोंने इस पथमें सहयोग दिया। भारतकी देन इस दिशामें इतनी महान् और व्यापक है कि मनुस्मृतिकी इस उक्तिमें पर्याप्त सचाई निहित है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

मध्यकालके सन्तोंने अपनी भक्ति मिश्रित ज्ञानकी पद्धति द्वारा इस कार्यमें पूरा सहयोग दिया और इस खोजको जारी रखा। वर्तमान कालमें राजा राममोहनराय, ऋषिदयानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मागांधी आदि अनेक महापुरुषोंने अपनी उस अध्यात्मप्रधान संस्कृतिको समाजमें प्रतिष्ठित करनेके यत्न किये। भारतकी दासताके कालमें भी श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ और श्री अरविन्दने अपने व्यक्तित्वकी महानता और अनुभूतियोंकी विशिष्टतासे पाश्चात्य जगत्को विस्मित तथा प्रभावित किया और उस चली आ रही शृंखलाको जीवित रखा। इसी शृंखलाकी इस समयकी एक कडी श्री महेश महर्षि हैं, जिन्होंने अपनी सरल साधन पद्धतिके द्वारा भारत तथा भारतके बाहर पाश्चात्य देशोंको एक बार फिर आध्यात्मप्रधान बनानेका बीडा उठाया है और आश्चर्यजनक कार्य किया है। उनकी सफलता भी अद्भुत है।

महर्षि महेश तेरह वर्षों तक उत्तरकाशी, बद्रिकाश्रममें अपने गुरुदेवकी सेवामें रह कर तप तथा अभ्यास करते

रहे। १९५४ में अपने गुरुदेवके ब्रह्मलीन होनेके पश्चात् वे नीचे उतरे और १९५८ में उन्होंने आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलन Spiritual Regeneration movement का श्री गणेश किया। इस उद्देश्यसे वे तीन बार विश्वका भ्रमण कर चुके हैं। अमेरिका तथा योरोपके सभी देशोंमें उन्होंने हजारों व्यक्तियोंको साधनाकी शिक्षा दी है। विदेश तथा भारतमें अनेक स्थानों पर ध्यान केन्द्र स्थापित किये हैं और उन केन्द्रोंका संचालन करनेके लिये योग्य व्यक्तियोंको प्रशिक्षित किया है। उन्होंने पहले पहल विदेशमें बिना किसी परिचयके एक अज्ञात साधुके रूपमें, जिसे कोई नहीं जानता था, यात्रा आरम्भ की। सब जगह भगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिने और आत्मविश्वासने तथा समयकी मांगने उनकी सहायता की और पहली यात्रामें ही उनको अपने मिशनमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। जिस शहरमें वे गये वहां थोडे समयमें ही बहुसंख्यक लोगोंने उनकी साधन पद्धतिको सीख कर शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक प्रसादका अनुभव किया। अब यह आन्दोलन विदेशोंमें तथा स्वदेशमें बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया है और होता जा रहा है। इन दिनों भी महेश महर्षि आस्ट्रियामें हैं जहां पर सारे योरोपके विभिन्न भागोंसे ४०० के करीब प्रतिनिधि एकत्र होकर इस साधन पद्धतिको सीख रहे हैं और फिर अपने अपने देशमें जाकर इस पद्धतिका प्रचार करेंगे।

इस ध्यान पद्धतिकी सफलताका रहस्य

(१) यह पद्धति सरल, विघ्नरहित और स्वाभाविक है।

(२) हर व्यक्ति इस प्रगाढ ध्यान शैलीको अपना सकनेके योग्य है।

(३) ध्यान करनेवालेको किसी प्रकारकी विशेष योग्यता, शक्ति या प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं होती।

(४) इस पद्धतिमें मनुष्यके लिये अपने जीवनके साधारण कार्यभारसे मुक्त होनेकी अपेक्षा नहीं है।

(५) दिनमें प्रातः सायं कुछ समय लगानेसे ही सफलता प्राप्त होती दीखती है और मनुष्यकी सब दृष्टियोंसे उन्नति होने लगती है।

(६) प्रारम्भसे ही शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है।

(७) इसके आरम्भ करनेके लिये किसी शिक्षा आदि विशेष योग्यताकी आवश्यकता नहीं है।

(८) इसमें मनको न कहींसे रोकना पडता है और न लगाना पडता है। न इन्द्रियोंके संयम या निग्रहके लिये लडाई झगडा करना पडता है। यह सब कुछ अपने आप होता है। क्योंकि इसका आधार ही यह सिद्धान्त है कि मनुष्यका मन छोटे सुखसे बडे सुखकी ओर अपने आप ही चला जाता है।

(९) इस ध्यान पद्धतिका किसी धर्म, सम्प्रदाय और वादसे कोई विरोध नहीं है।

(१०) इससे मनुष्य तथा समाजका नवनिर्माण होकर सुख शान्तिका विस्तार होता है।

इस ध्यान पद्धतिके लाभ

(क) मानसिक स्वास्थ्य—

१. इस प्रगाढ ध्यान शैलीसे मानवके इस समयके मानसिक तनाव, चिन्ताएं और थकान दूर होती हैं और इस लिये मनोभव रोगोंका आधार ही समाप्त होजाता है। सैकडों व्यक्तियोंने इस बातका अनुभव किया है कि किस प्रकार यह ध्यान पद्धति मनुष्यके मनको बिना औषध प्रयोगके शान्त और सम तथा सुखी बनाती है। यह पद्धति वृक्षके मूलको सिंचन करके उसे हरा रखनेके समान मनुष्यके मनको सन्तुष्ट बना कर उसका सुधार तथा सर्वतोमुखी उन्नति कराती है।

२. इस प्रगाढ ध्यान शैलीसे मनुष्यके अवचेतन मनके वे भाग जिनसे मनुष्य अब तक अपरिचित है कार्य करने लग जाते हैं, इस प्रकार मनुष्यके मनके कार्यका क्षेत्र विकसित और विस्तृत हो जाता है। मस्तिष्क की शक्तियोंमें वृद्धि होती है। मन बलवान् होजाता है उसमें विचारशक्ति बढती है और निर्मल होती है। स्मृति, धृति और मेधा शक्ति बढती है।

(ख) शारीरिक स्वास्थ्य—

इस ध्यान पद्धतिके अपनानेसे शरीर स्वस्थ होता है, व्यक्तित्वमें आकर्षण आजाता है। स्नायविक तथा मांस पेशियोंके तनाव दूर होजाते हैं। इससे जीवनीशक्तिकी क्रिया उत्तेजित होकर शरीरके रोगों और क्लेशोंको हटानेमें सहायता करती है। जो लोग सिर दर्द, हृदयरोग, फुफ्फुस तथा अनिद्रा आदिके चिरकालीन रोगोंसे पीडित हैं, उनके इन रोगोंको दूर होनेमें यह ध्यान प्रक्रिया सहायक होती है।

(ग) सदाचार तथा सामाजिक व्यवहारकी शुद्धि–

इस ध्यान पद्धतिसे मन सन्तुष्ट और सुखी रहने लग जाता है, इसलिये मनुष्यमें उत्तेजना, क्रोध, घृणा, अत्याचार आदिकी कुत्सित भावनाएं जिनसे मनुष्यके जीवनमें विषमता, पाप तथा अप्राकृतिक आधार तथा व्यवहार होते हैं, स्वतः ही कम और शान्त होजाती हैं। इसलिये मनुष्य स्वाभाविक रूपमें ही दयालु, प्रेमी और समतामें रहने लग जाता है और जीवनका व्यवहार उचित और सचाईसे करने लग जाता है। मनुष्य तथा समाजमें फैले हुए दुर्व्यवहार, बुराई और अनाचारको दूर करनेका यह सीधा और निश्चित परिणामको पैदा करनेवाला उपाय है।

(ग) आध्यात्मिक लाभ—

यह ध्यान प्रक्रिया आत्मसाक्षात्कार तथा परमात्माको प्राप्त करनेका अत्यन्त वैज्ञानिक तथा सीधा रास्ता है। इससे परमानन्दकी प्राप्ति और व्यापक-विश्व-चैतन्यसे एकत्व सम्पादन होता है और मनुष्यको जीवन्मुक्तिकी परमनिष्ठाका लाभ होता है। ध्यान करनेवालेको चेतनामें अपने अन्दर छिपे हुए आनन्द, क्रियाशक्ति और ज्ञानके भंडारके बन्द दरवाजे खुलने लगते हैं।

(ङ) व्यवहार तथा परमार्थका सामंजस्य—

मनुष्यका मन या तो स्थूल जगत्में रहता है या अन्तर्मुख होकर अन्तर्जगत्में लीन रहने लग जाता है। इस ध्यान शैली की यह विशेषता है कि इससे अन्तर्जगत् और बाह्यजगत्के व्यवहारमें सामंजस्य स्थापित होता है। व्यवहार तथा परमार्थको अपना अपना उचित स्थान मिलता है। यह पद्धति केवल जीवनके इन दो पार्श्वोंको जोडती और उनमें समता ही स्थापित नहीं करती अपितु अन्तःकरणको सन्तुष्ट और ज्ञानपूर्ण बना कर उसके प्रकाशके द्वारा बाह्य जगत्को भी सुन्दर तथा सुखी बनाकर दैनिक जीवनको क्रियाशीलता तथा जागरुकता प्रदान करती है। इस पद्धतिकी इस विशिष्टताने ही तीन चार वर्षके थोडेसे समयमें ही आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलनको सारे संसारमें इतना लोकप्रिय बनाया है और इसका इतना अधिक विस्तार हो सका है।

सिद्धान्त

जो भी साधनाकी जाती है उसका कुछ आधार और कुछ उद्देश्य होता है। यहां उसका प्रयोग और शास्त्र है। विश्वकी पहेली अद्भुत है। इसको सुलझानेके प्रयत्न किये जाते रहे और किये जाते हैं। संसारकी उपमा एक वृक्षसे दी जाती है। वृक्षका ऊपरी दीखनेवाला बाह्य भाग उसका स्थूल भाग होता है। उसके नीचे अव्यक्त अदृश्य जडोंका भाग है। यह संपूर्ण पेड, जडें, पत्ते और तनें प्रकृतिसे अपना जीवनरूपी रस खींचकर अपना पोषण करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह संपूर्ण वृक्ष रसका ही व्यक्त रूप है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीप्रकार यह संपूर्ण व्यक्त सृष्टि भी अव्यक्त अचिन्त्य सत्ताका ही व्यक्त रूप है। दुःखकी जो अनुभूति हो रही है उसका कारण यह कि मनुष्यका मन अपने आनन्दमय स्रोतसे पृथक् सा हो गया है, वह अपने अन्ततम स्वरूपको भूल कर बाह्य प्रकृतिमें रहने लग गया है और यहां मिलनेवाले बूंद बूंद सुखसे उसकी तृष्णा बुझती नहीं है और क्योंकि यह अतृप्ति बनी ही रहती है, इसलिये यह परिच्छिन्न सुखकी अनुभूति दुःखका रूप धारण कर लेती है। चीनीकी मिठास बढते बढते कडवाहटका रूप धारण कर लेती है।

अब यदि सुख की पूर्णताको अनुभव करना हो तो मनको पहले स्थूल प्रकृतिसे सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम प्रकृति तथा फिर उस सूक्ष्मतम प्रकृतिसे भी आगे परात्पर परमात्मतत्व की ओर ले जाना होगा। मनका सूक्ष्मतम भाग इस समय अवचेतन है जो नीचे रहता है; उससे मनुष्यका परिचय नहीं है। परात्पर परमतत्व (Absolute Existence) के विशाल सागरसे तरंगें उठती हैं, शुरु शुरुमें वे तरंगें दीर्घ तथा विशाल होती हैं; धीरे धीरे वे छोटी और क्षुद्र होती जाती हैं। जब मन स्थूल और भौतिक हो जाता है तो उसमें ये तरंगें उथली हो जाती हैं। अपने वास्तविक विशाल आधारसे पृथक् हो जानेसे और स्वरूपसे च्युत हो जानेके कारण विशालताको खोकर क्षुद्रताको अपना लेने पर मन बंधनका अनुभव करने लग जाता है। वह बद्ध हुआ जब बाह्य विषयोंके सम्पर्कमें आता है तो ऐसा पता लगता है कि उसकी अपनी सत्ता कुछ नहीं रह गयी, जिस विषय या आकारसे सम्पर्क हुआ, तदाकार हो गया, वह अपना आपा समाप्त करके उसी विषयके आकारवाला बन जाता है। यही भौतिक बद्ध मनका (Materialistic mind) स्वरूप है।

यदि अब इसे इस स्थितिमेंसे निकालना हो, तो धीरे धीरे इसे उसकी भीतरी अज्ञात सतहोंमें ले जाना होगा।

अब मनका जितना क्षेत्र उसकी चेतनामें आ रहा है, वह उसका बहुत थोडासा भाग है। वह ज्यों ज्यों सूक्ष्म होता जायगा और अपने अज्ञातस्तरोंसे परिचित होता जायगा उसका (Subconscious) अवचेतन भाग भी चेतन (Conscious) होता जायगा, त्यों त्यों उसकी परिच्छिन्नता दूर होती जायगी और वह व्यापक तथा विस्तृत होने लग जायगा। क्योंकि सूक्ष्म वस्तुओं और सूक्ष्मतत्वोंमें स्थूलकी अपेक्षा शक्ति तथा सामर्थ्य अधिक होता है, इसलिये उसकी कार्यशक्ति, मस्तिष्ककी ज्ञान शक्ति और इन्द्रियोंकी शक्ति ज्यों ज्यों बढने लग जाती है उसका प्रवेश त्यों त्यों सूक्ष्मजगत्में होने लगता है, शक्ति बढने लग जाती है। क्योंकि वह स्थूलमें बद्ध है और सूक्ष्मसे परिचित नहीं है, अतः वह अल्पशक्तिवाला और कम सुखवाला है। वैखरीवाणीके स्थूल भागमें ही मनका निवास है, परा, पश्यन्ती और मध्यमावाणीसे वह परिचित ही नहीं है। वैखरीवाणीका यह स्थूल भाग है जो मुखसे स्थूल रूपसे उच्चारित होती है। मनकी ऊपरी सतहकी जो स्थूलवाणी है वह मध्यमा है, इससे नीचे और सूक्ष्म (Subconscious) अवचेतन मनका अत्यन्त विस्तृत भाग पश्यन्तीवाणीका स्थान है और परमात्म-तत्वसे बिलकुल मिलता हुआ मनका भाग परावाणीका क्षेत्र है। पश्यन्तीवाणीका यह वह भाग है जिसमें प्रविष्ट होने पर और उसका प्रयोग करनेकी जांच आ जाने पर तथा उसका स्वामी बन जाने पर मनमें अनेक प्रकारकी सिद्धियां तथा शक्तियां आने लग जाती हैं। अत्यन्त प्रतिभावान् मेधावी तथा योग्य व्यक्तियोंमें यह भाग कुछ क्रियाशील होता है और सिद्ध योगियोंका इस भाग पर आधिपत्य होता है। ज्यों ज्यों मन स्थूलप्रकृतिसे हट कर सूक्ष्मप्रकृतिकी ओर जाने लगता है, त्यों त्यों उसकी सभी शक्तियोंमें वृद्धि होने लग जाती है, उसमें सुख, शान्ति, आनन्द और अन्य सद्गुणों और सात्विक भावोंका विकास आरम्भ होजाता है।

इस तरह प्रगाढ ध्यान शैलीका यही मूल तथा आधार सिद्धान्त है। और इसका यही क्रम तथा पथ है कि पहले मनको स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर ले जाया जाय और फिर उसे सूक्ष्मतम प्रकृतिसे परिचित करवा कर परमतत्वमें डुबो करके आनन्दसे सिंचित करवा कर उसे बाहर निकाला जाय। जब मन उस आनन्दके सागरमेंसे गीला होकर निकलेगा तो अपने साथ आनन्दको ले आवेगा और स्थूल इन्द्रियोंमें उस रसका सिंचन करके उन्हें भी आनन्दमय बना देगा। मन उस मकानके स्वामीकी तरह है, जिसके पास अन्दर तो ठण्डा कमरा हो और बाहर तपशवाला बरामदा हो। पहले वह जानता नहीं था कि मेरे अन्दरके कमरेमें बरफानी ठण्डक है, इस लिये वह बरामदेकी गर्मीमें झुलसता रहता था। अब जब उसे पता चल जाता है कि अन्दरके कमरेमें ठण्ड है तो जब चाहता है वह कमरेमें चला जाता है और जब चाहता है बाहर बरामदेमें आ जाता है। इस समय तो मनुष्यके मनको अन्दरके कमरेका पता नहीं है, वह बाहरके जलन और तपशवाले बरामदेमें बैठा हुआ झुलस रहा है और थोडे सुखको भोगता हुआ दुःख ही भोग रहा है। जब उसे अन्दर जाने और बाहर आनेकी कला आ जायगी तो वह दोनों दशाओंमें परमानन्दका उपभोग करेगा।

यही उसकी जीते जी ही आनन्दमय बनकर जीनेकी जीवन्मुक्तिकी दशा होगी। उस परमात्मा परात्पर सच्चिदानन्द तत्वसे स्पर्श हुए बिना आनन्द नहीं मिल सकता और जीवन्मुक्तिका उपयोग नहीं हो सकता। उससे स्पर्श पानेके लिये प्रकृति की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम दशाओंसे परिचित होना और उनसे गुजरना आवश्यक है। यही साधनाका स्वरूप है, और यही मार्ग है। सच्चे मार्गसे चलता हुआ व्यक्ति मनके ऊपरी क्षुब्ध भागसे नीचे अक्षुब्ध भागमेंसे गुजरता हुआ सूक्ष्म और सूक्ष्मतम होता हुआ परमतत्वमें डुबकी लगा जायगा और जब बाहर निकलेगा तो उस रसको साथ ले आवेगा और बाहर आकर भी उस परम रससे भीगा रहेगा। जब उस परमतत्वमें डुबकी लगेगी तो भक्ति, ज्ञान और कर्मके संपूर्ण रहस्य, द्वैताद्वैत वादोंके संपूर्ण तथ्य, ईश्वर जीव प्रकृति तथा धर्माधर्मके विचारों और विवादोंका हल अपने आप ही हो जायगा। सभी गुत्थियां सुलझ जायंगी। तभी ईश्वर पर विश्वास होगा, सदाचार का पालन होगा, हृदयग्रन्थि खुल जायगी और मानव-जीवन सार्थक हो जायगा।

मन्युसूक्त (उत्साह-सूक्त)

(लेखक— पं. श्री. दा. सातवलेकर)

[ऋग्वेदके १० वें मण्डलमें सूक्त ८३ और ८४ ये दो मन्युसूक्त हैं । यही दो सूक्त अथर्ववेदमें काण्ड ४ में सूक्त ३१ और ३२ ऐसे दो हैं । थोडा पाठभेद है । ये दोनों पाठ यहां दिये गए हैं । अथर्ववेदमें ऋषि ' **ब्रह्मास्कंदः** ' है ऋग्वेदमें ' **मन्युस्तापसः** ' है । तथा अथर्ववेदमें ऋग्वेदका दूसरा सूक्त पहले है और पहिला सूक्त बादमें है ।

पाठभेद बहुत थोडासा है, परंतु अर्थ समान ही है । जो मंत्रके अर्थ बतानेके समय दिखाया गया है और पाठभेदका कुछ विशेष अर्थ होता हो, तो वह भी मंत्रके स्पष्टीकरणमें दे दिया है ।

मन्युसूक्तके जप करनेकी विधि है, अतः ' **अपनी विजय हो** ' ऐसी इच्छा करनेवाले श्रद्धालु लोग इस सूक्तका वारंवार पाठ करें, पाठ करनेवाले लोग अर्थ समझ कर इस सूक्तका पाठ करेंगे, तो वह किया हुआ पाठ अधिक लाभकारी होगा, क्योंकि योगदर्शनमें कहा है कि— **तज्जपस्तदर्थभावनम्** । योगदर्शन

' मंत्रका जप उस मंत्रके अर्थकी भावनाको मनमें स्थिर करनेसे ही होता है । ' अर्थकी भावना ही जप है । इसलिये यहां इस मन्युसूक्तका अर्थ स्पष्टीकरणके साथ दिया गया है । जप करनेवाले इस अर्थकी भावना मनमें धारण करके इस सूक्तका जप करेंगे तो उनको लाभ अच्छी तरह हो सकता है ।

' **मन्यु** ' के अर्थ ' **उत्साह, क्रोध, धैर्य, आत्मिकसामर्थ्य, शारीरिक उत्साह, यज्ञ** ' आदि हैं । **शिव** और **अग्नि** भी मन्युके अर्थ हैं । यहां ' **उत्साह** ' अर्थ स्वीकार करके अर्थ किया है । अन्य अर्थ लेकर भी पाठक इसके दूसरे अर्थ कर सकते हैं ।

' **उत्साह** ' से युक्त मनुष्य ही अनेक कार्य उत्तम रीतिसे करके उत्तम सफलता प्राप्त कर सकता है । निरुत्साहित मनुष्यमें कार्य करनेकी शक्ति होने पर भी वह कोई भी कार्य योग्य रीतिसे या सफलतासे नहीं कर सकता । इस कारण सदा अयशस्वी ही रहता है । इसलिये मनुष्यका जन्म सफल होनेके लिये उत्साहकी अत्यंत आवश्यकता है । अनेक विघ्न आनेपर भी उत्साही मनुष्य उन विघ्नोंमेंसे पार होकर यशस्वी बन सकता है । उत्साहकी यह विशेषता है । यही विशेषता इन मन्यु सूक्तोंमें बताई है और सिद्ध किया है कि इस उत्साहसे मनुष्यका जीवन सफल और सुफल हो सकता है ।

ऐसे उत्साहवर्धक विचार बढानेवाले ये ' मन्युसूक्त ' हैं । जो पाठक इनको पढेंगे, वे इन सुविचारोंको अपने मनमें धारण करके अपने जीवनमें यशस्वी हो सकते हैं । पाठक इन सूक्तोंको पढें, इनमें बताये गये उत्साही विचारोंको अपने मनमें धारण करें, अपने जीवनमें ढालें और कृतकृत्य तथा यशस्वी हों ।]

अथर्ववेदीय मन्युसूक्तका पाठ

सेनानिरीक्षणम् ।

अथर्ववेद, काण्ड ४, सूक्त ३१

१-७ ऋषिः - ब्रह्मास्कन्दः । देवता - मन्युः । त्रिष्टुप्, २,४ भूरिक्; ५-७ जगती ।

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥
सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥
एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥
विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आ बभूथ ॥ ५ ॥
आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥
संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

सेनासंयोजनम् ।

काण्ड ४ सूक्त ३२

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥ १ ॥
मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥
अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥
अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥
अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

(ऋग्वेद १०।८३-८४)

ऋषिः— मन्युस्तापसः । देवता- मन्युः । छन्दः- त्रिष्टुप्, १ जगती

यस्ते॑ म॒न्योऽवि॑धद्वज्र सायक॒
सह॒ ओजः॑ पुष्यति॒ विश्व॑मानु॒षक् ।
सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा
सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥

हे (**वज्र सायक मन्यो**) वज्रके समान कठोर और बाणके समान हिंसक उत्साह ! (**यः ते**) जो तेरा (**अविधत्**) सत्कार करता है, वह (**विश्वं सहः ओजः आनुषक्**) सब शत्रुको पराभव करनेका सामर्थ्य तथा बलका एक साथ (**पुष्यति**) पोषण करता है। (**त्वया युजा**) तेरी सहायतासे (**सहस्कृतेन सहसा सहस्वता**) तेरे बल बढानेवाले, शत्रुका पराभव करनेवाले और महान् सामर्थ्यसे हम (**दासं आर्यं साह्याम**) दास और आर्य शत्रुओंका पराभव करें ॥ १ ॥

१ **मन्युः**— यह '**मन्यु**' '**शिव**' जी का नाम है और '**अग्नि**' का भी नाम है। इसलिये इस सूक्तके '**शिव**' परक और '**अग्नि**' परक भी अर्थ हो सकते हैं। '**मन्युः**'- क्रोध, यज्ञ, आत्मिक सामर्थ्य, उत्साह, धैर्य, शारीरिक सामर्थ्य।

२ **वज्र**— वज्र एक महा भयंकर शस्त्र है जो शत्रुका संहार करता है।

३ **सायकः**— बाण, जो शत्रुको मारता है। 'मन्यु' भी शत्रुका नाश करता है, इसलिये 'मन्यु वज्र और बाणके समान शत्रुघातक है।' ऐसा इस मन्त्रमें कहा है।

४ **मन्युः विश्वं सहः ओजः आनुषक्**— उत्साह ही सब प्रकारका सामर्थ्य और बल बढाकर साथ साथ शत्रुका नाश करनेवाला है।

५ **दासं आर्यं साह्याम**— इस उत्साहसे दास और आर्य इन दो प्रकारके शत्रुओंका पराभव हम करें। शत्रु दास भी होते हैं और आर्य भी होते हैं। जो शत्रु हों उनका पराभव करना चाहिये।

६ **सहस्कृतेन सहस्वता सहसा**— शत्रुका पराभव करनेका साहस अपनेमें होना चाहिये। इस बलसे जो युक्त होगा, वह सदा ही विजय प्राप्त करेगा। '**सहः, सहस्**' शब्दसे ही '**साहस**' बना है। साहसके साथ बल हो तभी कार्य सफल हो सकते हैं।

अथर्ववेदका पाठ— '**साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं**' ऐसा है। ऋग्वेदमें '**वयं**' पद नहीं है, अथर्ववेदमें है। '**वयं**' का अर्थ '**हम**' है, वह अर्थके लिये आवश्यक है। '**वयं दासं साह्याम**' हम दास शत्रुका पराभव करें।

म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो
म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः ।
म॒न्युं विश॑ ईळते॒ मानु॑षी॒र्याः
पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषाः॑ ॥ २ ॥

(**मन्युः इन्द्रः**) मन्यु इन्द्र है, (**मन्युः एव देवः आस**) मन्यु ही देव है, (**मन्युः होता वरुणः जातवेदाः**) मन्यु होता वरुण और जातवेद अग्नि हैं। (**याः मानुषीः विशः**) जो सारी मानवी प्रजाएं हैं, वे सब (**मन्युं ईळते**) मन्युकी ही स्तुति करती हैं, अतः हे (**मन्यो**) मन्यु ! (**तपसा सजोषाः**) तपसे शक्तिमान् होकर (**नः पाहि**) हमारा संरक्षण कर ॥ २ ॥

'**मन्यु**' उत्साह है। उत्साह ही इन्द्र, वरुण और अग्नि है, मन्यु उत्साह रूप है, अतः वह हवन करनेवाला होता बनता है और उत्साहके कारण मन्यु ही देवत्वको प्राप्त होता है। सब देवोंमें जो देवत्व है वह उनके अन्दरके उत्साहके कारण ही है। अतः '**मानुषीः विशः मन्युं ईळते**'— सब मानवी प्रजाएं उत्साहकी प्रशंसा करती हैं।

हे मन्यो ! तपसा सजोषाः नः पाहि— हे उत्साह ! तू तपके साथ मिलकर उत्तम स्फूर्तियुक्त होकर हमारा संरक्षण कर। उत्साहके साथ शीतोष्ण सहन करनेका तप हो, तो जो शक्तिका संवर्धन होगा, वह अवर्णनीय होगा। अतः मन्यु और तपका संयोग संरक्षण करता है, ऐसा यहां सूचित किया है।

'उत्साह' ही इन्द्र आदि देव हैं। देवोंकी शक्ति इस उत्साहके कारण होती है। देवोंमें उत्साह न हो तो उनका देवत्व नष्ट हो जाता है। इतना इस उत्साहका महत्व है।

ऋग्वेदमें '**मन्युं विश ईळते**' पाठ है, अथर्ववेदमें. '**मन्युर्विश ईडते**' ऐसा पाठ है। ऋग्वेदमें 'ड' के स्थान 'ळ' बोला जाता है, इसलिये '**ईडते**' के स्थानपर ऋग्वेदमें '**ईळते**' पद है। अर्थ एक ही है।

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्
तपसा युजा विजहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च
विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (अभीहि) यहां आ। तू (तवसः तवीयान्) अपने बलसे महाबलवान् हो। (तपसा युजा) द्वन्द्वसहन करनेकी शक्तिसे युक्त होकर (शत्रून् विजहि) शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर, तू (अमित्र-हा वृत्र-हा च दस्यु-हा) शत्रुओंका संहारक, दुष्टोंका विनाशक और दुःखदायिओंका नाश करनेवाला है। (त्वं नः) तू हमारे लिये (विश्वा वसूनि आभर) सब धन भरपूर भर दे। ॥ ३ ॥

१ मन्यो ! अभि-इहि — हे उत्साह ! तू हमारे पास आ।

२ तवसः तवीयान्— तू अपने बलसे महाबलवान् हो।

३ तपसा युजा शत्रून् विजहि— तप अर्थात् शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति बढाकर शत्रुओंको पराजित कर। द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपनी बढ जाए, तो शत्रुका पराभव करना सुगम हो जाता है।

४ अमित्र-हा वृत्र-हा दस्यु-हा— शत्रुओंका, दुष्टोंका तथा उपद्रवकारियोंका नाश कर।

५ त्वं नः विश्वा वसूनि आभर— तू हमारे पास सब प्रकारके धन भरपूर भर दे। उत्साहके साथ ये सब गुण हों, तो विपुल धन प्राप्त हो सकता है।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः
स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावान्
अस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

हे (मन्यो) मन्यु ! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तेरा सामर्थ्य शत्रुको हरानेवाला है, (स्वयं-भूः) तू स्वयं अपनी शक्तिसे रहनेवाला है, तू (भामः) स्वयं तेजस्वी है और (अभिमाति-साहः) शत्रु पर विजय प्राप्त करनेवाला है, (सहुरिः सहावान्) शत्रुओंका पराभव करनेवाला बलवान् है, तू (अस्मासु पृतनासु ओजः धेहि) हमारी सेनाओंमें बल बढा ॥ ४ ॥

१ अभिभूति-ओजाः— शत्रुको पराजित करनेके सामर्थ्यसे युक्त।

२ स्वयं-भूः भामः— अपनी शक्तिसे अपने स्थान पर रहनेवाला तेजस्वी वीर। जो अपने रहनेके लिये दूसरेकी सहायता नहीं चाहता।

३ अभिमाति-साहः— शत्रुका पराभव करनेमें समर्थ।

४ विश्व-चर्षणिः— सबका स्वयं निरीक्षण करनेवाला,

५ सहुरिः सहावान्— शत्रुका पराभव करनेके सब बलसे युक्त वीर ऐसे होंगे, तो निःसंदेह विजय मिलेगी।

६ अस्मासु पृतनासु ओजः धेहि— हमारी सेनामें बल बढा। सेनाका बल ऐसे वीरोंसे बढता है।

' सहावान् ' के स्थानपर अथर्ववेदमें ' सहीयान् ' पाठ है। अर्थ ' बलवान् ' ही है।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि
तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळ
अहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ॥ ५ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) विशेष ज्ञानवान् मन्यु ! (तविषस्य तव क्रत्वा) महत्वसे युक्त ऐसे तेरे कर्मसे (अभागः सन्) यज्ञमें भाग न देनेवाला होनेके कारण (परेतः अप अस्मि) मैं पराभूत हुआ हूं। (तं त्वा अक्रतुः अहं जिहीळ) उस तुझमें यज्ञ न करनेके कारण मैंने क्रोध उत्पन्न किया है। अतः (स्वा तनूः) इस मेरे शरीरमें (बलदेयाय) बल बढानेके लिये (मा इहि) मेरे पास आ ॥५॥

१ प्रचेताः मन्युः— विशेष ज्ञान युक्त उत्साह रहता है। उत्साह अधिक होनेसे ज्ञान बढता है।

२ तविषस्य क्रत्वा अभागः परेतः अप अस्मि— महान् सामर्थ्य युक्त उत्साहके कारण करने योग्य कर्ममें योग्य भाग न लेनेके कारण मैं पराभूत हो गया हूं। योग्य कार्यमें उत्साहसे भाग लेना चाहिये जिससे पराभव न हो।

३ अक्रतुः अहं जिहीळ— कार्य न करनेसे तुझे मैंने क्रोधित किया है। यज्ञ कर्म करता तो तू क्रोधित न होता।

४ हे मन्यो ! त्वा तनूः बलदेयाय मा इहि— हे उत्साह ! तू यह मेरा शरीर अपना है ऐसा समझ कर, इस शरीरमें बल बढानेके लिये मेरे पास आ। मुझमें उत्साह बढ जाय तो मेरा बल बढेगा, शरीरमें उत्साह बढा तो बल भी बढेगा।

ऋग्वेदका पाठ ' त्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ' बल देनेके लिये मेरे पास आ ' और अथर्वका पाठ ' त्वा तनूर्बलदा. वा न एहि। ' है, इसका अर्थ (त्वा तनूः) यह तेरा शरीर है, अतः (बल- दावा नः एहि) बल देनेवाला हो कर हमारे पास आ ' ऐसा है। शब्दार्थ थोडासा भिन्न है, पर भाव एक ही है।

अयं ते अस्म्युप मेह्यर्वाङ्
प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः।
मन्यो वज्रिन्नभि मामा ववृत्स्व
हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

हे (सहुरे विश्वधायः मन्यो) शत्रुका पराभव करनेवाले, सबके धारण करनेवाले, उत्साह ! (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा हूं। (मा अर्वाङ् उप एहि) मेरे पास आ जा (प्रतीचीनः) मेरे समीप रह। हे (वज्रिन्) वज्रधारी ! (मां अभि आववृत्स्व) मेरे पास आकर रह, (हनाव दस्यून्) हम दोनों मिलकर शत्रुओंको मारें। (उत आपेः बोधि) निश्चयसे तू हमारा बंधु है यह जान ॥ ६ ॥

१ मन्युः सहुरिः— उत्साह शत्रुका पराभव करनेवाला है।

२ सहुरिः मन्युः विश्वधाया— शत्रुका पराभव करनेवाला उत्साह सब कर्तृत्वका आधार है।

३ प्रतीचीनः मा अर्वाङ् उप एहि— मेरे समीप आ कर मेरे पास उत्साह रहे।

४ हे वज्रिन् मन्यो— उत्साह वज्रधारी है। उत्साहसे ही सब प्रशस्त कार्य होते हैं। उत्साहसे ही वीर शस्त्र धारण करते हैं।

५ दस्यून् हनाव— हम शत्रुओंको मारें; ऐसा वीर लोग उत्साहसे कहते हैं।

६ आपेः बोधि— उत्साहसे बन्धुभाव जाना जाता है। बन्धुप्रेम बढता है।

' उप मेह्यर्वाङ् ' के स्थानपर अथर्वमें ' उप न एह्य- र्वाङ् ' है। ऋग्वेदके मंत्रभागका अर्थ ' मेरे पास आ ' है और अथर्ववेदके भागका अर्थ ' हमारे पास आ ' ऐसा है।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा मे
अधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रं
उभा उपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

(अभि प्रेहि) हमारे पास आ। (मे दक्षिणतः भव) मेरे दाहिने हाथ हो कर रह। (अध) इससे हम (भूरि वृत्राणि जंघनाव) बहुत शत्रुओंको मारें। (ते धरुणं मध्वः अग्रं जुहोमि) तेरे लिये मधुर रसके भागका मैं हवन करता हूं। इस मधुर रसको (उभा उपांशु) हम दोनों एकान्तमें (प्रथमा पिबाव) पहिले पीयेंगे ॥ ७ ॥

ऋग्वेदमें ' दक्षिणतो भवा मे ' है, उस स्थानपर अथर्वमें ' दक्षिणतो भवा नो ' है। इसका अर्थ ' हमारे दक्षिणकी ओर हो ', और ऋग्वेदके पाठका अर्थ ' मेरे दक्षिणकी ओर हो कर रहो ' ऐसा है।

जगती, १-३ त्रिष्टुप्

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो
हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना
अभि प्रयन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वया सरथं आरुजन्तः) तेरे साथ एक रथपर चढकर (हर्षमाणासः धृषिताः) हर्षित और धैर्यवान् होकर हे (मरुत्वः) सैनिको। (तिग्म- इषवः) तीक्ष्ण बाणवाले, (आयुधा संशिशानाः) आयुधोंको तीक्ष्ण करनेवाले तथा (अग्निरूपाः नरः) अग्निके समान तेजस्वी वीर (अभि प्रयन्तु) आगे चलें ॥ १ ॥

हर्षमाणासः धृषिताः तिग्मेषवः, आयुधा संशि- शानाः अग्निरूपाः नरः अभि प्रयन्तु— आनन्दित धैर्य- वान्, तीक्ष्ण शस्त्रवाले, आयुधोंको तीक्ष्ण करके अपने पास रखनेवाले अग्नि समान तेजस्वी वीर शत्रुपर हमला करनेके लिये आगे हो जाय।

शत्रुपर आक्रमण करनेवाले वीर इतने गुणोंसे युक्त होने चाहिये।

ऋग्वेदपाठ 'हर्षमाणासो धृषिताः' है और अथर्व पाठ 'हर्षमाणा हृषितासो' है, इसका अर्थ 'हर्षित और उत्तेजित' है।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व
सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद
ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (अग्निः इव त्विषितः) अग्निके समान तेजस्वी हो कर (सहस्व) शत्रुओंका पराभव कर। (सहुरे) हे शत्रुका पराभव करनेवाले मन्यु! (हूतः) तुझे बुलाया गया है। (नः सेनानीः एधि) हमारा सेनापति हो। (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः विभजस्व) धन हमें विभक्त करके दे, (ओजः मिमानः) हमारा बल बढाकर (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको मार॥२॥

१ सहस्व— शत्रुओंका पराभव कर।

१ सहुरे— शत्रुओंका पराभव करनेवाले उत्साह।

३ नः सेनानीः एधि— हमारा सेनापति होकर हमारे पास रह।

४ ओजः मिमानः मृधः नुदस्व— हमारा बल बढाकर शत्रुओंको दूर कर।

सैनिकोंका उत्साह ही उनके शत्रुओंको नष्ट करता है। उत्साही सेनापति होना चाहिये। वही अपनी सेनाको उत्साहित कर सकता है और शत्रुको दूर कर सकता है।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे
रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे
वशी वशं नयस एकज त्वम् ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (अस्मे अभिमातिं सहस्व) हमारे लिये शत्रुका पराभव कर, (रुजन् मृणन् प्रमृणन्) शत्रुओंको कुचल कर, मारकर तथा उनका विनाश करता हुआ (शत्रून् प्रेहि) शत्रुओंको दूर कर, (ते पाजः उग्रं) तेरा बल बढा है (ननु आरुरुध्रे) सचमुच उसका कौन प्रतिबंध कर सकता है? (त्वं एकजः) तू अकेला ही (वशी वशं नयसे) सबको वशमें करनेवाला होकर अपने वशमें सबको करता है ॥ ३ ॥

१ अभि-मातिं सहस्व— चारों ओरसे हमला करनेवाले शत्रुको पराभूत कर। शत्रुको सहनेका अर्थ शत्रुके आक्रमणसे पराभूत न होकर, शत्रुको स्थान भ्रष्ट करना है।

२ रुजन् मृणन् प्रमृणन्— शत्रुओंको कुचलना, उनको काटना और सर्वतोपरि उन दुष्टोंको दूर करना। शत्रुको विनष्ट करनेके ये अनेक प्रकार हैं।

३ उग्रं पाजः— अपना बल बढाना।

४ एकजः वशी नयति— सामर्थ्यशाली वीर यदि अकेला ही हो, तो भी वह सब शत्रुओंको अपने वशमें करता है। शत्रुओंको पराभूत करता है।

'नयसे' के स्थानपर अथर्वमें 'नयासा' है। अर्थ एक ही है।

एको बहूनामसि मन्यवीळितो
विशंविशं युधये सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं
द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे ॥ ४ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (बहूनां एकः ईळितः) तू बहुतोंमें अकेला ही प्रशंसित हुआ है। (युधये विशं विशं सं शिशाधि) युद्धके लिये प्रत्येक मनुष्यको तीक्ष्ण कर, तैयार कर। (त्वया युजा अकृत्तरुक्) तेरेसे युक्त होनेसे हमारे तेज कम नहीं हो। (वयं) हम (विजयाय) अपने विजयके लिये (द्युमन्तं घोषं कृण्महे) तेजस्वी घोषणा करें ॥ ४ ॥

१ बहूनां ईळितः एकः— जो उत्साह युक्त होता है वह अनेकोंमें अकेला ही प्रशंसित होता है। उत्साहसे ही प्रशंसा होती है।

२ युधये विशं विशं संशिशाधि— युद्धके लिये प्रत्येक मनुष्यको तैयार कर, तीक्ष्ण कर, जैसे हथियार युद्धके समय तीक्ष्ण करते हैं।

३ त्वया युजा अ-कृत्त-रुक्— उत्साहसे युक्त होनेसे तेज बढता है।

४ वयं विजयाय द्युमन्तं घोषं कृण्महे— हम अपने लिये तेजस्वी घोषणा करें। जिससे हमारी विजय उद्घोषित हो जाये।

ऋग्वेदमें ' युधये ' तथा ' कृण्महे ' है, और अथर्वमें ' युद्धाय ' तथा ' कृण्मसि ' है । अर्थ एक ही है।

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३
अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि
विद्मा तमुत्सं यत आ बभूथ ॥ ५ ॥

हे (**मन्यो**) उत्साह ! (**इन्द्रः इव विजेषकृत्**) इन्द्रके समान विजय प्राप्त करनेवाला और (**अनवब्रवः**) स्तुतिके योग्य तू (**अस्माकं अधिपा इह भव**) हमारा संरक्षक यहां हो । हे (**सहुरे**) शत्रुको परास्त करनेवाले ! (**ते प्रियं नाम गृणीमसि**) तेरा प्रिय नाम हम लेते हैं, (**तं उत्सं विद्म**) उस बल बढानेवाले उत्साहको हम जानते हैं, और (**यतः आ बभूथ**) जहांसे वह उत्साह प्रकट होता है, वह भी हम जानते हैं ॥ ५ ॥

१ **इन्द्रः इव विजेषकृत्**— इन्द्रके समान उत्साह विजय करनेवाला है ।

२ **अन्-अव-ब्रवः**— वह उत्साह प्रशंसनीय है, निंदाके योग्य वह नहीं है । उत्साहसे प्रशंसा ही होती है ।

आभूत्या सहजा वज्र सायक
सहो बिभर्ष्यभिभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि
महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

(**वज्र सायक मन्यो**) हे वज्रके समान बलवान् और बाणके समान तीक्ष्ण उत्साह ! (**सह-जा आभूत्या**) शत्रुसे पराभव प्राप्त करनेके कारण उत्पन्न हुआ तू (**अभिभूत**) हे पराभूत मन्यो ! (**उत्तरं सह बिभर्षि**) अधिक उच्च सामर्थ्य धारण करता है, पराभव होनेपर तेरा सामर्थ्य बढता है । हे (**पुरुहूत**) बहुत स्तुति जिसकी होती है, ऐसे उत्साह ! (**नः क्रत्वा**) हमारे कर्मसे संतुष्ट होकर (**महाधनस्य संसृजि**) युद्ध शुरू होनेपर (**सह मेदी एधि**) बुद्धिके साथ हमारे समीप आ ॥ ६ ॥

१ **वज्र सायक मन्यो**— उत्साह वज्रके समान बलवान् और बाणके समान तीक्ष्ण होता है । अर्थात् यह उत्साह बल, शत्रुका वध करनेका सामर्थ्य बढाता है ।

२ **सह-जा आभूत्या**— उत्साहके अन्दर शत्रुको दूर करनेका सामर्थ्य रहता है ।

३ **अभिभूत ! उत्तरं सह बिभर्षि**— पराभूत होनेपर उत्साह बढता है, अपना सामर्थ्य बढता है । पराभूत होनेपर उत्साह बढता है और द्विगुणित कार्य करके दिखाता है ।

' **सहो बिभर्ष्यभिभूत** ' ऋग्वेदके पाठके स्थानपर अथर्व पाठमें ' **सहो बिभर्षि सहभूत** ' पाठ है, इसका अर्थ ' हे साथ जन्मे हुए उत्साह ! तू बल धारण करता है ' ऐसा है ।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतं
अस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः
पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

(**वरुणः मन्युः च**) वरुण और उत्साह (**संसृष्टं उभयं धनं**) उत्पन्न किया हुआ दोनों प्रकारका धन (**समाकृतं अस्मभ्यं दत्तां**) एकत्र करके हमें देवें । (**पराजितासः शत्रवः**) पराजित हुए हुए शत्रु (**हृदयेषु भियं दधानाः**) अपने हृदयोंमें भय धारण करते हुए (**अप निलयन्तां**) दूर भाग जायें ॥ ७ ॥

१ **पराजितासः शत्रवः हृदयेषु भियं दधानाः अपनिलयन्ताम्**— पराजित हुए हुए शत्रु अपने हृदयोंमें भय धारण करके दूर भाग जांय । ऐसी अवस्था उत्पन्न करनी चाहिये कि शत्रु भयभीत होकर दूर भाग जांय ।

अरब देश के अरबी भाषी कवि लावी द्वारा

वेद-महिमा

मूल अरबी कविता

१—अया मुबारकल अर्जे योशय्ये नुहामिनल् ।
हिन्दे फाराद कल्लाहो मैय्योनज्जे ला जिकतुन् ॥

२—वहल तजल्लेयतुन् एनाने सहबी अरबातुन् ।
हाजही युनज्जेल रसूलो जिकतान मिनल् हिन्दतुन् ॥

३—यकूलुनल्लाह या अहलल् अर्जे आलमीन कुल्लहुम् ।
फत्तबिऊ जिकतुल् वेद हक्कन् मालम् युनज्जे लहुन् ॥

४—वहोवालम् उस् साम वल युजर मिनल्लहे तन्जीलन् ।
फ ऐनमा मा अखेयो मुत्तबे अन यो बशरेयो नजातुन् ॥

५—व अस्नैने हुमा ऋक् व अतर नासहीन क अखूवतुन् ।
व अस्नात अला अदन् वहोव मश अरतुन् ॥

हिन्दी अनुवाद

१-हे हिंदुस्तानकी धन्य भूमि ! तू आदर करने योग्य है क्योंकि तुझमें ही ईश्वरने अपने सत्य ज्ञानका प्रकाश किया ।

२-ईश्वरीय ज्ञान रूप ये चारों पुस्तकें (वेद) हमारे मानसिक नेत्रोंको किस आकर्षक और शीतल उषाकी ज्योतिको देती हैं ? परमेश्वरने हिन्दुस्तानमें अपने पैगम्बरों अर्थात ऋषियोंके हृदयोंमें इन चारों वेदोंका प्रकाश किया ।

३-पृथ्वी पर रहनेवाली सब जातियोंको ईश्वर उपदेश करता है कि मैंने वेदोंमें जिस ज्ञानको प्रकाशित किया है उसको तुम अपने जीवनोंमें क्रियान्वित करो, उसके अनुसार आचरण करो। निश्चयसे परमेश्वरने ही वेदोंका ज्ञान दिया है ।

४-साम और यजुर् वे खजाने (कोष) हैं जिन्हें परमेश्वरने दिया है । ए मेरे भाइयो ! इनका तुम आदर करो क्योंकि वे हमें मुक्तिका शुभ समाचार देते हैं ।

५-इन चारोंसे ऋक् और अतर (अथर्व) हमें विश्व-भ्रातृत्वका पाठ बढाते हैं । ये दो ज्योति स्तम्भ हैं जो हमें उस लक्ष्य विश्व-भ्रातृत्वकी ओर अपना मुँह मोडनेकी चेतावनी देते हैं ।

English Translation—

1. Oh blessed land of Hind (India) thou art worthy of reverence for in thee has God revealed true knowledge of himself.
2. What a pure light do these four revealed books afford to our mind's eyes like the (Charming and cool) lusre of the dawn ? These four God revealed unto his prophets (rishis) in Hind.
3. And he thus teaches all races of mankind that inhabit his earth.

   'Observe (in your lives) the knowledge. I have revealed in the Vedas for surly God has revealed them.
4. Those treasuries are the Saama and Yajur which God has Published, O my brothers! revere these, for they tell us the good news of Salvation.
5. The two next, of these four, Rik and Atharva (Atar) teach us lessons of (Universal) brotherhood. These two (Vedas) are the beacons that warn us to turn towards that goal (Universal brotherhood).

[मूल अरबी कविता मुहम्मद साहबके जन्मसे २४०० वर्ष पूर्व और ईस्वी सन्के १७०० वर्ष पूर्व अरबके विद्वान् कवि 'लावी' ने लिखी थी । यह कविता हारून रशीदके दरबारी कवि 'असमाई मलेकुस शरा' द्वारा संग्रहीत 'सीरुल् उकूल' नाम पुस्तकके पृष्ठ ११८ पर अंकित है। पुस्तक अब 'बेरट् पब्लिशिंग कम्पनी बेरट् पैलस्टाइन' से प्रकाशित तथा 'हाजी हमूजा शिराजी एण्ड को पब्लिशर्स बुकसेलर्स, बन्दर रोड बम्बई' से उपलब्ध है ।

— सम्पादक

वैदिकधर्म

सर्वव्यापक प्रभु

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात्
न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ।

अथर्व ४।१६।४

(यः द्यां परस्तात् अतिसर्पात्) जो कोई दुष्कर्म करके दण्डसे बचनेके लिए द्युलोकको भी पार करके चला जाए, तो भी (सः राज्ञः वरुणस्य न मुच्यात) वह राजा वरुणके दण्डसे नहीं बच सकता। वरुणके पाश दुष्टोंको बांधनेके लिए सदा तैय्यार रहते हैं। (अस्य स्पशः दिवः प्रचरन्ति) वरुणके सारे दूत द्युलोकसे पृथ्वी तक सब जगह विचरते रहते हैं। (सहस्राक्षाः भूमिं अति पश्यन्ति) हजारों आंखोंवाले वे सब दूत सब कुछ देखते रहते हैं।

कोई भी मनुष्य दुष्कर्म करके सर्वव्यापक प्रभुकी दृष्टिसे बच नहीं सकता। प्रभु मनुष्योंके सब कर्म देखते रहते हैं। वह सर्वव्यापक होनेके कारण सर्वत्र हैं। इसलिए कोई चाहे कितना भी दूर चला जाए, तो भी प्रभुके दण्डसे बच नहीं सकता। प्रभुके दूत सब जगह घूम घूमकर मनुष्योंका निरीक्षण करते हैं। इसलिए मनुष्योंको सावधान रहना चाहिए कि उनसे कभी कोई दुष्कर्म न हो।

*
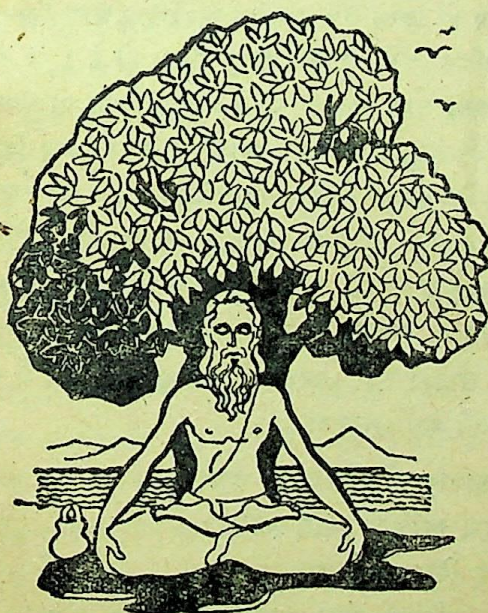
मन्यु

लेखक
श्री ना. गो. चापेकर

★

ऋग्वेदमें 'मन्यु' शब्दका प्रयोग कई स्थलोंपर हुआ हुआ मिलता है। इस शब्दकी सिद्धि निर्विवाद रूपसे मननार्थक 'मन्' धातुसे हुई है। इसलिए 'मन्यु' का अर्थ 'विचारसरणि' है।

नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युः ॥ ऋ. १।२४।६

इस मंत्र भागमें 'सह' और 'क्षत्र' के साथ 'मन्यु' आया है। इसलिए इस शब्दका अर्थ 'शक्ति' से सम्बन्धित है। ऋग्वैदिक ऋषियोंकी यह शैली रही है कि किसी अर्थ पर बल देनेके लिए उन्होंने कई समानार्थक शब्दोंका प्रयोग किया है। मेरे विचारमें 'क्षत्र' शारीरिक शक्तिका द्योतक है, 'सह' सहन-शक्तिका तथा 'मन्यु' दृढ संकल्पका निदर्शक है। दूसरे शब्दोंमें, मानसिक क्रियाओंका परिणाम ही 'मन्यु' है। उदाहरणार्थ—

सत्यो मन्युर्महि कर्मा करिष्यतः ॥ ऋ. २।२४।१४

× × ×

सं यत्त इन्द्र, मन्यवः ॥ ऋ. ४।३१।६

+ + +

इति चिन्मन्युमध्रिजः ॥ ऋ. ५।७।१०

इन मंत्र भागोंमें आए हुए 'मन्यु' शब्द का अर्थ सायणाचार्यने 'स्तोत्र' किया है, और—

अरं वहन्ति मन्यवे। ऋ. ६।१६।४३

इसमें आये हुए 'मन्यु' का अर्थ 'यज्ञ' किया है। इस मंत्रमें ऋषि अग्निसे प्रार्थना करता है 'हे अग्ने! तू अपने रथकी धुरामें घोडोंको जोड, वे तुझे सुखपूर्वक ले जाएंगे'। पर किसके लिए? कवि उत्तर देता है 'यज्ञके लिए' (मन्यवे)। यहां द्वितीयाके अर्थमें चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग किया है। यहां ऋषि अग्निसे यज्ञमें (मन्युं) आनेकी प्रार्थना करता है।

**समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ॥
ऋ. ८।६।४**

इस मंत्रके भाष्यमें सायणने 'मन्यु' का अर्थ 'मनन-साधनं स्तोत्रं' किया है।

ऋघायतो अरंहयन्त मन्यवे ॥ ऋ. १०।११३।६

इस मंत्र भागमें आए हुए 'मन्यु' का अर्थ सायणने 'प्रख्यापनाय' = बतानेके लिए (संसारको) किया है। यह ऋग्वैदिक भाष्यकारके विचारोंकी विशेषताका द्योतक है। ऐसे भाष्योंमें तो 'प्रसंग' ही पथ प्रदर्शक होता है।

लौकिक संस्कृतमें इस शब्दका अर्थ 'क्रोध' होता है। सायणने इस अर्थको भी अपने भाष्यमें कई स्थलोंपर स्वीकार किया है। पर मेरे विचारमें यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि जब इन्द्र अथवा कोई दूसरा देवता शत्रुको मारनेका दृढ निश्चय कर लेता है, तब वह अपनी सब शक्तियोंका संचय कर लेता है, और फिर वह बडा ही शूर और वीर तो जाता है और तब वह किसीके द्वारा न मारा जाने योग्य हो जाता है। इसलिए ऋग्वैदिक शब्द 'मन्यु' का वास्तविक अर्थ शूरता और वीरता ही है। पर इस शब्दको कभी कभी क्रोधके अर्थमें प्रयुक्त किया जा सकता है। यास्कने भी, जिसकी व्याख्याको सायणने मान्य किया है, क्रोध और मन्युमें निहित सूक्ष्म भेदको नहीं पहचाना। दृढ संकल्पका ही परिणाम दीप्ति है (मन्यतेः दीप्तिकर्मणः। क्रोधकर्मणो वा। नि. १०।२९) ऋग्वेद मंत्र १०।१४७।१ के भाष्यमें सायण 'मन्यु' का अर्थ 'मन्यवे क्रोधाय तेजसे वा' करता है। मन्यु तेज है। मैं भी मन्युका यही अर्थ समझता हुँ।

**त्रिपंचाशः क्रीळति व्रात एषां
देव इव सविता सत्यधर्मा
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते
राजा चिदेभ्यो नमः कृणोति ॥ ऋ. १०।३४।८**

(सत्यधर्मा सूर्यके समान ये तिरेपन (५३) पांसे खेलते

फिरते हैं। उग्र मनुष्यके क्रोधके आगे भी ये पाते नहीं झुकते। राजा भी इन पातोंको नमस्कार करता है)।

आजसा दर्दमन्युना ॥ ऋ. २।२४।२

इस मंत्रमें 'मन्यु' शब्द 'ओज' के साथ आया है। दोनों ही शब्द एकार्थक हैं। आप्टेके संस्कृत इंगलिश कोषमें 'मन्यु' का अर्थ 'प्रार्थना' और 'विचार' दिया हुआ है। 'नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः (ऋ. १।२३। १२) इस मंत्र भागके भाष्यमें सायण 'मन्यु' का अर्थ 'ज्ञान' करता है। ऋ. ४।१७।१० में आये हुए 'यदा इन्द्रः मन्युं सत्यं कृणुते' की मेरी व्याख्या है 'जब इन्द्रका संकल्प या तेज सत्य हो जाता है, (तब सारा विश्व कांपने लगता)। मंत्र ८।१९।१५ में 'मन्यु' शब्द 'द्युम्न' से संयुक्त है। सायणके अनुसार इसका अर्थ 'धन' है। मेरे विचारसे इसका अर्थ 'बल है। आप्टेके कोषमें भी इसके अर्थ शक्ति, बल, तेज आदि दिए हैं। राजवाडे भी 'द्युम्न' का अर्थ 'बल' ही करते हैं। (मराठी निरुक्त पृ. ३५७)

ऋक्मंत्र ८।७८।६ में आया है 'न दबनेवाला (अद्रुघः) इन्द्र शत्रुओंके दुष्ट भावोंको (मन्युं) नष्ट कर देता है।

यदि सायणके द्वारा मान्य 'मन्यु' का 'क्रोध' अर्थ ही ठीक है, तो ८।३२।२२ का कुछ ऐतिहासिक महत्व अवश्य होना चाहिए। मैं वह मंत्र यहां उद्धृत करता हूँ-

अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसं
उपारणे इमं रातं सुतं पिब ॥

सायणका भाष्य इस प्रकार है— 'हे इन्द्र! क्रोधपूर्वक निचोडे गए और जहां ब्राह्मण सुखपूर्वक नहीं रहते, उस देशमें निचोडे गए सोमको तू छोड दे, और हमारे द्वारा निचोडे गए सोमको पी'। यहां 'क्रोधसे निचोडे गए सोम' का क्या अर्थ है? मेरे विचारसे तो इसका अर्थ 'बुरी भावनाओंसे रस निकाला गया' इतना ही है। क्या यहां कवि का अभिप्राय यह है कि रस विषयुक्त था? और ऐसा कौनसा प्रदेश है, जहां ब्राह्मण अनादृत होते हैं? 'उपारणे' सिर्फ यहीं आया है। सायणने इस अपने भाष्यके लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है।

प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छा।
मादस्तं वृषगणा अयासुः।
आंगूष्यं पवमानं सखायो
दुर्मर्षं साकं प्रवदन्ति वाणम् ॥ ऋ. ९।९७।८

यह मंत्र एक ऐसा उदाहरण है, जो ऋग्वैदिक भाष्य की कर्तृत्व सापेक्षता (Subjectivily) को सिद्ध करता है। इस साहित्यके निर्माण कालके ज्ञानके अभावमें यह एक समस्या सामने आकर उपस्थित हो जाती है, कि क्या हम कभी इस साहित्यको निस्सन्देह समझ भी पायेंगे या नहीं। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या विद्वानोंने भिन्न भिन्न की है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं इसके अर्थको समझ नहीं पाया। पर यहां केवल यही कहना पर्याप्त होगा, कि सायण यहां 'मन्यु' का अर्थ 'सोम' करता है। जो इसे पीता है, उसमें यह सोम स्फूर्ति उत्पन्न करता है। इसलिए सोम स्वयं ही 'स्फूर्ति, उत्साह, शक्ति' आदि हैं।

ऋ. ८।८४।४ में आया हुआ 'मन्यु' शब्द सायणके अनुसार 'अग्नि' का विशेषण है। इसलिए मैं यहां इस शब्दका अभिप्राय 'तेजस्विता' के रूपमें लेता हूँ।

ऐसा प्रतीत होता है कि अतीतकालमें मन्युका व्यक्तीकरण (Personificatiou) कर दिया गया था। इस मन्युकी देवताके रूपमें पूजा होती थी। इसी लिए ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ८३-८४ ये दो सूक्त मन्यु देवकी प्रशस्तिमें हैं। ये ही दो सूक्त अथर्ववेदके चौथे काण्डमें ३१; ३२ सूक्त हैं। इनमें किस वेदने किस वेदसे ये सूक्त लिए हैं, अथवा इन दोनों वेदोंका एक ही सामान्य स्रोत है। मन्युकी जहां जहां देवतावत् पूजा की है, वहां वहां निश्चयसे वह अग्नि अथवा इन्द्र है। सूर्य और अग्नि शक्तिके स्रोत हैं।

'मन' धातुसे निष्पन्न हुए शब्द अपने धातुगत अर्थों एवं अन्य अर्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं। ऋ. ३।३।२।४ में आए हुए 'मन्यमानस्य' का अर्थ है 'न कोऽपि मम हन्ता इति अभिमानस्य' (मुझे मारनेवाला कोई नहीं है ऐसा अभिमान करनेवाला); जब कि ऋ. ७।२२।८ में आए हुए इसी शब्दका अर्थ सायण 'स्तूयमानस्य' करता है। इस प्रकार स्पष्ट रूपसे ही अर्थ निश्चित करनेमें प्रसंगको ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है।

ऋग्वेदके १०।८३।२ में आए हुए 'मानुषीः विशः मन्युं ईळते' इस मंत्र भागने मेरे विचारोंका समर्थन

किया है। मैंने एक जगह अपने ' मानुष ' एवं ' विशः ' के लेखोंमें बताया है, कि ' मनुष् ' वे थे, कि जिनकी यज्ञ प्रक्रिया मनुके अनुसार चलती थी और ' विश ' वे थे, जो घरमें ही रहते हुए यज्ञ करते थे। इसलिए कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि ' मन्यु ' मनुके अनुयायियोंका देवता था।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि
तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळ
अहं स्वा तनूर्बलदायाय मेहि ॥ ऋ. १०।८३।५

(हे मन्यो ! मैं तुझे योग्य भाग न देनेके कारण पराजित हो गया हूँ। इसलिए तू मुझे बल प्रदान करनेके लिए मेरे पास आ)

इस मंत्रमें एक निर्बल मनुष्य अपने शारीरिक निर्बलता पर खेद प्रकट करता है। इस ऋचाका यज्ञसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह मनुष्य अपने देव मन्युके सामने खेदपूर्वक यह स्वीकार करता है कि उसने कोई भी बहादुरीका काम नहीं किया। (अक्रतुः ऋतुः यहां यज्ञ नहीं है); उसकी और मन्युकी शक्तिमें कोई तुलना नहीं हो सकती, इसलिए वह मन्युसे बहुत दूर है (परेतः) '। अन्तमें वह मन्युसे बलप्रदान करनेकी प्रार्थना करता है।

इस प्रसंगमें इस बातकी ओर भी संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि मनुके यज्ञमें वरुणका पद बड़ा ही सम्माननीय है। मन्यु मनुके अनुयायियोंका देवता है, इसलिए स्वभावतः ही मन्यु वरुण है, जैसे कहा भी है—

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो,
मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ॥ ऋ. १०।८३।२
(मन्यु ही इन्द्र, देव, होता, वरुण और जातवेद है)

ऋ. ७।८६।६ में भी ' मन्यु ' शब्द आया है। इसमें वसिष्ठ अपने भाग्यको अपनी दुःखपूर्ण अवस्था बताता है, न कि सुरा अथवा मन्युको। पर यहां भी सायण मन्युका अर्थ ' क्रोध ' ही करता है। वह संभवतः यह सोचता है कि वसिष्ठ वरुणसे क्रोधित हो गया है, वसिष्ठने जिससे भी पूछा उसने यही उत्तर दिया कि वरुण उससे (वसिष्ठसे) क्रोधित होगया है, (ऋ. ७।८६।३)। इसी सूक्तकी सातवीं ऋचामें वसिष्ठ-इस सलाहका खण्डन करता है। यह विचार वहां ' मन्यु ' शब्द द्वारा प्रकट किया है। यहां ' मन्यु ' का अर्थ बुरी भावना है।

तीसरे मण्डलमें ' मन्यु ' के विषयमें बहुत विवाद है। पांचवें और नौवें मण्डलमें ' मन्यु ' शब्द सिर्फ एक बार ही आया है पहले और दसवें मण्डलमें यह शब्द बहुत बार आया है। और बाकी मण्डलोंमें भी मन्युका प्रयोग हुआ है। इस शब्दका प्रयोग अनेक ऋषियोंके द्वारा अनेक देवोंके प्रसंगमें हुआ है। पर मुख्यतः इन्द्र, वरुण, अग्नि और मरुतोंके साथ।

सांस्कृतिक विमर्श—

भारत और मिश्रके सम्बन्ध

भारत और मिश्र इन दोनों देशोंके मध्यमें भले ही अनेक मतभेद हों, पर विश्वशान्ति और निश्शस्त्रीकरणके मामलोंमें दोनों ही देश सहमत हैं।

इन दोनों देशोंके सम्बन्धका इतिहास बहुत प्राचीन है। इस इतिहासके प्रारंभिक कालमें दोनों देशोंके बीच व्यापारिक सम्बन्ध था। पर डॉ. एस. के. रांय ने कुछ तथ्योंके आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि इन दोनों देशोंके मध्यमें व्यापारिक सम्बन्धके अलावा- कला सम्बन्धी, भाषा सम्बन्धी तथा राजनैतिक सम्बन्ध भी थे। शहरों, गावों और कुलके नाम तथा देवोंके नाम भी मिश्रकी भाषासे बहुत समानता रखते हैं, वे सब इस बातके साक्षी हैं, कि सभ्यताके प्रारम्भिक कालमें दोनों देशोंके मध्य अति निकटका सम्बन्ध था। भारतीय ग्रामोंकी चिकित्सा पद्धति टोटकाका मिश्रके औषधियोंके देवता टोहटका (Tohtka) से बडी समानता है। दोनों देशोंके राजनैतिक क्षेत्रमें भी आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है। नूतनग्राम (बर्दवान) के सूत्रधारोंके द्वारा बनाये जानेवाले लकडीके शवकी प्रतिमूर्त्ति (Mummy Dolls) भी मिश्रके राजाओंके शवोंसे मिलती हैं।

ये सभी समानतायें व्यापारिक सम्बन्धोंके कारण ही हुई ऐसा डॉ: रायका विचार है। उनका कहना है कि मिश्रके १८ वीं पीढीके जो राजा थे, वे जब एतनके पूजकोंके द्वारा मिश्रसे अदेश दिए गए थे, तब वे १३५८-१३५५ ई. पू. भारतमें आए और बंगालमें स्थिर हो गए। महान् धर्मगुरु स्मेन्खकर (Smenkhkara) शरणार्थीके रूपमें अपने अनुयायियोंके साथ अपने देशसे भागे और बंगालमें जाकर शरण ली।

बंगालके लोक परम्परामें एक ऐसा भी प्रसंग आया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि- जब मिश्रमें सैनिक क्रान्ति हुई थी, तब सुदूर पश्चिमसे आकर कुछ लोगोंने बंगाल पर कब्जा जमा लिया था।

सिन्ध पर भी संभवतः मिश्रका प्रभाव था। डॉ. गॉर्डन चिल्ड (Gordon Childe) लिखते हैं कि सिन्धु सभ्यता भी मेसोपोटामियाकी तरह ही थी।' ऋग्वेदमें आठवें मण्डलमें आया है कि पंजाबमें अनु नामकी जाति रहती थी। इस प्रकार डॉ. हेजके द्वारा 'स्केप्टर ऑफ इजीप्ट' में बताये गए अनुके और सर व्हीलर द्वारा 'इण्डस् सिविलिजेशन' में बताये गए मोहन जोदडोमें पाये गए एक पुरोहितके पाषाणसिरके आधारपर दोनों देशोंके जातिकी तुलना करके दोनोंमें समानता कोई भी देख सकता है।

प्रथम विश्वयुद्धके बाद भारत और मिश्र दोनों देशोंमें जनान्दोलन हुए। मिश्रका राष्ट्रीय आन्दोलन १९१९ में शुरू हुआ, जब कि भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेसने अपना अहिंसात्मक और असहयोगात्मक आन्दोलन १९२१ में शुरू किया। मिश्रमें भी राष्ट्रीय नेताओंने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन प्रारंभ किया, मिश्रवासियोंका यह आन्दोलन सर्वांग पूर्ण था। मिश्रका यह आन्दोलन सर्व प्रथम लॉ कॉलेजके विद्यार्थियोंने शुरु किया, बादमें यह सरकारी कार्यालयों और मध्यमवर्गमें फैलता हुआ समूचे मिश्रमें फैल गया। यह आन्दोलन राजनैतिक हडतालके रूपमें परिवर्तित हो गया, और मिल्नेर मिशनके दौरेके समय यह आन्दोलन बहुत जोरोंपर था।

भारतमें भी आन्दोलन तेजीसे बढ रहा था, और इस

आन्दोलनका नेतृत्व कुछ राष्ट्रीय नेताओंके हाथोंमें पहुंच गया, इसी आन्दोलनके कारण चौराचौरी जैसी घटनायें भी हुई । बारडोली आन्दोलनका संयोजन जल्दी जल्दीमें किया गया था, पर चूंकि इस आन्दोलनमें लोगोंने हिंसात्मक कार्यवाहियां करनी शुरू कर दीं, अतः यह आन्दोलन वापस ले लिया गया ।

अखबार अल- यान (अगस्त १९४५) ने लिखा था, कि गोलमेज कॉन्फ्रेन्ससे लौटते हुए गांधीजी साघुल (Saqhul) नामके एक मिश्रके नेतासे मिले थे । मिश्रके असहयोग आन्दोलनका नेतृत्व उन दिनों साघुलके हाथोंमें ही था । उन दिनोंमें वे पेरिसमें रहते थे । उनसे गांधीजी मिले और भारतमें आकर बताया कि मैंने साघुलसे बहुतसी बातें सीखी हैं, किस प्रकार समाजको संगठित किया जाए, किस प्रकार अहिंसात्मक व असहयोगात्मक आन्दोलन चलाया जाए, ये सभी बातें मैंने साघुलसे सीखी हैं । '

दुर्भाग्यसे साघुल १९२७ में दिवंगत हो गए, पर फिर भी दोनों देशोंके नेताओंमें सम्बन्ध बना रहा । साइमन कमीशनके विरुद्ध प्रदर्शनकी योजना भी भारतीयोंने उसी सफलताके साथ बनानी चाही, जिस सफलताके साथ मिश्रवासियोंने मिलर मिशन (१९२०) के विरुद्ध प्रदर्शनका आयोजन किया था । जब गांधीजी १९३१ में गोलमेज कान्फ्रेंसके लिए लन्दनको रवाना हो रहे थे, तब मिश्री नेता साघुलकी विधवा पत्नी साफिया साघुल तथा दूसरे राष्ट्रीय नेताओंके शुभ सन्देश भी प्राप्त हुए थे ।

हाजी बाबा, बगदादीके " दीवान-ए-हाजी " से—

तबकी दादियां

वीर गाथायें सुनाती थीं कभी जब दादियां ।
प्रति रात्रिमें प्राचीन गौरवकी कहीं वो साखियां ॥
वर्णन कहीं हरिचंद शैव्या और शिशु रोहितासका ।
उपदेश अनुसूयाके कहीं या त्यागमय उपकारका ॥
इतिहास सीतारामका मन्दोदरी हनुमान का ।
उत्तरा अभिमन्युका अर्जुन कहीं घनश्यामका ॥
प्रहलाद का पृथिराजका परतापका राठौरका चौहानका ।
ऊदल कहीं हरदौलका रणजीतका शिवराजका ॥
हाडा कहीं धमनी कहीं छत्तापता छतसालका ।
गोविन्द गुरू बन्दाबहादुर और हकीकतरायका ॥
वेद धारी साम धारी 'नामधारी' की तपस्या त्यागका ।
वीरांगना पद्मा कहीं दुर्गा कहीं कमला कहीं ॥
मातेश्वरी तारा कहीं ललिता कहीं लक्ष्मी कहीं इत्यादिका ।
होता था तब पूजन हवन इस देशमें ऐसी प्रणाली थी यहां ॥
और वीर वर वीरांगना सन्तान होती थी यहां ।
हाजी तभी बस धर्मपर या देशपर बलिदान होते थे यहां ॥

—श्री ब्रह्मानन्द शर्मा

आर्य और द्राविड

मूल संस्कृत लेखक—
श्री डॉ. विश्वमित्र, सिद्धान्तविशारद

अनुवादक—
श्री यज्ञमित्र शर्मा

[आर्य और द्राविड समस्या आजकी एक बडी भारी समस्या है । क्योंकि द्रविड मुन्नेत्र कषगमके रूपमें अस्तित्वमें आया हुआ एक राजनैतिक दल पिछले अनेक वर्षोंसे अपना एक अलग 'द्रविडस्थान' लेनेके स्वप्ने देख रहा है । उनका कथन यह है कि सदासे आर्य और द्राविडके रूपमें दो पृथक् जातियां रहीं हैं, उनकी संस्कृति और सभ्यतायें भिन्न भिन्न रही हैं, अतः आज उनका एकीकरण किस तरह हो सकता है ? पर उनकी यह युक्ति सर्वथा थोथी है । वस्तुतः आर्य और द्राविड एक ही जाति है, यह भी कहा जा सकता है कि ये दोनों एक दूसरेके पर्यायवाची हैं । विद्वान् लेखकने आर्य और द्राविडकी भिन्नताको दूर करनेकी भरपूर कोशिश की है । लीजिए, आपके समक्ष भी उनके विचार प्रस्तुत हैं—

सम्पादक]

आर्य और द्राविड विषयक तथ्यका ज्ञान आजकी एक महान् आवश्यकता है, क्योंकि अनेक स्वार्थसाधकोंने इस विषयमें मतभेद खडा करके देशोन्नतिमें अनेक बाधायें उत्पन्न कर दी हैं । आशा है कि यह लेख उनके ज्ञानचक्षु खोलनेमें सहायक होगा । इस वाद-विवादका उद्भव तब हुआ, जब कि हम स्वार्थसाधक और कपटी विदेशियोंके अधिकारके अन्तर्गत हो गए । उन्हींके द्वारा आर्य द्राविडके मध्यमें लगाई गई मतभेद रूपी चिनगारी आज दावानल बन कर सारे देशको भस्मसात् करनेके लिए उद्यत है । इसलिए हमारा कर्तव्य है कि इस विषयपर कूलंकष रूपसे विचार कर इसके सत्य अंशको जनताके सामने हम रखें और इस प्रकार उनके मतभेदोंको दूर कर देशहितकी सिद्धि करें ।

आर्य और द्राविड ये दोनों शब्द संस्कृतभाषामें अज्ञातकालसे हैं । परन्तु इनमें द्वन्द्वबीज तो आंग्लशासकों द्वारा, जो यहां भारतीय प्रजाओंमें फूट पैदा करके शासन करने आये थे, बोया गया था । इतिहास लिखनेके लिए भी जिन इतिहासज्ञोंको नियुक्त किया था, उन्होंने भी अज्ञानता अथवा स्वार्थवश तथ्योंको तोडमरोड कर बिल्कुल ही विकृत बना दिया । क्योंकि यह एक राजनीतिक दांवपेच है कि जिस देशका स्वाभिमान नष्ट करके उसपर शासन करना हो, तो सर्वप्रथम उसके इतिहासको नष्ट अथवा भ्रष्ट कर दिया जाए । इसलिए विदेशीशासकोंने भी हमारे इतिहासमें जो उज्ज्वलतम और गम्भीरतत्त्व थे, उन्हें तोड मरोडकर उनके स्थानमें मिथ्या तत्त्वोंको प्रस्तुत किया । 'पाषाणयुगके लोग' अथवा 'लौहयुगके लोग' आदि सभी कथनोंसे विदेशी इतिहास लेखक यह दिखाना चाहते थे कि भारत देशमें पहले केवल असभ्य और जंगली ही रहते थे । पर आर्यसमाजके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती जीने हमारे सत्य इतिहासको दिखाया । उन्होंने लोगोंको यह भी बताया कि हमारी सभ्यता, जो प्राचीनकालमें बहुत ऊंची थी, बराबर गिरती चली जा रही है । उन्होंने यह भी बताया कि आदिसृष्टि अमैथुनी थी । सर्वज्ञ परमात्माके सामर्थ्यसे सृष्टिकी आदिमें सब मनुष्य स्त्रीपुरुष सहित यौवनावस्थामें उत्तम बुद्धि, बल, और आरोग्यादि सम्पत्तिसे युक्त उत्पन्न हुए थे ।

इस संसारमें सुखसे यात्रा करनेके लिए जो जो ज्ञान आवश्यक थे, उन सबको सार्वभौम, सार्वकालिक और सर्वकला सम्पूर्ण 'वेदों' के रूपमें सर्वज्ञ परमात्माने दिया । प्राचीन आर्योंकी संस्कृति व सभ्यता अत्यन्त उन्नत अवस्थामें थी । उनकी सर्वसामान्य संज्ञा 'आर्य' अर्थात् श्रेष्ठ थी । क्योंकि वे सब 'अर्य' अर्थात् श्रेष्ठस्वामी परमात्माकी श्रेष्ठ सन्तान थे । यास्काचार्य कहते हैं— 'आर्यः ईश्वरपुत्रः' अर्थात् आर्य ईश्वरका पुत्र होता है । वेदोंमें भी इस कथनका आधार पाया जाता है—

शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः ॥　　ऋ. १०।१३।१
+　　×　　×
अज्येष्ठासोऽकनिष्ठास एते
संभ्रातरः वावृधुः सौभगाय ॥　　ऋ. ५।६०।५

' हे मनुष्यो ! तुम सब मुझ अमरकी शाश्वतसन्तान हो। तुममें कोई भी छोटा बडा या ऊंच नीच नहीं है। सब भाईबहिनके रूपमें समान होकर सौभाग्यके लिए आगे बढो। '

डार्विनका विकासवाद बिल्कुल आधारहीन और खोखला है। उसके इस सिद्धान्तका तो कई विदेशी मनीषियोंने भी खण्डन किया है। एक प्रतिष्ठित लेखकने अपने Return to Nature (प्रकृतिकी ओर प्रत्यागमन) नामक ग्रंथमें लिखा है कि ' मनुष्य, जो उस महान् देवका अत्यल्प प्रतीक है, सृष्टिकी आदिमें पाप-रहित, रोग-रहित एवं दुःख और कष्टसे रहित था। '

बाइबिलमें भी ' आदम और हव्वा ' के अलंकारके रूपमें यही बात बताई गई है कि आदि मनुष्य सर्वैश्वर्य सम्पन्न था। ×

' आर्य ' शब्दका अर्थ श्रेष्ठ है। श्री अरविन्दघोषने भी आर्यशब्दके महत्त्वको इस प्रकार दिखाया है—' आर्यशब्द एक नैतिक और सामाजिक आदर्शका द्योतक है। तथा विजय, धैर्य, स्थैर्य, गांभीर्य, औदार्य, सरलता, सामाजिक नियम रक्षण शीलता, ज्ञान पिपासा, कार्यकुशलता आदि गुणोंका भी निदर्शक है। इससे बढकर गंभीर शब्द दुनियाके किसी भी भाषाके वाङ्मयमें नहीं है। '

व्याकरणके अनुसार भी गत्यर्थ ' ऋ ' धातुसे ' अर्य ' शब्द सिद्ध होता है। ' गतेस्त्रयोर्थाः ज्ञानं, गमनं प्राप्तिश्चेति ' अर्थात् गतिके ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं। अर्य शब्दसे आर्य बना है।

अब ' द्रविड ' शब्दकी भी निष्पत्ति देखें। ' द्रमिळ ' और ' द्रमिड ' दोनों शब्द समान हैं। संस्कृतमें ' ळ ' ' ल ' और ' ड ' में कोई भेद नहीं होता, जैसे- अग्नि-मीळे-ळ और अग्निमीडे—

' द्रमिळ ' शब्द भी ' द्रमु गतौ ' धातुमें ' इलच् ' प्रत्यय लगानेसे सिद्ध होता है। ' द्रविड ' शब्द ' द्रमिड ' शब्दका अपभ्रंश है, अथवा ' द्रु गतौ ' इस धातुसे भी ' द्रविड ' शब्दकी सिद्धि मानी जा सकती है। ' द्रु+इलच् द्रविल या द्रविड और द्रविडस्यापत्यं द्राविडः। इस प्रकार ' आर्य ' शब्दके समान ' द्राविड ' शब्द भी गत्यर्थक धातुसे ही बना है। अतः दोनों शब्द समानार्थक और पर्यायवाची हैं।

अब ' तमिळ ' शब्दकी निष्पत्ति देखें। ' तमु कांक्षायां ' (चाहना) इस धातुमें ' इलच् ' प्रत्यय लगानेसे ' तमिळ ' शब्दकी सिद्धि होती है। मनुष्य तो अत्युत्कृष्ट वस्तुको ही चाहता है। और वह अत्युत्कृष्ट वस्तु ज्ञान ही है। क्योंकि परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। ' गति ' के अर्थोंमें ज्ञान भी शामिल है। इसलिए ' तमिळ, द्रामिल-द्राविड, और आर्य ये सभी शब्द समानार्थक होनेसे पर्यायवाची हैं।

यह सब जानते हैं कि आर्य शब्द वेदप्रतिपादित है। तमिलनाडमें उत्पन्न सुप्रसिद्ध कवि, तार्किक केसरी श्री तुप्पलवेदान्त देशिकर, जो सायणाचार्यके बडे भाई विद्यारण्यके सहपाठी थे, द्राविडके विषयमें ' द्रमिडोपनिषद् तात्पर्यरत्नावली ' नामक काव्यमें लिखते हैं—

> आदौ शारीरिकार्थक्रममिह विशदं विंशति-वक्ति साम्रा
> संक्षेपोऽसौ विभागं प्रथयति ऋचां चारु-पाठोपपन्नाम्।
> सम्यक् गीतानुबद्धं सकलमनुगतं सामशाखा-सहस्रम्
> संलक्ष्य साभिधेयैर्यजुरपिशतकैर्भात्यथर्वा-रसैश्च ॥

अर्थात् यह ' द्रमिडोपनिषद् ' ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदोंसे निःसृत हुई है तथा शारीरिक दर्शन, गीता आदि शास्त्रोंका भी अनुसरण करती है '।

इससे विद्वान् समझ सकते हैं कि द्राविड और आर्य शब्द विवादोत्पादक और द्व्यर्थक शब्द नहीं है। अपितु समानार्थक पर्यायवाची हैं, क्योंकि ये दोनों समानार्थक धातुओंसे उत्पन्न हुए हैं। न तो द्राविड दक्षिणके आदिवासी हैं और नाहीं आर्य उत्तरसे आये हुए विजेता। आंग्ल इतिहासज्ञोंके कथन तो आधारहीन प्रतीत होते हैं। पवित्र और आत्माको विकसित करनेवाले अर्थको नष्ट कर विदेशी और उनके अनुगामी भारतवासी भी अन्धोंके पीछे चलते

+ तुलना करें, (१) महर्षिका कथन, (२) Return to Nature के लेखकका कथन (३) बाइबिलका आख्यान।

हुए, उन्हींके रागको अलापते हुए, परस्पर द्वेष और भेद-भाव उत्पन्न करते हुए देशको नाशकी तरफ ले जा रहे हैं।

कतिपय विचारकों की ऐसी भी धारणा है कि रावण द्राविड सभ्यताका स्थापक था। पर यह रावण था कौन यह विचारणीय है? रावणका दूसरा नाम दशकण्ठ भी है। अर्थात् चार वेद और छहों शास्त्र उसको कण्ठस्थ थे। वह वेदवेत्ता और ऋषि पुलस्त्यका पौत्र था। यह सब जानते हैं। रामायणमें ऐसा भी आया है कि हनुमान्‌ने लंकामें लोगोंको प्रतिदिन घरमें अग्निहोत्र करते हुए देखा था, इसके अलावा रावण शब्द ही 'रा दाने' (दान देना) धातुसे सिद्ध हुआ है। रावणने वेदों पर भी भाष्य किया था, ऐसा भी ऐतिह्य है। ये सब यह बताते हैं कि रावण आर्य्य था। यदि वह आर्य था तो वह सभ्यता भी, जिसका प्रचलन व प्रसार उसने किया था, निश्चयसे आर्यों की ही होनी चाहिए। अतः द्राविड सभ्यता भी, जिसका संस्थापक रावण कहा जाता है, आर्योंकी सभ्यता ही थी। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि द्राविड और आर्य शब्द समानार्थक व पर्यायवाची हैं।

द्रविड सभ्यताकी मूल भाषा 'तमिल' अगस्त्य मुनिके द्वारा अस्तित्वमें लाई गई थी, ऐसा भी इतिहास है। महर्षि अगस्त्य वैदिक ऋषि थे। इसलिए वे भी आर्य थे। फिर एक आर्य होते हुए वे आर्यसंस्कृतिके विरुद्ध भाषाको प्रचलित कैसे कर सकते थे? यह पहले ही बताया जा चुका है कि तमिल शब्द भी संस्कृत है और आर्यका पर्यायवाची है।

इसके अलावा द्राविड लोगोंके 'पिल्लै, मुदलियार नायडू, अय्यंगार, अय्यर आदि उपनाम भी उनके आर्यत्व के द्योतक हैं। अब हम इन उपनामों पर विचार करते हैं—

तमिल भाषाभाषी जानते ही हैं कि तमिलमें 'पिल्लै' शब्दका अर्थ सन्तान होता है। तो जब किसी मनुष्यके नामके पीछे 'पिल्लै' लगा रहता है, तो उससे यह ज्ञात होता है कि वह किसीकी सन्तान है। पर किसकी? निश्चयसे परमात्माकी। और परमात्माकी सन्तान आर्य ही होगी।

'मुदलियार' शब्द 'मुदलयार' शब्दका अपभ्रंश है। इस शब्दका अर्थ है 'प्रथम कौन'? प्रथम तो केवल आर्य ही हो सकता है।

इसी प्रकार तेलुगु भाषाका 'नायडू' शब्द भी 'नायकडू' शब्दका विकृतरूप है। 'नायकडू' शब्दका अर्थ तेलुगुमें भी 'नायक' ही होता है। नायक कौन होसकता है।? श्रेष्ठ या आर्य ही।

'अय्यंगार' शब्द 'अय्यं' और 'गार' इन दो शब्दोंके संयोगसे बनता है। इनमें 'गार' शब्द आदरार्थक है, जैसे 'अम्मंगार' (माताजी)। और 'अय्य' शब्द 'आर्य' का अपभ्रंश है, जिसका अधिकतर प्राकृत भाषामें प्रयोग होता है।

इसीप्रकार 'अय्यर' शब्द भी 'आर्य' का ही अपभ्रंश है। भगवान् रामचन्द्र आर्य थे। वाल्मिकी रामायणमें उन्हें कई स्थलों पर 'आर्य' के नामसे सम्बोधित किया गया है। उन्हीं आर्यका चरित्रचित्रण तमिळभाषाके कवि तथा द्रविड सभ्यतामें पालितपोषित महाकवि कम्बने किया। अब यह स्पष्ट है। कि यदि आर्य और द्राविड सभ्यतायें भिन्न भिन्न होतीं, तो महाकवि कम्ब एक आर्य जातिके नायक की ओर अपना आदर कैसे प्रकट कर सकते थे, अथवा उनका चरित्रचित्रण कैसे कर सकते थे?

संस्कृतभाषा तो आर्यसंस्कृति व सभ्यताकी पृष्ठवंश है। 'तमिळ' शब्द तो संस्कृत ही है। कोई भी भाषा संस्कृतके बिना जीवित नहीं रह सकती। 'तमिळ' भी इसका अपवाद नहीं है। उसमें न केवल लौकिक या व्यावहारिक भाषा ही अपितु धार्मिक पुस्तककी भाषा भी संस्कृतसमन्वित है। अस्पष्ट और अपभ्रंश रूपसे भी संस्कृतके शब्द तमिल भाषामें घुस गए हैं।

उपरोक्त विवेचनसे यह सहज साध्य है कि द्राविड और आर्यसभ्यता या संस्कृतिमें कोई भेद नहीं है। सिर्फ नामोंका ही फरक है। द्राविड और आर्यसभ्यताकी भिन्नताकी बात सर्वथा आधारहीन और तथ्यसे कोसों दूर है। यह तो उन आंग्लशासकोंके बुद्धिचातुर्यका परिणाम है जो 'फूट डालो और शासन करो' के सिद्धान्तके आधार पर हम पर शासन करने आए थे।

आशा है कि पाठक गण इस पर विचार करेंगे

[अन्य विद्वानोंसे भी निवेदन है कि वे भी इस विषय पर लेखनी चलायें। हम उनके लेखोंको आमंत्रित करते हैं—
सम्पादक]

मायिक मुहूर्त

[श्री अरविन्द लिखित अंग्रेजी कहानी 'फैण्टम आवर' का हिन्दी अनुवाद]

(अनुवादक— श्री वशिष्ठ)

★

स्टर्ज मेनार्ड अंगीठीके पाससे उठा और बाहर छाये हुए सुरमई, पीले कोहरेपर नजर डाली, जो अपने विस्तारके गहरे परतोंमें लंदनको लपेटे था। अपने हाथमें वह एक पुरानी पुस्तक लिये हुवे था जिसे वह पढ रहा था, उसकी अंगुली अब भी पृष्ठ पर थी, और उसका मन, भले ही पूर्ण संतोषके साथ न सही, लेखककी कल्पनाओंके भावोंके प्रति प्रेरित हो रहा था, जहां इन कल्पनाओंने उसके अनूठे भावको संतुष्ट किया, तो उसकी विवेक बुद्धिको उकताया भी। उक्त पुस्तकमें समय और स्वभावमें मध्यवर्ती एक पुराने 'लैतिन' रहस्य-वादी गुह्यवेत्ता विद्वान्‌ने आध्यात्मविद्या- सम्बन्धी कल्पना-ओंका विवेचन किया था, जिन्हें आधुनिक जगत्‌ने दूर फेंक दिया है। जो बाह्य और प्रत्यक्षमें ज्ञानसे पारंगत है तथा जो आन्तर गुह्य जगत्‌की सीमाओं पर एक निश्चित अज्ञता के रूपमें अपने आधिपत्यको विस्तार देनेकी चेष्टा करता है एक ऐसे युगके कठोर व नियत साधनोंके प्रतिकूल अनेक सूक्ष्मताएं घटित हुईं; ग्रन्थकारका कथन था—केवल 'गुह्य' क्योंकि हम एक कुंजीको अस्वीकार कर देते हैं, जो प्रत्येकके अपने हाथमें है।

'रहस्योंका लेखक, भ्रान्त कल्पनाओंका व्यवसायी,' स्टर्ज विचारने लगा, 'यहां चुने हुवे इस भारभूत प्रति-रोधो जालेके पक्षमें कोई केवल न्यूनतम तथ्य पावें तो! किन्तु जिस अनिश्चयतामें ये विचार विचरनेको संतुष्ट थे उसकी अपेक्षा कोहरा कम स्थूल है।'

असामान्य किन्तु विलक्षण चर्चाके एक वृतान्तमें जर्मन रहस्यवादी गुह्यवेत्ताने प्रतिपादन किया था कि दीप्ति, स्फुरणाके मूल कारणने एक अविराम सक्रियतासे विचारकी गतियों पर मनोयोग दिया था, जो अपने रूपमें एक विशुद्ध विपांशु या धुंधके प्रकाशकी आभास हैं। लेखकका कथन था कि मस्तिष्कके क्षिप्र व्यापारके गाढ क्षणोंमें अपने मस्तकों, प्रायः अपने चहुओरवर्ती समस्त परिसरको बैंजती क्षण-प्रभाओंसे जगमगाते एक भासुर वातावरण द्वारा आक्रान्त देखना द्रष्टाओंके लिये एक साधारण अनुभूति थी। तब ही जब स्टर्ज इन अतिशयोक्तियों पर आश्चर्य कर रहा था उसकी स्मृतिमें स्फुरण हुई कि वह स्वयं अपने बचपनमें ठीक ऐसी ही बैंजनी आभाएं अपने मस्तकके पास देखा करता था और तब तक अपनी बालेश लहरीको उनसे बह-लाता रहा जबतक प्रौढतर वर्ष विस्मय, अविश्वास और इस आश्चर्यका द्रुत ह्रास न ले आये।

'क्या तब वहां जर्मनकी लहरियोंके लिये अनुभूतिका कुछ औचित्य था?' ऐसी प्रवृत्ति द्वारा व्यर्थ ही उसने प्रतिरोधकी चेष्टाकी, खिडकीके बाहर कोहरे पर स्टर्जने अपनी नजर गडा दी और प्रतीक्षा करता रहा। जब वह अपने मस्तकमें एक विचित्र हरकत, नेत्रपति अपनी क्षम-ताओंकी संकुलतासे जानकार हुआ उसी क्षण कोहरेसे आये, एक दृश्य बैंजनी स्फुरणाओंका तथा एक बढती उत्तेजना उसके स्नायु-मण्डलमें जिसे उसका जिज्ञासु, विलक्षणतः शान्त मन निरख रहा था। विचित्र आभास, अद्भुतध्वनि, प्राचीन व आगामी अनुभूतिका एक सम्पूर्ण जगत्, किसी ऐसे अन्तराय प्रतिकूल चढकर जो सम्पर्कका विरोध करता था, निश्चय ही उस पर उमड रहा था। चकित और अनु-रक्त, किन्तु अन्यथा क्षुब्ध नहीं, उसकी तर्क बुद्धिने, जो घटित हो रहा था, उसका कुछ ब्यौरा पानेकी चेष्टाकी। प्रयासको सहायता देना बेहतर समझ स्टर्जने जो देखा था उसके पुनरावर्तन या खण्डनके लिये कोहरे पर फिर दृष्टि गडा दी। अब और बैंजनी स्फुरणाएं नहीं थीं, किन्तु निश्चय ही बाहर धूसरवर्ण कोहरेमें कुछ संकेत कर रहा, निरूपित, अभिव्यक्त हो रहा था। यह उज्ज्वल होगया, यह गोल हो

गया, यह स्पष्ट हो गया क्या यह मोहरा था या कुण्डल? अनुभूतिकी एक अप्रत्याशाविरक्तिमें अपने सम्मुख एक घडीके अतिरिक्त और कुछ विचित्र नहीं देखा। वह मुस्कराया और उस सुनिर्दिष्ट इष्टिगत घडीसे कारवस पर रखी अपनी वास्तविक, रहस्यरहित, कामचलाऊ सहचरीकी तुलना करनेको मुडा। उसका शरीर विस्मयके एक निर्घातसे तन गया। वस्तुतः वहां घडी थी, कोविदार–मुखी, स्वर्णाक्षरी वक्ककी कानूनगो, घंटोकी थाके नवीस जो मध्यमें एक प्रच-लित 'ब्रह्माकाक' पर सहज संतुलित और पंखोंवाली दो देवियां किनारे पर; उसने लक्ष्य किया कि घडीकी सुइयां बारह और पांच पर जुट रही हैं और शीघ्र ही घंटा बजने वाला है। किन्तु इसके पार्श्वमें क्या थी यह छायामयी व अपरीचित सहचरी; सुप्रतिष्ठित, सुस्पष्ट, असलकी नकल, कोविदार–मुखी भी, किन्तु रजत–अक्षरोंवाली, दृढतः आधारित, पर सहज संतुलित नहीं, आठके घंटेकी ओर उसी सामीप्यसे संकेत करती हुई जैसा कि वास्तविक घडी पांचके घंटेकी ओर? उसने लक्ष्य किया कि इस टाइमपीस-का चारका अंक साधारण रोमन संख्यामें अक्षरांकित नहीं था, किन्तु चार लम्बाकार समानान्तर रेखाओंमें, तत्पश्चात् आभास लुप्त हो गया।

एक चाक्षुष व्यामोह, इन्द्रजाल! सम्भवतः एक मित्रकी बैठकमें किसी परिचित टाइमपीसका मनोभव प्रतिबिम्ब आहतः दृग्गोचर हुआ। वस्तुतः क्या यह परिचितसे कुछ अधिक नहीं था? निश्चय ही, इसे वह जानता था,– वह कोविदार–मुखी वह रजताक्षरी, वह दृढ विभूषित आधार, वह चारका अंक तक! किन्तु कहां थी यह, कब थी यह? उसकी स्मृतिमें किसी अद्भुत अंतरायने भूले, खोये विस्तार, वृतान्तोंके लिये व्यर्थ भटकते उसके मनको भौचक्का कर दिया।

सहसा घडीने, उसकी अपनी घडीने पांच बजाये। उसने यन्त्रवत् परिचित ध्वनियां गिनी; तीव्र, स्पष्ट, एक धातु-मयी ध्वनिसे समन्वित। और तब, कानके अपने विषयसे हटनेके पूर्व बजने लगी दूसरी घडी, तीव्र नहीं, स्पष्ट नहीं, धातुमयी भी नहीं किन्तु एक कोमल, सुरीले घंटनादमें तथा अन्तमें एक संगीतमय झणझणाहट। और घंटोंकी संख्या थी आठ।

स्टर्ज मेजके सहारे बैठ गया और सहसा अपनी पुस्तक खोली। यदि यह एक मतिविभ्रम था, तो यह सावधानीसे व्यवस्थित और सुअनुष्ठित मतिविभ्रम, एक इन्द्रजाल था। क्या कोई सुषुप्तिजनक छल उसके मस्तिष्कके साथ खेल रहा है? क्या वह अपने आपको सुषुप्ति जनक (हिप्नोटिक) अवस्थामें डाल रहा है? उसकी दृष्टि पन्ने पर पडी पर मध्यवर्ती लैटिन नहीं देखी किन्तु प्राचीनग्रीक, यद्यपि होमर कालीन छप्पय नहीं। अति सुस्पष्ट था अक्षरन्यास, अति सुबोध आकूत।

'क्योंकि अनश्वर देवता सदैव पृथ्वी पर घूमते हैं और नश्वरोंके गृहोंके प्रति अनाशंकित आते हैं; किन्तु विरल है वह नेत्र जो उन्हें देख पाता और विरलतर है वह मन जो देवताके अभिनय, आचारगोपनको पहचान सकता है।'

फिर हिप्नोटिजम! स्टर्ज जानता था कि पुराने रहस्य-वादी गुह्यवेत्ताके निशाके धुंधले मौलिक अध्ययन, तत्वमें सूक्ष्म, किन्तु व्यञ्जनामें विषम, कठोर, अतिक्रान्त, दीर्घ-सूत्री, आकाररहित, आरम्भसे अन्त तक गूढ लैटिनमें प्रतिरुद्ध, तथा कहीं भी ग्रीकमें स्फुरित नहीं, और न कहीं काव्यमें। फिर भी वहां छप्पयसे कुछ अधिक थी, वह पढने लगा। 'और मनुज भी सूर्य प्रकाशमें छद्म छिपे जीते रहते हैं और तू कभी भी उनके जन्मसे उनकी मृत्यु तक इस पर्दे, इस छद्मवेशको उठा हुवा नहीं देखेगा। नहीं, तू स्वयं, हे पिलोप! क्या एक बार भी तूने अपने अन्दर देवताको देखा है?'

तहां षट्पदी चरण (छप्पय) समाप्त हुआ और अगले क्षण अपने नैसर्गिक अक्षरों सहित भौतिक पन्ना प्रकट हुआ। किन्तु मधुर, सुरीले, स्पष्ट फिर एक बार उसके श्रवणमें झणझणा उठे छायात्मक मायिक घंटेके घंटनाद। और फिर घंटोंकी संख्या थी आठ।

स्टर्ज मेनाई उठा और किसी अधिक निश्चित चिह्नकी प्रतीक्षाकी। कारण अब उसने अनुमान किया कि कोई असाधारण मनोगत अवस्था, कोई न भूलने योग्य अनु-भूति उस पर उतर रही थी। उसकी प्रत्याशाको धोखा नहीं हुआ। फिर एकवार घंटनाद बज उठे, किन्तु इस बार उसे प्रतीत हुआ मानो उस पूर्णतः परिचित सुरीले माधुर्यके आवरणके नीचे एक स्त्रीकी वाणी स्टर्जके प्रति सानु-

राग पुकार रही थी। किन्तु वे दो छायात्मक ध्वनियां इस जांगल भूमि और जन्मकी स्मृतियां था या यह घटना किसी व्यतीत अस्तित्वमेंसे थी, जिसे उसने धारण किया और फिर त्याग दिया था ऐसे एक आकार किसी उग्र मुहूर्तकी, घंटेकी याद करनेके लिये, एक ऐसे नामको जिसे उसने प्रत्युत्तर दिया था और भूल गया था, स्मरण करनेके लिये, आग्रह और अर्चना करते हुवे आमन्त्रित करके इन ध्वनियोंने उसे चुनौती दी। जो कुछ भी यह था, यह उसके समीप था, इसने प्रबलतः उसकी हृत्तन्त्रियोंका स्पर्श किया। और तत्पश्चात् तत्क्षण आठवें घंटनादका अनुसरण करते वहां आया, मानों बहुत दूरसे आवाजका एक अचूक स्फोटन, एक आधुनिक रिवाल्वर की आवाज।

स्टर्ज मेनार्ड अन्द्रिकाके पाससे हट गया और कमरेसे निकल आया, सीढियोंसे उतरा, अपना टोप और ओवरकोट पहना, और घरके द्वारकी ओर चल पड़ा। उसके सामने कोई स्पष्ट विचार नहीं था कि वह कहां जायगा या उसे क्या करना चाहिये, किन्तु यह जो कुछ भी हो इसे करना होगा। तब उसे याद आया कि वह अपना रिवाल्वर भूल आया है जो उसके वस्त्राधानके दराजमें रखा था वह ऊपर गया, शस्त्रसन्नद्ध हुवा, उसमें कारतूस भरे, उसे अपनी दाहिनी जेबमें रखा, जांच कर ली कि जेबमें चटकनी खोलनेकी दो अर्गला कुंजी हैं, पुनः सीढियोंसे नीचे उतरा और लन्दनके आर्द्र, गलघोट, अभेद्य, गाढतम कोहरे में निकल पड़ा। वह एक ऐसे जगत्में विचरने लगा, स्मृतिके अतिरिक्त जिसका कहीं कोई अस्तित्व प्रतीत नहीं होता था। केवल कोई प्रासंगिक गाडीवाला भर्राई आवाज में अनुवेला अपने वाहनकी सावधान प्रगति की घोषणा करता था। स्टर्ज अपने आगे या चारों ओर कुछ नहीं देख सका,–जबतक वह प्रत्यूहके समीप न पहुंच गया और जहां तक लैम्प- खम्बे ने धुंधलेपनसे उस पर जगमगाने, मुस्कराने को जोर मारा या दूसरे किनारे पर दीवारके एक छायात्मक, प्रेततुल्य खण्डने उसके कोटकी बांह न झाड दी। किन्तु वह अपने पैरोंके नीचेकी पगडण्डीसे निश्चिन्त था, एवं उसने अनुभव किया कि वह घूमने या मुडनेमें भूल नहीं कर सकता उसकी इन्द्रियों तथा स्मृति की अपेक्षा एक ध्रुवतरपथप्रदर्शक उसे ले चला।

स्टर्जने सडक पारकी, हाइडपार्कके फाटकमें घुसा, कुहरा बद्ध तिरोहित खुले स्थानको प्रयाणकी एक निश्चित व सीधी रेखामें पार किया, मार्बल आर्चसे गुजरा, और आक्सफोर्ड स्ट्रीटमें प्रथम बार झिझका। दो मद्रिकाएं उसे प्रिय थीं इनमेंसे किसीसे एक की भी मृत्यु उसके आधे अस्तित्वको सूना कर सकती थी। किसके पास उसे जाना चाहिये? तब उसके मनमें किसीने उसके लिये निर्णय किया। ये कल्पनायें निस्सार थीं। अपनी बहन इमोजनके पास जानेका उसे कोई प्रयोजन नहीं, अपने चचाके सुरक्षित, सुखद गेहमें, सरल निरपेक्ष तथा निर्दोषतः सुन्दर वस्तुओंसे भरपूर अपने जीवनकी प्रसन्न प्यारी इमोजन पर कौन संभ्रम व अरिष्ट घटित होसकता था। किन्तु रैनी! रैनी भिन्न थी, उसकी अवस्था भिन्न! स्टर्जने अपने रास्तेका एक परिचित दिशामें अनुसरण किया। ज्यों ही वह चला, उसकी स्मृति में यह स्फुरणा हुई कि रैनीने उसे आज आनेको मना किया था। रैनीके व्यतीत जीवनकी कोई सजीव स्मृति थी जो उसके पास आनेको थी, कोई जिसकी वह स्टर्जसे भेंट कराना नहीं, चाहती थी, रैनीने अपनी सामान्य सरल निरपेक्षतासे कहा था, 'तुम मत आना।' स्टर्जने कोई शंका नहीं की थी।

जबसे रैनीसे उसकी पहली जान पहचान हुई थी उसने कभी आशंका नहीं की थी, और रैनी ब्यूरीगार्डका अतीत एक शून्य था, उस मनुष्यके लिये भी जिसके प्रति रैनीने सब कुछ समर्पित कर दिया था। अपूर्व वृत्तान्तों, महान् संकटोंके लिये उस शून्यमें स्थान था। स्टर्जको याद आया कि रैनीका प्राख्यानिक परिरम्भ अपने विभव, उद्रेक व गरिमामें प्रायशः आकर्षक था, उसकी वाणी किसी अनिरूपित, अव्यक्त आवेगसे प्रकम्पशील। अपने अनुरागमें व्यावृत होनेके कारण रैनीके आलिंगन पर निरूपण किये बिना ही स्टर्ज रैनीकी अंकवारकी इस गरिमा व उद्रेकसे जानकार था। उसके मनके जिस किसी भागने यह लक्षित किया था, उसने उद्रेकके सम्भव कारणको सामान्यकी सीमाओंमें अटका दिया था, जैसा कि मनुज करने, असाधारणसे अनजान बने रहनेकी वृत्तिमें रहते हैं जबतक कि वह 'असाधारण' उन्हें लपक नहीं लेता और चौंका नहीं देता।

स्टर्ज उस चौक व मकान पर पहुंचा जहां रैनी रहती थी, अपनी जेबवाली अर्गलाकुंजीसे द्वार खोला, कोट और टोपसे अपनेको हलका किया और अपने पैरोंको बैठककी ओर आदेश दे दिया। बत्तीस या बीस वर्षीया एक लडकी, शान्त पर विवर्ण, खुले द्वार–पथको सम्मुखीन किये उठी। कुर्सी पर उसके हाथका संग्रह, उसके शरीरमें दृढ, व्यग्र और उद्यत प्रवृत्तिके एक वृहत् भाव और एक गाढ प्रत्याशाके सूचक थे। किन्तु उसका मुख रक्तवर्ण हो गया, हाथ और अंगुलीके पड गये, ज्यों ही उसने अपने अभ्यागतको देखा। रैनी ब्यूरीगार्ड दक्षिणकी एक फ्रेंच महिला थी, शरीर–सरूपतामें, विशाल चैतन्य, प्राणमें, अपनीवाणी और उत्साहमें समृद्ध। उसके अत्युत्तम पूर्ण अंग, उसकी प्रसन्न चारु गति, उसके अरुण अधरोंकी चंचलता, उसके सस्मित श्याम सलौने नेत्र जीवनसे, उत्कर्षसे, प्रमोदसे, प्रेमसे विपुल और बहुत मांगे रखते थे। किन्तु नेत्रोंकी अजेयतः प्रसन्न ज्योतिमें मंडराती और उनकी सहज व्यञ्जनाको विकृत करती हुई उस क्षण वहां एक शोकप्रद निराशा की छाया थी। एक अतीत, और एक वर्तमानको लिये निर्व्याज वह एक नारी थी। और इसकी प्रकृति, यदि इसका भाग्य नहीं, एक भविष्यकी मांग करती थी।

'स्टर्ज'! रैनीने द्वारकी ओर एक कदम बढाया। स्टर्ज अंगीठी की ओर चला और रैनीका हाथ पकड लिया।

'यहां आने तक मैं तुम्हारे निषेधको भूला रहा। और कोहरा छाया हुआ था; तथा लौट जाना निरानन्द था और तुम यहां मौजूद थीं।'

'तुम्हें भूलना नहीं चाहिये था।' रैनीने कहा, किन्तु वह मुस्काराई, स्टर्जके आगमनसे संतुष्ट, सुप्रसन्न। तत्पश्चात् दुर्बोध छायाने उन सस्मित नेत्रोंको फिर दबोच लिया। 'और तुम्हें लौट जाना चाहिये। नहीं, अभी नहीं। पाव घंटेमें। तुम चौथाई घंटा ठहर सकते हो।'

रैनीने घडी पर नजर डाली थी, स्टर्जके नेत्रोंने रैनीकी आंखोंका अनुसरण किया था। उसने देखी एक कोविदार–मुखी टायमपीस, रजताक्षरी, दृढतः आधारित, चारके अंक को समानान्तरेखाओंमें व्यक्त करती हुई, और वह उन विचित्र धोखों पर मुस्कराया जो इसकी इसलिये उसके साथ किये थे। इस समय छः बज कर पांच मिनट गये थे।

'मैं इमोजनके घर जाऊंगा,' स्टर्जने खूब विचार पूर्वक कहा, रैनीने स्टर्ज पर नजर डाली, घडी पर नजर डाली, पश्चात् स्टर्जकी ओर झुकती हुई वह भावकतः पुकार उठी, 'और तुम आठ बजे आवोगे और मेरे साथ भोजन करोगे! रशेल दोनोंके लिये दो थालियां लगा देगी,' फिर पीछे हट गई, मानो अपने निमन्त्रण पर पछताती हुई।

आठ बजे! हां, वह रैनी के साथ भोजन करेगा–अपना काम कर चुकनेके पश्चात्। व्यवस्था ऐसी ही प्रतीत होती थी, रैनीकी नहीं, किन्तु किसकी? दैव की शायद, अंतर्वासी वा बहिर्वर्ती देवताकी। कुछ देरतक वे बैठे बात करते रहे, पर स्टर्जको यह लगा कि उनका वार्तालाप रूपरेखामें कभी भी ऐसा सामान्य विषय या भावावेशसे इतना स्पन्दशील नहीं था। छः बज कर बीस मिनट पर वह उठा, विदाई ली और कोहरे की ओर चल पडा; किन्तु रैनी द्वार तक उसके साथ आयी, ओवरकोट पहननेमें स्टर्जकी सहायताकी, किन्तु कोट पहनाते हुवे वह स्पष्टतः कांपती रही। 'आठ बजे मैं लौट आऊंगा, स्टर्जने शान्ततः कहा।

आठ बजे! हां और पहले! किन्तु उसने यह सब रैनीसे नहीं कहा। वह कोहरेसे होकर अपने चचाके घर की ओर झूमता चला, एक हलके, स्वच्छ और निरपेक्ष मनसे, किन्तु अपने हृदयमें एक गाढ शान्तता सहित। वह यथास्थान पहुंचा, एक अतीव कुलीन अधिवासमें, और एक गम्भीर वदन द्वारपाल द्वारा आमंत्रित हुआ। सर 'जान' घरसे बाहर गये हुवे थे, किन्तु कुमारी इमोजन मेनार्ड घर थी। अगला घंटा स्टर्जने पर्याप्त सुख–शान्तिसे अनायास बिताया कारण, अपनी बहनके प्रात्याहिक आकर्षक आपसी, व्यक्तिगत वार्तालापमें राजनीति व शिष्टतः उपन्यस्त आक्षेपके, एक भावसे विपर्यस्त जीवनके तलपर, प्रमोदों व नाटकघरों, पुस्तकों, संगीत व चित्रकला पर निष्कारण चर्चा करते उसके हृदयने भी क्रमशः अपना तनाव खो दिया और साधारण अवस्थामें फिर फिसल गया अन्तर्वासीको बहिर्वर्तीमें भूल कर।

अगला एक घंटा और कहीं अधिक, यह इमोजन मेनार्ड थी जो उठी और बोली, 'आठ बजनेमें दस मिनट। मुझे

भोजन बनाया है, क्या निश्चय ही तुम भोजन नहीं करोगे ?'

स्टर्ज मेनार्डने घडी पर नजर डाली और उसका हृदय बैठ गया। उसने अपनी बहनसे जल्दी विदा की, सीढियोंसे नीचे उतरा, अपना कोट और टोप व ओवरकोट चलते पहनता हुआ कोहरेमें निकल पडा। उसने रिवाल्वर व अर्गला-कुंजियोंको संभाल लिया, फिर लगाई दौड। उसे बडा भय यह था कि वह जल्दबाजीमें कहीं मुडना भूल न जाये और घंटा बजनेके बाद पहुंचे। किन्तु चूकना कठिन था, उस आध मीलके खुले स्थानको! और 'दैव'? क्या वह केवल भविष्यवाणीका एक भूल था ? क्या उसने रक्षा करनेके लिये साक्षात नहीं किया था ?

वह रैनीके चौककी ओर मुडा और, ज्योंही उसने घरकी ओर डग भरे व सीढियों पर चढा, उसका उद्वेग मिट गया तथा समनाडी स्पन्द एवं अक्षुब्ध धमनीसे वह बैठकके द्वारकी ओर मुडा। उसने टोप एक ओर डाल दिया किन्तु कोटसे छुटकारा नहीं लिया। उसका हाथ जेबमें था और रिवाल्वरका कुंदा हाथमें।

द्वार खुला हुआ था, और असामान्य अवस्था रूप, जापानी जवनिकासे ढका हुआ। वह जवनिकाके सिरे पर ठिठका और कमरेमें दृष्टि डाली जो अतीव निःशब्द था, किन्तु सुना नहीं-कारण अंगीठीके सामने बिछे नमदेके दोनों किनारो पर खडे थे रैनीव्यूरीगार्ड और एक मनुज स्टर्जके लिये अज्ञात-वह रैनीकी ओर देख रहा था मानो उसके कथनकी प्रतीक्षा करता हो; रैनी शान्त, विवर्ण, पीला मौनसें दृढ, निजनेत्रोंमें अपने अतीतके भारी भार सहित। आगन्तुककी पीठ स्टर्जकी ओर आधी घूमी हुई थी और उसकी मुखाकृतिका केवल एक भाग दृग्गोचर था, किन्तु आंगलदेशवासी स्टर्जने ज्योंही आगन्तुकपर दृष्टि डाली वह घृणासे कांप उठा। क्या यही है जो मुझे करना है ? स्टर्जने रिवाल्वर निकाल लिया और घोडे पर अपनी अंगुली रख दी। पश्चात् उसने घडी पर दृष्टि डाली,-घंटा बजनेमें चार मिनट शेष थे; और फिर आगन्तुक पर दृष्टि डाली, उसके हाथमें भी रिवाल्वर था और उसकी अंगुली भी घोडे पर टिकी थी। स्टर्ज मेनार्ड मुस्कराया।

पश्चात् उस मनुजकी आवाज सुनाई दी, 'तब यह होना है, इदाली।' आगन्तुकने एक क्षीण, विकट, शोकप्रद अभियोगमें कहा। 'तुमने निर्णय कर लिया। कोई द्वेष भाव मत रखो। तुम जानती हो यह रोका नहीं जा सकता। तुम्हें मरना है।'

स्टर्जको स्मरण हो आया कि इदाली रैनीका दूसरा नाम था, किन्तु रैनीने इस नामका प्रयोग करनेसे उसे सदैव निषेध किया था। क्षीण वाणी चालू रही, इसबार अपनी शोकप्रदतामें विचित्र उत्तेजनाकी एक व्याख्या सहित।

'और यह सब तुम मुझपर डालती हो! इससे क्या सरोकार कि मैंने तुम्हें कैसे पाया, तत्पश्चात् मैंने क्या किया?

स्टर्जने उस मनुज पर दृष्टि डाली। रैनीके लिये कोई संकट नहीं था, किन्तु महान् संकट इस कठोर, क्षीणवाणी, गुप्त घातीके लिये, इस मनुजके लिये जिससे स्टर्ज मेनार्ड अपने शरीरकी प्रत्येक मांसपेशीसे, अपने मस्तिष्कके प्रत्येक घटकसे घृणा करता था। स्टर्जको लगा कि उसका प्रत्येक अंग नरहत्याके उत्साहसे, वध करनेके जित्वर भावसे प्रबुद्ध व स्पन्दित हो गया है। बाहर कोहरा था, कैसा कोहरा। कि वह सरलतः शवको ठिकाने लगा सकता था। वस्तुतः यह एक अच्छी व्यवस्था थी। कभी कभी भगवान् कार्योंको बडी कुशलतासे करता है। तथैव स्टर्ज अपनी कल्पनाकी रौद्रता पर अन्दर ही अन्दर हंसा। तथापि किसी प्रकार उसे इसपर विश्वास था। भगवानूका कार्य, उसका अपना नहीं। तथापि उसका भी, पूर्व निर्दिष्ट-कबसे ? किन्तु नियतिबद्धवाणी जारी थी:

'इदाली! फिर भी मैं तुम्हें एक मौका देता हूं, हमेशा, सदैव एक अवसर। मेरे साथ चलोगी ? तुम मेरे प्रतिवेवका रहीं, अपने शरीरसेबेवफा, अपने हृदयसे बेवफा! किन्तु मैं क्षमा कर दूंगा। मैंने तुम्हारे भाग जानेको क्षमा कर दिया, मैं यह भी क्षमा कर दूंगा। इदाली! मेरे साथ चलो। और यदि नहीं, रैनी इदाली मार्वीरन! आठ बजनेवाले हैं, और जब घंटा बज चुकेगा, मैं रिवाल्वर दाग दूंगा। यह भगवान् है जो तुम्हें मेरे हाथसे छुड करेगा, न्यायका देवता, प्रेमको देवता। इन दो को तुमने पीडित, व्यथित किया है। मरोगी ?'

रैनीने निषेधात्मक अपना सिर हिला दिया। एक प्राणान्तक पीलापन उस मनुज पर छा गया। 'तब निर्णय समाप्त,' वह चिल्लाया, 'तुमने निश्चय कर लिया। तुम्हें मरना होगा।' आगन्तुकने रैनी पर पिस्तौलका निशाना

साधा और उसकी अंगुली घोडे पर झुट गई। स्टर्ज अचल रहा। घंटा बजनेसे पूर्व कुछ घटित नहीं हो सकता था। निर्दिष्ट मुहूर्त वही था, और नियतिको कोई भी एकपल नहीं टाल सकता था।

'घंटा बजने तक ऐसा मत कहो! तब तक समय है। जब मैं तुम्हें शूट करूंगा, रशेल ऊपरसे दौडी आयेगी और मैं उसे भी शूट कर दूंगा, मैंने द्वार खुला छोड दिया है ताकि वह आवाज सुन ले! इंगलैंडमें कौन दूसरा जानता है कि मैं जिन्दा हूं? मैं बाहर निकल जाऊंगा—ओह, जब तुम दोनों मर चुकोगी, उससे पहले नहीं। वहां कोहरा है, कोई प्राणी बाहर नहीं और मैं खुब खामोशीसे चला जाऊंगा। कोई देखेगा नहीं, कोई सुनेगा नहीं। भगवान्ने अपने कोहरेसे दुनियाको अंधा और बहरा कर दिया है। तुम देखती हो यह 'वह ही है, अन्यथा यह मेरे लिये इस प्रकार पूर्णतः व्यवस्थित न हुवा होता।'

घोर रौद्रतः स्टर्ज मेनार्द मुस्कराया। जो एक दूसरेसे घृणा करते थे, वे मनुज, ऐसा प्रतीत हुआ, अनुगुण अन्तःकरणवाले थे। शायद वह कारण था वे टकराये। अच्छा, यदि यह भगवान् था, तो वह शोकमय कलाकार भी और नाटकीय व्याजोक्तिका काव्यमयनिष्पादन जानता था! सब कुछ इस आदमीने गिन लिया था। अपनी करतूतके लिये व्यवस्थित कर लिया था और उसकी क्षमता उसके अपनेके लिये सहायक होगई थी या होगी! और अब स्टर्जको चेतना हुई कि यह सब पहले घटित हो चुका था। किन्तु यहां नहीं, इस आंग्ल परिसरमें नहीं! एक विशाल धब्बा घडीको धुंधलाता, छुपाता हुआ उसके नेत्रों समक्ष आया। तत्पश्चात् यह उस पर छा गया—हरी घास, हरे वृक्ष, हरकाईकी चट्टानें, एक हरा समुद्र, और शाद्वल पर एक मनुज अधोमुख, पीठमें छुरेसे घायल, उसके ऊपर उसका घातक, कृपाण आर्द्र-रक्त रंजित, एकतरी तरंगों पर डोलती थी; घातकके पलायनके लिये यह विन्यस्तकी गई थी, और इसमें बंधी पडी थी एक नारी, स्टर्ज उन विचित्र चेहरोंको खूब जानता था। और उसे याद आया कि वह कैसे शाद्वल पर मुर्दा पडा रहा था। मध्यदेशीय, भूवेष्टित वृक्षोंकी हरकाई दिखाई देती नियति—पूर्ण आधुनिक कोनिदार-मुखी टाइमपीस सहित इस बैठकखानेमें यह सब फिर देखना आश्चर्य था। किन्तु इस बार बिल्कुल भिन्न रूपमें यह समाप्त होने जा रहा था।

तब रैनीकी वाणी गूंज उठी, उदासीन, दृढ, तीव्र, लोहेकी झंकार तुल्य। 'मैं नहीं जाऊंगी,' इतना मात्र उसने कहा। और घंटा बज उठा। एक बार बजा, दूसरी बार बजा, तीसरी बार, चार बार। और तब रैनीने अपने नेत्र उठाये तथा स्टर्ज मेनार्डको जवनिकाके किनारेसे आगे चलते देखा। स्टर्ज एक अच्छा निशानची था और उसके निशाना चूकने व रैनीको मारनेकी कोई सम्भावना नहीं थी! किन्तु उसे शंका-संभावना दूर करनी थी!

रैनीने अपनी गाढतामें एक अद्भुत आत्म-संयम बटोर लिया था, और यह अब भंग नहीं हुवा, रैनी न हिली, और न एक शब्द उच्चारण किया। किन्तु इसके नेत्रोंमें एक आभा आई, तीव्र निज प्रार्थनामें निज सूचना, सुझावमें कराल! कारण वह जीवनके लिये एक पुकार थी, हनन करनेका एक आदेश।

नियति—बद्ध मनुज घडीको देख रहा था, रैनीको नहीं, पीठ पीछेसे होनेवाले किसी सम्भव संकटकी ओर और भी कम। ज्यों ही आठवीं सुरीली झणझणाहट समाप्त हुई उसने ऊपर देखा और स्टर्जने क्षुद्र, दृढ, क्रूर नेत्र एकश्वापदके नेत्रों समान चमकते देखे। उस मनुजने अपनी अंगुली घोडे पर दबाई।

'घंटा बज चुका,' वह मनुज चिल्लाया। और ज्योंही वह बोला स्टर्जमेनार्डने पिस्तौल दाग दी। कमरा आवाजसे गूंज उठा, धूंवेंसे भर गया। जब धूंवां साफ हो गया, आगन्तुक नमदेपर प्रणत पडा दिखाई दिया, उसका सिर रैनीके चरणोंपर पडा था जिसे उस आगन्तुकने वध्य निर्णीत किया था।

रास्तेकी सीढियोंपर दौडनेकी आवाज आयी और नौकरानी रशेलने अंदर प्रवेश किया— जैसा कि वहां पडे उस आगन्तुकने भ्रम निरूपण किया था। जब वह आयी, वह कांप रही थी, किन्तु उसने उस मनुजको नमदे पर देखा, ठिठकी, अपनेको व्यवस्थित किया, और मुस्कराई। 'हमें तुरन्त कोहरेमें इसे बाहर ले जाना चाहिये,' फ्रेंचमें मात्र उसने इतना कहा। समकालिक प्रवृत्तिमें दोनों, रशेल और स्टर्ज, शव समीप पहुंचे। तब रैनी, उत्तेजित आवेगमें

आकर, स्टर्जकी ओर दौडी और उसके कंधेपर अपना हाथ रखकर मानो उसे कमरेसे बाहर धकेलनेकी चेष्टा की।

'मैं इसकी देख भाल कर लूंगी।' रैनी गिडगिडायी, 'तुम जाओ।' स्टर्ज रैनीकी ओर मुस्कराता हुवा मुडा।

'तुम्हें तुरन्त चले जाना चाहिये,' रैनीने दोहराया, मेरी खातिर इस घरमें मत रहो। रशेलके अतिरिक्त दूसरोंने भी पिस्तौलकी आवाज सुनी होगी।'

किन्तु स्टर्जने उसकी कलाई पकडी, अंगीठीके पाससे उसे हटा ले गया और एक कुर्सीपर बैठा दिया।

'हम समय गंवा रहे हैं,' रशेलने फिर कहा।

'रशेल! समय खोना बेहतर है,' स्टर्जने उत्तर दिया, 'हम 'भाग्य' को दस मिनट देंगे।' तथैव नौकरानीने सिर हिलाकर अनुमोदन किया और शवके पास पहुंच अपने गमछेसे जख्मको यथाविधि दबाने लगी। स्टर्ज व रैनी निःशब्दतः प्रतीक्षा करते रहे, यदि किसीने पिस्तौलकी आवाज सुनली हो और वह उनपर आ टूटे तो उसको विवरण देनेके लिये स्टर्ज अपने मनमें बयान व्यवस्थित करता रहा। किन्तु मौन व कोहरा घरके चारों ओर जडा था।

उन्होंने शवको उठा लिया। 'यदि कोई देख ले, तो हम कहेंगे कि हम एक पियक्कडको घर लेजा रहे हैं,' स्टर्जने कहा। 'इसे सावधानीसे ले चलो; लहूकी कोई बूंद जमीन पर न गिरे।' अतएव उस 'आंग्ल' कोहरेमें वे उस मनुजको बाहर ले गये जो विदेशसे जीवित आया था और उसे आम रास्ते पर लेटा दिया उस मकान और उस चौकसे बहुत दूर जहां वह समाप्त हुवा था। जब वे कमरे पर वापस आये, रशेलने लहू-सना नमद व गमछा ले लिया जो इस कृत्यके जो किया जा चुका था, मात्र साक्षी थे।

'मैं इन्हें नष्ट कर दूंगी,' नौकरानीने कहा, 'और रैनीके कमरेसे दूसरा नमदा ले आऊंगी। और तब,' पहलेकी तरह वह सामान्यतः बोली, 'स्टर्ज और रैनी भोजन करेंगे।'

रैनी थरथराई और स्टर्जकी ओर देखा। 'जब तक लाशका पता लगे,' स्टर्ज बोला, 'मैं यहां रहूंगा। आजसे हम दोनों सदाके लिये और मुख्यतः बंध गये हृदाली!' और जैसे ही स्टर्जने अनभ्यस्त नाम पर धीरेसे जोर दिया, उसके नेत्रोंमें एक आभा दिखाई पडी जिसका विरोध करनेका साहस रैनी नहीं कर सकी।

उस रात्रि, जब रैनी अपने कमरेमें चली गई, अग्निकाके पास बैठे स्टर्जने स्मरण किया कि उसने रैनीसे वह विचित्र वृत्तान्त नहीं कहा था जो आज एक शोकप्रद अवस्था लाया था और दूसरीको रोक दिया था। जब वह रैनीके कमरेमें गया, वह उसके पास आयी।

'अहो, स्टर्ज, स्टर्ज!' रैनी पुकार उठी, सोचो यदि अकस्मात् तुम न आगये होते, तो तुमसे, भगवान्के सुन्दर संसारसे छीनी जाकर, अब मैं मुर्दा होती।'

अकस्मात्! अकस्मात् नामकी कोई वस्तु इस सृष्टिमें नहीं है, स्टर्जने विचार किया। तब किसने दी थी उसे वह रहस्यमय चेतावनी? किसने उसे हाथमें रिवाल्वर थमा दी थी? या किसने उसे हत्या-कार्य पर भेजा था? ठीक समय पर किसने इमोजनको वार्तालापसे उठा दिया था? बैठक खानेमें किसने पिस्तौल दाग दी थी? अन्तर्वासी भगवान्ने? बहिर्वर्ती भगवान्ने? प्राच्योंने मनुजमें भगवान्की चर्चाकी है। अवश्य वह वही है। और तत्पश्चात् लौट आये उसकी स्मृतिमें वे भीषण भाव, घृणा जो उसमें उबल उठी थी, आवेग और हत्याका आह्लाद, उल्लासका वह गीत जिसे उसके रक्तने अब भी उसकी धमनियोंमें गुनगुनाया, क्योंकि एक मनुज जो जीवित रहा था, मृत था और जीवनके प्रति पुनः नहीं लौट सकता था। रैनीके नेत्रोंका आदेश भी उसने याद किया। मनुजमें भगवान्? तब क्या भगवान् मनुजमें एक हत्यारा है? उसमें? और रैनीमें?

'ऐसा सोचना अतिही बारीकीसे खोज करना है,' उसने परिणाम निकाला, 'किन्तु अवश्य ही बडी विचित्रतासे उसने अपना जगत् बनाया है।'

तत्पश्चात् स्टर्जने रैनीसे जर्मन गुह्य वेत्ताके सम्बन्धमें तथा मायिक घंटेकी झंकारके सम्बन्धमें कहा जो दोनोंकी नियतियोंके इस शोकप्रद क्षणमें उसे रैनीके पास ले आयी थी। और जब उसने अन्तर्वासी देवताकी चर्चाकी, पुरुषकी अपेक्षा नारी बेहतर समझी।

विश्वशान्तिका आध्यात्मिक मार्ग

[जगद्गुरु श्री भारती कृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धन मठ, पुरी]

(अनुवादक— श्रुतिशील शर्मा, तर्कशिरोमणि)

★

परमदेवकी इस रचनामें मनुष्यकी रचना अन्तिम सीमा है, वह इस रचनाका मुकुट है। जानते हुए या न जानते हुए सभी इस बातको स्वीकार करते हैं कि इतर प्राणिमात्र से हम श्रेष्ठ हैं।

एक मनुष्य (मननशील) होनेके नाते हम सबको इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करके स्वयंसे पूछना है कि 'उपरोक्त कथनमें सत्यता कितनी है? उपरोक्त विश्वास क्या भ्रान्तिमात्र है अथवा उसके मूलमें कुछ सत्यता है? यदि यह बात ठीक है, कि मनुष्य ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ कृति है, तो मनुष्यको अपनी अपूर्वताको प्रगट करनेकी अथक कोशिश करनी चाहिए। और यदि मनुष्यका यह मन्तव्य भ्रान्तिपूर्ण है, तो उसे यह समझ लेना चाहिए कि उसका और इतर प्राणिमात्रका स्तर एक है।

पर यदि किसी मनुष्यके सामने यदि विचार रखा जाए कि उसका और इतर प्राणिका स्तर एक ही है, तो वह अपना विरोध प्रकट करेगा और इस मन्तव्यको माननेके लिए कभी भी तैय्यार न होगा। पर यदि यह एक सत्य है, काल्पनिक नहीं तो मनुष्यमें वह गुण कौनसा है जिसमें उसकी महानता या श्रेष्ठताकी स्थिति है?

यह हमारे प्रतिदिनके अनुभवमें आनेवाली बात है, कि क्षुद्रसे क्षुद्र पदार्थमें भी अपनी एक विशेषता होती है, उसका भी अपना एक महत्व होता है, और हम उस पदार्थका उत्तम उपयोग करके उससे यथासाध्य लाभ पानेका प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार यदि हममें कुछ विशेषता है या कुछ श्रेष्ठताके तत्व हैं जो कि हमें इस रचनाका मुकुट मणि बनाते हैं, तो हमें उन तत्वोंको पहचानना चाहिए और उनका भरपूर फायदा उठाना चाहिए।

भौतिक शरीरकी दृष्टिसे उसकी महानता नगण्य सी ही है। हाथी, गैंडे तथा अन्य अनेकों प्राणी मानवकी अपेक्षा कई गुने अधिक बडे और शक्तिशाली हैं। दूसरे पहलुओं की दृष्टिसे भी मनुष्य दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा हीन ही ठहरता है।

अन्तमें हमें यही कहना पडता है कि उसके अन्दर आध्यात्मिकताकी ही एक ऐसी विशेषता है, जो उसे अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बना देती है। उसके अन्दर बुद्धिमत्ताकी भी प्रतिष्ठा है। यहां बुद्धिमत्तासे मेरा तात्पर्य छलकपटसे नहीं, अपितु उस बुद्धिसे है, जो आध्यात्मिकतासे प्रेरित होकर कार्य करती है। यही मानवकी मुख्य विशेषता है।

दूसरोंकी भलाईके लिए, अपने स्वार्थके लिए नहीं, अपितु अपनी जाति, राष्ट्र तथा विश्वकी भलाईके लिए हमने अपने इस गुणका कितना उपयोग किया है? हमने किस रूपमें अपनी बौद्धिक और आध्यात्मिक सेवायें मानवताके लिए अर्पितकी हैं?

यदि हम इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार करें, तो बडे खेदके साथ (केवल खेद ही नहीं, अपितु लज्जासे अवनत मुखके साथ) इस बातको हमें स्वीकार करना पडेगा कि एक मनुष्य होनेके नाते हमने अपने साथ ठीक न्याय नहीं किया?

'कालका चक्र बडा अद्भुत, गतिशील और विलक्षण होता है।' इस परिवर्त्तनशील समयने आज हमारे आदर्शों, मस्तिष्कों और जीवनके तरीकोंमें बडी भारी विभिन्नता उत्पन्न कर दी है। आज हम उस स्थितिमें पहुंच गए हैं, जहां हमें हर समय इसी बातका भय लगा रहता है कि न जाने किस क्षण महायुद्धके नगाडे बजने शुरु हो जाएं।

आज सर्वत्र ऐसी ही अवस्था है और आजका मनुष्य अपनी पूरी बौद्धिक और शारीरिक शक्ति लगा कर भी इस स्थिति का मुकाबला नहीं कर पा रहा है।

आज सभी मानवोंकी प्रवृत्ति उस दिशाकी ओर हो रही है, जिसमें मानवताकी भलाईके लिए कोई अवकाश नहीं। प्रत्येक धर्मके आचार्य, प्रत्येक विचारक इस बातसे सहमत हैं कि मनुष्योंमें विचारोंका भेद भले ही हो, उनके रास्ते भी भले ही पृथक् पृथक् हों, उनके मतोंमें भी भले ही विभिन्नता हो, पर उन सबका उद्देश्य एक ही है और वह है सुख और शान्तिकी प्राप्ति। हमारे धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। हमारे सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय, और उनके भी उपसम्प्रदाय अनेकोंकी संख्यामें हैं, और इनमें भी पारस्परिक मतभेद अपनी अपनी पराकाष्ठा पर हैं। पर जहां तक उद्देश्यका सम्बन्ध है, किसीका किसी प्रकारका मतभेद नहीं। उद्देश्यके प्रश्न पर आकर सबके मतभेद विलीन हो जाते हैं।

वह उद्देश्य क्या है? यदि हम इसे दार्शनिक भाषामें कहना चाहें तो कह सकते हैं, जैसा कि उपनिषद्में भी कहा है, कि मनुष्यका उद्देश्य है. 'पूर्णता-प्राप्ति'। कैसी पूर्णता? क्या भौतिक पूर्णता? हां, क्या शारीरिक पूर्णता? हां, क्या राजनैतिक, शैक्षणिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक पूर्णता? हां, मतलब यह कि सर्वांगीण पूर्णताकी प्राप्ति ही मनुष्यका अन्तिम ध्येय है।

प्रत्येक मनुष्य मजबूत, स्वस्थ और किसी भी रोगसे अप्रभावित शरीर चाहता है। मनुष्यकी यह इच्छा केवल शरीरतक ही सीमित नहीं रहती, अपितु वह मानसिक स्वास्थ्य भी चाहता है। कोई भी एकांगी विकासका आकांक्षी नहीं होता। अतः पूर्णताका अर्थ सीमित नहीं है। हम सर्वांगीण पूर्णताकी अभिलाषा करते हैं।

यही वह उद्देश्य है, जिसकी मानव सदासे खोज करता आया है। पर आज हम इन सभी पूर्णताओंको व अपनी अभिलाषाओंको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं।

अपनी अपूर्व बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियोंकी प्रवृत्तियोंको बदलनेके लिए हमने अबतक क्या किया और अब भी हम क्या कर रहे हैं? हमारे पास आज अपनी अभिलाषाओंके अनुरूप शारीरिक मानसिक, शैक्षणिक सांस्कृतिक पदार्थ हैं। पर इन सबके परिणाम स्वरूप किस प्रकारकी जटिल स्थिति हमारे सामने है, यह प्रत्यक्ष है।

समय समय पर हमारे अन्दर ऐसे विचार पैदा होते हैं कि इस भयानक आपत्तिको समाप्त करनेके लिए कुछ न कुछ करना चाहिए। सभी समृद्धियां विश्वशान्तिपर आधारित होनेके कारण सभी विश्वशान्तिकी कामना करते हैं। यहां समृद्धि शब्द अनेकार्थक है। शारीरिक स्वास्थ्य, आर्थिक दृढता, सैनिक शक्ति सभीका अन्तर्भाव इस शब्दमें हो जाता है। हम अपनी इच्छानुसार सभी पदार्थोंका उपभोग कर सकते हैं, पर जब तक शान्तिका अभाव है, तब तक हम इन सुविधाओं व पदार्थोंसे सच्ची सन्तुष्टि नहीं पा सकते।

इस स्थितिपर पहुंचकर हमें सर्वांगसमन्वित आध्यात्मिकतापर विचार करना पडता है और एक ऐसे 'गठन' का निर्माण करना पडता है, जिसमें शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विचारोंका समावेश हो जाए, जिसमें इन सभीका मेल बैठ जाए। शरीरके पीछे बुद्धि है और बुद्धिके पीछे सबका प्रेरक आत्मा बैठा हुआ है। ये बहुमूल्य तत्व हमारे अन्दर हैं तो सही, पर क्या हम उनका सही उपयोग भी कर रहे हैं?

यदि हम इसपर ईमानदारीसे अन्तर्निरीक्षणात्मक अध्ययन करें, तो हम एक ऐसी अन्तिम सीमा पर पहुंचेंगे, जहां केवल मानवताकी भलाई ही है। यह प्रत्येक विचारशील प्राणीको इस बातकी प्रेरणा देता है कि वह स्थितिके हर पहलूको ध्यानसे पढे, उसके गुणावगुण पर विचार कर मानवताको उसके वास्तविक उन्नतिकी दिशामें प्रवृत्त करे। इसमें 'यदि' और 'परन्तु' आदि शब्दोंके लिए कोई अवकाश नहीं है। यहां मनुष्यकी वास्तविक उन्नति है; यहीं पर आकर मनुष्य अपने उत्तरदायित्वको पहचान सकता है।

हम इस पर धार्मिक दृष्टिसे भी विचार कर सकते हैं। बाइबिलका कथन है कि 'मनुष्य परमात्माकी श्रेष्ठतम कृति है, परमात्माने मनुष्यको अपने प्रति रूप ही बनाया है।'

भारतीय शास्त्रोंका इस विषयक कथन भी तत्सदृश ही है। वेदोंके अनेक मंत्र मनुष्यकी श्रेष्ठताकी घोषणा करते हुए उसके उत्तरदायित्वोंको बताते हैं। उसको परमात्माने

इतनी सुविधायें प्रदान की हैं, जितनी अन्य प्राणियोंको नहीं दीं। पर सुविधाका उत्तरदायित्वके साथ सम्बन्ध अटूट है। जहां सुविधा है वहां कठोर उत्तरदायित्व भी है। और जहां तक हम अपने कर्त्तव्योंके प्रति सजग हैं, वहांतक हम अपनी महानताके प्रति भी सजग हैं।

जिस प्रकार एक डॉक्टर किसी रोगके लक्षणोंपर विचार कर फिर उसकी चिकित्सा करता है इसी प्रकार हमें भी करना होगा। आज मानवता किसी रोगसे पीड़ित है। आस्तिकसे लेकर नास्तिक तक प्रत्येक धर्मका प्रत्येक व्यक्ति इस बातको अनुभव करता है कि आज विश्व बड़ा विकृत हो चुका है और उसे सुधारनेकी आवश्यकता है।

सुधार आवश्यक है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम परमात्माकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट पदार्थ बनाना चाहते हैं। जैसे कि एक सुनिर्मित घर टूट जाता है, तो हम उसे सुधारते हैं। हम पदार्थोंको सुधार कर उसे यथायोग्य स्थितिमें ले आते हैं। हमारे शरीरकी सामान्य स्थितिमें कुछ बिगाड़ होना जाना ही डॉक्टरोंकी भाषामें रोग है।

मनुष्यके रोगके लक्षणको जाननेके लिए हमें सर्व प्रथम उसके उस पहलू पर विचार करना पड़ता है, जो उसे अन्य प्राणियोंसे पृथक् करता है। वह पहलू है, उसके अन्दर स्थित 'दैवीभाव' (Divinity), विकासकी चरमसीमा तक पहुंचनेकी शक्ति। इस छिपी हुई शक्तिको प्रकाशमें लाना या प्रकट करना आवश्यक है, ताकि उससे संसार लाभ उठा सके। जो समाजके लाभप्रद है, वह समाजकी इकाई एक व्यक्तिके लिए भी स्वभावतः ही लाभप्रद होता है।

आपत्तिको दूरीकरणके पूर्व उसके मूल कारणको जान लेना जरूरी होता है। यदि किसी रोगके लक्षणोंका ज्ञान ठीक ठीक हो जाए तो उसका इलाज आसान हो जाता है। कभी कभी अतिरिक्त दवायें भी देनी पड़ती हैं, पर साधारणतया मूल कारणका विनाश ही स्वास्थ्यको पुनः प्राप्त करनेके लिए पर्याप्त होता है। यही कारण है कि चिकित्साप्रणालीमें लक्षणोंके ज्ञानका (Dignosis) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

विश्वकी वर्तमान स्थितिका मुख्य कारण धार्मिक विचारों व भावनाओंका अभाव है। धर्मके नामपर आजतक न जाने कितनी लड़ाईयां लड़ी गईं। ११ वीं शतीसे १३ वीं शती तक यूरोप निवासियोंने धार्मिक लड़ाइयोंका संचालन किया। उन स्वार्थियों, गुण्डोंने लोगोंको बहकाया कि विपरीत विचारवालोंका जीवित रहना अनुचित है। अनेकों शताब्दियोंतक ईश्वरके नामपर यह झगड़ा चलता रहा।

इंग्लैण्डके इतिहासमें राजा रिचार्ड प्रथमका नाम व उसके कारनामें अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो कि उसने इन झगड़ोंके दौरानमेंकर दिखाए थे। उसकी यह आज्ञा सी थी कि विपरीत धर्मवालोंका तथा हमारा एक सूर्यके प्रकाशमें रहना असम्भव है, सारांश यह कि उनका पृथ्वीपर जीवित रहना ही सर्वथा अनुचित है। इस तरहकी विचारधारा उस समय सारे इंग्लैण्ड पर छा गई थी। पर इस प्रकारकी विचारधाराके लिए न कोई आध्यात्मिकताका आधार था, और न नैतिकताका। इसके पीछे उनका दम्भ और अहंकार काम कर रहा था, वे बड़े गर्वसे कहते थे कि 'हम स्वर्गके पारपत्र (Passport) पानेके अधिकारी हैं। पर हम स्वर्ग पाकर ही चुप नहीं बैठ सकते। हमारी सन्तुष्टि तब तक नहीं हो सकती, जबतक कि हम अन्य धर्मावलम्बियोंको नरक न भेज दें।'

सन्त पीटरने क्रूसेड (एक प्रकारका युद्ध, जो मुसलमानोंसे उनके पवित्र स्थानोंको छीननेके लिए ईसाई किया करते थे) का प्रचार किया, और यूरोपके राजा और उनकी प्रजाओंने उस सन्तके आदेशोंका अनुकरण किया और क्रूसेड जारी रखा। पर इससे दो बातें स्पष्ट हो गईं, एक—यह युद्ध वस्तुतः शक्तिका व्यर्थ नाश था। क्योंकि उन धर्मान्धोंके लिए यह युद्ध सफलताकी दृष्टिसे कोई लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ, इसके विपरीत प्रजापर इसका अनिष्ट कारक परिणाम ही पड़ा, फलतः प्रजा इस युद्धके व्यर्थताको समझ गई। साथ ही वे यह अच्छी तरह समझ गईं कि भले ही यह युद्ध दीर्घकाल तक चले, उसमें उन्हें विजय मिलनेवाली नहीं है। यह पहली बात थी। दूसरी बात थी उनके हृदय परिवर्त्तनकी। जब उन्होंने समझ लिया कि उनके अन्दर स्थितियोंको बदलनेका सामर्थ्य नहीं है, और हर हालतमें उन्हें भवितव्यके सामने झुकना ही पड़ेगा, तो उनके हृदयोंमें परिवर्तन होने लगा।

सम्राट् रिचार्ड प्रथमके जीवनमें ही एक ऐसी घटना घटी, जिसने उसके हृदयको सर्वथा बदल दिया। उन दिनों

इंग्लैण्ड तथा अन्य देशोंमें मातापिता अपने शैतान बच्चोंको सलादीन (एक मुसलमान योद्धा) का नाम लेकर डराया करते थे। यह बात रिचार्डको भी मालूम थी। सलादीन निर्दयता तथा बुराइयोंका साक्षात् अवतार माना जाता था।

अपने शासनकालमें राजा रिचार्ड एकबार भयंकर रूपसे बीमार पड गया कि उसके वैद्य भी उसकी चिकित्सा करनेमें असफल हो गए और उस रोगको वैद्योंने नाइलाज करार दे दिया। सलादीनने, जो एक योद्धा होनेके साथ साथ एक कुशल चिकित्सक भी था, अपने शत्रु (रिचार्ड) की इस बीमारीके बारेमें सुना, वह प्रच्छन्न वेषमें रिचार्डके पास गया, उसकी चिकित्साकी और उसे स्वस्थ कर दिया। इसने राजाको अत्यधिक प्रभावित किया।

उसने सोचा, ' क्या यह सलादीन वही आदमी है, जो निर्दयताका अवतार माना जाता है, तथा जिसका नाम लेकर मातायें अपने बच्चोंको डराया करती हैं ? क्या सलादीन इस तरहका व्यक्ति है ? मेरे केम्पमें घुस कर भी उसने मुझे किसी तरहकी हानि नहीं पहुंचानी चाही। वह प्रच्छन्नवेषमें आकर मेरी चिकित्सा करता है। वह अवश्य ही उपकारी होगा। यदि ऐसे व्यक्तियोंके लिए नरकका विधान है, तो फिर मुझे सोचना पडेगा कि मुझ जैसे व्यक्तियोंको किस लोकका भागी बनना पडेगा। '

रिचार्डने अपने विचार बदले, उसने अपनी कमजोरी जान ली और क्रूसेडमें भाग लेनेवाले अपने सहयोगियोंके दोषोंको भी उसने अच्छी तरह जान लिया। ऑस्ट्रियाका ड्यूक व अन्य सहयोगी नैतिकताकी दृष्टिसे पतित थे। जब रिचार्डने इस बातको जान लिया कि वह किस प्रकारके शत्रुसे युद्ध कर रहा है, तो उसे क्रुसेड जारी रखनेमें कोई न्याय नहीं दिखाई दिया।

इसके बाद केथोलिक और प्रोटेस्टेण्टमें धर्मयुद्ध शुरु हुआ। इस निर्दयताको भी धर्मान्ध लोग ईश्वरके प्रति अपना कर्तव्य समझ कर करते थे। उपद्रवकारी कहते थे, ' यदि हम अपने शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए नहीं लडते हैं, तो हम अपने ईश्वरके प्रति द्रोही साबित होंगे।

ये युद्ध प्रायः सिद्धान्तों पर होते थे। पर उनमेंसे कई लडनेवाले तो उस सिद्धान्तके बारेमें कुछ ज्ञान भी नहीं रखते थे। तो भी वे अपने सिद्धान्तके मण्डन व दूसरोंके खण्डन करनेके लिए झगडा करते थे। वे सिद्धान्तोंमें मतभेद होनेके कारण परस्पर लडते थे।

पर समयके साथ साथ वे भी यह समझने लगे कि धर्म और सिद्धान्तोंके नाम पर लडना मूर्खता है। किसी भी राष्ट्रकी जनताके विचार एक से नहीं पाये जाते।

उदाहरणार्थ– यदि तुम किसी चित्रकलाकी प्रदर्शिनीमें जाओ तो वहां तुम्हारी रुचि कुछ चुने हुए चित्रोंमें ही रहेगी। एक महान् चित्रकार जिस चित्रको उत्तम और सुन्दर बताता है, उसे ही दूसरा ' कूडा ' कहता है। इसी प्रकार जो गान मुझे कर्णप्रिय लगता है, वही दूसरेको कर्णकटु सा प्रतीत होता है।

यही बात न्यायालयमें है। दो न्यायाधीश एक हत्यारेका निर्णय करने बैठते हैं। वे दोनों एक ही तरहकी जिरह सुनते हैं, एक ही तरहके तर्क सुनते हैं, एक ही तरहके कागजात देखते हैं, तथा उनके कानून भी समान ही हैं।

तो भी उन दोनों न्यायाधीशों के निर्णय भिन्न भिन्न हो सकते हैं। कभी वे दोनों सहमत भी हो सकते हैं और कभी असहमत भी।

इसलिये मतभेदोंके कारण झगडे पैदा करना बुद्धिमानीका काम नहीं है, और वे भी ऐसे झगडे कि जिसमें मनुष्योंके जीवन-मरणका प्रश्न सामने उपस्थित हो जाए।

मतोंमें, विचारोंमें तथा भावोंमें एकता कभी भी स्थापित नहीं की जासकती। इस लिए धार्मिक व मजहबी झगडोंको उचित नहीं कहा जा सकता। कोई भी धर्मशास्त्र ऐसे झगडोंका समर्थन नहीं करता।

(क्रमशः)

महर्षि महेश— उनके विचार और साधनपद्धति

[३]

[लेखक— श्री रामरक्खा, गुरुकुल कांगड़ी]

उद्देश्य

मनुष्यका अपना सत्तास्वरूप आनन्दसे पूर्ण है, आनन्द रूप ही है। परन्तु वह अपने सच्चे स्वरूपको भूल गया है। उसका वह अपना स्वरूप जो व्यापक, शाश्वत, अविनाशी, चेतन और आनन्द रूप है जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीन सापेक्ष दशाओंसे ढका हुआ है, इसलिये मनुष्यको इस अपने सच्चे स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती। मनुष्यके अनुभवमें आनेवाली ये तीनों दशाएं आती जाती हैं और बदलती रहती हैं। जागृतसे स्वप्न, स्वप्नसे सुषुप्ति और सुषुप्तिसे जागृत और फिर उसी क्रमसे ये अवस्थाएं आती जाती हैं। एक अवस्थाके बाद दूसरी अवस्थाके आनेमें जो संधिकाल होता है जिस कालमें पहली तो चली जाती है परन्तु दूसरी अभी आई नहीं होती, सूक्ष्मतासे विचार करनेपर इस संधिकालकी सत्ता माननी अवश्य पड़ती है। चाहे बहुत थोड़े समयके ठहरनेके कारण इस कालकी वैसी स्पष्ट अनुभूति न हो, परन्तु संधि होनेवाली दो दशाओंके मध्यका ऐसा काल जिसमें इन दोनों दशाओंका अभाव रहता है, होती अवश्य है। वही त्रिकालाबाधित और तीनों दशाओंसे विलक्षण सबका अपना स्वरूप है। और उसीसे इन सापेक्ष दशाओंकी उत्पत्ति होती है।

ऐसा कहा जा सकता है कि वह काल तो शून्य है या शून्यके समान है, अभाव रूप ही है। परन्तु क्योंकि अभाव और शून्यसे तो कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता और उससे तो सभी स्थितियां और दशाएं पैदा हो रही हैं और वह इन तीनों दशाओंका आधार तथा इनमें हमेशा अनुस्यूत रहनेवाली दशा है अतः यह शून्य या अभाव रूप नहीं हो सकती। ये जागृत, स्वप्न, सुषुप्तिकी तीनों दशाएं एक दूसरीसे बाधित होती रहती हैं, एक दूसरेकी अपेक्षावाली (Relatiue) स्थितियां है। ये तीनों स्थितियां किसी एक कालमें प्रतीत होती हैं और दूसरे कालमें इनकी प्रतीति नहीं होती और एक दूसरेकी अपेक्षासे जानी जाती हैं। परन्तु वह स्थिति नहीं है सत्ता है निरपेक्ष, सत्य, स्वयं प्रकाश और शाश्वत है। उस सत्ताके अस्तित्वसे ही ये तीनों दशाएं जानी जा रही हैं। इस शाश्वत, निरालम्ब, भावातीत सत्ताको अपना स्वरूप बना लेना ही साधनाका उद्देश्य है।

साधनाका कार्य

वह स्वरूप इन तीन दशाओं रूपी पर्दोंसे ढका हुआ है। इसलिये साधना ऐसी होनी चाहिये जो इन पर्दोंको हटाकर उस भावातीत तत्वके दर्शन करवा दें। और फिर वह दर्शन स्थिर हों और मनुष्यका स्वभाव बन जाएं। जब तक मनुष्यका शरीर रहता है, तबतक इन जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी स्थितियोंके पर्दोंका अत्यन्त अभाव तो हो नहीं सकता, ये सर्वथा हटाए नहीं जा सकते। साधना वह युक्ति है जिससे जीवित दशामें ही इन पर्दोंको ऐसा स्वच्छ और पारदर्शक बना दिया जाता है कि इनके होते हुए भी वह तत्व इनसे ढका न रहे। उसकी ज्योति तथा प्रकाश इन पर्दोंके बीचमें झिलमिल करता हुआ दीखता रहे और आंखसे ओझल न हो जाए। पर्दोंमेंसे ढकनेके सामर्थ्यका अभाव कर देना साधनाका कार्य और स्वरूप है। साधनासे, ध्यान योगकी पद्धतिसे इन पर्दोंकी अन्धकारमयता और स्थूलता नष्ट कर दी जा सकती है और ऐसी

स्थिति प्राप्त की जा सकती है कि तीनों दशाओंके वर्तमान होते हुए भी स्वरूपकी विस्मृति न हो ।

साधनाका प्रकार

इस तरह, प्रगाढ ध्यान शैलीसे बार बार मनको उस आनन्दमयी स्थितिमें डुबोने और बाहर निकालनेसे मनका रूपान्तर होने लग जाता है । और मनपर ये दशाएं अपना प्रभाव डालना बन्द कर देती हैं । इस शैलीमें मनके साथ लडाई झगडा नहीं किया जाता, न उसका निग्रह किया जाता है । न उसे रोकनेका यत्न किया जाता है, न एक स्थान पर लगानेकी कोशिश की जाती है । मनको केवल भगवान् नामका एक सूक्ष्म आधार दिया जाता है ताकि वह उस आधार पर चेतन बना रहे और अपने सहज स्वभावसे अपने आनन्द रूपी स्रोतमें चला जाए और भावातीत सत्तामें निमग्न हो जाए ।

यह मार्ग जपका मार्ग भी नहीं है, क्योंकि इसमें जपके चालू रहनेपर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता, न संख्याका ख्याल किया जाता है । नामको केवल आधार बना कर शीघ्रसे शीघ्र मनको भावातीत सत्तामें पहुंचाया जाता है और उससे परिचित करवाया जाता है ।

इस ध्यानकी शैलीमें किसी स्थान या पदार्थ पर ध्यानको केन्द्रित भी नहीं करना पडता और न ही ध्यान पर जोर दिया जाता है । इसमें ध्यानकी प्रगाढता अपने आप ही होने लग जाती है । मनको नामका एक हलका सा काम देकर उसे भावातीत दशासे परिचित करवाया जाता है ।

इस साधनाका आधार भूत सिद्धान्त है कि मनकी स्वाभाविक गति आनन्दकी ओर है, परन्तु क्योंकि उसे अपने अन्तरिम आनन्दका पता नहीं है, इसलिये वह उस ओर नहीं जाता और न ही इस ओर मुडनेकी उसे जांच है । इस साधनासे मनको इससे परिचित होनेकी कला हाथमें आ जाती है ।

जब एक नाम लिया जाता है तो दूसरा स्वयं ही सूक्ष्मता की ओर चला जाता है । इसमें जगत्को छोडने या विमुख होनेके लिये संघर्ष नहीं करना पडता, सूक्ष्मतामें मनको अधिक सुख मिलता है, इसलिये वह अपने आप उस ओर मुड जाता है ।

मानसिक जपको द्वार बनाकर भावातीत दशामें पहुंचाना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि यदि जप छोड कर ऊपरके स्तरोंमें ही चुपचाप शान्त होकर बैठनेका यत्न किया जाता है तो मन आलसी हो जाता है, और उसमें प्रकृतिकी सूक्ष्म स्थितियोंको अनुभव करके उनके पार जानेकी योग्यता नहीं आती और न ही भावातीत सत्तामें पहुंच सकता है । नाम हो या रूप हो किसी न किसी आधारको लेकर, मार्ग बना कर, मनको सूक्ष्म प्रकृतिकी दशाओंसे परिचित करवा कर भावातीत दशामें पहुंचाना आवश्यक है ।

इस ध्यान शैलीमें मानसिक चिन्ताएं और परेशानियां कोई बाधा नहीं पहुंचा सकती, क्योंकि मंत्रके सूक्ष्म होने पर चिन्ताओंका बोझ स्वयमेव हलका हो जाता है । यह साधना मानसिक परेशानियोंको दूर करनेकी क्षमता रखती है और इसीलिये ये मानसिक दोष इसमें विघ्न नहीं डाल सकते । इस मार्गमें विघ्न कोई नहीं है । भगवान् ने स्वयं गीतामें कहा है—

> नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

इस मार्गमें आरम्भ किये हुए का नाश नहीं होता और उलटा फल भी-विघ्न भी—नहीं होता । इसका थोडासा आचरण भी महान् भयसे बचाता है । साधना आरम्भ कर देने पर भावातीत सत्तासे मनुष्यका परिचय हो ही जाता है । उसमें विघ्नोंसे रुकावट नहीं होती ।

साधककी सूक्ष्मताको अनुभव करनेके लिये भगवान्के छोटे नामका सहारा लिया जाता है । इससे मन दूसरी बार नामोच्चारण करते हुए परिचित नामके आने पर शीघ्र सूक्ष्मतामें चला जाता है । बडे लम्बे मंत्रके जपसे उतनी सुविधा नहीं होती । इस सब साधना शैलीमें साधकको अपने आप कुछ नहीं करना पडता । इसमें यही सरलता है कि स्वाभाविक जैसी परिस्थिति आती है उसीके अनुसार चलना पडता है, उसे ही स्वीकार करना पडता है । भगवन्नामके प्रभावसे ही संपूर्ण मार्ग जलदी तय होजाता है ।

साधनाका यह फल होता है कि आलसी व्यक्ति उद्यमी हो जाता है, दुर्बल सबल बन जाता है, मूर्ख बुद्धिमान हो

जाता है, अशान्त शान्त होजाता है, जो अधिक सोता है वह कम सोने लगता है, जिसे नींद नहीं आती उसे नींद आने लग जाती है। साधनासे तेजस्विता बढती है और मनुष्य स्वभावसे ही सच्चरित्र बनने लग जाता है।

इसमें कोई भाव या विचार नहीं बनाना पडता। न संकल्पों, स्मृतियोंकी ओर ध्यान देना पडता है, न अर्थका ध्यान करना पडता है, न किसी विचार या भावको हटाना और न लाना पडता है। केवल नाम रूपी नौका पर बैठकर भवसागरको साधक तर जाता है।

इस साधनामें प्राण, मन तथा शरीरके व्यापारोंमें कोई परिवर्तन करनेका प्रयत्न नहीं करना पडता। साधनाके प्रभावसे ही प्राण, मन और शरीर अपनी स्वाभाविक दशामें रहने लग जाते हैं।

साधनाका फल

ध्यान योगकी इस पद्धतिसे साधकका मन बार बार अभ्यासके प्रभावसे उस आनन्द स्वरूप भावातीत तत्वमें निमज्जित होता है और उस रसको साथ लेकर बाहर निकलता है। जैसे किसी कपडेको रंगमें डुबोया जाए और बाहर निकाला जाए तो बाहर निकाले जानेपर वह रंग कुछ फीका पड जाता है, इसी प्रकार पहले पहले मन जब बाहर व्यवहारमें आता है तो वह आनन्द कुछ फीका पडता दीखता है। धीरे धीरे ऐसी स्थिति आ जाती है कि वह मन अन्दर और बाहर समान रूपमें उस आनन्द रसमें पडा हुआ रहता है और व्यवहार कालमें भी उसके आनन्दमें कमी नहीं आती। यही मानव जीवनका चरम लक्ष्य और अभिप्रेत फल रूपी जीवन मुक्तिकी दशा है, जब कि जीवित दशामें ही मनुष्यका मन मुक्तस्वरूप हो जाता है और उस पर बाह्य परिवर्तनोंका ऐसा यह प्रभाव नहीं होता कि वे उसे अपने उस स्वरूपसे विचालित कर सकें।

कपडेको रंगमें डुबोते हैं और बाहर निकाल कर धूपमें सुखाते हैं, अन्तमें ऐसा पक्का रंग उस कपडे पर चढ जाता है कि फिर धूपमें भी वह रंग फीका नहीं होता। इसी प्रकार मनकी दशा है। साधनकी परिपक्व अवस्थामें मनपर अपने स्वरूपके आनन्दका रंग इतना पक्का हो जाता है कि फिर वह व्यवहारमें भी उतरता नहीं। यह ध्येय इस साधनासे प्राप्त हो जाता है। जब तक ध्येय हस्तामलकवत् स्पष्ट प्राप्त नहीं हो जाता तब तक भावातीतमें जाना और बाहर आना रूपी साधनाको अनवरत जारी रखना पडता है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

[डा. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

अथर्ववेदीय पृथिवी-सूक्त (१२।१।१-६३) में मातृभूमिके प्रति भारतीयभावनाका सुन्दर वर्णन पाया जाता है। मातृभूमिके स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीय जनकी एकताका जैसा वर्णन इस सूक्तमें है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन मंत्रोंमें पृथिवीकी प्रशस्त वंदना है, और संस्कृतिके विकास तथा स्थितिके जो नियम हैं उनका अनुपम विवेचन भी है। सूक्तकी भाषामें अपूर्व तेज और अर्थवत्ता पायी जाती है। स्वर्णका वेश पहने हुए शब्दोंको कविने श्रद्धापूर्वक मातृभूमिके चरणोंमें अर्पित किया है। कविको भूमि सब प्रकारसे महती प्रतीत होती है, 'सुमनस्यमाना' कहकर वह अपने प्रति भूमिकी अनुकूलताको प्रकट करता है।

जिस प्रकार माता अपने पुत्रके लिए मनके वात्सल्य भावसे दुग्धका विसर्जन करती है, उसी प्रकार दूध और अमृतसे परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्वती धाराओंसे राष्ट्के जनका कल्याण करती है। कल्याण परंपराकी विधात्री मातृभूमिके स्तोत्र-गान और वंदनामें भावोंके वेगसे कविका हृदय उमंग पडता है। उसकी दृष्टिमें यह भूमि कामदुघा है। हमारी समस्त कामनाओंका दोहन भूमिसे इस प्रकार होता है, जैसे अडिग भावसे खडी हुई धेनु दूधकी धाराओंसे पन्हाती है। कवि की दृष्टिमें पृथिवीरूपी सुरभिके स्तनोंमें अमृत भरा हुआ है। इस अमृतको पृथिवीकी आराधनासे जो पी सकते हैं वे अमर होजाते हैं। मातृभूमिकी पोषण-शक्ति अनंत है। वह विश्वम्भरा है। उसके विश्वधायस् (२७)+ रूपको प्रणाम है।

मातृभूमिका हृदय

स्थूल नेत्रोंसे देखनेवालोंके लिए यह पृथिवी शिला-भूमि और पत्थर- धूलिका केवल एक जमघट है; किन्तु जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यानका बल है, वे ही भूमिके हृदयको देख पाते हैं। उन्हींके लिए मातृभूमिका अमर रूप प्रकट होता है। किसी देवयुगमें यह भूमि सलिलार्णवके नीचे छिपी हुई थी। जब मनीषियोंने ध्यानपूर्वक इसका चिंतन किया, तब उनके ऊपर कृपावती होकर यह प्रकट हुई। केवल मनके द्वारा ही पृथिवीका सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऋषिके शब्दोंमें मातृभूमिका हृदय परम व्योममें स्थित है। विश्वमें ज्ञानका जो सर्वोच्च स्रोत है, वही यह हृदय है। यह हृदय सत्यसे घिरा हुआ अमर है—

> यस्याः हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। ८

हमारी संस्कृतिमें सत्यका जो प्रकाश है, उसका उद्गम मातृभूमिके हृदयसे ही हुआ है। सत्य अपने प्रकट होनेके लिए धर्मका रूप ग्रहण करता है। सत्य और धर्म एक हैं। पृथिवी धर्मके बलसे टिकी हुई है (धर्मणा धृता)। महासागरसे बाहर प्रकट होने पर जिस तत्वके आधार पर यह पृथिवी आश्रित हुई, कविकी दृष्टिमें वह धारणात्मक तत्व धर्म है। इस प्रकारके धारणात्मक महान् धर्मको पृथिवीके पुत्रोंने देखा और उसे प्रणाम किया—

> नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
> (महाभारत, उद्योगपर्व)

सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगोंमें मूर्तिमान् होकर राष्ट्रीयसंस्कृतिका रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृतिका इतिहास सत्यसे भरे हुए मातृभूमिके हृदयकी ही व्याख्या है। जिस युगमें सत्यका रूप विक्रमसे संयुक्त होकर सुनहले तेजसे चमकता है, वही संस्कृतिका स्वर्णयुग होता है। कवि की अभिलाषा है- 'हे मातृभूमि, तुम हिरण्यके

+ कोष्ठकके अंक सूक्तांतर्गत मंत्रोंके अंक हैं।

संदर्शनसे हमारे सामने प्रकट होओ। तुम्हारी सुनहली प्ररोचनाओंको हम देखना चाहते हैं—

सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि । १८

युगविशेषमें राष्ट्रीय महिमाकी नाप यही है कि उस युगकी संस्कृतिमें सुवर्णकी चमक है या चांदी या लोहेकी। हिरण्य-संदर्शन या स्वर्णयुग ही संस्कृतिकी स्थायी विजय के युग हैं।

पुराकालमें मनीषी ऋषियोंने अपने ध्यानकी शक्तिसे मातृभूमिके जिस रूपको प्रत्यक्ष किया था, वह प्रत्यक्ष करनेका अध्याय अभी तक जारी है। आज भी चिंतनसे युक्त मनीषी लोग नये-नये क्षेत्रोंमें मातृभूमिके हृदयके नूतन सौन्दर्य, नवीन आदर्श और अछूते रसका आविष्कार किया करते हैं। जिस प्रकार सागरके जलसे बाहर पृथिवीका स्थूल रूप प्रकाशमें आया, उसी प्रकार विश्वमें व्याप्त जो ऋत है, उसके अमूर्त भावोंको मूर्तरूपमें प्रकट करनेकी प्रक्रिया आज भी जारी है। दिलीपके गोचारणकी तरह मातृभूमिके ध्यानी पुत्र उसके हृदयके पीछे चलते हैं—

यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः। १८

और उसकी आराधनासे अनेक नये वरदान प्राप्त करते हैं। यह विश्व ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ कहा गया है। ऊर्ध्वके साथ ही पृथिवीके हृदयका संबंध है। इसी कारण मातृभूमिके साथ तादात्म्य भावकी प्राप्ति ऊर्ध्वस्थिति या अध्यात्म-साधनाका रूप है। भारतीय दृष्टिसे मातृभूमिका प्रेम और अध्यात्म—इन दोनोंका यही समन्वय है।

मातृभूमिका स्थूल विश्वरूप

पृथिवीका जो स्थूल रूप है, वह भी कुछ कम आकर्षणकी वस्तु नहीं है। भौतिक रूपमें श्री या सौन्दर्यका दर्शन नेत्रोंका परम लाभ है और उसका प्रकाश एक दिव्य विभूति है। इस दृष्टिसे जब कवि विचार करता है तब उसे पृथिवी पर प्रत्येक दिशामें रमणीयता दिखायी पड़ती है—

आशामाशां रण्याम्। ५३

वह पृथिवीको विश्वरूपा कहकर संबोधित करता है। पर्वतोंके उष्णीषसे सज्जित और सागरोंकी मेखलासे अलंकृत मातृभूमिके पुष्कल स्वरूपमें कितना सौंदर्य है! विभिन्न प्रदेशोंमें पृथक्-पृथक् शोभाकी कितनी मात्रा है?—इसको पूरी तरह पहचान कर प्रसिद्ध करना राष्ट्रीय कर्तव्यका आवश्यक अंग है। प्राकृतिक शोभाके स्थलोंसे जितना ही हम अधिक परिचित होते हैं, मातृभूमिके प्रति उतना ही हमारा आकर्षण बढ़ता है। भूमिके स्थूल रूपकी श्रीको देखनेके लिए हमारे नेत्रोंका तेज सौ वर्ष तक बढ़ता रहे, और उसके लिए हमें सूर्यकी मित्रता प्राप्त हो (३३)

चारों दिशाओंमें प्रकाशित मातृभूमिके चतुरस्रशोभी शरीरको जाकर देखनेके लिए हमारे पैरोंमें संचरणशीलता होनी चाहिए। चलनेसे ही हम दिशाओंके कल्याणों तक पहुंचते हैं।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु। ३१

जिस प्रदेशमें जनताकी पदपंक्ति पहुंचती है, वही तीर्थ बन जाता है। पद-पंक्तियोंके द्वारा ही मातृभूमिके विशाल जनायन पंथोंका निर्माण होता है, और यात्राके बलसे ही रथोंके वर्त्म और शकटोंके मार्ग भूमि पर बिछते हैं—

ये ते पंथानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। ४७

चंक्रमणके प्रतापसे पूर्व और पश्चिममें तथा उत्तर और दक्षिणमें पथोंका नाडी जाल फैल जाता है। पर्वतों और महाकांतारोंकी भूमियां युवकोंके पद-संचारसे परिचित होकर सुशोभित होती हैं। 'चारिकं चरित्वा' का व्रत धारण करनेवाले चरक-स्नातक पुरों और जनपदोंमें ज्ञान-मंगल करते हैं और मातृभूमिकी समग्र शोभाका आविष्कार करते हैं।

आरंभिक भू-प्रतिष्ठाके दिन हमारे पूर्वजोंने मातृभूमिके स्वरूपका घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया था। उसके उन्नत प्रदेश, निरंतर बहनेवाली जल-धारायें और हरे-भरे समतल मैदान—इन्होंने अपनी रूप-संपदासे उनको आकृष्ट किया—

यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु। २

छोटे गिरिजाल और हिमशिखिका श्वेतमुकुट बांधे हुए महान् पर्वत पृथिवीको टेके खड़े हैं। उनके ऊंचे शृंगों पर शिलीभूत हिम, अधित्यकाओंमें सरकते हुए हिमश्रथ या बर्फानी गल, उनके मुख या बांकसे निकलनेवाली नदियां और तटांतमें बहनेवाली सहस्रों धाराएं, पर्वत-स्थली और द्रोणी, निर्झर और झुलती हुई नदी की तलहटियां, शैलोंके दारणसे बनी हुई दरी और कंदराएं, पर्वतोंके पार जाने-

वाले जोत और घाट- इन सबका अध्ययन भौमिक चैतन्यका एक आवश्यक अंग है। सौभाग्यसे विश्वकर्माने जिस दिन अपनी हविसे हमारी भूमिकी आराधना की, उस दिन ही उसमें पर्वतीय अंश पर्याप्त मात्रामें रख दिया था। भूमिका तिलक करनेके लिए मानों विधाताने सबसे ऊंचे पर्वत-शिखरको स्वयं उसके मुकुटके समीप रखना उचित समझा। इतिहास साक्षी है कि इन पर्वतों पर चढ कर हमारी संस्कृतिका यश हिमालयके उस पारके प्रदेशोंमें फैला। पर्वतोंकी सूक्ष्म छानबीन भारतीय संस्कृतिकी एक बडी विशेषता रही है, जिसका प्रमाण प्राचीनसाहित्यमें उपलब्ध होता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि देवयुगोंमें पर्वत सागरके अंत-स्तलमें सोते थे। तृतीयक युग (Tertiary Era) के आरंभमें लगभग चार करोड वर्ष पूर्व भारतीय भूगोलमें बडी चकनाचूर करनेवाली घटनाएं घटी। बडे-बडे भू-भाग उलट गये, पर्वतोंकी जगह समुद्र और समुद्रोंकी जगह पर्वत प्रकट हो गये। उसी समय हिमालय और कैलाश भू-गर्भसे बाहर आये। उससे पूर्व हिमालयमें एक समुद्र या पाथोधि था, जिसे वैज्ञानिक 'टेथिस्' का नाम देते हैं। जो हिमालय इस अर्णवके नीचे छिपा था, उसे हम अपनी भाषामें पाथोधि हिमालय (= टेथिस् हिमालय) कह सकते हैं।

जब से पाथोधि हिमालयका जन्म हुआ, तभीसे भारतका वर्तमान रूप या ठाठ स्थिर हुआ। पाथोधि हिमालय और कैलाशके जन्मकी कथाके लिए चट्टानोंके ऊपर-नीचे जमें हुए परतोंको खोलकर इन शैल-सम्राटोंके दीर्घ आयुष्य और इतिहासका अध्ययन जिस प्रकार पश्चिमी विज्ञानमें हुआ है उसी प्रकार इस शिलीभूत पुरातत्वके रहस्यका उद्घाटन हमारे देशवासियोंको भी करना आवश्यक है। हिमालयके दुर्धर्ष गंडशैलोंको चीर कर युमना, जान्हवी, भागीरथी, मंदाकिनी और अलकनंदाने केदारखंडमें, तथा सरयू-काली-कर्णालीने मानस खंडमें करोडों वर्षोंके परिश्रमसे पर्वतोंके दले हुए गंगलोडोंको पीस-पीसकर महीन किया है। उन नदियोंके विक्रमके वार्षिक ताने-बानेसे यह हमारा विस्तृत समतल प्रदेश अस्तित्वमें आया है। विक्रमके द्वारा ही मातृभूमिके हृदय-स्थानीय मध्यप्रदेशको पराक्रम-शालिनी गंगाने जन्म दिया है। इसके लिए गंगाको जितना भी पवित्र और मंगल कहा जाय कम है। कवि कहता है कि पत्थर और धूलिके पारस्परिक संग्रथनसे यह भूमि संवृत हुई है।

भूमिः संवृता धृता। २६

चित्र-विचित्र शिलाओंसे निर्मित भूरी, काली और लाल रंगकी मिट्टी पृथिवीके विश्वरूपकी परिचायक है—

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिम्। ११

यही मिट्टी वृक्ष-वनस्पति औषधियोंको उत्पन्न करती है, इसीसे पशुओं और मनुष्योंके लिए अन्न उत्पन्न होता है। मातृभूमिकी इस मिट्टीमें अद्भुत रसायन है। पृथिवीसे उत्पन्न जो गंध है वही राष्ट्रकी विशेषता है और पृथिवीसे जन्म लेनेवाले समस्त चराचरमें पायी जाती है। मिट्टी और जलसे बनी हुई पृथिवीमें प्राणकी अपरिमित शक्ति है। इसीलिए जिस वस्तुका और विचारका संबंध भूमिसे हो जाता है वही नवजीवन प्राप्त करता है।

हमारे देशमें ऊंचे पर्वत और उनपर जमी हुई हिमराशि है, यहां प्रचंड वेगसे चलती हुई वायु उन्मुक्त वृष्टि लाती है। कविको यह देखकर प्रसन्नता होती है कि अपने उपयुक्त समय पर धूलको उडाती हुई और पेडोंको उखाडती हुई मातरिश्वा नामक आंधी एक ओरसे दूसरी ओरको बहती है। इस दुर्धर्ष वातके बवंडर जब ऊपर-नीचे चढते हैं तब बिजली कडकती है और आकाश कौंधसे भर जाता है—

यस्यां वातो मातरिश्वा ईयते
रजांसि कृण्वन् च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वाति अर्चिः। ५१

जिस देशका आकाश तडित्वंत मेघोंसे भरता है वही भूमि वृष्टिसे ढक जाती है—

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता, ५२

प्रति वर्ष संचित होनेवाले मेघजालोंके उपकारका स्मरण करते हुए कविने पर्जन्यको पिता (१२) और भूमिको पर्जन्यपत्नी (४२) कहा है—

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे।

'पर्जन्यकी पत्नी भूमिको प्रणाम है, जिसमें वृष्टि मेदकी तरह भरी है।' मेघोंकी यह वार्षिक विभूति जहांसे प्राप्त

होती है उन समुद्रों और सिंधुओंका भी कविको स्मरण है। अन्नसे लहलहाते हुए खेत, बहनेवाले जल और महासागर-इन तीनोंका घनिष्ठ संबंध है—

यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो यस्यामन्नम्
कृष्टयः संबभूवुः। ३

दक्षिणके गर्जनशील महासागरोंके साथ हमारी भूमिका उतना ही अभिन्न संबंध समझना चाहिए जितना कि उत्तरके पर्वतोंके साथ। ये दोनों एक ही धनुषकी दो कोटियां हैं। इसीलिए रमणीय पौराणिक कल्पनामें एक सिरेपर शिव और दूसरेपर पार्वती हैं। धनुष्कोटिके समीप ही (कन्याकुमारीमें) महोदधि और रत्नाकरके संगमकी अधिष्ठात्री देवी पार्वती कन्याकुमारीके रूपमें आज भी तप करती हुई विद्यमान हैं।

कुमारिकासे हिमालय तक फैले हुए महाद्वीपमें निरंतर परिभ्रम करती हुई देशकी नदियों और महानदियोंकी ओर सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है। इस सूक्तमें कविने नदियोंके संतत विक्रमका अत्यन्त उत्साहसे वर्णन किया है—

यस्यामापः परिचराः समानी-
रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहां
अथो उक्षतु वर्चसा॥९॥

'जिसमें गतिशील व्यापक जल रात-दिन बिना प्रमाद और आलस्यके बह रहे हैं, वह भूमि उन अनेक धाराओंको हमारे लिए दूधमें परिणत करे और हमको वर्चस्से सींचे।' कविकी वाणी सत्य है। मेघोंसे और नदियोंसे प्राप्त होने वाले जल खेतोंमें खड़े हुए धान्यके शरीर या पौधोंमें पहुंच कर दूधमें बदल जाता है और वह दूध ही गाढा होकर जौ, गेहूं और चावलके दानोंके रूपमें जम जाता है। खेतोंमें जाकर यदि हम अपने नेत्रोंसे इस क्षीरसागरको प्रत्यक्ष देखें तो हमें विश्वास होगा कि हमारे धनधान्यकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी इसी क्षीरसागरमें बसती है।

यही दूध अन्नरूपसे मनुष्योंमें प्रविष्ट होकर वर्चस् और तेजको उत्पन्न करता है। कविकी दृष्टिमें पृथिवीके जल विश्वव्यापी (समानी-९) है। आकाश-स्थित जलोंसे ही पार्थिव जल जन्म लेते हैं। हिमालयकी चोटियोंपर और गंगामें उतरनेसे पूर्व गंगाके दिव्य जल आकाशमें विचरते हैं। वहां पार्थिव सीमाभावकी लकीरें उनमें नहीं होतीं। कौन कह सकता है कि किस प्रकार पृथिवी पर आनेसे पूर्व आकाशमें स्थित जल हिमालयके और कैलाशके शृंगोंकी कहां-कहां परिक्रमा करते हैं? भारतीय कवि गंगाके स्रोतको ढूंढते हुए चतुर्गंगम् और सप्तगंगम् धाराओंसे कहीं ऊपर उठ कर उन दिव्य जलों+ तक पहुंच कर द्युलोकमें गंगाका प्रभवस्थान मानते हैं। उनके व्यापक दृष्टिकोणके सम्मुख स्थूल पार्थक्यके भाव नहीं ठहरते।

भूमिके पार्थिव रूपमें उसके प्रशंसनीय अरण्य भी हैं। कृषिसंपत्ति और वन-संपत्ति, वनस्पति-जगत्के ये दो बड़े विभाग हैं। यह पृथिवी दोनोंकी माता है। एक ओर इसके खेतोंमें अथक परिश्रम करनेवाले—

क्षेत्रे यस्यां विकुर्वते। ४३

इसके बलिष्ठ पुत्र भांति-भांतिके व्रीहियवादिक अन्नोंको उत्पन्न करते हैं।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ। ४२

और लहलहाती हुई खेती— (कृष्टयः। ३) को देखकर हर्षित होते हैं, दूसरी ओर वे जंगल और कांतार हैं, जिनमें अनेक प्रकारकी वीर्यवती ओषधियां उत्पन्न होती हैं।

नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति। २

यह पृथिवी साक्षात् ओषधियोंकी माता है।

विश्वस्वम् मातरमोषधीनाम्,। १७

वर्षा ऋतुमें जब जलसे भरे हुए मेघ आकाशमें गरजते हैं, तब ओषधियोंकी बाढसे पृथिवीका शरीर ढक जाता है।

उस विचित्र वर्णके कारण पृथिवीकी एक संज्ञा पृश्नि कही गयी है। वे ओषधियां षड्ऋतुओंके चक्रमें परिपक्व होकर जब मुरझा जाती हैं तब उनके बीज फिर पृथिवीमें ही समा जाते हैं। पृथिवी उन बीजोंको संभाल कर रखने वाली धात्री है।

पृश्निः ओषधीनाम्,। ५७

समतल मैदान और हिमालय आदि पर्वतोंके उत्संगमें स्वच्छन्द हवा और खुले आकाशके नीचे वातातपिक जीवन बितानेवाली इन असंख्य ओषधियोंकी क्षमता कौन कह

+ ऐरियल वाटर्स।

सकता है ? इन्द्र-धनुषके समान सात रंगके पुष्प खिल कर जब सूर्यकी धूपमें हंसते हैं, तब इन्हें देख कर हमारा हृदय आनन्दसे भर जाता है।

शंखपुष्पीका छोटासा हरित तृण श्वेत पुष्पका मुकुट धारण किये हुए जहां विकसित होता है वहां धूपमें एक मंगल-सा जान पडता है। ब्राह्मी, रुद्रवंती, स्वर्णक्षीरी, सौपर्णी, शंखपुष्पी इनके नामकरणका जो मनोहर अध्याय हमारे देशके निघंटु-वेत्ताओंने आरंभ किया था, उसकी कला अद्वितीय है। एक-एक औषधिके पास जाकर उसके मूल और कांडसे, पत्र और पुष्पसे, केसर और परागसे उसके जीवनका परिचय और कुशल पूछकर उसके लिए भाषाके भंडारमेंसे एक-एक भव्य-सा नाम चुना गया। इन औषधियोंमें जो गुण भरे हुए हैं, उनके साथ हमारे राष्ट्रको फिरसे परिचित होनेकी आवश्यकता है।

वृक्ष और वनस्पति पृथिवी पर ध्रुव भावसे खडे हैं।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।२७

यों देखनेमें प्रत्येककी आयु कालसे परिमित है, किन्तु उनका बीज और उनकी नस्ल हमेशा जीवित रहती है। यहीं उनका पृथिवीके साथ स्थायी संबंध है। करोडों वर्षोंसे विकसित होते हुए वनस्पति-जगत्के ये प्राणी वर्तमान जीवन तक पहुंचे हैं, और इसके आगे भी ये इसी प्रकार बढते और फलते-फूलते रहेंगे। इसी भूमिसे उन्नत भावसे खडे हुए जो महावृक्ष हैं, उनको यथार्थतः वनके अधिपति या वानस्पत्य नाम दिया जा सकता है। देवदारू और न्यग्रोध, आम्र और अश्वत्थ, उदुंबर और शाल- ये अपने यहांके कुछ महाविटप हैं। महावृक्षोंकी पूजा और उनको उचित सम्मान देना हमारा परम कर्तव्य है।

जहां महावृक्षोंको आदर नहीं मिलता, वहांके अरण्य क्षीण हो जाते हैं। सौ फुट ऊंचे और तीस फुट घेरेवाले अत्यन्त प्रांशु केदार और देवदारुओंको हिमालयके उत्संगमें देखकर जिन लोगोंने श्रद्धाके भावसे उन वनस्पतियोंको शिवके पुत्रके रूपमें देखा, वे सचमुच जानते थे कि वनस्पति संसार कितने उच्च सम्मानका अधिकारी है। केदार वृक्षोंके निकट बसनेके कारण स्वयं शिवने केदारनाथ नाम स्वीकार किया। आज अनवधानके कारण हम अपने इन वानस्पत्योंको देखना भूल गये हैं। तभी हम उस मालुवन लताकी शक्तिसे अनभिज्ञ हैं, जो सौ-सौ फुट ऊंचे उठकर हिमालयके बडे-बडे वृक्षोंको अपने बाहुपाशमें बांध लेती है।

आज वनस्पति जगत्के प्रति '**अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्**' के प्रश्नों द्वारा हमें अपने चैतन्यको फिरसे झकझोरनेकी आवश्यकता है। जहां फूले हुए शालवृक्षोंके नीचे शालभंजिका क्रीडाओंका प्रचार किया गया, जहां उद्दीयमान नारी-जीवनके सरस मनसे वनस्पति-जगत्को तरंगित करनेके लिए अशोक दोहद जैसे विनोद कल्पित किये गये, वहां मनुष्य और वनस्पति जगत्के सख्यभावको फिरसे हरा-भरा बनानेकी आवश्यकता है। पुष्पोंकी शोभासे वन-श्रीका विलक्षण ही शृंगार होता है। देशमें पुष्पोंके संभारसे भरे हुए अनेक वन-खंड और वाटिकायें हैं। कमल हमारे सब पुष्पोंमें एक निराली शोभा रखता है। वह मातृभूमिका प्रतीक ही बन गया गया है। इसी लिए पुष्पोंमें कविने कमलका स्मरण किया है। वह कहता है- 'हे भूमि, तुम्हारी जो गंध कमलमें बसी हुई है (**यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश। २४**) उस सुगंधसे मुझे सुरभित करो।'

इस पृथिवी पर द्विपाद और चतुष्पाद (पशु-पक्षी) दोनों ही निवास करते हैं। आकाशकी गोदमें भरे हुए हंस और सुपर्ण व्योमको प्राणमय बनाते हैं।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि। ५१

प्रतिवर्ष मानसरोवरकी यात्रा करनेवाले हमारे हंसोंके पंख कितने सशक्त हैं ? आकाशमें वज्रकी तरह टूटनेवाले दृढ और बलिष्ठ सुपर्णोंको देखकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। मनुष्योंके लिए भी जो वन अगम हैं, उनमें पशु और पक्षी चहल-पहल रखते हैं। उनके सुरीले कंठ और सुन्दर रंगोंको देखकर हमें शब्द और रूपकी अपूर्व समृद्धिका परिचय प्राप्त होता है।

भूमि पर रहनेवाली पशु-संपत्ति भी भूमिके लिए उतनी ही आवश्यक है जितना कि स्वयं मनुष्य। कविकी दृष्टिमें यह पृथिवी गौवों और अश्वोंका बहुविधि स्थान है। (**गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा। ५**)। देशमें जो गोधन है, उसकी जो नस्लें सहस्रों वर्षोंसे दूध और घीसे हमारे शरीरोंको सींचती आयी हैं, उनके अध्ययन रक्षा और उन्नतिमें

दत्तचित्त होना राष्ट्रीय कर्तव्य है। गोधनके जीर्ण होनेसे जनताके अपने शरीर भी क्षीण हो जाते हैं। गौओंके प्रति अनुकूलता और सौमनस्यका भाव मानुषी शरीरके प्रत्येक अणुको अन्न और रससे तृप्त रखता है। सिन्धु कंबोज और सुराष्ट्रके जो तुरंग दीर्घ युगोंतक हमारे साथी रहे हैं, उनके प्रति उपेक्षा करना हमें शोभा नहीं देता।

इस देशके साहित्यमें अश्व-सूत्र और हस्ति-सूत्रकी रचना बहुत पहले हो चुकी थी। पश्चिमी एशियाके जमेर्ना स्थानमें आचार्य किक्कुलिका बनाया हुआ अश्व-शास्त्र संबंधी एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जो विक्रमसेभी १५ वीं शताब्दी पूर्वका है। इसमें घोड़ोंकी चाल और कुदानके बारेमें एकावर्तन, त्र्यावर्तन, पंचावर्तन, सप्तावर्तन सदृश अनेक संस्कृत शब्दोंके रूपान्तर प्रयुक्त हुए हैं।

जो व्याघ्र और सिंह कांतारोंकी गुफाओंमें निर्द्वन्द्व विचरते हैं, उनकी ओर भी कविने ध्यान दिया है। यह पृथिवी वनचारी शूकरके लिए भी खुली है, सिंह और व्याघ्र जैसे पुरुषाद आरण्य पशु यहां शौर्य-पराक्रमके उपमान बने हैं (४९)। पशु और पक्षी किस प्रकार पृथिवीके यशको बढाते हैं, इसका इतिहास साक्षी है। भारतवर्षके मयूर प्राचीन बावेरु (बेबीलोन) तक जाते थे (बावेरु जातक)। प्राचीन कैकेय देश (आधुनिक शाहपुर, झेलम) के राजकीय अंतःपुरमें कराल दाढोंवाले महाकाय कुत्तोंकी एक नस्ल व्याघ्रोंके वीर्य-बलसे तैयार होती थी, जिसकी कीर्ति यूनान और रोम तक प्राचीनकालमें पहुंची थी। ऑक्सस (एशिया माइनर) से प्राप्त भारत-लक्ष्मीकी चांदीकी तश्तरी पर इस बघेरी नस्लके कुत्तोंका चित्रण पाया गया है। कुत्तोंकी यह भीम जाति आज भी जीवित है और राष्ट्रीय कुशल-प्रश्न और दायमें भाग पानेके लिए उत्सुक है। विषैले सर्प और तीक्ष्ण डंक वाले बिच्छू हेमन्त ऋतुमें सर्दीसे ठिठुर कर गुम-सुम बिलोंमें सोये रहते हैं। वे भी पृथिवीके पुत्र हैं। जिनकी लखचौरासी योनियां वर्षाऋतुमें उत्पन्न होकर सहसा रेंगने और उडने लगती हैं उनके जीवनसे ही हमें अपने कल्याणकी कामना करनी है (४६)। एक-एक मशक-दंशके कुपित होनेसे समाजमें प्रलय मच जाता है।

ऊपर कहे हुए पार्थिव कल्याणोंसे संपन्न मातृभूमिका स्वरूप अत्यन्त मनोहर है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण, मणिरत्न आदिक निधियोंने उसके रूप-मंडलको और भी उत्तम बनाया है। रत्न-प्रसू, रत्नधात्री यह पृथिवी 'वसुधानी' है, अर्थात् सारे कोषोंका रक्षा-स्थान है। इसकी छातीमें अनंत सुवर्ण भरा हुआ है। हिरण्यवक्षा भूमिके इस अपरिमित कोषका वर्णन करते हुए कवि की भाषा अपूर्ण तेजसे चमक उठती है—

> विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
> हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी ॥ ६ ॥
> निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
> मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
> वसूनि नो वसुदा रासमाना
> देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥
> सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
> ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५

'विश्वका भरण करनेवाली, रत्नोंकी खान, हिरण्यसे परिपूर्ण, हे मातृभूमे! तुम्हारे ऊपर एक संसार ही बसा हुआ है। तुम सबकी प्राणस्थितिका कारण हो।

अपने गूढ प्रदेशोंमें तुम अनेक निधियोंका भरण करती हो। तुम रत्न, मणि और सुवर्णकी देनेवाली हो। रत्नोंका वितरण करनेवाली वसुधे! प्रेम और प्रसन्नतासे पुलकित होकर हमारे लिए कोषोंको प्रदान करो।

अटल खडी हुई अनुकूल धेनुके समान हे माता! तुम सहस्रों धाराओंसे अपने द्रविणका हमारे लिए दोहन करो। तुम्हारी कृपासे राष्ट्रके कोष अक्षय निधियोंसे भरे-पूरे रहें। उनमें किसी प्रकार किसी कार्यके लिए कभी न्यूनता न हो।'

हिरण्यवक्षा पृथिवीके इस आभामय सुनहले रूपको कवि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः। २६

पृथिवीके साथ संवत्सरका अनुकूल संबंध भी हमारी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। कविने कहा है—

'हे पृथिवी! तुम्हारे ऊपर संवत्सरका नियमित ऋतुचक्र घूमता है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसंतका विधान अपने-अपने कल्याणोंको प्रति वर्ष तुम्हारे चरणोंमें भेंट करता है। घोर गतिसे अग्रसर होते हुए तुम्हारे

अहोरात्र नित्य नये दुग्धका प्रस्रवण करते हैं।' पृथिवीके प्रत्येक संवत्सरकी कार्य-शक्तिका वार्षिक लेखा कितना अपरिमित है। इसकी दिनचर्या और निजवार्ता अहोरात्रके द्वारा ऋतुओंमें और ऋतुओंके द्वारा संवत्सरमें आगे बढती हैं। पुनः संवत्सर इस विक्रमकी कथाको महाकालके प्रवर्तित चक्रको भेंट करता है।

संवत्सरका इतिहास नित्य है। हे पृथिवी! वसंत ऋतुके किस क्षणमें किस पुष्पको तुम रंगोंकी तूलिकासे सजाती हो, और किस औषधिमें तुम्हारे अहोरात्र और ऋतुएं अपना दुग्ध किस समय जमा करती हैं, पंख फैला कर उडती हुई तुम्हारी तितलियां किस ऋतुमें कहां-से-कहां जाती हैं, किस समय क्रौंच पक्षी कलरव करते हुए पंक्तियोंमें मानसरोवरसे लौटकर तुम्हारे खेतोंमें मंगल करते हैं, किस समय तीन दिन तक बहनेवाला प्रचंड फगुनहटा वृक्षोंके जीर्ण-शीर्ण पत्तोंको धाराशायी बना देता है, और किस समय पुरवाई आकाशको मेघोंकी घटासे छा देती है? इस ऋतु विज्ञानकी तुम्हारी रोमहर्षण गूढवार्ताको जाननेकी हममें नूतन अभिरुचि हुई है।

जन

भूमि पर जनका सन्निवेश बडी रोमांचकारी घटना मानी जाती है। किसी पूर्व युगमें जिस जनने अपने पद इस पृथिवी पर टेके उसीने यहां भू-प्रतिष्ठा× प्राप्तकी, उसीके भूत और भविष्यकी अधिष्ठात्री यह भूमि है—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी। (१)

पृथिवी पर सर्वप्रथम पैर टेकनेका भाव जनके हृदयमें गौरव उत्पन्न करता है। जनकी ओरसे कवि कहता है- मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूपमें सबसे पूर्ण इस भूमि पर पैर जमाया था—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।(११)

उस भू-अधिष्ठानके कारण भूमि और जनके बीचमें एक अंतरंग संबंध उत्पन्न हुआ। यह संबंध पृथिवी-सूक्तके शब्दोंमें इस प्रकार है —

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२)

'यह भूमि माता है, और मैं इस पृथिवीका पुत्र हूं।' भूमिके साथ माताका संबंध जन या जातिके समस्त जीवनका रहस्य है। जो जन भूमिके साथ इस संबंधका अनुभव करता है, वही माताके हृदयसे प्राप्त होनेवाले कल्याणोंका अधिकारी है, उसीके लिए माता दूधका विसर्जन करती है।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।(१०)

जिस प्रकार पुत्रको ही मातासे पोषण प्राप्त करनेका स्वत्व है, उसी प्रकार पृथिवीके ऊर्ज या बल पृथिवी-पुत्रोंको ही प्राप्त होते हैं। कविके शब्दोंमें-हे पृथिवी! तुम्हारे शरीरसे निकलनेवाली जो शक्तिकी धाराएं हैं उनके साथ हमें संयुक्त करो—

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः। तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥ (१२)

पृथिवी या राष्ट्रका जो मध्यबिन्दु है उसे ही वैदिक भाषामें नभ्य कहा है। उस केन्द्रसे युग-युगमें अनेक ऊर्ज या राष्ट्रीय बल निकलते हैं। जब इस प्रकारके बलोंकी बढिया आती है तब राष्ट्रका कल्प-वृक्ष हरियाता है। युगोंसे सोये हुए भाव जाग जाते हैं और वही राष्ट्रका जागरण होता है। कविकी अभिलाषा है कि जब इस प्रकारके बल प्रवाहित हों, तब मैं भी उस चेतनाके प्राणवायुसे संयुक्त होऊं। पृथिवीके ऊपर आकाशमें छा जानेवाले विचार-मेघ पर्जन्य हैं जो अपने वर्षणसे समस्त जनताको सींचते हैं—

(क्रमशः)

× भू-प्रतिष्ठा, भू-मापन, प्रारम्भिक युगमें भूमि पर जनके सन्निवेशकी संज्ञा है, जिसे अंग्रेजीमें लैण्ड-टेकिंग कहा जाता है। आइसलैण्डकी भाषाके अनुसार 'लैण्ड-टेकिंग' के लिए 'लैण्ड-नामा' शब्द है। डा० कुमारस्वामीने ऋग्वेदको 'लैण्ड-नामा बुक' कहा है, क्योंकि ऋग्वेद प्रत्येक क्षेत्रमें आर्यजातिकी 'भू-प्रतिष्ठा' का ग्रन्थ है। पूर्वजनोंके द्वारा भू-प्रतिष्ठा (पृथ्वी पर पैर टेकना) सब देशोंमें एक अत्यन्त पवित्र घटना मानी जाती है।
(देखिए, कुमारस्वामी. ऋग्वेद ऐज लैण्ड-नामा बुक, पृष्ठ ३४)।

वेदगीता (मंत्र)

पृणी॑यादिन्नाधमा॑नाय॒ तव्या॑न्
द्राघी॑यांस॒मनु॑ पश्येत॒ पन्था॑म् ।
ओ हि वर्त॑न्ते॒ रथ्ये॑व॒ चक्रा
अन्यम॒न्यमुप॑ तिष्ठन्त॒ रायः॑ ॥ ऋ. १०।११७।५

अर्थ— हे जीवात्मन् ! (तव्यान् तवीयान्) धन और अन्नसे समृद्धिशाली मनुष्य (नाधमानाय) धन और अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुको अथवा याचना करनेवाले अतिथिको (इत्) ही (पृणीयात्) धन और अन्नसे तृप्त कर देवे। (द्राघीयांसं पन्थाम्) अपने सुकृत मार्गको बहुत विस्तृत (अनु-पश्येत) देखे और समझे अर्थात् इस मार्गका कारण दान ही दृष्टिगोचर होता है। (रायः) धनसम्पत्ति (हि) निश्चयसे (ओ=आ+उ+वर्तते) एक स्थान पर नहीं रहते। (रथ्या चक्रा इव) जैसे रथके पहिये सर्वदा एक स्थान पर नहीं रहते, ऊपर नीचे आते रहते हैं वैसे (रायः अन्यं अन्यं उपतिष्ठन्त) धन भी एक मनुष्यको छोडकर दूसरे दूसरे मनुष्योंको प्राप्त हो जाते हैं। अतः अपना धन और अन्नादि शुभ पदार्थ अधिकारी याचकोंको दान देना चाहिये।

वेदगीता (मंत्र)

वर्मे॑व स्यूतं॒ परि॑ पासि वि॒श्वतः॑ ।
स्वा॒दुक्ष॑द्मा॒ यो व॑स॒तौ स्यो॑नकृज्
जी॑वया॒जं यज॑ते॒ सोप॒मा दि॒वः ॥

ऋ. १।३१।१५

अर्थ— (हे अग्ने !) हे परमैश्वर्यसम्पन्नज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (त्वं) तू (प्रयतदक्षिणं नरं) धन और अन्नादि शुभ पदार्थोंके दान देनेवाले मनुष्योंकी (स्यूतं वर्म इव) वस्त्रमें तंतुओंकी तरह ओतप्रोत हुए हुए कवचकी तरह (विश्वतः) चारों ओरसे (परिपासि) अच्छी तरह रक्षा करता है। (स्वादुक्षद्मा यः) उत्तम अन्नवाला जो दानी मनुष्य (वसतौ) अपने निवासस्थान अर्थात् अपने घरमें (स्योनकृत्) सबको सुख देने वाला होकर (जीवयाजं यजते) जीवनयात्राका यजन करता है, अर्थात् अपने निवासस्थानवाले जीवोंको जीवनदान देता है। (सा दिवः उपमा) वह निवासस्थान स्वर्ग समान होता है, अर्थात् जैसे स्वर्गमें किसीको दुःख नहीं होता, वैसे दानी पुरुषके निवास-स्थानमें भी किसी प्राणीको दुःख नहीं होता। सब जीव सुखी रहते हैं ॥ १५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

त्वमि॑न्द्र श॒र्मरि॑णा ह॒व्यं पारा॑वतेभ्यः ।
विप्रा॑य स्तुव॒ते व॑सु॒वनिं॑ दुरश्र॒वसे॑ वह ॥

अथ. २०।१३५।११

अर्थ— (इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्नजीवात्मन् ! (त्वं) तू (पारावतेभ्यः) परब्रह्मपरमात्माकी शरणको प्राप्त हुए हुए ज्ञानी भक्तों और अधिकारी सज्जन पुरुषोंको (शर्म हव्यं) सुख देनेवाले दानके योग्य अन्न, धन, अथवा स्वर्णादिको (रिणाः= ऋणाः) प्रदान कर। (दूरश्रवसे) अपनी भगवद्भक्ति, तथा सदाचार द्वारा दूर दूर देशोंमें प्रसिद्ध अर्थात् जिनका शुभनाम दूर दूर देशों तक सुना जाता है उन्हें अथवा वेदशास्त्रोंके अभ्यास से बहुत प्रसिद्ध विद्वान् (स्तुवते विप्राय) परमात्माकी स्तुति करनेवाले बुद्धिमान् ब्राह्मणको (वसु नि वह) अन्न और धन दे, अर्थात् दान कर ॥ ११ ॥

वेदगीता (मंत्र)

त॒तं तन्तु॒मन्वेके॑ तरन्ति॒
येषां॑ द॒त्तं पित्र्य॒माय॑नेन ।
अ॒ब॒न्ध्वेके॒ दद॑तः प्र॒यच्छ॑न्तो॒
दातुं॒ चेच्छिक्षा॒न्त्स स्व॒र्ग ए॒व ॥

अथ. ६।१२२।२

अर्थ— (एके) कई एक दानी मनुष्य (ततं) विस्तृत अर्थात् बढे चढे हुए (तंतुं) दातव्य दानमय सूत्रोंको (अनु-तरन्ति) अधिकारी याचकोंको अनुकूल दान देकर संसार समुद्रको पार कर जाते हैं। (येषां आयनेन) जिन याचकोंके प्राप्त होनेसे (पित्र्यं दत्तं) पिता और पितामहादिके निमित्त दिया हुआ अन्नधनादिदान सफल होता है। (एके) कई

---

१ पृणीयात्=पृ पालनपूरणयोः, क्र्यादिः। 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः।
२ द्राघीयांसम्=दीर्घशब्दादीयसुनि 'प्रियस्थिर०' इति द्राघादेशः।
३ रथ्या=रथाद् यत्।
४ उपतिष्ठन्त=' उपादेवपूजासंगतिकरण० '- इत्यात्मनेपदम्।

एक मनुष्य (अबंधु ददतः) अपने संबंधियोंको छोडकर अर्थात् अपने संबंधियोंको दातव्यदान न देकर भिन्नयाचक-मनुष्योंको अर्थात् जहां प्रत्युपकारकी इच्छा नहीं रखते, उन्हें दान देते हैं, (प्रयच्छन्तः च) और इसप्रकार दानबुद्धिसे अधिकारियोंको दान देते हुए (इत्) ही (दातुं शिक्षात्) दान देनेके लिए समर्थ हो, तो (सः स्वर्गः एव) वह स्वर्ग ही है। अर्थात् उन्हें मोक्षधामका सुख प्राप्त होता है ॥ २ ॥

वेदगीता (मंत्र)

स पचामि स ददामि
स यजे स दत्तान्मा यूषम् । अथ. ६।१२३।४

अर्थ— (सः पचामि) गृहस्थधर्मकी पालना करनेवाला वह मैं अन्नको पकाता हूं। (सः ददामि) वह मैं अपने लिये पकाए हुए अन्नमेंसे अधिकारी याचकोंको अन्न देता हूं। (सः यजे) वह मैं दातव्यदानात्मक यज्ञ करता हूं। (सः) इसप्रकार दान देनेवाला मैं (दत्तात्) अपने दिये जानेवाले दानसे (मा यूषम्) पृथक् मत होऊं, अर्थात् मैं सदा अधिकारियोंको दान देता रहूं ॥ ४ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि दातव्यदान अधिकारीको दो, दान देनेसे पहिले वह सोचो, जो कि वस्तु मैं दान करता हूं, वह ठीक है, या खराब, सडी, या जली भुनी तो नहीं है। दान लेनेवालेके काम आएगी, या नहीं। पुनः अधिकारीको देखो, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, सदाचारी और गृहस्थधर्मका पूरा पालक है ? फिर काल और देश पर भी विचार करना चाहिये दानदेनेके अनन्तर उस पुरुषसे प्रत्युपकारकी इच्छा न रखना, ऐसा दान सात्विकदान कहा जाता है।

वेदमें भी यही कहा है कि अन्न और धन आदिका दान ऋषि, गुणी अर्थात् सात्विक पुरुषको देना चाहिए, अनाडी या कुपात्रको नहीं। सात्विकदानीका नाम संसारमें सदा रहता है अर्थात् दानी सदा जीवित रहता है, दानी मुक्तिके सुखको पाता है। परमात्मा दानी पुरुषकी रक्षा करता है, दानी दुःखी पुरुषोंका सहायक होता है। सद्गुणोंसे प्रसिद्ध पुरुषोंको दान देना और प्रत्युपकारकी आशा न रखना बहुत अच्छा है, मनुष्य घरमें जो कुछ भी पकाता है, और स्वयं खाता है, उसमेंसे भी प्रत्युपकारकी आशा न रखकर दूसरोंको दानरूपसे देना स्वर्गसुख अर्थात् मुक्तिके सुखकी प्राप्तिका हेतु बनता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ भग. १७।२१

अर्थ— हे अर्जुन ! (यत् तु) जो दान तो (प्रत्युपकारार्थं) मैं उस मनुष्यको दान दूंगा जो मनुष्य मेरे घरका काम करेगा, अथवा मैं उससे अमुक वस्तु लूंगा, अपने मनमें ऐसे प्रत्युपकारकी संभावनाको लिये (वा) यद्वा (फलं उद्दिश्य) किसी लाभका उद्देश रखकर (च पुनः) और फिर दानदेनेके पश्चात् (परिक्लिष्टं) अपने हृदयमें खेद मानता हुआ यह वस्तु मैं दान न करता तो अच्छा था, इस वस्तुसे मेरा अमुक काम होजाता, ऐसा क्लेश मानकर (दीयते) दिया जाता है, (तत्) वह दान (राजसं उदाहृतम्) राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

वेदगीता (मंत्र)

देवा ददुत्वासुरं तद्वो अस्तु सुचेतनम् ।
युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत ॥
अथ. २०।१३५।१०

अर्थ— (देवाः-दानात् देवः, ददातीति वा देवः) दूसरोंको दान देनेवाले मनुष्य (आ) सब प्रकारसे (वरं) उत्तम धन अर्थात् दान देने योग्य धनको (ददतु) देते हैं अथवा देवें। (तत्) दान दिया हुआ वह धन (वः) तुम सब मनुष्योंको (सुचेतनं अस्तु) अच्छी तरह ज्ञात हो, कि दूसरेके काममें आनेवाली श्रेष्ठ वस्तु देनी चाहिये। यह तुम्हें ज्ञान होना चाहिये, ऐसी वस्तु दान देकर जिसमें प्रत्युपकारकी आशा हो वह राजसदान होजाएगा। वह दान (युष्मान्) तुम दानी पुरुषोंके लिए (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अस्तु) हो, (प्रतिगृभायत एव) तुम भी दानग्रहण करनेवाले पुरुषसे प्रत्युपकार रूपमें दिये हुए धनादिको ग्रहण करोगे, तो वह प्रतिदान अर्थात् राजसदान कहा जाएगा ॥ १० ॥

वेदगीता (मंत्र)

स इद्भोजो यो गृहवे[1] ददात्य
अन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता[2]
उतापरीषु[3] कृणुते सखायम् ॥ ऋ. १०।११७।३

१ गृहवे=गृहे मृगयादित्वात् कुप्रत्ययः।
२ यामहूतौ=यातेः अर्तिस्तुसुहुरादेमन्प्रत्ययः।
३ अपरीषु= 'केवलमामकेति' ङीप् ॥

अर्थ— हे जीवात्मन् ! (स इत् भोजः) वह ही दानी राजसीदानी है (यः) जो दानी (गृहवे) अतिथिरूपसे घरमें आए हुए (अन्नकामाय) अन्नकी कामनाके लिये (चरते) फिरते हुए (कृशाय) दरिद्रतासे क्षीण पुरुषको (ददाति) अन्न देता है। (यामहूतौ) जिसमें कुछ प्रहर पहिले याचक बुलाया जावे ऐसे अन्नयज्ञमें अर्थात् भण्डार (लंगर) में (अस्मै) इस रजोगुणी दानीको दानका फल (अरं–अलं) पर्याप्त होता है। (उत) और (अपरीषु) दूसरी प्रजाओं अर्थात् अन्यमनुष्योंमें (सखायं कृणुते) मित्रताको करता है, क्योंकि राजसदान देनेसे सब लोग उस राजसदानीके मित्र हो जाते हैं, शत्रु कोई नहीं बनना चाहता। ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, कि जो दान प्रत्युपकारको लक्ष्य रखकर अर्थात् मैं उसे इस वस्तुको दूंगा, वह मुझे अमुक वस्तु देगा ऐसा विचार करके अथवा इस वस्तुके देनेसे मुझे यह फल मिलेगा, ऐसा ध्यान रखकर जो दान दिया जाता है, वह राजसी दान कहा जाता है, वेदमें भी यही कहा है कि जिसको दान दिया जावे, दानके प्रभावसे उसे मित्र बना कर लाभ उठावे, अथवा अपने घरमें अचानक आए हुए दुःखी, दरिद्री, भूखेको केवल अन्न दिया जावे, दूर रहनेवाले सत्पात्रोंका ध्यान न रखकर कुपात्रोंको दान अपनी महत्ता दिखानेके लिये दिया जावे, वह राजसीदान कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ भग. १७।२२

अर्थ— (अदेशकाले) स्वच्छस्थानको छोड़कर अपवित्रस्थानमें पर्वकालको छोडकर कुसमय अर्थात् सायंकाल अथवा अर्धरात्रिके समयमें (यत् दानं) जो दान (अपात्रेभ्यः च) मद्यमांसादि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले और दुराचारी ब्राह्मणों और अतिथियोंको (असत्कृतं) सत्कारादि पूजासे रहित (अवज्ञातं) हट जा, दूर होजा, इत्यादि अपमान के साथ कुछ देकर पीछा छुडाया जावे, ऐसा दान (दीयते) दिया जाता है (तत्) वह दान (तामसं उदाहृतं) तमोगुणवाला दान कहा जाता है ॥ २२ ॥

वेदगीता (मंत्र)

बभ्रेः[1] रक्षः समदमा वपैभ्यः
अब्राह्मणा यतमे[2] त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तात्
आर्षेयास्ते मा रिषन्[3] प्राशितारः ॥

अथ. ११।१।३२

अर्थ— (बभ्रेः) हे प्रजाके पालनपोषण करनेवाले अन्न । (यतमे अब्राह्मणाः) जितने ब्रह्मज्ञानसे रहित तामसी मनुष्य अर्थात् दानके अनधिकारी नीच मनुष्य (त्वा उपसीदान्) तुझसे दान लेनेके लिये, और दान लेकर भोजन करनेके लिये तेरे पास प्राप्त हों। (एभ्यः) इन तामसी कुपात्रोंको (रक्षः समदम्) तमोगुणमें प्रसन्न रहनेवाले राक्षसी मनुष्योंमें (आवप) बो दे अर्थात् इन्हें राक्षसी संज्ञामें गिन अर्थात् तामसी दानके खानेसे वह भी राक्षसोंकी तरह तामसी - स्वभाववाले बने रहें, अथवा समद नाम युद्धका भी है अर्थात् वह तामसी जीव सदा दुष्टोंसे कलह और युद्ध करते रहें। अर्थात् कुपात्र जीव राक्षसोंसे पीडित होते रहें। मंत्रके पूर्वार्द्धमें कुपात्र निन्दा दिखाकर उत्तरार्द्धमें सुपात्रकी स्तुति दिखाई है। (आर्षेयाः) जो मनुष्य ऋषियोंके गुणोंवाले अर्थात् सात्विक गुणी होनेसे सत्पात्र हैं, और (पुरीषिणः) जो प्रजा और पशु आदिके पालक हैं, [यथा च यास्कः–पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा, नि. २।२२] अथ च । प्रजा वै पशवः पुरीषं प्रजया एवैनं पशुभिः पुरीषवन्तं करोति । तै. सं. २।६।४।३] अतएव (प्रथमानाः) संसारमें सात्विक दानदेनेके प्रभावसे सबमें श्रेष्ठ (ते प्राशितारः) तेरे सात्विकभावसे दिये हुए अन्नके भोजन करनेवाले हैं। (ते) वह (मा रिषन्) मृत्युको मत प्राप्त हों अर्थात् उनका नाम सदा जीवित रहे।

कालनिषेधः शङ्खस्मृतौ—

आहारं मैथुनं निद्रां संध्याकाले तु वर्जयेत् ।
कर्म चाऽध्ययनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ ॥

---

१ बभ्रे=डुभृञ्धारणपोषणयोः ' आदृगमजनहनजनः किकिनौ लिट् च ' इति कि प्रत्ययः ।

२ यतमे=' या बहूनां जातिपरिप्रश्ने ' इति यच्छब्दात् डतमच्, तदन्तस्य सर्वनामसंज्ञायां,

३ रिषन्=रिष् हिंसायाम् ।

*

स्कंदपुराणेऽपि—

रात्रौ दानं न कर्तव्यं कदाचिदपि केनचित् ।
हरन्ति राक्षसा यस्मात्तस्माद्दातुर्भयावहम् ॥

अपात्र किसे कहते हैं—

गोपालांश्च वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यांश्च दूषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥

यमस्मृतौ तथा च—

व्यपेताः स्वकर्मस्थः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत् ॥
अव्रतानाममंत्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
नैषां प्रतिग्रहो देयो न शिला तारयेच्छिलाम् ॥

व्यासशातातप भी कहते हैं ।

नष्टे शौचे व्रतभ्रष्टे विप्रे वेदविवर्जिते ।
रोदित्यन्नं दीयमानं किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥

मनुरप्याह—

पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् ।
असत्सु विनियुञ्जीत तस्य देयं न किञ्चन ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि शुद्धदेश और शुद्धकालका विचार न करके कुपात्रको जो दान दिया जाता है और जो दान अनादरसे दिया जाता हैं, उसे तामसदान कहते हैं। वेदमें भी यही कहा है और धर्म शास्त्रमें भी यही आज्ञा है कि दानका अन्न स्वयं भी कुपात्रके पास जाना नहीं चाहता, यदि जाता है, तो दाता और ग्रहीता दोनोंकी अधोगतिका कारण होता है, अतः कुसमयमें कुपात्रको दान देना अच्छा नहीं है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ भग. १७।२३

अर्थ— (ओं.-तत् सत् इति) ओं, तत्, सत् यह (ब्रह्मणः) परमात्माका (निर्देशः) नाम (त्रिविधः स्मृतः) तीन प्रकारवाला कहा गया है, (तेन) उस त्रिविध नामवाले परमात्माने (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णोंको (च) और (वेदाः) ऋग्यजुः साम और अथर्व इन चारों वेदोंको (च) और (यज्ञाः) श्रौतस्मार्त यज्ञोंको (पुरा) सृष्टिके आदिमें (विहिताः) रचे हैं ॥ २३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या[1]
स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत[2] आगात्
शुचिः शुक्रो अर्यो[3] रोरुचानः ॥ ऋ. ४।१।७

अर्थ— (देवस्य) स्वप्रकाशसे प्रकाशमान् (अग्नेः) ज्योतिःस्वरूप (अस्य) इस परब्रह्म परमात्माके (त्रिः) तीन (ता=तानि) ओं, तत्, सत् यह तीनों (परमा) परमोत्कृष्ट तथा प्रसिद्ध (सत्या) सत्यस्वरूप, अर्थात् सदा [illegible] रहनेवाले (जनिमानि) जगदुत्पादक और (स्पार्हाः सन्ति) चाहने योग्य हैं । (अनन्ते) हृदयाकाशके अन्दर (परिवीतः) अपने तेजसे परिवेष्टित हुआ हुआ (शुचिः) स्वयं शुद्धस्वरूप, ओं. तत् सद् ब्रह्म इतना उच्चारण करनेसे मनुष्योंके शरीर, मन, वाणीका शोधक (शुक्रः) बलस्वरूप (रोरुचानः) अत एव स्वयं प्रकाशित होता हुआ (अर्य=अर्यः स्वामिवैश्ययोः) सारे ब्रह्माण्डका स्वामी परमात्मा (आ आगात्) हमारे हृदयाकाशमें विराजे ॥ ७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः ।
अग्ने दक्षैः पुनीहि नः ॥ ऋ. ९।६७।२६

अर्थ – (देव !) हे प्रकाशमान् परमात्मन् ! (सवितः) जगत् के उत्पन्न करनेवाले (सोम !) हे पवित्र करनेवाले परमात्मन् ! (अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप ! (त्वं) तू (वर्षिष्ठैः) सबसे श्रेष्ठ अथवा सबसे वृद्ध (दक्षैः) सर्वसामर्थ्ययुक्त (त्रिभिः धामभिः) ॐ तत्, सत् इन तीन नामोंसे (नः) हम संसारी जीवोंको (पुनीहि) पवित्र कर । जैसे यास्काचार्यने कहा है । (धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानि) निरु. ॥ ९।२८ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि परमात्माके तीन पवित्र नाम, हैं, ओं. तत्, सत्, इति इन तीनोंसे चारों वर्ण और ऋग्यजुः

---

१ सत्या= 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लुक् ।
२ परिवीतः=व्यञ् संवरणे, कर्मणि क्तः । यजादित्वात्संप्रसारणम् ।
३ अर्य=ऋ गतौ, यत्प्रत्ययान्तः निपातितः ।

सामाथर्व चार वेद और यज्ञ प्रकट हुए हैं। वेदमें भी 'त्रिभिः त्वं देव पुनीहि नः,' से सिद्ध होता है, ओं. तत् सत्, परमात्माके यह तीन नाम परमपवित्र हैं, जिसके उच्चारण करनेसे मनुष्य इस संसारमें सुख भोगकर अन्तमें मोक्षको पाता है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

भग. १७।२४

अर्थ— हे अर्जुन! (तस्मात्) जिस कारणसे "ओं, तत्, सत् परमात्माके ये तीन नाम पवित्र हैं, इसलिये (ओं इति उदाहृत्य) सब कर्मोंके आरंभमें ओं ऐसा नाम उच्चारण करके ही (ब्रह्मवादिनां) वेद और उसके अर्थको जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणोंके (विधानोक्ताः) वेदशास्त्रोंकी विधिसे बताए हुए (यज्ञ—दान—तपः—क्रियाः) यज्ञके कर्म, दानके कर्म, तपके कर्म (सततं प्रवर्त्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं ॥ २४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं
तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण
तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ अथ. १९।७२।१

अर्थ— (यस्मात् कोशात्) जिस सब वर्णों वा मंत्रोंके संचयरूप महान् स्वरूप ओंकाररूप कोश अर्थात् भंडारसे, यथा यास्कः [कोशः कुष्णातेः विकुण्ठितो भवति, अयमपीतरः कोशः एतस्मादेव संचयः आचितमात्रो महान् भवति। निरु ५।२६] (वेदं) श्रौतस्मार्त सकलकर्म प्रतिपादक मंत्र ब्राह्मण-रूप ज्ञानको तथा (उद्-अभराम) यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंके अनुष्ठानके लिए सबसे प्रथम ओंकार शब्दको उठाते हैं। अर्थात् सब शुभ कर्मोंके आरंभमें ओंकारका उच्चारण करते हैं। (तस्मिन्) ओंकारोच्चारणपूर्वक कर्मानुष्ठान करनेवाले उस मनुष्यमें (एनं) इस ओंकारको (अन्तः) हृदयमें अथवा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंके अन्दर (अव दध्मः) स्थापित करते हैं। (ब्रह्मणः) देश, काल, वस्तुपरिच्छेदसे रहित ओंकार-स्वरूप परमात्माके (वीर्येण) ओंकारोच्चारणके सामर्थ्यसे (कृतं) ब्रह्मयज्ञ, दान, तपादिका किया हुआ कर्म (इष्टं) स्वाहा, स्वधा, वौषट् आदि शब्दोंसे 'तव इदं न मम' इत्यादि दानसे, कृच्छ्रचांन्द्रायणादि व्रतों द्वारा किया हुआ कर्म प्रिय और श्रेष्ठ और अभीष्ट होता है। (देवाः) हे परमात्मन् (तेन) ओंकारोच्चारणपूर्वक कर्मानुष्ठानजन्य उस (तपसा) कर्मफलसे (मा) ओंकारोच्चारणपूर्वक, यज्ञ, दान, तपस्यादि कर्मोंके करनेवाले मुझ दासकी (अवत) रक्षा कर। यथा प्रश्नोपनिषद्में कहा है—

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायति, कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति। तस्मै स होवाच ॥१॥
एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं ब्रह्म, यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥
स यद्येकमात्रामभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥
अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते। स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥
यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणैवोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥ ५ ॥ प्रश्नो. ५।१–५

तुलना— गीतामें कहा है, कि ब्रह्मज्ञानी, महात्मा, विद्वान् लोक यज्ञ, दान तपस्यादि शुभ कर्मोंके आरंभमें, तथा वेदमंत्रोच्चारण करनेमें पूर्व ओंकारका प्रयोग करते हैं, क्योंकि ओंकारके उच्चारणमात्रसे कार्य सफल हो जाते हैं। वेद और उपनिषद्में भी कहा है कि जैसे कोशसे धनराशि बाहर निकालते हैं, ऐसे ही ओंकाररूप कोशसे सब मंत्रोंका उच्चारण और शुभ कर्मोंके आरंभमें ओंकारका प्रयोग कार्यकी सफलताका कारण होता है। शुद्धभावसे त्रैमात्रिक ओंकारके उच्चारण करनेसे मोक्ष प्राप्ति होती है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥

भग. १७।२५

अर्थ— हे अर्जुन! (मोक्षकांक्षिभिः) मोक्षकी इच्छा करनेवाले योगियोंके द्वारा (फलं अनभिसंधाय) अपने किये हुए कर्मजन्य फलको लक्ष्य न रखकर अर्थात् कृतकर्मोंके फलकी अभिलाषाको छोडकर (यज्ञ-तपः-क्रियाः) श्रौतस्मार्तादि यज्ञ और शारीरिक कष्ट देनेवाले तपस्या कर्म (च) और (विविधाः

दानक्रियाः) नाना प्रकारवाले कन्यादान और गोदानादि कर्म (तत्) इरिः ओं तत्सद्ब्रह्म इस तत पदके प्रयोगसे (क्रियन्ते) किये जाते हैं ॥ २५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

तत् स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒र्व॒धात॑म॒ं तु॒रं भग॑स्य धीमहि ।

ऋ. ५।८२।१

अर्थ— हे परमात्मन् ! (वयं) यज्ञ, दान, तप इत्यादि शुभ कर्मोंके करनेवाले हम सब दासजन (भगस्य) सबसे परम सेवनीय अर्थात् यजन करने योग्य (देवस्य) अपने प्रकाशसे प्रकाशमान् (सवितुः) जगत्के उत्पन्न करनेवाले आपके (भोजनं) सब यज्ञ, तप, दानादि शुभ कर्म करनेवाले सात्विक श्रद्धालुओंसे लेने योग्य अर्थात् अपने अपने कर्मके आरंभमें व्यवहार करने योग्य (श्रेष्ठं) सबसे उत्तम (सर्वधातमं) सारे संसारके सूर्यादि पदार्थोंको अपने अपने स्थान पर अपने अपने कर्मोंमें अच्छी तरहसे धारण करनेवाले (तुरं) नाम लेने मात्रसे पापके नाशक (तत्) तत्पदसे ' ओं तत्सद्ब्रह्म ' इस नामसे पुकारे जानेवाले ब्रह्मको (वृणीमहे) वरते हैं, अर्थात् हम उसे अपने हृदयमें निमंत्रण देते हैं । और (तत् धीमहि) हम तत् नामसे पुकारे जानेवाले परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ १ ॥

वेदगीता (मंत्र)

तदू॑चुषे[1] मानु॑षे॒मा यु॒गानि॒
की॒र्तेन्यं॑[2] म॒घवा॑[3] नाम॒ बिभ्र॑त्[4] ।
उ॒प॒प्र॒यन् द॑स्युहत्या॑य व॒ज्री
यद्ध॑ सू॒नुः श्रव॑से॒ नाम॑ दु॒धे ॥ ऋ. १।१०३।४

अर्थ— (तत् ऊचुषे) परब्रह्म परमात्माके ओं, तत्, सत् इन तीन नामोंमेंसे तत् नामको सब कर्मोंके आरंभमें कहनेवाले यजमानके लिये (कीर्तेन्यं) कीर्तन करने योग्य यशको और (नाम) को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (मघवा) महनीय पूजनीय परमात्मा (मानुषा) मनुष्य संबंधी (इमा) इन (युगानि) दिनरात अर्थात् सदा करने योग्य नित्यनैमित्तिक श्रौतस्मार्त कर्म ' ओं, तत्, सत् ' से आरंभ करने योग्य हैं, ऐसा उपदेश देता है । (वज्री) दुर्जनोंको दण्ड देनेके लिये वज्र धारण करनेवाला (सूनुः) और सारे संसारका उत्पादक (ह) निश्चयसे (यत् नाम) जिस तत् नामको (दस्युहत्याय) पापरूप डाकुओंके मारनेके लिये (उप प्रयन्) यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके समीप अर्थात् हृदयमें प्राप्त होता हुआ (श्रवसे) कल्याणके लिये (दधे) धारण करता है । उपनिषद्में भी कहा है (तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम) ॥४॥

तुलना— गीतामें कहा है कि मायास्वरूप शय्या पर सोया हुआ यह मनुष्य यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंके आरंभमें ' तत् ' नामक ब्रह्मका जब उच्चारण करता है, तब उसके सब शुभकाम निर्विघ्नतासे समाप्त होते हैं ।

वेद और उपनिषद्में भी यही कहा है कि, परमात्माका सर्वोत्तम नाम तत् शब्दसे पुकारा जाता है, सब कर्मोंके आरंभ में ' ओं तत् सत् ' ऐसा उच्चारण करनेसे सब शुभकाम पूरी सफलतासे सिद्ध हो जाते हैं और मनुष्य यशस्वी होता है ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

भग. १७।२६-२७

अर्थ— (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (सद्भावे) सत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मभावमें (साधुभावे) और सत्यतामें अथवा अच्छे विचारमें अथवा यह मनुष्य बहुत सज्जन और साधु है इस भावमें (सत् इति–ए तत् प्रयुज्यते) सत् परमात्माके तीन नामोंसे सत् इस नामका प्रयोग किया जाता है । (तथा) वैसे (प्रशस्ते कर्मणि) श्रेष्ठ अर्थात् मंगलात्मक कर्ममें (सत् शब्दः प्रयुज्यते) सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥ (च) और (यज्ञे) यज्ञ विधानमें (तपसि) तपस्यामें (दाने) कन्यादान, गोदानादि दानोंमें (स्थितिः) अवस्था (सत् इति उच्यते) सत् अर्थात् श्रेष्ठ है, ऐसा कहा जाता है ।

---

१ ऊचुषे=ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, ' ब्रुवो वचि ' ' लिटः क्वसु ' ' वचिस्वपियजा० '— इति सम्प्रसारणम् । चतुर्थ्येकवचने भसंज्ञायां वसोः सम्प्रसारणम् । (शासिवसिघसी०)

२ कीर्तेन्यम्=कृत संशब्दने ' कृत्यार्थे तवैकेन— इति केन प्रत्ययः ।

३ मघवा=मघशब्दाच्छंदसि वनिपातम् ' इति मत्वर्थीयो वनिप् ॥

४ बिभ्रत्=डुभृञ् धारणपोषणयोः, जुहोत्यादित्वात् ' शपःश्लु–' भृञामित्यभ्यासस्य इत्वम् ' ' नाभ्यस्ताच्छतुः ' इति नुम् न ।

(च) और (तदर्थीयं कर्म एव) उस परमात्माके निमित्त अर्थात् निष्कामभावसे किया हुआ, यज्ञ, दान, तप आदि कर्म (सत् इति एव अभिधीयते) सत् श्रेष्ठ है, ऐसा ही कहा जाता है ॥ २ ॥

वेदगीता (मंत्र)

सद्दस्य मदे सद्दस्य पीतौ
इन्द्रः सद्दस्य सख्ये चकार ।
रणा वा ये निषदि सत् ते अस्य
पुरा विविद्रे सदु नूतनासः ॥ ऋ. ६।२७।२

अर्थ— (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (अस्य) इस दैवी मनुष्यकी (मदे) प्रसन्नताके लिये (सत्) सत्स्वरूप अर्थात् सद्भावरूप है (अस्य पीतौ) इस दैवी मनुष्यके परमात्माके रसात्मकस्वरूपकी पान करनेकी अवस्थामें अर्थात् (रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति) इस वचनाऽनुसार (सत्) सत्‌रूप है । (अस्य) इस दैवीजीवके (सख्ये) नर-नारायणात्मक सखाभावमें भी (सत् चकार) सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है । (ये रणाः) संसार संग्राममें रहनेवाले अथवा संसाररूपी सभामें वास करनेवाले 'ओं. तत् सत् ब्रह्म' परमात्माके इस नामकी स्तुति करनेवाले जो दैवी जीव हैं (ते) उन दैवी जीवोंने (पुरा) आदिकालमें ही (निषदि) यज्ञ, दान, तप करने योग्य शुद्धदेशमें (विविद्रे) इस सत् शब्दको पाया । (नूतनासः) दैवी जीवोंको देखकर अन्य दूसरे राजसी और तामसी जीव भी (सत् ओं) सत् शब्दका ही व्यवहार करते हैं । जिससे उनकी बुद्धि भी दैवी कर्मोंकी ओर झुकती है ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि परमात्मामें सत् शब्दका प्रयोग और शुभविचारोंमें सत् शब्दका प्रयोग शुभ कहा है । शुभकर्म यज्ञ दान, तपस्याके कर्मोंमें सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है । परमात्माके निमित्त अर्थात् निष्कामभाववाले कर्मोंमें सत् शब्द शोभा देता है ।

वेदमें भी यही कहा है कि परमात्माने अपने दैवी भक्तोंकी प्रसन्नताके लिए तथा नरनारायणात्मक सखाभावमें भी सत् शब्दका प्रयोग कहा है । सृष्टिके आदिमें दैवी जीवोंने यज्ञ, तप, दानादि शुभकर्मोंके लिये सत् शब्दको पाया । राजसी और तामसी दूसरे जीव भी दैवी जीवोंका अनुकरण करते हुए सत् शब्दकी ओर झुकते हैं, जिसके प्रभावसे सात्विकी जीव बन जाते हैं ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ भग. १७।२८

अर्थ— (हे पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (अश्रद्धया) श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धिकी विचारशून्यतासे (हुतं) अग्निमें चरुरूपसे डाली हुई हवि अर्थात् यज्ञ (दत्तं) दान-दिया हुआ अन्न या धन (तपः तप्तं) शरीरसे किया हुआ तप (यत् कृतं च) और जो किया हुआ उपकारादि कर्म है, वह सत्य कर्म श्रद्धासे रहित होनेके कारण (असत् इति उच्यते) असत् रूप है ऐसा कहा जाता है, (सत्) श्रद्धासे रहित किया हुआ यज्ञ, दान, तप आदि कर्म (प्रेत्य) मरने पर परलोकमें सुख देनेवाले नहीं होते । (च न इह) और न इस लोकमें सुख देनेवाले होते हैं ॥ २८ ॥

इति श्री जगन्नाथशास्त्रिकृतायां गीतावेदार्थबोधिन्यां सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ।

वेदगीता (मंत्र)

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

ऋ. १०।१५१।१

अर्थ— (अग्निः श्रद्धया समिध्यते) श्रद्धा अर्थात् आस्तिकबुद्धिद्वारा अग्नि समिधाद्वारा मंत्रोच्चारणपूर्वक यज्ञके लिये जलाई जाती है । (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा द्वारा अग्निमें हवि अर्थात् सुगंधित सामग्री डाली जाती है, जिस सामग्रीके हवनसे सारे जगत्‌का कल्याण होता है । (भगस्य) सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमात्माके (मूर्धनि) मुख्यश्रेष्ठतामें अर्थात् परमात्माके साक्षात्कार होनेके लिये (वचसा) वेदमंत्रोच्चारणरूप वाणी द्वारा (श्रद्धां वेदयामसि) श्रद्धाको समझते हैं, अर्थात् श्रद्धासे किया हुआ सब काम सफल होता है और अश्रद्धासे किया हुआ सब कार्य निष्फल होता है ॥ १ ॥

जैसे अन्यत्र कहा है—

प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ।
श्रद्धधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम् ॥ १ ॥

यथाऽग्निपुराणेऽपि—

श्रद्धाधर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं तपः ।
अश्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ॥ २ ॥

सर्वस्वं जीवितं वापि दद्यात् अश्रद्धया यदि ।
नाप्नुयात् तत्फलं किञ्चित् श्रद्धा दानं ततो भवेत् ॥ ३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

एवं भोजेषु यज्वस्व॒ऽस्माकमुदितं कृधि ॥

ऋ. १०।१५१।३

\+ + +

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।

यजु. १९।७७

अर्थ— (प्रजापतिः) परमात्माने अश्रद्धाको (अनृते) असत्–असत्यमें स्थापित किया, और (श्रद्धां सत्ये) श्रद्धाको सत्यमें स्थापित किया ॥ ७ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि जो शुभकर्म अश्रद्धासे किया जाता है। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्योंको इस लोकमें सुख नहीं होता और नहीं परलोकमें सख होता है।

वेद और धर्मशास्त्रमें भी यही कहा है कि यदि श्रद्धासे इस समिधा द्वारा अग्नि जला कर वेदमंत्रोच्चारण द्वारा हवन सामग्री श्रद्धासे डाली जाती है, तो उस कर्मका फल दोनों लोकोंमें सुखरूप मिलता है। देवता और सज्जन पुरुष उग्रसे उग्र राक्षसोंमें भी शुभकर्म करनेकी श्रद्धा उत्पन्न करा देते हैं। परमात्माने सृष्टिके आरंभमें श्रद्धाको सत्यमें और अश्रद्धाको असत्यमें स्थापित किया है।

इति श्रीलैयावास्तव्यसारस्वतान्वयकाष्ठपालजगन्नाथशास्त्रिकृतायां वेदगीतार्थबोधिन्यां षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥

वेदगीतायाः सप्तदशोऽध्यायारंभः

भगवद्गीतायाः अष्टादशोऽध्यायारंभः

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ भग. १८।१

अर्थ— अर्जुनने कहा। (हे महाबाहो !) हे बडी भुजाओंवाले श्री कृष्ण ! (हे हृषीकेश !) हे सब इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाले भगवन् ! (हे केशिनिषूदन !) केशीराक्षसके नाश करनेवाले स्वामिन् ! अथवा स्वप्रकाशसे सूर्यचंद्रादिके प्रकाशक पदार्थोंके प्रकाशका भी नाश करनेवाले भगवन् ! (संन्यासस्य तत्त्वं) संन्यास शब्दके वास्तविक अर्थको तथा (त्यागस्य च तत्त्वं) और त्याग शब्दके वास्तविक अर्थको (पृथक्) भिन्न भिन्न भावसे (वेदितुं) जाननेके लिये (इच्छामि) मेरी इच्छा है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ भग. ॥ १८।३

अर्थ— संन्यास और त्यागभेदवाले प्रश्नको सुनकर श्री कृष्णजी कहने लगे। हे अर्जुन ! (काम्यानां कर्मणां) स्वर्गप्राप्ति तथा इस लोकमें पुत्रधनादिकी प्राप्तिके कारण यज्ञदान तपादि नैमित्तिककर्मोंके (न्यासं) त्यागको (कवयः) संन्यासतत्त्ववेत्ता विद्वान् जन (संन्यासं) सन्यास (विदुः) कहते हैं। (विचक्षणाः) विशेषतासे सदसद्विवेकी विद्वान् (सर्वकर्मफलत्यागं) काम्य अथवा अकाम्यनित्यनैमित्तिकश्रौतस्मार्तप्रतिपादित यज्ञदान, तप इन सब कर्मोंके फलका त्याग अर्थात् फलकी प्राप्तिकी इच्छाके त्यागको (त्यागं प्राहुः) त्याग कहते हैं, न कि संध्योपासनादिकर्मोंका न करना त्याग कहा गया है ॥ २ ॥ (मनीषिणः एके) मनको अपने वशमें रखनेवाले कई एक विद्वान् (दोषवत् कर्म) दूषित कर्म अर्थात मद्यमांससेवन, परहननादि पापवाला कर्म (त्याज्यं) त्याग करने योग्य (आहुः) कहते हैं। (अपरे च) और अन्य कई एक विद्वान् (यज्ञदानतपःकर्म) यज्ञकर्म, दानकर्म, तपकर्म (न त्याज्यं) त्याग करनेयोग्य नहीं हैं, (इति आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमन्त्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

जुलाई १९६३

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक ७

श्री शारंगधर - मेहेकर

५० नये पैसे

ाख्यान
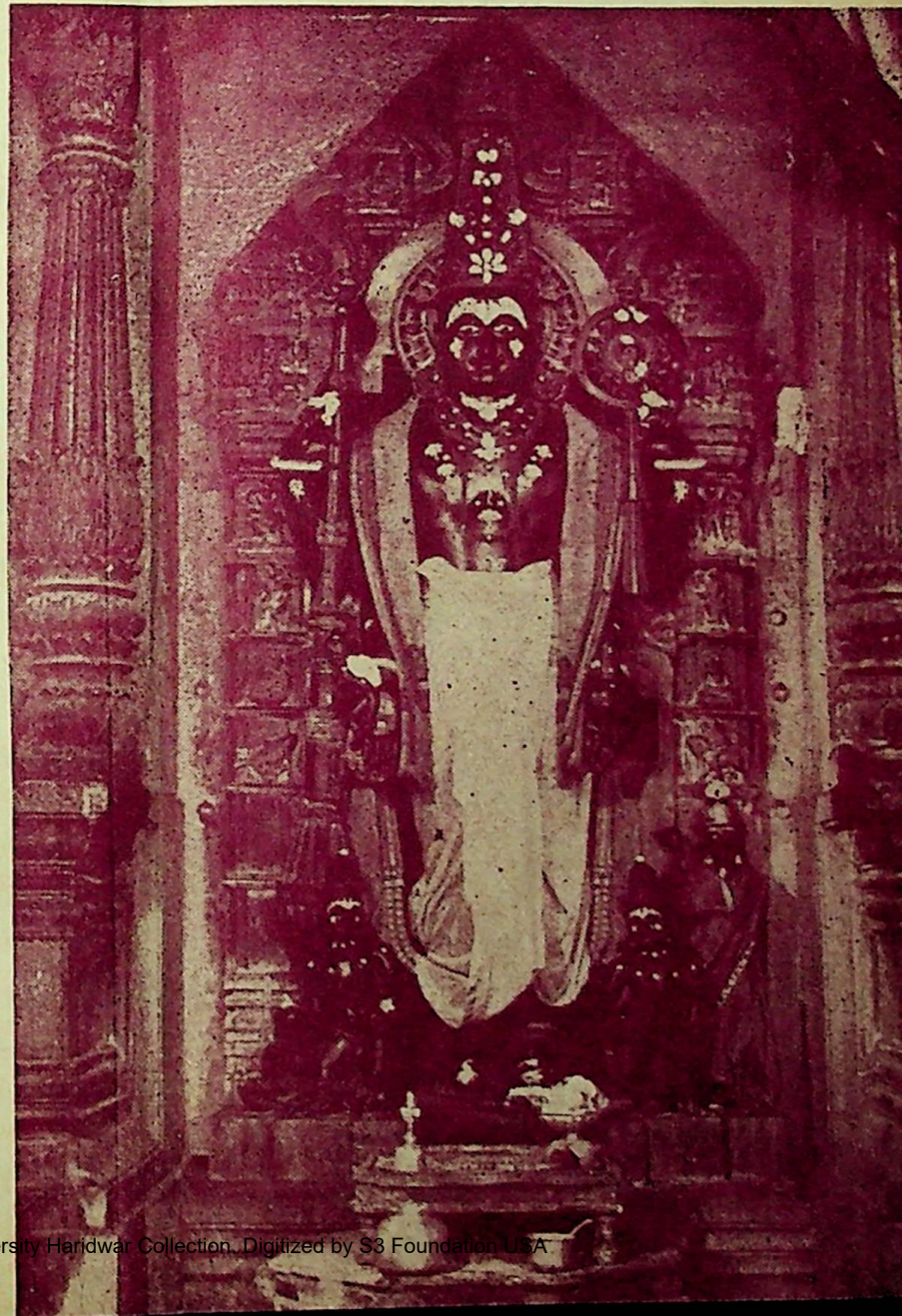
नेक ाकय एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान

र्योंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक ७

क्रमांक १७४ : जुलाई १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

—·—

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता– (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता– (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता– (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि ,, ,,	२)	.२५
३ शुनःशेप ,, ,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप ,, ,,	१)	.२५
५ काण्व ,, ,,	२)	.२५
६ सव्य ,, ,,	१)	.२५
७ नोधा ,, ,,	१)	.२५
८ पराशर ,, ,,	१)	.२५
९ गोतम ,, ,,	२)	.३७
१० कुत्स ,, ,,	२)	.३७
११ त्रित ,, ,,	१.५०	.३१
१२ संवनन ,, ,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ ,, ,,	.५०	.१२
१४ नारायण ,, ,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति ,, ,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी ,, ,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा ,, ,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि ,, ,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ ,, ,,	७)	१)
२० भरद्वाज ,, ,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

संसारकी भयंकर नदी

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं
उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः
शिवान् वयं उत्तरेमाभि वाजान् ॥

ऋ० १०।५३।८

हे (सखायः) मित्रो ! देखो (अश्मन्वती रीयते) पत्थरोंसे भरी हुई यह भयंकर नदी बही जा रही है, इस लिए तुम (उत्तिष्ठत) उठो, (सं रभध्वं) संगठित होओ और (प्र तरत) इस भयंकर नदीको तर जाओ। (ये अशेवाः असन्) जो अकल्याणकारी पदार्थ हों, उन्हें हम (अत्र जहाम) यहीं छोड दें, और (शिवान् वाजान्) कल्याण करनेवाली शक्तियोंको लेकर (वयं उत् तरेम) हम नदी पार कर जाएं ।

संसारकी नदी बडी भयंकर है, इसमें दुःखरूपी बडी बडी चट्टानें हैं, इसका प्रवाह भी बडा वेगवान् है । इसमें असावधान मनुष्य बह जाते हैं, पर जो हमेशा सावधान व जागते रहते हैं तथा आपसमें संगठन बनाये रखते हैं, वे इन दुःखरूपी चट्टानोंको पार कर जाते हैं । इस नदीको पार करते समय मनुष्यकी पीठ पर ज्यादा बोझ भी नहीं होना चाहिए, नहीं तो वह बीचमें ही डूब जाएगा । इस लिए जो रास्तेमें सुख पहुंचानेवाले पुण्यरूपी पदार्थ हों, उन्हींको मनुष्य इकट्ठा करे और पापरूपी पदार्थोंको यहीं संसारमें छोड दे ।
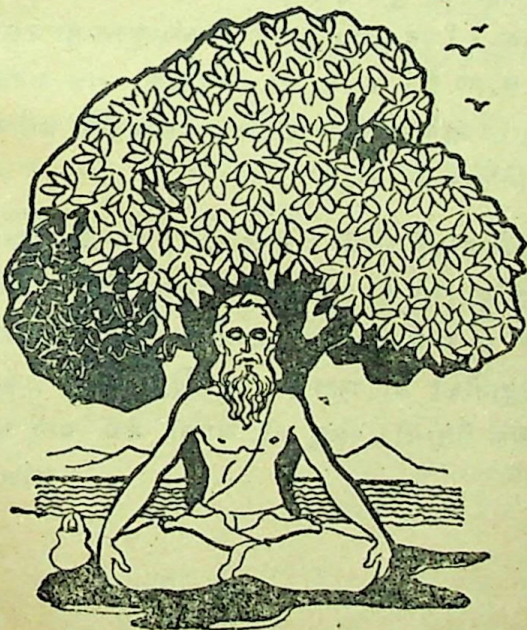
आर्यसमाजकी वर्तमान-दशा

अभी कुछ दिनों पूर्व आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश ने सभाकी जयन्ती बडे धूमधामसे मनाई और आर्यसमाजी नेताओंके विचारसे यह जयन्ती बडी सफल रही। पर इस जयन्तीमें रखे गए कार्यक्रमोंने एक बात स्पष्ट कर दी, कि अब आर्यसमाजमें भी ठोस कार्यक्रमोंका उतना मूल्य नहीं रह गया, जितना कि आडम्बरका। लखनऊसे प्रकाशित होनेवाले सप्ताहिक 'पांचजन्य' में इस जयन्तीका विवरण छपा था, और उसमें सम्पादकने लिखा था कि अब आर्यसमाज भी मार्गभ्रष्ट होचुका है। क्यों? इसीलिए कि अब आर्यसमाजमें भी विद्वानोंका उतना आदर नहीं रहा, जितना कि राजनैतिक नेताओंका। सारे जयन्तीके कार्यक्रमों पर राजनैतिक नेता छाए हुए थे। इनमेंसे कुछ नेताओंने तो जयन्तीके मंचसे ही आर्यसमाजकी आलोचनाकी, इस पर भी जयन्तीके संयोजक गर्व करते हैं कि उनकी जयन्ती सफल रही।

विचारणीय है, कि ये राजनैतिक नेता, जिनके सिद्धान्त कुछ नहीं, जिनका आचरण कुछ नहीं, जो महर्षिसे भी पूरी तरह परिचित नहीं, क्या महर्षिकी सम्मान्य संस्थामें आनेके काबिल थे? पर उन्हें बुलाया गया, केवल इसी लिए कि उनके कारण जनसमुदाय आए और जयन्तीके कार्यक्रमोंमें भाग ले। यदि मुझसे जयन्तीके संयोजक विचार विमर्श करते, कि किस प्रकार आदमियोंका मजमा इकट्ठा किया जाए, तो मैं उन्हें यही सलाह देता कि जनसमुदाय को इकट्ठा करनेके लिए तुम राजनैतिक नेताओंके स्थान पर सिने-कलाकारोंको आमंत्रण दो, फिर देखो, कितना जनसमुदाय खिंचा चला आता है।

महर्षिने अपना पूरा जीवन इसीमें खपाया, कि भारतमें वेदज्ञानका प्रसार हो, लोग शिक्षित बनें, पर उन्हीं की संस्थाके वर्तमान कर्णधार वेदके विद्वानोंकी उपेक्षा करते हैं, और सिद्धान्तविहीन नेताओंके पीछे पडे रहते हैं, भले ही वे आर्यसमाज और उसके सिद्धान्तों पर कीचड उछालें।

श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर भारतमें वेदोंके विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं, पर जयन्तीके संयोजकोंने उन्हें एक निमंत्रण पत्र भेजनेकी भी परवाह नहीं की। श्री आचार्य विश्वबन्धु जी वेदोंके जाने माने विद्वान् हैं, पर उन्हें भी आर्यसमाज अपने उत्सवोंमें निमंत्रित नहीं करता। क्यों? आर्यसमाज दलील देता है कि ये महर्षिके सिद्धान्तोंके विरुद्ध लिखते हैं। पर क्या आर्यसमाज द्वारा बुलाये जानेवाले राजनैतिक नेतागण आर्यसमाजके या उसके सिद्धान्तोंके विरोधी नहीं हैं, क्या वे कईबार आर्यसमाजके मंचसे ही आर्यसमाजकी आलोचना नहीं कर चुके हैं? फिर उन्हें क्यों बार बार बुलाया जाता है? यह आर्यसमाजका पिछलग्गूपन ही उसके गिरावटका कारण है। उसके इस बर्तावसे आज अनेकों आर्यविद्वान् ही आर्यसमाजसे रुष्ट हैं। आर्यसमाजका भविष्य बडा ही अनिश्चित है।

क्या आर्यसमाजमें इतनी आत्मदृढता है कि जिस प्रकार उसने (आर्यसमाजके ही शब्दोंमें) सिद्धान्त विरोधी होने के कारण श्री पं. सातवलेकरजी एवं श्री आचार्य विश्वबन्धु जी जैसे विद्वानोंको बहिष्कृत सा कर दिया, उसी प्रकार वह राजनैतिक नेताओंके लिए भी अपना मंच बन्द कर दे?

'शील'

हार्दिक अभिनन्दन

★

स्वाध्यायमण्डल, पारडी द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर संचालित संस्कृत परीक्षाओंके मार्च १९६३ के सत्रमें निम्नलिखित परीक्षार्थी अपनी अपनी परीक्षाओंमें प्रथम स्थान प्राप्त कर मण्डल द्वारा निश्चित किए गए पुरस्कारोंके अधिकारी बने—

मार्च १९६३ में सर्वप्रथम परीक्षार्थी

परीक्षा केन्द्र	परीक्षार्थी नाम	परीक्षा नाम	प्राप्तांक
बलौदाबाजार	भरतलाल भुवनलाल नामदेव	प्रथमा	४९
नागपुर (सं. वा. वि. प.)	कु. सुखमाल केसरीचंदजी कोठारी	,,	४९
सुलकूड	अशोक रामगोंडा पाटील	,,	४९
पवारवाडी	आनंदा वामन मोरे	,,	४९
चाकूर	धोंडीराम अमृतराव सावळे	,,	४९
मुण्डकूर	बि. वरदी बि. नरसिंह कामत	,,	४९
मुण्डकूर	प्रेमा एम. वेंकटेश पै	,,	४९
मुण्डकूर	प्रेमाकुमारी कृष्ण सेट्टी	,,	४९
शहापुर	बसवराज विरुपाक्ष मुक्कूल	,,	४९
डभोडा	योगेशकुमार शशिकान्त छाथी	,,	४९
खडगपूर	शशिकला ताराचंद जैन	प्रारंभिणी	९८
कीम	इलावतीबहेन मूलचंद शाह	प्रारंभिणी	९८
दर्यापूर	सदाशिव नामदेव महाजन	प्रवेशिका	१९२
डेतमसरा	सुधाकर गणपतराव जोशी	परिचय	२६९
रावेर	भास्कर गोपाल मांडवगणे	विशारद	३१७

इसके लिए स्वाध्याय मण्डल इन परीक्षार्थियोंका अभिनन्दन करता है, साथ ही उन केन्द्राध्यक्षोंका भी अभिनन्दन करता है, जिनके निरीक्षणमें इन परीक्षार्थियोंने सफलता प्राप्त की। पुरस्कार-प्राप्त परीक्षार्थियोंके पुरस्कार यथासमय केन्द्राध्यक्षोंके पास पहुंच जाएंगे।

First Candidates in 10 th March 1963

Centre	Candidate's name	Name of exam.	Marks obtained
Bulsar (J.S.K.V.)	Anilaben Bhagavandas Parekh	First	92
Ratlam (K. S.)	Chandramohan Kishorilal Mathur	Second	81
Pilwai	Bhogilal Lalluram Suthar	Third	80

We on behalf of Swadhyaya Mandal convey our hearty congratulations to these candidates and wish them good luck for future.

वराहभक्ष्या-भक्ष्य पर एक दृष्टि

(लेखक— श्री एन्. एस्. नारायण)

मार्च महीनेके 'वैदिक धर्म' में मांस भक्षाभक्षण पर पं. शिवपूजन सिंहजीने एक विचारपूर्ण लेख लिखा है। बुद्ध पर किये गये कई मिथ्यारोपणोंका ठीक ठीक उत्तर उन्होंने दिया है। उनके द्वारा दी हुई टिप्पणियोंसे यही सिद्ध होता है कि बुद्धने परिव्राजक बननेके पहले सूकर मांस खाया भी होगा, पर परिव्राजक बननेके बाद नहीं। उनका कहना कि 'अनुज्ञातवानस्मि स्वयं वा परिभुक्तवानिति नेदं स्थानं विद्यते' (P. 103 वैदिक धर्म मार्च) सत्यसे कोसों दूर है। क्योंकि राजभवनोंमें, वह भी पोषगणोंमें मांस अभक्षण मेरी समझसे बाहरकी वस्तु है।

प्रस्तुत लेखमें, दुनियाके विभिन्न देशके लोग सूकर मांस के प्रति किस तरहकी भावना प्रकट करते हैं, इसके बारेमें लिखता हूँ। और कहीं क्यों (?) का उत्तर भी प्रस्तुत करता हूँ।

जिस प्रकार वेदोंमें इन्द्र और वल, अवेस्तामें अहुरमज्दा, की कथाएं प्रचलित हैं, उसी प्रकार प्राचीन मिश्रमें भी 'रा' और 'सेति' (सैतान) की कथा प्रचलित है। रा सत्व गुणोंसे विभूषित सूर्य है। सेति तामसगुणोंवाला राक्षस है। जिस प्रकार वल इन्द्रसे युद्ध करता है, उसी प्रकार सेति भी राको खा डालनेके लिए भयंकर सर्प, और काले वराहका रूप धारण करता है। मिश्री गाथाओंमें एक स्थल पर जलभरित बादल (Watery clouds) को वराह या सेति कहा गया है। यह आधिदैविक अनुशीलन हुआ। इस सिद्धांतका एक दूसरा पहलू भी है, वह है ऐतिहासिक अनुशीलन। ऐतिहासिकोंके अभिप्रायके अनुसार बहुत प्राचीन कालमें विदेशी आक्रमणकारियोंने मिश्रको पराजित करके उस पर शासन किया। उनका देवता था वराह। इसलिए मिश्रवासी वराहको दुष्ट राक्षसके रूपमें मानने लगे। मिश्रका अभिमानी देवता 'रा' है। 'होरस' इसीका पुत्र सूर्य है। एक चित्रमें होरसको जंजीरोंसे बंधे हुए वराहके पीठ पर खडे होकर उसका सिर भालेसे छेदते हुए दिखाया गया है। इसी सेतिको मुसलमान और क्रिश्चियन सैतान कहते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रुओंके देवताका प्रतीक वराहमांस दूषित वस्तुओंमें गिना गया। आपको आगे विदित होगा कि बिना इतिहासको समझे बूझे सेमेटिक धर्म के मुसलमान सूकर-मांस निषिद्ध समझ बैठे हैं, जब कि ईसाई धर्म जो सेमेटिक धर्मकी शाखा होने पर भी सूकर मांस भक्षणका सम्मान करते हैं।

मिश्री प्राचीन इतिहासके अनुसार सेति सर्परूप है। पर वह कभी कभी वराहरूप भी धारण कर लेता है। होरसने, ऐसा कहाजाता है, कि एक बार 'रा' के समान बनना चाहा, और संसारमें रचित सभी जीव जंतुओंको देखना चाहा। रा ने उसे एक पाठ पढाना चाहा। इसलिए उसने होरसको काला सूकर देखनेको कहा। जब होरसने सूकरको देखा, तब उसका दाहिना नेत्र जल गया। रा ने कहा कि (काला) सूकर होरसके लिए निषिद्ध है। इसके बाद रा ने होरसकी आँख यथापूर्व बना दी।

मिश्री लोग सूकरको गंदा प्राणी मानते थे। हेरोदोतस नामक प्राचीन यवन यात्रीने, जो मिश्र गया था, कहा है कि, मिश्री एक बार सूकरको आकस्मिक भी क्यों न हो छूते ही तुरंत स्नान करते थे। सूकर ग्राहकको समाजमें अतिनिम्न स्थान प्राप्त था। और उसको देवमंदिरोंमें प्रवेशाधिकार नहीं था। मृतव्यक्तियों (Mummies) के पास रखे जानेवाले मांसभक्षणोंमें सूकर मांस कभी नहीं रखा जाता था। सिरिया (Syria) में भी सूकरमांसभक्षण पर निषेध था। आज भी स्कॉट्लेंड (Scotland) में काले सूकरको सैतान समझा जाता है और उसका भक्षण निंद्य समझा जाता है।

इसके विपरीत आर्य जनोंमें सूकरको अत्युच्च पद

प्राप्त है। गाल (फ्रांस) में सूकर मांसको श्रेष्ठ खाद्य समझते हैं। एकियन्स लोगोंमें, जो आर्योंकी एक शाखा है, सूकरगाहीको गौरवपूर्ण पद प्राप्त था।+ वह कभी राज्य शासक तकके उच्च पदोंको प्राप्त करता था। स्केण्डिनेविया (Scandinawia) में युद्धोपरांत 'वालहाल (Valhal) भोजन समारंभमें सूकर मांस भक्षण अत्यधिक रूपसे होता था तथा सूकरको धान्याभिमानी देवता भी माना जाता था। एरिष पुराणोंके अनुसार स्वर्गका अधिपति 'दग्द' था। स्वर्गमें एक सूकर (श्वेत) जिंदा रहता था और दूसरा सूकर (काला) भोजनार्थ मारा जाता था। यहां श्वेत वराह ओसिरिस है और काला सेति है। इतना ही नहीं, दग्द पुत्र अंगुस सूकरोंका अधिपति भी है।

प्रोफेसर फ्रेसर अपनी पुस्तक 'गोल्डन बो' (Golden Bough) में कहते हैं कि सूकर मांस पर प्रतिषेध इसलिए लगाया गया था कि वह ओसिरिसका प्राणस्वरूप है। हेरोदोतस कहता है कि हर साल चंद्र (खोन्स) और ओसिरिस (सूर्य) को सूकरोंकी बलि दी जाती थी। चंद्रको बलि देनेवाले सूकरको खाते थे पर ओसिरिसको बलि दिया हुआ सूकर नहीं खाते थे। किंतु मारे गये सूकरोंको जिन सूकरगाहियोंसे उनका क्रय हुआ था, उसको ही वापिस कर देते थे।

वे पर कभी कभी सूकरको सेति भी मानते थे और ओसिरिस भी मानते थे। यह इसलिए कि कृषिके आरंभमें बीज बोनेके समयमें सूकर सस्योंकी जड़ोंको (Roots) और सस्योंके उगनेमें बाधाडालनेवाले सस्योंको खा डालते हैं। इसलिए उन वराहोंमें श्रेयकारी ओसिरिसका प्रवेश मानते हैं। इसलिए उस वराहका आदर सम्मान करते हैं। पर फसल काटनेके समय यही सूकर फसल खाकर नष्ट करनेके कारण सूकर पर सेति (सैतान) का आवाहन मानते हैं।

मिश्रीय पुराणोंके अनुसार ओसिरिस और सेति 'सेब' के पुत्र हैं। ओसिरिस वराह सुगुणोंसे युक्त है, और सेति दुर्गुणोंसे युक्त है। इन दोनोंमें स्वर्गाधिपत्यके लिए हमेशा होड़ जारी रहती है। इनकी स्पर्धा हिम और सूर्यके रूपमें भी चलती है।

यवन गाथाओंमें अदोनिसके (Adonis) सूकरसे मारे जानेका वर्णन है। यूनानमें एक कथा प्रचलित है जिसके अनुसार अगर तुम किसी प्रकार सूकरसे संबंध रखोगे तो तुम्हें अनेक बाधाओंका सामना करना पड़ेगा। कथा यों है। कालिदोनियाका राजा मेलेयगर, जो जेसनके साथ हिरण्य मेषका चर्म (Golden Fleece) लाने गया था, उसने कालिडोनियामें धन धान्य विनाश करनेवाले एक दुष्ट वराहको मार डाला। इस वराह चर्मको अटलान्टा नामक अपनी प्रियाको दे दिया। पर मेलेयगरकी माँ के भाइयोंने अटलान्टासे सूकर चर्मको बलात्कारसे ले लिया। इससे क्रुद्ध मेलेयगरने उनको मार डाला।

इसी वक्त एक अशरीरवाणी सुनाई दी कि जो काष्ठ चूल्हेमें जल रहा है, उसके जलकर राख होते ही मेलेयगर भी मर जायगा। मेलेयगरकी मां अलथोयाने उस जलते काष्ठको उठाकर और बुझाकर कहीं छिपा रख दिया। पर उसके मनमें भ्राताओंकी मृत्यु पर द्वेषकी आग प्रज्वलित होती गई। इसलिए उसने उस काष्ठको आगमें डाला उस काष्ठके भस्म होते ही मेलेयगर भी चल बसा। अलथोयाने भी दुःखसे आत्महत्या कर डाली। रोते हुए मेलेयगरकी बहिनोंको आर्टेमिस देवताने पक्षियोंका रूप दिया।

जिस प्रकार सूकरने अदोनिसको मार डाला उसी प्रकार मिश्रमें ओसिरिसको और ऐरिष गाथाओंमें दियरमिदको एक सूकरने मार डाला। इससे स्पष्ट है कि अदोनिस, ओसिरिस और दियरमिद अच्छे वराहोंमें और सेति आदि वराह दुष्ट वराहोंमें गिने जाते हैं। (रा और सेतिके बारेमें अधिक जानकारीके लिए 'वेदवाणी' में मेरे लेख देखिए)। इतना ही नहीं बल्कि तीनों देवों (अदोनिस, ओसिरिस और दियरमिद) प्रेमाभिमानी देवता माने गये हैं। चंद्र भी प्रेमाभिमानी देवता है क्योंकि वह सूर्य (ओसिरिस) का भाई है। मिश्रीपुराण कहते हैं कि सेति क्षीण होता हुआ चंद्रको खाता है। इसलिए जिस सूकरकी चंद्रको बलि दी दी जाती थी, उसे लोग खाते थे। क्योंकि जिस प्रकार सेति क्षीण होता हुआ चंद्रको खाता है, उसी प्रकार लोग भी

+ पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों व ऐतिहासिकोंने आर्यसभ्यताका रूप कितना विकृत कर दिया, उसका एक उदाहरण। —सम्पादक

चंद्र, जो अच्छा देवता है उसको खाकर सुख पाते हैं। पर ओसिरिसको बलि दी जानेवाले सूकरको नहीं खाते थे।

क्योंकि यहां सूकर सेति है जो दुष्टगुणोपेत है। ऐसा भी कहा जाता है कि पौर्णिमामें सेतिने चंद्र (ओसिरिस) पर आक्रमण किया और चंद्रके शरीरके चौदह टुकडे करके नील (*Nile*) नदीमें फेंक दिये। यहां चंद्रकी चौदह गतियां लक्षित हैं। सेतिने ओसिरिसके प्रजननांगको नील नदीमें फेंक दिया, जिसे एक मत्स्यने खा डाला। मत्स्य या मीन स्त्रीपुरुष मिलनका संकेत है। भारतमें भी यही संकेत सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है। (मेरा अनुमान है कि अष्टादश पुराणोंके कतिपय विचार मिश्रसे अपनाये गये हैं। इसके बारेमें भविष्यमें एक लेख लिखूँगा।) इसलिए मिश्रमें पुजारी मत्स्य नहीं खाते थे। अगर किसी विशेष जातिके मत्स्य खाते भी, तो उसका पुच्छ और पक्षोंको काटकर शेष भाग खाते थे। इसी प्रकार वर्षमें एक बार चंद्रको बलि दिए जानेवाले सूकरका पुच्छ काटकर तदनंतर ही खाते थे। इससे विदित है कि चंद्र प्रजनन शक्ति देता है। मिश्री लोग महीनेमें (चंद्रमासके नवें दिनमें) अपने घरोंके दरवाजों पर आगमें पका हुआ मत्स्य खाते थे। प्राचीन ब्रिटिश लोग भी विशेष प्रकारके मत्स्य नहीं खाते थे। ईल नामक मत्स्य खाना स्काट्लैण्ड (Scotland) में आज भी निंदाई समझते हैं।

भारतमें भी सूकरके प्रति आदर और द्वेष दोनों भावनाएं पायी जाती हैं। वराह विष्णुका अवतार माना जाता है। विष्णुने वराहरूप धारण कर हिरण्याक्षका वध किया। ताण्ड्य महाब्राह्मणमें एक स्थल पर कहा गया है कि विष्णु वराहरूपमें हविष्यान्नको उठा ले गया। यह वराहका अच्छा स्वरूप हुआ। बुरे स्वरूपमें, शिवके द्वारा मूकदानव नामक राक्षसको मार डालनेका वर्णन महाभारतमें मिलता है। बल वराहरूप भी धारण करता है। उसका वध इन्द्रने किया। भारतमें सूकर मांस श्रेष्ठ जातियां खाती भी थीं। अश्वमेधयज्ञ की द्वितीया सुत्यामें सूकर वध किया जाता है अर्थात् (पौराणिक) पुरोहित और राजा सूकरका हविष्यान्न खाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि आर्य जातिमें सूकर भक्षण पर इतना कठिन प्रतिबंध नहीं था, जितना सेमेटिक (Semetic) जनांगोमें, और परिव्राजक बननेके पहले बुद्धने मांस, सूकर मांस भी खाया होगा। और लङ्कावतारसे उद्धृत बुद्धवचन 'अनुज्ञातवानस्मि स्वयं वा परिभुक्तवानिति नेदं विद्यते' प्रक्षिप्त माना जासकता है। 卐 卐 卐

हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये शास्त्रीय योग्यताओंकी मान्यता

मुंबई सरकारने सरकारी और अ–सरकारी हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये **स्वाध्यायमंडल, पारडी** की **तीन साहित्यिक परीक्षाओं**को मान्यता दी है। इनकी योग्यता निम्न प्रकार स्वक्रित की गई है—

स्वाध्यायमंडल किल्ला पारडी (जि. सूरत) की **साहित्यिक परीक्षाएं—**

साहित्यप्रवीण— एस. एस. सी./मेट्रिक के समान है,

साहित्यरत्न — इण्टर आर्ट्स के समान है, और

साहित्याचार्य— बी. ए. के समान है।

बंबई तथा मध्यप्रदेश सरकारने हमारे संस्कृत प्रचारमें परीक्षाओंको मान्यता देकर जो हमें प्रोत्साहित किया है उसके लिये हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

—परीक्षा–मन्त्री

अथर्ववेदके मातृभूमि सूक्त पर अपूर्व विवेचन—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

[डा. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

[गताङ्कसे आगे]

पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु । १२

इन पर्जन्योंसे प्रजाएं नयी-नयी प्रेरणाएं लेकर बढती हैं। पृथिवी पर उठनेवाले ये महान् वेग मानसिक शक्तियोंमें प्रकंप उत्पन्न करते हैं और शारीरिक बलोंमें चेतना या हलचलको जन्म देते हैं। शारीरिक और मानसिक दो प्रकारके वेगों (फोर्सेस्) के लिए वेदमें 'एजथुः' और 'वेपथुः' शब्दोंका प्रयोग किया गया है—

महत्सधस्तं महती बभूविथ
महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे । १८

भूमिकी एक संज्ञा सधस्थ (कॉमन फादरलैंड) है, क्योंकि यहां उसके सब पुत्र मिलकर (सह-स्थ) एक साथ रहते हैं। यह महती पितृभूमि या सधस्थ विस्तारमें अत्यन्त महान् है और ज्ञानकी प्रतिष्ठामें भी इसका पद ऊंचा है। इसके पुत्रोंके एजथु (मनके प्रेरक वेग) और वेपथु (शरीरके बल) भी महान् हैं। तीन महत्ताओंसे युक्त इसकी रक्षा महान् इन्द्र प्रमादरहित होकर करते हैं—

महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् । १८

महान् देश-विस्तार, महती सांस्कृतिक प्रतिष्ठा, जनतामें शरीर और मनका महान् आन्दोलन और राष्ट्रका महान् रक्षण-बल, ये चारों जब एक साथ मिलते हैं, तब उस युगमें इतिहास स्वर्णके तेजसे चमकता है। इसीको कविने कहा है 'हे भूमे! हिरण्यके संदर्शनसे हमारे लिए चमको, कोई हमारा वैरी न हो (१८)।' बडे-बडे बवंडर और भूचाल, हहरे और हडकंप, बतास और झंझाएं भौतिक और मानसिक जगत्में पृथिवी पर चलते रहते हैं।

इतिहासमें कहीं युद्धोंके प्रलयंकर मेघ मंडराते हैं, कहीं क्रांति और विप्लवोंके धक्के पृथिवीको डगमगाते हैं, परन्तु पृथिवीका मध्य बिन्दु कभी नहीं डोलता। जिन युगोंमें किलकारी मारनेवाली घटनाओंके अध्याय सपाटेके साथ दौडते हैं, उनमें भी पृथिवीका केन्द्र ध्रुव और अडिग रहता है। इसका कारण यह है कि यह पृथिवी इन्द्रकी शक्तिसे रक्षित (इन्द्रगुप्ता) है, सबसे महान् देव इन्द्र प्रमादरहित होकर स्वयं इसकी रक्षा करते रहते हैं। इस प्रकारकी कितनी ही अग्नि-परीक्षाओंमें पृथिवी उत्तीर्ण हो चुकी है।

कविकी दृष्टिमें मनुकी संतति इस पृथिवी पर अडचनके बिना निवास करती है **असंबाधं बध्यतो मानवानाम्।** (२) इस भूमिके पास चार दिशाएं हैं, इसका स्मरण करनेका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक दिशामें जो स्वाभाविक दिक्सीमा है वहां तक पृथिवीका अप्रतिहत विस्तार हो। प्राची और उदीची, दक्षिण और पश्चिम--इन दिशाओंमें सर्वत्र हमारे लिए कल्याण हो और हम कहींसे उत्क्रान्त न हों; (३१, ३२) इस भुवनका आश्रय लेते हुए हमारे पैरोंमें कहीं ठोकर न लगे। '**मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः**' और हमारे दहिने और बाएं पैर ऐसे दृढ प्रतिष्ठित हों कि किसी भी अवस्थामें वे लडखडाएं नहीं।

पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां
मा व्यथिष्महि भूम्याम् ।

जनताके पराक्रमकी चार अवस्थाएं होती हैं—कलि, द्वापर, त्रेता और कृत। जनताका सोया हुआ रूप कलि है, अंगडाई लेता हुआ या बैठनेकी चेष्टा करता हुआ द्वापर है, खडा हुआ रूप त्रेता और चलता हुआ रूप कृत है—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः । १८

पृथिवी पर असंबाध निवास करनेके लिए एक भावना बारंबार इन मंत्रोंमें प्रकट होती है, पृथिवीके विस्तारका भाव। यह भूमि हमारे लिए उरुलोक अर्थात् विस्तृत प्रदेश प्रदान करनेवाली हो—

उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।

द्युलोक और पृथिवीके बीचमें महान् अन्तराल जनताके लिए सदा उन्मुक्त रहे। राष्ट्रके लिए केवल दो चीजें चाहिए— एक 'व्यच' या भौमिक विस्तार और दूसरी

मेधा या मस्तिष्ककी शक्ति (५६)। इन दो की प्राप्तिसे पृथिवीकी उन्नतिका पूर्णरूप विकसित हो सकता है।

भूमि पर जनोंका वितरण इस प्रकार स्वाभाविक रीतिसे होता है, जैसे अश्व अपने शरीरकी धूलिको चारों ओर फैलाता है। जो जन पृथिवी पर बसे थे, वे चारों ओर फैलते गये और उनसे ही अनेक जनपद अस्तित्वमें आये। यह पृथिवी अनेक जनोंको अपने भीतर रखनेवाला एक पात्र है—

त्वमस्यावपनी जनानाम्। ६१

यह पात्र विस्तृत है (पप्रथाना), अखंड (अदिति रूप) है, और सब कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला (कामदुघा) है। किसी प्रकारकी कोई न्यूनता प्रजापतिके सुन्दर और सत्य नियमोंके कारण इस पूर्ण घटमें उत्पन्न नहीं होती। पृथिवीके उन भावोंकी पूर्तिका उत्तरदायित्व प्रजापतिके ऋत या विश्वकी संतुलन शक्तियों पर है—

यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति
प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य। ६१

पृथिवी पर बसे हुए अनेक प्रकारके जनोंकी सत्ता ऋषि स्वीकार करता है। मातृभूमिको वे मिलकर शक्ति देते हैं और उसके रूपकी समृद्धि करते हैं। अपने-अपने प्रदेशोंके अनुसार (यथौकसम्) उनकी अनेक भाषाएं हैं और वे नाना धर्मोंके माननेवाले हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। ४५

उनमें जो विभिन्नताकी सामग्री है, उसे मातृभूमि सहर्ष स्वीकार करती है। विभिन्न होते हुए भी उन सबमें एक ही तार इस भावनाका पिरोया हुआ है कि वे सब पृथिवीके पुत्र हैं। कविकी दृष्टिमें यह एकता दो रूपोंमें प्रकट होती है। एक तो उस गंधके रूपमें है, जो पृथिवीका विशेष गुण है। यह गंध सबमें बसी हुई है। जिसमें पृथिवीकी गंध है, वही सगंध है और उसीमें भूमिका तेज झलकता है। पृथिवीसे उत्पन्न वह गंध राष्ट्रीय विशेषताके रूपमें स्त्रियों और पुरुषोंमें प्रकट होती है। उसी गंधको हम स्त्री-पुरुषोंके भाग्य और मुखके तेजके रूपमें देखते हैं। वीरोंका पौंस्य भाव और कन्याका वर्चस् उसी गंधके कारण है। मातृभूमिकी पुत्री प्रत्येक कुमारी अपने नये लावण्यमें उसी गंधको धारण करती है। मातृभूमिकी उस गंधसे हम सब सुरभित हों, उस सौरभका आकर्षण सर्वत्र हो। अन्य राष्ट्रोंके मध्यमें हमारी उस गंधका कोई वैरी न हो, केवल उस गंधके कारण अर्थात् मातृभूमिकी उस छापको अपने सिरपर धारण करनेके कारण कोई हमसे द्वेष न करे।

तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन। २४,२५

वह गंध पृथिवीके प्रत्येक परमाणुकी विशेषता है। ओषधियों और वनस्पतियोंमें, मृगों और आरण्य पशुओंमें, अश्वों और हाथियोंमें सर्वत्र वही एक विशेषता स्पष्ट है। मातृभूमिकी उस गंधके कारण किसीको कहीं भी निरादर प्राप्त न हो, वरन् इसी गुणके कारण राष्ट्रमें वे तेजस्वी और सम्मानित हों। वही गंध उस पुष्करमें बसी हुई थी, जिसे सूर्याके विवाहमें देवोंने सूंघा था। हे भूमे! उन अमर्त्योंको तुम्हारी 'अग्र गंध' उदयके प्रथम प्रभातमें प्राप्त हुई थी, वही 'अग्र गंध' हमें भी सुरभित करनेवाली हो। जिस समय राष्ट्रकी सब प्रजाएं परस्पर सुमनस्यमान होकर अपने सुन्दरसे सुन्दर रूपमें विराजमान थीं, उस समय सूर्याके विवाहमें उनका जो महोत्सव हुआ था, उस सम्मिलनमें जिस गंधसे बसे हुए कमलको देवोंने सूंघा था, उसी अमर ऐश्वर्य गंधकी उपासना आज हम भी करते हैं (२३-२५)। जनताका बाह्य भौतिक रूप और भी उसी राष्ट्रीय ऐक्यसे सदा प्रभावित हो।

एकताका दूसरा रूप अधिक उच्च है। वह मानस-जगत की भावना है। वह अग्निके रूपमें सर्वत्र व्याप्त है। अग्नि ही ज्ञानकी ज्योति है। 'पुरुषों और स्त्रियोंमें, अश्वों और गोधनमें, जल और औषधियोंमें, भूमि और पाषाणोंमें, द्युलोक और अन्तरिक्षमें एक ही अग्नि बसी हुई है। मर्त्य लोग अपनी साधनासे उसी अग्निको प्रज्वलित करके अमर्त्य बनते हैं'। मातृभूमिके जिन पुत्रोंमें यह अग्नि प्रकट हो जाती है, वे अमृतत्व या देवत्वके भावको प्राप्त करते हैं। 'यह समस्त भूमि उस अग्निका वस्त्र ओढे हुए है। इसका घुटना काला है— '

अग्निवासाः पृथिवी असितज्ञूः। २१

पुत्र माताके जिस घुटने पर बैठता है, उसका भौतिक रूप काला है, किन्तु उस पर बैठकर और मातृमान् बनकर वह अपने हृदयके तेजस्वी भावोंसे उस घुटनेको चमका देता है और तीक्ष्ण बल प्राप्त करता है (२१)। मातृभूमिके साथ संबंधित होनेके लिए मनोभाव ही प्रधान वस्तु है। 'जो देवोंकी भावना रखते हैं, उनके लिए यहां सजाये हुए यज्ञ हैं, जो मानुषी भावोंसे प्रेरित हैं, उन मर्त्योंके लिए केवल अन्न और पानके भोग हैं (२२)। इस सूक्तमें भूमि, भूमि पर बसनेवाले जन, जनोंकी विविधता, उनकी

एकता और इन सबको मिलाकर एक उत्तम राष्ट्रकी कल्पना–इन पांच बातोंका स्पष्ट विवेचन पाया जाता है। कविने निश्चित शब्दोंमें कहा है—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। ८

समग्रता–राष्ट्रीय ऐक्यके लिए सूक्तमें 'समग्र' शब्द का प्रयोग है। यह ऐक्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? आपसमें भिन्नता होना, अनेक भाषाओं और धर्मोंका अस्तित्व कोई त्रुटि नहीं है। अभिशापके रूपमें उसकी कल्पना उचित नहीं है। ऋषिकी दृष्टिमें विविधता-का कारण भौमिक परिस्थिति है। नाना धर्म, भिन्न भाषाएं, बहुधा जन, ये सब यथौकस् अर्थात् अपने–अपने निवासस्थानोंके कारण पृथक् हैं। इस स्वाभाविक कारणसे भूलना मनुष्यकी मूर्खता है। ये स्थूलभेद कभी एका-कार हो सकेंगे, यह समझना भी भूल है। 'पृथिवीसे जो प्राणी उत्पन्न हुए हैं उन्हें भूमि पर विचरनेका अधिकार है। जितने मर्त्य 'पंच मानव' यहां हैं, वे तब तक रहेंगे जब तक सूर्य आकाशमें है, क्योंकि सूर्य ही तो प्रातःकाल सबको अपनी रश्मियोंसे अमर बना रहा है।' (१५)

पृथिवीके 'पंच मानव' और छोटी–मोटी और भी अनेक प्रजाएं (पंच कृष्टयः) विधाताके विधानके अनुसार ही स्थायी रूपसे यहां निवास करनेके लिए हैं, अतएव उनको परस्पर समग्र भावसे एकताके सूत्रमें बांधकर रखना आवश्यक है।

ता नः प्रजा सं दुह्रतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्। १६

बिना एकताके मातृभूमिका कल्याण असंभव है। पृथिवी के दोहनके लिए आदिराज पृथुने जड–चेतनके अनेक वर्गोंको एक सूत्रमें बांधा था और भूमिका दूध पीनेके लिए पृथुकी अध्यक्षतामें सभीको बछडा बनना पडा था। इस ऐक्य-भावकी कुंजी वाणीका मधु या बोली की मिठास है (वचः मधु)। यह कुंजी तीन कालमें भी नहीं बिगडती। हमें चाहिए कि जब बोलने लगें तो पहले यह सोच लें कि हम उससे किसीके हृदय पर आघात तो नहीं कर रहे हैं। 'हे सबको शुद्ध करनेवाली माता! तुम्हारे मर्म और हृदय स्थानका वेधन मैं कभी न करूं (३५)। प्रियदर्शी अशोकने सम्प्रदायोंमें सुमति और सद्भावके लिए वाणीके इस शहदका उपदेश दिया था। अपनेको उज्ज्वल सिद्ध कर-नेके लिए जब हम दूसरोंकी निन्दा करते हैं, तब आप भी बुझ जाते हैं। राष्ट्रकी वाकूमें मधुकी अनेक धाराओंके अन-वरत प्रवाहसे ही सबका कल्याण है और वही मधु समग्र प्रजाओंको एक अखंड भावमें गूंथता है। पृथिवी स्वयं क्षमा-शील धात्री है— (क्षमां भूमिम्, २९)। वह क्षम और सहिष्णुताका सबसे बडा आदर्श उपस्थित करती है। 'ज्ञानी गुरु' (२९) और 'मूर्ख–बुद्धू' दोनोंको वह पोषित करती है। भद्र और पापी दोनोंकी मृत्यु उसीकी गोदमें होती है' (४८) प्रत्येक प्राणी दाहिनी और बांई पसलियों-की करवटसे उस पर लोटता है और वह सभीका बिछोना बनी है (सर्वस्य प्रतिशीवरी। ३४)

पृथिवी पर बसनेवाला जन व्यक्तिरूपसे शतायु, पर समष्टि रूपसे अमर है। जनका जीवन एक पीढीमें समाप्त नहीं हो जाता, वह युगांत तक स्थिर रहता है। सूर्य उसके अमृतत्वका साक्षी है। जन पृथिवीके उत्संगमें रोग और ह्रासले अभय होकर रहना चाहता है (अनमीवाः अय-क्ष्माः। ६२) हे मातृभूमे! हम दीर्घ आयु तक जागते हुए तुम्हारे लिए भेंट चढाते रहें (६२)। पृथिवी जनके भूत और भविष्य दोनोंकी पालनकर्त्री है (सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी। १) उसकी रक्षा स्वयं देव प्रमादके बिना स्वप्नरहित होकर करते हैं (७) इसलिए पृथिवीका जीवन कल्पान्त तक स्थायी है। उस भूमिके साथ यज्ञीय भावोंसे संबंधित जन भी अजर–अमर हैं।

भूमिके साथ जनका संबंध आज नया नहीं है। यही पृथिवी हमारे पूर्व–पुरुषकी भी जननी थी। हे पृथिवी! तुम हमारे पूर्वकालीन पूर्वजोंकी भी माता हो। तुम्हारी गोदमें जन्म लेकर पूर्व जनोंने अनेक विक्रमके कार्य किये हैं—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे। ५

उन पराक्रमोंकी कथा ही हमारे जनका इतिहास है। पूर्व पुरुषोंने इस भूमिको शत्रुओंसे रहित, अनमित्र और असपत्न बनाया। उन्होंने युद्धोंमें दुंदुभि-घोष किया।

यस्यां वदति दुंदुभिः। ४१

और आनन्दसे विजयगान करते हुए नृत्य और संगीतके प्रमोद किये।

यस्यां नृत्यंति गायंति व्यैलबाः। ४१

जनताकी हर्षवाणी और किलकारियोंसे युक्त गीत और नृत्यके दृश्य, तथा अनेक प्रकारके पर्व और मंगलो-त्सवोंका विधान संस्कृतिका एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसके द्वारा लोककी आत्मा प्रकाशित होती है। भारतीय संव-

त्सरके षड्ऋतुओंका चक्र इस प्रकारके पर्वोंसे भरा हुआ है। उनके सामयिक अभिप्रायको पहचानकर उन्हें फिर से राष्ट्रीय जीवनका अंग बनानेकी आवश्यकता है। उद्यानोंकी क्रीडाएं और कितने प्रकारके पुष्पोत्सव संवत्सरकी पर्व-परंपरामें अभी तक बच गये हैं। वे फिरसे सार्वजनिक जीवनमें प्राण-प्रतिष्ठाके अभिलाषी हैं।

इस विश्वगर्भा पृथिवीके पुत्रोंको विश्वकर्मा कहा गया है (१३)। अनेक महत्वपूर्ण कार्योंकी योजना उन्होंने की है और नये संभारोंको वे उठाते रहते हैं। पृथिवीके विशाल खेतोंमें उनके दिन-रातके परिश्रमसे चारों ओर धान्य सम्पत्ति लहराती है। उन्होंने अपनी बुद्धि और श्रमसे अनेक बडे नगरोंका निर्माण किया है, जो देव-निर्मितसे जान पडते हैं–

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु। ४३

पृथिवीकी महापुरियोंमें देवताओंका अंश मिला है, इसीलिए तो वे अमर हैं। महापुरियोंमें देवत्वकी भावनासे स्वयं भूमिको भी देवत्व और सम्मान मिला है। जंगल और पहाडोंसे भरी हुई तथा समतल मैदान और सदा बहनेवाली नदियोंसे परिपूर्ण भूमिको हर एक दिशामें नगरोंकी शोभासे रमणीय बना देना राष्ट्रका बडा भारी पराक्रमका कार्य माना जाता है। संस्कृतिके अनेक अध्यायोंका निर्माण इन नगरोंमें हुआ है, जिसके कारण उनको पुनः प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। प्राचीन भारतमें नगरोंके अधिष्ठाता देवताओंकी कल्पना की गई थी। उन नगर-देवताओंको फिरसे पौर-पूजाका उपहार चढानेके लिए सार्वजनिक महोत्सवोंका विधान होना चाहिए। पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, उनमें भी सभ्यताके अंकुर फूले-फले हैं। ग्रामोंके जनपदीय जीवनमें एवं जहां अनेक मनुष्य एकत्र होते हैं, उन संग्रामों या मेलोंमें मातृभूमिकी प्रशंसाके लिए उसके पुत्रोंके कंठ निरंतर खुलते रहें—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते। ५६

'पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियां हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि! हम तुम्हारे लिए सुन्दर भाषण करें'।

सुन्दर भाषणका स्मरण करते हुए कविका हृदय गद्गद् हो जाता है। वह चाहता है कि भूमिके प्रशंसा-गानमें हमारा हृदय विकसित हो, हमारी वाणी उदार हो और हमारी भाषाकी शब्दसम्पत्तिका भंडार उन्मुक्त हो। वाणीका सर्वोत्तम तेज उन सभाओं और समितियोंमें देखा जाता है जो राष्ट्रीय जीवनको नियमित करती हैं। सभा और समितिको वेदोंमें प्रजापतिकी पुत्रियां कहा गया है। राष्ट्रीय जीवनके साथ उनका मिलकर कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। सभाओं और समितियोंमें जनताके जो प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं, मातृभूमिके लिए उनके द्वारा सुन्दरतम शब्दोंके प्रयोगकी कल्पना कितनी मार्मिक है? वेदोंके अनुसार पृथिवी पर बसनेवाली जनताका संबंध राष्ट्रसे है। राष्ट्रके अन्तर्गत भूमि और जन दोनों सम्मिलित हैं।

इसलिए यजुर्वेदके 'आ ब्रह्मन्' सूक्तमें एक ओर ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, तेजस्वी राजन्य और यजमानोंके वीर युवा पुत्रोंका आदर्श है, दूसरी ओर उचित समय पर मेघोंसे जल-वृष्टि और फलवती ओषधियोंके परिपाकसे पृथिवी पर धन-धान्यकी समृद्धिकी अभिलाषा है। इन दोनोंके सम्मिलनसे ही राष्ट्रका योग-क्षेम पूर्ण होता है। पृथिवी-सूक्तमें राष्ट्रके आदर्शको कई प्रकारसे कहा गया है। भूमि पर जनकी दृढस्थापना, जनतामें समग्रताका भाव, जनकी जनमित्र, असपत्न और असंबाध स्थिति आदि जो बातें राष्ट्र वृद्धिके लिए आवश्यक हैं, उनका वर्णन सूक्तमें यथास्थान प्राप्त होता है।

भूमि, जन और जनकी संस्कृति इन तीनों की सम्मिलित संज्ञा राष्ट्र है। पृथिवी-सूक्तके अनुसार राष्ट्र तीन प्रकारका होता है— निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। प्रथम कोटिके राष्ट्रमें पृथिवीकी सब प्रकारकी भौतिक सम्पत्तिका पूर्णरूपसे विकास देखा जाता है। मध्यम कोटिके राष्ट्रमें जनकी वृद्धि और हलचल देखी जाती है और उत्तम कोटिके राष्ट्रकी विशेषताका लक्षण राष्ट्रीय जनकी उच्च संस्कृति है। इसीको ध्यानमें रखते हुए ऋषि प्रार्थना करता है, कि हम उत्तम राष्ट्रमें मानसिक तेज और शारीरिक बल प्राप्त करें—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। ८

वह भूमि जिसका हृदय अमृत और सत्यसे ढका हुआ है, उत्तम राष्ट्रमें हमारे लिए तेज और बलकी देनेवाली हो। राष्ट्रके उपर्युक्त स्वरूपको यों भी कह सकते हैं, कि भूमि राष्ट्रका शरीर है, जन उसका प्राण है और जनकी संस्कृति उसका मन है। शरीर, प्राण और मन इन तीनोंके सम्मि-

उनसे ही राष्ट्रकी आत्माका निर्माण होता है। राष्ट्रमें जन्म लेकर प्रत्येक मनुष्य तीन ऋणोंसे ऋणवान् हो जाता है, अर्थात् त्रिविध कर्तव्य जीवनमें उसके लिए नियत हो जाते हैं। राष्ट्रके शरीर या भौतिक रूपकी उन्नति देवऋण है, क्योंकि वह भूमि इस रूपमें देवोंके द्वारा निर्मित हुई है। जनके प्रति कर्तव्य पितृऋण है, जो सुन्दर स्वस्थ प्रजाकी उत्पत्ति और उनके संवर्धनसे पूर्ण किया जाता है। राष्ट्रीय ज्ञान और धर्मके प्रति जो कर्तव्य है वह ऋषि-ऋण है। संस्कृतिके विकासके द्वारा हम उस ऋणसे उऋण होते हैं।

ऋषियोंके प्रति उत्तरदायित्वका अर्थ है ज्ञान और संस्कृतिके आदर्शोंको अपने ही जीवनमें मूर्तिमान् करनेका प्रयत्न, और यह विचार कि राष्ट्रमें ज्ञानके संरक्षण और संचयकी जो गुहाएं हैं, उनमें मेरा अपना मन भी एक गुहा बने, इससे राष्ट्रके उत्तम रूपका तेज विकसित होता है। एक तपस्वीके तपसे, ज्ञानीके ज्ञानसे और संकल्पवान् पुरुषके संकल्पसे समस्त राष्ट्र शक्ति, ज्ञान और संकल्पसे युक्त बन जाता है। राष्ट्रमें सुवर्णके सुमेरुओंका संचय उसके स्थूल शरीरकी सजावट है, परन्तु तप, ज्ञान और संकल्पकी साधना राष्ट्रके मन और जनकी संस्कृतिका विकास है।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।

यह वाक्य राष्ट्रकी उत्तम स्थिति या सर्वश्रेष्ठ आदर्शका सूत्र है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंके साथ संबंधित होता है। उस व्यवहारको दूसरे मंत्रमें (५८) चार प्रकारसे कहा गया है—

१—'मैं जो कहता हूं उसमें शहदकी मिठास घोलकर बोलता हूं।' अर्थात् सबके साथ सहिष्णुताका भाव राष्ट्रकी उद्घोषित नीति है और हमारे साहित्य और संस्कृतिका यही संन्देश है।

२—'जिस आंखसे मैं देखता हूं उसे सब चाहते हैं।' हमारा दृष्टिकोण विश्वका दृष्टिकोण है, अतएव उसके साथ उसका समन्वय है, किसीके साथ उसमें विरोध या अनहितका भाव नहीं है।

३—'परन्तु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति (जूति) है।' हमारा व्यवहार और स्थान वैसा ही है जैसा किसी तेजस्वी और सशक्तका होता है।

४—'जो मेरा हिंसन या आक्रमण (अवरोधन) करता है, उसका मैं हनन करता हूं।' इस नीतिमें राष्ट्रके ब्रह्मबल और क्षत्रबलका समन्वय है।

ऋषिकी दृष्टिमें भूमि धर्मसे धृत है, हमारे महान् धर्मकी वह धात्री है। उसके ऊपर विष्णुने तीन प्रकारसे विक्रमण किया, अश्विनीकुमारोंने उसको फैलाया और प्रथम अग्नि उस पर प्रज्वलित की गयी। वह अग्नि स्थान-स्थान पर समिद्ध होती हुई समस्त भूमि पर फैली है और उससे भूमिको धार्मिक भाव प्राप्त हुआ है। अनेक महान् यज्ञोंका इस पृथिवी पर वितान हुआ। उसके विश्वकर्मा पुत्रोंने अनेक बारके यज्ञीय विधानोंमें नवीन अनुष्ठानोंकी भूमिकाके रूपमें पृथिवी पर वेदियोंका निर्माण किया। अनेक ऋत्विजोंने ऋक् यजु और सामके द्वारा उन यज्ञोंमें मंत्रका उच्चारण किया, भूमि पर पूर्वजोंके द्वारा यज्ञोंका जो अनुष्ठान किया गया उससे भूप्रतिष्ठाके लिए अनेक आसंदियां स्थापित हुईं और जनकीर्तिके यूप-स्तंभ खड़े किये गये। भूमिको आत्मसात् करनेके प्रमाणरूपमें यज्ञीय यूप आज तक आर्यावर्त्तसे यवद्वीप तक स्थापित हैं। इन यूपोंके सामने दी हुई आहुतियोंसे सम्राटोंके अश्वमेध यज्ञ अलंकृत हुए हैं। कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय विक्रमके प्रतीकचिन्होंकी संज्ञा ही यूप है। पृथिवीका इन्द्रके साथ घनिष्ठ संबंध है। वह इन्द्रकी पत्नी है, इन्द्र इसका स्वामी है। इसने जान-बूझ कर इन्द्रका वरण किया, वृत्रासुरका नहीं।

इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्। ३७

इस प्रकार पृथिवी न केवल हमारी मातृभूमि ही है, अपितु हमारी धर्मभूमि भी है।

जन-- संस्कृति अथवा ब्रह्म--विजय

ऊपर कहा जा चुका है कि भूमिके साथ जनताका सबसे अच्छा और गहरा सम्बन्ध उसकी संस्कृतिके द्वारा होता है। पृथिवी पर मनुष्य दो प्रकारसे अपने आपको प्रतिष्ठित करता है-एक सैनिक बल या क्षत्र-विजय के द्वारा और दूसरा ज्ञान या ब्रह्म-विजयके द्वारा। क्षत्र-विजय (पॉलिटिक मिलिटरी एम्पायर) भी एक महान् पराक्रमका कार्य है, किन्तु ब्रह्म-विजय (आइडियॉलॉजिकल कल्चरल एम्पायर) उससे भी महान् है। इन दोनों दिग्विजयोंके मार्ग एक दूसरेसे स्वतंत्र हैं। हमारी पृथिवीका इतिहास दोनों प्रकारसे गौरवशील है। क्षत्र-बलके द्वारा देशमें अनेक छोटे और बड़े राज्योंकी स्थापना हमारे इतिहासमें होती रही। किसी पूर्व युगमें इस भूमि पर देवोंने असुरोंको पछाड़ा था और दुन्दुभि घोषके द्वारा पृथिवीको दस्युओं और शत्रुओंसे रहित किया था, उसके फलस्वरूप पृथिवीपुत्रोंने अजित, अक्षत और अहत होकर भूमिपर

अधिकार प्राप्त किया। इसप्रकारकी क्षत्र-विजय इतिहासमें पर्याप्त महत्वपूर्ण समझी जाती है, परन्तु भूमिकी सच्ची विजय उसकी संस्कृति या ज्ञानकी विजय है। जैसा कहा है, पृथिवी ब्रह्म या ज्ञानके द्वारा संवर्द्धित होती है—

ब्रह्मणा वावृधानाम्। २९

ब्रह्म-विजयके लिए एक व्यक्तिका जीवन उतना ही बडा है, जितना पूरी त्रिलोकी। उस विशाल क्षेत्रमें प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान और कर्मकी पूरी ऊंचाई तक उठकर दिग्विजयके आदर्शको स्थापित कर सकता है। एक छोटे जनपदका शासक भी अपने पराक्रमसे सच्ची बल-विजय प्राप्त करके जब यह घोषित करता है कि मेरे राज्यमें चोर, पापी और आचारहीन व्यक्ति नहीं रहते, तब वह अपने उस परिमित केन्द्रमें बडे-से-बडे सार्वभौम शासकका ऊंचा आदर्श और महत्व प्राप्त कर लेता है। व्यक्तियों और जनपदोंके द्वारा यह ब्रह्म-विजय समस्त देशमें फैलती है, और एक-एक ग्राम, पुर, नदी, पर्वत और अरण्यको व्याप्त करती हुई देशान्तर और द्वीपान्तरों तक पहुंचती है। दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, संस्कृतिकी बहुमुखी विजय भारतवर्षकी ब्रह्मविजयके रूपमें संसारके दूर देशोंमें मान्य हुई, जिसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। बृहत्तर भारतका अध्ययन इसी चतुर्दिश ब्रह्म-विजयका अध्ययन है।

ब्रह्म-विजय या संस्कृतिके साम्राज्यका रहस्य क्या है? आध्यात्मिक जीवनके जो महान् तत्व हैं, ऋषिकी दृष्टिमें वे ही पृथिवीको धारण करते हैं। इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ही राष्ट्रकी इस आधार-भूमिका वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भूमिके स्वरूपका ध्यान करते हुए सबसे पहले यही मूल सत्य ऋषिके ध्यानमें आया, जिसे उसने निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १

'सत्य, बृहत् और उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवीको धारण करते हैं। जो पृथिवी हमारे भूत और भविष्यकी पत्नी है, वह हमारे लिए विस्तृत लोक प्रदान करनेवाली हो'।

यह मंत्र भारतवर्षके सांस्कृतिक विजयका अंतर्यामी सूत्र है। इससे तीन बातें ज्ञात होती हैं—सत्य, ऋत आदिके शाश्वत तत्व जिस तरह आध्यात्मिक जीवनके आधार हैं, उसी तरह राष्ट्रीय जीवनके भी आधार हैं, उन्हींसे संस्कृतिका निर्माण होता है। दूसरे, भूतकालमें और भविष्यमें राष्ट्रके साथ पृथिवीका जो सम्बन्ध है, वह संस्कृतिके द्वारा ही सदा स्थिर रहता है। तीसरे यह, कि ब्रह्म-विजयके मार्गमें पृथिवीकी दिक्-सीमाएं अनंत हो जाती हैं। एक जनपदसे जो संस्कृतिकी विजय आरंभ होती है, उसकी तरंगें देशमें फैलती हैं और पुनः देशसे बाहर समुद्रों और पर्वतोंको लांघती हुई देशांतरोंमें और समस्त भूमंडलमें फैल जाती हैं। यही पृथिवीका 'उरुलोक' प्रदान करना है।

सत्य और ऋत जीवनके दो बडे आधार-स्तंभ हैं। कर्मका सत्य 'सत्य' है और मनका सत्य 'ऋत' है। मानस-सत्यके नियम विश्वभरमें अखंड और दुर्धर्ष हैं। कर्म-सत्य और मानस-सत्य इन दोनोंके बलसे राष्ट्र बलवान् होता है। इन दो प्रकारके सत्योंको प्राप्त करनेके लिए जीवनके कटिबद्ध व्रतका नाम 'दीक्षा' है। दीक्षित व्यक्ति पहली बार सत्यकी ओर आंखसे आंख मिलाकर देखता है। दीक्षाके अनन्तर जीवनमें जो साधना की जाती है वही 'तप' है। अनेक विद्वान् और ज्ञानी सत्यके किसी एक पक्षको प्रत्यक्ष करनेकी दीक्षा लेकर जीवनमें घोर परिश्रम करते हैं, वही उनका तप है। इस तपके फलका विश्वहितके लिए विसर्जन करना 'यज्ञ' है। इन पांचोंको जीवनमें प्राप्त करने या अनुप्राणित करनेकी जो भावना है, वही 'ब्रह्म' या ज्ञान है।

इन आदर्शोंमें श्रद्धा रखनेवाले पूर्व ऋषियोंने अपने ध्यानकी शक्तिसे (मायाभिः) इस पृथिवीको मूर्तरूप प्रदान किया, अन्यथा वह जलके नीचे छिपी हुई थी। वे ही ऋषि आदर्शोंके संस्थापक हुए, जिन्होंने जीवनके क्षेत्रमें सब तरहसे नया निर्माण किया। उन निर्माता पूर्वजों (भूतकृतः ऋषयः) ने यज्ञ और तपके साथ राष्ट्रीय सूत्रोंमें जिन वाणियोंका उद्घोष किया, वही यह वैदिक सरस्वती भारतीय ब्रह्म-विजयकी ऊंची शाश्वती पताका है। श्रुतिमहती सरस्वतीके कारण ही हमारी पृथिवी सब भुवनोंमें अग्रणी हुई, इसी कारण ऋषिने उसे 'अग्रेत्वरी' + (आगे जानेवाली) विशेषण दिया है। मातृभूमिके इसी

+ भुवनस्य अग्रेत्वरी (अग्रगामी) — [illegible] (प्रिफिथ, अथर्व० १२।१।५७)।

अपनी गुणको अर्वाचीन कविने 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने' कहकर प्रकट किया है। जो स्वयं सबसे आगे है वही अपने पुत्रोंको प्रथम स्थानमें स्थापित कर सकती है (पूर्वपेये दधातु)। × अपनी दुर्धर्ष महा-विजयके आनन्दमें विश्वासके साथ मस्तक ऊंचा करके प्रत्येक पृथिवी-पुत्र इस प्रकार कह सकता है— मैं विजयशील हूं, भूमिके ऊपर सबसे विशिष्ट हूं, मैं विश्वविजयी हूं और दिशा-विदिशाओंमें पूर्णतः विजयी हूं—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥ ५४

'अहमस्मि सहमानः' की भावना अनेक क्षेत्रोंमें अनेक प्रकारसे सहस्राब्दियों तक भारतीय संस्कृतिमें प्रकट होती रही। इसके कारण अनेक परिस्थितियोंके बीचमें पड़कर भी जनताका जीवन अक्षुण्ण बना रहा।

हे विश्वम्भरा पृथिवी! तुम्हारे प्रिय गानको हम गाते हैं। तुम विश्वकी धात्री (विश्वधायस्) माता हो, अपने पुत्रोंके लिए पयस्वती होकर सदा दूधकी धाराओंका विसर्जन करती हो। ध्रुव कामधेनुकी तरह प्रसन्न (सुमनस्यमाना) होकर तुम सदा सब कामनाओंको पूर्ण करती हो। हे कल्याण विधात्री! तुम क्षमाशील और विश्वगर्भा हो। तुम सदा अपने प्राणमय संस्पर्शसे हमारे मनोभावों और जीवनको सब तरहके मैलसे शुद्ध रखनेवाली हो। हे मार्जन करनेवाली देवि! (विमृग्वरी २६,३५,३७) तुम जिसको सांझ देती हो, वही नव तेजसे प्रकाशित होने लगता है। तुम धन-धान्यसे पूर्ण वसुओंका आधान हो। हिरण्य, मणि और कोष तुम्हारे वक्षःस्थलमें भरे हुए हैं।

हे हिरण्यवक्षा देवि! प्रसन्न होकर अपनी इन निधियोंको हमें प्रदान करो। जिस समय तुम समुद्रमें छिपी हुई थीं, उस समय तुम्हें अपने जन्मसे पहले ही विश्वकर्माका वरदान प्राप्त हुआ था। तुम्हारे भुजिष्य पात्रमें विश्वकर्माने अपनी हवि डाली थी।

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मा। ६०

इसके कारण विधाताकी सृष्टिमें जितने भी पदार्थ हैं और जितने प्रकारके सामर्थ्य हैं, वे सब तुममें विद्यमान हैं। विश्वकर्माकी हविमें विश्वके सब पदार्थ सम्मिलित होने ही चाहिए, अतएव उन सबको देने और उत्पन्न करनेका गुण तुममें है। हे विश्वरूपा देवि! जिस दिन तुमने अपने स्वरूपका विस्तार किया था और देवोंसे सम्बोधित होकर तुम्हारा नाम-करण किया गया था, उसी दिन जितने प्रकारका सौंदर्य था, वह सब तुम्हारे शरीरमें प्रविष्ट हो गया।

आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीं। ५५

वही सौन्दर्य तुम्हारे पर्वतों और निर्झरोंमें, हिमराशि और नदियोंमें, चर और अचर सब प्रकारके प्राणियोंमें प्रकट हो रहा है। हे मातृभूमे! तुम प्राण और आयुकी अधिष्ठात्री हो; हमें सौ वर्ष तक सूर्यकी मित्रता प्रदान करो, जिससे हम तुम्हारे सौन्दर्यको देखते हुए अपने नेत्रोंको सफल कर सकें। तुम अपनी विजयके साथ वृद्धिको प्राप्त होती हुई हमारा भी संवर्धन करो।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना। १३

जीवनके कल्याणोंके साथ हम सुप्रतिष्ठित हों। पृथिवी पर रहते हुए केवल भौतिक और पार्थिव विभूति ही जीवन में पर्याप्त नहीं है। कविकी क्रांतदर्शिनी प्रज्ञा द्युलोक के उच्च अध्यात्मभावोंकी ओर देखती है और उस व्योम में उसे मातृभूमिके हृदयका दर्शन होता है। इसलिए वह प्रार्थना करता है, 'हे भूमि माता! हमें पार्थिव कल्याणोंके मध्यमें रखकर द्युलोकके भी उच्च भावोंके साथ युक्त करो। भूमि और श्री दोनोंकी जीवनके लिए आवश्यकता है। द्युलोकके साथ संमनस्क होकर श्री और भूतिकी एक साथ प्राप्ति ही आदर्श स्थिति है—

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्
॥ ६३ ॥

पार्थिव-सम्पत्ति की संज्ञा भूति है और अध्यात्म-भावोंकी प्राप्ति श्री का लक्षण है। भूति और श्री का एकत्र सम्मिलन ही गीताको इष्ट है। यही भारतवर्षका ऊंचा ध्येय रहा है।

× पूर्वपेय— फोरमोस्ट रैंक ऐंड स्टेशन— ग्रिफिथ।

वीर समाज

लेखक— श्री सर्वजित गौड, कुल्लू

★

धन्य है हमारी भारत भूमि, जिससे हमारी आर्य्य जातिका जन्म तथा पालनपोषण हुआ। जिसने सारे संसारको मानवधर्म, विद्या तथा ज्ञान विज्ञानसे उज्ज्वल किया।

यह सत्य है—

जहां सुमति तहां सम्पति नाना।
जहां कुमति तहां विपति विधाना॥

एक समय था यह देश पृथ्वीका सिरमौर था। इस भारत भूमिको अपना गुरुगृह जानकर सब ओरसे मनुष्य विद्या प्राप्तिके लिये आते थे और लौटकर अपने देशमें कीर्ति फैलाते थे।

यह देश सब प्रकारसे समृद्ध था। इस देशके प्राकृतिक सौन्दर्य तथा समृद्धिको देखकर किसका जी न ललचाया? देवासुर संग्राम, आर्य्य अनार्य्य युद्ध आदि आरम्भसे यहां होते आए। परन्तु आर्य्य जातिके वीरों पर विजय प्राप्त करना सुगम न था। जहां यहांके ब्राह्मण उच्च कोटिके विद्वान् थे, वहां यहांके क्षत्री बली तथा पराक्रमी भी अद्भुत थे। यहांके वैश्य तथा शूद्र बड़े बुद्धिमान् धनाढ्य तथा कला-कौशल्यमें निपुण थे।

इस देशमें यही चार वर्ण एक अंगके चार अभेद रूपसे रहते थे और अपने शरीर आर्य्यराष्ट्रकी पूर्णरूपसे रक्षा करते थे। यज्ञ, हवन, दान पुण्यदेश और जातिका योगक्षेम कायम रखते थे। जाति कार्यमें कोई कृपणता नहीं दिखाता था।

यहांका क्षत्री देश तथा जातिकी रक्षाके लिये अपना सर्वस्व निछावर करना अपना कर्तव्य तथा धर्म समझता था। न्याय और दया इसके जीवनका मुख्य अंग था। गौ और ब्राह्मण की रक्षाके लिये अपना बलिदान करना एक जीवनका उद्देश्य था।

जिस प्रकार इस मनुष्य देहमें छाती और बाहू क्षत्री-गढ़ हैं, उसी प्रकार इस भारतभूमिमें राजस्थान है जिसके दो बाहू बंग और महाराष्ट्र हैं। यही स्थान आर्य्य राष्ट्र भारतमें क्षत्री गढ़ हैं। यहां जंगलोंमें शेर और महासिंह अपने परिवारमें विचरते हैं। ये जब तेज या मदमें आ कर दहाड़ते हैं, तो विश्व कम्पायमान हो जाता है। इन सिंह तथा महासिंहोंसे खेलनेवाले हमारे क्षत्री वीर भी इन्हींके बीच अपने कोटोंमें निवास करते हैं।

जब किसी जातिमें व्यक्तिगत रूपसे 'मैं' और 'मेरा' आ जाता है तो अन्याय भी आ जाता है। जब अधिकारीमें अन्याय आजाता है, तो अधोगति आरम्भ हो जाती है। महाभारतका मूल कारण यही था। स्त्री अपमान और अनधिकार चेष्टा जब किसी कुल या जातिमें पैदा हो जाये तो समझो कि अब उसके नाशका समय आ गया। यही हमने महाभारतमें हुआ देखा। जिसका नतीजा हम आजतक भोगते आये हैं॥

आर्य्य जातिमें संघशक्ति न रहनेसे क्षीणता आगई। भारत कई राजवाड़ोंमें बंट गया। जयचन्द और पृथ्वीराजमें झगड़ा हुआ। बाहरसे यवनों और मुसलमानोंने आक्रमण आरम्भ किये, लूटमारका बाजार गरम हुआ। आर्य्य हिन्दू, स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध सभीको कत्लेआम लूट खसोट, धर्म बदल और नाना प्रकारके जुल्मोसितम करने शुरू किये।

क्षत्री वीर राजपूत हजारोंकी संख्यामें हल्दीघाटी, पानीपत आदि अनेक लड़ाइयोंमें काम आये। उनकी वीरांगनाओंने अपने अस्तित्वकी लाज बचानेके लिये अपने आपको चितामें जला दिया। धन्य हैं वह देवियां, जो अपनी पतिव्रताके लाजको बचाकर सती हो गईं!!! हिन्दू आर्य जातिकी लाज रक्खी!!! ऐसे वीर जांबाज पुत्र-पुत्रियोंको जन्म देनेवाले मातापिताका बार बार धन्यवाद। वह भील जो अन्तमें महाराणाकी सेनामें मिलकर शत्रूसे लड़े अति धन्यवादके भागी हैं, इन्हें छातीसे लगाना चाहिए!!

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी मरहठाका नाम सुन कर हमारा सिर स्वजातीयाभिमानसे सदा ऊंचा होता है और हमें शूरवीरताकी मद मस्तीमें लाता है। धन्य हैं वह मातायें, जिन्होंने इन वीरोंको जन्म देकर देश जातिकी लाज रखी !! महाराणाने कसम खाई थी कि जबतक दिल्ली फतह न करूंगा, तबतक न दिल्ली जाऊंगा, न पलंग पर सोऊंगा और न थालीमें खाना खाऊंगा। यह कसम पूरी हुई और राणाके भाई अब देशके स्वतंत्र होनेसे प्रसन्नतापूर्वक इसमें शामिल हो गये !!!

उन वीर राजपुत्रों तथा पुत्रियोंको जो महाराणा प्रतापकी सेनासे उनके बाद बाकी रहे और अपने जन्मस्थानसे वंचित हो गये थे और इधर उधर बैलगाडियोंमें डेरा लिये लोहे आदिका काम करके अपना गुजारा करते थे और मारे मारे फिरते थे, दो बारा बडे सन्मान पूर्वक ऐसे ४०,००० वीरोंको चित्तौडमें प्रवेश कराकर हमारे प्रधानमंत्री श्री जवाहरलालजीने बडा उपकार किया है।

आर्य्य जातिके चार विभाग (वर्ण) इस जातिकी संस्कृतिके चिन्ह हैं। हर एक वर्णमें अपने अपने कर्तव्यके संस्कार पाये जाते हैं और यह आरम्भसे पितासे पुत्रमें चले आ रहे हैं। फौलाद यदि गला सडा भी हो तो मामूली संस्कारसे तलवार बनानेके काम आ सकता है, परन्तु साधारण लोहेको बहुत संस्कारके बाद फौलाद बनाया जा सकता है।

यदि राजकीय कारोबारके रक्षाविभागमें क्षत्री, शिक्षा विभागमें ब्राह्मण, व्यापार विभागमें वैश्य तथा दस्तकारीमें शूद्र वर्णको विशेषरूपमें लिया जाए, तो राजकार्यमें बहुत सुगमता हो सकती है।

आजकल सिनेमामें जो चित्र दिखाए जाते हैं और जो गानें होते हैं, वह देशके चारित्रको बिगाडनेवाले होते हैं। इन चलचित्रों और गानोंकी जगह ऐतिहासिक वीर चित्र दिखाए जायें और गाने भी वीर रससे भरपूर हों, तो आज के लिए बडे उपयोगी हों। हमारे सब खेल तमाशे जातिको सुचरित्र और वीर बनानेवाले हों। हमारी स्कूलकी पुस्तकोंमें भी वीर स्त्री पुरुषोंकी जीवनियां हों।

हमारे प्राचीन कालसे लेकर आज तक स्त्री-पुरुष बडे वीर होते आए हैं। महाराणी लक्ष्मीबाई झांसीके कारनामें किसीसे छुपे नहीं हैं।

अब भारत स्वतंत्र है, परन्तु भ्रष्टाचार दिन प्रति दिन बढता जा रहा है। इसका कारण यही है कि अयोग्य व्यक्तियोंके हाथमें अधिकार जा रहा है। यह समय देशके लिये संकटका है, देशके अन्दर व बाहर शत्रु ताकमें हैं। अतः अधिकार योग्य तथा नीतिज्ञ वीर व्यक्तिको ही सौंपना लाभकारी है।

पूर्व-जन्मकी स्मृति केवल दिव्य-लोकके जीवोंको ही होती है

(लेखक— श्री नाथूलाल वानप्रस्थी, वैदिक धर्म तथा संस्कृत विशारद, लश्कर, म. प्र.)

वैदिकधर्म क्रमांक १३८, जून १९६० पृष्ठ २५२ पर श्री चंचलबहन माणिकलाल पाठक आनरेरी कोषाध्यक्ष आर्यसमाज टंकाराने जिज्ञासा की है कि ' क्या पुनर्जन्मकी स्मृति रहनी शक्य है ? विद्वान् लोग बुद्धिगम्य प्रमाण देकर सिद्ध करनेकी कृपा करें ' इसके उत्तरमें मैं अपनी मतिके अनुसार विचार प्रकट करता हूं। इसके पढनेसे पाठकोंको संतोष होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

धर्मशास्त्र, विज्ञान और बुद्धिके अनुसार इस भौतिक लोकमें पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं होती। महर्षि दयानन्दको योगके द्वारा प्रयत्न करने पर भी स्वयंके पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं हुई, तब उन्होंने सत्यार्थप्रकाशमें स्पष्ट रूपसे लिख दिया कि ' कोई कितना भी प्रयत्न करे, परन्तु पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं होसकती। ' और जो बच्चे अपने पूर्वजन्मकी स्मृतिका होना बताते हैं, वह केवल गर्भावस्थाकी स्मृति होती है, जैसे कि वीर अभिमन्युको हुई थी। इन स्मृतियोंको पूर्वजन्मकी स्मृति बताना नितान्त मिथ्या है। इसका खण्डन (मैंने ' वैदिक पुनर्जन्म मीमांसा ' में जो वैदिकधर्म मास नवम्बर व दिसम्बर १९४९ तथा जनवरी १९५०में प्रकाशित हुए हैं) सविवरण किया है, जो महानुभाव सविवरण खण्डन देखना चाहें, वह उक्त अंकोंमें देख सकते हैं।

परन्तु पूर्वजन्मकी स्मृति होनेके सम्बन्धमें भगवद्गीता २।४ में बताया है कि—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

(गी. ६।४३)

जब मृत्युके पश्चात् पाप पुण्यके फल भोगनेके हेतु जीव दिव्यलोकके नर्क व स्वर्गमें जाता है, तब (कुरुनन्दन) हे अर्जुन ! (तत्र) वहां (बुद्धिसंयोगम्) वह बुद्धिके संयोगसे (तं पौर्वदेहिकम्) उस अपने पूर्व देहके कर्मोंके संस्कारोंकी स्मृति (लभते) प्राप्त करता है, (ततः) उस पूर्वजन्मकी स्मृतिके प्रभावसे (भूयः) फिर (संसिद्धौ यतते) अधिक अच्छी रीतिसे संसिद्धि प्राप्त करनेका अर्थात् मुक्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है।

अतः भगवद्गीताके उपरोक्त प्रमाणसे स्पष्टतः सिद्ध है कि इस भौतिक लोकमें मृत्यु होनेके पश्चात् उस जीवको पाप पुण्यका फल भोगनेके हेतु दिव्य लोकके नर्क व स्वर्गमें भेजा जाता है, वहां न्यायाधीशकी तरह उस जीवको पूर्व देहके कर्मोंका ज्ञान कराकर उसके कर्मोंका फल दिया जाता है। जिससे कि उसको यह ज्ञान होजावे कि मुझे जो सुख व दुःखके रूपमें कर्मफल दिया जारहा है, वह फलां कर्मका है। जिससे वह भविष्यमें बुरे कर्मोंको त्याग कर अच्छे कर्मों द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सके। यह गीताका वचन न्याय और बुद्धिसंगत एवं सत्य प्रतीत होता है। इससे यह भी सिद्ध होजाता है कि यह भौतिकलोक केवल स्वतंत्र रूपसे कर्म करनेका व दिव्यलोक एक कारागृहकी तरह कर्मफल भोगनेका है, इसलिये दिव्यलोकमें जानेवाले पापात्मा व पुण्यात्मा सबको ही पूर्वजन्मकी स्मृति होती है परन्तु इस भौतिक लोकमें ईश्वरीय अवतारके अतिरिक्त किसीको नहीं होती, चाहे जैसा भी पुण्यात्मा हो। (इसका विवरण ' आभा ' के अंक १-५ में ' पुनर्जन्म क्या है ? ' शीर्षकसे भलीभांति दिया जा चुका है

कि मृत्युके पश्चात् भौतिकलोकमें पुनर्जन्म होता ही नहीं है, इसलिये फिर पूर्वजन्मकी स्मृति होनेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता)।

इस सम्बधमें पं. जगन्नाथजी शास्त्रीने 'वैदिकधर्म', मास अगस्त पृष्ठ ३३३-३३७ में लिखा है कि 'तमोगुणी (आसुरी-जीव) में ज्ञानका प्रकाश, सत्कर्मकी प्रवृत्ति नहीं रहती, उसमें प्रमाद अर्थात् विस्मृतिके कारण प्रातः कुछ और सायं कुछ विचार करता रहता है तथा सांसारिक मोहमें फँसा रहता है इससे सिद्ध होता है कि संसारी अर्थात् आसुरी जीवको पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं होती। परन्तु यह निश्चित है कि दैवी जीवोंको पूर्वजन्मकी स्मृति रहती है।' किन्तु यह कथन श्रीमद्भगवद्गीताके विरुद्ध होनेके कारण नितान्त मिथ्या है।

क्योंकि दैवी सम्पत्तिवालेको पूर्वजन्मकी स्मृति न होनेके सम्बन्धमें भगवद्गीता १६।५ व ४।५ में निम्नप्रकार वर्णन है।

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव॥
(गी. १६।५)

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेद परंतप॥
(गी. ४।५)

अर्थात्— दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये और आसुरी संपदा बांधने के लिये है। किन्तु हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदाको प्राप्त हुआ है।

हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे अर्जुन! उन जन्मोंको तू नहीं जानता और मैं जानता हूं।

उपरोक्त कथनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि भगवान् कृष्णने अर्जुनको दैवी संपदावाला होना बताते हुए उसको पूर्व-जन्मकी स्मृति न होनेवाला बताया है। इसी प्रकार अनेक ऋषि, महर्षि, ब्रह्मनिष्ठ आद्यशंकराचार्य आदि महान् आत्माओंको भी आजतक पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं हुई, और वर्तमानकालके महर्षि दयानन्दने तो स्पष्टसे लिख दिया है कि 'चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे परन्तु पूर्व-जन्मकी स्मृति नहीं होसकती'। परन्तु लेखक महोदय जो गीताके भाष्यकर्ता भी हैं, उनके उपरोक्त कथनसे पूर्व-जन्मकी स्मृतिके अभावमें दैवीसम्पत्तिवाला अर्जुन तथा अन्य ऋषि महर्षि और ब्रह्मनिष्ठ महान् आत्माएँ आसुरी सम्पत्तिकी श्रेणीमें आजाती हैं। अतः यह कथन कहांतक ठीक है यह पाठकोंके लिए विचारणीय है।

विश्वशान्तिका आध्यात्मिक-मार्ग

[जगद्गुरु श्री भारती कृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धन मठ, पुरी]

(अनुवादक- श्रुतिशील शर्मा, तर्कशिरोमणि)

[गताङ्कसे आगे]

★

विश्वके सभी धर्मशास्त्रोंमें नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, । वैयक्तिक पवित्रता तथा हृदयकी शुद्धता पर धर्मशास्त्रोंने ज्यादा जोर दिया है ।

मैंने अब तक जिन जिन धर्मशास्त्रोंका अध्ययन किया है, सबकी जडमें मैंने नैतिकताको ही पाया है । सबके सिद्धान्त एक हैं, सबकी नींव एक है और वह नींव है नैतिकता ।

उदाहरणके लिए, ईसा कहते हैं, ' पवित्रहृदयवाले ही भाग्यवान् हैं, क्योंकि वे परमात्माको देखेंगे ' । एक दूसरे प्रसंगमें वे हमसे कहते हैं ' मेरे पिताके घरमें कई कमरे हैं ' । इस दूसरे वाक्यकी व्याख्या कोई ऐसा भी कर सकता है कि परमात्माके राज्य स्वर्गमें भी उच्च और निम्न श्रेणियां हैं । पर प्रथम वाक्यमें कोई इस प्रकारका भेद नहीं है कि ईसाईसे इतर जन परमात्माको नहीं देख सकते अथवा वे स्वर्गको नहीं पा सकते ।

ईसाका स्पष्ट कथन है, हर मनुष्य जो पवित्रहृदयवाला होगा, ईश्वरका साक्षात्कार कर सकेगा । उन आदमियोंको, जो पवित्र हृदयवाले नहीं हैं, न जिनका ईश्वरपर सच्चा विश्वास ही है, पर धर्म करनेका ढोंग करते हैं, ईसाने बडी बुरी तरह फटकारा है ।

दूसरे धर्मशास्त्र भी इस प्रकारके धार्मिक ढकोसलों पर प्रहार करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीताका कथन है कि वह आदमी जो धर्म व श्रद्धाका ढोंग तो करता है, पर जिसका वैयक्तिक जीवन बडा निकृष्ट है, अपने अन्दर रहनेवाले देवका अपमान करता है ।

आजकल लोग ' धार्मिक सहिष्णुता ' के बारेमें बहुत कुछ बोलते हैं । वे कहते हैं ' हम उनकी तरह नहीं हैं, जिन्होंने धर्मके नाम पर भरपूर अत्याचार किये ' । पर मेरा विचार यह है कि ' धार्मिक सहिष्णुता ' ही किसीके लिए पर्याप्त नहीं है ।

जब लोग ' धार्मिक सहिष्णुता ' की बात करते हैं, तो उनका इस ' शब्द ' से क्या अभिप्राय होता है? क्या यह, कि उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको जीवित नहीं जलाया? यदि ऐसा है तो हम उनकी इस दयाके लिए आभारी हैं ।

पर ' धार्मिक सहिष्णुता ' ये शब्द ही दूसरे धर्मोंका व उनके अनुयायियोंका अपमान करनेवाले हैं । हम अक्सर किस बातको सहते हैं ? जो बुरी होती है, हम कभी यह नहीं कहते कि हम अच्छी बातोंको सहते हैं । अतः जब हम ' धार्मिक सहिष्णुता ' की बात करते हैं, तो इसका अर्थ ही यह है कि हम दूसरे धर्मोंको अपने धर्मकी अपेक्षा हीन मानते हैं । हम स्वयंको विशाल मनोवृत्तिवाले तथा सभ्य समझते हैं, क्योंकि हमारे अन्दर ' धार्मिक सहिष्णुता ' है ।

भारतीयशास्त्र कहते हैं कि केवल ' धार्मिक सहिष्णुता ' ही पर्याप्त नहीं है । इससे बढकर एक और चीजकी आवश्यकता है, और वह है दूसरे धर्मवालोंके साथ सहयोग व प्रेमकी भावना ।

मैं बार बार यही कहता हूं कि मेरा किसी धर्म, किसी मजहब या किसी सम्प्रदायसे झगडा नहीं है। मेरा तो केवल धर्मके नाम पर होनेवाले झगडोंसे झगडा है। धर्मको, जिसे लोगोंमें एकता स्थापित करनेका माध्यम बनाना चाहिए था, उनमें भेद स्थापित करनेका तथा परस्पर खून बहानेका माध्यम बनाया गया। हमारे शास्त्रोंका कहना है कि वह धर्म, जो दूसरे धर्मोंके प्रतिद्वन्द्वितामें खडा होता है, एक सच्चा धर्म नहीं हो सकता, वह तो एक आडम्बरमात्र है।

जिस प्रकार हममेंसे प्रत्येक अपने पथ पर चलनेकी, अपने देवको पूजनेकी और धार्मिक दृष्टिसे अपने विचारोंकी स्वतंत्रता चाहता है, उसी प्रकार दूसरोंको भी ये स्वतंत्रतायें प्रदान करनेके लिए उसे तैय्यार रहना चाहिए। यदि हम किसीको बुरे मार्गसे जाता हुआ देखते हैं, तो उसे समझा बुझाकर उस मार्गसे हटा देनेमें कोई हानि नहीं है, पर यदि हम चाहें कि उन विचारोंको, जो हमने निश्चित कर लिए हैं, दूसरे भी अवश्य अपनायें, चाहे जबर्दस्ती ही सही, तो यह हमारी तानाशाही होगी और दूसरोंको उनकी स्वतंत्रता देनेसे इन्कार करना होगा।

आजके बडे बडे दार्शनिक एवं वैज्ञानिक भी आत्माके नित्यत्वके सिद्धान्त पर सहमत नहीं हैं। परमात्मा, आत्मा स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म ये कुछ ऐसे विषय हैं, जिन पर आज भी बहुत मतभेद हैं। इन मतभेदोंका कारण उनका विश्वास है।

दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक अर्थात् कोई भी, चाहे वह स्वयंको कितना भी बुद्धिमान् समझे, तुमसे कभी यह नहीं कह सकता कि विश्वास या श्रद्धा नामके तत्व की कोई भी आवश्यकता नहीं है। उसकी तो वस्तुतः अत्यन्त आवश्यकता है और जब विश्वास नामक तत्वकी आवश्यकता है, तो विचारोंमें भिन्नता स्वाभाविक ही है।

हमारे शास्त्रोंके अनुसार तीन मार्ग हैं, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग।

संभवतः विदेशी विद्वान् यह सोचते होंगे कि ये तीन मार्ग वैदिकधर्मसे ही सम्बन्धित हैं। पर वस्तुतः हम ये ही तीन मार्ग बाइबिलके न्यू टेस्टामेण्टमें भी देखते हैं। सेण्ट जेम्स और सेण्ट पीटर कर्ममार्गके अनुयायी थे।

सेण्ट जॉनने भक्तिमार्ग पर बल दिया, 'प्रेम ही परमात्मा है' (God is Love) इस रूपमें उसने रचयिताका वर्णन किया।

सेण्ट पॉलने ज्ञानमार्गको अपनाया। जिसमें साधक सांसारिक क्षुद्र सुखोंको त्याग कर परमात्माके परमानन्दमें लीन हो जाता है। इस मार्गमें सब काम बिना किसी फलाकांक्षाके किये जाते हैं। ये मार्गभेद मनुष्योंकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर किए गये हैं।

धर्मप्रचारकको अपने अनुयायियोंकी इसीप्रकार चिकित्सा करनी पडती है, जिस प्रकार एक डॉक्टरको अपने मरीजकी। प्रचारकको अपने अनुयायियोंकी स्थिति व दशा पर भी ध्यान रखना पडता है और ये स्थितियां देशकाल और समाजके अनुसार भिन्न भिन्न होती हैं। जिस प्रकार एक डॉक्टर हृदयरोगवालेको कुछ और दवाई तथा मधुमेहके रोगीको कुछ और दवाई देता है, उसी प्रकार धर्मप्रचारक भी अपने अनुयायियोंको देशकाल और स्थितिके अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग बताता है।

यही बात धर्म और विज्ञानके विषयमें भी है। आज हम सुनते हैं कि इन दोनोंमें बडा विरोध है। पर वास्तवमें इस विरोधका कोई आधार नहीं है। एक दार्शनिक, दर्शनके नाम पर, विज्ञानके महत्वकी उपेक्षा कर देता है और इस प्रकार अपने धर्मको अवैज्ञानिक बना देता है।

पर भारतीय शास्त्रोंके अनुसार ज्ञानकी प्रत्येक शाखा (विज्ञान भी) धार्मिक शिक्षाका अभिन्न अंग है। वेदोंमें जीवशास्त्र, भौतिकशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, शल्यचिकित्साशास्त्र, यांत्रिकविद्या, सैनिकशिक्षण, गानशास्त्र, कलाशास्त्र शिल्पशास्त्र, शरीरविज्ञानशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा गणितशास्त्र आदि सभी शास्त्रोंका समावेश है। ये सभी शास्त्र धार्मिक शिक्षण शीर्षकके अन्तर्गत हैं। इसलिए धर्म और विज्ञानमें कोई विरोध नहीं, सब ज्ञान एक हैं।

इसी प्रकार इस पृथ्वी पर सब जातियां एक हैं, कोई भी पूर्व या पश्चिम नहीं, सब विश्व है। इसलिए जब हम विश्वशान्तिकी बात करते हैं, तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि धर्म धर्ममें कोई भेद नहीं है, धर्म और विज्ञानमें कोई विरोध नहीं है, और पूर्व और पश्चिममें कोई शत्रुता

नहीं है। सभी मनुष्य इसी पूर्ण पुरुषके अविभक्त अंग हैं।

आत्मा और प्रकृति ये परस्पर संभूत हैं। प्रकृति वह तत्व है जिसके माध्यमसे आत्मा स्वयंको प्रकट करता है। अतः दोनोंमें विरोध अकल्पनीय है।

यह हम पर आधारित है कि हम ईर्ष्या, द्वेष, घृणा तथा पक्षपातको छोडकर उस परम पुरुषके मार्ग पर चलें। यह वह मार्ग है, जिस पर चलकर मनुष्य सब विघ्नोंको पार कर सकता है। तब हम शान्तिकी समस्या पर विचार करनेके लिए सम्मिलित होकर बैठ सकते हैं।

कर्म करनेके बावजूद भी यदि हम सफल नहीं होते, तो इसका दोष हम पर नहीं है, हमने तो यथाशक्ति प्रयत्न किया, इसलिए हमें सन्तोष है।

मानवशरीर एक वृक्षके समान है। वृक्षके बीजमें वृक्षसे सम्बन्धित सभी भाग विद्यमान रहते हैं, तना, शाखायें, पत्तियां, फूल और फल सभी बीजमें हैं। इनमें प्रत्येक आकृति, रंग, क्रिया और गुणकी दृष्टिसे भिन्न है। पर इस भिन्नतामें भी एकता छिपी हुई है। वे सब एक ही वृक्षके अंग हैं। उसी तरह शरीरमें भी हाथ, पैर, मुंह आदि भिन्न भिन्न अंग हैं, पर शरीरमें उनके विभिन्नताकी समाप्ति होजाती है, शरीरमें आकर वे सब एक हैं।

भारतके ऋषियोंका सन्देश है शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः, ईसा भी कहते हैं, 'शान्तिस्थापक भाग्यवान् हैं, क्योंकि वे ईश्वरके पुत्र हैं'। विश्वशान्ति तभी अस्तित्वमें आ सकेगी, जब विश्वके सब मानव सम्मिलित होकर इसके लिए प्रयत्न करेंगे।

आजकल अणुशस्त्रोंकी दौड अपने वेग पर है और मानवता आज भयंकर खतरेमें है, पता नहीं पृथ्वीसे कब उसका नामोनिशान मिट जाए।

हमें शान्तिस्थापनाका निश्चय करना होगा। यदि हम इसके लिए दृढ-संकल्पवाले होजाएं, तो परमात्मा निश्चय-से हमें आशीर्वाद देगा और सफलताका सेहरा हमारे सिर पर सुशोभित होगा।

गौरक्षा और साम्प्रदायिकता

(लेखक— श्री रवीन्द्र अग्निहोत्री एम्. ए.; बी. टी. लोधपुरवा, नौबस्ता, लखनऊ)

सांप्रदायिता एक हेय घृणित भावना है जो भारत जैसे देशकी राष्ट्रीय एकताके लिए तो महाघातक ही है । इसीलिए हमारी सरकारको सांप्रदायिकतासे बडी चिढ है । पर विडम्बना यह है कि यहां सांप्रदायिकताको समाप्त करनेके नाम पर प्रायः सांप्रदायिक काम किए जाते हैं । राष्ट्रीय एकताको बनाए रखनेकी बहुआलोचित कल्पित आडमें केवल दो प्रतिशत जनताकी भाषा अंग्रेजीको राष्ट्रभाषा हिंदी की अनिश्चित कालतक सहायक भाषा बनाए रखनेका जो प्रस्ताव जनताके जबरदस्त विरोधके बावजूद सरकारने केवल अपनी हठधर्मीसे पास किया, उस नग्न सांप्रदायिकताको सभीने देखा । गोरक्षाके विषय पर भी सांप्रदायिकताका चिन्ह लगा कर पहले अंग्रेजोंने हमारे देशको बरबाद किया और अब उनके उत्तराधिकारी कर रहे हैं । विचारणीय यह है कि क्या गोरक्षाका प्रश्न सांप्रदायिक है ? सामान्यतः तथाकथित धर्मगत (जिसे वस्तुतः वर्गगत कहना चाहिए) संकीर्णताको सांप्रदायिकताकी संज्ञा दी जाती है । अतः हमें देखना चाहिए कि विश्वके विभिन्न मत-मतांतरोंके विद्वान् इस विषयमें क्या कहते हैं ।

विश्वकी धार्मिक (?) जनगणनाके आधार पर समस्त विश्वकी आबादीका सबसे अधिक भाग ईसाई मतका अनुयायी है । उसके पश्चात् बौद्धमत, तब मुसलमान और तब हिंदू ।

(१) ईसाइयोंकी धर्मपुस्तक बाइबिलमें बताया है— ' गोदुग्ध और मधु सुन्दरताके मूल हैं । ' इंजीलमें लिखा है— बैल और मनुष्यको मारना एक समान है । ' महात्मा ईसाने स्वयं कहा है- ' तू किसीको मत मार । तू मेरे समीप पवित्र मनुष्य होकर रह । संसारके प्राणियोंका वध करके उनका मांस मत खा । '

(२) भगवान बुद्ध ने तो यहां तक कहा है कि ' गऊसे औषध निर्माण होता है (अर्थात् गऊका दूध इत्यादि औषधि है) सब गृहस्थोंको भोग्य पदार्थ देनेवाले गऊ और बैल ही हैं, इसलिए उन्हें माता पिताके समान पूज्य मानें और उनका सत्कार करें । जो गौका मांस खाता है वह अपनी माताका मांस खाता है । ' भगवान बुद्ध इतने गोभक्त थे कि ' आनंद ' को ' श्रावक ' व्रत देते समय उससे अस्सी हजार गउएं पालनेकी शपथ ली ।

(३) जिस मुसलमान संप्रदायकी आडमें वास्तवमें अपना निकृष्ट स्वार्थ सिद्ध करनेको अंग्रेज भारतमें गोवध कराते रहे और जिनका झूठा बहाना बना कर आज भी गोवध बंद नहीं किया जाता, उस मतके प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब हदीसमें कहते हैं- ' ऐ मुसलमानों ! गायका मांस रोगका कारण है, परंतु उसका दूध तुम्हारे लिए दवा है । ' स्वयं मुहम्मद साहबने कभी गायका मांस नहीं खाया । (देखिए उनका जीवन चरित्र) डा० गुलाम जीलानी, जो अंग्रेजी शासन कालमें ऊंचे पदों पर रहे, अनेक प्रसिद्ध डाक्टरी की पुस्तकोंके लेखक हैं, अपनी एक पुस्तक ' मखजन हिकमत ' में गायके दूधको दवा और गोश्तको बीमारी बताते हुए गौमांसका वैज्ञानिक प्रभाव इन शब्दोंमें लिखते हैं- ' रद्दी उल कैमूस और गलीज, नफाक और देर-हज्म, खून फासिद और इमराज सौदावी पैदा करे । ' हकीम अजमलखाँका कहना है कि ' न कुरान और नही अरबका रिवाज गायकी कुर्बानी की ताईद करता है । '

पर जब विदेशी मुसलमान राजा यहां आए तो मूर्ख होनेके कारण गोवध और फलस्वरूप कोढ, गंज इत्यादि

रोग भी अपने साथ लाए। फिर भी भारतका गोदुग्ध पीकर जिनका मस्तिष्क ठीक हुआ तो हुमायुं जैसे बादशाहोंने गोवध निषेधका न केवल कानून बनाया, प्रत्युत अपनी संतानोंको भी आदेश दे गए कि यदि तुम्हें यहां राज्य करना है तो भारतमें गोवध कभी मत करना। उनकी संततिने जब तक उनके आदेशका पालन किया तब तक उनके राज्यकी सीमा स्वयं भारतके क्षत्रियोंकी सहायतासे बढती रही। जब हुमायुंकी आज्ञा हठधर्मी, अदूरदर्शिता और अज्ञानताके पावोंसे रोंदी गई, तभी मुसलमानी शासन भी समाप्त हो गया।

कूटनीतिज्ञ अंग्रेजोंने भारतको सदैवके लिए अपना दास (राजनीतिक दासताके अभावमें भी मानसिक और बौद्धिक दासता) बनाए रखनेके लिए देशको निर्बल और निर्धन बनानेके विचारसे गोवध कराकर और अंग्रेजी शिक्षा द्वारा हमारे मस्तिष्कसे गोपूजाकी भावना ही निकाल दी। अंग्रेजोंकी इस कूटनीतिको समझ कर प्रातः स्मरणीय महर्षि दयानंदजी महाराजने जहां स्वराज्यको सर्वोपरि बताकर उसके मूल कारण इन्द्रियविजय अर्थात् सदाचार, विनय वृद्ध विद्वानोंकी सेवा पूजा पर बल दिया उसके साथ ही वेदके सत्यार्थकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया।

(४) वेद भगवान्‌का वचन है कि गऊ रुद्रोंकी माता है। रुद्र कहते हैं दुष्टोंको रुलानेवालेको। संसारमें रुद्र उन शक्तिशाली क्षत्रियोंको कहते हैं जो तप, संयम और पौष्टिक-स्वास्थ्यप्रद भोजन द्वारा अपने भीतर वह शक्ति उत्पन्न करते हैं, जिसके दर्शन मात्रसे दुष्ट अपनी दुष्टताको त्याग दें। यह शक्ति केवल गोदुग्ध और उससे बने पदार्थ घी, मक्खन, मलाई इत्यादिसे ही उपलब्ध होती है। शारीरिक बल तो राक्षसी तामसी भोजन मांस, मछली अंडा और टानिक इत्यादिसे भी बढाया जा सकता है, पर यह बल शरीरको स्थायी लाभ नहीं देता। मानसिक सूक्ष्म शक्तिके विषयको यदि हम तरफ रख दें और केवल शारीरिक स्थूल शक्ति पर ही विचार करें, तो भी तामसी भोजनाहारी शारीरिक श्रमके कार्य करनेमें शीघ्र थकता है। तामसी भोजन जहां मनको अपवित्र करता है वहां शरीरका बल भी घटा देता है। फिर जो क्षत्रिय स्वयं दुष्टता पर उतर आया और अन्यायपूर्वक दूसरेको मार कर खाने लगा वह रुद्र कैसे बन सकता है ? रुद्र बनानेकी शक्ति केवल गोदुग्धमें है, इसी कारण उसे रुद्रोंकी माता बताया गया है। वेदमें एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि गऊ कृशं अर्थात् दुबले-पतले निर्बल मनुष्यको हृष्ट पुष्ट करती है और कुरुपको सुन्दर बनाती है।

इस वेद वचनका अनुमोदन इतिहास करता है। जब हम गऊपूजा करते थे और हर गृहस्थके घर पर दस पांच ही नहीं सैकडों और हजारों गऊएं सुख पूर्वक निवास करती थीं, उस समय आर्य लोग लम्बे-चौडे, गोरे- चिट्टे और सुन्दर शरीरवाले होते थे और सर्वदा विजयी होकर दुष्टोंको रुलाते थे।

बाल ब्रह्मचारी भीष्म पितामहने गायके स्तनोंसे खिरे दूधको अमृत बताते हुए गायको लक्ष्मीका मूल कारण बताया है और कहा है कि गौएं दूध, घी, गोबर, मूत्र, चर्म, हड्डी, बाल, सींग, गोरोचन प्रभृति अपने सारे अंगोंसे राष्ट्रकी सेवा करती हैं।

इन्हीं बातोंका अनुमोदन करते हुए महर्षि दयानंद सरस्वतीने अर्थ और स्वास्थ्यको देनेवाली गऊके मारनेवालेको मनुष्योंको मारनेवाला बताया और गोकरुणानिधि पुस्तक लिखकर इसमें गऊकी उपयोगिता बताते हुए उसकी रक्षाका पूर्ण प्रयत्न करनेको विशेष रूपसे सचेत किया।

जिन ' राष्ट्रपिता ' और ' बापू ' की समाधि पर प्रति वर्ष सरकारके वरिष्ठ अंग पुष्पमाला अर्पित करके (जिसे वे श्रद्धांजलि कहते हैं) उनकी शिक्षाओं पर चलनेका जनताको उपदेश देते हैं उन महात्मा गांधीने स्पष्ट शब्दोंमें कहा था ' गोरक्षाका प्रश्न स्वराज्यके प्रश्नसे किसी भी प्रकार कम नहीं। कई बातोंमें तो मैं इसे स्वराज्यसे भी बडा मानता हूं। ' ' जब तक हम गायको बचानेका उपाय नहीं ढूँढ निकालते तब तक स्वराज्य अर्थहीन है। ' ' देशकी सुख समृद्धि गऊ और उसकी संतानकी समृद्धिके साथ जुडी हुई है। ' महामना मालवीय और लोकमान्य तिलक महाराज दोनोंका कहना है कि हमारे प्राण ले सकते हो, पर गायको बचाओ। लाला लाजपतरायजीने स्वराज्य-प्राप्तिके लिए अपने प्राणोंकी बलि इसीलिए दे दी, क्योंकि वह समझते थे कि स्वराज्य होते ही गोवध निषेध की घोषणा होगी।

विदेशी विद्वानोंने भी गऊकी उपयोगिताको समझनेके पश्चात् उसके विषयमें अपने विचार इस प्रकार प्रगट किए हैं। अमेरिकाके डाक्टर वैकफील्ड गायकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं, ' सच पूछो तो गाय खुशहालीकी माता है। प्राचीन भारतके लोग दूध मक्खनका अधिक प्रयोग करते थे, इसीलिए हृष्ट पुष्ट, बुद्धि, शक्ति और स्मरण शक्ति ऊंचे दर्जेकी रखते थे। उन्होंने संस्कृत जैसी वैज्ञानिक और विस्तृत भाषाका आविष्कार किया और वेद जैसी बडी पुस्तकको कंठस्थ किया और आध्यात्मिकताको संसारमें फैलाया। इन सबका कारण गोदुग्ध ही था। वह प्रत्येक विद्याके पूर्ण विशेषज्ञ थे। फिलासफी, राजनीति, क्षत्रियत्व और अध्यात्म विद्यामें उच्च होनेका कारण गोदुग्धका अधिक प्रयोग ही था। '

संपादक ' फिजिकल कल्चर, ' अमेरिका लिखते हैं— ' कोई जाति बिना गऊपालनके समृद्धिशाली नहीं हो सकती। गाय सबसे उत्तम भोजन मनुष्यके लिए पैदा करती है। घास खाकर अमृत पदार्थ देती है। जहां गायकी सेवा की जाती है वहां की भूमि उपजाऊ, सभ्यता उच्च और जाति अधिक स्वस्थ तथा बलवान् होती है। इसका दूध अमूल्य पदार्थ है। गोबर और मूत्रकी खाद भूमिके लिए अकसीर है।...... '

सर विलियम वैडर्बर्नने तो यहां तक लिखा है- ' मैं इसकी तो कल्पना कर सकता हूँ कि किसी राष्ट्रके बिना भी गौ हो सकती है, किंतु मैं यह स्वप्नमें भी अनुमान नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र भी बिना गायके हो सकता है। '

विस्तार भयसे यहां जो थोडेसे प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे यह स्पष्ट रूपसे विदित होगा कि गोरक्षाका प्रश्न सांप्रदायिक नहीं पूर्ण राष्ट्रीय है। ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नकी उपेक्षा करनेके कारण ही आज सुख समृद्धि हमारे लिए शूकरका फूल हो गई है। उसे प्राप्त करनेके लिए हमें गोपालनको जीवनका आवश्यक अंग बनाना होगा। जो लोग इच्छा रखते हुए भी वर्तमान समयकी कठिनाइयोंके कारण गऊ-पालनमें अपनेको असमर्थ समझते हैं, वे हमारी सभासे पत्र व्यवहार करें और सभाकी विश्वव्यापी योजना से लाभ उठावें।

मेरा मन

लेखक
श्री पं. विद्यानन्दजी विदेह

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(य. ३४।५)

यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रति-स्थिता रथ-नाभौ इव अराः । यस्मिन् चित्तं सर्वं आ-उतं प्रजानां तत् मे मनः शिव-संकल्पं अस्तु ॥

१ (यस्मिन्) जिस [मन] में (ऋचः) ऋचायें और (यस्मिन्) जिस [मन] में (साम यजूंषि) साम और यजुयें (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठितानि, प्रतिष्ठित हैं, (रथ-नाभौ इव अराः) रथ-नाभिमें जैसे अरे ।

२ (यस्मिन्) जिस [मन] में (प्रजानां) प्रजाओंका (सर्वं चित्तं) सर्व चित्त (आ-उतं) ओतप्रोत है ।

३ (मे तत् मनः शिव-संकल्पं अस्तु) मेरा वह मन शिवसंकल्पी हो ॥

मन आत्माका नेदिष्ठ है, निकटतम है। मन आत्माकी चेतना और शक्तिसे प्रचेतित और सशक्त है। अतः मनकी साधना आत्म-साधनामें परम सहायक है। इसीलिए मनकी साधनाको परम साधना कहा गया है। आत्मसमाहित होकर जब मन सर्वतः और सर्वथा शुद्ध, संशुद्ध और शिव बन जाता है, तब साधकके समस्त पाश छिन्न भिन्न हो जाते हैं, सारी ग्रन्थियां खुल जाती हैं, समस्त आवरण अनावृत्य होजाते हैं, सारे निरुद्ध स्रोत सुप्रवाहित होजाते हैं, प्रकाशकी रश्मियां प्रसरित हो जाती हैं, आत्मा सहज-तया आत्म- अवस्थित होकर ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हो जाता है। ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होजाने पर ऋग्वेद अथर्व-वेदकी ऋचायें साधकके मनमें अपने रहस्योंका प्रस्फुटन करती हैं, सामका गीति-समूह साम अपनी अन्तर्ध्वनियोंको निनादित करता है और यजुर्वेदकी यजुयें [गद्य-कायें] अपनी उदात्त साधनाओंका सिद्धिकरण करती हैं।

जब तक साधक ब्राह्मी स्थितिमें स्थित नहीं होता है, तब तक वह वेदमन्त्रोंके वास्तविक रहस्योंका उद्घाटन कदापि न कर सकेगा, भले ही वह महान् वैयाकरण और गहनाति गहन संस्कृतज्ञ क्यों न बन जाये। रचयिता ही अपनी रचनाकी सही व्याख्या कर सकता है। तसनीफ रा मुसन्निफ नेको कुनद बयां। मुसन्निफ ही अपनी तस्नीफ की सही तफसीर कर सकता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः ईश्वरीय स्थितिमें स्थित होकर ही मानव वेदोंकी यथा-वत् व्याख्या करनेमें समर्थ होता है। इसी रहस्यका द्योतन करते हुए मन्त्रमें कहा गया है कि चारों वेद शिवसंकल्प-युक्त समाहित मनमें उसी प्रकार ओत प्रोत हैं, जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे ओतप्रोत होते हैं।

मन ही प्रजाओंकी सम्पूर्ण प्रचेतनाका प्रचेता है। प्रजा-ओंसे तात्पर्य यहां ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंसे है। इन्द्रियां मनकी प्रजा हैं। मन और इन्द्रियोंका परस्पर विलक्षण सम्बन्ध है। इन्द्रियां मनके पीछे दौडती हैं और मन इन्द्रियोंके पीछे दौडता है। इन्द्रियां ही मनके पीछे अनु-धावन नहीं करती हैं, मन भी इन्द्रियोंके पीछे अनुधावन करता है। मन ही हठात् इन्द्रियोंसे सब कुछ नहीं कराता है, इन्द्रियां भी मनसे हठात् सब कुछ करा लेती हैं। मन

इन्द्रियोंको प्रेरता है तो इन्द्रियां मनको प्रेरती हैं। मन शिव और समाहित हो और साथ ही इन्द्रियां भी निर्मल, नियन्त्रित और प्रचेतित हों, तब ही मन वेदोंके मन्त्रोंके अन्तर्निहित रहस्योंका ज्ञाता और प्रकाशक बनता है और देह-साम्राज्यकी प्रजाओंका प्रचेता बनता है।

योगकी परिभाषामें जहां बुद्धिको ज्ञानमय कोष कहा गया है, वहां मनको विज्ञानमय कोष कहा गया है। मानस प्रचेतना सकल विज्ञानोंकी जननी है, सकल तत्वोंकी प्रकाशिका है, अखिल सत्योंकी शोधिका है। इसीलिये मनकी साधनाके साधकने मनःकामना की है—

जिस शिव मनमें ऋचायें साम जिसमें यजुर्वे,
हैं प्रतिष्ठित रथनाभिमें अरोंके समान।
हैं जिस मनमें ओतप्रोत प्रजाओंका सकल चित्त,
रहे मेरा वह मन सदा शिवसंकल्पयुक्त॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ (य. ३४।६)

सु-षारथिः अश्वान् इव यत् मनुष्यान् नेनीयते अभीशुभिः वाजिनः इव। हृत्-प्रति-स्थं यत् अजिरं जविष्ठं तत् मे मनः शिव-संकल्पं अस्तु॥

१ (यत् मनुष्यान् नेनीयते) जो मनुष्योंको ले जाता है, (सु-षारथिः) सु-सारथि (अभीशुभिः) रासोंसे (अश्वान् इव) अश्वको जैसे, (वाजिनः इव) वाजियोंको जैसे।

२ (यत्) जो (हृत-प्रति-स्थं) हृदयमें प्रतिष्ठित है, (अजिरं) अ-जिर है, (जविष्ठं) वेगवत्तम है।

३ (मे तत् मनः शिव-संकल्पं अस्तु) मेरा वह मन शिव-संकल्पी हो।

जो मनुष्योंको सुसारथिके समान लेजाता है, वह तो सधा हुआ शिवसंकल्पयुक्त संसिद्ध मन ही है। न सधा हुआ अशिवसंकल्पयुक्त असिद्ध मन तो वह कुसारथि है, जो रथमें जुड़े अश्वोंको, रथको और सवारको-सबको विनाशके गहरे गर्तमें गिरा देता है।

शिवसंकल्पोंसे संकल्पित मन मनुष्योंको उसी प्रकार कुशलपूर्वक अभीष्टकी ओर लेजाता है, जिस प्रकार एक सुसारथि रासोंसे अश्वोंको और वाजियोंको प्रेरित करता हुआ रथ और रथी दोनोंको लक्ष्य या अभीष्टकी प्राप्ति कराता है।

अश्वका अर्थ है आशुगामी, शीघ्रगामी, तीव्रगति। वाजी का अर्थ है वेगवान्। साधारण सवारीमें काम आनेवाले तीव्रगामी घोड़ेका नाम अश्व है। तीव्रगामी होनेके अतिरिक्त जो अतिशय वेगवान् भी हो, उस घोड़ेका नाम है वाजी। अश्व साधारण सवारीकी बग्घी टमटममें जोड़े जाते हैं। वाजी केवल युद्धरथोंमें जोड़े जाते हैं।

मनमें नयन-क्षमता है। वह वृत्तिरूपी रासोंको प्रेरितकर जीवन-रथमें जुड़े पांच ज्ञानेन्द्रियरूपी वाजियोंको और पांच कर्मेन्द्रियरूपी अश्वोंको जिधर चाहे उधर मोड़ सकता है, चला सकता है, ले जा सकता है और साथ ही रथी [आत्मारूपी सवार] को जहां चाहे वहां पहुंचा सकता है। परन्तु जीवन-यात्राके संवहनके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। यात्रीकी यात्रा सकुशल तब ही पूरी होगी, जब रथीके रथका सारथि कुशल हो और होशमें हो; रथमें जुड़े अश्व और वाजी सुनियन्त्रित, सुशिक्षित, सधे हुए और इशारे पर चलनेवाले हों; रासें और सज्जायें सुष्ठु, शुद्ध, सुन्दर और सुदृढ हों, रथ सम्यक् कसा हुआ और स्वस्थ हो; मार्ग सम और सुतर हो, स्वयं सारथिको अपने मार्ग, लक्ष्य और अभीष्टका पता हो।

जीवन [शरीर] रथ है। आत्मा रथी या सवार है। मन सारथि है। कर्मेन्द्रियां अश्व हैं। ज्ञानेन्द्रियां वाजी हैं। वृत्तियां रासें हैं। धारणायें अश्वों और वाजियोंकी सज्जा हैं। पथ है सत्य या असत्य, धर्म या अधर्म।

मन सारथि है- सही। किन्तु वह सुसारथि भी हो सकता है और कुसारथि भी। सुसारथि वह तब ही बनता है, जब आत्मा स्वयं विवेक-सम्पदासे सम्पन्न होकर अपने मनको शिव-संकल्पोंसे युक्त और प्रशिक्षित करके उसे कुशल सुसारथि बना लेता है।

सुसारथिकी कुशलता भी क्या करेगी, यदि उसके अश्व और वाजी रोगी, अस्वस्थ, दुर्बल, हठीले और असंयत हैं। अतः विवेकसे सम्पन्न होकर आत्म-रथीको चाहिये कि वह अपने अश्वों और वाजियोंको नीरोग, स्वस्थ, सुदृढ, सुडौल, बलवान् अनुशासित और प्रशिक्षित रखे।

सुसारथिकी कुशलता किसी काम न आयेगी, यदि रासें और सज्जायें अस्तव्यस्त और टूटी फूटी हैं। अतः आत्म-रथीको चाहिये कि विवेकसे सम्पन्न होकर अपनी वृत्तिरूपी रासोंको और धारणारूपी सज्जाओंको सुव्यवस्थित और सुसज्ज रखे।

सुसारथि क्या करेगा, यदि रथ है जीर्ण शीर्ण और पथ है भ्रष्ट और ऊबड खाबड। अतः आत्मरथीको चाहिये कि विवेकयुक्त होकर रथको सुसंस्कृत, प्रगामी और प्रकृष्ट रखता हुआ उसे सदा सर्वदा धर्मपथ पर, सुपथ पर, सत्यपथ पर, ही आरूढ रखे।

मन हृत्-प्रतिष्ठ है, मस्तिष्क-प्रतिष्ठ नहीं है। बुद्धि है मस्तिष्क-प्रतिष्ठ और मन है हृत्-प्रतिष्ठ। मस्तिष्क है बुद्धिका अधिष्ठान और हृदय है मनका अधिष्ठान। मन हृदयमें है, मस्तिष्कमें नहीं। संकल्पोंका उद्गमन मनमें से होता है, वृत्तियोंका प्रसरण चित्तमेंसे होता है, प्रज्ञाओंका रश्मिकरण आत्मामेंसे होता है।

मन अजिर है। वह कभी जिर [जीर्ण] नहीं होता है। वह जविष्ठ है, अतिशय वेगवान् है। वह कितना अजिर है और कितना वेगवान् है, वह प्रथम मन्त्रकी व्याख्यामें बताया जा चुका है।

ले जाता है मनुष्योंको,
सुसारथि रासोंसे जैसे अश्वों वाजियोंको।
है जो हृदयमें स्थित जरारहित वेगवत्तम,
वह मेरा मन रहे सदा शिवसंकल्पयुक्त॥

प्रेषित— श्री ' सुदर्शन ' अग्रज

महापुरुषकीर्तनम् — भाषानुवादसहितम्

प्रणेता- पं. धर्मदेवजी, विद्यावाचस्पति विद्यामार्तण्ड, आनन्दकुटीर; ज्वालापुर (उ. प्र.) पृ. २२८, मूल्य सजिल्द २-२५ न. पै. अजिल्द २)

इस संस्कृत पद्यकाव्यमें मङ्गलाचरणके रूपमें परमेश्वरके गुणकीर्तनको करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, योगिराज श्रीकृष्ण, महात्मा गौतमबुद्ध, भक्त कबीर, गुरु नानक, महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी, स्वामी श्रद्धानन्द, श्री अरविन्द आदि महात्माओं, वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि कवियों; स्वामी शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि दार्शनिकों, देशविदेशके प्रसिद्ध समाज सुधारकों; महाराणा प्रताप सिंह, महाराष्ट्र केसरी शिवाजी आदि वीरों; गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्दसिंह तथा इनके वीर पुत्र, वीर बालक हकीकतराय आदि हुतात्माओं तथा लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, नेता सुभाषचन्द्रजी, सरदार वल्लभभाई पटेल आदि राष्ट्रनायक देशभक्तों और विदेशोंके सुप्रसिद्ध महापुरुषोंका भी सरल ललित मधुर संस्कृतमें गुणकीर्तन करते हुए वेदमूर्ति पं. सातवळेकरजीके शब्दोंमें ' सागरको गागर ' में भर दिया गया है। भारतके मान्य राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन्, श्री अनन्तशयनम् आयंगार, श्री काका कालेलकर, विद्वद्वर पं. चूडामणिजी शास्त्री भू. पू. आचार्य संस्कृत कालेज मुलतान, डा. मङ्गलदेवजी शास्त्री, डा. बाबूरामजी सक्सेना आदि सुप्रसिद्ध विद्वानों तथा संस्कृत-प्रतिभा, संस्कृत-साकेत, विश्वसंस्कृत-पत्रिका, हिन्दुस्तान, विश्वज्योति, वैदिक धर्म, सार्वदेशिक आदि प्रतिष्ठित पत्रों द्वारा प्रशंसित और उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत इस नवस्फूर्तिदायक चरित्रनिर्माणोपयोगी ज्ञानवर्धक पुस्तकको आज ही निम्न पतेपर मँगवाकर लाभ उठाइये। मैनेजर- आनन्दकुटीर, ज्वालापुर (उ. प्र.)

महर्षि महेश– उनके विचार और साधनपद्धति

[४]

[लेखक— श्री रामरक्खा, गुरुकुल कांगड़ी]

ध्यान के सम्बन्ध में धारणाएं

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्राच्य देशोंमें घर गृहस्थीको त्याग कर एकान्त जीवन बितानेवाले साधु संन्यासी अपने जीवनको जिस प्रकार बिताते हैं, ध्यान ऐसा जीवन बितानेवालोंके ही योग्य है। ये क्रियाएं व्यावहारिक जीवनसे मुख मोडे हुए व्यक्तियोंके लिये ही सुभीते की हैं और वह भी खास प्रकारके व्यक्तियोंकी देखरेखमें की जानी चाहिये। इस प्रकारके ध्यानका परिणाम हो सकता है आश्चर्यजनक हो, परन्तु जनसाधारणको ऐसा लगता है कि ये प्रक्रियाएं ऐसी हैं जो अपने जीवन, जिम्मेदारियों, मित्रता और संसक्तियोंमें जिनमें वह अपनी अपूर्णताओंको अनुभव करता है उनसे भाग जानेकी मनोवृत्ति है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है।

प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमार्ग

मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका अपना जीवन अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण है और वह जीवन किसी बृहत् और गहरे आधारकी तलाशमें है, जो कि इसे अधिक अर्थवान् बनाए और जीवन किसी बृहत् गहरे आधारकी तलाशमें है, जो कि इसे अधिक अर्थवान् बनाए और जीवनमें पूर्णता, आनन्द तथा सामंजस्य ले आए। भारतवर्षमें जीवनकी इस पूर्णता और समस्वरता प्राप्तिके लिये यत्न हुए हैं और बहुत पुराने कालसे इस पूर्णता प्राप्तिके लिये दो मार्ग अपनाए जाते रहे हैं। एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग। मार्गका अभिप्राय यही होता है कि जिस पर चलकर मनुष्य अपने लक्ष्य स्थान पर पहुंच जाए।

इस दृष्टिसे प्रवृत्ति भी मार्ग है और निवृत्ति भी मार्ग है और दोनों मार्गोंका लक्ष्य एक ही पूर्णताकी प्राप्ति और जीवनकी अपूर्णता, दुःख, असामंजस्य और विरोध की समाप्ति है। कोई भी मानव इससे कम उद्देश्यसे सन्तुष्ट नहीं होसकता। प्रत्येक मानव जीवन इसी ध्येय की प्राप्ति में अग्रसर है। परन्तु पिछले कुछ कालमें ऐसा माना जाने लगा है कि पूर्णताकी प्राप्ति का एक ही मार्ग है और वह निवृत्ति ही है प्रवृत्ति मार्ग नहीं है। परन्तु क्या अनुभूति, श्रुति और युक्ति इस पक्षका समर्थन करती है? प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दो जीवन निर्वाह की शैलियां है।

यदि निवृत्ति प्रधान जीवन शैलीको ही पूर्णताकी प्राप्ति के लिये एकमात्र मार्ग मान लिया जाए तो प्रवृत्तिका मार्गत्व नष्ट हो जायगा। पूर्णता प्राप्ति एकांगिक हो जायगी, सिद्धांतमें व्यापकता नहीं रहेगी। व्यापक सिद्धान्त तो वह हो सकता है है जो सर्वव्यापक आनन्दमयी सत्ताको सब स्थानों, स्थितियों और दशाओंमें सुलभ करा दे। जब जीवनकी पूर्णताका सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों, दशाओं, शैलियों तथा वस्तुओंके ग्रहण त्याग आदि पर अवलम्बित मान लिया जाता है तो पूर्णताकी आत्माका ही हनन हो जाता है। यही कारण है कि अब न तो निवृत्ति ही मार्ग रहा है और न प्रवृत्ति ही। बाह्यदशा परिवर्तन मात्रसे मनका परिवर्तन नहीं हो जाता। केवल निवृत्तिप्रधान जीवन क्रमको अपना लेने मात्रसे मन आनन्दमें नहीं रहने लग जाता। उसके लिये तो अपेक्षा है कि निवृत्तिको भी मार्ग रूपसे अपनाया जाए और प्रवृत्तिको भी मार्ग रूपसे अपनाया जाए। महत्व तो मार्ग रूपसे अपनानेका है, जीवन शैलियोंका नहीं है। मानव देह धारण करनेवाले सभीको मोक्षका तो

अधिकार है ही, चाहे वह किसी भी दशा और किसी भी स्थितिमें क्यों न हो ।

बाह्य परिस्थितियोंके महत्वका अभाव

यदि कोई व्यक्ति धनके संग्रहसे अपने आपको सुखी तथा बडा मानने लगता है तो इससें उस व्यक्तिकी आत्माके बडप्पनका ह्रास हो जाता है और प्रवृत्तिकी दासतामें वह अपने आपको आबद्ध कर लेता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति धनके त्यागके द्वारा अपने आपको बडा तथा सुखी मानने लग जाता है तो उसका बडप्पन और सुख बाह्य पदार्थ पर अवलम्बित हो जाता है और वह भी उसी प्रकारसे आत्माके स्वरूपसे च्युत हुआ परिस्थिति तथा वस्तुके आधार पर ही अपने सुखका आश्रय बनाता है ।

परन्तु प्रभुकी इस सृष्टिमें यही तत्व रहस्यपूर्ण है। और उसका अनुग्रह है कि बिना भगवान्‌को प्राप्त किये और उसका आश्रय लिये मनुष्य चिरस्थायी सुख तथा शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकता । प्राकृतिक वस्तुओंका ग्रहण और त्याग तो सभी स्थितियों और सभी दशाओंमें हर प्राणीके लिये स्वभावसे ही अनिवार्य है और होता ही रहता है । इस लिये वस्तुओंके त्याग अथवा ग्रहणसे ईश्वर प्राप्तिका सम्बन्ध जोडना ठीक नहीं है । प्रकृतिके क्षेत्रको छोडकर भावातीतके क्षेत्रमें पहुंचनेका ही महत्व है ।

भावातीत सत्ताका महत्व

भावातीत, अचिन्त्य, निर्विकार चैतन्य सर्वव्यापक सत्ता है और सबका आधार है तथा जो कोई जहां पर खडा है, जिन परिस्थितियोंमें है, वहीं पर उस सत्ताकी प्राप्ति और उससे अभिन्न होना उसके लिये सहज होना चाहिये । यदि भगवत्प्राप्तिके लिये कुछ ऐसे नियम बना दिये जायंगे जिनकी पूर्तिका होना किसी व्यक्तिके वशकी बात नहीं होगी तो कहना पडेगा कि यह व्यवस्थाकी मांग अस्वाभाविक होगी और इससे सिद्धान्तकी हानि हो जायगी । सिद्धान्त तो वही होगा जिससे भगवत्प्राप्ति सभीके लिये सहज, सुलभ और स्वभाविक हो और जिस स्थान, जिस परिस्थिति और जिस दशामें कोई हो, वहींसे उसका भगवत् सम्बन्ध आरम्भ हो जाए।

दो प्रकारके साधक

साधक विभिन्न होते हुए भी मुख्यतः स्वभाव भेदसे दो प्रकारके होते हैं । कुछ मस्तिष्कप्रधान होते हैं और कुछ हृदयप्रधान । दोनोंका लक्ष्य एक ही होता है । परन्तु स्वभावोंकी प्रधानता उन्हें भिन्न भिन्न प्रकारकी जीवन शैलियोंके चुनावमें प्रेरित करती है । मस्तिष्कप्रधान, प्रखर बुद्धिवाले साधक जीवनके संपर्कमें आनेवाले व्यक्तियों तथा पदार्थोंको उनकी नश्वरता और अनित्यताके विचारके बल पर ममता मोहको छोड देते हैं । ऐसे त्यागी विरक्त महात्माओंके लिये विचारका मार्ग और निवृत्ति प्रधान जीवन-निर्वाहकी शैली उपयुक्त होती है ।

ये बाह्य जगत्‌से अपना संपूर्ण सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेते हैं । उनके हृदयोंमें वैराग्यकी आग धधक रही होती है, और वे बाह्य आसक्तिसे घबरा जाते हैं निरन्तर जगत्‌के मिथ्यात्व और ब्रह्मकी सत्यताका चिन्तन करना उनके लिये, उनकी परिस्थितिके लिये अनुकूल तथा संभव होता है । बुद्धिके बल पर तथा युक्ति की प्रखरताके आधार पर जगत् के मिथ्यात्वका निश्चय करते हैं और उसके अनुसार अपने जीवनकी पद्धतिका निर्माण करते हैं । क्योंकि उनका कर्म तथा अनुभव (भाव) प्रधान जगत्‌से सम्बन्धित नहीं होता, इसलिये उन्हें इस प्रकारकी वृत्ति बनाए रखनेमें सुविधा होती है ।

निरन्तर इस यत्न और इस जगन्मिथ्यात्वकी वृत्ति तथा वैराग्यके आधार पर उनकी यह वृत्ति दृढ हो जाती है । उन्हें ऐसी प्रवाहरूप वृत्ति की प्रतीति होने लग जाती है कि यह जगत् मृगमरीचिका और रज्जुमें सर्पके समान मिथ्या और भ्रान्तिमात्र है । जब कोई व्यक्ति यह दृढ धारणा करता है और निरन्तर यह वृत्ति बना लेता है कि मैं राजा हूं, तो भीख मांगनेका कार्य करते समय भी उसकी यह ' राजा ' है की वृत्ति खण्डित नहीं होती ।

क्योंकि देखा जाता है कि यह जगत् दृढ मान्यताओंके आधार पर ही खडा है और हरेक व्यक्तिका आचरण अपनी अपनी मान्यताके आधार पर ही होता है । देशभक्तकी मान्यता अपने देशपर उससे प्राण तक न्योछावर करवा देती है और धनका लोभी अपने देशके साथ थोडेसे लोभ के लिये विश्वासघात करता और देशको अपार हानि पहुं-

चाता दीखता है। वह अपनी अपनी मान्यताओंका ही परिणाम होता है। इसलिये वृत्तिकी मान्यता दृढकी जा सकती है और वह इतनी दृढ हो सकती है कि सत्य भासने लग जाय। परन्तु यह वृत्तिका ज्ञान भी तब तक अदृढ ही रहता है, जब तक कि इसके पीछे अनुभूतिका बल नहीं होता।

इसलिये असली वृत्ति की सार्थकता और दृढता अनुभूतिमें ही है। असली राजा तो तभी बनता है जब उस का हुकम चले, राज्यसिंहासन हो और उसका राज्य-तिलक हो जाए। फिर उसे वृत्ति बनानेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीप्रकार वृत्ति भी ज्ञानके पूर्वकालकी ही स्थिति है। इस वृत्तिकी पूर्णता और अनुभूतिका ज्ञान होनेके लिये भी निदिध्यासन-ध्यानके द्वारा अनुभूति की प्राप्ति आवश्यक है।

ऐसे विरक्त महात्मा भी वर्तमान कालमें विरले ही हैं। और उनके लिये ब्रह्मात्मैक्यके साक्षात्कारकी अपेक्षा, जगन्मिथ्यात्व वृत्तिके दृढ होनेके पश्चात् भी रहती ही है। जब तक साक्षात्कार नहीं होजाता, यह वृत्तिका ज्ञान अधूरा ही रहता है और किसी समय भी धक्का लगनेसे टूट सकता है। अथवा मृत्युके क्षणमें यह वृत्ति स्वतः ही छूट सकती है, क्योंकि उसके पीछे अनुभूतिका दृढ आधार नहीं होता। जब तक अपनेको आनन्द स्वरूपसे अभिन्न अनुभव नहीं कर लिया जाता, तब तक वृत्तिका ज्ञान दृढ नहीं हो सकता।

वेदान्त के दो पार्श्व

वेदान्तका, ब्रह्मका सम्यक् ज्ञान दो पार्श्वोंवाला है। एक पार्श्व तो नेति नेतिवाला है, जो जगत्के मिथ्यात्वका प्रतिपादन करता है और 'अनित्यं असुखं' का घोष करता है। दूसरा पार्श्व 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' इति इति पक्षवाला है। व्यापक सत् तत्वकी अनुभूतिके बिना जगन्मिथ्यात्व वृत्तिकी पूर्णता नहीं होती। जब इस प्रकारके विरक्त महानुभाव पुरुषोंको ब्रह्मका साक्षात्कार होता है तो उनकी चित् जड ग्रन्थि, हृदयकी ग्रन्थिका भेदन होजाता है। फिर उनका जगत्को मिथ्या समझनेका वृत्तिका ज्ञान, जगत्को अपना रूप समझनेमें परिवर्तित होजाता है। जगत् मिथ्या न रह कर ब्रह्मरूप होजाता है।

अद्वैतज्ञान स्थितिरूप होता है। यह ज्ञान निष्ठा है। सभी साधन और उपासनाएं [illegible]

ही हुआ करती हैं। चाहे ये उपासना अहं ब्रह्मरूपी हो, प्रतीकोपसनाएं हों, योग, भक्ति, ज्ञान आदि अन्यान्य विभिन्न उपासनाएं या साधनाएं हो। उपासना इसीलिये की जाती है कि इनसे मानवके मस्तिष्क तथा हृदयका ऐसा विकास हो जाए कि वह इस परम तत्वके सम्पर्कमें आकर उसके आधार पर रहने लग जाए, यही तत्व ही उसके जीवनका आधार बन जाए।

जब तक यह स्थिति नहीं होती तब तक उसकी अधूरी तथा एकांगिक उन्नति होती है। जब स्वरूप साक्षात्कारके द्वारा मनुष्यका मन आत्माका आकार धारण करने लग जाता है, तब सभी साधनाएं पूर्ण हो जाती हैं और साधना जब तक पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक वे सभी प्रकृतिके क्षेत्र की ही होती हैं, उनमें प्रक्रियाका चाहे भेद, हो, क्षेत्रका भेद नहीं होता। यही दृष्टि साधकको साधनामें आबद्ध और आसक्त होनेसे बचाकर उसको उन्नत कर सकनेमें समर्थ हो सकती है।

यह अद्वैततत्वमें निष्ठा, स्थिति ही एक मात्र दशा है जो सब साधनाओंकी पराकाष्ठा, ध्येय और गम्यस्थान है। साधना की सफलता साध्य की प्राप्तिमें होती है। मन इस समय जडता, अचेतनता और रसस्यताकी अनुभूति कर रहा है, वह जिस प्रकार इन अनुभूतियोंको छोडकर निर- [illegible] जाए और चेतन बना रहे

वही सच्ची साधना है और यही साधनाकी सफलता है। ऐसा तब तक नहीं होता जब तक उसे स्वरूपका बोध नहीं हो जाता और वह उसमें निरन्तर अबाध रूपसे निवास नहीं करने लग जाता। जगत्के मिथ्यात्वका चिन्तन, दुःखों का भय और जगत्को भूल जाना मात्र साधनाका चरम लक्ष्य नहीं हो सकता और न ही ऐसा माना ही जाता है, भले ही थोडे समयके लिये इस प्रकारका चिन्तन या व्यवहार एक प्रकारके साधकके लिये उसकी साधनामें सहायक हो। परन्तु उसके लिये भी यह मार्ग रूप ही है और उस मार्ग की समाप्ति भी तब होती है जब निदिध्यासनके द्वारा वह त्रिगुणातीत तत्वका साक्षात्कार करके उसमें रहने लग जाता है।

जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक वृत्ति द्वारा प्राप्त हुआ वैराग्य और ज्ञान अधूरा ही रहता है। यत्न द्वारा प्राप्त वैराग्य और वृत्ति द्वारा बनाया ज्ञान सहज नहीं होता। साधन चतुष्टयकी स्थिति भी तभी दृढ होती है जब मन अपने स्वरूप ज्ञानके आनन्दसे लबालब भर जाता है, आप्त काम और पूर्ण काम हुआ हुआ वह फिर अयुक्त कामनाओं तथा वासनाओंके आधीन हुआ व्यवहार नहीं करता, उसकी संपूर्ण प्रवृत्ति स्वतः स्वाभाविक रूपसे सन्मार्गकी ओर प्रवाहित होने लग जाती है। तभी उसके लिये विषयवैराग्य या धर्माचरणके लिये सूचियों, व्यवस्थाओं तथा नियमोंकी अपेक्षा नहीं रहती और न धर्माचरण उसके लिये कष्ट साध्य होता है।

नियमोंका पालन, मर्यादाकी रक्षा और बुद्धि द्वारा सम्पुष्ट व्यवहारकी अत्यन्त आवश्यकता मानते हुए भी, जब तक यह पालन विधि विधानके निमित्त ही होता है, तब तक उसमें क्लेश बना रहता है और वह प्रवृत्ति सहज स्वाभाविक नहीं होती। ऐसा मन इन क्लेश पूर्ण बंधनोंको तोड कर विषयकी ओर भटक जाता है, क्योंकि विषय से अधिक रसकी न तो उसे पहिचान ही हुई है और न मिला ही है। अतृप्त रहता हुआ मन फिर छोडे हुए थोडे रसको अधिक काल तक छोडे नहीं रह सकता। इस दृष्टिसे भी आवश्यक है कि मनको विषयोंके रससे— जगत्से हटाने के स्थान पर उसे बडे रसकी ओर ले जाया जाए तब मन स्वभावसे ही उस ओर आकर्षित हो जायगा। बडे रसको छोड कर छोटे रसकी ओर स्वभावसे ही वह नहीं जाएगा। माया, मोह जगत्के प्रलोभनोंको हटाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। परन्तु रस रूप, नाम स्मरण, ध्यानमें उसे लगाना सरल है। परमात्माके संयोगका रस मिल जाने पर माया मोहका जंजाल अपने आप ही छूट जायगा, उसके लिये संघर्ष करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

सच्चा अध्यात्म

जब अध्यात्मरस— शून्यप्रक्रिया मात्र रह जाए, बाहरकी परिस्थिति और विशेषताओंको ही महत्त्व दिया जाने लग जाए तो फिर व्यक्तिमें तथा समाजमें अतृप्ति तथा द्वन्द्वकी उत्पत्ति होजाती है। यह द्वन्द्वकी उत्पत्ति बाह्य तथा आन्तरिक संघर्षको जन्म देती है और उससे दंभ पैदा हो जाता है। दंभसे अध्यात्मके अभिभूत हो जाने पर सर्वनाश, पराधीनता, निराशा, दुःख तथा अशान्तिका साम्राज्य बढ जाता है। जबसे भारतवर्षमें आध्यात्मप्रधान जीवनको भूलकर त्यागप्रधान जीवनको अधिक महत्त्व दिया जाने लग गया, तबसे अध्यात्म शक्तिरहित हो गया और त्याग भी निर्जीव हो गया।

उसका परिणाम जो हुआ वह सर्व विदित है। क्या निवृत्तिप्रधान जीवन और क्या प्रवृत्तिप्रधान जीवन दोनों शैलियोंमें असन्तोष, दुःख तथा निराशा की ही विशेषता रहने लग गई। देशमेंसे अध्यात्म शक्ति लुप्त हो गई। जगत्को दुःख मान कर उससे हटना और उससे बचे रहना अध्यात्मका सच्चा स्वरूप नहीं है अपितु मनुष्यके मनका सर्वदा अपने स्वरूपानन्दमें निमग्न रहना तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों कालोंमें एक समान बने रहना ही सही अध्यात्मका स्वरूप है। भारतवर्षमें अध्यात्मका सूर्य आच्छादित हुआ कि संपूर्ण विश्व अंधकारमें लीन होगया। क्योंकि भारत ही अध्यात्मके सूर्यका उदय स्थान रहा है।

इसीलिये आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलनको चलाने की आवश्यकता हुई, जिसमें व्यक्तिको ऐसा सरल साधन दिया जा सके जिससे उसका मन अपने रस रूपमें रहने लग जाए। रससे संपूर्ण शक्ति भलाई और धर्मका जन्म होता है। और रसमय जीवनको सब कोई चाहता है इस लिये यही जीवनकी पूर्णता है और यह मांग पूरी हो सकती है।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे ।
छिनत्ति कृष्या गोः धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥
अथ. १२।२।३७

अर्थ— (क्रव्यात्) कच्चे मांस और मद्यादि दूषित पदार्थोंका सेवन करनेवाला तामसी मनुष्य (ये) यज्ञदान, तपादि शुभ कर्मोंके न करनेवाले जिस तामसी मनुष्यका (अनु-वर्तते) अनुकरण करता है और कहता है । यह मांसभक्षक मनुष्य दिनरात मद्यमांसका सेवन करता है कि यह धनी और मानी है, मैं इसका अनुकरण क्यों न करूं ? ऐसा माननेवाला मनुष्य (अयज्ञियः) यज्ञ अर्थात् ईश्वरोपासना, सत्संगति आदि शुभकर्मोंसे रहित हुआ हुआ (हतवर्चाः भवति) तेज और मानसे रहित होता है, (एनेन) ऐसे पापी पुरुष द्वारा (हविः) दानरूपसे दिया हुआ अन्न और धनादि पदार्थ (अत्तवे न भवति) लेने और खाने योग्य नहीं होते । वह पापी मनुष्य (कृष्याः) भूमि आदि खेतीके कामसे तथा (गोः) गौआदि पशुओंसे और (धनात् छिनत्ति) धनसे काट दिया जाता है, अर्थात् ऐसे मनुष्यकी सारी धनसम्पत्ति अन्तमें नष्ट होजाती है ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि काम्यकर्मोंका परित्याग संन्यास कहा है और सब शुभकर्मोंके फलका परित्याग त्याग कहा है । परंतु दूषितकर्मोंका परित्याग उत्तम कहा है, यज्ञ, तपका निष्काम रूपसे करना सर्वोत्तम कहा है ।

वेदमें कहा है, जो मनुष्य मांसाहार मद्यपानादि दुष्कर्म करनेवाले मनुष्यका अनुकरण करके यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंको नहीं करता, वह इस लोकमें प्रभावहीन और मान-हीन होकर अपमानित होता है, और अन्तमें दुर्व्यसनोंके कारण अन्न, धन, पशु आदि सम्पत्तिसे हीन होकर दुःखी और लज्जित होता है ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ भग. १८।५

अर्थ— (हे भरतसत्तम) हे भरतकुलमें उत्पन्न हुए हुए मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (तत्र त्यागे) उस काम्य कर्मोंके और सब कर्मोंके फलके त्यागमें (मे निश्चयं शृणु) मेरा निश्चय सुन । (हे पुरुष-व्याघ्र !) हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! अथवा महा बलवान् अर्जुन ! (हि) निश्चयसे (त्यागः) काम्यकर्मोंका त्याग तथा कृतकर्मोंके फलका परित्याग (त्रिविधः) सात्विक, राजस, तामस इस प्रकार तीन प्रकारवाला (संप्रकीर्तितः) भली प्रकार कहा गया है ॥ ४ ॥ (यज्ञदानतपः कर्म) श्रौतस्मार्तादियज्ञ, सत्पात्रमें अन्न और धनका दान, स्वाध्यायादि तप, ये कर्म (न त्याज्यं) त्यागने नहीं चाहिये । (तत् कार्यं एव) वह यज्ञ, दान, तप तीनों कर्म करने ही चाहियें (यज्ञः, दानं च तपः एव) यज्ञ, दान और तप ही (मनीषिणां) सदसद्विवेकी मुमुक्षु पुरुषोंको (पावनानि) पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो[1] भूत्
उत प्रियः सुतसोमो मियेधः ।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन्[2]
यज्ञस्ते वज्रमहिहत्ये[4] आवत्[5] ॥ ऋ. ३।३२।१२

अर्थ— (हे इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (यज्ञ) यज्ञ कर्म अर्थात् देवपूजा, सत्संगति और वेदमंत्रों द्वारा श्रौतस्मार्तयज्ञ (ते) तुझे (वर्धनः) बढानेवाला अर्थात् परमात्माके चरणों-की ओर ले जानेवाला (हि) निश्चयसे (भूत्=भवति) होता है (उत) और (सुतसोमः) अमृतपद अर्थात् अमरपदके निचोडको देनेवाला (मियेधः) सब शुभ कर्मोंका तत्वभूत यह यज्ञ (प्रियः) तेरी भलाई करनेवाला है । (यज्ञियः सन्) नित्य ही निष्काम यज्ञ करनेके योग्य हुआ हुआ तू (यज्ञं) यज्ञके करनेवाले अन्य मुमुक्षुको (यज्ञेन) किये जाते हुए यज्ञोत्पन्न कर्मके फलकी प्राप्तिसे (अव) बचा, अर्थात् वह याज्ञिक भी निष्कामभावसे यज्ञ करता रहे । (यज्ञः) यह यज्ञ (ते) तुझ मुमुक्षु मनुष्यका (वज्रं) वज्ररूप होकर (अहिहत्ये) तेरे पापोंके नाशात्मक कर्ममें (आ=अवत्=अवतु) चारों ओरसे रक्षा करे ।

---

१ वर्धनः= वृधुवर्धने ण्यन्तरूपम् = ' नंदिग्रहि० ' ल्युट् प्रत्ययः ।
२ सन्= अस् भुवि शतरि रूपम् ।
३ अव= अवतेर्लोटि रूपम् ।
४ अहिहत्ये= हन् हिंसागत्योरित्यस्यभावे (हनस्त च) इति तकारश्चान्तादेशः ।
५ आअवत= अव रक्षणे छन्दसि लङि रूपम् ।

वेदगीता (मंत्र)

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्
मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः ।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चि-
दपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः ॥

ऋ. १।१२५।७

अर्थ— (पृणन्तः) निष्कामभावसे अधिकारी प्राणियोंको अन्न और धन आदिका दान देनेवाले दानी मनुष्य (दुरितं) आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक दुःखको तथा (एनः) दुष्कर्म जन्य पापको (मा आरन्) प्राप्त नहीं होते । (सूरयः) दानके महत्त्वको जाननेवाले विद्वान् (सुव्रतासः) अच्छी तरहसे शुभ नियमोंकी पालना करनेवाले, यद्वा अच्छी प्रकारसे चांद्रायणादि व्रतोंके करनेवाले (मा जारिषुः) अन्न धनकी न्यूनतासे कभी भी जीर्ण नहीं होते अर्थात् अन्न और धनके थोडा होने पर भी नित्य तरुण ही रहते हैं । (तेषां अन्यः) उन दानियोंसे भिन्न अर्थात् अधिकारियोंको दान न देनेवाला (कश्चित्) कोई मनुष्य (परिधिः अस्तु) हर प्रकारसे पापका धारक अर्थात् पापी होता है, अथवा (तेषां) उन दानी पुरुषोंका (कश्चित् परिधिः अस्तु) कोई न कोई हर प्रकारसे कवच रूप रक्षक हो जाता हैं । (अपृणन्तं) यज्ञ, दान, तप न करनेवाले मनुष्यको (शोकाः) दुःख और शोक (अभि–संयन्तु) चारों ओरसे अच्छी तरह प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा
दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः ।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते
दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त[1] आयुः ॥

ऋ. १।१२५।६

अर्थ— (दक्षिणावतां) बहुत प्रकारके अन्न, धन, स्वर्ण वस्त्रादि दानके देनेवालोंके लिए (इत्) ही (इमानि) भूमिपर दृष्टिगोचर होनेवाले ये (चित्रा = चित्राणि) भिन्न भिन्न प्रकार वाले एकत्र करने योग्य मणिमुद्रादि पदार्थ होते हैं । (दक्षिणावतां) दान देनेवालोंके लिए (दिवि सूर्यासः) आकाशमें प्रकाशमान् सूर्यकी तरह सूर्यादि लोक अथवा सूर्यकी तरह प्रकाशमान् अति सुन्दर भोग्य पदार्थ होते हैं । (दक्षिणावन्तः) दानी मनुष्य (अमृतं भजन्ते) अमर पद अर्थात् अपवर्गको प्राप्त होते हैं । क्योंकि यज्ञ और दान करनेसे अमरपद प्राप्त होता है । (दक्षिणावन्तः) दानी मनुष्य (आयुः) दीर्घायुको (प्रतिरन्ते) प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहु:
यज्ञन्यं[2] सामगामुक्थशासम्[3] ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो
यः प्रथमो दक्षिणया रराध[4] ॥ ऋ. १०।१०७।६

अर्थ— (तं एव) उस दानी पुरुषको ही (ऋषिं) अतीन्द्रिय विषयोंको देखनेवाला, अथवा दैवी सम्पत्तिवाला, अथवा शुभ कर्म करनेसे ऋषि संज्ञावाला (आहुः) सब ज्ञानी जन कहते हैं, (तं उ) उसी दानी पुरुषको ही (ब्रह्माणं) ब्रह्मको पहिचाननेवाला पूर्ण ब्रह्मज्ञानी (आहुः) कहते हैं । (तं यज्ञन्यं) उसी दानीको यज्ञ करनेवाला दानियोंका नेता कहते हैं । (तं) उसी दानी मनुष्यको ही (सामगां उक्थशासम्) सामवेदका गानेवाला, अर्थात् सामवेदका पूर्ण स्वाध्याय करनेवाला तथा सच्छास्त्रोंकी प्रशंसा करनेवाला (आहुः) कहते हैं, (सः) शुभकर्मोंके ग्रहण करनेसे और सात्विक दान देनेसे वह दानी मनुष्य (शुक्रस्य) स्वप्रकाशसे प्रकाशमान , ज्योतिः स्वरूप परमात्माकी (तिस्रः तन्वः वेद) अग्नि, वायु, आदित्यात्मक तीनों स्वरूपोंको जान लेता है, यद्वा (शुक्रस्य) परमात्माके (तिस्रः तन्वः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों स्वरूपोंको अर्थात् परमात्माके विराट् रूपको (वेद) जानता है (यः प्रथमः) दानी मनुष्योंमें मुख्य जो दानी मनुष्य (दक्षिणया) ऋत्विगादि याजकोंकी दक्षिणादान द्वारा (रराध) आराधना करता है, वही मुख्य दानी है ॥ ६ ॥

१ प्रतिरन्त= प्रपूर्वक तिरतिर्वर्धनार्थः ।
२ यज्ञन्यम्= णीञ् प्रापणे क्विप् उदात्तस्वरितयोः यण् ।
३ उक्थशासम्= शंसु स्तुतौ, क्विप् । संहितायां दीर्घः छांदसः ।
४ रराध= राध संसिद्धौ लिटि रूपम् ।

वेदगीता (मंत्र)

तपो॑ष्प॒वित्रं॒ वित॑तं दि॒वस्प॒दे
शोच॑न्तो अस्य॒ तन्त॑वो॒ व्य॑स्थिरन् ।
अव॑न्त्यस्य पवी॒तार॑मा॒शवो॑
दि॒वस्पृ॒ष्ठमधि॑ तिष्ठन्ति॒ चेत॑सा ॥

ऋ. ९।८३।२

अर्थ— (तपोः) पापोंके तपाने अर्थात् सुखानेवाले तपस्वी मनुष्यका (पवित्रं) परमपवित्र अंग अर्थात् आत्मा (दिवस्पदे) द्युलोकके सबसे ऊंचे स्थानमें (विततं) विस्तृत है, अर्थात् तपस्वी मनुष्य द्युलोकमें वास करता है (अस्य) इस तपकी (तंतवः) तेजरूपी तंतुएं (शोचन्तः) स्वयं प्रकाश करती हुई (व्यस्थिरन्) विविध प्रकारसे ठहरती हैं। (अस्य) इस तपके कर्मके (आशवः) शीघ्रगमन करनेवाले रस (पवीतारं) दूसरोंको पवित्र करनेवाले यजमानोंकी (अवन्ति) रक्षा करते हैं। (चेतसा दिवः पृष्ठं अधितिष्ठन्ति) वे तपस्वी दैवी मनुष्य आत्मस्वरूप चेतनताके साथ द्युलोकके उन्नतभागमें अर्थात् मुक्तिधाममें रहते हैं ॥ २ ॥

वेदगीता (मंत्र)

त्रि॒भिष्ट्वं दे॑व सवित॒र्वर्षि॑ष्ठैः सोम॒ धाम॑भिः ।
अग्ने॒ दक्षैः॑ पुनीहि नः ॥

ऋ. ९।६७।२६

अर्थ— (देव!) हे स्वयं प्रकाशमान्! (सवितः!) हे जगत्के उत्पादक! (सोम) हे अमृतस्वरूप! (अग्ने) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन्! (त्वं) तू (वर्षिष्ठैः) सबके पवित्र करनेमें परमश्रेष्ठ (त्रिभिः धामभिः) अपने वास स्थान यज्ञ, दान, तप, इन तीन कर्मोंसे (नः) हम दास जनोंको (पुनीहि) पवित्र कर ॥ २६ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि मनुष्योंको पवित्र करनेवाले और मुक्ति धाममें ले जानेवाले यज्ञ, दान, तप, यह तीनों कर्म सदा करने योग्य हैं, इनका परित्याग श्रेष्ठ नहीं है।

वेदमें भी यही कहा है कि जीवात्माकी उन्नति करनेवाला यज्ञ सदा करना चाहिये, और यज्ञके करनेमें श्रद्धा और प्रीति रखनी चाहिये, यह यज्ञ वज्ररूप होकर पापरूपी शत्रुओंका नाश करता है। दान करनेसे दानीके ही पास दुःख नहीं आते, और दान करनेसे पाप नष्ट हो जाते है। दानी मनुष्यके निकट शोक नहीं आता, और न देनेवालेको सदा दुःख घेरे रहते हैं। यज्ञोंमें दान देना परमावश्यक है; यज्ञ दक्षिणा विना निष्फल होता है। दानी मनुष्य धर्मको साक्षात् करके अर्थात् धार्मिक अवस्थाको पाकर मान्य और मुक्तिके अधिकारी होते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

भग. १८

अर्थ— (पार्थ!) हे अर्जुन! (एतानि) यज्ञ, दान, तप यह तीनों (अपि) भी (कर्माणि) कर्म (संगं च फलं त्यक्त्वा) संग अर्थात् मैं कर्ता धर्ता हूं इस संबंधको और कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलकी आशाको छोडकर अर्थात् निष्काम भावसे (कर्तव्यानि) करने चाहिये (इति मे) यह मेरा (मतं उत्तमं निश्चितं) मत निश्चयसे उत्तम माना गया है ॥ ६ ॥

(नियतस्य कर्मणः) श्रुतिस्मृतिप्रोक्त संध्योपासनादि और भोजनादि नियत कर्मका (तु) तो (न्यासः) परित्याग (न उपपद्यते) योग्य सिद्ध नहीं होता। (मोहात्) मोह अर्थात् अविचारसे (तस्य) उस नियत कर्मका (त्यागः) छोडना (तामसः) तमोगुण वाला (परिकीर्तितः) कहा गया है ॥७

(कायक्लेशभयात्) देह इन्द्रियादि संघातके क्लेशके भयसे अर्थात् शरीर शिथिल हो जायेगा, हस्तपादादि इन्द्रियें अपना अपना कार्य न कर सकेंगी, दिलमें धडकनें उत्पन्न हो जाएगी इत्यादि भयसे (दुःखं इति) यह कर्म दुःख उत्पन्न करनेवाला है, इस भावसे जो मनुष्य (कर्म) श्रौतस्मार्तप्रोक्त नियत कर्मको (त्यजेत्) छोड देता है। (सः) वह मनुष्य (राजसं त्यागं) रजोगुण संबंधी त्याग (कृत्वा) करके (त्यागफलं) वास्तविक त्यागके फलको (न एव लभेत्) नहीं पाता ॥ ८ ॥

(अर्जुन!) हे अर्जुन! (कार्यं इति एव) यह कार्य करनेयोग्य है इस भावसे ही (यत् कर्म) जो श्रौतस्मार्तादि कर्म (नियतं) नियमपूर्वक (संगं च फलं एव) मैं कर्ता धर्ता हूं इस भाव वाले संबंधको और कर्मजन्य फलको ही (त्यक्त्वा) छोडकर (क्रियते) किया जाता है। (सः त्यागः) वह त्याग (सात्त्विकः मतः) सात्त्विक कहा गया है ॥ ९ ॥

*

वेदगीता (मंत्र)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजु. ४०।२

अर्थ— हे जीवात्मन् ! (इह) इस संसारमें अथवा इस मनुष्य जन्ममें (कर्माणि) श्रौतस्मार्त प्रतिपादित यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको अहंता ममता छोडकर और कृतकर्मोंके फलकी इच्छासे रहित (कुर्वन् एव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करे, अर्थात् अपनी सारी आयु पर्यन्त राजस तामस भावको छोडकर सात्त्विकभावसे सात्त्विक कर्मोंको करता रहे। (एवं) इस पूर्वोक्त प्रकार कहे हुए भावसे अर्थात् सात्त्विक त्यागसे यज्ञ, दान, तप, आदि शुभ कर्मोंको करते हुए (त्वयि नरे) सात्त्विक त्यागवाले तुझ सात्त्विक मनुष्यमें (कर्म) यज्ञ, दान, तप आदिका किया हुआ काम (न लिप्यते) तेरे बंधन अर्थात् पुनर्जन्ममरणका हेतु नहीं बनता (इतः) इस उक्त प्रकारसे भिन्न (अन्यथा) अन्य किसी प्रकार कर्ममें लिप्त होनेके लिये (न) नहीं है अर्थात् लौकिक फल भोगकी आकांक्षासे कर्मको करता हुआ तो पुनः जन्ममरण बन्धनमें प्राप्त होता ही है ॥ २

तुलना— गीतामें कहा है कि यज्ञ, दान, तप यह तीनों कर्म मनुष्यके मनको पवित्र करते हैं, फल प्राप्तिकी इच्छाको छोडकर कर्म करना सात्विक त्याग कहा है। शरीर क्लेशके भावके कारण कर्म दुःखमय है, इस भावसे जो मनुष्य कर्मका त्याग करता है, वह त्यागके फलको नहीं पाता, फलेच्छा रखकर किया हुआ कर्म राजसत्याग कहा है। आवश्यक और नियत कर्मोंका त्याग तामस कहा है। वेदमें भी यही कहा है कि जो मनुष्य अपनी आयुपर्यन्त यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म अहंता और ममतासे रहित और कृतकर्मकी फलकी इच्छाको छोडकर करता है, उस मनुष्यमें कृतकर्मोंके फलका बंधन नहीं पडता, अर्थात् वह संसारके जन्ममरणके बंधनमें नहीं पडता।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ भग. १८।११

अर्थ— हे अर्जुन ! (त्यागी) सात्त्विक त्याग करनेवाला मुमुक्षु मनुष्य (सत्त्वसमाविष्टः) सत्त्वगुणमें अच्छी रीतिसे मिला हुआ (मेधावी) ब्रह्मज्ञानवाली धारणाशक्तिवाली बुद्धिसे युक्त (छिन्नसंशयः) अनात्म प्रतिपादक बुद्धिजन्य संशयोंसे रहित अर्थात् सब संशयोंसे रहित त्यागी मनुष्य (अकुशलं) अशुभ कर्मोंसे (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता और (कुशले) कुशलके साधन यज्ञ, दानादि कर्ममें (न अनुषज्यते) आसक्त नहीं होता ॥ १० ॥ (देहभृता) देहधारी प्राणीसे (अशेषतः कर्माणि) नित्य नैमित्तिक सब कर्म (त्यक्तुं न हि शक्यं) निश्चयसे नहीं छोडे जा सकते। (यः तु) जो मनुष्य तो (कर्म फल त्यागी) यज्ञ, दान, तप इन कर्मोंके फलकी प्राप्तिका परित्याग करनेवाला है। (सः त्यागी इति अभिधीयते) वह त्यागी है, ऐसे योगिजनोंसे कहा जाता है ॥ ११ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति ।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ऋ. १।६।८; अथ. २०।४०।२

अर्थ— (सहस्वत्) निष्काम कर्म करनेमें साहस रखनेवाला (मख) नियत रूपसे यज्ञ करनेवाला मनुष्य (अभिद्युभिः) जगत्में प्रकाश करनेवाले अर्थात् परमप्रसिद्धि पाए हुए (अनवद्यैः) अहंता ममता और रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित (काम्यैः) अवश्य करने योग्य अर्थात् अति प्रिय (गणैः) यज्ञ, दान, तपके समूहोंसे (इन्द्रस्य=इन्द्रं) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माकी (अर्चति) पूजा करता है, अर्थात् सात्विक भावपूर्वक सात्विक त्यागसे सेवा करता है।

तुलना— गीतामें कहा है कि सात्विक त्यागी सत्वगुणकी अधिकताके कारण निकृष्ट कर्मोंसे घृणा नहीं करता और शुभ कर्मको लम्पटतासे नहीं करता, क्योंकि कोई भी देहधारी जीव कर्मको नहीं छोड सकता, क्योंकि कोई न कोई कर्म करता रहता है, कर्मफलके त्याग करनेवालेको ही त्यागी कहते हैं। वेदमें भी यही कहा है कि सात्विक मनुष्य सात्विक त्यागसे यज्ञ, दान और तपों द्वारा शुद्ध भावसे परमात्माकी सेवा करते हैं। वही सात्विक त्यागी कहे जाते हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

भग. १८

अर्थ— (अत्यागिनां) कर्मकी संगति और कर्म फलकी प्राप्तिको त्याग न करनेवाले मनुष्योंके (कर्मणः) किये हुए यज्ञ,

दान, तप इन कर्मोंके (अनिष्टं) बुरे फल (इष्टं) इच्छित अर्थात् प्रिय फल (च मिश्रं) और अच्छे और बुरे दोनों फल अर्थात् कभी सुख कभी दुःख ऐसे मिश्रित फल (त्रिविधं फलं) तीन प्रकारके फल (प्रेत्य भवति) मृत्युके अनन्तर होते हैं। (न तु) न कि (क्वचित्) कभी (संन्यासिनां भवति) कर्म फलके त्याग करनेवाले मनुष्योंका यह त्रिविध कर्म फल होता है ॥ १२ ॥

(हे महाबाहो!) हे बडी भुजावाले बलवान् अर्जुन ! (अधिष्ठानं) सुखदुःख भोगनेका स्थान अर्थात् देह (तथा) और (कर्ता) कर्ता, भोक्ता मैं ही हूँ ऐसा अभिमान करनेवाला अर्थात् जीवात्मा (च पृथग्विधं करणं) और भिन्न भिन्न प्रकार वाला बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका साधन अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि यह कर्म साधन (च विविधाः पृथक् चेष्टाः) और नाना प्रकारकी भिन्न भिन्न प्राण, अपानादि चेष्टाएं अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न प्रयत्न (अत्र च एव) और इसीमें ही (दैवं पञ्चमं) पूर्व जन्ममें किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मको देव कहा गया है अर्थात् पांचवां दैव (एतानि पञ्च कारणानि) यह पांच साधन (सर्वकर्मणां सिद्धये) सब शुभाशुभ कर्मोंकी सिद्धिके लिए (सांख्ये) सम्यक् तया आत्मानात्मतत्त्व प्रतिपादन ज्ञान साधन वेदान्त शास्त्रमें (कृतान्ते) आत्म और अनात्म तत्त्वके निर्णय करनेवाले अथवा जिसमें श्रौतस्मार्त कृत कर्मोंके फलकी समाप्ति बतानेवाले शास्त्रमें यद्वा जिस शास्त्रमें सुनने और मनन करनेका फल बताया है, ऐसे सिद्धान्तमें (प्रोक्तानि) कहे हुए इन पांचोंको (मे निबोध) मुझसे अच्छी तरह जान ॥ १४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं
चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन ।
अक्षरेण प्रतिमिम एतां
ऋतस्य नाभावधि संपुनामि ॥

ऋ. १०।१३।३, अथ. १८।३।४०

अर्थ— (रूपः) पूर्व जन्मकृत कर्मरूप बीजसे संसारमें उत्पन्न हुआ हुआ मैं जीवात्मा (पञ्च पदानि) पांच पादों अर्थात् अधिष्ठानों देह, कर्तृत्व, करण ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, चेष्टा, दैव इन पांचों स्थानोंपर (अनु आरोहं) प्राप्त होता हूं। (व्रतेन) यज्ञ, दान, और तप रूप व्रतद्वारा यद्वा यम, नियम, दान नियम, तपनियमद्वारा (चतुष्पदीम्) कर्तृत्व, करणत्व, चेष्टात्व और दैवत्व इन चार पदोंको (अन्वेमि) बार बार प्राप्त होता हूं। (अक्षरेण) फिर अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे (एतां) ओंकारोपासनात्मक इस पद्धतिको (प्रतिमिमे) पूर्णतया माप लेती हूं अर्थात् जान लेता हूं। (ऋतस्य नाभौ) फिर सत्यस्वरूप त्रिकालाबाध्य परमात्माके मुक्ति धाममें अथवा सत्यके अन्दर अथवा सांसारिक यज्ञमें (सं-पुनामि) अपने आपको अच्छी तरहसे पवित्र करता हूं। पवित्र होकर परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होता हूं ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि विषयासक्त मनुष्य अपने किये हुए सकाम कर्मोंके दुःखात्मक तथा सुखात्मक अथवा सुख और दुःख और मिश्रित अर्थात् सुखदुःख दोनों फल भोगता है, परन्तु सात्त्विक परित्यागी जन कृतकर्मोंके फलको नहीं भोगते, क्योंकि वे मुक्त हो जाते हैं। सांसारिक और पारमार्थिक कर्मोपभोगके लिये देह, कर्ता, करण, भिन्न भिन्न प्रयत्न और दैव यह पांच मुख्य कारण माने हैं।

वेदमें भी यही कहा है कि प्रत्येक प्राणीके लिये पांच स्थान सांसारिक पदार्थोपभोगके लिए अथवा मुक्तिप्राप्तिके लिये शरीर, कर्तृत्व, ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, आभ्यन्तर बाह्यसाधन, भिन्न भिन्न प्रकारकी चेष्टायें और दैव यह पांचों मुख्य साधन हैं। इनसे छूटकर मनुष्य मुक्ति पाता है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

भग. १८।१५,१६,१७

अर्थ— हे अर्जुन ! (नरः) मनुष्य (शरीर वाङ्मनोभिः) शरीर, वाणी और मनसे (न्याय्यं) न्यायवाले अर्थात् विधिशास्त्रसे बताए हुए (यत् कर्म) जिस कर्मको (वा) या (विपरीतं) नीति विरुद्ध अर्थात् शास्त्रसे निषिद्ध किये हुए (यत्कर्म) जिस कर्मको (प्रारभते) करता है। (तस्य) शास्त्र सिद्ध उस शुभ कर्मके अथवा शास्त्र विरुद्ध उस कर्मके (एते पञ्च) अधिष्ठान (देह) कर्ता, करण चेष्टा और दैव यह पांच (हेतवः) कारण होते हैं ॥ १५ ॥

(तत्र) उस शुभ वा अशुभ कर्मकर्तृत्वमें (एवं सति) अधिष्ठानादि पांचों कारणोंके होनेपर (यः) जो मनुष्य (तु)

तो (केवलं आत्मानं) एकमात्र जीवात्माको निश्चयसे (कर्तारं) उस उस शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका करनेवाला (अकृत बुद्धित्वात्) धर्माऽधर्म विवेक शून्य होनेसे अथवा आत्म तत्त्वज्ञान शून्य होनेसे (पश्यति) देखता है अथवा जानता है। (सः दुर्मतिः) वह मंद बुद्धि पुरुष (न पश्यति) अच्छी तरहसे नहीं देखता। अथवा नहीं जानता ॥ १६ ॥

(यस्य) जिस आत्मतत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषका (अहंकृतः भावः न) मैं ही कर्ता हूं, मैं ही भोक्ता हूं, ऐसा अहंकारात्मक विचार नहीं है। (यस्य) अहंकारसे रहित जिस ज्ञानी पुरुषकी (बुद्धिः) कर्म कर्तृत्वकी वृत्तिवाली बुद्धि अर्थात् मैंने ही यह शुभ काम वा अशुभ काम किया है, इस विचारवाली बुद्धि (न लिप्यते) लिपटी हुई नहीं होती। (सः) ऐसा वह ज्ञानी मनुष्य (इमान् लोकान् हत्वा अपि) युद्धमें संमुखस्थ गुरु, ब्राह्मण, पितामहादि भाई बंधुओंको मारकर भी अथवा अपने हाथसे इन सबका संहार करके भी (न हन्ति) न किसीको मारता है। (न निबध्यते) और न ही उस कार्यके शुभ वा अशुभ फलसे बांधा जाता है, अर्थात् वह शुभ और अशुभ फलसे रहित होता है ॥ १७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् ।
नकिर्वक्ता न दादिति ॥ ऋ. ८।३२।१५

अर्थ— (अस्य) मैं कर्ता भोक्ता हूँ इस अहंकारभावसे रहित आत्मतत्त्ववेत्ताके (सूनृतानां=असूनृतानां वा) शुभ अथवा अशुभ (शचीनां) (धीः शचीति कर्मनामसु पाठः—निघंटौ) कर्मोंका (नियन्ता) नियामक अर्थात् शुभ वा अशुभ फल देनेवाला (न किः) कोई नहीं है। क्योंकि ज्ञानी सबको विश्वरूपका स्वरूप समझता है, अतः वह रागद्वेष बुद्धिसे रहित होता है। (अस्य न किः वक्ता) तू ऐसा कर ऐसा न कर ऐसा भी कहनेवाला उपदेष्टा कोई नहीं है। (न दात् इति) इसलिये इसको शुभ वा अशुभ फलदाता कोई नहीं है ॥ ५ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, शरीर, मन और वाणीसे शुभ वा अशुभ जो कर्म किया जाता है, देहादि पांच उनके साधन हैं। जो मनुष्य केवल जीवात्माको कर्ता भोक्ता मानता है, वह ज्ञान शून्य है, जो मनुष्य मैं कर्ता हूँ इत्यादि अहंकारसे रहित होकर कर्म करता है, जिसके मन और बुद्धि मोहमें नहीं फंसते, वह धर्म युद्धमें पूज्य गुरु, भ्रातादि संबंधियोंको मारकर भी शुभाऽशुभ कर्मके फल संबंधमें नहीं आता। वेदमें भी यही कहा है कि तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषको शुभ वा अशुभ कर्मका फल नहीं मिलता, क्योंकि वह सारे संसारको विश्वरूप देखता है। अतः उसे कोई भी 'तू ऐसा कर, ऐसा न कर' ऐसा उपदेश नहीं देता, और न कोई उसे शुभ वा अशुभ कर्मका फल देता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

भग. १८।१८–१९

अर्थ— हे अर्जुन ! (ज्ञानं) इच्छित अर्थात् प्रिय, अनिच्छित अर्थात् अप्रिय रूपरसादि विषयोंका, तथा ईप्सित अनीप्सित द्रव्य गुणादिका बोध ज्ञान कहा है। (ज्ञेयं) जानने योग्य अर्थात् द्रव्य गुणादिका विषय (परिज्ञाता) ज्ञान और ज्ञेय दोनोंको जाननेवाला अर्थात् आत्मा (त्रिविधा) यह तीन और (कर्मचोदना) कर्म प्रवृत्ति, जब मनुष्य किसी कर्मको करना चाहता है, तब इन बातोंकी आवश्यकता होती है। (करणं) बाह्य और आभ्यन्तर वागादि इन्द्रिय साधन (कर्म) अत्यन्त अभीष्ट क्रियमाण कर्म (कर्ता) स्वतंत्र करनेवाला अर्थात् आत्मा (त्रिविधः) यह तीन प्रकारवाला (कर्मसंग्रहः) कर्म करनेके समयकी तीन वस्तुएं परमावश्यक हैं ॥ १८ ॥ (गुणसंख्याने) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणके वर्णन करनेवाले सांख्यशास्त्रमें (ज्ञानं) पदार्थके तत्त्वका जानना (च कर्म) और श्रौतस्मार्तादि कर्म (च कर्ता) और कार्य करनेवाला अर्थात् जीवात्मा (गुणभेदतः) सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंके भेदसे यह तीनों अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय, कर्ता (त्रिधा एव) तीन प्रकारका ही (प्रोच्यते) कहा जाता है। (तानि अपि) गुणभेदवाले ज्ञान, ज्ञेय, कर्ता इन तीनोंको भी (यथावत्) यथार्थसे (शृणु) सुन ॥ १९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

तिस्रो वाचं ईरयति प्र वह्निः
ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः
सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥

ऋ. ९।९७।३४

अर्थ— (वह्निः) संसारको धारण करनेवाला ज्योतिःस्वरूप परमात्मा (तिस्रः वाचः) तीन वचनोंको अर्थात् यज्ञ,

ज्ञान, तपको अथवा कर्मकी प्रवृत्तिके लिये ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता और कर्मसंग्रहके लिये अर्थात् कर्म करनेके लिये करण, कर्म, कर्ता, (प्र ईरयति) भली प्रकार इन तीनोंकी प्रेरणा करता है। संसारमें जीवनयात्रा निर्वाह करनेके लिये यज्ञ, दान, तप, इन तीनोंकी परमावश्यकता है। कर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाताकी आवश्यकता है, तथा कर्म संग्रहके लिये कर्म करनेका साधन क्या हो ? और कौनसा कर्म किस किस साधनसे किया जावे ? और कर्ता कर्मको किस प्रकारसे करे ? ईश्वरने ऐसा उपदेश दिया है। (ऋतस्य) हे मनुष्यो ! सर्व व्यापक सत्यस्वरूप परमात्माकी (धीतिं) धारण की हुई ज्ञानस्वरूप (ब्रह्मणः) वेदकी (मनीषा) मनको वश करनेवाली शुद्ध बुद्धि अर्थात् वेदवाणीके ज्ञानको प्राप्त होवो। (गावः) जीवात्माकी ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें (गोपतिं) इन्द्रियोंके स्वामी मनको (यन्ति) प्राप्त होती है, क्योंकि करण (साधन) रूप होकर विषयोंको मनतक पहुंचाती हैं, (मतयः) परमात्मासे शुभ कर्मके लिये मानी हुई यज्ञ, दान, तप, कर्म अथवा ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, तथा करण, कर्म, कर्ता इस बातको माननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य (वावशानाः) यज्ञ, दान, तप करनेकी कामना करते हुए (पृच्छमानाः) मन और आत्मासे ज्ञान, कर्म, तप आदि पूछते हुए अर्थात् करते हुए (सोमं) अमृतरूप और शान्त स्वरूप परमात्माको (यन्ति) प्राप्त होते हैं। अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

तुलना- गीतामें कहा है कि सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुणके भेदसे ज्ञान, कर्म, और कर्ता, यह भी तीन तीन प्रकारके हो जाते हैं। सात्विकज्ञान, राजसज्ञान, तामसज्ञान, ऐसे ही सात्विककर्म, राजसकर्म, तामसकर्म, सात्विककर्ता, राजसकर्ता, तामसकर्ता कहे हैं।

वेदमें भी यही कहा है कि परमात्माने वेदवाणीद्वारा तीन तीन त्रिक अर्थात् यज्ञ, दान, तप तथा ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता तथा करण, कर्म और कर्ता बताया है। जो मनुष्य यज्ञ, दानादि कर्मोंको ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय भावसे तथा कर्म, करण और कर्तृत्व विचारसे करता है, वह परमात्माके चरणोंमें प्राप्त हो जाता है, अर्थात् जन्ममरणके बंधनसे मुक्त हो जाता है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥

भग. १८।२०

अर्थ— (सर्वभूतेषु) हे अर्जुन ! जो मनुष्य अव्यक्त पदार्थसे लेकर स्थूल स्थावर और जंगम पदार्थोंमें (येन) जिस ज्ञानसे (एकं) भेदभावसे रहित एक रूप और (अव्ययं) न खर्च होनेवाले अर्थात् न्यून न होनेवाले (विभक्तेषु) विभागवाले अर्थात् भिन्न भिन्न पदार्थोंमें (अविभक्तं) विभाग रहित अर्थात् सबमें व्यापक रूप (भावं) प्रत्यगात्मस्वरूप अर्थात् सब एक रूप (ईक्षते) देखता है। (तत् ज्ञानं सात्विकं विद्धि) उस ज्ञानको सात्विक ज्ञान जान ॥ २० ॥

वेदगीता (मंत्र)

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव
यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥

ऋ. २।१२।९ अथ. २।३४।९

अर्थ— (जनासः) राजसज्ञानी वा तामसज्ञानी मनुष्य (यस्मात्) जिस सात्विक ज्ञानके (ऋते) विना (न विजयन्ते) सांसारिक युद्धपर विजय नहीं पाते अर्थात् संसारसे विमुक्त नहीं होते क्योंकि सात्विक ज्ञानी ही मुक्ति पाते हैं। (युध्यमानाः) परमात्मासे विमुख करनेवाली संसारोन्मुखी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके साथ युद्ध करते हुए अथवा सात्विक ज्ञान और सत्वगुणकी प्राप्तिके लिये रजोगुण और तमोगुणोंसे युद्ध करते हुए सात्विक ज्ञानी (अवसे) रजोगुण और तमोगुणसे अपनी रक्षा करनेके लिये (यं) जिस सत्वगुणको अथवा जिस परमात्माको अथवा प्रत्यगात्मस्वरूप वृत्तिको (हवन्ते) बुलाते हैं। अर्थात् ध्यान करते हैं। (यः) जो सत्वगुण वा प्रत्यगात्मस्वरूप (विश्वस्य) सारे जगत्का (प्रतिमानं बभूव) प्रतिनिधि अर्थात् प्रतिस्वरूप होता है। (यः) जो सत्वज्ञानी मनुष्य (अच्युतच्युत्) रजोगुण और तमोगुणसे न गिरनेवाले अर्थात् रजोगुण और तमोगुणमें स्थिर वृत्तिवाले मनुष्योंको रजोगुण और तमोगुणसे गिरानेवाला है अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी मनुष्योंको भी सत्त्वगुणी बना देनेवाला है। (हे जनासः) हे मनुष्यो ! (स इन्द्रः) वह सत्त्वगुणसे प्रकाशमान् सात्विक ज्ञानी है ॥ ९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋ. १।१८।७

अर्थ— (यस्मात् ऋते) जिस सत्वज्ञानके बिना (विपश्चितश्चन) रजोगुणी अथवा तमोगुणी यद्वा राजसीज्ञानी वा

तामसीज्ञानी पुरुषको (यज्ञः) [यज्ञो वै विष्णुः] विष्णूपलब्धि अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति (न सिध्यति) सिद्ध नहीं होती, राजसी और तामसी ज्ञानी मुक्तिको नहीं पाता। (सः) वह सात्त्विक ज्ञानी मनुष्य (धीनां योगं) सात्त्विक ज्ञानवाली बुद्धियोंके योगको (इन्वति) प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यथा महानारायणोपनिषद्में कहा है—

शुद्धसुवर्णस्य कटकमुकुटांगदभेदाः। यथा वा समुद्रसलिलस्य स्थूलसूक्ष्मतरंगफेनबुद्बुदकरकलवणभेदाः। यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृणगुल्मलताद्यनन्ताः वस्तुभेदाः तथाऽद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणो मम सर्वाद्वैतसम्पन्नं भवत्येव।

तुलना— गीतामें कहा है कि जो मनुष्य सूक्ष्म स्थूल सब पदार्थोंमें विश्वरूप ब्रह्माको देखता है, वह सात्त्विक ज्ञानी है। वेद और उपनिषद्में भी यही कहा है। राजसी वा तामसी ज्ञानी परमात्माके चरणोंमें नहीं जा सकते। और उनका कोई कार्य पूरा सिद्ध नहीं होता। सात्त्विक ज्ञानी ही संसारको विश्वरूप देखता है, और विश्वरूप देखनेसे मुक्तिपदको पाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
भग. १८।२१-२२

अर्थ— हे अर्जुन! (सर्वेषु भूतेषु) नाना प्रकारकी वासनाओंसे युक्त देव, ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृपादि सब देहोंमें (यत् ज्ञानं) जिस ज्ञानको (पृथक्त्वेन) प्रति देहकी भिन्नतासे (पृथग्विधान्) सुखदुःखादिसे परस्पर भिन्न भिन्न (नाना भावान्) अनेक भाववाले जीवोंको भिन्न भिन्न (वेत्ति) जानता है। (तद् ज्ञानं) उस ज्ञानको (राजसं विद्धि) रजोगुणी जान ॥ २१ ॥ (एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत्) एक ही भूतकार्यमें परिपूर्णकी तरह (सक्तं) जितना यह देहमात्र है इतना ही आत्मा अथवा परमात्मा है, इस लगनवाला अर्थात् इस निश्चयसे युक्त (अहैतुकं) युक्तिसे रहित (अल्पं) थोड़ा अर्थात् निकृष्ट (अतत्त्वार्थवत्) मिथ्या विषयवाला (यत् तु ज्ञानं) जो ज्ञान है। (तत्) वह (तामसं उदाहृतम्) तामस ज्ञान कहा गया है ॥ २२ ॥

वेदगीता (मंत्र)

पूरा मंत्र तो कोई नहीं मिला, परन्तु 'यस्मान्न ऋते-' अथ. २०।३४।१९ ऋ. २।१२।९ में सत्वगुणका प्रतिपादन और रजोज्ञान, तमोज्ञानका लक्षण मिलता है।

तुलना— गीतामें कहा है मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब देहोंमें प्रतिदेहकी भिन्नतासे कोई सुखी कोई दुःखी भिन्न भिन्न अनेक भाववाले जीवोंको भिन्न भिन्न जाननेवाला ज्ञान राजसी ज्ञान है। तथा एक ही भूतकार्यमें परिपूर्ण माननेवाला मिथ्या पदार्थमें सत्यता माननेवाला मनुष्य तामसी ज्ञानवाला है। वेदमें भी सात्त्विक ज्ञानके लक्षणोंसे भिन्न सांसारिक मायामें फँसानेवाले ज्ञानको राजसी ज्ञान और तामसी ज्ञान कहा है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥
भग. १८।२३,२४,२५

अर्थ— (नियतं) श्रुतिस्मृति प्रतिपादितसंध्योपासनादि आवश्यक कर्म (संगरहितं) मैं ही कर्ता धर्ता हूँ, इस संबंधसे रहित (अरागद्वेषतः कृतं) राग और द्वेषसे रहित होकर किया हुआ (अफलप्रेप्सुना) फलकी इच्छासे रहित होनेसे (यत् कर्म कृतं) जो कर्म किया जाता है, (तत् सात्त्विकं उच्यते) वह सात्त्विक कर्म कहा जाता है ॥ २३ ॥

(कामेप्सुना) किये हुए कर्मके फलकी इच्छासे (वा) अथवा (साहंकारेण) मैं इस कामको करता हूं इस अभिमानके साथ (पुनः) फिर (बहुलायासे) बहुत परिश्रम वाला (यत् कर्म क्रियते) जो काम किया जाता है। (तत्) वह कर्म (राजसं उदाहृतं) राजस कहा गया है ॥ २४ ॥

(अनुबंधं) भविष्यत्कालमें अनिष्ट फल देनेवाला (क्षयं) किये जानेवाले काममें धनका नाश बलका नाश और पुण्यका नाश (हिंसां) प्राणियोंके नाशको (च पौरुषं) और अपनी सामर्थ्यको (अनवेक्ष्य) न देखकर अर्थात् अपने सामर्थ्यका विचार न करके (यत् कर्म) जो काम (मोहात्) मोहात्मक अज्ञान अथवा अविचारसे (आरभ्यते) आरम्भ कर दिया जाता है। (तत्) वह कर्म (तामसं उदाहृतम्) तामस कहा गया है ॥ २५ ॥

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमंत्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जांयगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य =) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. -) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

अगस्त १९६३

वैदिक धर्म

५० नये पैसे

लोकमान्य तिलक

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक ८

क्रमांक १७५ : अगस्त १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

—•—

"वैदिक धर्म"

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०

डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,

पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	१)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये **देवता-मंत्र-संग्रह** मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता- (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता- (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता- (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि " "	२)	.२५
३ शुनःशेप " "	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप " "	१)	.२५
५ काण्व " "	२)	.२५
६ सव्य " "	१)	.२५
७ नोधा " "	१)	.२५
८ पराशर " "	१)	.२५
९ गोतम " "	२)	.३७
१० कुत्स " "	२)	.३७
११ त्रित " "	१.५०	.३१
१२ संवनन " "	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ " "	.५०	.१२
१४ नारायण " "	१)	.२५
१५ बृहस्पति " "	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी " "	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा " "	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि " "	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ " "	७)	१)
२० भरद्वाज " "	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

इन्द्रके धनको कौन रोक सकता है ?

प्र मं हिंष्ठाय बृहते बृहद्रये
सत्यशुंष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्यं दुर्धरं
राधो विश्वायु शर्वसे अपांवृतम् ॥

ऋ. १।५७।१

(प्रमंहिष्ठाय) अत्यन्त शूरवीर (बृहते) महान् (बृहद्रये) विपुल धन सम्पन्न (सत्यशुष्माय) सत्य पराक्रमी और (तवसे) बलिष्ठ ऐसे इन्द्रके लिए मैं (मतिं भरे) स्तोत्र गाता हूं । (प्रवणे अपां इव) जैसे ऊपरसे नीचेकी तरफ बहते हुए जलके प्रवाहको रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार (यस्य राधः) उस इन्द्रका धन भी रोका नहीं जा सकता, वह सदा बहता रहता है । वह धन (विश्वायु शवसे अपावृतम्) उपासकके बलको बढानेके लिए प्रकट होता है ।

जिस प्रकार नदीमें जाती हुई नावमें पानी भरनेपर उस पानीको उलीचना ही बुद्धिमानीका काम है, इकट्ठा करना नहीं, इसी तरह पासमें आए हुए धनका सदुपयोग दूसरोंको देना ही है । उस सर्वशक्तिमान् प्रभुके धन जल प्रवाहके समान सदा बहते रहते हैं, उन्हें कोई इकट्ठा करके रख नहीं सकता । पर वे धन भी सदाचारी उपासकोंको ही मिलते हैं ।

इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह प्रभुकी शरणमें जाकर उसकी कृपाको प्राप्त करे ।
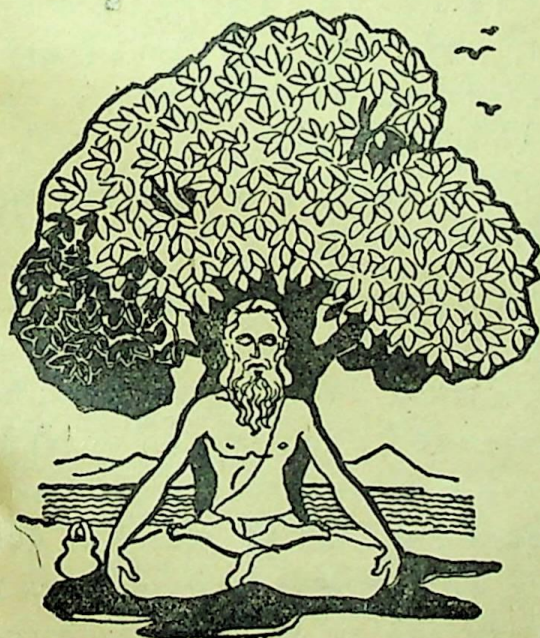
चरण-व्यूह

★

लेखक— श्री ना. गो. चापेकर

चरणका अर्थ है 'चौथा भाग'। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदोंमेंसे प्रत्येक वेद एक चरण है। व्यूह शब्दका अर्थ भाष्यकारोंने 'समुदाय' किया है, पर वह कहांतक ठीक है, यह संशयित है। पहले एक वेदके चार करना और उन चारोंको फिर एक करना, यह जरा चमत्कारिक दीखता है। इसलिए चारों वेदोंके सम्बन्धमें ज्ञान जिसमें दिया गया है, ऐसी रचनाका नाम 'चरणव्यूह' है, ऐसा मेरा विचार है।

'चरणव्यूह' नामक पुस्तिकामें वेदोंके अर्थ विषयक चर्चा नहीं है। वेद पारायण करनेके जो भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, तत्सम्बन्धी ज्ञान इस पुस्तिकामें दिया गया है। इसलिए यह ग्रंथ मुख्यतः वैदिकोंके लिए ही है। यह ग्रंथ करीब २००० अक्षरोंका है। निर्णयसागर प्रेस (बम्बई) से यह पुस्तिका दो आनेमें मिल सकती है। फलश्रुतिका पांचवां खण्ड यदि छोड दिया जाए तो चार ही खण्ड रह जाते हैं। एक एक खण्डमें एक एक वेदका ज्ञान दिया गया है।

'चरणव्यूह' के अन्तमें शौनकको नमन किया है। आश्वलायनने भी अपने गृह्यसूत्रके अन्तमें शौनकको नमन किया है। पर वे गृह्यसूत्र शौनकके नहीं हैं। उसी प्रकार यह चरणव्यूह भी शौनकका नहीं है, यह सहज अनुमेय है। इसको शौनक द्वारा लिखित ग्रंथ माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसे किसी वैदिक ब्राह्मणने ही लिखा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुस्तिकाके लेखकको सम्भवतः इस बातका ज्ञान नहीं था, कि एक कालमें केवल तीन ही वेद थे और अथर्ववेदको वेदोंमें नहीं गिना जाता था। उस पुस्तिकाके प्रारंभका वाक्य इस प्रकार है—

यदुक्तं चातुर्वेद्यं चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति
तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति ॥

शौनकके नामपर अनेक छोटे मोटे ग्रंथ हैं, उनमेंसे एक 'बृहद्देवता' है। वैजनाथ काशीनाथ राजवाडेके अनुसार तो किसी संस्कृतको अच्छीतरह न जाननेवालेने ही 'चरण-व्यूह' रचा है, क्योंकि राजवाडेने उस ग्रंथमें अनेक अशुद्धियाँ निकाली हैं। इसलिए यह तो लगभग निश्चित ही हो जाता है, कि 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' जैसे ग्रंथोंका रचयिता शौनक इस ग्रंथका रचयिता नहीं हो सकता।

चरणव्यूहका पहला भाग वेद विषयक है। प्रारंभमें ही वेदोंके नामोंका निर्देश करनेके बाद 'तत्र ऋग्वेदस्य अष्टौ स्थानानि भवन्ति' ऐसा कहा है। ऋग्वेदके आठ स्थान हैं। पर यहां स्थान शब्दसे रचयिताका क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं। पर पाठभेदसे तथा भाष्यकारोंके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि स्थान, भेद और शाखा ये समानार्थी शब्द हैं। चर्चा, श्रावक, चर्चक, श्रवणीयपार, क्रमपार, क्रमपद, क्रमजटा और क्रमदण्ड ये आठ भेद हैं। चर्चा अर्थात् विवेचना, श्रावक— विवेचना सुनानेवाला, चर्चक-शिष्य और श्रवणीय अर्थात् सुननेके योग्य, उसका 'पार' अर्थात् उसकी समाप्ति, आठमेंसे चार अंग ये हैं। दूसरे चार पदोंसे चार पारायणोंको सूचित किया है, ऐसा भाष्यकारोंका कहना है। संहिता, क्रम, जटा और दण्ड ये पारायणके चार प्रकार हैं। इन आठ स्थानोंमें प्रथम चार स्थानोंका तथा दूसरे चार स्थानोंका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। वेद, गुरु और शिष्य इन्हें अध्ययनका अंग अवश्य माना जा सकता है, पर समाप्तिको भी पारायणके स्वतंत्र अंग माननेमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। क्रम, जटा और दण्ड ये पाठ करनेके प्रकार हैं। कितने पद लेने चाहिए, अनुलोम और विलोम किसप्रकार करना चाहिए, यह सब इसके अभ्याससे पता चलता है। इस पाठको पारायण कहते हैं। पारायणका अर्थ पूरा करना है। घन आदि भी पाठके प्रकार हैं, तो भी चरणव्यूहकार चार पारायणकी ही चर्चा करता है।

इन पारायणोंकी 'आश्वलायनी, सांख्यायनी, शाकल, बाष्कल और माण्डूकेय' शाखाओंका नाम वहां दिया है। 'एतेषां वेदपारायणानां पंच शाखा भवन्ति' यह भाष्यकार महीदासका कथन है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वेदपारायणसे आश्वलायनादि पांच शाखाओंकी उत्पत्ति हुई। ऋग्वेदकी ये शाखायें पहले भी अस्तित्वमें थीं, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि चरणव्यूह के 'तेषामध्ययनम्' इस सूत्रपर भाष्य करते हुए 'तेषां आश्वलायनादि-शाखानां समानाध्ययनं सूचयति' ऐसा कहा है।

सारांश यह कि अध्ययन करनेकी पद्धति सभी की समान ही होनी चाहिए। ये शाखायें बनीं कैसे? यह चरणव्यूहकार स्पष्ट नहीं करता। वे पहलेसे ही थीं और ग्रंथकारने उनका वैसा ही उल्लेख कर दिया। इस शाखा-भेदके विषयमें हमें तर्क या अनुमानका ही सहारा लेना पडता है। वैदिक आर्योंके दल सिन्धु नदीको पार करके भारतमें आए और जहां तहां बस्तियां करके वे यहीं बस गए, ऐसा कई विद्वानोंका मत है, और वह मत निराधार है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेदमें अग्नि की अर्चनाका वर्णन है। उससे ऐसा भी ज्ञात होता है कि देवोंको यज्ञके लिए अर्थात् सोमपानके लिए बुलानेवाले मंत्रोंकी रचना प्रतिदिन नये नये रूपमें होती थी।

युगान्तरे अन्तर्हितान् वेदान् इस वचनके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे यह प्रतिदिन की अर्चन-विधि बन्द होगई। तो भी उस समय तक रचे हुए मंत्रोंका लोगोंके पाठमें आना नितान्त संभव है। बादमें बिखर जाने पर ये ऋचायें एक ही के पास न रहकर विभिन्न वेद-पाठियोंके पास चली गई। इस कारण कुछ मंत्र एक विद्वान्को याद थे और कुछ मंत्र दूसरेको याद थे, और प्रकार शाखाओंमें भेद हुए। इस पर तो किसीने ध्यान नहीं दिया और लोगोंने यह समझ लिया कि गुरुपरम्परासे अध्ययन करनेके कारण ही ये भेद हुए हैं। इसलिए सर्वत्र ही गुरुपरम्पराकी होड़ लग गई। पर इस बात पर विश्वास करना असंगत है। उदाहरणके लिए हम किसी भी आचार्य को लेलें। महीदास कहते हैं कि व्यासने पैलमुनिको वेद सिखाया, उसीको पैलमुनिने प्रमितीको सिखाया, प्रमितीने पहलेके अध्ययनमें ही जटा विकृतिका समावेश करके वह वेद बाष्कल बोध्य, याज्ञवल्क्य, × पराशर, अग्निमित्र इन शिष्योंको और अपने पुत्र माण्डूकेयको सिखाया।

इससे यह निश्चित होता है कि मांडूकेय इन्द्रप्रमितीका पुत्र था। इसी भाष्यमें आगे कहा है कि माण्डूकेय के शिष्य वेदमित्रका शाकल्य नामक पुत्र था, शाकल्यने दण्ड-पाठको समाविष्ट करके वही वेद मुद्गल आदि दूसरे ऋषियों को सिखाया। बाष्कल पैलका शिष्य था और बाष्कलि बाष्कलका पुत्र था। इस बाष्कलिने पूर्व बताई गई सभी शाखाओंमेंसे पृथक् मंत्र निकाल कर वालखिल्य संहिता रची। अब यदि यह माना जाए कि इस प्रकार अखण्ड गुरुपरम्परा थी, तो शाखा भेद असिद्ध होजाता है। उपरोक्त गुरुपरम्पराके विरोधमें अनेक वचनोंका संग्रह किया जा सकता है। प्रथम हम वालखिल्य संहिता पर ही विचार करते हैं। वालखिल्य मंत्र प्रत्येक वेदके अन्तमें परिशिष्टके रूपमें जोडे गए हैं। जिसका पदपाठ नहीं, वही वालखिल्य है, इस प्रकार वालखिल्यकी सामान्य व्याख्या हम कर सकते हैं। इसके अलावा, पारायणमें वालखिल्य मंत्रोंका पाठ न हो, ऐसा भी विधान है। पर, मूल मंत्रोंमें से ही निकाले गए कुछ मंत्रोंको अस्पृश्यके समान बाहर निकाल देना, यह सामान्य समझके बाहरकी बात है।

ऊपरकी जानकारी भाष्यकारोंने दी है, वह बहुत विश्वसनीय है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बिल्कुल प्रारंभसे हम विचार करके इसे देखते हैं। बहुतोंका मत है कि व्यासने एक वेदके चार वेद बनाए। पर मेरी दृष्टिमें इन शब्दोंका कुछ भी अर्थ नहीं है। वेदोंकी राशि एक थी, इसका मतलब क्या? क्या वह हस्तलिखितकी राशि थी? और उस राशीको विभक्त कर उसके चार बनाये, क्या यह उनका तात्पर्य है? यह अशक्यप्रायः बात सत्य नहीं मानी जा सकती। इस लिए उसपर ज्यादा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। अब यदि यह माना जाए कि व्यासको सब वेद कण्ठस्थ थे और उसके उसने चार भाग किए, तो प्रश्न होता है, कि किस तत्वके आधारपर उसने ये विभाग किए, यह कोई नहीं बताता। और उन मंत्रोंको चारमें ही क्यों विभक्त किया, इसका भी कोई स्पष्टीकरण नहीं। सारांश, व्यासने एकके चार वेद बनाकर अपने शिष्योंको एक एक वेद पढाया यह सर्वथा कपोलकल्पित है। व्यासने अपने शिष्योंको वेद पढाया, इसपर एक प्रश्न ऐसा उठता है कि वेद पढानेका अधिकार व्यासको दिया किसने? व्यासको 'आचार्य' इस पदवीसे किसीने भी संबोधित नहीं किया है। अस्तु, इस आख्यायिकासे केवल एक एक ही वेद सिखाया, यह जानकारी हमें मिलती है। पर यह भाष्यकार आगे चलकर कहता है कि व्यासने पदक्रमसहित ऋक्संहिता पैलको सिखायी। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस भाष्यकारको इस बातका जरा भी पता न था कि ऋक् संहिताका पदपाठ शाकल्यने किया था। ऋक्संहिताको

× यह वाजसनेयि यजुःसंहिताके याज्ञवल्क्यसे भिन्न है।

पैलने व्याससे सीखा, पैलने इन्द्र प्रमितीको सिखाया और इन्द्र प्रमितीने अपने पुत्र माण्डूकेयको यह ज्ञान दिया, और वही ज्ञान मांडूकेयने अपने पुत्र शाकल्यको दिया। इस पर यह प्रश्न उठता है आजकी संहिताको शाकल संहिता कहनेका क्या कारण है। व्यासके अथवा इन्द्रप्रमितीके अथवा माण्डूकेयके नामपर इस संहिताका नामकरण क्यों न हुआ? तथा माण्डूकेय-संहितासे शाकल-संहिता पृथक् कैसे हो सकती है? इन प्रश्नोंका कोई उत्तर नहीं। अतः इस अपूर्ण जानकारी पर निश्चित किए अनुमान व सिद्धान्त गलत सिद्ध हुए तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

उदाहरणार्थ— शाकल और शाकल्य ये एक ही व्यक्तिके दो नाम थे, अथवा ये दोनों पिता पुत्र थे, इस विषयमें विवाद है। उसी प्रकार मांडूकेय यह व्यक्तिका नाम था अथवा उसका पैतृक नाम था, यह भी विवादास्पद है। ऐतरेय आरण्यकमें कहा है कि ऋग्वेदका अध्यात्मपरक अर्थ करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल पाठ करनेवाले आजके ब्राह्मणोंकी तरह माण्डूकेय नहीं था। इस माण्डूकेयके बादका शाकल्य है, इसीने पदपाठ किया था। इससे ऐसा समझना चाहिए कि संहिताओंके अर्थ करनेका सबसे प्रथम प्रयत्न शाकल्यने ही किया था। यदि यह ठीक है तो यह भी मानना पडेगा कि माण्डूकेयने पदपाठसे रहित संहिताओंका अध्यात्मपरक अर्थ किया था।

शाखा निर्देश करनेके बाद इस व्यूहमें स्पष्ट कहा है कि ऋग्वेद संहितामें दस मण्डल और चौंसठ अध्याय हैं। यहां लक्ष्यमें आनेवाली बात यह है कि दस मण्डलान्तर्गत चौंसठ अध्याय केवल शाकल संहितामें ही नहीं है अपितु यह उल्लेख ऋग्वेदकी पांचों शाखाओंके सम्बन्धमें है। इस परसे ऐसा दीखता है कि शाकलके अतिरिक्त बाकीकी शाखाओंकी संहिताएं स्वतंत्र हैं, यह समझना निराधार है। इसके बाद वर्गसंख्या, पदसंख्या, और अक्षरसंख्या इत्यादि बताकर व्यूहकारने ऋग्वेद खण्ड समाप्त कर दिया है।

इसके आगेका खण्ड यजुर्वेद विषयक है। उसमें यजुर्वेदके ८६ भेद बताकर मंत्र संख्या १९०८ दी हुई है। इस संहिताका यदि दो बार पाठ किया जाए तो उसकी संज्ञा 'वैदिक पदपार' होती है यदि तीन बार पाठ किया जाय तो उसकी संज्ञा 'क्रम पार' होती है। यह विधान मैत्रायणी संहिता पर लागू होती है। इस परसे भाष्यकार यह निष्कर्ष निकालता है कि मैत्रायणीके पदक्रमका अध्ययन संहितासे अलग नहीं है। मैत्रायणीके ६ भेद बताकर व्यूहकार पूर्व, उत्तर और नैर्ऋत्य इन दिशाओंमें वाजसनेयि शाखाके १५ भेद बताता है। वाजसनेयिमें १९०० मंत्र हैं। तैत्तिरीय संहिताके मुख्यतः दो भेद हैं, उनमें एक, शाखा (खांडिकेय) के ५ भेद बताये हैं। सत्याषाढी, हिरण्यकेशी, बौधायनी, आपस्तम्बी और औधेयी ये उन भेदोंके नाम हैं।

मंत्रब्राह्मणयोर्वेदस्त्रिगुणं यत्र पठ्यते।
यजुर्वेदः स विज्ञेयो अन्ये शाखान्तरः स्मृताः॥

व्यूहकारके मतमें मंत्रब्राह्मणमिश्रित वेद ही सच्चा यजुर्वेद है। बाकी सब शाखायें है। इस प्रकार व्यूहकारके अनुसार तैत्तिरीय संहिता ही वास्तविक यजुर्वेद ठहरती है, क्योंकि उसीमें मंत्र और ब्राह्मणोंका संमिश्रण है। ऐसे इस वेदका तीन बार पाठ करे, चरणव्यूहमें कहा है 'त्रिगुणं यत्र पठ्यते'। क्योंकि प्रथम कहे हुएके अनुसार मैत्रायणी संहिताका दो बार पाठ करनेवाला पदपार होता है, ऐसा अर्थ भाष्यकारोंने किया है। पर यहां केवल संहिता, पद और क्रम इस रीतिसे जो पठन होता है, उसे 'त्रिगुण पठन' कहते हैं। इसके आगे चलकर व्यूहकार लोगोंके विरोधकी चिन्ता न करते हुए यह भी कहता है कि संहिताके समान ब्राह्मणोंका भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरितके अनुसार पाठ होना चाहिए। इस भाष्यकारका कहना है कि इन तीन स्वरोंमें पठन और किसी दूसरी शाखामें नहीं है। वाजसनेयि यह वेदका नाम है या शाखा का? भाष्यकारका मन्तव्य है कि मैत्रायणी शाखाके लोग वाजसनेयि संहिताका अध्ययन करते हैं। ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि चरणव्यूहकार कृष्ण व शुक्ल रूपसे यजुर्वेदके भेद नहीं करता। भाष्यकारोंने एक और विशेष बात कही है कि विवाह, सोमयज्ञ, श्राद्ध और अग्न्याधान इन कर्मोंमें वाजसनेयको अपनी जातिसे ही सम्बन्ध करना चाहिए अन्यथा वह पतित होता है। इसके अलावा और भी सूचनायें भाष्यकारोंने दी है।

नर्मदाके दक्षिणमें यजुर्वेदकी आपस्तम्ब, ऋग्वेदकी आश्वलायन, सामवेदकी राणायनी और अथर्ववेदकी पिप्पल ये चार शाखायें हैं, इन शाखाओंके अध्ययन करनेवालोंमें परस्पर यज्ञ और विवाह होता है। नर्मदाके उत्तरमें यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी क्रमशः माध्यन्दिन,

सांख्यायन, कौथुम और शौनक शाखाओंके अध्ययन करनेवालोंमें भी परस्पर विवाहादि सम्बन्ध हो सकते हैं। सह्याद्रिसे लेकर कृष्णा, तुंगभद्रा और गोदावरीके किनारे आंध्र-देशतक शाकल और आश्वलायन दो शाखायें हैं।

नर्मदाके उत्तरमें गुजरातमें ऋग्वेद ही है। वहां ऋग्वेदकी सांख्यायन शाखा और कौषीतकी ब्राह्मण है, दक्षिणके आग्नेय दिशामें आन्ध्रसे लेकर गोदासागरतक यजुर्वेदकी तैत्तिरीय और आपस्तम्ब शाखाका प्रचलन है। अध्वर्यु, उद्गाता और होता इनके कर्मोंको बतानेवाले अनेक सूत्र हैं। जहां उनका परस्पर विवाह अथवा यज्ञ सम्बन्ध होता है, वहां इन सूत्रोंका ज्ञान सफल होता है। नैर्ऋत्यमें सह्याद्रि पर्वतसे लेकर समुद्रतक परशुराम क्षेत्रके आसपास हिरण्यकेशी शाखा है। वायव्य दिशामें मयूरपर्वतसे लेकर गुजरातकी सीमातक मैत्रायणी शाखाका प्रचार है। अंग (बिहार), बंग (बंगाल), कलिंग (उडीसा), कानीन (गौड) और गुजरात प्रान्तोंमें वाजसनेय वेदकी माध्यन्दिन शाखा प्रचलित है। याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदकी कण्वशाखाका सब देशमें प्रचार किया।

इस ग्रंथमें जितनी शाखाओंका उल्लेख मिलता है, केवल उतनी ही शाखा है, और अधिक नहीं, ऐसा कोई न समझे। मूल ग्रंथकार और भाष्यकारको जितनी शाखाओंका ज्ञान था, उतनी शाखाओंका उल्लेख उन्होंने कर दिया। रघुवीर सिंहके वैदिक जॉर्नलमें भारद्वाज गृह्यसूत्र प्रकाशित हुआ था। उसमें यजुर्वेदकी यावनी शाखाका भी उल्लेख था। इस शाखाका क्या स्वरूप है, और उसको यावनी शाखा कहनेका क्या कारण है, इसका संशोधन आजतक किसीने किया हो, ऐसा दीखता नहीं।

यजुर्वेदके बाद सामवेद पर विचार किया है। सामवेदके हजार भेद हैं, ऐसा भाष्यकारका कथन है। परन्तु अनध्यायके दिन अध्ययन करनेवालेको इन्द्रने नष्ट किया, इसलिए शाखायें भी नष्ट हो गईं; ऐसी आख्यायिका भाष्यकारने वहां दी है। सामवेदमें भी वालखिल्यका समावेश हुआ है। भाष्यकार कहते हैं कि सम्प्रति गुजरातमें कौथुमी, कर्नाटकमें जैमिनी और महाराष्ट्रमें राणायनी इस प्रकार तीन शाखा अस्तित्वमें हैं। इस खण्डमें भाष्यकारने भागवतके बारहवें स्कंधके आधार पर कहा है कि जैमिनीके अति बुद्धिमान् शिष्य सुकर्माने सामवेद वृक्षके एक हजार भेद किए।

इसके बाद अथर्ववेदके खण्डमें इसी प्रकारकी जानकारी देकर अन्तमें फलश्रुतिके खण्ड पर चरण व्यूहको समाप्त किया है। गर्भवतीको यदि यह चरणव्यूह सुनाया जाए, तो उसे पुत्र प्राप्ति होगी, इस प्रकारके फल इस खण्डमें वर्णित हैं। इससे चरणव्यूहका महत्व बढेगा, ऐसी कल्पना सम्भवतः व्यूहकारकी होगी।

व्यूहकारके अनुसार आर्योंकी प्रथम बस्ती उत्तर ध्रुव थी। हिमपातसे आर्य बिखर गए और ध्रुव पर यज्ञपद्धतिकी परम्परा भी टूट गई। यह यदि न भी माना जाए, तो यह तो मानना ही पडेगा कि सिन्धु नदी के उस पारसे वैदिक आर्योंकी विभिन्न जातियां विभिन्न कालमें भारतमें प्रविष्ट होकर विभिन्न स्थानों पर बस्तियां बना कर रहने लगीं। इस प्रकार प्रत्येक दलने अपना अपना पृथक् पृथक् सम्प्रदाय चलाया। वस्तुतः उत्तरी ध्रुवकी अर्चन-विधिमें होत्रके साथ साथ याजुषमंत्र भी थे। सामवेदका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं था। गानेकी पद्धति पर ऋचाएं बोलना ही उद्गाताका काम था। याजुष मंत्र गद्यमें होते हैं। भारत में आनेके बाद याजुष मंत्र बोलनेवालोंने अपना एक पृथक् दल बनाया। इसी कारण उनके ग्रंथमें काव्यके साथ साथ गद्यका भी सम्मिश्रण हो गया। सामवेदियोंको स्वतंत्रता किस प्रकार मिली, यह एक प्रश्न है। इस पर अनुमान लगाया जा सकता है कि शाकल संहितामें जिन मंत्रोंका अन्तर्भाव नहीं हुआ, ऐसे ऋक् मंत्र विभिन्न दलोंमें प्रचलित हुए होंगे और उन मंत्रोंका इन संप्रदायके स्थापकोंने उपयोग कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके अलावा भारत आने पर अग्नि पूजाके प्रसंगमें पहले की ऋचाओंका अनुसरण करके नये मंत्रोंकी रचना कोई असंभव बात नहीं है। इन्हींको खिल मंत्र कहते होंगे। पूर्वके ऋग्वेदियोंने इन्हें परिशिष्टके रूपमें माना है। उनका समावेश ऋग्वेदमें करनेसे उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इससे बढकर उन्होंने यह भी कह दिया कि पारायणके प्रसंगोंमें इन खिल मंत्रोंको बोलना भी नहीं चाहिए। बादके कई आचार्योंने इन मंत्रोंका समावेश अपने संहिताओंमें करके अपने सम्प्रदायको प्रतिष्ठा दिलानेका प्रयत्न किया। खिल शब्द ऋग्वेदमें नहीं मिलता, लौकिक संस्कृतमें है, पर वह भी दूसरे अर्थमें। यह शब्द किसी दूसरी भाषामें मिलता है या नहीं, यह संशोधनीय है।

ऋग्वेदके सभी मंत्रोंको सस्वर बोलनेका विधान है। इन स्वरोंका उद्गम उद्गाताके गायन पद्धतिमें होता है। आरोह और अवरोह गद्यकी अपेक्षा पद्यमें अधिक स्पष्ट दीखता है। ये स्वर भेद और स्वरचिन्ह भी भिन्न-भिन्न संहिताओंमें भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नताके कारण गुरु परंपराका अनुमान असंगत ठहरता है।

एक और बात विचारणीय है। चरणव्यूहमें चार वेद बताये हैं। उनपर भाष्य करते हुए महीदास यह जानकारी देता है कि आश्वलायन गृह्यसूत्रमें कुछ आचार्य मांडूकेय गणके, कुछ सांख्यायन गणके और कुछ आश्वलायन गणके हैं। गण शब्दकी व्याख्या न करते हुए गणोंका नामोल्लेख किया है। मेरे विचारमें सांस्कृतिक दृष्टि और सामाजिक दृष्टिसे संघटित जमातको ही यहां गण कहा गया है। आजकी भाषामें इसे जाति भी कहा जा सकता है। मैं आगे जो समीक्षा करनेवाला हूँ, वह स्पष्ट हो इसलिए महीदासके द्वारा कहे गए गणके आचार्योंके नाम यहां देना आवश्यक है।

माण्डूकेय गण	सांख्यायन गण	आश्वलायन गण
१ जानन्ति	१ गर्गोवाचक्नवी	१ ऐतरेय
२ बाहवि	२ वडवाप्रातीथेयी	२ महैतरेय
३ गार्ग्य	३ सुलभा	३ शाकल
४ गौतम	४ मैत्रेयी	४ बाष्कल
५ शाकल्य	५ कहोळ	५ सुजातवक्त्र
६ बाभ्रव्य	६ कौषीतकी	६ औदवाहि
७ माण्डव्य	७ महा कौषीतकी	७ महौदवाहि
८ मांडूकेय	८ पैंग्य	८ सौजामि
	९ महापैंग्य	९ शौनक
	१० सुयज्ञ	१० आश्वलायन
	११ सांख्यायन	

इससे एक बात ध्यानमें आती है कि शाकल और बाष्कल इन दो शाखाओंके स्वतंत्र गण नहीं थे। ये दोनों ही आचार्य आश्वलायन गणमेंसे थे। तो क्या इससे यह समझा जाए कि एक ही गणमें विभिन्न शाखायें प्रचलित थीं? दूसरा- शाकल्यका नाम माण्डूकेय गणमें और शाकलका नाम आश्वलायन गणमें आता है। इससे कहना पडता है कि शाकल्य और शाकल ये दोनों भिन्न-भिन्न ऋषि थे। उपर्युक्त आचार्यों व उनके गणोंके नाम कालानुक्रमसे दिए होंगे, यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि आश्वलायन सूत्रमें इन आचार्योंके नाम आए हैं। इन सब आचार्योंको समकालीन माननेमें अनेक आपत्तियां हैं। अन्यत्र भाष्यकारने शाकल्यके पिताका नाम वेदमित्र बताया है और वेदमित्र मांडूकेयका शिष्य था। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि शाकल और शाकल्य दोनों भिन्नभिन्न थे।

बालखिल्य सूक्त भी खिल ही थे, पर वैदिक संशोधन मन्दिर (पूना) ने उनका समावेश ग्रंथमें कर दिया है। इसका कारण समझमें नहीं आता। इन सूक्तोंपर सायणने भाष्य नहीं किया है। ये ११ सूक्त ८ वें मण्डलमें (४९ से ५९) डाल दिए गए हैं। सायणाचार्यके ग्रंथमें सूक्तोंका क्रम कैसा था, पता नहीं। बालखिल्यकी उत्पत्ति अद्भुत है।

अस्तु, सारांशमें, चरणव्यूहकार और भाष्यकार महीदास बहुत विश्वसनीय हैं, ऐसा समझना कठिन है।

एक और विशेष बात- भागवतके आधारपर महीदास लिखते हैं- 'व्यासशिष्यो वैशम्पायनो निगदाख्यं यजुर्वेदं पठित्वा ... तच्च भागवते' वैशम्पायनने अपने शिष्योंको निगद नामका यजुर्वेद पढाया। यह निगदाख्य यजुर्वेद कहां है, कौनसा है? ऐतरेय ब्राह्मणकी प्रस्तावनामें निगदका अर्थ इस प्रकार दिया है- 'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते'। क्या यह पुराणकारों व भाष्यकारोंका अज्ञान है, ऐसा समझा जाए।

गौरी

[डा. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

ऋग्वेद १।१६४।४१ में निम्नलिखित मंत्र है—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती
एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी
सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

अर्थ— इस मंत्रके दो अर्थ पश्चिमी विद्वानोंने किए हैं— सायणानुसारी विल्सनका अर्थ इस प्रकार है- मेघोंकी ध्वनि उद्गत हुई है, जो जलोंका तक्षण करती है, स्वयं एक पैरवाली, दो पैरवाली, चार पैरवाली, आठ पैरवाली और नौ पैरवाली होना चाहती है। वह परम आकाशमें सहस्र अक्षरोंसे युक्त है।

दूसरा अर्थ ग्रिफिथके अनुवादमें इस प्रकार है- जलकी धारा उत्पन्न करती हुई मादा भैंस रम्भाती है। उसके एक पैर, दो पैर, चार पैर या आठ पैर हैं और नौ पैरवाली होना चाहती है। वह सर्वोच्च आकाशमें सहस्र अक्षरों-वाली है।

इन अर्थोंसे ऐसा नहीं लगता कि मंत्रका वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट हो सका हो। इस मंत्रमें कई पारिभाषिक शब्द हैं। उनकी व्याख्याके द्वारा ही मंत्रका वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है। मंत्रके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं— गौरी कौन है? इस संदर्भमें मी गायका क्या अर्थ है? सलिलानि अर्थात् जलका संकेत क्या है? तक्षती अर्थात् तक्षण करती हुई इस पदका अभिप्राय किस ओर है? एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी नवपदी इन महत्वपूर्ण शब्दोंकी यथार्थ व्याख्या क्या है? सहस्र एवं अक्षर इन दोनों शब्दोंका पृथक् पृथक् और संयुक्त संकेत क्या है? परमे व्योमन् शब्द वेदोंमें प्रायः प्रयुक्त हुआ है उसका ठीक अभिप्राय क्या है? तथा सहस्राक्षरा वाक् का परम व्योमन्से क्या संबंध है? इन प्रश्नोंपर वेदार्थकी प्राचीन शैलीसे विचार करना आवश्यक है, तभी मंत्रका पुष्कल अर्थ समझा जा सकेगा।

गौरी— कोशोंमें 'गौर' शब्दका अर्थ जंगली नर भैंसा और 'गौरी' का अर्थ मादा भैंस है। गौरी और गौ दो पृथक् शब्द हैं और दोनों अलग-अलग पशु हैं। गौरीका वर्ण श्याम और गौका श्वेत होता है। गौरी वरुण-लोककी और गौ इन्द्र लोककी प्रतीक है। गौरी या भैंस जलमें किलोल करना पसन्द करती है, उसे जलविहार प्रिय है, किन्तु गौको जलकी अपेक्षा सूर्यप्रकाश अधिक प्रिय है। वैदिकसृष्टि विद्यामें दो अवस्थाओंकी कल्पना की जाती है, पूर्वावस्था वरुणकी है और उत्तरावस्था इन्द्रकी। वरुण समुद्रके देवता हैं, वे जलोंके स्वामी या अधिपति हैं। जलोंका अभिप्राय सृष्टिकी कारणावस्थासे है, जिसमें रूपोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती, किन्तु सब रूपोंका अन्त-र्भाव एकमें हो जाता है। यह प्रकृतिकी गर्भावस्था या साम्यावस्था है। इसीको समुद्र, सलिल, आपः इन कई नामोंसे कहा जाता है।

यदाप्नोत् तस्मादापः (शतपथ. ६।१।१।९)

इस व्युत्पत्तिके अनुसार विश्वके मूल उपादान कारणकी संज्ञा 'आपः' या 'सलिलम्' है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इस व्युत्पत्तिकी और विचारकी स्पष्ट कल्पना मिलती है—

इदमग्रे सलिलमेवास।
ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति।

(शतपथ. ११।१।६।१)

अर्थात् आरम्भमें आपः संज्ञक जल ही था। उन जलोंने सोचा कि हम किस प्रकार विश्वका प्रजनन करें। अथवा इसको और स्पष्ट रूपसे कहा है, ब्रह्माने सोचा- यह जो सब कुछ है, उसे इन आपः संज्ञक जलोंके द्वारा ही मैं प्राप्त करूंगा, इसी कारणसे इन्हें 'आपः' कहा गया—

तद्यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदम्
सर्वमाप्स्यामि यदिदं किंचेति,
तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति
वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते।
(गो० पू० १।२)

वरुण इस 'आपस्तत्त्व' या 'समुद्र' के अधिदेवता कहे गए हैं। 'आपः' या जलका स्वभाव है कि वह व्यक्त रूपोंको अपने गर्भमें विलीन करके रखता है। प्रलयकी अवस्थामें सब पृथक्=पृथक् रूपसे जिस स्रोतमें विलीन हो जाते हैं, वही महान् समुद्र वरुणका लोक है। विश्वमें जितनी शक्ति है, वह सब उस महासमुद्रमें संचित हो जाती है। साम्यावस्थामें आनेके कारण उसके जलमें वैषम्य या प्रवाह नहीं होता। उस अनन्त महासमुद्रको ऋत समुद्र भी कहा जाता है, जो समष्टि विश्वोंके अधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापतिका समुद्र कहा गया है।

वरुण शब्दका अर्थ है- आवरण करनेवाला। ऋग्वेदमें वरुणको महान् असुर कहा गया है। असुर अंधकारका प्रतीक है और देव ज्योतिका। वरुण आवरण करनेवाला और इन्द्र निरावरण करनेवाला ईन्धनात्मक या प्रकाश तत्त्व है। गोपथमें वरुण शब्दकी व्युत्पत्ति देते हुए स्पष्ट संकेत किया गया है—

यच्च वृत्वाऽतिष्ठन्स्तद् वरुणोऽभवत्
तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण।
(गोपथ १।१।७)

किन्तु अकेले वरुणकी स्थिति सम्भव नहीं। कैसा भी घोर अन्धकार हो उसके गर्भमें प्रकाश रहता ही है। अतएव मित्र और वरुण यही सृष्टिके मूल द्वन्द्व हैं। वरुण देवताके साथ मित्र देवताकी भी सत्ता है, मित्रावरुण द्वन्द्व है। जो स्थिति कालके महान् युगोंमें है, वही एक एक सत्र या अहोरात्रमें भी है। अन्धकार और प्रकाश दोनोंके सम्मिलित तारतम्यसे अहोरात्रका स्वरूप बनता है।

ऋग्वेदमें कहा है कि मित्र और वरुण दोनोंकी शक्तिसे ही उर्वशीके द्वारा मैत्रावरुणि वशिष्ठका जन्म होता है। उर्वशी मातृतत्त्व है। उसकी कुक्षि ही वह घट है, जिससे अगस्त्य और वशिष्ठ इन दो प्राणोंका जन्म होता है। वशिष्ठ प्राण और अगस्त्य अपानके प्रतीक हैं।

इस प्रकार मूलमें जो मित्र और वरुणका सम्मिलित रूप है, वही सृष्टि धारामें प्रकट होता है। मित्र और वरुणकी द्विविध शक्ति सूर्यमें आती है, जहाँ प्रकाश और अन्धकार दोनोंकी सत्ता है। प्रकाशका प्रतीक इन्द्र और अन्धकारका प्रतीक वृत्र है। वरुणकी परंपरा वृत्रासुरमें प्रकट होती है। वृत्र और इन्द्रका संघर्ष है। इन्द्रके लोकपर वृत्र या अंधकार आक्रमण करना चाहता है। वृत्रकी ही एक संज्ञा महिष है— 'व्यचयन् महिषो दिवं (ऋ. १०।१८९।२)

जो स्वभाव वरुणका है वही वृत्रका भी है। वृत्र भी अन्धकारके समान आवरक-तत्त्व है, जैसा कहा है—

वृत्रो वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये,
यदिदमंतरेण द्यावापृथिवी
स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये,
तस्माद् वृत्रो नाम। (शतपथ. १।१।३।४)

इस प्रकार सृष्टिके मूलमें विद्यमान मित्र और वरुण क्रमशः इन्द्र और वृत्रके पूर्व प्रतिनिधि हैं। वरुण लोककी शक्ति गौरी और इन्द्रकी गौ कही जाती है। वृत्र, वल आदि असुरोंके महादुर्गोंमें छिपाई हुई गौओंको मुक्त करना, यही इन्द्र और उनके गुरु बृहस्पतिका महान् पराक्रम है। वरुण लोकके लिए ऋग्वेदमें कई नाम हैं। उसे ही 'कृष्ण-नियान' अर्थात् अंधकारसे भरा हुआ काला गढ्ढा कहा गया है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा
अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रंत्सदनादृतस्य
आदिद् घृतेन पृथिवीऽव्युद्यते॥ (ऋ.१।१६४।४७)

इसका अभिप्राय यह है कि जलसे भरा हुआ एक काला गढ्ढा है, उसीमेंसे सुनहले पक्षी अपने पंखोंपर जलकी बूंदे लिए हुए आकाशमें उड-उडकर आ रहे हैं। वे ऋतके सदन या स्थानसे बार-बार आते हैं और उनके कारण यह

पृथिवी घृतकी वृष्टिसे गीली हो जाती है। इसमें 'कृष्ण-नियान' और 'ऋतका सदन' ये दोनों वरुणके आपोमय समुद्रकी संज्ञायें हैं। उनसे उड़कर आनेवाले सुनहले पक्षी सूर्य चन्द्र आदि अनेक प्राणाभिमानी देवता हैं। उनके पंख उसी मूलशक्तिसे भीगे हुए हैं, जो वरुणके मूल समुद्रमें है, अन्तर यही है कि ये प्राणरूपी पक्षी या प्राणात्मक अभिव्यक्तरूप आग्नेय या हिरण्मय हैं। प्रत्येक प्राण हिरण्मय पक्षी हैं, इसे ही वेदोंमें 'हिरण्यपक्ष शकुन' कहा जाता है।

इस प्रकार वरुणलोकमें जिस प्राणमयी शक्तिकी सत्ता है उसकी संज्ञा 'गौरी' है। ऋग्वेदके घृत सूक्तमें जो चार सींगोंवाले गौर (चतुःशृंग गौर) और चार सींगोंवाले बैल (चतुश्शृंग वृषभ, ४।५८।२-३) का उल्लेख है— उसका अभिप्राय भी यही है कि वरुण लोकके गौर और इन्द्रके वृषभ इन दोनोंके प्रतीकात्मक प्राणरूपोंसे सृष्टिकी धारा प्रवृत्त हो रही है।

सृष्टिकी अभिव्यक्ति या विश्व रचनाके लिए जो प्रजापतिकी नई शक्ति उत्पन्न होती है, उसकी संज्ञा 'वाक्' है। इस वाक् के यथार्थ अभिप्रायको जानना आवश्यक है। 'वाक्' और 'शब्द' दोनों पर्याय हैं। शब्द आकाशका गुण है, जैसे गन्ध पृथ्वी का। पृथ्वी भूतोंमें स्थूलतम और आकाश सूक्ष्मतम है। अतएव पृथ्वीसे लेकर आकाशतकके पंचभूतोंका प्रतीक केवल शब्द या वाक् को ही मान लिया जाता है। क्योंकि शब्द पांचों भूतोंमें है जब कि गन्ध आदि तन्मात्रायें केवल अपने अपने भूतमें हैं। इस दृष्टिसे वाक् पंचभूतोंकी संज्ञा है अर्थात् विश्वरचनामें प्रयुक्त प्रकृति ही वाक् है।

इस प्रकार गौर एवं वृषभ अथवा गौरी एवं गौ इन दोनोंके प्रतीकात्मक अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। दोनों ही विश्वमाता हैं और दोनोंकी कल्पना मूलभूत कामदुघा गौके रूपमें की गई है। गौरी रूपी वाक्की महती शक्तिका संकेत 'मिमाय' शब्दमें है। वाक् का स्वरूप आग्नेय है—

या वाक् सोऽग्निः। (गोपथ २।४।११)

जलोंके भीतर छिपी हुई उष्णता जब एक बिन्दु पर केन्द्रित होती है, तो वही अग्निका प्रकट रूप है। वह अग्नि प्राणात्मक गतिकी संज्ञा है और विश्व रचनाका जो महान् स्पन्दनात्मक कारण है, वही 'अग्नि' है। समञ्जन और प्रसारण यही अग्नि और प्राणका लक्षण है। गरम करनेसे जलमें जब अग्निके कण प्रविष्ट होते हैं, तब जलोंमें अभिसरणकी एक धारा उत्पन्न हो जाती है। इसी गतिकी संज्ञा अग्नि रूपी वाक् है। गौरी और गौ उसीके क्रमशः अव्यक्त और व्यक्त रूप हैं। गौरी वारुणी रात्रिमें और गौ मित्र देवता सम्बन्धी दिवसमें रचना करती है। सृष्टिप्रक्रियासे ऊपरकी ओर चलें, तो वाक् का दर्शन गौरीरूपमें प्राप्त होता है और मूल कारणसे कार्यकी ओर देखें तो गौ रूपमें।

मिमाय— मिमाय शब्दका सीधा अर्थ रम्भाना या शब्द करना है। यह 'माङ्' (माने शब्दे च) धातुसे बना है। 'मा' धातुका एक दूसरा भी अर्थ है— मापन करना या माप कर पृथक्-पृथक् बंटवारा करना। विश्व रचनामें ये दोनों अर्थ समगत होते हैं। गौके रम्भानेका शब्द जितनी दूरतक जाता है वही मानो उसके विचरण या मापनका क्षेत्र है। गौ जहाँतक चरने जाती है वही उसके पदसंचारकी सीमा है। यह विश्व असीम तत्त्वके सीमाभावमें आनेसे उत्पन्न होता है। इसकी एक नाप है, है, उसे ही ऋग्वेदमें प्रमा कहा गया है—

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम्।
(ऋग्वेद १०।१३०।३)

सृष्टिके विषयमें आठ प्रश्नोंके अन्तर्गत ऋषिका पहला प्रश्न है कि— 'इस विश्वकी प्रमा क्या है? अर्थात् इसका प्रमाण या माप क्या है? यह कितनी और कैसी या किस नमूनेकी है?' ये ही दो प्रश्न प्रमा और प्रतिमा शब्दोंसे सूचित किये गए हैं। यह जगत् ऋग्वेदमें 'रजसो विमानः' कहा गया है। रजस्-गतिकी संज्ञा है। रजस् या गतिके द्वारा ही विश्वका मापन या विकास हुआ है। प्रकृति या विश्वमाता रूपी गौका वत्स यह विश्व है। दोनों एक दूसरेके लिए रम्भाते हैं। अर्थात् वाक् तत्त्व द्वारा एक दूसरेसे जुड़े हैं। इसीलिए 'अस्यवामीय- सूक्त' में दोनों प्रकारसे वर्णन किया गया है—

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं
मूर्धानं हिङ्ङकृणान्मातवा उ। (ऋ. १।१६४।२८)

अर्थात् जब बछड़ा आँख खोलता है, तब माता गौ उसके लिए रम्भाती है और अपने हृदयकी उमंगसे उसके

मस्तकको सूँघती है, कि वह भी रम्भानेका शब्द करे। यह वर्णन मूल-प्रकृति और उसके विश्वरूपी बछडेका है। दोनों एक दूसरेके प्रति हार्दिक उमंगसे ओतप्रोत हैं और यही विश्वका हार्दिक या प्राणमय जीवन है। बछडेके लिए भी इसी प्रकारकी उक्ति है—

अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद्
विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु। (ऋ. १।१६४।८)

अर्थात् बछडेने रम्भानेका शब्द किया और अपनी माँके पीछे चलते हुए उसने तीन योजनमें विश्वके सब रूपोंको देख लिया। ये विश्वरूप क्या हैं? कथाओंमें विश्वरूपको तृषिरा कहा गया है। मन, प्राण और बाह्य या पंचभूत यही तीन मस्तक या तीन रूप हैं। इनके अतिरिक्त विश्वमें कोई रूप नहीं है। अतएव इन्हें ही विश्वरूप या विश्व रूप्य कहा जाता है। बछडेका गौके साथ तीन योजनतक चलना इन्हीं तीन रूपोंको देखनेके लिए आवश्यक है। एक योजनकी यात्रा एक-एक रूपका दर्शन है। यह समस्त विश्व इन्हीं तीन रूपोंकी समष्टि है। प्रत्येक शरीरमें यही तीन रूप हैं। अर्थात् सर्व प्रथम स्थूल पंचभूतोंसे बनी हुई देह फिर उसके भीतर सूक्ष्मप्राणधारा है और प्राणसे भी सूक्ष्म मन उसे संचालित करनेवाला मनस्तत्त्व है।

इस प्रकार गौरी वाक् वरुण लोकके जलका तक्षण करके अर्थात् उन्हें काट-छाँटकर एवं पृथक्-पृथक् करके सीमाभावमें लाकर जिन विश्व रूपोंका निर्माण करती है, वे मूलतः यही तीन हैं- मन, प्राण और वाक्। इनसे ही समस्त त्रिकोंका जन्म होता है। तीन देव या संचालक प्राण, तीन लोक, तीन यज्ञाग्नि ये समस्त त्रिक् इन्हीं तीन रूपोंके प्रतीक हैं।

सलिलानि— सलिलानिका अर्थ ऊपर बताया गया है। 'आपः' और 'समुद्र' का ही पर्याय सलिल है। इसे ही पुराणोंमें 'एकार्णव' कहा है, यह विश्वका आदि कारण है, जिसके गर्भमें समस्त सृष्टियां विलीन रहती हैं। आपः की स्पष्ट व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थोंमें की गई है—

अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्। (शतपथ. १।१।१।१४॥ २।१।१।४॥ ४।५।७।७) ऋग्वेदमें कहा है कि 'बृहत् आपस्तत्त्व' ही विश्वरूपी गर्भको धारण करता है।

आपो ह यद् बृहती विश्वं आयन्
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (ऋ. १०।१२१।७)

आपः या जलने जिस गर्भको धारण किया, उससे अग्निका जन्म हुआ। अग्निका अर्थ 'प्राणतत्त्व' है, इसीका पर्याय 'हिरण्य' है। अतएव जलोंसे उत्पन्न होनेवाले प्रथम गर्भको 'हिरण्यगर्भ' भी कहते हैं। सूर्यकी संज्ञा ही 'हिरण्यगर्भ' है। सूर्य 'तपः' या 'अग्नि' का स्वरूप है। सूर्यसे तात्पर्य इस एक दृश्य सूर्यसे नहीं, किन्तु कोटानुकोटि ब्रह्माण्डोंके मध्यमें स्थित अनन्त सूर्योंसे है। इन सबका अन्तर्भाव 'अभीद्ध-तपस्' में हो जाता है, जिसे 'अग्रज तपस्,' 'दैवोष्ण्य' या 'ऊष्म' भी कहते हैं। ऊपरके मंत्रमें स्पष्ट कहा है, कि आपोमय समुद्रसे जिस अग्निका जन्म हुआ वही समस्त देवोंका प्राण है। अर्थात् समस्त दिव्य शक्तियोंका स्रोत वही है। वही अग्नि सूर्यरूपमें द्युलोकमें, वायु रूपमें अन्तरिक्षमें और अग्निरूपमें पृथ्वीपर अभिव्यक्त होती है। ये तीनों एक ही अग्निके तीन रूप हैं। इन्हीं तीन अग्नियोंसे मन, प्राण और वाक्रूपी सृष्टिकी तीन धारायें प्रवृत्त हुई हैं और हो रही हैं। इन्हें ही तीन वेद या 'त्रयी विद्या' कहते हैं। आपोमय समुद्रमें जो मातृत्वकी शक्ति है, वह स्वयंभू ब्रह्मसे गर्भित होती है। आपः-तत्त्वको 'महत्' या 'परमेष्ठी' भी कहा जाता है। स्वयंभू और परमेष्ठी जगत्के पिता और माता हैं। स्वयंभू बीजाधान करनेवाला पिता (बीजप्रद पिता) और परमेष्ठी या महत् गर्भधारण करनेवाली माता या प्रकृति है। इसे ही ऋग्वेदमें 'योनि' या 'वेदि' कहा है—

मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। (ऋ. १०।१२५।६)

स्वयंभू ब्रह्म और महत् ब्रह्म दोनों विश्वके पिता माता हैं। इनका सम्मिलन आवश्यक है। पिता अग्नि और माता सोम है। पिता स्वयंभू सत्य और माता परमेष्ठी ऋत अथवा अग्नि और सोमके सम्मिलनका परिणाम है। दोनोंके सान्निध्यसे ही एक प्रकारका क्षोभ या आद्य-स्पन्दन जन्म लेता है, जो शक्तिकी धाराओंका मूल है।

इस मूल मातृत्वको सलिल कहनेका भी कारण है— 'आपो वै सरिरम्' (श. ब्रा. ७।५।१।१८) सरिर वह है, जिसमें सरण या गतिका सन्निवेश हो। सरिरको ही परोक्ष भाषामें 'सलिल' कहा जाता है। प्रशान्त आपः तत्वमें जब वायु या प्राणका प्रवेश होता है, तब वह संक्षुब्ध होनेसे सरिर बन जाता है। जबतक आपः सरिर रूपमें नहीं परिणत हो जाता, तब तक उसमें गर्भ धारणकी शक्ति नहीं आती। यही स्थिति अनल समुद्रकी है, जिसका जन्म रात्रि अर्थात् प्रशान्त अवस्थासे होता है।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।
(ऋ. १०।१९०।१)

इसी समुद्रको 'ऋत-सदन' या 'ऋत-समुद्र' भी कहा है, वही 'पारमेष्ठ्य आपो समुद्र' है। यही वरुणका 'कृष्णनियान' या ढका हुआ स्थान है, जिसे पुराणोंमें 'नीहारावृत-लोक' कहा गया है। इसीकी संज्ञा 'रात्रि' है। पुराणोंमें एकार्णव विधिके नामसे इस आपमय समुद्रका बहुत ही विस्तृत और सटीक वर्णन आता है। (हरिवंश ३।११।१-७) इस अवस्थाको 'सर्वभूतविवर्जित-भीषणसमूहलोक' कहा गया है, जो नीहार या कुहरेसे छाया है। यह सृष्टिकी रात्रि या नारायण पुरुषका शयनकाल कहा जाता है। जिसमें वे सब लोकोंका संहार करके अर्थात् उन्हें अपने भीतर समेट कर निद्रा समाधिमें लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार जब प्रलयकी रात्रिका अंत होता है, तब सृष्टिकी जो प्रक्रिया ब्रह्माके मानसलोकमें पुनः प्रारम्भ होती है, उसे 'सिसृक्षा' कहते हैं। यही विष्णुका जागरण है। वेदोंमें इसके लिए कितने ही शब्द आये हैं, जैसे- समिन्धन, क्षरण, तक्षण, प्राणन, जागरण (अग्निर्जागार) इत्यादि। उसीका संकेत सरिर शब्दमें है। उस सरिर या समुद्रमें उत्पन्न होनेवाले क्षोभको भी ब्राह्मण ग्रन्थोंने इस प्रकार कहा है—

सरिराय त्वा वाताय स्वाहा। (यजु. ३८।७)
+ + +
अयं वै सरिरो योऽयं (वायुः)
पवतऽएतस्माद्धि सरिरात्सर्वे देवाः
सर्वाणि भूतानि सहेरते (श. १४।२।२।३)

अर्थात् जो गत्यात्मक वायु है वही सरिर है। यह वायु ही आपोमय समुद्र या जलोंके भीतर प्रविष्ट होकर उनमें गति या क्षोभ उत्पन्न करता है। जिससे जलोंमें प्रवाह, वेग या घर्षण उत्पन्न होता है। उस घर्षण या मन्थनसे ही ऊष्मा या अग्निका जन्म होता है। यह उल्लेखनीय है, कि जब हम बार बार आपः, समुद्र या सलिलका उल्लेख करते हैं, तो उससे भौतिक जलकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। भौतिक जल तो अवान्तर काल या बहुत बादकी सृष्टि है। हमारा तात्पर्य तो उन विद्युतीय तरंगोंसे है, जो सृष्टिके आदि कारण रूपमें सूक्ष्म प्राकृतिक तत्वोंको अपने भीतर धारण करती हैं। विद्युतकी तरंगें, ध्वनिकी तरंगें ये सब उस आपोमय समुद्रमें या पारमेष्ठ्य ऋत समुद्रमें प्रशान्त या विलीन रहती हैं और पुनः सृष्टिकालमें विश्व रचनाके लिए संक्षुब्ध हो उठती हैं। इन्हें ही सृष्टिके आरम्भक, प्राणात्मक ऋषि कहा जाता है। शतपथमें कहा है कि प्राण ही ऋषि है (प्राणा वा ऋषयः)। प्राणोंको ऋषि क्यों कहते हैं? इस प्रश्नका उत्तर भी वहां दिया है—

तपसा रिषंस्तस्माद्दषयः (श. ६।१।१।१)

यह प्राणरूपी एक ऋषि सृष्टिके लिए सप्तर्षि बन जाता है। सप्तक संज्ञा ही विश्वरचनाका मूल है। मन, प्राण और पंचभूत इसी सप्तकके विकाससे सृष्टि बनती है। इस सप्तकके अनेक नाम हैं, जैसे—

सप्तर्षि, सप्तहोत्र, सप्तरश्मि,
सप्तप्राणा, सप्तपद आदि।

इस प्रकार मूल भूत सलिल या शान्त साम्यावस्थामें जो क्षोभ या गति उत्पन्न होती है वही सलिलोंका लक्षण है। गौरी नामक वाक्के द्वारा ही ये सप्त तरंगें अस्तित्वमें आती हैं।

अब यह समझा जा सकता है कि अग्निको 'अपां नपात्' जलोंका पुत्र या 'ऋतस्य प्रथमजा' क्यों कहा गया है—

अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य। (ऋ. १०।५।७)

अग्निको 'वृषभ' और 'धेनु' भी कहा गया है। वृषभश्च धेनु अर्थात एक ही ब्रह्म तत्व वृषभ-पिता रूपमें धेनु-मातारूपमें अभिव्यक्त होता है। यही एक अण्डका

दो कपालोंके रूपमें विभक्त हो जाता है, इससे अर्धनारीश्वर रूप सम्पन्न होता है। पुराणोंमें ब्रह्मा और रुद्र दोनोंको अर्धनारीश्वर कहा है। बात एक ही है अर्थात् जो बृंहणात्मक तत्त्व है वही ब्रह्मा, वही रुद्र और वही अग्नि है। इसी कारण ब्रह्म या अग्नि तत्त्वको भी प्रथमजा कहा गया है—

ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजं, (श. ब्रा. ६।१।१।१०)

वाक् या अग्नि भी ऋतका सर्व प्रथम उत्पन्न होनेवाला प्रथमज तत्त्व है। उसका एक-एक अंश प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त होता है। इसी वाक्के अंशको अग्नि या प्राणरूपमें पाकर हम जीवित रहते हैं—

न विजानामि यदिवेदमस्मि
निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्
वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ (ऋ. १।१६४।३७)

उस गौरी वाक्के कारण समुद्रोंके जलका विक्षरण होता है अर्थात् समुद्ररूपसे भरा हुआ जल पृथक्-पृथक् धाराओंके रूपमें बहने लगता है अर्थात् एक अविभक्त और कारण तत्त्व विभक्त नाना तत्त्वोंमें प्रकट होने लगता है। उसीसे अनेक विश्व और ब्रह्माण्डके अलग-अलग पदार्थ बनते हैं, इन्हें ही नानारूप कहते हैं—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ. ६।४७।१८)

पुराणकी भाषामें कहें तो उस महासमुद्रके जलसे एक-एक ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता ब्रह्मा अपना-अपना कमंडल भर लेते हैं अथवा प्रत्येक ब्रह्माका ब्राह्मसर पृथक् अस्तित्वमें आ जाता है। ब्राह्मसर ही मानसरोवर है अर्थात् मनस्तत्त्वरूपी सरोवर है। मनस् तत्त्वके उद्भवसे ही सृष्टिका आरम्भ होता है।

इस प्रकार समुद्रके जलोंका पृथक् भावमें आना यही सलिलोंका तक्षण है। जिस प्रकार कोई शिल्पी शिला या काष्ठका तक्षण करके पृथक्-पृथक् रूपोंकी रचना करता हो वैसे ही विश्वके एकीभूत महाकारणसे विश्वकर्मा या त्वष्टाने अनन्त ब्रह्माण्डोंका तक्षण किया है—

तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।

समुद्रका यह जल जिन चार धाराओंमें बहता है, उन्हीं की संज्ञा चार दिशायें हैं। चार दिशायें विश्व रचनाका स्वस्तिक हैं (चतुष्टयं वा इदं सर्वं) एकका चार भावमें आना ही स्वस्तिक है। एक भुजा जब केन्द्रके चारों ओर घूम जाती है, तब उससे वृत्त या गोलचक्रका निर्माण होता है, इसीको ऋग्वेदमें 'नवति' या नब्बे अंशके कोणोंसे बना हुआ गोलचक्र कहा है—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः
चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्। (ऋ. १।१५५।६)

प्रत्येक विश्वकेन्द्र और व्यक्ति केन्द्रमें स्वस्तिकका प्रादुर्भाव ही उसकी रचना शक्ति है। उसे ही चतुर्मुख ब्रह्मा या चतुर्भुज विष्णु कहते हैं। वैज्ञानिक भाषामें यही वृत्त चक्र है।

तक्षती— तक्षके धात्वर्थ तक्षण करना, गढना, तराशकर बनाना आदि हैं। तक्षणको ही वैदिक भाषामें रूप पिंशन कहते हैं। त्वष्टा देवताका कार्य तक्षण करना है। तक्षण करनेके लिए त्वष्टाके हाथमें एक 'आयस् परशु' (तांबेका फरसा) या 'आयसी वाशी' (तांबेकी कुल्हाडी) की कल्पना की गई है। इसे ही 'स्वधिति' भी कहते हैं। त्वष्टाका धर्म रूपोंका निर्माण करना है। ग्यारह रुद्रोंमें एक त्वाष्ट्र भी हैं व अग्निकी संज्ञा रुद्र है। अतएव त्वाष्ट्र रुद्र अग्निका वह धर्म है, जिसके द्वारा एक अविभक्त प्राण अपने ही भीतरसे भिन्न-भिन्न रूपोंकी रचना करता है। एक प्राणके भीतर कोई अज्ञात रहस्यमयी शक्ति छिपी है, जो भिन्न-भिन्न प्राणोंके रूपोंको जन्म देती है। पिता और माताके शुक्र और शोणितके सम्मिलनसे जिस मूल प्राणका जन्म होता है, उसीमें आगे जन्म लेनेवाले समस्त प्राण या इन्द्रिय देवता निहित रहते हैं और वहींसे देहरूपमें प्रकट हो जाते हैं। उनके चयनसे ही काय या शरीरका निर्माण होता है।

तक्षणको 'रूप विकर्तन' भी कहा जाता है—

त्वष्टा हि रूपाणि वि करोति। (तै. ब्रा. २।७।२)
रूपपिन्शन, विक्षरण। (ऋ. १।१६४।४२)
प्राणन, अपानन। (ऋ. १०।१८९।२)
समञ्चन, प्रसारण। (यजु. २७।४५;
शतपथ ८।१।४।१०)

क्षोभन। (मार्कण्डेय पुराण, ४६।१२)

स्पन्दन। (देवी भागवत ३।७।५०)

सन्धमन (ब्रह्मणस्पतिरेताः सं कर्मार इवाधमत्)

(ऋ. १०।७२।२)

इत्यादि अनेक क्रियाओंके द्वारा सृष्टिकी मूल प्रक्रियाको कहा जाता है।

विल्सनके अनुसार तक्षतीका अनुवाद जलोंसे निर्माण करना है। ग्रिफिथके अनुसार जलोंकी बढ़िया या महा-प्रवाहको निर्माण करना है। वान बुद्वेनिनके अनुसार पृथक् सरोवरोंका निर्माण तक्षती क्रियाका संकेत है। ये सभी अनुवाद संगत हैं। किन्तु मंत्रका मूल अभिप्राय यही है, कि वाक्‌की अग्निमयी या प्राणात्मक शक्ति अपने स्पन्दनसे सलिलरूपी आदि कारणका तक्षण करती हुई भिन्न-भिन्न रूपोंका निर्माण करती है। जो समष्टि है वह समुद्र है। जो व्यष्टि है, वह उसे सरोवर या कमण्डलु या घट इन कई नामोंसे पुकारा जा सकता है। समष्टिका व्यष्टि भावमें आना ही सृष्टि है, फिर वह व्यष्टि चाहे अणु हो या महत्। एक ही व्यक्ति केन्द्र या एक-एक विश्व दोनों ही परमेष्ठीकी तुलनामें अपना-अपना सीमाभाव लिए हुए है। वह गौरी वाक् अपनी जिस शक्तिसे पृथक्-पृथक् रूपोंका निर्माण करती है, उसकी संज्ञा अक्षर है। जब हम वाक्‌की कल्पना गौरी या गौके रूपमें करते हैं, जो वेदकी प्रतीकात्मक भाषामें उसे एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नव-पदी कहा जाता है। पदकी ही संज्ञा 'अक्षर' है। अतएव जब हम उस गौरी या गौकी कल्पना वाक्‌के रूपमें करते हैं, तो उसकी एक-एक इकाईको अक्षर कहा जाता है। स्वयं अक्षर या प्राणका नाश नहीं होता। अक्षर अमृत है। किन्तु उस अक्षरके चारों ओर जो भूत एक हो जाते हैं उस शरीरका नाश या क्षरण होता है। भूतोंको ही 'क्षर' और उन भूतोंके भीतर रहनेवाले प्राणकी संज्ञा ही 'अक्षर' है-

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

गीता १५।१६

अक्षर अव्यक्त तत्व है। किन्तु भूतोंके माध्यमसे व्यक्त बनता है। जैसे प्राण शरीर द्वारा प्रकट होता है। यह सृष्टि रचनाका नियम है, कि अक्षर अपने चारों ओर भूतोंकी रचना अवश्य करता है, इसे ही ऋग्वेदमें कहा जाता है-

ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुपजीवति।

ऋ. १।१६४।४२

वाक्‌के दो रूप हैं। एक वाक् तो पृथक् पृथक् अक्षरोंके रूपमें मनुष्य कंठसे बोली जाती है। यह एक अक्षर, दो अक्षर, चार अक्षर, आठ अक्षर, नौ अक्षरके रूपमें वाक्‌का मूर्त्त रूप है। इस प्रकारकी वाक् या शब्द 'मर्त्यावाक्' कही जाती है, क्योंकि वह उत्पन्न होनेके बाद विलीन हो जाती हैं। मर्त्या वाक्‌का स्रोत मर्त्य आकाश या तक्षण द्वारा खण्ड भावमें आया हुआ आकाश है, किन्तु दूसरे प्रकारकी वह वाक् है जो अक्षर रूपमें मूर्त्त नहीं हुई। वह सहस्राक्षरा या अनन्त अक्षरोंवाली वाक् कही जाती है। सहस्रका अर्थ अनन्त है, जहाँ १, २, ३ आदि गिनतियोंकी अलग सत्ता नहीं, वही अनन्त है। इस प्रकारकी सहस्राक्षरा वाक्‌का अधिष्ठान या स्रोत परम व्योम या परमाकाश कहा जाता है। अमूर्त, अव्यय एक ब्रह्मतत्व ही परम व्योम है। वही सहस्र अक्षरोंवाले वाक्‌का स्रोत है (सहस्राक्षरा परमे व्योमन्) अक्षर ही वाक्‌का पद या चरण है। जिससे उसे शब्द और वाक्योंके मूर्त्त रूपोंका निर्माण करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। एक-एक अक्षर एक-एक रूपका प्रतीक है, जैसे कहा है—

त्वष्ट्राणि वै रूपाणि। शतपथ २।२।३।४

प्रश्न होता है कि मंत्रमें एक, दो, चार, आठ, नव केवल इतने ही पदोंका उल्लेख क्यों किया गया, क्योंकि वाक् रूपी गौके पद तो अनेक हो सकते हैं। सृष्टिके आरम्भसे अंततक न जाने कितने अक्षरोंका व्यवहार या जन्म हुआ है और होता रहेगा। वे अक्षर भी मर्त्य भावमें अनन्त हैं, जहां अनन्तका अर्थ असंख्य है। इतने असंख्य अक्षरों या रूपोंके निर्माणके जो मूलभूत नियम हैं, उन्हींका यहाँ एकपदी, द्विपदी आदि विशेषणोंके द्वारा उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेदमें जिसे 'त्वाष्ट्र प्राण' या 'त्वष्टा' कहा है वही पुराणकी भाषामें 'विरूपाक्ष' है अर्थात् जो विविध रूपोंको देखनेवाला चक्षु है। ये विविध रूप कितने हैं? वस्तुतः ये ही विश्वरूप या मन, प्राण, वाक् संज्ञक तीन रूप हैं। इन तीन रूपोंको देखनेके लिए तीन नेत्र चाहिए। एक नेत्र मानसिक, एक प्राणिक और एक भौतिक रूपोंके लिए। ये ही तीन रूप तीन चक्षुओंके द्वारा शरीरमें और विश्वमें प्रकट हो रहे हैं। इन्हें ही मित्र, वरुण और अग्निका चक्षु कहा जाता है।

चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।

वरुणका चक्षु मनस्तत्त्व, मित्रका प्राणतत्त्व और अग्निका भूततत्त्व है। यही तीन नेत्रोंवाला त्र्यम्बक देव है, जो अग्नि या रुद्रका ही दूसरा नाम है। जो प्राणाग्नि प्रत्येक व्यक्तिके भीतर विद्यमान है, वही त्र्यम्बक देव है। इन तीन मंत्रोंके प्रतीक ही पुराण या योगकी भाषामें सूर्य-चन्द्र और पृथ्वी कहे जाते हैं। इन्हें ही योगकी भाषामें इडा, पिंगला और सुषुम्ना कहते हैं।

यह त्र्यम्बक देव कौन हैं? सूर्य ही त्र्यम्बक देव हैं। ऋक्, यजु, साम उसके तीन नेत्र हैं। इन्हीं तीनोंसे सब रूप बनते हैं। इन्हींकी सम्मिलित संज्ञा 'त्रयी विद्या' है और सूर्य त्रयी विद्याका प्रत्यक्ष रूप है। जहां कहीं भी प्राणाग्निका केन्द्र जीवित रहता है वहाँ त्रयी विद्याका चित्र अनिवार्यतः आवश्यक है। स्थिति, गति और आगतिका सम्मिलित रूप त्रयी विद्या है। प्रत्येक आत्मा मन, प्राण और वाक्की समष्टि है-

एतन्मयो वा अयमात्मा यन्मनोमयो
वाङ्मयः प्राणमयः।

यह जो आकाशमें दिखाई पडनेवाला सूर्य है, यही चराचर सृष्टिके जीवोंका आत्मा है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

एकपदी-- एकपदी, द्विपदी आदि पाँच शब्दोंके अर्थमें कोई मतभेद नहीं है; किन्तु जो महत्वपूर्ण है वह उनका प्रतीकात्मक अभिप्राय है। पादका अर्थ गति है अथवा पाद या चरण गतिका प्रतीक है। एकपदीका अर्थ है जिसमें अविभक्त गति हो। एक पैरसे कोई गति नहीं हो सकती। अतएव एकपदीका अभिप्राय शुद्ध स्थित भावसे है। वह अवस्था जिसमें सब गतियोंका अभाव हो, एकपदी कही जाती है। 'अज' एक पादकी व्याख्या पहले हो चुकी है जो उसका अभिप्राय है वही एकपदीका है। अतएव एकपदी गौका संकेत वाक्की उस अव्यक्त अवस्थासे है, जिसमें गतिरूप अक्षरोंका भेद उत्पन्न नहीं हुआ हो। एकपदीको तो सहस्राक्षरा वाक् ही कहा जा सकता है; किन्तु यह उसका अमूर्त और अनिरुक्त पक्ष कहा जायगा। इसीका मूर्त्त और निरुक्त पक्ष एक सत्ता वाला विश्व ही है। वे सारा जगत् मानों उस गौरी वाक्का एक चरण है, इसके रूपमें वह एक पदी बनी हुई है। उसने जो एक पैर उठाया, वही यह विश्व हो गया। इस विश्वमें जो गति है वही गौरी वाक्का चरणात्मक भाव है। परमेष्ठी प्रजापतिकी, परमेष्ठिनी वाक्की जो संज्ञा आम्भृणी वाक् है, वही तो गौरी है, जो द्युलोक और पृथ्वी इन दोनोंसे परे है। ऐसी उसकी महिमा है—

परो दिवा पर एना पृथिव्या
एतावती महिना सं बभूव। (ऋ. १०।१२५।८)

वाक्के दो प्रकार हैं। एक- वह जो द्यावापृथिवीके अन्तरालमें व्याप्त है और उसे गति प्रदान करती है---

अहं द्यावापृथिवी आ विवेश। (ऋ. १०।१२५।६)

दूसरी-वह है, जो द्यावापृथिवीसे अतीत है। एक मूर्त दूसरी अमूर्त है। एक निरुक्त दूसरी अनिरुक्त है। पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक ये वाक् रूपी गौके तीन चरण हैं। चौथा चरण अनिरुक्त या अमूर्त्त है, वही 'एकपदी वाक्' है। इन चारोंके मिलनेसे ही 'चतुष्पदी वाक्' का जन्म होता है। जब चारों दिशाओंकी गतियां एक केन्द्रमें संयत रहती हैं, तब वही शुद्ध स्थितिकी अवस्था एकपदी अवस्था है। चार दिशाओंको जीवन देनेवाली वही एकपदी वाक् है।

तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। (ऋ. १।१६४।४२)

इसे ही चार थनवाली गाय कहा है। जिसकी व्याख्या आगे चतुष्पदीके अंतर्गतकी गयी है। शांखायन, आरण्यकमें कई प्रकारके त्रिक कहे गये हैं। उनमें एक त्रिकका सम्बन्ध गतितत्त्वसे है। उसका स्वरूप गति, निवृत्ति और स्थिति इन तीनोंके समन्वयसे पूर्ण रूप बनता है- (देखें- ऐत. आर. २।३।५)। गतिका अर्थ है केन्द्रसे परिधिकी ओर जाना। निवृत्तिका अर्थ है परिधिसे केन्द्रकी ओर लौटना और स्थितिका अर्थ है केन्द्रमें गतिका अभाव या शान्त अवस्था या प्रतिष्ठा। स्थितिके द्वारा तल पर ही गति और आगति दोनोंका स्पन्दन होता है। स्थितिको ब्रह्मा, गतिको इन्द्र और आगतिको विष्णु भी कहा जाता है।

एकपदी गौको प्रतिष्ठा या स्थिति कहा जा सकता है। एकपदी गौकी तुलना 'अज एकपाद्' या एक पैरके बकरेसे की जा सकती है जो अजन्मा अज प्रजापतिकी संज्ञा है। [क्रमशः]

महर्षि महेश– उनके विचार और साधनपद्धति

[५]

[लेखक— श्री रामरक्खा, गुरुकुल कांगड़ी]

व्यक्त जगत्के आधारकी खोज

मनुष्यके सामने यह विस्तृत विश्व समझनेके लिये उपस्थित है। इसके मूल आधारको समझनेकी प्रेरणा मानव मनमें उदित होती है। हरेक व्यक्त, दृश्य और ठोस प्राकृतिक पदार्थका उद्गम स्थान अव्यक्त, अदृश्य और सूक्ष्म हुआ करता है। उदाहरणके रूपमें बर्फका यह ठोस रूप पानीसे बना है, पानी अपने–आप हाईड्रोजन और आक्सीजन नामक दो गैसोंसे बना है। गैस पानीकी अपेक्षा सूक्ष्म और अव्यक्त है, पानी बर्फकी अपेक्षा सूक्ष्म है। यह सूक्ष्मसे स्थूल बन जानेका क्रम विश्वके सभी पदार्थोंमें चल रहा है। हाईड्रोजन तथा आक्सीजन दो गैसोंके मिलनेसे पानी बन जाता है और पानीके तरलता आदि गुण उसमें आ जाते हैं। उसी पानीके जम जानेसे बर्फ बननेपर उसमें कठोरता आदि गुण आ जाते हैं। गैस, पानी तथा बर्फके आकारोंको धारण करते हुए भी हाईड्रोजन और आक्सीजन अपने स्वरूप– भूत गुणोंको छोड़ नहीं देतीं।

वृक्ष अपनी जड़ोंसे प्रकृतिमेंसे रसको खींचता है। इस समयका वृक्षका व्यक्त रूप रसका ही परिवर्तित रूप है। रस अपने स्वरूपको न छोड़ता हुआ वृक्षके शाखा, पत्ते, फूल आदिका रूप धारण करता रहता है। ज्यों ज्यों कोई पदार्थ सूक्ष्मसे स्थूल होता जाता है, त्यों त्यों उसमें स्थूलताके गुण आने लग जाते हैं।

इन्द्रियोंका सापेक्षज्ञान

यह हमारा अनुभव है कि विश्वका ज्ञान हमें इन्द्रियोंके द्वारा होता है और यह हमारा ज्ञान हमेशा सापेक्ष और अधूरा होता है। निरपेक्ष तथा पूर्ण ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, क्योंकि अपूर्ण और सापेक्ष साधन पूर्ण तथा निरपेक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते। क्योंकि इन्द्रियां अपने आप सापेक्ष तथा अपूर्ण हैं।

सत्यकी खोजके मार्ग

विश्वकी पहेलीको सुलझाने और समझनेका एक वैज्ञानिक तरीका है। इस तरीकेसे मन, बुद्धि, इन्द्रियों तथा बाह्य साधनोंसे विश्वके पदार्थोंके मूल आधारको समझ लेनेका प्रयत्न किया जाता है। इस प्रक्रियाको वैज्ञानिक प्रणाली कहा जाता है और इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इस प्रणालीसे जहांतक करणोंकी योग्यता होती है, वहांतक सत्यको जाना जा सकता है और जाना जा रहा है। परन्तु कोई भी करण अपने सामर्थ्य और क्षेत्रसे परेके पदार्थोंके तत्त्व और महत्त्वको समझने, जानने और निश्चय करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। सापेक्षता, तारतम्यताके क्षेत्रके करणों तथा साधनों द्वारा प्राप्त ज्ञान सापेक्ष तथा तारतम्यता वाला ही हो सकता है। उसमें पूर्णता तथा व्यापकताका अभाव रहता ही है।

समुद्रके समग्र रूपको समझे और जाने बिना उसकी ऊपरी लहरोंके विश्लेषणसे प्राप्त ज्ञान आंशिक रूपसे ही समुद्रका ज्ञान करवा सकता है। समग्र समुद्रको समझनेके लिये तो ऊपरी सतहसे नीचेके स्तरोंमें जानेकी अपेक्षा होती है। बर्फ और पेड़के स्थूल गुणों और प्रभावोंकी जांच करते रहनेसे गैस और रसरूपी इन वस्तुओंके आधारके व्यापक अव्यक्त तथा विस्तृत तत्त्वोंका पता नहीं चल सकता।

आधारभूत-तत्त्वकी आध्यात्मिक खोज

इस जड-चेतन विश्वके पदार्थों मन, बुद्धि आदिका जो आधारभूत अव्यक्त तत्त्व है, वह सच्चिदानन्दरूपी सागर है और यह व्यक्त जगत् इस अव्यक्त सच्चिदानन्द सागरकी तरंगें ही हैं। आध्यात्मिक ज्ञानके स्रोत उपनिषद् तो इस जगत्को आनन्दसे उत्पन्न होनेवाला, आनन्दमें निवास करनेवाला और आनन्दमें ही लीन हो जानेवाला बताते हैं।

गैस और रसके समान अपने स्वरूपभूत गुणोंको न छोडते हुए वह इन व्यक्त रूपोंको धारण करता है और इनमें विकसित होता रहता है, परन्तु ऐसा होते हुए भी वह अपने स्वरूपमें ज्योंका त्यों बना रहता है। यह अव्यक्त से व्यक्त होनेकी प्रक्रिया उसकी अनादिकालसे चलती आ रही है। यदि इस मूक आधारकी खोज करनी हो, तो अपनी दृष्टिको व्यक्तसे खींचकर अव्यक्तकी ओर और सापेक्षसे खींचकर निरपेक्ष तत्त्वकी ओर ले जाना आवश्यक हो जाता है। निरपेक्ष क्षेत्रमें जाकर उसके आधारपर विश्वको समझनेकी शैली आध्यात्मिक शैली है। वैज्ञानिक समझकी शैली है तथा आध्यात्मिक अनुभूतिकी शैली है, इन दो में यही मूलभूत अन्तर है। एक शैली व्यक्त पदार्थोंके आधार पर उसी सापेक्ष क्षेत्रमें रहकर तत्त्वको जानने और समझनेकी प्रयत्न है और दूसरी शैली इस व्यक्त क्षेत्रको छोडकर अव्यक्त निरपेक्ष तत्त्वके क्षेत्रमें पहुंचकर उसके अनुभवके आधार पर व्यक्तको समझनेका प्रयास है।

यह स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक शैलीसे प्राप्त परिणाम अपने क्षेत्रके अनुरूप सापेक्षता और अनेकता और अधूरेपनको लिये रहते हैं तथा दूसरी शैलीके परिणाम अपने क्षेत्रके अनुरूप निरपेक्ष, सत्य तथा पूर्णताको लिये रहते हैं। दोनों ज्ञानकी शैलियोंका उद्देश्य एक होते हुए भी परिणाम एक नहीं होता। सीमित ज्ञानके साधन असीम ज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। इसलिये दूसरी आध्यात्मिक शैलीके द्वारा परात्पर, निरपेक्ष तत्त्वको प्राप्त कर लेनेसे ही निरपेक्ष पूर्ण सत्यज्ञानकी उपलब्धि हो सकती है।

वर्तमानमें मानव-मनकी स्थिति

हमारा मन इस समय जिन स्थूल भौतिक बन्धनोंमें बन्धा हुआ है, वह लोभ, मनन, विचार तथा अन्य भावात्मक साधनोंके द्वारा इस तत्त्वकी कुछ कल्पना चाहे कर ले, परन्तु जबतक मनुष्य उस तत्त्वमें निमग्न नहीं होता, तब तक उसका साक्षात् असंदिग्ध ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये किसी साधनकी परमावश्यकता है, जिसके द्वारा मनुष्यका मन वर्तमान स्थूल भौतिक स्तरोंसे छूट कर सूक्ष्म स्तरोंसे होता हुआ अव्यक्त परमतत्त्वसे एक हो जाय और उसमें डूब जाय।

प्रत्येक बुद्धिमान् विचारशील व्यक्तिके सामने यह प्रश्न आता ही है, कि वर्तमान समयमें मनुष्य इतना दुःखी क्यों है? विज्ञानकी इतनी आश्चर्यजनक उन्नति होनेके बावजूद, बाह्य सुखों तथा सुविधाओंके होते हुए भी, मनुष्यका मन दुःखी, अशान्त और भयभीत क्यों है? मनुष्य इतना अधिक स्वार्थपर और विषयोंमें आसक्त क्यों है? वह यम-नियमोंका भंग क्यों करता है? सामाजिक नियमोंको क्यों नहीं पालता? स्पष्ट ही है कि वह अतृप्त है। अतृप्तिको मिटानेके लिये अनियम करता है, बाह्य विषयोंका संग्रह करता है, परन्तु फिर भी क्यों अतृप्त बना रहता है? इतना धर्मका प्रचार हो रहा है, इतने व्यापक शान्तिके यत्न हो रहे हैं, इतने सभ्य राष्ट्र हैं और योग्यसे योग्य व्यक्ति हैं, परन्तु क्यों ये सब सन्देहमें ही ग्रसित हैं? यह प्रश्न है, जो इस समयके मनुष्यके लिये समस्या बनी हुई है और इस समस्याको सुलझानेका यत्न भी जारी है। परन्तु कोई निश्चित हल नहीं है।

साधनकी खोज

जब तक कोई ऐसा साधन नहीं बर्ता जायगा, जिससे मनुष्यका मन तृप्त हो जाय, वह आनन्दको प्राप्त कर ले और उसकी सुख-प्राप्तिकी भूख और अभिलाषा शान्त हो जाय, तब तक कोई शान्ति तथा सुख प्राप्तिके आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक समाधान; व्यक्त जगत्के एक प्रकारकी स्थितिमें परिवर्तन करके दूसरी प्रकारकी स्थिति ला देने मात्रके साधनोंसे कोई निश्चित हल निकल भी नहीं सकता। यत्न पूरी तरह सफल नहीं हो सकता। कुछ दिनोंके लिये भले ही अतृप्त मनको समझा बुझा कर, कोई भय दिखाकर इसे अनियम करनेसे रोक लिया जाय, परन्तु अन्तमें अतृप्त मन फिर उन्हीं थोडे विषय सुखोंके पीछे दौड पडता है और सब मर्यादाओंका उल्लंघन करने

लग जाता है। आवश्यक है कि मनको तृप्त करवा देने वाला साधन पहले अपनाया जाए। ज्यों ज्यों मन तृप्त होता जायगा, त्यों त्यों उसके संपूर्ण बन्धन शिथिल होते जायेंगे, उसके जीवनमें सरलता और मधुरता आने लग जायगी।

नियमका पालन करना उसके लिये सहज हो जायगा, और उसका स्वभाव बन जायगा। मनका स्वभाव ही बदल जायगा। ज्यों ज्यों व्यक्ति सन्तुष्ट सुखी और स्वभावसे नियम-पालन करनेवाला बनता जायगा, त्यों त्यों संपूर्ण समाज तथा विश्व सुखी और नियम पालन करनेवाला हो जायेगा। सहज स्वभावसे मनुष्य धर्मात्मा बन जाएगा। आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलनका यही ध्येय है। इस ध्येयकी पूर्तिके लिये एक व्यक्तिको प्रातः-सायं कुछ समयके लिये सरल ध्यानकी शैलीको अपनाना पड़ता है। उसमें कठिनाई कोई नहीं है।

प्रत्येक व्यक्तिको यह साधन अपनाना चाहिये

यह कठिनाई उपस्थित की जाती है कि काम-काजकी व्यवस्थाके होते हुए इतनी फुर्सत कहां है, कि मनुष्य ध्यान करनेके लिये समय निकाल सके। यह ध्यान करना तो फालतू आदमियोंका काम है और निष्क्रियता लाता है। परन्तु इस प्रसंगमें यह समझना चाहिये, कि थोडा समय ध्यान करनेसे मनमें इतना बल आ जाता है, कि जो काम पहले कठिनाईसे हो पाता था, वह सरलतासे होने लग जाता है। मनमें एकाग्रता और पवित्रता आने लग जाती है और कार्योंमें भी शिष्टता तथा कुशलता आ जाती है। थोडे समयमें अधिक काम होने लग जाता है। ध्यानमें समय लगाना समयका सदुपयोग है, व्यर्थ होना नहीं है।

जब शेर अपने शिकार पर जोरसे झपटना चाहता है तो वह झुकता है और उछलता है। जब तीरको दूरतक जोरसे फेंकना होता है तो कमानको ज्यादह जोरसे पीछेको खींचना पडता है। कोई कह सकता है कि तीर तो आगे फेंकना है, तुम क्यों बेकारमें इसे पीछेको खींच रहे हो? परन्तु यह उक्ति वास्तविक स्थितिको न जाननेका परिणाम है। इसलिये थोडा समय यदि ध्यान कर लिया जाय, तो उस समयमें शक्तिका संग्रह हो जाता है और दैनिक कार्य अधिक कुशलता पूर्वक होते हैं और मनमें ताजगी तथा सामर्थ्य अधिक आ जाता है।

जैसे शारीरिक व्यायाम करनेसे शरीरमें स्वास्थ्यकी वृद्धि होती है। यदि कोई कहने लग जाय कि उसके पास तो व्यायाम करनेका समय नहीं है और व्यायाम करना तो समयको व्यर्थ नष्ट करना है। तो डाक्टर कहते हैं; जिसके पास व्यायाम करनेका समय नहीं होता, उसे रोगी होनेके लिये समय निकालना पडता है। इसी प्रकार जो ध्यान करनेका समय नहीं निकाल सकता, उसे अयोग्य, दुःखी और अशान्त रहनेका समय निकालना पडता है। हरेक व्यक्ति इस साधनाके लिये थोडा समय निकाल सकता है और इसके लाभ उठा सकता है।

अध्यात्म मार्गको अपनाए बिना मनुष्यको शान्ति, सुख नहीं मिलता तथा उसमें सदाचार नहीं आ सकता। जैसे पत्तोंको सींचनेसे वृक्ष सूखनेसे नहीं बच सकता, इसी प्रकार मनको तृप्त किये बिना अन्यान्य उपाय बर्तनेसे मनुष्यके आचरण और जीवनमें सुख शान्ति नहीं आ सकती और मनुष्य तथा समाज विनाशसे नहीं बच सकता।

इस साधन पद्धतिकी विशेषता

इस साधनामें साधकको यह सुविधा रहती है कि उसे विशेष योग्यता, स्थिति तथा श्रमकी अपेक्षा नहीं होती। साधारणसे साधारण मनुष्य भी जिसका मस्तिष्क ठीक है, इस साधनको अपना कर शान्ति तथा आनन्दका अनुभव कर सकता है। इसमें उसकी परिस्थिति, कार्य, शारीरिक तथा मानसिक दशाएं विघ्न नहीं डालती और मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नति होने लगती है। यह मार्ग नामका आधार लेकर सूक्ष्मतासे परिचय प्राप्त करवा कर परमतत्त्वका साक्षात्कार करवानेकी विशिष्टता रखता है। जो कोई शान्तिका इच्छुक होगा उसे शान्ति प्रदान करेगा। मनके? विचारों, स्मृतियों और संकल्पोंको महत्व न देकर उनकी अपेक्षा करते हुए साधनाको जारी रखकर उसी पर निर्भर रखकर मनुष्य अपने लक्ष्यको पा लेता है। इसके अतिरिक्त उसे और किसी प्रकारकी तपस्या आदिकी आवश्यकता नहीं रहती।

नामके चुनावमें सतर्कता

परन्तु साधकको नामके चुनावमें सतर्क रहना चाहिये, क्योंकि सभी नाम भगवान्के ही होने पर भी प्रत्येक नामके अक्षर पृथक् ही होते हैं। इन अक्षरोंमें स्फोट शक्ति है।

प्रत्येक नामके अन्दर एक विलक्षण प्रभावको पैदा करनेकी क्षमता है। ज्यों ज्यों वह नाम सूक्ष्म स्तरोंमें पहुंचता है, उसकी यह शक्ति अपने अनुकूल प्रभाव वाली तीव्र गतिमान् तरंगोंको पैदा करता है, जो साधकके जीवनके भौतिक अस्तित्वको प्रभावित करती हैं। सभी नाम भावातीत तक पहुंचा देनेका सामर्थ्य रखते हुए भी उनका प्रभाव साधकके भौतिक जीवन, कार्य, जीवन पद्धति, काल आदिकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न हो सकता है।

भावातीत क्षेत्रमें पहुंच जानेपर तो सभी अपने असली स्वरूपको पा लेते हैं और फिर वह स्वरूप अपना बना लेने पर मोक्षका कारण तो बन ही जाता है, परन्तु वहां तक पहुंचनेके लिये नामका चुनाव ऐसा होना चाहिये कि वह नाम उस व्यक्तिके जीवनके अनुकूल तरंगोंको पैदा करता हुआ, उसके लिये सहज स्वाभाविक स्थितिसे उसे भावातीत दशातक पहुंचा दे और उसके बाह्य जीवनकी अनुकूलताओंको भी बनाए रखें। यदि नाम जीवन तथा स्वभावके प्रतिकूल हुआ, तो विरोधी प्रकृतिकी तरंगें पैदा कर सकता है। इस लिये नाम ऐसा हो जिसका प्रभाव परम्परासे परीक्षित, परिचित, प्रकृतिके अनुकूल और सुनिश्चित रूपसे ज्ञात हो।

साधनकालमें सतर्कता

साधनकालमें इस साधनामें केवल यही सतर्कता बरतनेकी अपेक्षा होती है कि मनुष्य अपने आप कुछ करने न लग जाए। और नामको सब कुछ करने दे। जब अपने आप आदमी कुछ करने लग जाता है तो वह भूल होती है और साधनमें विघ्न पैदा हो सकता है। भोले भावसे नाम लिया और फिर नामको ही साधन करने दिया। 'भोले भाव मिले रघुराई, चतुराई न चतुर्भुज पाई।' साधकका इतना ही कर्तव्य है कि वह अचंचल रहता हुआ नामको जिधर जैसे जाता है, जाने दे। जो साधक सरल स्वभावसे इस नामकी साधनाको आधार बना सकेगा और इसके साथ खींचातानी नहीं करेगा, उसको शीघ्र सफलता मिल जायगी।

केवल भोलेपनकी आवश्यकता है और आवश्यकता है कि तर्कशील मन चंचलता पैदा न कर पाए।

इस क्षुब्ध अशान्त और चंचल कालमें जब कि मानवकी सात्विक शक्तियां क्षीण हो चुकी हैं और मनुष्य मन तथा शरीरके अनेक रोगोंसे आक्रान्त है। यह साधन पद्धति उसके लिये आशाका स्रोत है। अपना कल्याण चाहनेवाले व्यक्तिको साधनाको अपनाना चाहिये और अपने कल्याणमें तत्पर हो जाना चाहिये। इससे शीघ्र ही दुःखोंका अन्त होकर शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

महर्षि महेश अपने जीवनका प्रत्येक क्षण मानव कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर विश्वमें इस सुगम ध्यान शैलीके विस्तारमें लगा रहे हैं और सबको शान्ति तथा आनन्द प्रदान करनेका उनका एकमात्र उद्देश्य है उन्हें इसमें सफलता भी मिल रही है।

इस योगकी मूल भावना
और
आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक

(श्री अरविन्द)

★

यदि ब्रह्मके विषयमें तुम्हारा विचार भी शंकराचार्यकी परिकल्पनाके अनुसार यही हो कि ब्रह्म अनिर्देश्य विशुद्ध चैतन्य है, तो तुम्हें इस योगका मार्ग नहीं चुनना चाहिये। क्योंकि यहां विशुद्ध चैतन्य और सत्‌को उपलब्ध करना सहज पहला पग है, यहांका लक्ष्य नहीं है। अन्तरसे उठनेवाली किसी आंतरिक सृजनात्मिका प्रवृत्तिको किसी अनिर्देश्य चैतन्यके भीतर कोई स्थान नहीं मिल सकता– उसके लिये तो अनिवार्य रूपसे समस्त कार्य और सृष्टि विजातीय होगी।

मैंने अपने योगका आधार इस अपर्याप्त भूमि पर नहीं रखा है कि आत्मा (अंतरात्मा नहीं) शाश्वत रूपमें मुक्त है। यह सिद्धांत अपनेसे परे हमें कहीं नहीं पहुंचाता, अथवा यदि प्रारंभ=बिन्दुके रूपमें व्यवहृत हो, तो यह भी उसी तरह इस सिद्धांत पर सहज ही पहुंचा दे सकता है कि कर्म और सृष्टिका कोई अर्थ या मूल्य नहीं है। परन्तु प्रश्न यह नहीं है, बल्कि यह है कि सृष्टिका अर्थ क्या है? क्या कोई परात्पर सत्ता है, जो केवल विशुद्ध अनिर्देश्य चैतन्य और सत्तत्व ही नहीं है, वरन् सृष्टि करनेवाली सक्रिय शक्तिका भी मूल स्रोत और आधार है और क्या उसके लिये इस जागतिक सत्ताका कोई तात्पर्य और कोई मूल्य है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका समाधान सहज तत्त्व-संबंधी तर्क-वितर्कसे नहीं हो सकता, जो केवल शब्दों और भावनाओंके साथ खेलता है, बल्कि आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा हो सकता है, जो मनके परे जाता है और आध्यात्मिक सत्योंमें प्रवेश करता है। प्रत्येक मन अपनी निजी युक्तिसे संतुष्ट रहता है, पर आध्यात्मिक उद्देश्योंके लिये उस संतोषका कोई औचित्य नहीं, हां, वह इतना संकेत अवश्य देता है, कि प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभवके क्षेत्रमें कहांतक और किस विचारधारामें जानेके लिये तैयार है। यदि तुम्हारी युक्ति तुम्हें परात्पर-संबंधी शांकर-भावनाकी ओर ले जाती है, तो यह इस बातका संकेत हो सकता है कि अद्वैत वेदान्त (मायावाद) ही तुम्हारी प्रगतिका मार्ग है।

यह योग जागतिक सत्ताका मूल्य स्वीकार करता है और इसे एक सद्वस्तु मानता है; इसका उद्देश्य है एक उच्चतर सत्य चेतना या दिव्य अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश, जिसमें कर्म और सृष्टि अज्ञान और अपूर्णताकी अभिव्यक्ति नहीं हैं, वरन् दिव्य सत्य ज्योति और भागवत आनंदकी अभिव्यक्ति हैं। परन्तु इसके लिये मर्त्य मन, प्राण और शरीरका उस उच्चतर चेतनाके प्रति समर्पण करना अनिवार्य है, क्योंकि एक मानव-प्राणीके लिये स्वयं अपने प्रयास-बलपर मनका अतिक्रमण कर एक अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश कर जाना अत्यन्त कठिन है, जिसमें निम्न स्तरके मनकी शक्ति कार्य नहीं करती, बल्कि एक बिलकुल दूसरी ही शक्ति क्रियाशील होती है। जो लोग एक ऐसे परिवर्तनकी मांगको स्वीकार कर सकते हैं, केवल उन्हें ही इस योगमें प्रवेश करना चाहिये।

यदि 'आध्यात्मिक' और 'अतिमानसिक' एक ही चीज हो, जैसा कि तुम कहते हो कि मेरे पाठक अनुमान करते हैं, तो ऐसा कहा जा सकता है कि युग-युगमें जितने भी ज्ञानी, भक्त, योगी और साधक हुए हैं, वे सभी अतिमानसिक पुरुष हुए हैं और जो कुछ मैंने अतिमानसके संबंधमें लिखा है, वह सब अनावश्यक, अनुपयोगी और व्यर्थ हो जायगा। उस दशामें जिस किसीको आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होगा, वही अतिमानसिक पुरुष हो जायगा; यह आश्रम तथा भारतका अन्य प्रत्येक आश्रम ही अतिमानसिक पुरुषोंसे ठसाठस भर जायगा। आध्यात्मिक अनुभव आंतर चेतनामें स्थायी रूपसे बैठ सकते हैं और उसे परिवर्तित और रूपांतरित कर सकते हैं, यदि तुम चाहो तो साधक भगवान्‌को सर्वत्र विद्यमान, आत्माको सबमें और सबको आत्मामें स्थित एवं विश्वव्यापी दिव्य-शक्तिको सभी कार्य करते हुए अनुभव कर सकता है; साधक अपनेको विश्वव्यापी ब्रह्ममें निमज्जित अथवा आह्लाद पूर्ण भक्ति या आनंदसे भरपूर अनुभव कर सकता है।

परन्तु फिर भी साधक अपनी प्रकृतिके बाह्य अंगोंमें इस प्रकार रह सकता है और सामान्यतया रहता ही है, कि वह बुद्धिसे अथवा अधिकसे अधिक संबुद्ध मनसे विचार करता है, मानसिक संकल्पशक्तिके द्वारा संकल्प करता है, प्राण-स्तरपर हर्ष और शोकका अनुभव करता है, प्राण शक्ति शरीरमें जो मृत्यु और रोगसे संघर्ष करती है उसके कारण भौतिक संताप और यंत्रणा भोगता है। उस समय परिवर्तन केवल इतना ही होगा कि आंतर पुरुष उद्विग्न या आश्चर्य-चकित हुए बिना पूर्ण समताके साथ इस सबको विश्व-प्रकृतिका एक अनिवार्य अंग मानकर-कमसे-कम तब तकके लिये अनिवार्य मानकर जबतक कि मनुष्य प्रकृतिसे बाहर निकल आत्मामें वापस नहीं लौट जाता- इस सबको देखता रहेगा। यह चीज वह रूपांतर नहीं है जिसकी बात मैं कहता हूं। वह ज्ञानकी एकदम दूसरी ही शक्ति है, दूसरे प्रकारका संकल्प है, भावावेग और सौंदर्य-बोधकी एक दूसरी ज्योतिर्मयी प्रकृति है, भौतिक चेतनाका एक दूसरा संगठन है, जो अतिमानसिक परिवर्तन होनेपर ही आ सकता है।

आध्यात्मिक अनुभूति किसी भी स्तरमें भगवान्‌के (जो सर्वत्र हैं) साथ संपर्क स्थापित करके अथवा अंतस्थ आत्मा का (जो शुद्ध है और बाह्य क्रियाओंसे अस्पृष्ट रहता है) साक्षात्कार करके प्राप्त की जा सकती है। अतिमानस एक परात्पर वस्तु है- एक सक्रिय सत्य-चैतन्य है जो अभी यहां नहीं है, एक ऐसी वस्तु है जिसे ऊपरसे नीचे उतारना है।

एक मात्र अतिमानसिक ही सर्व-ज्ञान है। अधिमानससे लेकर जड-तत्व तक नीचे सब कुछ अज्ञान है- एक ऐसा अज्ञान है, जो एक स्तरसे दूसरे स्तरमें पूर्ण ज्ञानकी ओर वर्द्धित हो रहा है। अति मानससे नीचे ज्ञान हो सकता है पर वह 'सर्व-ज्ञान' नहीं है।

प्रेषक— श्री जलेश्वरजी, पांडीचेरी

सत्यं शिवं सुन्दरम्

(लेखक— श्री लालचन्द)

सत्यशिवसुन्दर सच्चिदानन्द भगवान् हैं । वह निर्विकार हैं सदा एकरस हैं अव्यय हैं । वह निरंतर मानव आत्माके अत्यन्त निकट एक ही हृदयमें हैं; और साथ ही वह हर समय सब जगह हैं वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः तीनों लोकोंमें हैं, इसी प्रकार वह भगवान् मानव आत्माके परम सखा, परमसुहृद्, परमसुखद्, परम मित्र हैं, वह प्रेममय हैं, आनन्दमय हैं, वह ज्ञानमय ज्ञानस्वरूप हैं और प्रकाशमय प्रकाश स्वरूप हैं, वह आनन्दमय आनन्दस्वरूप हैं। वह सबसे महान् परमब्रह्म हैं। वही सारी सृष्टिके एक मात्र रचयिता हैं धाता हैं विधाता हैं । वही एक सकल विस्तृत जगतीके आधार हैं वही एक मानव हृदयाधार हैं वह धारक रक्षक पालक पोषक हैं। वह सर्वद्रष्टा हैं वही सर्वशक्तिमान् हैं, सर्व समर्थ हैं, उन जैसा अन्य कोई नहीं। वह अद्वितीय हैं। वह अनुपम हैं। वह नित्य आनन्द हैं वह परम सुन्दर हैं वह अनन्त हैं।

ऋषिका अनुभव है कि जो ज्ञानी उपासक सत्यमय ज्ञानमय अनंत परमब्रह्मको अपने हृदयमें अपने ही साथ विराजमान जानता है, वह अपनी सारी कामनाएं भगवान्के साथ उसीके सामने भोगता है। प्रेममय भगवान्की देखरेखमें और उसकी सुरक्षामें रहना और कर्तव्योंका पालन करना, यही तो जीवनका सौंदर्य है । यही विधि अनागस रहनेकी निष्पाप रहनेकी है । भगवान्के सम्यक् दर्शनमें सब कार्य करते रहनेसे मनुष्य कलुष वासनाओंकी दलदलमें नहीं फंसता उसका जीवन व्यवहार परम सात्विक हो जाता है, वह मानव आत्मवान् है। उसने अपनी अमर चेतन सत्ता पहचान ली है और उसने बिना किसी संकोचके अपने आपको भगवान्के आगे निवेदन कर दिया है, भगवान्के आगे अपने आपका समर्पण कर दिया है और अब वह निश्चिन्त है, चिन्ता रहित है क्योंकि उपासकका यह अनुभव है कि भगवान्के सर्वथा अनुकूल जीवनव्यवहारसे अब वह भगवान् द्वारा स्वीकृत हो चुका है ।

ऐसा उपासक निकटवर्ती मानव भगवान्के अति समीप अपने आपको अनुभव करता हुआ आधिव्याधियोंसे मुक्त है, क्योंकि प्रेममय आनन्दमय परम प्रभुने उसे उबारा है, उसे कलुषके पंकसे निकाला है, उसकी अत्यंत अभीप्साके कारण उसे अपना अत्यंत निकटवर्ती कर लिया है । यही वह परम स्थिति है, जिसमें उपासक अपने आपको सायुज्यकी दुष्प्राप्य स्थितिमें पाता है और अत्यंत प्रेम और समर्पणमें मग्न रहता हुआ भगवानका ही रहता हुआ संसारमें उपकार करना ही अपना व्रत समझता हुआ भगवान्के व्रतमें व्रती होता है । भगवान्के सतत उपकाररूपी महाव्रतमें व्रती रहकर, यदि मनुष्य विकृत अहंकारसे बचा रहे, तो उसमें विघ्न बाधाओंको परे हटानेकी क्षमता हो जाती है, उसके सभी संकल्प सत्य होते हैं उसकी सभी शुभ कामनाएं भगवान्की कृपासे पूरी होती हैं ।

भगवान् पूर्णकाम हैं, भगवान्का उपासक भी कामना रहित–स्वार्थरहित हो जाता है, उसमें केवल एक ही कामना रहती है जो भगवान् पूरी करते हैं, 'सबके हितोंकी कामना, सबके हितोंकी साधना'। भगवान् अपने उपासककी मनोकामना सदा पूरी करते हैं, भगवान् अपने उपासकको दिव्यगुण–संपन्न, साधन–संपन्न, दिव्य–ऐश्वर्ययुक्त योग्य और समर्थ रखते हैं। भगवानका उपासक अपने अत्यंत निकट भगवान्को अनुभव करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसका जीवन–व्यवहार भगवान्के अनुकूल हो रहा है और वह सुपथपर चलता हुआ अपने जीवन उद्देश्य भगवान्की अनुभूतिका दिव्यानन्द ले रहा है।

सत्यं शिवम् सुन्दरं भगवान् आनन्दरूप अमृतमय हैं और वह आत्मज्योतिमें परमज्योतिके रूपमें प्रवेश करते हैं, यही सामवेदके पहले मंत्रमें कहा हुआ 'भगवान्का आगमन' है। भगवान् अनन्त हैं, अतः परमशक्तिमान् और सर्व समर्थ हैं।

ऐसे भगवान् जब अपने ही हृदयमें अपने साथ विराजमान् उसे अनुभव हो रहा है, तो भला मोह, शोक, विषाद, और अवसाद कैसे उपासककी साधनामें विघ्न डाल सकते हैं? विश्वासी श्रद्धालु उपासक भगवान्का हो चुका है अतः वह भी अब सबका है। उससे घृणा, ईर्ष्या, रागद्वेषका संघर्ष अब नहीं हो रहा। अब वह निर्द्वन्द्व, शाश्वत, सनातन, परम सखा, परम सुहृद्, भगवान्का साथ अनुभव करता हुआ आत्मतृप्त है।

भगवान् परम दयालु और साथ ही परम न्यायकारी, नियामक हैं। भगवानकी दयामें न्याय तथा उनके न्यायमें सदा दया रहती है। अपने भगवान्का ही अनुकरण करता हुआ भगवान्के उपासकका जीवन भी पवित्र रहता है और दृढभूमि प्राप्त होनेपर उसकी ऋतंभरा बुद्धि ज्योतिष्मती हो जाती है। उपासकमें भ्रान्ति नहीं रहती है। भगवान्ने उसे भी पावन बना दिया है उसके संग, कैमें लोग सुगमतासे संगति और उन्नति करते रहते हैं। उसका व्यवहार स्वयं आदर्श हो जाता है और वह जन जीवनमें सुधार करनेमें समर्थ हो जाता है। ऐसा है स्वभाव सत्यं शिवं सुन्दरंके उपासकका।

आन्तरिक शत्रुओंसे सावधान !

(लेखक— श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी)
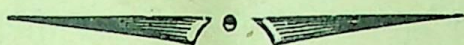
हम आज बाह्य जगतमें अपने मित्रों और शत्रुओंको परखते रहते हैं। लेकिन हमने कभी भी अपने मनमें बसे हुए लुटेरे कहो या शत्रुओंकी ओर ध्यान तक नहीं दिया है। परिणामस्वरूप जड ही खोखली होती जा रही है। इसलिए आज हमें सबसे पहिले इन्हीं आन्तरिक शत्रुओं-पर विजय प्राप्त करनी है। यही तो भक्तराज प्रह्लादकी राय है--

'जो व्यक्ति अपना सर्वस्व लूटनेवाले इन ६ डाकुओंपर पहले विजय नहीं प्राप्त कर लेते और समझते हैं कि हमने दशों दिशाओंको जीत लिया है, वे मूर्ख हैं। वस्तुतः जिस ज्ञानी और जितेन्द्रिय महात्माको समस्त प्राणियोंके प्रति समता प्राप्त हो जाती है, उसीके अज्ञान जनित शत्रु मरते हैं। फिर उसके बाहरी शत्रु रहें भी तो कहां ?

सचमुच, आज हम अपने ही अन्तरमें बसे हुए शत्रुओंसे अपने आपको अरक्षित पा रहे हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ही वे शत्रु हैं, जो हमें खाये जा रहे हैं। ये ही वे मौलिक कमजोरियां हैं, जिनके वशमें होकर हम स्वर्गसी धरा पर भी नरकका अनुभव कर रहे हैं। हम इनके वशीभूत होकर राक्षस-तुल्य कर्ममें रत हो जाते हैं। हमारी विवेक बुद्धि उत्तेजित हो उठती है। क्षणिक आवेशके भयंकर कुचक्रमें फंसकर हम कई मूर्खतापूर्ण जघन्य दुष्कर्म कर बैठते हैं और हमेशाके लिए आत्मग्लानि, आत्म-हीनता या पापवृत्तिके शिकार बन बैठते हैं।

अतः यह आवश्यक है कि हम इनके स्वरूप पर विचार विमर्श करें और इन शत्रुओंसे अपने आपको अभिभूत न होने दें। इसके लिये हमें दृढ इच्छाशक्ति, सात्विक भाव और निरन्तर अभ्यासका आश्रय लेना पडेगा। इन मानसिक विचारोंको निकाल फेंकनेकी प्रक्रियाको निरन्तर मनमें धारण करके तदनुकूल आचरण करना होगा। इस प्रकार हम जब तक इन पर विजय नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक सुखशांति नहीं पा सकते। सच तो यह है कि जिस व्यक्तिने इन आंतरिक शत्रुओंको जितना पहिचान लिया और उन्हें नियंत्रणमें कर लिया, उसने अपने जीवनमें उतनी ही सुख-शांति अर्जित कर ली। अतः सदैव हमें पग पगपर इनसे बचनेका प्रयत्न करते रहकर, सात्विकताकी वृद्धि करके, आत्मशांति स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए।

कामको कैसे जीतें ?

'मातृवत् परदारेषु' का भाव अपने अन्तर्मनमें स्थापित करके तदनुकूल आचरण करना कामको जीतनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जब हम नारी जातिको माताके स्वरूपमें देखेंगे तो हमें काम सता ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त काम-भावको मिटानेके अन्य कई साधन हैं। मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार कामवासनाको उच्च कलाओंमें, सत्साहित्यके अध्ययन-चिन्तन-मनन-सृजनमें, भजन, पूजन, कीर्तन, प्रकृति निरीक्षण आदिमें परिवर्तित कर देना चाहिए। गौ-सेवा, फुलवारीमें काम करना, घूमना, कीर्तन करना, वाद्य-यंत्र बजाना आदि भी ऐसे कार्य हैं, जिनसे कामवासना विस्मृत हो जाती है। इस प्रकार कामवासनाका दमन न करके उसका मार्गान्तरीकरण कर देना उत्तम है।

इसी प्रकार सिनेमा, कुत्सित साहित्य, गंदे अश्लील गीत, स्त्रियोंका संसर्ग, स्त्रीचिंतन आदिसे भी अपने आपको बचाये रखना श्रेयस्कर है, क्योंकि ये सब कामोत्पत्तिमें घृतकी आहुतिके समान हैं। वासना एक तूफान है, जो निरन्तर हमें गर्तकी ओर धकेलती है। इसके वशीभूत

होकर हम अपनी समस्त शक्तियोंका ह्रास कर बैठते हैं। अतः इससे बचने बचानेके लिये सदा तत्पर रहना ही मनुष्यका सर्व प्रथम कर्तव्य है।

क्रोध पर भी जय पावें!

क्रोध एक प्रकारका आवेश है, एक प्रकारकी उत्तेजना है, पागलपनकी पराकाष्ठा है। क्रोधको शांति, सौजन्य, प्रेम, उदारता, सहिष्णुताके द्वारा जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये। 'मैं सबका प्रिय हूँ, सब मेरे प्रिय हैं। मेरा किसीसे भी विरोध नहीं है, प्राणीमात्र मेरे स्वजन हैं, मैं सबका प्रेम भाजन हूँ, सबको सात्विक स्नेह प्रदान करूंगा।' इस प्रकारकी पवित्र भावनायें मनमें धारण करनी चाहिये। आवेशमें इस प्रकारकी भावना करते रहनेसे क्रोधकी उत्तेजना-शक्ति शनैः शनैः समाप्त हो जाती है।

ऐसे अवसरोंपर जबकि क्रोधाग्नि भडकनेकी संभावनायें प्रतीत हों, चुप रहना भी क्रोधपर विजय पानेका अमोघ अस्त्र साबित हुआ है। हम आरम्भसे ही शांति प्रिय देवों, ऋषि, मुनिगणोंकी संतानोंके रूपमें शांतिप्रियताका पाठ पढते रहे हैं। अतः हमें क्रोधके भयंकर सर्पसे जो स्वयंको ही डसता है, बचना चाहिये। लीजिये, यह वेदोपदेश 'मा क्रुधः (क्रोध मत करो) अपने अन्तर्मनमें धारण कर लीजिये और सुख शांतिके उपासक बन जाइये।

लोभसे भी टक्कर लेनी पडेगी।

'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'- पराया धन मिट्टीके समान है, यह मानकर आचरण करनेसे हम अपने मनमें फलती फूलती लोभकी प्रवृत्तिसे टक्कर ले सकते हैं। हमें सदा अपनी जीविकाके संचालनके लिये सात्विकतापूर्वक कमाया हुआ धन ही उपयोगमें लाना चाहिये।

धनके प्रति सात्विकताका भाव विकसित करना भी हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हमें पूंजीपति होनेमात्रके लिए ही धन नहीं कमाना है। कुबेर बनकर ही कोई सुखी नहीं रहा है। अतः जीवनमें यह सूत्र धारण कर लीजिये—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

धन किसी व्यक्तिका नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्रका है।

इस प्रकार अपनी सात्विक कमाईसे अपना परिवार संचालन करते हुए दान देते रहनेकी पुनीत परम्परा बढानी चाहिये, जिससे लोभ नामक पशु आप पर हावी न हो।

मोहका दमन

आज हम छोटीसी छोटी वस्तु पर आसक्त हैं। परिवार, प्रशंसा, कीर्ति, पैसा, जमीन, जायदाद आदिके मोहमें हम अपनी छिपी हुई दिव्य शक्तियोंको लगा रहे हैं। जरा विचार तो करिये, ये लम्बे चौडे परिवार, आलीशान मकान, जायदाद, प्रशंसा- क्या ये सबके सब तुम्हारा साथ देनेवाले हैं ? उत्तर होगा 'नहीं'। तो फिर हम क्यों न आत्मतत्वकी खोज करें? क्यों हम इस मोहके मायाजालमें डूबे हुए हैं? हमारे ऋषि-मुनियोंने इस मोहको सदा अपनेसे दूर ही रक्खा था, तभी तो वे इतनी उन्नति कर पाये थे।

अतः हम भी मोहकी वृत्तिका दमन करें और आध्यात्मिक तथा दैवी गुणोंकी अभिवृद्धि करके सुखशांति प्राप्त करनेका प्रयत्न कर मानव जीवनको सार्थक बनावें।

मदको मूलसे मिटा दें।

मद अर्थात् घमण्डमें क्या धरा है। पंण्डितराज रावणका भी मद क्षणमात्रमें चूर हो गया था। यह जानते हुए भी हम सब घमण्डकी ओर ही प्रवृत्त हैं। आज हमें बाह्य सौंदर्य, धनदौलत शक्ति आदिका घमण्ड है। लेकिन यह तो सब नष्ट होनेवाला है। फिर इनका घमण्ड करनेमें धरा ही क्या है? इसलिए 'अहं' को त्यागकर सर्वत्र समभावकी दिव्य भावना करते हुए अपना जीवन बिताना न्याय-संगत है।

पुरुष एवेदꣳ सर्वम्।

यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माका स्वरूप है।

इसीके अनुरूप हमें चलना और आचरण करना चाहिये। तभी हम अपने सच्चे जीवन लक्ष्यको खोज सकेंगे। श्री शंभूसिंह 'कौशिक' ने ठीक ही कहा है—

'घमण्ड विश्वकी समस्त बुराईयोंका जनक है और समता विश्वकी समस्त सिद्धियोंकी जननी है।'

अतः मित्र मेरे! मदको पछाडकर प्राणी मात्रमें समत्व-भावका संवर्धन कीजिये।

मत्सरको भी हटाना होगा।

मत्सर या ईर्षा वह अग्नि है, जो वासकी तरह अपने धारण करनेवालेको ही अपना प्रथम ग्रास बनाती है। हम आज दूसरोंको खाते, पीते, उन्नति करते देखकर न मालूम क्यों जलते रहते हैं। दूसरोंकी उन्नति न मालूम क्यों नहीं सुहाती है। हम अपने मनमें सदैव ईर्ष्या का आक बुनते रहते हैं। इस शत्रु मत्सरको हटानेके लिये मनमें दया, प्रेम, सहानुभूति, आदरके भाव उत्पन्न करने होंगे। अपने जीवनमें इस सूक्तिको उतारकर फिर देखो कि आपके अन्तर्मनमें सुखशांतिकी गंगा लहराती है या नहीं।

ईर्ष्याकी अग्निको शांत करो।

अपने ही भाईको खातापीता देख, उन्नति करते देख ईर्ष्या मत करो। उसके शुभ, पवित्र और समताके सात्विक भावोंको अपने अन्तर्मनमें विकसित करो, जिससे कि प्राणी-मात्रमें सद्भावना रखकर मानवताकी रक्षा कर सको।

दृढ रहना अत्यावश्यक !

हमें अपने जीवनमें पगपगपर अपने उपरोक्त आन्तरिक ६ शत्रुओंसे टक्कर लेनी पडेगी। पगपगपर इनसे लडना होगा। आवश्यकता ही इस बातकी है कि हम दृढतापूर्वक इन सब शत्रुओंसे टक्कर लें।

भद्रं भवति नः पुरः।

सज्जनता हमारी प्रधान नीति हो।

किसी मूर्खके साथ हम मूर्ख क्यों बनें? 'जैसेके साथ तैसा' की नीति कोई श्रेष्ठ आचरण नहीं है। हमें तो किसीके दुर्गुणोंकी ओर न देखकर केवल हंसकी तरह उसके गुणोंको ही ग्रहण करना है।

महर्षियोंकी सन्तानों? इस प्रकार बाह्य शत्रुओंसे सचेष्ट रहनेके साथ ही इन आंतरिक ६ लुटेरोंसे भी अपने आपको बचाते रहो, तभी जीवनका सर्वांगीण विकास और मानवसंस्कृतिकी रक्षा संभव है।

वैदिक वीर सैनिक

[लेखक— श्री विजयकुमार]

★

आज विश्वासघाती चीनने हमपर जो नग्न एवं बर्बर आक्रमण किया है, उसके प्रतिशोध तथा भारतवर्षकी पावन भूमिसे चीनी आक्रान्ताओंको खदेड देनेके लिये यह अति आवश्यक है कि हम अपने वैदिक वीर सैनिकोंकी भावनायें, शौर्य, पराक्रम तथा मन्युका परिचय प्राप्त करें जिससे आधुनिक भारतीय सैनिकोंका पराक्रम तथा मनोबल द्विगुणित हो उठे तथा वे पथ-प्रदर्शन भी प्राप्त कर सकें।

वेद केवल कर्मकाण्ड या शान्तिका उपदेश देनेवाली पुस्तक नहीं है। क्योंकि शान्ति इसका नाम नहीं, कि दुष्ट अत्याचारी दुश्मन हम पर आक्रमण करने आये और हम कायरोंकी तरह उसे सह लें, हमारी आँखोंके सामने निरीह भोली जनता पर क्रूर अत्याचारी शत्रुओंकी रक्तपिपासु तलवारका नग्न नृत्य हो रहा हो और हम 'शान्ति, शान्ति' की रट लगाते हुए आँख मीचकर बैठे रहें, राक्षस शत्रु हमारे शस्य-श्यामला राष्ट्रको नष्ट भ्रष्ट कर रहा हो और हम चुप बैठे रहें। इसलिये वेदमें युद्धका उज्ज्वल एवं पवित्र रूप प्रकट हुआ है। वेदोंमें युद्ध सम्बन्धी अनेक रोमांचकारी वर्णन आते हैं तथा सेनाके प्रत्येक विभागका विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किया गया है।

वेदने वीर सैनिकोंको अपने लक्ष्यकी ओर बढनेकी प्रेरणा देते हुए कहा है कि तू ऐसा प्रयत्न कर कि जगत्में 'आर्य राज्य' हो, दस्युका राज्य न हो। कभी तू आततायी राक्षसके अत्याचारको सहन मत कर। 'उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र' हे वीर! राक्षसको जडसमेत उखाड फेंक। अतः आज भारत और चीनका युद्ध केवल सीमा-युद्ध नहीं है यह तो आर्यों तथा राक्षसोंका युद्ध है। दो विरोधी विचारधाराओंका युद्ध है। इसके लिये वेदने आदेश दिया है —

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः।

क्रियाशील बनो, प्रभु महिमाका प्रचार करो, विश्वको आर्य बनाओ, राक्षसोंका संहार करो।

अब आइये, अपने वैदिक वीर सैनिकोंकी गर्जना, ओज और मन्युसे अपनेको अनुप्राणित कर दुश्मनोंको मार भगायें। देखिये, वेद सैनिकोंको उत्साहित कर रहा है—

वि रक्षो वि मृधो जहि, वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥

हे वीर! राक्षसोंका संहार कर, हिंसकोंको कुचल डाल, दुष्ट शत्रुकी दाढें तोड दे। जो तुझे दास बनाना चाहे उस वैरीके क्रोधको चूर-चूर कर दे। इस दृढ विश्वासपर कि 'न त्वे आर्यस्य दास्यभावः' (चाणक्य) आर्य कभी किसीका दास नहीं बना है।

उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥

उठो वीरो! कमर कस लो, झण्डे हाथोंमें पकड लो, जो भुजंग (आस्तीनके साँप) हैं, लम्पट हैं, पराये हैं, राक्षस हैं, वैरी हैं— उन पर धावा बोल दो।

वेदके इन्हीं ललकार भरे वचनोंको सुनकर वैदिक वीर गर्जता हुआ कह रहा है—

यदि नो गां हंसि, यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो, यथा नोऽसो अवीरहा

ओ आततायी दुश्मन! तू मुझे निस्तेज, बुझा हुआ मत समझना। मत समझना कि आकर मुझे सता लेगा और मैं चुपचाप खडा देखता रहूँगा। देख, 'यदि तू मेरी गायको मारेगा, घोडेको मारेगा, मेरे राष्ट्रवासियोंको मारेगा तो याद रख, मैं तुझे सीसेकी गोलीसे बेधकर मौतके मुँहमें ढकेल दूंगा।'

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आददे ॥

अरे, मुझे क्या तुमने साधारण मनुष्य समझा है ? मैं तो सूर्य हूँ ! सूर्य ! ! जैसे सूर्य उदित होकर सब नक्षत्रोंके तेजको हर लेता है, वैसे ही मैं अपनी अपूर्व आभाके साथ जगत्‌में उदित होकर शत्रुता करनेवाले सब स्त्री पुरुषोंके तेजको हर लूँगा । हमारा वीर सैनिक अकेला ही हजारोंसे निपट सकता है । देखिये उसकी वीर भावना—

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षा-
डभी द्वा किमु त्रयः करन्ति ।
खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि
किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥

'अरे ! मैं अकेला ही रिपुदलके छक्के छुडा दूँगा । यदि दो मिलकर आयेंगे तो उनके लिये भी मैं अकेला पर्याप्त हूँ । दोके स्थानपर तीन आजायें तो वे भी मेरा कुछ नहीं बिगाड सकते । शत्रुओंको मैं ऐसे पीस डालूँगा जैसे खलिहानमें पूलोंको । वे निर्वीर्य शत्रु मेरी क्या निन्दा कर रहे हैं ।' इन उत्साही और पराक्रमी वीर सैनिकोंके साथ मुठभेड होनेपर देखिये, शत्रु पिशाचोंकी कैसी दुर्गति होती है-

तपनो अस्मि पिशाचानां, व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दतेन्यञ्चनम् ॥

दुष्ट पिशाचोंके बीचमें मैं खलबली मचा देनेवाला हूं, जैसे बाघ आकर-ग्वालोंके बीचमें । मुझे सामने देखकर पिशाच अपनी सब चौकडी भूल जाते हैं, जैसे कुत्ते शेरको देखकर ।

और जरा इन वैदिक वीर सैनिकोंकी गरिमा भी तो देखिये—

न पर्वता न नद्यो वरन्त वो
यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत् ।
उत द्यावापृथिवी याथना परि
शुभं यातामनुरथा अवृत्सत ॥

'हे वीर पुरुषो ! न नदियाँ और न ही पर्वत ही तुम्हें रोक सकते हैं । तुम जहाँ जाना चाहते हो वहाँ पहुंच ही जाते हो और तो और तुम सम्पूर्ण द्युलोक तथा पृथिवी लोककी भी परिक्रमा कर आते हो ।' सेनानायकोंकी भी महत्ता देखिये—

धूनुथ द्यां पर्वतान्दाशुषे वसूनि वो
वना जिहते यामनो भिया ।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः
शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥

'हे पृथ्वीपुत्रो वीर जनो ! जब तुम उग्र रूप धारण किये हुए अपनी सेनाओंको सुन्दर कार्यमें लगा देते हो, तो अपने भक्तको (देशवासियोंको) द्युलोक तथा पर्वतोंसे धन लाकर प्रदान करते हो । तुम्हारी तीव्र गतिके भयसे तो शत्रु दल भी अत्यन्त काँपने लगते हैं और तुम समस्त भूमण्डलको विक्षिप्त कर देते हो ।'

इससे कोई यह न समझे कि वैदिक वीर सैनिक महज किसी क्षणिक जोशमें आकर अपने बल, पराक्रमका प्रदर्शन करता फिर रहा है, वरन् वह तो सत्य तथा न्यायकी रक्षाके लिये लड रहा है और उसे अपनी शाश्वत विजय तथा अभ्युदयका दृढ निश्चय एवं विश्वास है । देखिये वह कितने आत्मविश्वासके साथ विजय दुन्दुभी बजा रहा है—

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माक-
मभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्याऽमुष्याः पुत्रस्य
वर्चस्तेजः प्राणमायुर्निवेष्टयामि
इदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥

निश्चय ही हमारी विजय होगी, हमारा अभ्युदय होगा, शत्रुकी सेनाको हम परास्त कर देंगे । मुझसे शत्रुता ठाननेवाला जो अमुक पुरुषका बेटा और अमुक माँका बेटा है, उसके वर्चस्‌को, तेजको, प्राणको, आयुको मैं हर लूँगा । इस दुष्ट शत्रुको भूमिपर दे मारूँगा ।

वेद चुपचाप पराजय, अत्याचार, अन्यायको सह लेनेकी शिक्षा नहीं देता, अपितु दुश्मन और अत्याचारीका सिर सदाके लिये कुचल डालनेकी हिम्मत बँधाता है । अन्याय और अत्याचारको नष्ट करनेके लिये यदि हिंसा भी करनी पडे तो हिंसा नहीं, अपितु वीरता है । यदि कोई दुष्ट अत्याचारी हमपर अत्याचार करने आता है, तो हमारा यह परम कर्तव्य है कि वीरताके साथ उसका मुकाबला करें, कायर एवं भीरु न बनें ।

ये भावनायें केवल पुरुषोंमें ही नहीं है वरन् आर्य नारी भी शत्रुओंको चेतावनी देती हुई कहती है—

अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

अरे ! यह घातक मुझे अबला समझे बैठा है ? मैं अबला नहीं, वीराङ्गना हूँ, वीरकी पत्नी हूँ । मौतसे न डरनेवाले वीर मेरे सखा हैं । मेरा पति संसारमें अपनी तुल्यता नहीं रखता । साथमें नारीको अपने परिवारके सदस्योंकी तेजस्विता तथा वीरता पर गर्व है—

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया पत्यौ, मे श्लोक उत्तमः ॥

मेरे पुत्र शत्रुके छक्के छुडा देनेवाले हैं, मेरी पुत्री अद्वितीय तेजस्विनी है । मेरे पतिमें उत्तम कीर्ति है और मैं अपनी क्या बताऊं ? कोई मेरी तरफ आँख उठाकर तो देखे, ऐसा परास्त होकर लौटेगा कि सदा याद रखेगा ।

अस्तु, आगे और सुनिये वैदिक वीरोंके बहादुरीके गीत जिसमें शत्रुको सदा सर्वदाके लिये जड–मूल सहित उखाड फेंकनेकी संकल्प शक्ति प्रकट हो रही है—

पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि ।

'पृथिवी परसे उसे उखाड फेंकेंगे जो हमसे शत्रुता करता है ।' पृथ्वीसे भागकर यदि वह अन्तरिक्षमें चला जाय तो—

अन्तरिक्षात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि ।

'अन्तरिक्षसे भी उसे निकाल फेंकेंगे जो हमसे शत्रुता करता है ।' अन्तरिक्षसे जान बचाकर यदि द्युलोकमें भी चला जाय तो—

दिवस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि ।

'द्युलोकसे भी उसे निकाल बाहर करेंगे जो हमसे शत्रुता करता है ।' द्युलोकसे भागकर यदि वह दिशाओंकी शरण लेगा तो—

दिग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि ।

'दिशाओंसे भी उसे निकाल कर छोडेंगे जो हमसे शत्रुता करता है ।' मतलब यह है कि हम शत्रुको कहींका भी नहीं रहने देंगे, उसका दुनियासे नामो–निशान मिटाकर छोडेंगे जिससे कि वह फिर पनप न पाये । लेकिन कहीं वह हमें धोखा देनेके लिए समझौता करने आये तो, वेद यह दृढताके साथ चेतावनी देता है—

न पिशाचैः सं शक्नोमि, न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।

'शत्रु पिशाचोंके साथ, चोर लुटेरोंके साथ, डाकुओंके साथ मैं कभी भी समझौता नहीं कर सकता ।' यह मन्त्र चीनियोंको पिशाच, चोर तथा डाकू सिद्ध कर रहा है, अतः हमारे प्रधानमन्त्री नेहरुजीको सब प्रकारके समझौतेको बिल्कुल समाप्त कर चीनी दुश्मनको तिब्बतसे भी मार भगाना चाहिये तथा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि शत्रु पुनः सिर न उठा पाये ।

भारतीय जनता अपने प्यारे प्रधानमन्त्रीसे यही कहना चाहती है—

एकोबहूनामसि मन्यवीळितो विशं विशं
युधये सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं
द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे ॥

हे मन्युस्वरूप नेहरु ! अद्वितीय होनेके कारण राष्ट्रका बहुमत तुम्हारा आदर करता है । अब तुम प्रजाके प्रत्येक वर्गको युद्धके लिये तैयार करो । हे राजन् ! तुम्हारी दीप्ति कभी विच्छिन्न नहीं होती अर्थात् शत्रुके सामने भी तुम्हारा तेज नहीं घटता, अतः तुम्हारी सहायतासे हम लोग विजय प्राप्त करनेके लिये समस्त आकाशको गुंजा देनेवाला प्रचण्ड सिंहनाद करें ।

卐 卐 卐

ब्रह्म क्या है ?

[लेखक— श्री विश्वामित्र वर्मा, द्वारा 'कल्पवृक्ष' कार्यालय, उज्जैन (म. प्र.)]

जो बोलकर नहीं बताया जा सकता, वरन् जिसके द्वारा बात बोली जाती है, उसीको ब्रह्म जानो। लोग जिन विभिन्न (स्वनिर्मित, धातु, पत्थर, मिट्टी, कागजकी) मूर्तियोंमें उपासना व पूजा करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

मनके द्वारा जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, वरन् जिसके आधारसे मन मनन करनेमें समर्थ होता है। अर्थात् उसके बिना मन स्वयं कुछ मनन नहीं कर सकता, वही ब्रह्म है। मनुष्य विभिन्न प्रकारकी मूर्तियां बनाकर जिसकी उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है।

हृदयाकाशमें वह ज्ञान स्वरूप, अमर और ज्योति स्वरूप व्याप्त है। मन जिसकी कल्पना करके हारकर थक जाता है, नहीं पाता और अपनी पार्थिव भूमिकाको लौट आता है। निर्विकल्प हो, उसको व्यापक जान लेने पर फिर कोई भेद नहीं रहता। अभेदमें भय नहीं, अद्वैतमें भेद नहीं; द्वैतमें अर्थात् जबतक तू यह-वहके भ्रम रहते हैं, तभीतक भय, संघर्ष आदि होते हैं। इस प्रकार अभेद होकर जो ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न जान लेता है, वह ब्रह्मका अपनेमें साक्षात्कार करके ब्रह्मवत्, ब्रह्म हो जाता है। इस सत्य ज्ञानका आत्मानुभव कर ब्रह्मवत् ब्रह्म होकर अनन्त कालकी अवस्था होती है। सत् एक है, दो नहीं, और वह तुममें, हममें, सबमें अभेद अखण्ड सनातन है। सत् एक ही है, विद्वान् लोग उसकी व्याख्या अनेक प्रकारसे करते हैं, इसलिये भेद व भ्रमसे संघर्ष होते हैं। भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न सम्प्रदाय बन गये हैं।

(केन, छान्दोग्य, तैत्तिरीय उपनिषद्से)

समालोचना

१ महिलामणिकीर्तनम् (भाषानुवाद सहित)— पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, आनन्दकुटीर, ज्वालापुर, उ. प्र. मूल्य सजिल्द ३), अजिल्द २-५०)

इस पुस्तकमें लेखकने, महिलाओंका वैदिक आदर्श, ग्रंथाभिनंदन आदि देकर प्रथम काण्डमें ११ आदर्श पतिव्रता साध्वी, देवी सीता, अरुन्धती देवी, सावित्री, अनुसूया दमयन्ती, शाण्डिली, पद्मिनी, कलावती, जयमती, कस्तुरी बा, राजवंशी देवी इनके चरित्र संस्कृत श्लोकोंमें हिंदी अर्थ सहित दिये हैं। द्वितीय काण्डमें सुनीति, सुमित्रा, कुन्ती, विदुला, आदि आठ आदर्श माताओंके चरित्र संस्कृत श्लोकोंमें हिंदी अर्थ सहित दिये हैं, । तृतीय काण्डमें दस विदुषियोंके चरित्र हैं। चतुर्थ काण्डमें नौ वीरांगनाओंके चरित्र हैं, पञ्चम काण्डमें भी नौ वीरांगनाओंके चरित्र हैं षष्ठकाण्डमें १४ और सप्तम काण्डमें दस वीरांगनाएं शोभा दे रहीं हैं।

वानप्रस्थी पं. धर्मदेवजीका यह संस्कृत काव्य अत्यंत सरल और प्रभावशाली है। पढने पर मनपर उत्तम परिणाम करता है।

यह पुस्तक प्रत्येक घरमें पढने योग्य है विशेषतः तरुण स्त्रियां इसको अवश्य पढें और उपदेश मनमें उत्तम रीतिसे धारण करें। ये सब वीरांगनाएं भारतके भूषण हैं।

२ श्रीरामरक्षास्तोत्र (मराठी और हिंदी पृथक्) रचयित्री और प्रकाशिका— श्री नानीबाई भाकरे। द्वारा सौ कमलाबाई देव, दिवाकरवाडा, वाकर रोड नागपुर २; हिंदीका मूल्य २० न. पै. और मराठीका १५ न. पै.।

रचयित्री श्री नानीबाई भाकरेजीने यह रामरक्षा स्तोत्रका मराठीमें तथा हिंदीमें श्लोकबद्ध सरल तथा उत्तम अनुवाद करके मुद्रित किया है। मराठीमें तथा हिंदीमें ऐसा उत्तम यह पहिला ही अनुवाद है। इसको लोग खरीदें और और रोज पढें, तथा रामचरित्रसे अपने धर्मानुकूल आचरणका बोध लें।

३ वेदस्वरूप निर्णयाञ्जन— लेखक श्री पं. बालकरामजी आहिताग्निः, मिलनेका पता-वेदभवन, ऋषिकेश, देहरादून (उ. प्र.) पृ. स.: ३२-मू.३१ न. पै.

प्रस्तुत पुस्तिका, जैसे कि नामसे ही स्पष्ट है, वेदके स्वरूप पर विचार करनेके लिए ही लिखी गई है। वेदके स्वरूपके विषयमें प्राचीनकालसे ही दो मत प्रचलित हैं (१) कई पौराणिक विद्वानोंका मत है कि मंत्र और ब्राह्मण दोनोंकी संज्ञा वेद हैं (२) आर्यसमाजी विद्वानोंका मत है कि केवल मंत्र भाग ही वेद हैं और ब्राह्मण भाग ऋषि विरचित होनेसे वेद नहीं माने जासकते। प्रस्तुत पुस्तिकाके लेखक प्रथम मतके समर्थक हैं और महर्षिके सिद्धान्तों पर उन्होंने कुछ आक्षेप भी किए हैं। उन आक्षेपोंमें करीब करीब वे ही पुराने आक्षेप हैं, जिनका उत्तर आर्यसमाजी विद्वानोंकी तरफसे कई बार दिया जा चुका है।

फिर भी आवश्यक है कि आर्यसमाजी विद्वान् इस पुस्तिकाको ध्यानसे पढें और उन आक्षेपोंके यथायोग्य उत्तर एक लघुपुस्तिकाके रूपमें अथवा लेखोंके रूपमें छपवा कर दें।

४ गीतांजलि संस्कृतम्— अनुवादक— श्री अध्यापक कामिनीकुमारजी अधिकारी, प्राप्तिस्थान— श्री चिन्मय अधिकारी, शिलचर (रांगीरखारी) आसाम; पृ. ५९; मू. १॥)

महाकवि रवीन्द्रनाथ टेगोरके साहित्योंमें गीतांजलि सर्वातिशायी है। इसी ग्रंथ पर कविको विश्वप्रसिद्ध नोबल-प्राइज मिला था। इस ग्रंथका अनुवाद विश्वकी करीब करीब सभी भाषाओंमें होचुका है। प्रस्तुत पुस्तक उस ग्रन्थरत्नके कुछ चुने हुए पद्योंका संस्कृतानुवाद है।

पद्यकारकी काव्यप्रतिभा प्रशंसनीय है। पद्योंको पढकर पाठक महाकविकी उदात्त भावनाओंसे अवगत होजाता है। महाकविकी कविताएं कितनी गहरी होती थीं, यह स्वयं समझनेकी बात है। श्री अधिकारी जीने इस अद्भुत ग्रंथको संस्कृतमें और वह भी सुललित पद्योंमें बांधकर जो पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया है, वह अपूर्व है। ऐसे साहित्य वस्तुतः संस्कृतको बढानेवाले होते हैं।

पुस्तक आकर्षक एवं संग्रहणीय है।

卐 卐 卐

वेदगीता (मंत्र)

कोई स्पष्ट मंत्र नहीं मिला।

\+ \+ \+

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥

भग. १८।२६-२७-२८

अर्थ— हे अर्जुन! (मुक्तसंगः) जो मनुष्य किये हुए कर्मोंके फलके संगको नहीं रखता अर्थात् ब्रह्मार्पण कर्म करता है। (अनहंवादी) मैं ही इस कर्मका कर्ता, धर्ता हूं इस कथनसे रहित है। (धृत्युत्साहसमन्वितः) धन और बलके खर्च होनेपर धैर्य रखनेवाला, कर्म करनेकी इच्छामें उत्साह रखनेवाला है, अर्थात् धैर्य और उत्साहवाला है। (सिद्ध्यसिद्ध्योः) अपने कार्यकी सफलतामें अथवा असफलतामें (निर्विकारः) विकारसे रहित अर्थात् हर्ष और शोकसे रहित (कर्ता) काम करनेवाला मनुष्य (सात्विकः उच्यते) सात्विक कहा गया है॥ २६॥

(रागी) किये कर्मके फलमें राग रखनेवाला अर्थात् विषयोपभोगमें प्रेम रखनेवाला (कर्मफलप्रेप्सुः) कर्मके फलरूप पुत्रधनादिके पानेकी इच्छावाला (लुब्धः) दूसरोंके धनको पानेका लालची (हिंसात्मकः) दूसरोंका घातक (अशुचिः) शरीर और मनको शास्त्र विधिके अनुसार शुद्ध न रखनेवाला (हर्षशोकान्वितः) कार्यकी सिद्धिमें हर्ष अर्थात् प्रसन्न होनेवाला और कार्यकी असिद्धिमें शोक करनेवाला अर्थात् हर्ष और शोकसे युक्त (कर्ता) कार्य करनेवाला (राजसः परिकीर्तितः) राजसकर्ता कहा जाता है॥ २७॥

(अयुक्तः) इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेसे सब शुभ कर्मोंके करनेमें योग न देनेवाला (प्राकृतः) शास्त्रके ज्ञानसे शून्य होनेसे कार्याऽकार्य विवेकरहित अर्थात् प्राकृतिक पदार्थोंमें प्रेम रखनेवाला (स्तब्धः) नम्रतासे रहित अर्थात् अकड़ा हुआ (शठः) हठमें आकर बहुत आग्रह रखने वाला, धूर्त (नैष्कृतिकः) दूसरोंको ठगनेवाला, (अलसः) अवश्य कर्तव्य कार्योंमें भी प्रवृत्ति न करनेवाला (विषादी) दुःखी अर्थात् चित्तमें क्लेश रहनेसे सदा व्याकुल रहनेवाला (च) और (दीर्घसूत्री) शीघ्र करने योग्य काममें भी विलम्ब करनेवाला ऐसा (कर्ता) काम करनेवाला मनुष्य (तामसः उच्यते) तामस कहा जाता है॥ २८॥

वेदगीता (मंत्र)

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥

अथ. ६।४५।१

अर्थ— (मनः पाप!) तमोगुण और रजोगुणसे मिले हुए राजस ज्ञान और तामस ज्ञानद्वारा उत्पन्न हुए हुए मानसिक पाप! तू (परः अपेहि) मेरे मनसे दूर हो, मैं शुद्ध मनद्वारा सात्त्विक ज्ञानको प्राप्त करके सात्विक कर्म कर्ता बनूं। (अशस्तानि किं शंससि) तू मुझे 'इस बुरे कामको कर और अमुक जीवका हनन कर' ऐसी बुरी बातोंकी शिक्षा क्यों देता है? (परेहि) तू दूर हट, मुझे राजस और तामस ज्ञानमें फंसा कर मुझसे बुरे कर्म मत करा, अर्थात् मैं राजसी और तामसी कर्ता न बनूं। (त्वा न कामये) इसलिये पापकर्ममें फंसानेवाले तुझको मैं नहीं चाहता (वृक्षान् वनानि संचर) हे तम-अज्ञानरूपी पाप! तू वृक्षों अर्थात् पुनः पुनः काटे जानेवाले अर्थात वृक्षोंकी तरह जन्ममरणमें वास करनेवाले स्थावर रूप तामसी जीवोंमें तथा सदसद्विवेकहीन केवल वनस्वरूप तामसी राजसी ज्ञानवाले पुरुषोंमें विचर (मे मनः) मुझ सात्त्विक कर्ताका मन (गृहेषु) अपने देहरूपी सात्त्विक घरमें (गोषु) सात्त्विक वृत्तिवाली इन्द्रियोंमें रहे॥ १॥

तुलना— गीतामें सात्विक कर्ता, राजसकर्ता, तामसकर्ताके स्वरूपका स्पष्टतया वर्णन किया गया है। वेदमें कहा है कि मानसिक पापसे बहुत प्रकारके अनिष्ट उत्पन्न होते हैं। तामसी वृत्तिको दूर करनेका उपदेश दिया है। सात्विक वृत्तिवाला सात्विक कर्ता और राजसी वृत्तिवाला राजसीकर्ता और तामसी वृत्तिवाला तामसी कर्ता होता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

भग. १८।२९-३०

अर्थ— (हे धनञ्जय!) हे अर्जुन! (बुद्धेः) बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण वृत्ति विशेषके (भेद) भेदको (च एव धृतेः

भेदं) और धैर्यके भेदको ही (अशेषेण) पूर्णतासे (पृथक्त्वेन) भिन्न भिन्न प्रकारसे (प्रोच्यमानं) मुझसे पूर्ण रीतिसे कहे गए हुए (गुणतः) सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण स्वरूपसे (त्रिविधं शृणु) तीन प्रकारका सुन ॥ २९ ॥

(पार्थः) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (या बुद्धिः) जो बुद्धि (प्रवृत्तिं) कौनसे विषयमें कैसे प्रवृत्त होना चाहिये इस विचारपूर्वक विषयोंमें प्रवेशको (च निवृत्तिं) और किन किन विषयोंसे दूर रहना चाहिये इस विचारपूर्वक विषयोंसे निवृत्तिको (कार्याऽकार्ये) कर्तव्य कार्य और अकर्तव्य कार्यको (भयाभये) अनर्थ करनेवाले भयको तथा कल्याण करनेवाले अभयको (बंधं) सांसारिक पदार्थोंसे बंधनको (च मोक्षं) और बंधन करनेवाले सांसारिक पदार्थोंसे मोक्ष अर्थात् छूटनेको यद्वा मुक्तिको (वेत्ति) जानती है (सा बुद्धिः सात्विकी) वह सत्वगुणवाली बुद्धि है ॥ ३० ॥

वेदगीता (मंत्र)

यामथर्वा मनुष्पिता दुध्यङ् धियमत्नत[1] ।
तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र[2]
उक्था[3] समग्मतार्चन्[4]नु स्वराज्यम्[5] ॥

ऋ. १।८०।१६

अर्थ— (अथर्वा) कायिक, वाचिक, मानसिक हिंसासे रहित (मनुः) शास्त्र प्रतिपादित विधि और निषेध वाक्योंको माननेवाला (पिता) इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी पालना करनेवाला (दध्यङ्) हृदयमें बंधन और संसारसे मुक्तिके नियमोंको धारण करनेवाला मनुष्य अर्थात् सात्विकी बुद्धिवाला मनुष्य (यां धियं) जिस सात्विकी बुद्धिको (अत्नत) विस्तारित करता है। (तस्मिन्) उस सात्विक बुद्धिवाले (इन्द्रे) जीवात्मामें (ब्रह्माणि उक्था=उक्थानि) ब्रह्म प्रतिपादक स्तुतिशास्त्र (पूर्वथा) पूर्व जन्मकी तरह (सं-अग्मत) सम्यक्तया प्राप्त होते हैं। (स्वराज्यं) सात्विकी बुद्धिके धारण करनेसे जीवात्मा अपने प्रकाशको अर्थात् मोक्षको (अनु+अर्चन्) प्रकाशित करता हुआ संसारमें वर्तता है ॥ १६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा
उवास मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतु-
मग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥

ऋ. १०।११।३। अथ. १८।१।२०

अर्थ— (सा उ) हे जीवात्मन्। वह सात्विकी बुद्धि ही (चित् नु) निश्चयसे (भद्रा) शुभ अर्थात् मनुष्यके कल्याण करनेवाली (क्षुमती) शुभ क्षमात्मक गुणवाली (यशस्वती) दूसरोंमें यशको देनेवाली (उषा) हिंसक प्राणियोंको भी अपने सात्विकगुणसे वशमें करनेवाली अथवा सब पदार्थोंके गुणदोषोंको उषाके समान प्रकाशित करनेवाली (स्वर्वती) सुख स्वरूप (मनवे) मनुष्यमात्रके लिये (उवास) संसारमें वास करती है। (यत्) जिस लिये (उशतां) संसारमें बहुत प्रकारकी कामनाओंकी इच्छा करनेवालोंके अन्दर (उशन्तं) वेद ज्ञान द्वारा सात्विकी बुद्धिकी इच्छा करनेवाले (क्रतुं) वेद प्रतिपादित सात्विकी बुद्धि द्वारा निष्काम कर्म करनेवाले (ईम्) इस सात्विकी बुद्धिवाले (होतारं) सात्विकी बुद्धिसे यज्ञ कर-करनेवाले और दान देनेवाले परमात्मपूजक (अग्निं) स्वज्ञानाग्निसे प्रकाशमान् अर्थात् सात्विकी बुद्धिसे प्रकाशित जीवात्माको (विदथाय) शुभमार्ग जतलानेके लिये (जीजनन्) प्रकट हुई है ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, जो बुद्धि शुभ कार्यमें प्रवृत्ति और अशुभ कार्यसे निवृत्ति और करनेयोग्य कर्म और न करनेयोग्य कर्मको तथा इस वस्तुसे भय होगा, इससे अभय मिलेगा, संसार बंधन और संसारसे मुक्तिको जानती है, वह सात्विकी बुद्धि है। वेदमें कहा है कि निश्चयसे वह सात्विकी बुद्धि है जिसके द्वारा शारीरिक, वाचिक, मानसिक सुख प्राप्त हो, और क्षमता गुणका मनमें प्रवेश हो, संसारमें यश और दूसरोंको सद्विचारोंसे प्रकाशित करे, और वह संसारमें मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये प्रकट हुई है।

१ अत्नत= तनु विस्तारे [बहुलं छन्दसि] इति विकरणलुक् [तनिपत्योश्छन्दसि] इत्युपधालोपः।
२ पूर्वथा= [प्रत्न पूर्ववि— छन्दसि] इवार्थे पूर्वात् थाल प्रत्ययः।
३ उक्था= [शेश्छन्दसि बहुलम्] इति शेर्लोपः।
४ समग्मत= [समो गम्यृच्छिभ्यां,] इत्यात्मनेपदम्, [लुङि मंत्रघसे—] चेर्लुक् [गम् हन्] इत्युपधालोपः।
५ स्वराज्यम्= राज्ञः भावः कर्म वा राज्यं [पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्] इति यक्।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

भग. १८।३१-३२

अर्थ—(पार्थ) हे अर्जुन ! (यया) जिस बुद्धिसे (धर्म) शास्त्रसे बनाया हुआ और मनुष्यमात्रको अपने अपने विचारसे धारण करनेवाले धर्मको (च अधर्म) जीवको अधोगतिमें ले जानेवाले अधर्मको (कार्यं) देशकालके अनुसार कर्तव्य कर्मको (च अकार्यं) और न करने योग्य कर्मको ही (अयथावत् प्रजानाति) यथार्थ भावसे मनुष्य नहीं जानता (सा राजसी बुद्धिः) वह राजसी बुद्धि कही जाती है ॥ ३१ ॥

(या) जो बुद्धि (तमसावृता) अज्ञानान्धकारसे घिरी हुई (अधर्म धर्म इति मन्यते) अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म अर्थात् विनश्वर देहको आत्मा मानती है (सर्वार्थान्) सब विषयोंको (विपरीतान्) उलट पुलट मानती है (हे पार्थ) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (सा तामसी) वह तामसी बुद्धि कही जाती है ॥ ३२ ॥

वेदगीता (मंत्र)

स्पष्टतया कोई मंत्र नहीं मिला। यह अन्वेषणीय है।

\+ + +

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

भग. १८।३३,३४,३५

अर्थ—(हे पार्थ) हे अर्जुन ! (योगेन) चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योगसे (अव्यभिचारिण्या) न दूषित होनेवाली लगातार एक स्वरूपमें रहनेवाली (यया धृत्या) जिस धारणा शक्तिसे (मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः) मनकी चेष्टाको अर्थात् मन योगसमाधिको छोडकर दूसरे विषयकी ओर न जावे, और प्राण अपानादि वायुकी चेष्टाको और ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टाको (धारयते) धारण करती है। (सात्विकी धृतिः) वह सात्विकी धृति (धैर्य) कही गई है ॥ ३३ ॥

(हे अर्जुन !) हे अर्जुन ! (प्रसंगेन) धर्मके प्रसंगसे अर्थात् इस कार्यके करनेसे धर्म होता है मनुष्य मुझे धर्मात्मा कहेंगे इस प्रसंगसे (फलाकांक्षी) धैर्यसे उत्पन्न होनेवाले फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य (यया तु) जिस धृतिसे तो (धर्मकामार्थान्) धर्म, कामना और धन अर्थात् त्रिवर्गको (धारयते) धारण करता है। (हे पार्थ !) हे अर्जुन ! (सा राजसी धृतिः) वह राजसी धृति है ॥ ३४ ॥

(हे पार्थ !) हे अर्जुन ! (दुर्मेधा) दुष्ट बुद्धि अर्थात् तामसी बुद्धिवाला मनुष्य (यया धृत्या) जिस धारणा शक्तिसे (स्वप्नं भयं शोकं) बुरे बुरे स्वप्नोंको, भय और शोकको (विषादं) ताप त्रयसे जन्यव्याकुलताको (च मदं एव) और विषयोंके प्रमादसे उत्पन्न मस्तीको ही (न विमुञ्चति) नहीं छोडता अर्थात् सदा शोक और दुःखोंमें पडा रहता है (सा तामसी धृतिः) वह तामसी धृति अर्थात् तमोगुणवाली धृति कही गई है ॥ ३५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

इन तीनों श्लोकोंके वेदमंत्र अन्वेषणीय हैं।

\+ + +

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्राऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

भग. १८।३६,३७,३८,३९

अर्थ—(हे भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (इदानीं तु) अब तो (त्रिविधं) सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकारके (सुखं) सुखको (शृणु) सुन, (यत्र) जिस सुखमें (अभ्यासात्) यम नियमादि और आसनादिके अभ्याससे मनुष्य (रमते) रमण करता है (च) और (दुःखान्तं निगच्छति) दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

(यत्) जो सुख (अग्रे) कार्यके आरंभकालमें (विषं इव) विषकी तरह मारनेवाला अर्थात् कठोर प्रतीत होता है। (च) और (परिणामे) अन्तमें अर्थात् ज्ञानकी परिपक्वावस्थामें (अमृतोपमम्) अमृत जैसा सुख देनेवाला होता है। (आत्मबुद्धिप्रसादजं) आत्मज्ञान संबन्धिनी बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञानकी प्रसन्नतासे और शुद्धतासे उत्पन्न हुआ हुआ, अथवा मन और बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न

हुआ हुआ (सुखं) सुख है। (तत् सात्विकं प्रोक्तं) वह सात्विक सुख कहा गया है ॥ ३७ ॥

(यत्) जो सुख (अग्रे) कार्यके आरंभकालमें (विषयेन्द्रियसंयोगात्) रूपरसादिविषयोंका चक्षुरादि इन्द्रियोंके संयोगसे (अमृतोपमं) अमृत जैसा सुखदायक प्रतीत होता। (परिणामे) अन्तिम अवस्थामें अर्थात् फलकी प्राप्तिके समयमें (विषं इव) विष जैसा मारक होता है। (तत् सुखं राजसं स्मृतं) वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

(यत्) जो सुख (अग्रे) आरंभकालमें (च) और (अनुबंधे) परिणाममें (आत्मनः) सदसद्विवेकात्मक विचारशक्तिको अथवा मनको (मोहनं) मोहित करनेवाला (निद्रालस्यप्रमादोत्थं) नींद और आलस्य अर्थात् प्रत्येक कर्तव्य कार्यमें विलम्ब और प्रमाद अर्थात् बेपरवाही करनेसे उत्पन्न हुआ हुआ जो सुख है (तत् तामसं उदाहृतम्) वह तामस सुख कहा गया है ॥ ३९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

उपलब्ध नहीं हुए। अन्वेषणीय है।

× × ×

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ भग. १८।४०

अर्थ— हे अर्जुन! (पृथिव्यां) इस भूमण्डलमें (वा) और (दिवि) स्वर्गमें अथवा आकाशमें (देवेषु) ब्रह्मेन्द्रवरुणादि देवताओंमें और सूर्यचंद्रादि देवोंमें (तत्-द्रव्यं) वह पदार्थ अर्थात् स्थावरजंगम पदार्थ (न अस्ति) नहीं है अर्थात् भूमिसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, (यत्) जो पदार्थ (प्रकृतिजैः) प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हुए अर्थात् प्राकृतिक (एभिः त्रिभिः गुणैः) सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणोंसे (मुक्तं) छूटा हुआ अर्थात् रहित (स्यात्) हो क्योंकि कोई पदार्थ इन प्राकृतिक तीन गुणोंसे रहित नहीं है। किसीमें सत्वगुण अधिक और रजोगुण और तमोगुण थोडा, और किसीमें रजोगुण अधिक होता है और सत्वगुण और तमोगुण थोडा और किसी पदार्थमें तमोगुण अधिक और सत्वगुण और रजोगुण थोडा होता है ॥४०॥

वेदगीता (मंत्र)

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

ऋ. ४।५८।३ यजु. १७।११ तै. आर १०।१०।२ निरु. १३।७

अर्थ— (अस्य) इस विराट् रूप ब्रह्मके अथवा भूमि पर वास करनेवाले इस मानववंशके (चत्वारि शृंगा) १ आर्त मनुष्य, २ जिज्ञासु, ३ अर्थार्थी, ४ ज्ञानी ये चार मनुष्य सींगरूप हैं। जैसे पशुके सिरपर ऊपर चढे हुए सींग सामने दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही परमात्माके पानेकी इच्छावाले मानव जातिमें यह चार सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। अतः ये चार शृंग रूप हैं। (त्रयः पादाः) इस मानवजातिके लिये १ कर्मयोग, २ भक्तियोग, ३ ज्ञानयोग परमात्माके चरणोंमें जानेके लिये ये तीन पांव हैं। (द्वे शीर्षे) १ इन्द्रिय निग्रह और सन्तोष, यद्वा रागद्वेष, अथवा हानि लाभादि द्वन्द्व दोषोंका परित्याग इस मानवजातिके सिर हैं। (अस्य) इस मानवजातिके (सप्त हस्तासः) १ काम, २ क्रोध, ३ मद, ४ लोभ, ५ अहंकार, ६ स्पर्धा, ७ असूया यह सात हाथ हैं। यद्वा १ दंभ, २ दर्प, ३ अभिमान, ४ क्रोध, ५ पारुष्य, (कठोरता) ६ सदसद्विवेकाभाव अर्थात् ७ अज्ञान और अज्ञान जन्यकार्य यह सात हाथ हैं अथवा १ चोरी २ व्यभिचार (परस्त्रीगमन) ३ ब्रह्महत्या ४ गर्भहत्या ५ दुष्कर्म ६ पातकविषयमें झूठ बोलना ७ किसी पर झूठा पातक लगाना यह सात हाथ हैं। जैसे कहा है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्। ऋ. १०।५।६

इस मंत्रकी व्याख्या यास्क मुनिने स्तेय, पर दार गमनादि ७ पातक लिखे हैं, वह आसुरी जीवोंके लिये दिखाया है। परंतु दैवी जीवोंकी सात मर्यादायें इनसे विपरीत समझना, जैसे अस्तेय पातिव्रत्य, पत्नीव्रत धर्म, ब्राह्मणसेवा, गर्भरक्षा, सत्कर्ममें प्रवृत्ति, मद्य न पीना, किसी पर झूठा पातक न लगाना, ऐसे दम्भादि ७ सात दोषोंके विपरीत होनेसे दैवी जीवोंकी मर्यादा कही गई है, तथा प्रकारान्तरेण दैवीजीवोंकी ७ मर्यादा महर्षियोंने कही है। जैसे यज्ञ, दान, तप, सत्वशुद्धि, स्वाध्याय, सत्यभाषण, जीवों पर दया, जैसे भगवद्गीता—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ॥ भग. १६।६

तथा वेदमें दैवी जीवका नाम आर्य और आसुरी जीवका नाम दस्यु है। अतः आसुरी जीवोंके काम करनेके लिये ७ हाथ और हैं, और दैवी जीवोंके काम करनेके लिये और ७ हाथ हैं (वृषभः) प्राणी और अप्राणी सब (त्रिधा बद्धः) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणोंसे भिन्न भिन्न प्रकारसे बंधा हुआ (रोरवीति) उन गुणोंसे छूटनेके लिये अर्थात् त्रिगुणातीत होनेके लिये परमात्मासे पुकार करता है, अर्थात् सांसारिक कोई भी पदार्थ इन तीन गुणोंसे रहित नहीं है। (महो देवः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा (मर्त्यान् आविवेश) मनुष्यों

और अमनुष्योंमें व्यापकरूपसे रहता है। परमात्मा सारे विराट् रूपमें वास करता हुआ भी त्रिगुणबद्ध नहीं है। अर्थात् वह त्रिगुणातीत है। तथा व्याख्यान्तरम्। 'चत्वारीति' (अस्य) इस मनुष्यके (चत्वारि शृंगा) १ चित्त, २ बुद्धि, ३ अहंकार, ४ मन चार सींग (त्रयः पादाः) ज्ञान १ कर्म २ उपासना ३ यह तीन चरण हैं, (द्वे शीर्षे) अनन्त और सान्त यह दो सिर हैं (अस्य सप्त हस्तासः) इसके हाथ सात प्राण हैं, (त्रिधा बद्धः) सत्त्व, रजः, तमः इन तीन गुणोंसे बंधा हुआ (वृषभः) जीवात्मा (रोरवीति) सांसारिक पाशोंसे बंधा हुआ अत्यन्त ऊंचे स्वरसे परमात्माको पुकारता है, (महोदेवः) परमात्मा (मर्त्यान् आविवेश) मरण धर्मवाले सब पदार्थोंमें व्यापक रूपसे वास करता है। तथा निरुक्तकार यास्कने इस मंत्रका अर्थ यज्ञपरक लिखा है। (अस्य) इस यज्ञके (चत्वारि शृंगा) ऋक्, साम, यजुः, अथर्व यह चार वेद सींग है (त्रयः पादाः) मध्याह्न प्रातः सायं यह तीन इस यज्ञके पांव हैं। (द्वे शीर्षे) प्रायणीय और उदनीय यह दो सिर हैं। (अस्य सप्त हस्तासः) इस यज्ञके अनुष्टुपादि सात छंद इस यज्ञके सात हाथ हैं। (त्रिधा बद्धः) मंत्र, ब्राह्मण, कल्प इन तीनोंसे बंधा हुआ (वृषभः) कामनाओंको बरसानेवाला अर्थात् कामनाओंको देनेवाला यज्ञ (रोरवीति) ऋग्यजुः साम और अथर्वके मंत्रोंसे ऊंचा शब्द करता है। (महो देवः मर्त्यान् आविवेश) यही बडा देवता रूप यज्ञ सबमें प्रवेश करता है ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि इस पृथिवीपर आकाश और स्वर्गमें, प्राणी और अप्राणी अर्थात् सब पदार्थोंमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है। जिसमें सत्त्वगुण रजोगुण, और तमो गुण इन तीनों गुणोंमेंसे कोई गुण न हो, अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें कोई गुण रहता ही है।

वेदमें भी यही कहा है कि प्रत्येक पदार्थ सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इनसे अवश्य बंधा हुआ है। अतः जीवात्मा त्रिगुणात्मक मायिक संसारसे छूटनेके लिये परमात्मासे प्रत्येक समय पुकार करता है, क्योंकि परमात्मा त्रिगुणातीत होनेसे सबमें व्यापक रूपसे वास करता है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

भग. १८।४१-४२

अर्थ— (हे परंतप) हे शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन! (ब्राह्मणक्षत्रियविशां) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके (च) और (शूद्राणां) शूद्रोंके (स्वभावप्रभवैः) अपने अपने जन्मके साथ पूर्वजन्म कृतकर्मोंसे उत्पन्न हुए हुए (गुणैः) गुणोंसे (कर्माणि) अपने कर्म (प्रविभक्तानि) विभक्त हुए हुए हैं ॥ ४१ ॥

(शमः) अन्तःकरणमें शान्ति रखना (दमः) चक्षुरादि इन्द्रियोंका दमन अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना (तपः) ब्रह्मचर्यादि द्वारा कायिक, वाचिक, मानसिक तपश्चर्या (शौचं) बाह्य और आभ्यन्तर शारीरिक शुद्धि (क्षान्ति) धन, जन और बलकी शक्ति होनेपर भी सहनशीलता (च) और (आर्जवं) मनकी सरलता अर्थात् किसीके साथ कुटिलताका बर्ताव न करना (ज्ञानं) सदसद्विवेकता रखना (विज्ञानं) ईश्वर साक्षात्कारताका बोध, अर्थात् परमात्माके दर्शनका अनुभवात्मक ज्ञान होना (आस्तिक्यं) वेदशास्त्रके वचनोंपर पूर्ण श्रद्धा अर्थात् पूर्ण विश्वास रखना (ब्रह्मकर्म) ब्राह्मणका कर्म (स्वभावजं) अपने पूर्व जन्मके कर्माऽनुसार जन्मके साथ ही स्वयंसिद्ध उत्पन्न हुआ हुआ होता है ॥ ४२ ॥

वेदगीता (मंत्र)

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु
यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि-
रोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ऋ. १०।७१।८

अर्थ— (यत्-यदा) जब (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण वर्णवाले मनुष्य (हृदा) चित्तवृत्तिसे (तष्टेषु) सूक्ष्मसे सूक्ष्म आत्मसम्बन्धी विचारमें लाए हुए (मनसः जवेषु) मनकी दौड धूपसे बचकर शान्ति संयम, इन्द्रिय निग्रहके वेगोंमें (सखायः) समान रूप होकर अर्थात् समदृष्टिवाले होकर (संयजन्ते) संसारमें भली प्रकारसे यजन करते हैं अर्थात् अपनी जीवन यात्रा चलाते हैं। (अत्र) इस ब्राह्मण समुदायमें (वेद्याभिः) जानने योग्य शमदमादि प्रवृत्तियोंमेंसे (त्वं) एकको अर्थात् केवल जन्ममात्र ब्राह्मणको (वि जहुः) शम, दम, शान्ति, ज्ञान, विज्ञानोंने छोड दिया, अर्थात् जन्मके ब्राह्मण रहे। (त्वे) कई एक दूसरे (ओह-आ+ऊह) हर प्रकारसे तर्क द्वारा (ब्राह्मणः) ब्रह्म अर्थात् वेद शास्त्रके जाननेवाले ब्राह्मण अर्थात् श्रुति और स्मृति और बुद्धिद्वारा (विचरन्ति) संसारमें विचरते हैं ॥ ८ ॥

वेदगीता (मंत्र)

शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि
धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः ॥ ऋ. ७।५६।८

अर्थ— हे ब्राह्मण जनो ! (वः) तुम्हारा (शुष्मः) शम, दम, तप, शौच, ज्ञान, विज्ञानादि बल (शुभ्रः) शुभ अर्थात् निष्कलंक है । (वः मनांसि) तुम्हारे मन (क्रुध्मी) अशान्ति, अज्ञानता, अक्षमता आदि दुर्गुणोंपर सदा क्रुद्ध रहते हैं, अर्थात् अशान्ति आदि दुर्गुणोंको पासतक नहीं फटकने देते । तब (धृष्णोः शर्धस्य) शम, दम आदिसे विरुद्ध क्रोधकी सामर्थ्य शक्तिका (धुनिः) वेग (मुनिः इव) मुनिकी तरह मननपूर्वक कार्य करने लगता है ॥ ८ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, शान्ति, इन्द्रिय वृत्ति दमन, क्षांति, ऋजुता, ज्ञान और विज्ञान यह कर्म ब्राह्मण वर्णके स्वाभाविक हैं ।

वेदमें भी यही कहा है, ब्राह्मण हृदयद्वारा चित्त वृत्तियोंको सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर, शम, दमादि द्वारा परमात्माके ध्यानमें मग्न रहते हैं क्रोध, अशान्ति आदि शत्रुओंका दमन पूरी तरहसे करते हैं । प्रत्येक शुभ कार्यको शुभ मनसे मनन द्वारा करते ह ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ भग. १८।४३

अर्थ— हे अर्जुन ! (शौर्यं) युद्धमें शूरता (तेजः) दूसरों पर अपना प्रभाव डालनेका सामर्थ्य (धृतिः) कठिनसे कठिन कार्य पड जानेपर अथवा आपत्ति आजाने पर धैर्य रखना (दाक्ष्यं) शतशः विघ्नोंके उपस्थित होनेपर भी कार्य करनेमें निपुणता (च) और (युद्धे अपि अपलायनं) युद्धमें भी पीठ दिखाकर शत्रुके डरसे न भागना । (दानं) अधिकारियोंको धन, अन्न वस्त्रादिका दान देना (च) और (ईश्वरभावः) प्रजाका स्वामी होना अर्थात् न्यायाऽनुसार प्रजास्वामी होकर प्रजाकी पालना और रक्षा करना (स्वभावजं क्षात्रं कर्म) क्षत्रियोंका पूर्वजन्म कर्माऽनुसार स्वाभाविक कर्म है ॥ ४३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान्
जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मा युधा क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढः
साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥ साम. उत्त. १४०९

अर्थ— हे क्षत्रिय ! तू (शूरग्रामः) शूरोंके समूहवाला (सर्ववीरः) सब वीर सहायकों वाला (सहावान्) कठिनसे कठिन समयमें भी सहनशीलता रखनेवाला अर्थात् सहन करनेवाला (जेता) युद्धमें शत्रुओंपर विजय पानेवाला अर्थात् युद्धसे न भागनेवाला (धनानि सनिता) अधिकारी जनोंको धनदान देनेवाला (तिग्मायुधा) तीक्ष्ण शस्त्र और अस्त्र रखने वाला (क्षिप्रधन्वा) तेजीसे चलनेवाले धनुषोंको रखनेवाला (समत्सु) युद्धाऽवस्थामें (अषाढः) दूसरे शत्रुके आक्रमणको न सहन करनेवाला अर्थात् प्रत्याक्रमण करनेवाला और डट कर युद्ध करनेवाला (पृतनासु) शत्रुसेनाओंमें (शत्रून्) शत्रुओंको (साह्वान्) दबाता हुआ (पवस्व) क्षत्रिय जातिको पवित्र कर अर्थात् क्षात्र धर्म पालन करनेसे अपने आपको पवित्र कर ॥ १ ॥

वेदगीता (मंत्र)

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा
शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः ।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा
अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥ ऋ. ७।२०।३

अर्थ— (युध्मः) योधा (अनर्वा) युद्धमें पीठ दिखाकर मृत्युके भयसे युद्धस्थलसे न भागनेवाला (खजकृत्) युद्ध करनेवाला (शूरः) शूरतासे युक्त (जनुषा सत्राषाड्) जन्मसे ही क्षत्रिय जन्म होनेसे युद्धमें अधिकसे अधिक शत्रुओंको दबानेवाला (अषाळ्हः) स्वयं किसीसे न पराजित होनेवाला अर्थात् विजेता (स्वोजाः) अपने बल और पराक्रमवाला (इन्द्रः) ऐसे सर्वैश्वर्य वाला क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुआ हुआ जीवात्मा (पृतनाः) शत्रुओंकी सेनाओंको (व्यास) अस्त व्यस्त अर्थात् तितर बितर कर देता है । (अध) और (विश्वं शत्रूयन्तं) शत्रुओंके समान आचरण करनेवाले सब मनुष्योंको (जघान) नष्ट कर देता है ॥ ३ ॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥
अथ. १।७।७

अर्थ— (हे अग्ने !) हे तेजस्वी स्वरूप क्षत्रिय जीवात्मन् ! (त्वं) तू (यातुधानान्) प्रजाको पीडित करनेवाले राक्षस स्वभाववाले शत्रुओंको (उपबद्धान्) दृढतासे लोह शृंखलासे बांधकर (इह) दण्डनीय मनुष्योंवाले इस कारागारमें (वह)

धारण कर अर्थात् इसमें बंदी कर दे । (अथ) फिर (एषां) प्रजाको पीडा देनेवाले इन शत्रुओंके (शीर्षाणि) सिरोंको (इन्द्रः) सब ऐश्वर्यवाला तू क्षत्रिय राजा (वज्रेण) कठोर अस्त्रसे (वृश्चतु) काट डाल ॥ ७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो
अतिव्याधी महारथो जायताम् ॥ य. २२।२२

अर्थ— (ब्रह्मन् !) परमात्मन् ! (राष्ट्रे) हमारे देशमें (ब्राह्मणः) ब्राह्मण वर्ण (ब्रह्मवर्चसी) वेदवेत्ता और वेदवक्ता पूर्ण ब्रह्मचर्यसे तेजस्वी (आजायताम्) उत्पन्न होवे । (राजन्यः) क्षत्रिय (शूरः) निर्भय और शौर्य युक्त (अतिव्याधी) व्याधियोंसे दूर रहनेवाला अर्थात् स्वास्थ्ययुक्त अथवा शत्रुओंको व्याधिरूप प्रतीत होनेवाला (इषव्यः) बाण चलानेमें अति निपुण अर्थात् बाण द्वारा लक्ष्यको वेध करनेवाला (महारथः) महारथी होकर सेनाओंको चलानेवाला (आजायताम्) उत्पन्न हो ॥ २२ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि क्षात्रधर्मके गुण शूरता, तेजस्वी होना, शत्रुओंके आक्रमणसे न घबराना अर्थात् धैर्य रखना, युद्धमें निपुणता दिखाना, युद्ध स्थलसे शत्रुके भयसे न भागना, दान देना और राज करनेकी शक्ति रखना ये बताये हैं । वेदमें भी यही कहा है और परमात्मासे प्रार्थना भी यही की जाती है कि ब्राह्मण वेद और शास्त्रोंका ज्ञाता होकर सदुपदेशक बने । क्षत्रिय, शूर और तीक्ष्ण अस्त्रशस्त्रोंका चलानेवाला, युद्धस्थलसे शत्रुके भयसे न भागनेवाला, प्रजापीडक राक्षस स्वभावी मनुष्योंको पकडकर कैदखानेमें बंदी बनाकर उन्हें मृत्यु दण्ड देनेवाला प्रजाके सुखके लिये देशमें शान्ति स्थापन करनेवाला, शुद्ध भावसे प्रजाका पालन करनेवाला बने ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । भग. १८।४४

अर्थ— हे अर्जुन ! (कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं) खेती करना, गोरक्षा करनी और व्यापार करना (स्वभावजं) स्वभावसे उत्पन्न हुआ हुआ (वैश्यकर्म) वैश्य वर्णका काम है ।

वेदगीता (मंत्र)

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः । ऋ. १०।३४।१३

अर्थ— हे वैश्य ! (अक्षैः मा दीव्यः) तू द्यूतक्रीडासे मत खेल अर्थात् जुआ (सट्टा) द्वारा धन कमानेका प्रयत्न मत कर । (कृषिं इत् कृषस्व) हल चला अर्थात् खेतीको कर, जिससे अन्न उत्पन्न होगा, अन्न विक्रय द्वारा तेरा धन बहुत होगा । (बहुमन्यमानः) इस कामसे अपने आपको धन्य अर्थात् अच्छा मानता हुआ (वित्ते रमस्व) अन्न द्वारा उत्पन्न हुए हुए धनसे रमण कर ॥ १३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

मया गावो गोपतिना सचध्व-
मयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः[1] ।
रायस्पोषेण[2] बहुला भवन्ती-
र्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम[3] ॥ अथ. ३।१४।६

अर्थ— (गावः) हे गौओ ! (मया गोपतिना) गोपालक अथवा गौओंके रखवाले गोसेवक मुझ वैश्यसे (सचध्वं) मिल जाओ अर्थात् मेरी सेवाको स्वीकार करो । (इह) इस लोक अथवा इस मेरे घरमें (अयं गोष्ठः वः) यह तुम्हारे रहनेका स्थान अर्थात् गोशाला (पोषयिष्णुः) मुझसे पुष्ट करने योग्य हो अर्थात् मैं तुम्हारे रहनेके स्थानको शुद्ध रखूं । (रायस्पोषेण) धनकी समृद्धिसे (बहुला भवन्तीः) तुम बहुत हुई हुई (जीवन्तीः) चिरकाल तक जीवन धारण करती हुई (वः) तुम गौओंको (जीवाः) जीते हुए हम वैश्य जीव (उपसदेम) अपने पास रखें अर्थात् चिरकालतक तुम्हारी सेवा करते रहें ॥ ६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि[4]
स न ऐतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं[5] मृगं
स ईशानो[6] धनदा अस्तु मह्यम् ॥
अथ. ३।१५।१

---

१ पोषयिष्णुः= पोषयतेः= (णेश्छन्दसि) इति ष्णुच् । (नलोकाव्यय--) इति निषेधात् ।

२ रायस्पोषेण= (षष्ठ्याः पतिपुत्र—) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ।

३ सदेम= सदेराशीर्लिङि । (लिङ्याशिषि) इति अङ् प्रत्ययः ।

४ चोदयामि= चुद् प्रेरणे ।

५ परिपंथिनम्= (छन्दसि परिपंथिपरिणौ पर्यवस्थातरि) इति इनिप्रत्ययान्तो निपातितः ।

६ ईशानः= ईश् ऐश्वर्ये ।

अर्थ— (अहं) व्यापार करनेवाला मैं वैश्य (इन्द्रं) सर्वैश्वर्य सम्पन्न धनी (वणिजं) व्यापारीको (चोदयामि) व्यापार करनेके लिये प्रेरणा देता हूं। (सः) व्यापारके लिये प्रेरित हुआ हुआ वह धनी व्यापारी (नः-आ-एतु) हमारे साथ प्राप्त हो जावे। अर्थात् हम व्यापारी कम्पनी बना लें और हमारे साथ मिलकर व्यापार करे। (ईशानः सः) धनी व्यापारी व्यापारियोंका प्रधान बनकर महाश्रेष्ठी वह (मह्यं) मुझ साधारण व्यापारीके लिये (धनदाः) वाणिज्यके धनका दाता अर्थात् विशेष व्यापारके लिये मुझे धनदाता (अस्तु) होवे। (सः) वह प्रधान सेठ (परिपंथिनं मृगं अरातिं) व्यापारियोंको लूटनेवाले सिंहकी तरह हिंसक वृत्ति रखनेवाले डाकू शत्रुको (नुदन्) दूर करता हुआ हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

वेदगीता (मंत्र)

ये पन्थानो बहवो देवयाना
अन्तरा द्यावापृथिवी सञ्चरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन
यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ अथ. ३।१५।२

अर्थ— (ये) जो (बहवः) बहुत (देवयानाः पंथानः) देवताओं अथवा आर्य सभ्य पुरुषोंके चलने योग्य मार्ग अर्थात् राजमार्ग बडी सडकें (द्यावापृथिवी अन्तरा) आकाश और पृथिवीके मध्यमें (संचरन्ति) प्रत्येक नगरमें विचरती हैं अर्थात् प्रत्येक नगरके समीपसे गुजरती हैं। (ते) वह राजमार्ग (मां) मुझ व्यापारी वैश्यको (पयसा) जल द्वारा अथवा दूध द्वारा (घृतेन) घृतादि पुष्टि कारक पदार्थसे (जुषन्तां) प्राप्त हों अर्थात् उन राजमार्गों द्वारा मैं घृतादि पदार्थोंका व्यापर करूं। (यथा) जिस प्रकार मैं दूर देशोंमें जाकर (क्रीत्वा) मूल्यसे दुग्धघृतमेवादि पदार्थोंको खरीद करके (धनानि आहराणि) बहुत धन कमाकर ले आऊं अर्थात् वस्तुओंके क्रय विक्रय (खरीद फरोख्त) द्वारा बहुतसा धन कमा लूं ॥ २ ॥

वेदगीता (मंत्र)

सा विट् सुवीरा मरुद्भिरस्तु
सनात् सहन्ती पुष्यन्ती नृम्णम् ।
यामं येष्ठाः शुभा शोभिष्ठाः
श्रिया संमिश्ला ओजोभिरुग्राः ।

ऋ. ७।५६।५-६

अर्थ— (सा विट्) कृषक, गोरक्षक, व्यापर करनेवाली वह वैश्य जाति (मरुद्भिः) मनुष्योंके साथ (सुवीरा) व्यापारके निमित्त देश विदेशमें जानेके लिये वीरता रखनेवाली अर्थात् व्यापार वीर बनी हुई (सनात्) आरंभसे ही (सहन्ती) गृहे वियोग और दैहिक कष्टों और व्यापार निमित धनके खर्चको सहन करती हुई (नृम्णं पुष्यन्ती=पुष्णन्ती) सब मनुष्योंका धन सम्पति द्वारा पालन पोषण करती हुई (अस्तु) हो अर्थात् होती है। (यामं येष्ठाः) यह सब वैश्य व्यापारके लिये गन्तव्य मार्गपर चलनेवाले तथा (शुभाः) शुभ व्यापारिक वृत्तिवाले अर्थात् कपट द्वारा धनको न कमानेवाले (शोभिष्ठाः) धन सम्पत्ति और स्वर्णादिकी अधिकतासे अत्यन्त शोभायमान (श्रिया संमिश्लाः-संमिश्राः) लक्ष्मी और शोभा अर्थात् पूर्ण प्रभावसे युक्त होकर (ओजोभिः) ओज अर्थात् पराक्रमसे (उग्राः) उग्र रूप अर्थात् धनोपार्जन करनेमें व्यापारी लोग कठोर होते हैं ॥ ५-६ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि खेती करना, गोपालन और गोरक्षा और व्यापारी वृत्ति रखना, यह वैश्य जातिका स्वाभाविक धर्म है।

वेदमें भी यही कहा है कि द्यूतव्यापार द्वारा धन कमानेके लिये सट्टाबाजी न करना खेती बाडी करनी, खेती द्वारा शुभ धन कमाना, उत्पन्न किये अन्न द्वारा दूसरे जीवोंकी पालना करना, गौओंकी रक्षा और पालना करना, दुग्धादि वृद्धि द्वारा अपनी और गौओंकी पुष्टि करनी, जिस पुष्टि द्वारा बैल हलको अच्छी तरह खीचें। गो बैलादि पशुओंकी रक्षाके लिये और वासके लिये शुद्ध और हवादान स्थान बनाना, दूर दूर देशमें व्यापार द्वारा पदार्थोंका क्रय विक्रय करना, और व्यापारी संस्था बनाकर एक बडे धनीको प्रधान चुनना और उसकी आज्ञाका पालन करना, व्यापारसे उत्पन्न हुए हुए लाभको दूसरे सभ्यों (मेम्बरों) में विभक्त कर देना, और व्यापार द्वारा राजकोषकी वृद्धि करना, वैश्योंका स्वाभाविक धर्म है।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

भग. १८।४४

अर्थ— हे अर्जुन! (शूद्रस्यापि) शूद्रका भी (परिचर्यात्मकं कर्म) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा देशवासी सब जीवोंकी शिल्प कर्म द्वारा सेवा करना (स्वभावजं) स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमंत्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १।।) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

सितम्बर १९६३

५० नये पैसे

श्री जगदंबा माता–कोल्हापुर

स्वाध्यायमण्डलके प्रकाशन

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय	१ श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१.५०	.१२
अध्याय	३० मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२)	.१९
अध्याय	३२ एक ईश्वरकी उपासना	१.५०	.१२
अध्याय	३६ सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	२.५०	.१२
अध्याय	४० आत्मज्ञान-ईशोपनिषद्	२)	.३७

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

(१ से २० काण्ड पांच जिल्दोंमें)

इनमें मंत्र, अर्थ, स्पष्टीकरण और विषयवार वैदिक सूक्ति-योंका संग्रह है। हरएक पाठक इनसे लाभ उठा सकता है।

प्रथम विभाग	१ से ३ काण्ड	१०)	२)
द्वितीय विभाग	४ से ६ काण्ड	१०)	२)
तृतीय विभाग	७ से १० काण्ड	१०)	२)
चतुर्थ विभाग	११ से १८ काण्ड	१०)	२)
पञ्चम विभाग	१९ और २० काण्ड (छप रहा है)	१०)	२)

एकदम सब भाग लेनेवालोंको पांचों भागोंका मूल्य ४०) रु. होगा। डा. व्य. पृथक्.

सामवेद (कौथुम शाखीयः)

सामवेदके गायनके ये ग्रंथ हैं। इनके गायन करनेसे अद्भुत मानस शान्ति प्राप्त होती है।

१ ग्रामगेय (वेय, प्रकृति) गानात्मकः-आरण्यक गानात्मकः प्रथमः तथा द्वितीयो भागः ५) १)

२ ऊहगानं— (दशरात्र पर्व) १) .२५
(ऋग्वेदके तथा सामवेदके मंत्रपाठोंके साथ ६७२ से ११५२ गानपर्यंत)

३ ऊहगान— (दशरात्र पर्व) .५० .१२
(केवल गानमात्र ६७२ से १०१६)

उपनिषद् भाष्य ग्रंथमाला

इन उपनिषदोंके भाष्योंमें यह बताया है कि यहां ब्रह्मज्ञानके साथ साथ उत्तम अध्यात्माधिष्ठित मानवी व्यवहार अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय तथा जागतिक व्यवहार निर्दोष रीतिसे किस तरह सिद्ध हो सकता है। यह सब तत्त्वज्ञान इन भाष्योंमें है। यह किसी अन्य ग्रंथोंमें नहीं मिलेगा। इसलिये सबको ये ग्रंथ पढने आवश्यक हैं।

१ ईश उपनिषद्	२)	.३७
२ केन उपनिषद्	१.७५	.३१
३ कठ उपनिषद्	१.५०	.२५
४ प्रश्न उपनिषद्	१.५०	.२५
५ मुण्डक उपनिषद्	१.५०	.२५
६ माण्डूक्य उपनिषद्	.५०	.१३
७ ऐतरेय उपनिषद्	.७५	.१९
८ तैत्तिरीय उपनिषद्	१.५०	.२५
९ श्वेताश्वतर उपनिषद् (छप रहा है)		

श्रीमद्भगवद्गीता

इस गीता भाष्यमें अनेक गूढ विषयोंका स्पष्टीकरण है। राज्यव्यहारके आध्यात्मिक संकेत यहां स्पष्ट रीतिसे बताये हैं।
(हिंदी-गुजराती-मराठी-अंग्रेजी भाषाओंमें मिलेगी।)

१ पुरुषार्थबोधिनी टीका (एक जिल्दमें)— २१.५० २.५०
,, (तीन जिल्दोंमें) अध्याय १ से ५ ५) १.२५
,, अध्याय ६ से १० ५) १.२५
,, अध्याय ११ से १८ ५) १.२५

२ श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला भाग १-२ और ७ ३.७२ १.२५

३ भगवद्गीता श्लोकार्धसूची .७५ .१९

४ गीताका राजकीय तत्त्वलोचन २) .३७

५ श्रीमद्भगवद्गीता (केवल श्लोक और अर्थ) .५०) .१२

६ श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम भाग) लेखक श्री गणेशानंदजी १) .२५

गो-ज्ञान-कोश

गो-ज्ञान-कोश (प्रथम भाग)	६)	१.५०
गो-ज्ञान-कोश (द्वितीय भाग)	६)	१.५०

गौके विषयमें वेदमंत्रोंमें जो उत्तम उपदेश है वहसब इन दो विभागोंमें संग्रहित किया है। जो गौके विषयमें वेदका अमूल्य उपदेश जानना चाहते हैं वे इन भागोंको अवश्य पढें।

मन्त्री— स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]

वर्ष ४४ **वैदिक धर्म** अंक ९

क्रमांक १७६ : सितम्बर १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

" वैदिक धर्म "

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०

डाक व्यय अलग रहेगा ।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,

पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता— (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता— (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता— (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)			१६)	२)
(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)				
१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	.२५
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	.२५
५ काण्व	,,	,,	२)	.२५
६ सव्य	,,	,,	१)	.२५
७ नोधा	,,	,,	१)	.२५
८ पराशर	,,	,,	१)	.२५
९ गोतम	,,	,,	२)	.३७
१० कुत्स	,,	,,	२)	.३७
११ त्रित	,,	,,	१.५०	.३१
१२ संवनन	,,	,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	.५०	.१२
१४ नारायण	,,	,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

इन्द्र हमारा है

त्वयेन्दिद्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मासि ॥ ऋ. ८।९२।३२

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वया युजा वयं) तेरी सहायतासे हम (स्पृधः प्रति ब्रुवीमहि) शत्रुका अच्छी तरह मुकाबला करें। (त्वं अस्माकं) तू हमारा है और (तव स्मसि) हम तेरे हैं।

इन्द्र बडा शूरवीर और रणकुशल है। उसने वृत्र, बल, अहि, शम्बर आदि कई बलशाली शत्रुओंको नष्ट किया। वह अपने उपासकोंकी हर तरहसे रक्षा करता है। जो इन्द्रकी पूजा करता है, उसकी स्तुति करता है, वह कभी भी पराधीन नहीं होता। हम भी उसी इन्द्रकी सहायतासे अपने शत्रुओंको विनष्ट करें, यदि कोई हमारे देशपर आक्रमण करे, तो हम उसका मुंह तोड दें। वह इन्द्र हमारी सहायताके लिए अवश्य आएगा, क्योंकि हम उसके हैं और वह हमारा है।
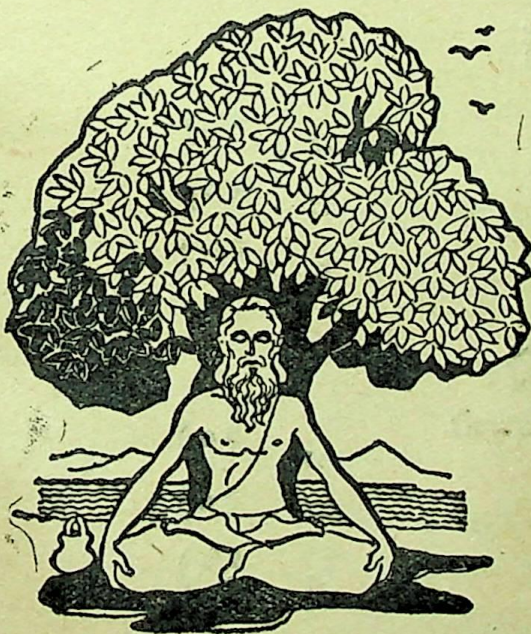
स्वाध्याय--मण्डल, पारडी [जि. सूरत] द्वारा संचालित

अखिल भारतीय संस्कृत भाषा परीक्षा समिति

अवश्य जीतिये] [अवश्य जीतिये

परीक्षार्थियोंके लिए स्वर्णावसर

★

हमारी परीक्षाओंके सब केन्द्रव्यवस्थापकों व परीक्षार्थियोंको सूचित करते हुए हमें प्रसन्नता होती है कि परीक्षार्थियोंके उत्साहवर्धनार्थ प्रत्येक परीक्षामें सर्व प्रथम आनेवाले छात्रोंको कुछ विशेष पुरस्कार देनेकी योजना हमने बताई है, वह निम्न प्रकार है—

प्रथमा	रजत मण्डित पदक	मूल्य	१०)
प्रारंभिणी	,, ,, ,,	,,	१०)
प्रवेशिका	,, ,, ,,	,,	१५)
परिचय	,, ,, ,,	,,	१५)
विशारद	स्वर्ण मण्डित रजत पदक	,,	२०)

साहित्य परीक्षायें

साहित्यप्रवीण	स्वर्ण मण्डित पदक	,,	१५)
साहित्यरत्न	(गोल्ड प्लेटेड)	,,	२०)
साहित्याचार्य	,,	,,	२५)

इंग्लिश परीक्षायें

अंग्रेजी I	रजत मण्डित पदक	,,	१०)
अंग्रेजी II	,, ,, ,,	,,	१०)
अंग्रेजी III	,, ,, ,,	,,	१५)

अभिनन्दनीय

ब्रह्मर्षि पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अभिनन्दन-कर्त्ता

श्री. विश्वनाथ केशव छत्रे

ब्रह्मर्षि पं. श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-अभिनन्दनम्

[सप्तनवतितम-जन्मदिनार्थम्]

कवि :- श्री विश्वनाथ केशव छत्रे, (जि. ठाणा)

१ अथावनौ भारतभूमिरेषा नूनं सुपुत्रप्रसवेन धन्या ।
वसिष्ठवाल्मीकिसमान्मुनीन्द्रान् यथा पुरा सा सुषुवेऽधुनापि ॥

१. पृथ्वी पर यह भारत भूमि निश्चयसे उत्तम पुत्रोंको जन्म देनेके कारण धन्य है। जिस प्रकार पहले इस भूमिने वसिष्ठ वाल्मीकि जैसे मुनीन्द्रोंको जन्म दिया उसी प्रकार आज भी वह सुपुत्रोंको जन्म देती है।

२ तादृङ्मुनीन्द्रेषु तपःप्रभावात् प्रकाशमानः सविशेषमद्य ।
मुनिर्महान् सातवळेकराख्यो नक्षत्रसङ्घात इवोष्णरश्मिः ॥

२. इस तरहके मुनीन्द्रोंमें आज अपने तपके प्रभावसे सातवलेकर नामके महान् मुनि उसी तरह प्रकाशमान हैं, जिस तरह नक्षत्रोंके समूहमें सूर्य।

३ ब्रह्मर्षिनामोच्च उपाधिरस्मै समर्पितो भूरिसभाजनेन ।
अदृष्टपूर्वोऽश्रुतपूर्व एव चिरान्न तन्नूनमतीव योग्यम् ॥

३. पहले न देखी गई व न सुनीगई ऐसी अत्यन्त योग्य ब्रह्मर्षि नामकी उपाधि इनको बडे प्रेमसे प्रदान की गई।

४ प्रापेदृशं गौरवमुच्चमेष विना न दीर्घानलसप्रयत्नैः ।
प्रासाद उत्तुङ्ग मनोहरो हि निर्मीयते नैकदिनोद्यमेन ॥

४. इस प्रकारके ऊंचे गौरवको इन्होंने लम्बे और आलस्यरहित प्रयत्नके बिना प्राप्त नहीं की, क्योंकि मनोहर और ऊंचा महल केवल एक दिनके प्रयत्नसे ही नहीं बनाया जा सकता ।

५ शालेयशिक्षां क्रमशोऽप्यलब्ध्वा सोऽधीत्य यत्नैः स्वयमेव धीमान् ।
प्राप द्रुतं पण्डित इत्युपाधिं किमस्त्यसाध्यं कृतनिश्चयस्य ? ॥

५. पाठशालीय शिक्षा न पा करके भी स्वयं अपने प्रयत्नोंसे पढकर इन बुद्धिमान्‌ने 'पण्डित' की उपाधिको प्राप्त किया । कृतनिश्चयवालेके लिए इस जगमें असाध्य क्या है ?

६ आकर्ण्य तच्चित्रकलापटुत्वं निमन्त्रयामास तमौन्धभूपः ।
यश्चित्रकारः स्वयमेव तस्थौ ह्याकर्षणं तुल्यगुणेषु लोके ॥

६. चित्रकलामें इनकी निपुणताको सुनकर औन्धके राजाने इन्हें आमंत्रण दिया । ये चित्रकारके रूपमें अपने तुल्य गुणवाले मनुष्योंमें आकर्षणरूप थे ।

७ प्रपण्डितोऽसौ श्रुतिबोधदीप्त्या प्रभावितो नो पठनेन तुष्टः ।
उद्धर्तुमोजस्विविचारमुक्ता वेदाम्बुराशेरभवत्प्रवृत्तः ॥

७. वेदोंके उपदेशोंकी तेजस्वितासे प्रभावित होकर ये पण्डित अध्ययनसे कभी भी सन्तुष्ट नहीं हुए । वेदरूपी सागरसे ओजपूर्ण विचाररूपी मोतियोंको निकालनेके लिए ये प्रवृत्त हुए ।

८ परम्परारूढमसौ विहाय नवं श्रुतेश्चिन्तनतोऽर्थमाप्तम् ।
धैर्येण लोके पुरतश्चकार स्वबान्धवोद्धारविशुद्धहेतोः ॥

८. परम्परागत रूढियोंको छोडकर इन्होंने वेदार्थके चिन्तनका नया मार्ग ढूंढ निकाला और अपने बान्धवोंके उद्धारके लिए इस नवीन मार्गको धैर्यपूर्वक विद्वानोंके सामने प्रस्तुत किया ।

९ क्लिश्यन्ति लोकाश्चिरदास्यपाशैर् दृष्ट्वेति तान् प्रेरयितुं विमुक्त्यै ।
वेदोपदेशेन समुद्यतोऽसौ ज्ञात्वेति चारैः परिमृग्यमाणः ॥

९ भारतवासी दासताकी जंजीरोंके कारण दुःखी हो रहे हैं यह देखकर जासूसों द्वारा पीछा किए जानेके बावजूद भी वेदोपदेशके द्वारा इन भारतवासियोंको दासताके बंधनसे मुक्त करानेके लिए ये तैय्यार हुए ।

१० देशार्थमालिङ्गितुमेष बन्धं स्वयं मुदाग्रेऽपि सरन् सुधीरः ।
निवारितो मित्रवरैश्च गुप्तः स्वीकृत्य तद्बन्धमुदारधीभिः ॥

१० देशके हितके लिए स्वयं प्रसन्नतापूर्वक बंधनका आलिंगन करनेके लिए आगे बढते हुए इन धैर्यवान्‌को उनके उदार मनवाले मित्रोंने रोका और वे मित्र स्वयं बंधनमें पड गए ।

११ अहो ! विशालः खलु वाङ्मयाब्धिः विनिर्मितोऽनेन सुचिन्तनेन ।
निःश्रेयसस्याभ्युदयस्य चापि मार्गं जनान् दर्शयितुं सुगम्यम् ॥

११ अहा ! मनुष्योंको अभ्युदय और निःश्रेयसका सरलतम मार्ग दिखानेके लिए इनके द्वारा रचित साहित्य सागर विशाल है ।

१२ ददाति गीता पुरुषार्थबोधं रामायणं तच्च नवप्रकाशम् ।
हिन्दीमहाराष्ट्रियगुर्जरीषु ताः पत्रिका नित्य नवं विचारम् ॥

१२ इनके द्वारा रचित 'गीता-पुरुषार्थबोधिनी' लोगोंको पुरुषार्थका ज्ञान कराती है और रामायण भी नया प्रकाश देता है तथा हिन्दी, मराठी और गुजरातीमें प्रकाशित होनेवाली पत्रिकायें पाठकोंको नये-नये विचार प्रदान करती हैं ।

१३ शीघ्रप्रचाराय च संस्कृतस्य तस्य स्वयंशिक्षकनाममाला ।
ख्याता चतुर्विंशति पुस्तकानां अहोऽल्पमूल्यापि बहूपयुक्ता ॥

१३ संस्कृतके शीघ्र प्रचारके लिए इनके द्वारा लिखित "संस्कृत स्वयं शिक्षक" के चौबीस भाग प्रसिद्ध हैं और कम मूल्यके होने पर भी वे भाग बहुत उपयोगी हैं ।

१४ कार्यक्षमोऽसौ पुरुषः शतायुः समीपमभ्यागतवान् पुराणः ।
योगासनाभ्यासमिताशनिद्रा नित्योत्तमोद्योगरतेः फलं तत् ॥

१४ ये पुराण पुरुष सौ वर्षके समीप पहुंच गये हैं, फिर भी कार्यक्षम हैं । यह योगासन, मिताहार, मित निद्रा और सदा उद्यमशील रहनेका फल है ।

१५ स्थलान्तरापत्तिपरम्परैनं नाभूत् क्षमा भीषयितुं क्षणैकम् ।
आदर्श एव स्थिरधीरहोऽसौ बोधः प्रभावी समनुष्ठितो यः ॥

१५ बारबार जगह बदलनेकी जो आपत्ति परम्परा थी वह भी इन्हें डरानेमें समर्थ न हो सकी । ये हमेशा आदर्शरूप और स्थिर बुद्धिवाले ही रहे ।

१६ औन्धे विलीने तु दशान्तरेण कार्ये निरुद्धेऽपि जरत् स गत्वा ।
प्रान्तान्तरं स्थैर्यमवाप शीघ्रं सामान्यकर्तृत्वमिदं न लोके ॥

१६ औन्धराज्यके विलीन होनेके कारण कार्यमें रुकावट आ जाने पर भी ये वृद्ध दूसरी जगह जाकर स्थिर हो गए । यह लोकमें साधारण काम नहीं है ।

१७ आयुर्यः क्षणशोऽखिलं क्षपितवान् वेदार्थसंचिन्तने
सम्प्राप्तं प्रददौ प्रकाशमपि नः प्रेम्णाक्षयश्रेयसे ।
तिष्ठन् यो गुणसागरोऽपि गुणिनः प्रोत्साहयत्यादरात्
श्रीपादः स चिरं चकास्तु मुनिराड् दामोदरिः स्वत्विषा ॥

१७ जिसने वेदार्थके चिन्तनमें अपनी आयु बिता दी और उससे प्राप्त हुए प्रकाशको कल्याणके लिए हमें प्रेम-पूर्वक प्रदान कर दिया । जो स्वयं गुण सागर होते हुए दूसरे गुणवानोंको आदरभावसे उत्साहित करते हैं, वे दामोदरके पुत्र मुनीन्द्र श्रीपाद अपने तेजसे अनन्तकाल तक प्रकाशमान होते रहें ।

श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्याणां ब्रह्मर्षिपदव्यलङ्कृतानां श्रीमच्छ्रीपाद दामोदर सातवलेकर-महाविदुषां चरणकमलयोः सप्तनवतिजन्मदिवसोत्सवोपलक्ष्ये कल्लूडि निवासिना विश्वमित्रेण वैश्वामित्रेण दायानन्देन सादरं समर्पिता

श्रद्धाञ्जलिः

सकलभुवनशान्तिमेवात्र दातुं क्षमं वेदमार्गं मुदा यो ह्यधीत्य स्वयम्,
परममुपकृतिं विधातुं प्रसार्यार्यधर्मोपदेशेन तं तपःपूर्णे विधौ ।
परमधृतियुतः स्वकीयायुरेवप्रदानं स्वकर्तव्यमेवेति धृत्वा मतिम्,
जयति जयति देवकर्मात्र लक्ष्मीपदाख्यो हि सूनुश्च दामोदराख्यस्य सः ॥ १ ॥

(लक्ष्मीः= श्रीः= पद एव पादः । इति श्रीपादः)

सातवलेकरवंशसुभूषण वैदिकदैवतकाण्डविमर्शक ।
नैगममुद्रणशुद्धिविधायक, देव नमोऽस्तु कृपास्ति हि ते वर ॥ २ ॥

जय जय ऋषिमुनिदर्शितमार्गसुयात्रिन्; औंधप्रदेशानुभूतमहाहानिमगणयन् वैदिकमुद्रण-साधनसम्पत्तिमपारकष्टसहनशीलतया पारडीस्थानस्थापितमहाधीरधौरेय; परःशतवैदिक साहित्यग्रन्थनिर्मातः; पुरुषार्थबोधिनीटीकायुक्तश्रीमद्भगवद्गीतामुद्रणप्रदर्शितकौशल; अति सुबोधार्यभाषाटीकासहितब्रह्मवेदमुद्रणरूपसहायक; आदर्शवैदिकधर्ममासिकपत्रसम्पादक; स्वास्थ्यरक्षायुर्वृद्धिविधिप्रदर्शक ।

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥

अर्थात्,

सततमहमहो प्रजापतिरक्षया, ह्यपिच परिवृतो महा प्रभुतेजसा ।
सुदृढबलयुतश्चिरायुयुतोप्यहम्, सुकृतमिह चरन् वसामि तथाजितः ॥

इति ब्रह्ममन्त्रादेशपालनव्रतानुष्ठाननियमानुकूलतयाचार्यमाणसुदृढमनोदार्ढ्ययुक्ताभ्यास-सम्पत्तिसम्पादितसप्तनवतिशरत्पालितदृढकाय; ब्रह्मयज्ञानुष्ठानसहितपरमपितपरमभक्तियुत; मानवजन्मसाफल्यसम्पादनमार्गप्रदर्शनादर्शमानव; भगवत्कृपाकटाक्षवीक्षणसम्पादितपाण्डित्य-महार्णवः ब्रह्मर्षे ।

जय, जय, जय

शमित्योरेम्

यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके प्रथम अनुवाक पर विवेचन

वेद-व्याख्यान

(लेखक— श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी, वेद-सदन, महारानी रोड, इन्दौर नगर)

ऋषि— परमेष्ठी प्रजापतिः । देवता— सविता ।
छन्दः— इषे त्वा से भागं पर्यन्त- स्वराट् बृहती; स्वर— मध्यम ।
शेषमन्त्रका— ब्राह्मयुष्णिक् छन्द एवं स्वर— गन्धार ।

ओ३म् । इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या ऽ इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा ऽ अयक्ष्मा मा वस्तेन ऽ ईशत माघशंसो ध्रुवा ऽ अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ (यजुर्वेद अ. १, मं. १)

इषे त्वा

हे सविता देव ! आप सकल जगत्के उत्पादक हैं। आपने हम सबको उत्पन्न किया है और सकल जगत्को भी उत्पन्न किया है । सम्पूर्ण जड और चेतन जगत् आपके द्वारा ही निर्मित है, आपके द्वारा ही प्रकाशित है और आपके द्वारा ही सामर्थ्यवान् है । आपके द्वारा ही समस्त संसारका अतुल एवं आश्चर्यमय वैभव उत्पन्न हुआ है । अतः आप विश्व पिता हैं । जगज्जननी हैं । विश्व-धातृ भी हैं। विश्व माता हैं । मां ! जगत् का सारा सौंदर्य, विश्वका संपूर्ण ऐश्वर्य आपमें विद्यमान् है । आपके ही सौन्दर्य एवं ऐश्वर्यसे ब्रह्माण्डका एक एक कण और इसके जीवनका एक-एक क्षण जटित हो रहा है और प्रकाशित हो रहा है तथा उसमें आपकी दिव्यता झलक रही है ।

हे सविता देव ! आपकी सम्पूर्ण दिव्यताका दर्शन मानव बुद्धि जब कर लेती है तो आपकी अखिल ब्रह्माण्डमें स्थिति और शक्तिका ज्ञान होने लगता है । उस समय हम अपने उपास्य देवके रूपमें आपका आह्वान करने लगते हैं और आपसे ही सब भोग्य पदार्थोंकी याचना करने लगते हैं । जबतक हम आपकी दिव्यताके दर्शन, आपके देवत्वके दर्शन नहीं कर पाते, तब तक हमारी बुद्धि एक सीमित अर्थमें ही आपको सूर्यके रूपमें देखने एवं समझने लगती हैं । परन्तु, हे देव ! सर्व प्रथम परमेष्ठी प्रजापति ऋषिने अपने दिव्य सामर्थ्यसे आपके दिव्य रूपका दर्शन किया और आपकी दिव्य शक्तिका दर्शन किया ।

हे सविता देव । आपका वह दर्शन परमेष्ठी प्रजापति ऋषिको जिस मात्रामें, जिस सीमामें और जिस परिधिमें हुआ, वह ब्रह्माण्डमें व्याप्त विशाल छन्द ही था । उस ऋषिने आपके विराट् एवं दिव्य स्वरूपका दर्शन जिस शब्द माध्यमसे किया, वह मन्त्र था, ज्ञानका बीज था। उस ऋषिने मन्त्रके प्रथम पद- 'इषे' में दैव्युष्णिक् छन्दका दर्शन किया और उसको ऋषभ स्वरमें गाया । परन्तु जब प्रथम पदको दूसरे पदसे क्रम बद्ध किया तो- 'इषे त्वा' इस द्विपदमें दैव्यनुष्टुप् छन्द प्रकट होने लगा और उसका स्वर भी गान्धारके रूपमें प्रकट होने लगा। इसी क्रमसे मन्त्रका स्वरूप बढते-बढते दैवी छन्दोंसे आर्षी छन्दोंमें परिवर्तित हो, अन्तिम स्वरूपको प्राप्त कर ऋचाके

स्वरूपको प्रकट करने लगा। इस प्रकार ऋचाओंके प्रत्येक प्रत्येक अक्षर एवं पद अपनेमें सप्त स्वरोंकी अभिव्यंजना रखते हुए भी, अपने एक मुख्य स्वरकी अभिव्यक्तिमें, नियत रूपमें उच्चारित किये जाने लगे। अतः इस प्रथम ऋचामें छन्द और स्वरोंके अन्तिम स्वरूप लक्षणोंसे यजुर्वेदका यह प्रथम सम्पूर्ण मन्त्र दो छन्दोंमें और दो स्वरोंमें विभक्त हो गया।

हे सविता देव! आपकी इस प्रथम ऋचामें, प्रथम छन्दमें आपके बृहत् स्वरूपके कारण, इसका छन्द भी बृहत् ही था– 'बृहती'– था। परन्तु वह स्वराट् था। स्वयं प्रकाशित एवं सुशोभित था। अपनेको स्वयं प्रकाशित करनेमें अपनेको प्रकट करनेमें सर्वथा समर्थ था। क्योंकि हे देव! आप स्वयं प्रकाशित हैं– स्वराट् हैं। और दूसरा छन्द उष्णिक् था। सविता देवकी दीप्तिसे कुछ आतप्त था–उष्ण था। परन्तु उसकी उष्णता, तप्तता, दीप्ति–ब्राह्मी थी। ब्रह्म सम्बन्धी थी। इस प्रकार मन्त्रमें 'इषे त्वा' से 'भागं' पर्यन्त स्वराट् बृहती छन्द और शेष मन्त्रका भाग ब्राह्म्युष्णिक् छन्दमें होगया।

हे सविता देव! आपकी व्याप्तिको प्रकट करनेवाले इस मन्त्रमें वही छन्द और वही स्वर परमेष्ठी प्रजापति ऋषिको ओत–प्रोत प्रतीत हुआ, जो आपके स्वरूपमें, ब्रह्माण्डमें व्याप्त था। स्वराड् बृहती छन्दका मध्यम स्वरके साथ साहचर्य नियम होनेसे आपके इस मन्त्रके प्रथम छन्दोभागमें मध्यम मधुर स्वर गुंजायमान हो रहा था और मन्त्रके उत्तरार्ध भागमें ब्राह्म्युष्णिक् छन्दका ऋषभ स्वरके साथ साहचर्य नियम होनेसे उसमें ऋषभ स्वर गुंजायमान् हो रहा था। परमेष्ठी प्रजापति ऋषिने मन्त्र एवं छन्दोगत उन स्वरोंका आस्वादन किया। उन स्वरोंमें अत्यन्त माधुर्य था और आनन्द था। सविता देवके सौंदर्यको निहार कर पशु पक्षी कलरव करने लगे। क्रौंच पक्षियोंकी पंक्तियोंने आकाश मण्डलसे मध्यम स्वरका मधुर घोष प्रारम्भ किया और पृथिवीसे अजाने–बकरीने–प्रहर्षित हो अपनी वाणीसे मधुर कम्पन उत्पन्न किया। ऋषिने दोनों स्वरोंको अपने कण्ठमें मध्यम और ऋषभके मापदण्डके रूपमें स्थापित कर लिया।

इस प्रकार इस मन्त्रके दोनों पृथक्–पृथक् छन्दोंमें, अपने अपने वादी स्वर, मध्यम और गन्धार, अपने–अपने स्थान एवं अक्षरोंमें, मन्त्रके स्वरूप एवं स्वरोंको, वाणीके व्यवहारके लिये समर्थ प्रतीत होने लगे। इन वादी स्वरोंमें उदात्तानुदात्तादि त्रैस्वर्योंकी मन्त्रोंमें संवादी, अनुवादी और विवादीके रूपमें मन्त्रार्थको प्रकट करनेमें अपनी सामर्थ्य और स्थिति परमात्माकी इच्छासे और उसीके बलसे स्थिर हुई। वादी स्वरोंसे माधुर्य रसका निर्झर प्रवाहित होने लगा और संवादी, अनुवादी और विवादी स्वरोंसे अर्थ ज्ञानका प्रकाश होने लगा।

इषु–इच्छा, गति, अन्न

इषु इच्छायाम्, इष गतौ (पाणिनि धातुपाठः)

इषतीति गतिकर्मसु पठितम्

इषमित्यन्ननामसु पठितम् (निघण्टु)

परमेष्ठी ऋषिके प्रजापति होनेसे वे ही सर्वप्रथम मन्त्रद्रष्टाके रूपमें हुए। उन्होंने मन्त्रके देवता, ऋषि, छन्द, स्वर एवं अर्थके सब रहस्योंको देखा–समझा और साक्षात्कार भी किया। भौतिक साधनोंसे, विद्या बलसे, तपोबलसे और समाधिसे देखा तथा अनुभूत किया कि– 'मैं मन्त्रमें यदि कहीं एक अक्षरका, एक मात्राका और एक स्वरका भी परिवर्तन करूंगा, तो वेदका वेदत्व नष्ट हो जायगा, उसका अपौरुषेयत्व ही समाप्त होजायगा। इस मन्त्रके प्रथम पदमें ही जो– 'इष'–शब्द है, उसका जो प्रधान सम्बन्ध और आदि मूल सम्बन्ध ईश से–प्रभुसे–है, यह भाव भी नष्ट हो जायगा।'

'इष'– इच्छा, संकल्प है। परमात्माके ही ईक्षण से, उसके ऋत और सत्यरूपी संकल्पसे ही सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है। 'इष'– गति है, तप है। परमात्माके ही समिद्ध तपसे सृष्टिके उत्तरोत्तर क्रमिक विकासमें गति विद्यमान रहती है। अतः मन्त्रका एक–एक अक्षर, एक–एक पद, उसका क्रम, उसका विराम, उसका संहिता स्वरूप, उसका स्वर, उस महानतम, तपस्वी, सर्वद्रष्टा, महर्षि, परब्रह्म, परमात्मा द्वारा रचा होनेसे अपरिवर्तनीय है–निश्चय ही अपरिवर्तनीय है। और उस तपस्वी परब्रह्मके द्वारा वेद मन्त्रोंके रचित होनेसे वे मन्त्र भी पवित्र–परम पवित्र हैं। उनमें किंचित् भी दोष, किसी भी प्रकारसे करना पाप है–महापाप है और वेदोंको त्यागना तो जीवनकी सबसे बड़ी भूल होगी। ऐसा अनुभव करके उस परमेष्ठी प्रजापतिने अपनी प्रिय सन्तानों और शिष्योंको कहा कि 'अपने जीवनमें सविता देवके दिव्य दर्शन करानेवाले मधुर छन्द, स्वर

और रसयुक्त इस पवित्र देववाणीको धारण करो और अपनी सन्तानों एवं शिष्योंको भी धारण कराते रहना। वेदके पठन पाठनका वह क्रम टूटने न पावे। जब तक सविता देव अपनी दिव्यतासे इस विश्वके सौन्दर्यको, इसकी सत्ताको स्थिर रखें तब तक अर्थात् प्रलय पर्यन्त मानवकी साधनामें– 'इषे त्वा' गतिके लिये, उन्नतिके लिये, सविता देवकी आराधना करते रहना। क्योंकि वही एक मात्र भजनीय है–सेवनीय है और सकल ऐश्वर्योंका दाता है। समस्त देवोंका–पदार्थोंका–उत्पादक भी वही है। उसका मनन और चिन्तन उसके दिये हुए पवित्र वेद मन्त्रोंके शब्दोंके साथ ही करना अन्यथा नहीं।"

इच्छा संकल्प है। संकल्पसे गति उत्पन्न होती है। गति कर्म है, जीवन है। निरन्तर गतिशीलता ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थसे सर्व दुःख निवृत्ति होती है। सर्व दुःख निवृत्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। गतिहीनता ही विनाश है तथा गतिविहीनता ही जड़त्व है। इसलिये सविता देव! हम 'इषे त्वा' गतिके लिये आपका सतत आश्रय प्राप्त करते हैं। आपकी हो शरणमें जाते हैं। आप ही समस्त गति एवं जीवनके केन्द्र हैं। आपकी ही अद्भुत दया, कृपा और रचनासे सूर्य प्रकाशित हो रहा है और अखिल ब्रह्माण्डमें गति उत्पन्न करता हुआ, समस्त जड और चेतन जगत्को प्राणोंसे ओतप्रोत कर रहा है। चन्द्रमा भी सुषुम्ना, सुख-प्रद रश्मियोंको धारण करके अपनी स्नेहमयी रश्मियोंसे सबमें प्रसन्नता, शीतलता, सुख एवं शान्तिकी वृष्टि करता हुआ, अपनी सोम सुधासे विश्वको पुष्ट एवं तृप्त कर रहा है। वायु भी इसी सविता देवकी प्रेरणासे गति प्राप्त कर अखिल ब्रह्माण्डमें गति कर रहा है। यह सारा ब्रह्माण्डका साम्राज्य, उसी सविता देवका है। उसीकी इच्छा और प्रेरणासे तथा उसीके नियमसे चल रहा है।

यदि संसारमें गतिका अभाव हो जावे और जीव जगत्-मेंसे संकल्प, इच्छाका भी अभाव हो जावे, तो संसारका जीवन, विश्वका अद्भुत सौन्दर्य और विश्वकी विविध शक्तियां भी नष्ट हो जावें। समस्त रचना–ब्रह्माण्ड–अनुपयोगी और रसहीन हो जावें। उस समयकी स्थिति या तो जडवत् होगी या प्रलयवत् अन्धकारमयी होगी। अतः जीवनकी एक–मात्र प्रथम साधना यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रके प्रथम पदसे 'इषे' गतिके लिये करनी ही चाहिये। यही सर्वप्रथम और प्रधान साधना है। जिस प्रकार सविता देवसे समस्त जगत्की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार 'इष' से गतिसे, कर्मोंसे पुरुषार्थसे ही समस्त कार्य और व्यवहार सिद्ध हो सकेंगे। अन्य प्रकारसे नहीं।

ऐसी स्थितिमें हम सब भी क्यों न उसी अपने सम्राट्की प्रजा बनकर उसीसे गतिकी कामना करें, उसीकी गतिके अनुरूप अपनी गति एवं कर्म करें, उसीकी प्रेरणा सदा प्राप्त करें, उसीसे सब प्रकारकी शुभकामनायें, इच्छायें प्राप्त करें, और उसीकी कामना–इच्छा–या आदेशके अनुकूल चलें। वही सविता देव–परमात्मा–हमारा प्रेरक बने। वह प्रभु अवश्य हमारी प्रार्थनाको सुनेगा। जब परमात्मा देव ही सविता रूपमें, सब कामनाओंके प्रेरक हैं, तो वे हममें भी क्यों न शुभ कामनाओंकी प्रेरणा करेंगे? जब वे हीं प्रेरणा देने लगेंगे और हम उनकी प्रेरणाओंको समझने लगेंगे और मानने लगेंगे तो हमारा जीवन भी पवित्र, अत्यन्त पवित्र, यज्ञ रूप ही बन जायगा। उस समय हमारे जीवनसे सर्वत्र प्रेरणा, प्रकाश, सुगन्ध, दिव्य सौरभ व्याप्त होने लगेगी और हम भी सविता देवके विशाल विश्व यज्ञके अध्वर्यु, होता, उद्गाता आदि बन जावेंगे और हमारा ब्रह्मा साक्षात् परब्रह्म, हमारे सन्मुख, हमारे मध्य और हमें आदेश देता हुआ प्रतीत होने लगेगा। अतः उसकी सदा शरणको प्राप्त करें।

इषे= अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये। (महर्षि दयानन्द)

हे सविता देव! गति और इच्छा, कर्म और संकल्प, ज्ञान और तपके विविध मिश्रण एवं प्रेरणासे विज्ञानका सागर उमड पडता है। अनेक प्रकारकी रचना दृष्टिगोचर होने लगती है। आपके ही सर्वप्रथम ज्ञान और तपसे यह सृष्टि प्रलयावस्थासे वर्तमान स्वरूपको प्राप्त हुई, अतः आप ही ज्ञान और तपके आदि मूल हैं। कर्म और संकल्प तथा गतिके आप ही आदि स्रोत हैं, आप ही प्रेरक हैं। यह सब विश्व आपकी महिमा, आपके ज्ञान और तपका विज्ञानमय सुन्दर संघात है, जिसके प्रत्येक कण-कणमें, अणु–परमाणुमें आपका ज्ञान और तप भरा हुआ है और वह हमें भी ज्ञान और तपका सन्देश दे रहा है। यदि हम उसका गंभीर रीतिसे मनन करें और चिंतन करें, तो नाना प्रकारके ज्ञान विज्ञानके उत्पन्न करनेमें हमारी कुशलता बढ जाती है, एवं हमारे सुख साम्राज्य, हमारी इच्छा, संकल्प या ज्ञानके

*

अनुसार हमारी गति, कर्म या तपकी मात्राके अनुकूल विस्तारको प्राप्त होने लगता है। अतः हे विज्ञानस्वरूप सविता देव! 'इषे त्वा'-इन पदोंसे हम अपनी कामना और कर्मोंकी सफलताकी प्राप्तिके लिये आपके ही अर्पण करते हैं।

जिस प्रकार संकल्पसे श्रम, कर्म, जीवन होता है और उससे सुख वृद्धि होती है, उसी प्रकार शरीर रचनाके मूल तत्वकी प्रकृति भी अन्न है और उससे सुख वृद्धि होती है, 'अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः।' अतः हमारे जीवनके लिये सर्वप्रथम आवश्यक तत्व अन्न भी है। अन्नकी वृद्धि एवं विपुलतासे जीवनकी वृद्धि एवं पुष्टि और इसके ह्राससे जीवनका ह्रास। हमारा जीवन पूर्णरूपेण अन्न पर-भोज्य पदार्थों पर आश्रित है। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते समय गृहिणीको सप्तपदी बतानेके लिये पहला उपदेश भी 'इषे एकपदी भव' ही किया जाता है। अर्थात् गृहस्थाश्रममें पहला काम यही है कि अपने घरको अन्नादिसे पूर्ण करो। उसके विविध प्रकारसे सेवनादिकी विद्याको जानो और उसका यथोचित उत्तमसे उत्तम लाभ समस्त परिवारको देनेमें किंचित् भी प्रमाद या आलस्य न हो। इस निमित्त किया गया पुरुषार्थ गृहस्थधर्मका प्रथम धर्म है। अतः हे सविता देव! हम 'इषे त्वा' इन शब्दोंसे अन्नके लिये आपसे कामना करते हैं।

हे सविता देव! अन्नकी उत्पत्ति और संमृद्धि वृष्टिके बिना असम्भव है। अतः हे वृष्टिके प्रेरक सविता देव! आपकी कृपा दृष्टिसे हमारे चारों ओर सुखकी वृष्टि होती रहे। आपके इच्छाकी, संकल्पकी, तपकी वृष्टिसे यह संसार आच्छादित होकर नित्य नव-जीवन धारण कर रहा है। जलमयी वृष्टिसे समस्त जगत्को जीवन प्राप्त होता है। हे सविता देव! आप स्वयं नियमसे यह सब हमें प्रदान करते हैं, परन्तु हमारा पुरुषार्थ उसमें हमारी कामनानुकूल सुखोंकी और भी वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार इष अर्थात् अन्नकी वृद्धि और उसके यथोचित उपयोगसे हम अपने शरीर और प्राणोंको पुष्ट करते हुए अपनी जीवनयात्रा को सुखद बना सकते हैं। इष अर्थात् गति द्वारा हम संसारके सुखोंको प्राप्त कर परम गति-मोक्षको भी प्राप्त कर सकते हैं, जहां गति, इच्छा, भोग एवं सुखकी पराकाष्ठा है, और परब्रह्म परमात्माका परमानन्द प्राप्त हो जाता है।

त्वा- विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् (महर्षि दयानन्द)

हे सविता देव! हे प्रेरक देव! हे विज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आपके इस अद्भुत संसारमें इष- इच्छा, गति आपमें ही सर्व प्रथम होती है। उसीसे पुनः हम जीवोंमें भी होती है। यदि हम निरीह, निरिच्छ और गतिशून्य होते, तो हम कैसे-'इषे त्वा' इसको सार्थक कर सकते थे? आपने हमें इष- इच्छा युक्त धर्मवाला बनाया है, अतः इच्छा, संकल्प एवं विचारोंसे शून्य हो ही नहीं सकते। इसलिये हम ही- इषे त्वा- कह कर आपका आह्वान कर सकते हैं और आपके प्रिय धामको, आश्रयको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

हे देव! आप इष अर्थात् गतिके प्रेरक हैं। हम जीव भी तो निरन्तर गति, कर्मोंको करते हैं और हमारा मन तो उस समय भी गति और कर्मोंके करनेमें लगा रहता है, जब कि हम निद्रित अवस्थामें, सुप्तावस्थामें होते हैं। हमारे प्राणापान तो सदा ही एक रस गति करते रहते हैं। यदि हमारे प्राण भी निश्चेष्ट हो जावें, गति शून्य हो जावें, या हमारा शरीर चेष्टा रहित, प्रयत्न शून्य हो जावे तो- इषे त्वा- गतिके लिये हम आपका कैसे आह्वान कर सकेंगे? हम गतिवान् हैं। चेष्टावान् हैं। प्रयत्नवान् हैं। अतः हम अपने प्रयत्नोंकी सफलताके लिये आपका निरन्तर आह्वान करते हैं। आप हमें उत्तम गति प्रदान करें।

हे देव! आप विज्ञानस्वरूप हैं। आपके संकल्प और आपकी गतिसे रचित यह संसार बडी कुशल रचना है। अत्यन्त अद्भुत है। ज्ञान-विज्ञानसे, अनेक ऐश्वर्यों एवं गुणोंसे पूर्ण है। हे प्रभु! आपके इस कौशलको देखकर और सृष्टिके नियमोंको देखकर हमें महान् ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये हम भी अपने संकल्पों और कर्मोंका सुविचारपूर्वक, सृष्टि गुण और सामर्थ्यको देखकर, उसका प्रयोग करके अपने जीवनकी सम्पूर्ण आवश्यकताओंकी पूर्त्ति कर सकते हैं। हे प्रभु! आप पूर्ण ज्ञानके भंडार हैं और हम अल्पज्ञ हैं। हमें ज्ञान-विज्ञानकी सदा आवश्यकता रहती है, अतः हम 'त्वा' विज्ञानस्वरूप आपका आह्वान करते हैं। आप ही एक मात्र भजनीय हैं, सेवनीय हैं।

(क्रमशः)

समाज-सुधार

लेखक— श्री भवानीशंकरजी पाराशर, पो. वणी (विदर्भ)

★

किसी भी देशके स्थायी स्वातंत्र्य और सर्वांगीण विकासके लिये जिस प्रकार वहांके जन-समाजमें संगठन अनुशासन व राष्ट्रप्रेमकी तीव्र उत्कंठा होना जरूरी है, उसी प्रकार समानता, आत्मीयता, अन्यायसे मुक्ति तथा अपनी व राष्ट्रकी समन्वित प्रगतिका अवसर मिलना उससे अधिक जरूरी है, यह बात प्रायः प्रत्येक समाज सुधारक मानता है और इस स्थितिके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। भारतमें भी स्वतंत्रता प्राप्तिसे पहले और बादमें इसके लिये सतत प्रयत्न होते रहे हैं। किन्तु देश, काल व परिस्थितिके अनुमान बिना ही गई दवाके सेवनसे जैसे दवाके साथ साथ मर्ज बढता जाता है, वही हालत हमारे देशकी हो रही है। चूंकि हमारा अधिकांश समाज सुधारक वर्ग फूट डालकर राज्य करनेवाले उन साम्राज्यवादियोंके झांसेमें फंस गया है, जो अपनी अपनी जीवन प्रणालीको ही वैज्ञानिक प्रगतिका एक मात्र और सर्वश्रेष्ठ आधार बताकर सारी दुनियाको जीवनके हर क्षेत्रमें अपना ही अनुगामी अर्थात् हुकुमका गुलाम बनाकर एक छत्र साम्राज्य स्थापित करनेकी चाल चल रहे हैं। बबूल बोकर आमकी आशामें फूटके कांटोंको बखेरनेवाला यह वर्ग चीन और पाकिस्तान सरीखे बर्बर और धोखेबाज शत्रुओंके खिलाफ हमारे जन समाजको सजग और संगठित होनेमें किस प्रकार बाधक बन रहा है, इसीका संक्षिप्त विश्लेषण हमें यहां करना है।

व्यक्तिवाद

इस विषयमें हम अपने लक्ष्यप्राप्तिकी पहली बाधा व्यक्तिवाद पर विचार करेंगे, चूंकि इसमें विचार, व्यवसाय और व्यक्ति स्वातंत्र्यके नामपर बचपन और बुढापेमें मजबूरीसे कुटुंबकी शरणमें रहनेवाले व्यक्तिको सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रमें कुटुंबसे भिन्न पूर्ण इकाई मानकर असीमित अधिकार दिये गये हैं। अतः सामाजिक क्षेत्रमें इसका परिणाम यह हुआ है कि पश्चिमकी तरह प्रेम साहबसे चार आंख होते ही यहां भी पालन पोषण और शिक्षणमें सर्वस्व लुटानेवाले मातापिताको बुढापेमें अनाथ बनाकर जुए, शराब और नाचके अड्डे क्लबोंमें रंगीन रातें बितानेको ही जीवनका प्रमुख ध्येय मान लिया गया है। और इस हविशकी पूर्तिके लिये आर्थिक क्षेत्रमें हर उद्योगके मशीनीकरणकी खुली छूटका परिणाम यह हुआ है कि कुटुंब व्यक्तिपर और व्यक्ति धनिकोंकी दयापर जीवित रहनेको मजबूर होकर करोडों स्वतंत्र कारीगरोंमें विकेन्द्रित होनेवाली पूंजी मुट्ठीभर पूंजीपतियोंके हाथमें केन्द्रित हो गई है, और स्त्रियों, बूढों व बच्चोंतकको काम व कामकी प्रेरणा देनेवाला देश गुलामों, क्लर्कों एवं बेरोजगारोंका देश बन गया है। इतना ही नहीं खाने पीने पहनने व दवाईयां तक नकली बनाकर मानव शरीरको जहरीली हड्डियोंका ढांचा बनाया जा रहा है।

इसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्रमें असीमित अधिकारोंका परिणाम यह हुआ कि आत्मीय सहकारिता वाले पतिपत्नी, पिता पुत्र व भाई बहन तक अपने अपने हितोंकी रक्षाके लिये स्त्री, पुरुष व युवक कांग्रेस जैसे बिलगाववादी संगठनों अथवा परस्पर विरोधी पार्टियोंमें संगठित हो रहे हैं। और जन्मसे मृत्युपर्यंत आत्मीयतासे व्यक्तिके हितोंकी सुरक्षा करके त्याग, बलिदान, प्रेम, सहिष्णुता, अनुशासन और कर्तव्य पालनका स्वेच्छासे पाठ सिखानेवाले केन्द्र कुटुंबको ही नष्ट करनेमें लग गये है, जिससे समाज व राष्ट्रकी एकता व प्रगतिका मार्ग अनायास अवरुद्ध हो रहा है।

इसी तरह नारीके लिये स्वतंत्र व्यवसायकी अनिवार्यता और समाजाधिकारका परिणाम यह हुआ है कि जो भारतीय नारी माताके रूपमें पूजनीय मानी जाती थी और जिसकी लाजकी रक्षामें शिवा, हुमायूं व रणजीत सरीखे शासक तथा लक्षलक्ष जनता झुंडके झुंड बनाकर अपने प्राणोंकी बाजी लगा देती थी, वह नारी आज असहाय हो गई है।

चूंकि आजका युवक अपने फिल्मी आकाओंकी प्रेरणासे हाट बाजार, गली चौराहे अथवा भीड या एकान्तमें अकेले नहीं, बल्कि सामूहिक रूपसे सीटियां बजाकर मजनूकी औलादकी तरह आहें भरते हुए अथवा डार्विनके प्रसिद्ध सिद्धान्त 'बन्दरकी औलाद' को चरितार्थ कर नाचते कूदते हुये नारीके स्वतंत्र विचरण पर हावी हो गया है। इतना ही नहीं, नौकरीमें लेडीज फर्स्टका चांस देनेवाले पूंजीपति मालिकों और आफीसरोंकी गन्दी हविशका शिकार नारी सरेआम बनती जा रही है। प्रेम विवाह और अन्तरजातीय विवाह द्वारा भी नारी जीवनकी सफलता संदिग्ध ही जंचती है। चूंकि अक्सर ये विवाह गुण अवगुणकी परख तथा धन कमानेके अनुभवसे हीन स्कूली बालक बालिकाओंके अनुचित संपर्क एवं क्षणिक विलास वासनाकी पूर्तिके लिये होते हैं, जिससे इनमें वास्तविक प्रेमका अभाव ही बना रहता है। अतः धन कमानेमें असफल रहने अथवा शारीरिक आकर्षण समाप्त होनेपर तीव्र मतभेद निर्माण होकर ये विवाह संबंध स्वयं चकनाचूर हो जाते हैं।

वास्तवमें कुटुंब, समाज व राष्ट्रके निर्माता दो प्राणियोंके प्रणय बन्धनको बाजारू सौदेकी तरह 'जंचा तो रखा वरना लौटा दिया' की प्रमुख भावनासे खरीदनेवाले अमरीकी समाजकल्याण विभागकी १९५९ की सरकारी रिपोर्ट ही वहां (पश्चिमी) के समाज सुधारकी प्रगतिका भेद खोलनेके लिये काफी है। जिसमें स्पष्ट लिखा है कि इस वर्ष वहां अविवाहित जोडोंसे २ लाख ८ हजार ७०० नाजायज बच्चे पैदा हुये। अतः इस तथा नित नये तलाक जैसे अन्य कारणोंसे पागलपन, नशाखोरी, धोखेबाजी व डाकेजनीका कितना विस्तार हुआ, इस पचडेको उनके अनुयायियोंपर छोड दें, तो भी हमें इतना तो सोचना ही पडेगा कि अमरीकाकी नकल करके उससे दुगुनी आबादीवाला भारत मांकी ममतासे हीन, अनाथ, कायर, आवारा या जुल्मी बच्चोंका प्रतिवर्ष उत्पादन बढाकर किस प्रकारकी प्रगति और मां व मातृभूमिके आनकी रक्षा कर सकेगा? हमारे ख्यालमें तो कौटुंबिक अनुशासनको नृशंस बतानेवाले स्वेच्छाचारी व्यक्तिवादके समर्थकोंको सच्चा उत्तर तो उस चीनने दे दिया है जो स्त्रियों, पुरुषों व युवकोंकी अलग अलग कम्यूनों अर्थात् कैदखानोंका निर्माण कर चुका है।

वर्गवाद

मानवकी सामाजिक आकांक्षाओंकी पूर्तिके लिये यूरोपकी नकल पर किये गये सामाजिक विभाजनका परिणाम देखिये—

१ धनके आधारपर धनिक, गरीब व मध्यम श्रेणीका विभाजन करके इसी आधारपर विशेष सहूलियतें देनेका परिणाम यह हुआ है कि कुटुंबसमाज और गांवसे लेकर केन्द्रीय मंत्रिमंडलतक पूंजीवादी और समाजवादी अर्थात् दक्षिणपंथी या वामपंथीके रूपमें विभाजित हो गया है। और हम खुदबखुद रूसी चीनी या आंग्ल अमरीकी गुटके एजंटका काम करके राष्ट्रको गृहकलहकी ओर ले जाने तथा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्रमें घोषित हमारी तटस्थ नीतिका घरमें ही मजाक उडानेवाली हास्यास्पद स्थितिका निर्माण कर रहे हैं।

२ भारतीयोंके धार्मिक इतिहासके सर्वथा विरुद्ध छल, कपट, हत्या, लूट, आगजनी, बलात्कार द्वारा अपना धर्म दूसरोंपर लादनेवाले ईसाई, मुस्लिम और यहूदियोंका उदाहरण लेकर धर्मके आधार पर अल्पसंख्यक मानने और इसी आधारपर विशेष सहूलियतें देनेके कारण हर व्यक्ति सांप्रदायिक संगठनोंमें संगठित होनेको मजबूर हो गया है। अवसरवादी राजनीतिज्ञोंको अल्पसंख्यकोंकी सुरक्षाका हौवा खडा करके महज सीट दिलानेवाला यह विभाजन ही उन राष्ट्रद्रोहियोंका पोषक बना है, जो दंगा, असंतोष व अराजकताका निर्माण कर पाकिस्तान व नागालैंडकी तरह सिक्खिस्तान, फिजोस्तान आदि अनेक टुकडोंकी निर्मिति द्वारा इस देशको खंड खंड करके साम्राज्यवादियोंके अड्डोंमें अनायास परिवर्तित कर देना चाहते हैं।

३ केवल विचारके आधारपर पार्टीयां बनकर समाजका वर्गीकरण करनेका यह परिणाम हुआ है कि जैसे आत्मीय एकतावाले पतिपत्नी, पितापुत्र, आपसी स्पर्धा और कलहके शिकार बन जाते हैं वैसे ही रेल्वे आदि यूनियनोंके कर्मचारी भी परस्पर विरोधी यूनियनोंमें विभाजित होकर अपने समान हितोंकी मांग भी एक जुटसे नहीं कर सकते। बल्कि अनेक नेताओंके इशारों पर चलकर अपना व राष्ट्रका अहित करते रहते है। इसी तरह किसी व्यक्ति या नेताके स्वार्थ न सधने पर नित नयी पार्टी बनाने व बदलनेमें किसी तरहका अंकुश न होनेसे पार्टियां अनुशासित, संगठित व सुविचारी

समाजका निर्माण करनेके बजाय स्वार्थी, व कलहकारी समाजकी निर्मितिमें ही सहायक बनती है। समाजके साथ साथ सैनिकों और विद्यार्थियोंमें पार्टीबाजी घुसनेपर तो राष्ट्रका बेडा गर्क होना अटक समझना चाहिये।

जहांतक पार्टी प्रणालीद्वारा सामाजिक न्यायका प्रश्न है वह तो केवल कपोलकल्पना है। क्योंकि आज चुनावमें अगणित धन खर्च करनेवाले धनाधीश व क्षेत्र (एरिया)में रहनेवाले सांप्रदायिक, भाषिक, जातीय व किसान मजदूर आदि बहुमत समाजके व्यक्ति अथवा जनताको भरमाकर या भडकाकर स्टेजसे जनताकी सेवाका दावाकर अपनी रोटी पकानेमें माहिर राजनीतिज्ञकी ही पूछताछ होती है। आम जनता तो इनके दयाकी मोहताज और विरोधी जनता इनके बदलेकी शिकार होती है। इनके अलावा पचासों (पचीसों) पार्टियोंके कारण मुश्किलसे २० प्रतिशत वोट पानेवाली पार्टी भी सदनके ५१-४९ के वोटिंगके आधारपर सारे समाजकी इच्छाके विरुद्ध अपने विचार (सिद्धान्त) जनता पर लाद देती है, और बहुमतके बलपर विरोधियोंकी अच्छी सलाह भी ठुकरा देती है। इसी कारण विरोधियोंका काम तिलका ताड बनाकर जन असंतोष द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करना और सत्ताधीश पार्टीका काम राज्य अथवा नगर निगममें बहुमतसे चुनकर आयी विरोधी पार्टी को लोकप्रियतासे वंचित करनेके लिये अनुदान आदिमें पक्षपात बरतना अथवा सत्ताधीश पार्टीद्वारा दो दल बनाकर आपसमें ही सत्ताके लिये छीनाझपटी करना प्रमुख काम बन जाता है। जनताको तो अपने न्याय व हितोंकी रक्षाके लिये हडताल, अनशन या प्रदर्शन करनेके अलावा कोई चारा ही नहीं है।

४ भाषा, क्षेत्र और रूपरंगवाले आर्य द्रविड, मंगोल आदिवासी आदि अनावश्यक भेदोंने जहां हमारी अनेक विकास योजनाओंको खटाईमें डाला या हानिप्रद बनाया है वहीं हमें अपने घर भारतके ही हर प्रान्तमें अजनबी और कानूनका संरक्षण प्राप्त कैदी बना दिया है। इतना ही नहीं इससे तो द्रविडस्तान व आदिवासीस्तानसे लेकर छोटेसे छोटे एरियाके सुलतान बननेकी महत्वाकांक्षावाले राष्ट्रघाती सांपोंको फलने फूलनेका अवसर मिल गया है, जो केवल विभिन्न समाजोंमें दुश्मनी बनाकर ही पनप सकते हैं।

इस स्वच्छाचारी व्यक्तिवाद और संघर्षकारी वर्गवादसे भारत ही नहीं विश्वका प्रत्येक नव स्वतंत्र राष्ट्र परेशान होकर समाज हितकारी समाजवादके नारेसे आकर्षित हो रहा है। और भारत तो सहकारिता पर आधारित वर्गविहीन लोकतंत्रीय समाजवाद स्थापित करनेका लक्ष्य भी घोषित कर चुका है।

समाजवाद

समाजवादके विषयमें विचार करनेसे पहले इसके मूलाधार सहकारिताकी प्रमुख बाधाओंपर ध्यान दीजिये—

१ सेवाके नाम राज्य रूपी इकाईका कारभार सम्हालनेके लिये दो गुट बनाकर आपसमें झगडनेवाली संस्था द्वारा गुटविहीन सहकारी संस्थाके सफल संचालनकी आशा करना व्यर्थ है।

२ भाईभाईको अपनी शतरंजकी मोहरें बनाकर लडनेवाली पार्टियोंके रहते सहकारी संस्थाओंकी गुटबन्दीसे मुक्ति या सहकारी जीवनकी आशा भी दुराशा मात्र है।

३ पिताकी खेतीमें सहयोग देनेवाले बेटे बहूके बजाय बेटी जंवाईको हिस्सा देकर जमीनके टुकडे करनेवाला कानून भी सहकारितामें बाधक है।

४ वर्ग विहीनताके नामपर धन्देके अनुभवसे हीन राजनीतिक व्यवस्थापककी नियुक्ति भी सहकारिताकी मारक ठहरती है। चूंकि सहकारिता समान धंदेवाले व अनुभवियोंकी होती है।

५ स्त्री पुरुष व बूढों बच्चोंके सहयोगसे चलनेवाली कौटुंबिक सहकारिताके मुकाबले मैनेजर, क्लर्क, मकान-किराया व मजदूरी आदि देकर चलनेवाली सहकारी संस्थायें महंगाईके कारण जहां ऋण, रिबेट व शेयरके रूपमें राष्ट्रीय धनका नाश करती है, वहीं पूंजीपतियोंके बदले अधिकारियों और व्यवस्थापकोंमें पूंजीका केन्द्रीयकरण करके कारीगरको मामूली तनखामें इनकी मरजीका ऐसा गुलाम बना देती है कि जरासी जीहुजूरीमें चूकते ही बिचारा परिवार सहित रोटीसे हाथ धो बैठता है। इसी तरह आफीसरोंकी अनुभवहीनता, अनुचित महत्वाकांक्षा, हुकुमशाहीवृत्ति तथा कर्मचारियोंकी ईर्ष्या व काम चोरीकी भावना आदिके कारण जनताकी गाढी कमाईकी पूंजीको १०० का ६० करके ही सहकारिताका नाम चलाया जा सकता है, वरना

डंडे के बल पर सहकारिता टिकानी पडती है। साथ ही स्वतंत्र धन्दा करनेवाले असंख्य व्यापारी, कारीगर और कलाकार समुदायको बेरोजगारी गुलामीका शिकार बनने तथा जनताको महंगाई, भ्रष्टाचार व लाईन लगानेकी परेशानी भुगतनी पडे, सो अलग।

वर्ग--विहीनता

जहां तक वर्ग-विहीनताका प्रश्न है, वह भी लाभप्रद व तर्कसंगत नहीं जंचता। चूंकि शिक्षाके क्षेत्रसे ही साईंस, आर्ट, मेडिकल व कामर्स आदि ऐसे भेद शुरू हो जाते हैं जो व्यक्तिको जीवन भर वही धन्दा अपनाने और अपने अपने धन्दे की यूनियन बनाकर अपने हितोंकी रक्षा करनेको बाध्य करते हैं। केवल वे ही नहीं, अंगूठा छाप मिल मजदूर व मोटर ड्राईवर भी अपने अनुभवी धन्देको छोडनेके बजाय यूनियन बनाकर अपने हितोंकी रक्षाके लिये लडते हैं। हालां कि ये यूनियनें तो व्यक्ति की बीमारी या नौकरी छूट जानेकी हालतमें उसे परिवार सहित भूखों मरनेसे नहीं बचा सकती, फिर भी जब इनकी आवश्यकता को चुनौती नहीं दी जासकती, तब देशकी ८० प्रतिशत ग्रामीण जनताको स्वतंत्र उद्योग देनेवाली उस भारतीय जातिप्रणालीको नष्ट करनेमें कौनसा लाभ है, जो अपनी कौटुंबिक सहकारिताके कारण किसी व्यक्तिकी बीमारी ही नहीं, मृत्यु पर भी काम बन्द होने या भूखों मरनेकी बारी नहीं आने देती, और उत्पादन तथा वितरणमें सरलता व सस्ताईके साथ साथ राष्ट्रको पेंशनके खर्चसे बचाती है। इसी प्रकार जब रेल्वे कामगारका हितरक्षण पोस्ट यूनियनमें संभव नहीं तब वर्ग विहीनता क्यों आवश्यक है? और जब वर्ग ही न रखने हों, तब किसान मजदूर वर्गके राज्यका नारा क्या महत्व रखता है यही विचार करनेका विषय है।

(वास्तवमें) हमारे खयालमें तो किसान मजदूर वर्गकी वरिष्ठता न्याय संगत नहीं हैं चूंकि इससे एक ओर जहां बहुमतके बलपर तानाशाहोंके हाथमें सत्ता केन्द्रित हो जाती है। वहीं दूसरी ओर राष्ट्र और विश्वके घटना चक्रको गतिशील बनाये रखनेवाले वैज्ञानिक, इंजीनियर, डाक्टर, वकील, व्यापारी और क्लार्क आदि वर्गके समानाधिकारका हनन होता है। अतः कृतघ्नता, विषमता व तानाशाही प्रवर्तक यह वर्गविहीन समाजवाद मानवको समानाधिकार व सामाजिक न्याय देनेमें किस प्रकार विफल रहा है इसके कुछ उदाहरण देखिये—

१ शाहनशाह स्टालिन द्वारा अपनी सभाके वरिष्ठ नेताओंसे एक अथवा आजके सोवियत संघके सर्वेसर्वा श्री ख्रुश्चोवको भरे दरबारमें नाच नचवाना तथा प्रधानमंत्री पदसे हटते ही मार्शल बुलगानिनको ख्रुश्चोवके अंगरक्षकों द्वारा सर्वोच्च सभाके दरवाजेसे धक्के मारकर निकालना आदि बातें आईनेकी तरह साफ बताती हैं कि जहां वरिष्ठ नेताओंके ये हाल हैं वहां आम जनता पर क्या गुजरती होगी।

२ तथा कथित वर्गविहीन समाजकी रचनाके लिये मुस्लिम, यहूदी व ईसाइयतके प्रचारमें किये जानेवाले छल, कपट, हत्यालूट व आगजनीको मात करनेवाले तरीके अपना कर लाखों निरपराधोंको मौतके घाट उतारना तथा असह्य यातना देना आदि कृत्य देशी विदेशी एजंटों द्वारा करवाते रहना जहां न्याय संगत माना जाता हो, वहां सामाजिक न्याय और सहअस्तित्वके नारेके खोखलापनका प्रमाण ढूंढना ही मूर्खता है।

३ गरीबोंके मसीहा निरूपित करनेमें लाखों टन अखबारी कागज रंगवानेवाले स्टालिनको उसीके शिष्यों द्वारा तानाशाह बताकर एक तरफ सामूहिक शासनकी बातें करना और दूसरी तरफ लेखकों, कलाकारों और विचारकों पर कडक नियंत्रण थोपना तथा पार्टी नियंत्रित गुप्त सी. आई. डी. खातेके अलावा पडौसियों मित्रों व घरके बच्चों तकसे जासूसी करवाकर मानवको विचारहीन पशुकी तरह जीवन बितानेको बाध्य करना आदि तथ्य वर्गविहीन जनराज्यका नमूना पेश करनेके लिये काफी है।

४ चालीस वर्षके सतत प्रयासके बाद भी हिन्द मजदूर सभाके नेता चित्रा डुराईको रूसमें चिथडे लपेटे ग्रामीणोंके दर्शन होना ही इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि बहुमतवाले किसान वर्गकी वरिष्ठताका उपयोग अक्सर सरलतासे सत्ता प्राप्तिके लिये ही किया जाता है।

५ साधारण मजदूर और आफीसरकी आमदनीमें ५० गुना अन्तर रहना भी सबको समान जीवन स्तर देनेका वादा करनेवाली चालका पर्दाफाश करता है। वैसे कृषि मजदूरोंके मुकाबले अधिक कमाई देनेवाले औद्योगिक मजदूरोंका स्तर उठाना कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

चूंकि विकसितदेशोंके मजदूरोंको ये सारी सुविधायें प्राप्त है और अविकसित देशोंमें अधिकाधिक मिलती जा रही हैं।

६ एक ही धर्म या वर्ग माननेवाले मुस्लिम ईसाई या कम्युनिस्ट राष्ट्रोंमें आये दिन क्रांति प्रति क्रांति होना तथा राष्ट्रपति नासिरका किसान मजदूरके साथ ही क्लर्कोंका तीसरावर्ग मानना भी वर्ग-विहीनताको अनावश्यक प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है

७ स्टालिन खुश्चोव, माओ, टीटो, नासिर, नेहरू मेहता और लोहियाके समाजवादकी परिभाषा स्वयंतक सीमित रहना तथा उसको क्रियान्वितिका ठेका पार्टी या उसके गुटविशेषको देना और असफलताका दोष प्रशासन यंत्र पर मढ देना इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि वर्गविहीन समाजवादी राज्यमें समाजकी नहीं बल्कि व्यक्ति व पार्टी विशेषकी इच्छाओंको जबरन थोपा जाता है। जनता बेचारी तो केवल इनके हुकुमकी गुलाम मात्र बनी रहती है। वास्तवमें समाजवादी राज्योंमें दी जानेवाली मुफ्तशिक्षा, चिकित्सा और प्रतिभाशाली छात्रको वरीयता जैसे कार्य सराहनीय है। किन्तु इन्हीं कार्योंके बदले मानवको तानाशाहीके नीचे पशुवत् जीवन बितानेको बाध्य करना बुद्धिमानी नहीं है। और चूंकि यह कार्य तो किसी भी प्रणाली में संभव है; अत; इसके लिये तो उपरोक्त सुविधाओंके साथ स्वातंत्र्य कायम रखनेवाली प्रणाली पर ध्यान देना उपयुक्त रहेगा।

सर्वोदयवाद

इस वाद वालोंके विचार पहले भले ही कुछ रहे हों किन्तु आज तो ये गुलामीके दाता साम्यवादके आगे आत्मसमर्पण करनेकी ओर बढ रहे है। चूंकि जहां ये बुनियादी तालीम तथा उत्पादन और वितरणकी व्यवस्थामें कौटुंबिक सहकारहीन कुम्हार चमार व बुनकर आदि ग्रामीण कारीगरको व्यवस्थापकोंका गुलाम बना रहे हैं वहीं दानमें प्राप्त गांवोंको भी सरकारी सहायतासे सहकारितामें फंसा कर स्वतंत्र जीवनका नामोनिशान मिटाने जा रहे हैं। शायद इसी तथ्यको लक्ष्य कर कम्युनिस्ट नेता मुखर्जीने सर्वोदय ग्रामव्यवस्थाकी तुलना चीनी कम्यून प्रणालीसे की है।

इस तरह मानव-स्वास्थ्य तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्थाकी रीढ गऊधनकी हत्याके रूपमें होनेवाली मानव हत्याके विषयमें चुप्पी साधनेवाले ये अहिंसा प्रेमी अपने सिद्धान्तोंकी रक्षाके नाम पर चीनी (पाकिस्तानी) राक्षसोंके आक्रमणको आक्रमण कहने या प्रतीकार करनेकी भावना तकका विरोध कर शस्त्रहीन भारतीय समाजको आततायीके आगे आत्म समर्पण करनेको बाध्य कर रहे हैं। अथवा सत्य, अहिंसा व स्वतंत्रताके शत्रु साम्यवादके हाथों अपने महान् सिद्धान्तोंकी हत्या करवा रहे हैं। अगर पन्द्रह सालकी अवधिमें इनके शांतिसैनिक काश्मीर गोवा और तिब्बतवासी बंधुओंको विदेशियोंको अत्याचारी संगीनोंसे मुक्त कर देते अथवा भारत-पाक या भारत चीनसीमावासी बंधुओंके खलिहान, पशु व मनुष्योंका सरेआम अपहरण व लूट रुकवा देते तो संभव है भारतीय-समाज शस्त्रहीन बनकर प्राण दानके बदले प्राणघात करनेवाले गोरी और चंगेजखांको आदर्श माननेवालोंके हाथों अचानक गला घुटवा लेता। पर अब सजग भारतीय समाज महसूस करने लगा है कि सत्य और अहिंसाके सिद्धान्तोंकी रक्षा निर्बल नहीं, बल्कि सबल हाथों द्वारा ही संभव है। अतः सुरक्षा सेनाओंके बदले शांति सेनाका बोझ लदवा लेना उसके लिये असंभव होगया है।

भारतीयसमाज--व्यवस्था

जहां तक भारतीयसमाज-रचनाकी मूलभित्तिका प्रश्न है वह विवाह और व्यवसाय जैसी जीवनकी आधारभूत शिलाओं पर आधारित होनेके कारण विश्वकी अनेकानेक सभ्यताओंका विकास और अंत देख कर युगोंसे अपने मूल रूपमें कायम रही है। चूंकि भारतीय विवाह केवल दो प्राणियोंको पीढियों तक एक सूत्रमें बांधनेवाला पवित्र प्रणय बंधन ही नहीं है, बल्कि संकटमें मददगार बननेवाले दो विशाल परिवारोंके चाचा, मामा, फूफा साला आदि आत्मीयजनोंका मिलनस्थल तथा न्याय, समता व अनुशासन युक्त सामाजिक मर्यादाओंका निर्माण केन्द्र भी है। कारण-शानदार होटलोंमें दी जानेवाली विदेशी मैरेज पार्टियोंके मुकाबले फिजूलखर्ची रहित भारतीय विवाहमें किये जानेवाला जातिभोज जहां आमोद प्रमोदका सस्ता साधन है वहां विवाह तथा अन्य सामाजिक अवसरों पर समाजके प्रत्येक गरीब अमीर आदमीको समान रूपसे बैठने, बोलने, भोजन करने, अपनी समस्या रखने व न्याय देनेके लिये मिला हुआ समानाधिकार समाजमें गरीबी अमीरी जैसी विषमताको मिटानेवाली कड़ी है।

इन विशेषाधिकारोंका ही परिणाम है कि इस देशके प्रत्येक समाजका व्यक्ति युगोंसे सामाजिक न्यायको गंगाकी तरह पवित्र मानकर सामाजिक अनुशासनको खुशीसे मानता रहा है। और भारतीय समाज यूरोपकी तरह गृहयुद्ध-कारी गरीब अमीर आदिके आपसी संघर्षसे मुक्त रहकर न्याय व अनुशासन प्रियताके लिये प्रसिद्ध रहा। इसी तरह कौटुंबिक सहकारके कारण प्रत्येक व्यक्तिको पीढियों तक आर्थिक स्थिरता देनेवाली उद्योग प्रधानजाति व्यवस्थाने जहां देशवासियोंको स्वावलंबी बनाया, वह वहीं सस्ताईके कारण कपडा, हथियार मसाले व कलात्मक वस्तुओंके निर्यात द्वारा देशको मालामाल भी बनाती रही है। इसका परिणाम यहां तक है कि नाई धोबी, लुहार, रंगरेज तथा किसान जैसी अनेक जातियां मुस्लिम व ईसाई धर्म अपनानेके बाद भी अपने धर्मवालोंके साथ रोटी व्यवहार तक ही सीमित रही है। बेटी व्यवहार तो उन्हें आज भी उचित नहीं जंचता।

हालां कि अंग्रेजोंकी कुटिल नीतिसे अनभिज्ञ रईसजादों व समाज सुधारकोंने व्यापारको मुट्ठीभर हाथोंमें और समाजके नेतृत्वको अवसरवादियोंके हाथोंमें सौंप दिया है। किन्तु उसके पर्यायमें उपरोक्त वर्ग-संघर्षके साथ साथ सामाजिक अनुशासनका फौलादी पंजा साम्यवाद उन्हें सबक सिखाने आपहुंचा है। अतः दुनियाभरकी भाग दौडके बाद वे स्थिरबिन्दुके अभावमें फिर गुमराह बन गये हैं। कभी कभी गोंड भील आदि वन्य जातियोंके अनुशासन व न्यायकी तारीफ करके वे सचाईसे परदा जरूर उठा देते हैं पर अपनी भूल सुधारनेमें शायद उन्हें बेइज्जती मालूम पडती है।

जहां तक आम जनताका प्रश्न है वह तो पार्टियोंके बजाय अपनी जातिको ही महत्व देती है। क्योंकि वह देखती है कि उसके पसीने की कमाईसे बनी सरकारी बिल्डिंगें पार्टी नेताओंकी कृपासे पूरी होनेसे पहले ही फट जाती हैं। और शराब, जुआ आदि समाजघाती बीमारियां असभ्यों तक फैलकर समाज कल्याणविभाग और विशेष पुलिसका भत्ता राष्ट्रके मत्थे जबरन मढा जाता है। इसी तरह चन्दों, ठेकों व सरकारी अनुदानों पर जीवित रहनेवाली आधुनिक संस्थामें मुट्ठीभर लोगोंका स्वार्थ साधकर भ्रष्टाचार व नौकरशाहीके खर्च द्वारा समाजपर भार बन रही है।

जबकि जाति संस्थाओंके कार्यकर्ता अपनी कौटुम्बिक सहकारिता व धंदेकी स्थिरताके कारण मुफ्तमें सामाजिक कार्य करने, एक एक पाईका सदुपयोग करने व हर समय हिसाब देनेके लिये प्रख्यात रहे हैं। ऐसी विशेषताओंका ही परिणाम है कि हर समाजका व्यक्ति नौकरी आदि दूसरा धन्दा करते हुये भी सामाजिक अनुशासन स्वेच्छासे पालता है। और कुछ समाज तो प्रस्ताव पास करने मात्रसे जुआ, शराब जैसे व्यसनको छोडकर यह सिद्ध कर चुके हैं कि कानूनकी गिरफ्तसे बचनेवाला व्यक्ति हजारों आंख हाथ व मस्तिष्कवाले सर्व व्यापी समाजकी नजरोंसे नहीं बच सकता। अगर हम जबरनलादे जानेवाले कानूनों के द्वारा निर्मित जन असंतोष व क्रान्ति प्रति क्रांतिसे बचकर वर्ग संघर्ष रहित वातावरणका निर्माण करना चाहते हैं तो हमें इतना परिवर्तन करना जरूरी होगा।

१ सहकार, निर्माण व ममताकी मूर्ति नारीके लिये उचित है कि वह नारीके बिना धार्मिक व सामाजिक कार्य न करने तथा बहु विवाह और दासी प्रथा प्रतिबंधक बिलको सहर्ष स्वीकार करनेवाले भारतीयपुरुषसे स्पर्धा और संघर्ष करनेके बजाय सासबहू, ननद भौजाई व दिवरानी जिठानी के रूपमें नारी द्वारा नारीका शोषण व अत्याचार करनेवाली प्रवृत्तिको महिलासंगठनके जरिये रोकनेका प्रयास करें, ताकि लघु उद्योगवाला उसका अपना कुटुंब आर्थिक सामाजिक व राजनीतिक रूपमें स्वावलंबी इकाई बन जाय और अनिवार्य सैनिक भरतीके बाद भी कौटुंबिक सहकारके कारण उसकी लाडली संतान रोजी रोटीसे मोहताज या गुलामी व बेरोजगारीका शिकार बननेसे बच जाय। इसी तरह सर्जनहार नारीको असंख्य पुत्रोंके रहते रणकी रणचंडी या दफ्तरोंकी मनोरंजक फूलझडी बननेके बजाय जीजाबाईकी तरह आदेश देनेवाली दीप्तिमान मां बननेके लिये सामान्य रूपसे वंशानुगतपेशा, शिशुपालन व स्वास्थ्यकर भोजन की शिक्षा तथा विशिष्टरूपसे चिकित्सक, नर्स व बालिकाओंकी शिक्षिका का पेशा अपना कर बुद्धिमान्, बलवान्, परिश्रमी व रणबांकुरे वीर तैयार करने की जिम्मेदारी लेनी चाहिये, ताकि प्रत्येक भारतीय जन्म देने और पालनेवाली मां और मातृभूमिके आनकी रक्षामें जीवन अर्पण करना अपना प्राथमिक धर्म समझे।

२ उतावले और बावले युवकके लिये सत्ताके बजाय

सेवाके कर्तव्यको अपनाना उचित है ताकि सभीके साथ पक्षपात रहित सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करके कुटुंबको बिखरने न देने तथा पारिवारिक जीवनको सुखमय बनाये रखनेवाले अनुभवी गृह संचालकके अनुभव और फालतू समयका सदुपयोग लेकर सामाजिक व राष्ट्रीय जीवनके आत्मीयताका निर्माण किया जासके और युवकको अपनी अगाधशक्तिके बुद्धिका उपयोग राष्ट्रीय निर्माण कार्यमें लगानेकी सुविधा मिल सके।

३ एक ही धन्देकी अनेकों उपजातियोंके एकीकरणका प्रयत्न करके उनके धन्देको मशीनी स्पर्धासे मुक्त रखा जाय अर्थात् जैसाकि मैंने पिछले लेखमें बताया है + कि देशके लिये बुनकर समाजको मीलके सूतसे धोती, साडी व लुंगी बनानेका काम तथा मिलोंको देशके लिये अन्य कपडा तथा विदेशोंके लिये सभी तरहका कपडा बनानेका काम सौंपने से १००) की मूल पूंजीमें बुनकर परिवारको ५ से १०) रु. रोजकी आमदनी स्वतंत्र रहकर हो सकती है तथा चमार-बंधु आज भी कारखानेवालोंके रबरके जूतोंसे सस्ते व मजबूत चमडेके जूते बेचकर स्वतंत्र रहकर अच्छी आमदनी कर सकते हैं, वैसा ही लाभ अन्य हस्त उद्योगोंमें लगी देशकी ८० प्रतिशत ग्रामीण व शहरी जनता उठाकर अपने जन्मसिद्ध अधिकार स्वतंत्रताका उपभोग कर सके तथा हजारोंकी संख्यामें गिनाई जानेवाली जातियां कुछ दर्शकोंमें सीमित होजाय।

४ इसी प्रकार प्रत्येक समाजकी औद्योगिक व सामाजिक प्रगतिके लिये अखिल भारतीय स्तरपर चुने गये प्रत्येक समाजके प्रतिनिधिको अवैतनिक सरकारी सलाहकार नियुक्त किया जाय, तो अपने धन्धेकी वैज्ञानिक ढंगसे तरक्की व उत्पादन वृद्धि तथा सामाजिक प्रगति आदिकी जिम्मेदारी वे स्वयं ले सकते हैं। अर्थात् विवाह आदि समारोहोंके समय लुहार, चमार, कुम्हार, बुनकर, पशुपालक व किसान आदि समाजके विशेषज्ञ बंधु अपने अनुभवसिद्ध प्रयोगोंकी सूचना अथवा प्रत्यक्ष प्रयोग आदिकी मुफ्त शिक्षा द्वारा समाजको वैज्ञानिक विश्वके बराबर तरक्की करनेका अवसर दे सकते हैं। और जुआ शराब, दहेज, प्रेतभोज अथवा अपने अपने समाजकी हानिप्रद व खर्चीली रूढियोंमेंसे जिसे चाहे क्रमानुसार किन्तु पूर्ण रूपसे हटाकर सुखी, न्यायप्रिय व अनुशासन युक्त समाजका निर्माण कर सकते हैं।

इस तरह जनता और शासनके बीच देशी विदेशी एजंटों-को हटाकर हडताल, अनशन या प्रदर्शनका नामोनिशान मिटानेवाली यह समाज प्रणाली आत्मीयताके साथ समाज-का सर्वांगीण विकास करके स्वयंशासित आत्मनिर्भर समाज का निर्माण कर सकती है, और नौकरशाहीके बहुत बडे खर्चेकी पूर्तिमें बिठाये जानेवाले नित नये टैक्स व महंगाईसे हमें मुक्ति दिलाकर उस जन धनकी शक्तिका उपयोग सुरक्षा जैसे प्राथमिक कार्यों तथा वैज्ञानिक अनुसंधानमें लगानेकी सुविधा दे सकती है। व्यावसायिक वर्गीकरणका सबसे बडा लाभ यह भी है कि इसके द्वारा लोकतंत्रके कलंक अल्प संख्यक शब्दका नामोनिशान मिटाकर देशमें वास्तविक बंधुभाव स्थापित किया जासकता है। चूंकि एक व्यापारी दूसरे व्यापारीको हिन्दू मुसलमान सिख ईसाई अथवा बंगाली मदरासी समझकर नहीं बल्कि व्यापारी समझकर उधार देता है व निजी पूंजीसे आपसी रोटी बेटीकी समस्या हल करता है। इसी तरह मजदूर भी अपने यूनियन बंधुसे इसी प्रकारके बर्ताव द्वारा आत्मीयताका निर्माण करता है। अतः सभी प्रकारसे लाभप्रद ठहरनेवाली इस प्रणाली पर ध्यान देना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है।

जहां तक छुआ छूत और ऊंच नीचके भेदभाव मिटानेका प्रश्न है वह तो रेल मोटरके सह प्रवास, आध्यात्मिक प्रचार और पंचायत तथा राष्ट्रीय सभामें सभी समाजोंके सलाह-कार मंडलोंको स्थान देनेसे हल होसकती है। पुश्तैनीधंदेको हलका बताकर धंदा बदलनेके लिये शिक्षा व नौकरीमें स्थान सुरक्षित करने अथवा गोरी काली जातियोंकी तरह भयंकर भेदभाव खडा करनेसे यह समस्या हल नहीं होगी। चूंकि जब अधिकसे अधिक २ से ३ करोडकी संख्यावाले कुशल वैज्ञानिक, इंजीनियर, चिकित्सक, सैनिक व प्रशासनिक कर्मचारी राष्ट्रको वैज्ञानिक विश्वके बडे राष्ट्रोंकी श्रेणीमें ला सकते हैं। और प्राइमरी शिक्षाके बाद हर समाजके प्रतिभाशाली छात्रको शिक्षा व नौकरीमें विशेष सुविधा और वरीयता देकर प्रत्येक व्यक्तिकी असाधारण प्रतिभाका लाभ राष्ट्रीय हितमें उठाया जा सकता है। ऐसी हालतमें नौकरीको ही एक मात्र तरक्कीका आधार बनाकर कला और स्वतंत्र व्यापारके क्षेत्रसे आमजनताको हटाने तथा गुलामी व बेरोजगारीकी चक्कीमें पीसकर शोषण करने और

+ पांचजन्य ४ फरवरी १९६३, वैदिकधर्म पारडी (सुरत) मई, १९६३, हमारी पुस्तक 'स्वायत्त शासन और एकता'।

नौकरीके लिये आपसमें कुत्तेकी तरह लडाकर हमारा सत्यानाश करवा डालनेवाली अंग्रेजोंकी कुटिल नीतिपर चलनेसे क्या लाभ है ? इसके अलावा जब कि हमारे यहां शैव और वैष्णव संतोंके पूर्व कालसे ही तीर्थ स्थानों, भजनों, प्रवचनों व धार्मिक उत्सवोंमें सभी जातियां आत्मीयताके साथ एकत्र रहती आयी हैं तथा महाराष्ट्र ब्राह्मणोंकी अनेक उपजातियोंका एकीकरण हो गया है, तब हम अपनी सफाई आप करें जातपांत भंग करो आदिकी दिखावटी एकताका नारा देनेवालोंपर कैसे यकीन कर सकते हैं, जो गंदगीवाले शहरोंकी संख्या तो बढा रहे हैं किन्तु लाखोंकी संख्यावाले मेहतर बंधुओंकी बदलीमें सफाई करनेवाले एक हजार परिवार भी तैयार नहीं कर सके ।

लोक तंत्र व समाजवादको सभी प्रकारके भेद भाव नष्ट करनेका रामबाण उपाय बनाकर अरबों रुपयेके साहित्यिक आक्रमण द्वारा भारतीयोंके मन और मस्तिष्कको गुलाम बनानेमें संलग्न विदेशियोंके सहयोगी हमारे प्रगतिशील बंधु चाहे जो कहें लेकिन मानवीय समानता और अन्तराष्ट्रीय मजदूर एकताके नारोंकी पोल खुल चुकी है । चूंकि कानून समानाधिकार देनेवाले लोकतंत्रके गढ अमरीका, ब्रिटेन फ्रांस व जर्मन आदि राज्योंकी नाग्रो, मुस्लिम, हब्शी व यहूदी आदि जनता आज भी भयंकर जुल्मोंका शिकार बनी हुई है । और परतंत्र अफरीका तो क्या स्वतंत्र दक्षिण अमरीका वासियोंको भी लोक तंत्र नसीब नहीं हुआ है । इसी तरह सर्वहाराके जनराज्य हंगरी, पोलेंड, पूर्व जर्मन और तिब्बत सिंकियांग आदिकी आम जनता आज भी विदेशी बूटोंतले कुचली जाती है ।

विशेष क्या आज जब सारा विश्व जनसंख्या वृद्धिसे त्रस्त है तब सारी दुनियाके मजदूरोंके हितोंका ठेका लेनेवाला सोवियत रूस, कनाडा या आस्ट्रेलियाकी तरह यूरोपियनोंकी जगह गरीब देशोंके मजदूरों अथवा जानवरों कीसी जिंदगी बितानेवाले अपने परम मित्र चीनी बंधुओंको निर्जन साईबेरियामें बसानेके बजाय सोवियत नारीको अधिक संतान पैदा करनेको प्रोत्साहन देकर मानवता और अन्तराष्ट्रीय मजदूर एकताके जोरको अपने हाथों बेनकाब कर बैठा है । अतः इन मायावी राक्षसोंकी दिखावटी एकतामें फंसकर राष्ट्रका अहित करनेके बजाय हमें हजारों पीढियोंके अनुभवोंवाली परंपरापर ध्यान देना चाहिये जो हार्दिक एकताद्वारा लोकतंत्री वृक्षकी जडोंको मजबूत बनाकर वादोंके तूफानसे टक्कर लेनेमें हमें परंपरावादी ब्रिटेनसे अधिक समर्थ बना सकती है ।

भेदभाव मिटाकर विभिन्नतामें एकता स्थापित करनेवाली भारतीय परंपराकी विशेषताके कारण ये हैं ।

१ यहां विभिन्न समाजोंको एक ही विराट् पुरुषका अंग प्रत्यंग माना गया है । अतः पैरमें कांटा चुभते ही मुंह द्वारा चीखने और हाथ द्वारा निकालनेकी प्रक्रिया जैसे अपने आप होती है वैसे ही एक दूसरेके पूरक धन्देवाले समाजोंके कारण आपसी सहयोग करनेकी संवेदनशील प्रक्रियाका निर्माण भी अपने आप हो जाता है और इसी कारण पंचोंकी आज्ञा परमेश्वरकी आज्ञाकी तरह पवित्र बन जाती है ।

२ ईमानदारी युक्त प्रत्येक धन्देको ही यहां कुटुंब समाज व राष्ट्ररूपी विराट् प्रभुकी सेवाका आधार माना गया है । इससे जहां व्यक्तिगत उपभोगके लिये कमानेकी आसुरी वृत्ति नष्ट होकर सबके सुखमें अपना सुख माननेवाली दैवी प्रवृत्तिको बढावा मिलता है वहीं धुयेंके कारण भोजन पकानेवाली अग्निको त्याज्य न मानकर जैसे फूंक द्वारा प्रज्वलितकी जाती है वैसे ही केवल ऊंच नीचकी कल्पनाके कारण भोजन देनेवाले प्रत्येक धन्देको त्याज्य न मानकर प्रभुकी आराधनाका माध्यम घोषित कर राष्ट्रीय भूखकी समस्या हल करनेमें मदद की जा सकती है ।

३ गऊ ब्राह्मण हाथी कुत्ते व मेहतरमें एक ही अन्तर्यामीके दर्शन करनेवाले अध्यात्म प्रधान भारतमें अध्यात्म प्रचार द्वारा आत्मीय एकता सहज प्रयाससे स्थापित हो सकती है ।

४ दैवी वृत्ति अपनाने व राक्षसी वृत्ति त्यागनेका परामर्श देनेवाला सत्साहित्य हमारी सभ्यताका सबसे बडा संरक्षक है । शतपथ ब्रा. ५-१-१२ में लिखा है देवता लोग ज्ञान विज्ञान द्वारा प्राप्त वैभवमें सभीका योग मानकर यज्ञ द्वारा लेनदेनके व्यावहारिक तत्वानुसार सभीको उपलब्ध वैभवके उपभोगका समान अवसर देते हैं । इससे उनके समाजकी कठिनाईयां और विपत्तियां कम होकर उनका समाज सुदृढ बलवान् और विजयी होता है । लेकिन जो राक्षस प्रकृति एवं विज्ञानसे प्राप्त साधनोंको निजी शक्तिका फल मानकर अभिमान वश सारी वस्तुओंका स्वयं उपभोग

कर दूसरोंका शोषण करते रहते हैं। इससे आपसी ईर्ष्या, द्वेष, क्रूर कर्म व स्वार्थ-प्रधान दुष्टवृत्तियोंकी वृद्धि होती है। और उनका समाज आपसी कलह मारपीट व लूटखसोटसे जर्जरित होकर दैवी शक्तियोंके सामने पराजित हो जाता है।

दुर्गतिप्रद राक्षसी शक्तियोंका दमन करनेके लिये भारतीय समाज रचनामें दैवी वृत्तियोंको प्राधान्य देनेके कारण ही भारतीय समाज अनेकानेक संघर्षों व सभ्यताओंकी टक्करमें विजयी होता रहा है। और आज भी विदेशी आसुरी प्रणालियोंके संघर्षमें भारतीय समाज प्रणालीकी विजय निश्चित है। चूंकि व्यक्ति और समूह विशेषको सर्वाधिकार देकर आज जनताका गुलामी द्वारा शोषण करने वाले वामपंथी अर्थात् उलटे रस्ते चलनेवाले संगठन चाहे वे सभी वर्गोंके शिरोंको पैरोंतले कुचलनेवाले सर्वहारा छाप समाजवादी हों या समाजके सर्वांगोंका शोषण करनेवाले पूंजीवादी हों, समाजमें विषमता फूट, स्वार्थ, मारकाट व लूटखसोटको प्रोत्साहन देकर राष्ट्रकी शक्ति क्षीण करते हुये स्वयं पराजित हो जाते हैं। दूसरी ओर कुटुंब समाज व पंचायत जैसी सर्वाधिकार संपन्न स्वशासित इकाइयोंके द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रमें आत्मीयताके साथ सम्मानपूर्ण स्वतंत्र जीवनकी गारंटी देकर उसके दैनंदिन जीवनमें कमसे कम राजकीय नियंत्रण द्वारा लाल फीताशाहीके कष्टोंसे मुक्तिवाली स्थितिका निर्माण कर केवल मात्र सभी वर्गोंकी मांग व पूर्तिमें समन्वय करने तथा राष्ट्रकी आन्तरिक व बाह्य स्थिति सुदृढ करने आदिमें ही कुशल राजनीतिज्ञताका उपयोग लेनेवाला दक्षिण पंथी अर्थात् सभीके लिये सरल व सीधा मार्ग निर्माण करनेवाला संगठन जो स्वयं त्याग अनुशासन व आत्मीयताका निष्ठापूर्वक पालन करता हो वही देशमें एकता अनुशासन, संगठन व कार्य करनेकी प्रेरणा शक्ति निर्माण कर राष्ट्रकी औद्योगिक, सैनिक व प्रशासनिक स्थिति सुदृढ कर सकता है।

स्वतंत्रता प्रिय भारतीय समाज एकबार अच्छी तरह समझ जाय कि प्रगतिशीलताके नामपर सामाजिक जीवनमें बेभान छलांगें लगवानेवाले उसके लिये गुलाम, बेरोजगार व मोहताज जीवनका परमिट कटा रहे हैं तो वह स्वयं अपने जन्म सिद्ध अधिकार स्वतंत्रताकी रक्षाके लिये वैधमार्गसे इन आसुरी शक्तियोंका दमन कर देगा तथा ज्ञान और विज्ञान एवं व्यवहार और नीतिमें समन्वय करनेवाली दैवी वृत्ति प्रधान भारतीय परंपराको अपना लेगा, जो कदमसे कदम मिलाकर निश्चित गतिसे आगे बढाती है। वैसे युगानुरूप परिवर्तन करने तथा भूल सुधारनेमें निपुण भारतीय मनीषी सभी प्रकारके समानाधिकार देने या अन्य परिवर्तन करनेके विरोधी नहीं है। विरोध केवल उन आसुरी शक्तियोंकी वृद्धिसे है जो पराजित होनेके समय तक आपसी कलह द्वारा राष्ट्रीय शक्ति क्षीण करती रहती है। अतः दक्षिण पूर्व एशियामें सिमटते हुये पश्चिमी लोक तंत्र और बढती हुई फौजी या साम्यवादी तानाशाही अथवा चीन व पाकिस्तान सरीखे निर्दयी, धोखेबाज व बलात्य राष्ट्रोंके मुकाबलेके लिये स्वेच्छासे संगठित श्रम व बलिदानकी प्रेरणा देनेवाली दैवी शक्तिको प्रोत्साहन देनेके निमित्त हमें अपने मार्गपर अथवा जीवन मूल्योंपर पुनर्विचार करना कितना जरूरी है यह बात सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति भी बता सकता है।

इस विषयमें हम विश्वके दो महान् राष्ट्र नायकोंके उदाहरणोंसे भी प्रेरणा ले सकते हैं। इनमें एक है स्वतंत्र भारतके प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जिन्होंने अपने पदके बिदाई समारोहमें कहा था हमारी मूल भूत संस्कृति और परंपराने ही हमें जीवित राष्ट्रके रूपमें कायम रखा है। इसलिये मूल संस्कृति और परंपराको संजोकर रखनेका प्रयत्न होना चाहिये। विदेशी विचारोंको ग्रहण करना अच्छा है। लेकिन अपनी अच्छी चीजोंको हटाकर विदेशी विचारोंको ग्रहण करनेकी कोशिश नहीं होनी चाहिये।

दूसरे है आधुनिक चीनके निर्माता डॉ. सनयातसेन जिनके विषयमें चीनी मामलोंकी अमरीकी विशेषज्ञ श्रीमती एस. पर्लबकने कहा है कि चीनी जनताको पश्चिमाभिमुखी बनाने तथा अन्तमें पश्चिमसे भी धोखा होनेपर साम्यवादकी पाशविक गोदमें झोंकनेकी मूर्खतापूर्ण कार्य बाही करनेके लिये वे ही जिम्मेदार हैं।

आशा है राष्ट्रके सर्वांङ्गीण विकासके लिये तन, मन, धन अर्पण करनेवाले आदरणीय समाज सुधारक बंधु एवं प्रबुद्ध भारतीय समाज समय रहते हुकुमका गुलाम बनानेवाले साम्राज्यवादियोंके षड्यन्त्रको विफल बनाकर अनुशासित, संगठित व सर्वाधिकार संपन्न समाजके निर्माणमें लग जायेंगे ताकि शक्ति व न्याय नीति संपन्न भारतकी ओर आंख उठानेका दुस्साहस कोई भी सिर फिरा राष्ट्र न कर सके। और हमारा कुटुंब विश्व कुटुंबकी स्थापनामें सफल इकाई बना रहे।

रुद्रदेवता-विज्ञान

(लेखक— श्री रणछोडदास ' उद्धव ', संचालक- श्रीरविधाम केन्द्र, महिदपुर)
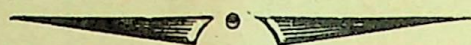
भक्त लोग वैदिक रुद्रसूक्तका पाठ करते हैं और इससे शंकर पर अभिषेक भी करते या करवाते हैं। रुद्रसूक्त बहुत ही महत्वका है। इसका वास्तविक अर्थ समझ लेनेसे शंकर भगवान्‌का साक्षात्कार हो सकता है और उनकी यथार्थ भक्ति अर्थात् सेवा हो सकती है। ऐसा ही पुरुष-सूक्त भी है। इसीलिए इनका पूजन, अभिषेक और स्तुति-पाठ- आदिमें विनियोग मिलता है। पुरुषसूक्तकी महत्ता तो इससे भी ज्ञात हो जाती है कि वह चारों वेदोंमें मिलता है। किन्तु उसका अर्थ गहन है। रुद्रसूक्तमें पुरुषसूक्तका विस्तृत भाष्य हुआ है। परन्तु वेदविज्ञानका लोप हो जानेसे रुद्रसूक्तका भी वास्तविक अर्थ ज्ञात नहीं होता और भक्त रुद्र देवके साक्षात्कारसे बहुधा वंचित ही रहते हैं, अतएव रुद्रसूक्तका संक्षिप्त वैज्ञानिक परिचय दिया जाता है।

रुद्रदेव ३३ वैदिक देवताओंमें गिने गये हैं: ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अन्न और अन्नाद; इन पञ्चब्रह्मोंमें सबसे अंतका ब्रह्म ' अन्नाद ' है। अग्नि तत्वको ही अन्नाद कहा जाता है। ' अग्निः सर्वा देवता ' के अनुसार अन्नाद-अग्नि ही ३३ देवताका मूल आधार है। अतएव सब देवता-ओंके लिए अग्निमें ही आहुति दी जाती है। अग्नि ही देवताओंका मुख है।

अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्।

इस निगमके अनुसार यह प्रजापति- अग्नि अमृत और मर्त्य भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। अमृत-अग्नि प्राणाग्नि नामसे और मर्त्याग्नि भूताग्नि नामसे प्रसिद्ध है। यज्ञपरिभाषानुसार अमृताग्निको ' चितेनिधेयाग्नि ' और मर्त्याग्निको ' चित्याग्नि ' कहा जाता है। भूत रूप मर्त्या-ग्निसे भूपिण्डका निर्माण हुआ है। १ अप, २ फेन, ३ मृत (कीचड), ४ सिकता, (छोटी रेती), ५ शर्करा (बडी रेती), ६ अश्मा (पत्थर), ७ अय (लोहा) और ८ हिरण्य (सुवर्णादि धातुएँ); इन आठ चितियोंमें परिणत होकर वह मर्त्याग्नि भूपिण्डमें परिणत हुआ है, अतएव इसे ' चित्याग्नि ' कहते हैं।

दूसरा अमृत- अग्नि या प्राणाग्नि भूकेन्द्रमें उक्थरूपसे रहता है और अर्क (रश्मि) रूपसे पिण्डसे बाहर निकल कर अपना एक स्वतंत्र मण्डल बनाता है। जहाँतक वह अमृत-अग्नि व्याप्त रहता है, वहाँतकका अमृताग्नि मण्डल ' महिमा पृथिवी ' नामसे प्रसिद्ध है। चयनाग्नि परि-भाषाके अनुसार चित्याग्निमय भूपिण्ड ' कृष्णाजिन ' कहलाता है, और चितेनिधेयाग्निमय भूमण्डल ' पुष्पक-रपर्ण ' नामसे प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णरूप महिमा-मण्डलमें व्याप्त रहनेवाले अग्निकी क्रमशः- घन, तरल और विरल ये तीन अवस्थाएँ क्रमशः- अग्नि, वायु और आदित्य नामसे प्रसिद्ध हैं।

भूपृष्ठके मण्डलकी सीमातक व्याप्त रहनेवाले प्राणा-ग्निके तीन विभाग करनेसे धनाग्निकी घन अवस्थाके तार-तम्यसे ८ अवयव माने जाते हैं। अग्निके ये ही आठ अव-यव आठ वसु हैं। मध्यके तरलस्तरकी भी तरलताके तारतम्यसे ११ अवस्थाएँ हैं, ये ही ११ रुद्र हैं, और अन्तके विरलस्तरकी विरलताके तारतम्यसे १२ अवस्थाएँ हैं, ये ही १२ आदित्य हैं। इन तीन अवस्थाओंमें २ संधि के प्राणोंका उदय होता है, उन्हींको अश्विन कहते हैं, यों सब मिलाकर ३३ देवता हो जाते हैं।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।

(रुद्रसूक्त १।७)

इस वेदवचनके अनुसार ताम्र (तांबे जैसे रंगवाला), अरुण, पीले रंगवाला सुमंगल निगमवेदात्मक पिता सूर्य-

नारायण साक्षात् ' रुद्र ' हैं । ये अपने प्रचण्डतेजसे विश्वमें प्रदीप्त हैं । ये ही सूर्य वेदशास्त्रमें ' क्षत्ररुद्र ' हैं और सहस्ररूपसे सूर्यके प्राण ही ' विट्रुद्र ' (प्रजारुद्र) हैं। क्षत्रात्मक उक्थरूप मूल रुद्रको लक्ष्य बनाकर जहाँ रुद्र तत्त्ववेत्ता महर्षि- ' एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः ' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।२) यह कह रहे हैं, वहाँ वे ही वैज्ञानिक ' सहस्राणि ये रुद्रा ' (य. १६।१ रुद्रसूक्त) यह कहते हुए उनके रश्मिरूप विड्भावात्मक असंख्य रुद्र-भावोंकी ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं ।

अनन्त रश्मिरुद्रोंसे युक्त क्षत्ररुद्रात्मक सूर्यरूपी अग्नि-रुद्रके- ' अग्निर्वा रुद्रः । तस्यैते द्वौ तन्वौ घोरान्या च शिवान्या च ' के अनुसार घोर और शिव के भेदसे दो शरीर माने गये हैं । अपने शरीरमें भी वैश्वानर- अग्नि चार प्रकारके अन्न खाकर घोररूपको त्याग कर शिव रूप बन जाता है । शरीरमें इसकी गर्मीका अनुभव स्पर्श कर-नेसे होता है ।

रुद्र यज्ञिय देव हैं । ये प्राणाग्निरूप होनेसे इनमें सोम-रूपी जलकी आहुतिरूपी अभिषेकसे रुद्र (रोनेवाले अग्नि) शांत- शिवरूप हो जाते हैं और भक्तोंका कल्याण करते हैं । रुद्र देवका प्राणाग्निरूप याद रखिए और रुद्र सूक्तके विश्वरूप रुद्रका घन, तरल और विरलरूपसे विचार करिए, आपको सर्वत्र रुद्रका साक्षात्कार होगा ।

राष्ट्र रक्षा — एक विचार

(लेखक— श्री रवीन्द्र अग्निहोत्री एम्. ए., बी. टी., लोधपुरवा, नौबस्ता, लखनऊ)

★

'जयेम सं युधि स्पृधः'

हे भगवान् ! हम युद्धमें शत्रुपर जय प्राप्त करें। शत्रुका पराभव करें।

हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री श्री नेहरूजीने एक बार कहा था— 'आजादीके लिए देशकी हर पीढीको नए सिरेसे लडाई लडनी होती है।' यों तो यह एक ऐसा सत्य है जिससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता, पर आजकी परिस्थितिमें इन शब्दोंका महत्व और भी बढ गया है। आज अपनी स्वतंत्रताको स्थिर बनाए रखनेके लिए हमें दोहरा युद्ध लडना पड रहा है— एक, विदेशी आक्रांतासे अपनी सीमाकी रक्षाके लिए; दूसरा, राष्ट्र निर्माणके लिए।

चीन देशसे हमारा संबंध जितना निकटका है उतना ही पुराना भी। हमने उसे ज्ञान की भिक्षा दी, धर्मका उपदेश दिया। जब वह विपद्ग्रस्त था और हम परतंत्र थे उस समय भी अपना कर्तव्य समझकर हमने सद्भावनाके रूपमें चिकित्सक दल भेजा, जिसके नेता डॉ० द्वारकानाथ कोटनीसने चीनके वर्तमान प्रधानमंत्री चाउ-एन-लाइ की भी चिकित्साकी थी। राष्ट्र संघमें चीनके प्रवेशका पक्ष करनेमें हम विश्वके तमाम राष्ट्रोंसे दुश्मनी मोल लेते फिरे। उसी चीनने हमारे सारे उपकारोंको ताकमें रखकर, 'हिंदी चीनी भाई-भाई' के नारेको जूते की ठोकरसे मार कर, बुद्धके विकास, संस्कृतिका केन्द्र, प्रेरणाका स्रोत गुरुधाम— सभीकुछ भुलाकर अप्रत्याशित बर्बर आक्रमण करके जहां अपने नैतिक दिवालियेपनका प्रमाण प्रस्तुत किया, वहां उसके आक्रमणने हमें हमारी सीमाके प्रति सजग भी बना दिया है।

जैसा कि श्री नेहरूजी ही अनेक बार कह चुके हैं, चीनसे हमारा युद्ध केवल दो देशोंका युद्ध नहीं, दो सिद्धांतोंका युद्ध है। हम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से पूर्ण निष्ठा रखते हैं जबकि चीनका इसमें किंचित विश्वास नहीं। उसकी विस्तारवादी आक्रामक नीतिका भंडाफोड हो चुका है। इसलिए संभव है कि इस झगडेका निपटारा दस-पाँच वर्षमें भी न हो और अनिश्चित काल तक युद्ध चलता रहे। अतः इस संघर्षके लिए हमें क्षणिक नहीं, पूर्ण और स्थायी तैय्यारीकी आवश्यकता है।

वैदिक धर्मके इस सिद्धान्त पर कि वेद सब सत्य विद्याओंकी पुस्तक है, किसी विद्वानको आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तर्क, प्रमाण और परीक्षणसे यही सिद्ध हुआ है कि मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा वेद प्रदत्त ज्ञानका विकास कर सकता है, पर मूल सिद्धान्त सर्वदा, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे वेदसे ही लिया जाता है। इस समय तक कोई विद्वान् ऐसा कोई भी आविष्कार नहीं कर सका है जो सत्य हो और उसका मूल सिद्धान्त वेदमें न हो। उदाहरणके लिए-चिकित्सा जगत्को लीजिए, जिस क्षेत्रमें आधुनिक विज्ञान वेद मार्गसे पृथक् अपने स्वतंत्र अस्तित्वके रूपमें बहुत आगे बढ जानेका दावा करता है। जितनी सफल चिकित्सा विधियाँ इस समय प्रचलित हैं जैसे-औषधि चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा मानसिक चिकित्सा आदि, इन सबका वर्णन वेदमें मिलता है। अंतर केवल इतना है कि इनमेंसे किसी एक विधिके पोषक उसी विधिको चिकित्साका सर्वांग मानकर दूसरी पद्धतियोंका विरोध करते हैं; पर वेदका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ये अनेक विधियाँ चिकित्साका अंग हैं और जहाँ जिस रोगमें जिसकी उपयोगिता है वहाँ उससे कार्य लिया जावे।

इसी आधार पर मेरे पूज्य पिताजी (स्व० डा० कुन्दन लालजी अग्निहोत्री एम्० डी०, मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम) क्षय जैसे घातक और आधुनिक विज्ञान द्वारा असाध्य घोषित रोगकी अचूक 'यज्ञ-चिकित्सा'

का आविष्कार सके थे, जिसकी सफलताको तर्क, प्रमाण और प्रत्यक्षकी कसौटी पर कस लेनेके बाद आज अमेरिका के उच्चकोटिके डाक्टरोंने भी गैस-ट्रीटमेंटके नामसे टी० बी० की सर्वोपरि चिकित्सा माना है। अस्तु। पर इस समय लोगोंने वेदका स्वाध्याय बंद कर दिया है और उसके तथा उससे भिन्न फैले ज्ञान और अपनी बुद्धिको ही पर्याप्त समझा है; अतः हमारा ज्ञान त्रुटि रहित नहीं रहा। साथ ही वेदका जो सिद्धांत आज संसारमें प्रसिद्ध नहीं उसकी खोजमें हम हजारों ठोकरें खाते हैं फिर भी उस स्थान पर नहीं पहुंच पाते, जहाँ हम वेदकी सहायतासे बडी सुगमतासे पँहुच सकते थे।

युद्ध विद्याके संबंधमें भी यही बात है। यद्यपि २० वीं शताब्दीमें आधुनिक विज्ञान द्वारा युद्धके लिए अस्त्र-शस्त्रों के निर्माणमें पिछले कुछ ही समयमें इतनी प्रगति हुई है कि इससे पूर्वके शस्त्रास्त्र हजारों साल पुराने लगने लगे हैं, अतः राष्ट्र रक्षाके लिए हमें आधुनिक अस्त्र शस्त्रोंसे अपने देशके सैनिकोंको सजाना परम आवश्यक हो गया है। इसके लिए हम जहाँ विदेशोंसे युद्ध सामग्रीका क्रय कर रहे हैं वहाँ अपने देशमें उनके निर्माण की व्यवस्था भी की जा रही है, तथापि, वेद और वेदाश्रित ग्रंथोंके आधार पर यदि नवीन शस्त्रास्त्रोंके निर्माणका खोजकार्य किया जाय, तो एक बार पुनः वैदिक सिद्धांतोंका जयघोष विश्वमें गूँज सकता है।

वेदमें सूचीव्यूह, वज्रव्यूह, सर्पव्यूह, दण्डव्यूह, शकट-व्यूह, मकरव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनासंचालनकी जिन विधियोंका उल्लेख है उनमेंसे अनेक विधियोंका आधुनिक विश्वको पता भी नहीं। वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, मोहनास्त्र आदि अस्त्र और अनेक प्रकारके शस्त्रोंके निर्माणकी कलासे आजके वैज्ञानिक सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यदि इन शस्त्रास्त्रोंका और इनके आधार पर आधुनिक विज्ञानके उन्नत साधनोंकी सहायतासे अन्य शस्त्रास्त्रोंका निर्माण कर लिया जाय, तो ये अणुबम और हाइड्रोजन बम आदिसे भी अधिक काम की चीजें होंगी। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णनूने गर्वसे कहा था कि भारत अब एटम बम बनानेमें समर्थ है। हम और भी गर्वसे कह सकेंगे कि विश्वका विनाश न करनेवाली पर एटम बम विजयिनी शक्तियोंका निर्माण करनेमें हम समर्थ हैं। चीन हमारे शस्त्रोंको देखकर दंग रह जायगा। सारा विश्व दाँतों तले अँगुली दबा लेगा और फिर हमारी जीत हमारे ही हथियारोंसे सुनिश्चित है।

इस अभियानके श्रीगणेशका उत्तरदायित्व उन सबके कंधों पर विशेष रूपसे है, जिनके दिलमें इस देशके लिए दर्द है, जिनके हृदयमें इस देशकी संस्कृति और वैदिक धर्मके लिए श्रद्धा है, जो विश्वको ओ३म् शांतिः शांतिः का पाठ पढाना चाहते हैं, जो अपनेको उनका उत्तराधिकारी मानते हैं जिन्होंने देशका नेतृत्व किया, सांस्कृतिक पतनकी बेलामें, सामाजिक ह्रासके कालमुखमें, राजनीतिक पराभव-में, जिन्होंने स्वाधीनता संग्रामकी अग्रिम पंक्तिमें खडे होकर अपनी छाती संगीन की नोक पर रख दी, जिन्होंने अपने वक्षस्थल पर लाठीके वार सहे, जिन्होंने स्वतंत्रता देवीकी प्राप्तिके लिए अपने जीवनका उत्सर्ग कर दिया; जो अपने जीवनकी सफलता सभी प्रकारके पारतन्त्र्य पाशों को छिन्न भिन्न कर आर्यत्वकी प्रतिष्ठा करनेमें मानते हैं।

यदि सरकारके वरिष्ठ अंगोंके समक्ष यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाय और उन्हें क्षयरोगकी अचूक यज्ञचिकित्सा जैसी चीजोंके प्रत्यक्ष प्रमाण स्मरण करा कर वेदवाणीकी सत्यता पर पूर्ण विश्वास करा दिया जाय और इस बात पर बल दिया जाय कि हमारी राष्ट्रीय सरकार वर्तमान संकटको ध्यानमें रखते हुए वेदके आधार पर शस्त्रास्त्रोंके अनुसंधान और निर्माणके लिए सब प्रकारके आवश्यक उपकरणोंसे युक्त अनुसंधान केन्द्रकी स्थापना करे, और इसकी सफ-लताके लिए वेदके विद्वानोंका संगठन गठित करके आधु-निक विज्ञानको वैदिक विधिकी सहायतासे उन्नत करे, तो यह संघर्ष चाहे कितने समय चले, हमारी विजय सुनिश्चित हो जायगी और हम समस्त विश्वको वैदिक धर्मकी पावनी शीतल पताकाकी शरणमें ओ३म्के झण्डे तले लाकर कृण्व-न्तो विश्वमार्यम्का आदर्श पूर्ण करनेका एक महत्वपूर्ण चरण पूरा कर सकेंगे।

गौ री

[डॉ. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

[गताङ्कसे आगे]

द्विपदी— दो पैरवाली गौ कहीं देखी सुनी नहीं जाती। यह तो प्रतीकात्मक कल्पना है। इसका अभिप्राय यह है कि एक अमूर्त विश्वातीत ब्रह्मकी शक्ति विश्वरचनाके लिए सापेक्ष भावमें आ जाती है। यही विश्वका द्वैत या द्विविरुद्ध-भाव है। अमृत और मृत्यु, दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, सृष्टि और प्रलय, अमूर्त्त और मूर्त, अनिरुक्त और निरुक्त, देव और असुर, जन्म और मृत्यु, प्राण और अपान, स्त्री और पुरुष, सब कुमार और कुमारी द्विपदीय गौके रूप हैं। एकका द्वितभावमें आना यही सृष्टि है। पुराणोंमें इसे ही 'हिरण्याण्ड' या सोनेके अंडेको दो शकल या भाग कहा गया है। एक भागसे द्युलोक और दूसरे भागसे पृथ्वीकी कल्पना होती है। अतएव द्विपदीय वाक् या गौका सर्वोत्तम प्रतीक द्यावापृथिवी है। द्यौ पिता, पृथ्वी माताके अनुसार द्यावा–पृथ्वी विश्वके माता–पिता हैं और वे ही स्त्री–पुरुषरूपी द्वन्द्वके प्रतीक हैं। ऋग्वेदमें इसे ही यों कहा गया है कि कोई एक विलक्षण अजन्मा अज एक तत्त्व है।

अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्। ऋ. १।१६४।६

वह विलक्षण दो टुकडोंमें बँट जाता है। एक परार्द्ध दूसरा अवरार्द्ध (ऋ. १।१६४।१२)। इसे ही प्राचीन परिभाषामें 'परावर विद्या' कहा जाता था। परार्ध पुरुषका क्षेत्र है और अवरार्ध प्रकृतिका, दोनोंके सम्मिलनसे ही ब्रह्माण्डका स्वरूप पूरा होता है। यही गौरी वाक्का द्विपदीय भाव है अथवा इसे यों भी कह सकते हैं, कि जो परमेष्ठी लोकमें गौरी है, उसीका सूर्यलोकमें व्यक्त रूप गौ है। गौरी और गौ इसी द्वन्द्वसे द्विपदीय वाक्का रूप बनता है। इन्हीं दो अर्धभागोंको यों भी कल्पित किया गया है—

अर्धेन विश्वम् भुवनं जजान
यदस्यार्द्धं क्व तद् बभूव। अथर्व. १०।८।७

और भी १०।८।१३ का यहां इस प्रकार पाठ-भेद है—

यदस्यार्धं कतमः स केतुः। ११।४।२२

इसका तात्पर्य यह है कि एक अर्धसे समस्त विश्व सींचा गया। जो दूसरा अर्ध भाग शेष रहा उसका कौनसा चिह्न यहां शेष है? इसीको ऋग्वेदमें यों कहा है—

भूय इद् वावृधे वीर्याय
एको अजुर्यो दयते वसूनि।
प्र रिरिचे दिवः इन्द्रः पृथिव्या
अर्धमिदस्य प्रति रोदसी उभे॥ ऋ. ६।३०।१

अर्थात् जब इन्द्र अपने महिमा भावमें संवर्द्धित हुआ और उसने अष्टवसुओंका विस्तार किया, तो उसके अर्धभागसे द्यावापृथिवीरूप रोदसी ब्रह्माण्डका निर्माण हुआ। पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतकके विस्तारतककी संज्ञा 'रोदसी' जगत है। इसे रोदसी क्यों कहते हैं? इस प्रश्नका उत्तर है कि वह रुद्ररूपी अग्निका संसार है अर्थात् उसमें अग्नि 'अशाया' या 'बुभुक्षा' के कारण रौद्ररूप ग्रहण करता है और फिर अन्नकी आहुतिसे शांत भावमें आ जाता है। अग्निके रुद्ररूपको 'शतरुद्रीय' और सोमसहित रूपको 'शांतरुद्रीय' कहते हैं। द्यावापृथ्वीके बीचमें कोई भी प्राणाग्निका ऐसा केन्द्र नहीं है, जिसे अन्नद्वारा शांत करनेकी आवश्यकता न हो। अन्न या सोमके बिना अग्नि घोर होता है और वही अन्न संभरणसे अघोर, शांत या शिव बन जाता है। इसी कारण द्यावापृथ्वीकी रोदसी संज्ञा है। यह रुद्रकी सृष्टि है। इसका स्वरूप अर्धनारीश्वर या अग्निसोमात्मक है। इसीलिए यहां प्रत्येक प्राणी या पशुको अग्निसोमीय कहा जाता है। अर्धकी इस व्याख्याको ध्यानमें

रखकर निम्नलिखित क्लिष्ट मन्त्रका अर्थ समझा जा सकता है—

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो।
विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ऋ. १।१६४।३६

अर्थात् अर्धके सप्त पुत्र हैं वे ही भुवन या विश्वके बीज हैं। वे विष्णुके अनुशासनसे पृथक्-पृथक् धर्मोंमें स्थित हो रहे हैं। अर्धके ये सात पुत्र कौनसे हैं? एक मन, प्राण और पंचभूत यही विश्वात्मक अर्धके सात गर्भ या पुत्र हैं। इनसे समस्त विश्वकी रचना होती है। अतएव इन्हें 'भुवनस्य रेतः' या विश्वका बीज कहा गया है। किन्तु इनके इस स्वरूपमें आनेका हेतु क्या है? उसका उत्तर है विष्णुका त्रेधा विधानसे मन, प्राण और वाक्के विविध भावमें आता है और 'वाक्' या पंचभूतोंकी गणनासे तीनके ही ७ रूप हो जाते हैं एकसे तीन और तीनसे सप्तधा विभाग। यही विश्वकी रचना है। इस प्रकार यह वेदकी अर्ध विद्या या परावर विद्या कई प्रकारसे कही गयी है। वह भी स्मरणीय है कि जिसे अर्ध कहा गया है वही पूर्ण है। प्रत्येक अर्ध अपने आपमें पूर्ण है और परस्पर सापेक्ष भी है। एक तत्वको यदि विष्णुकी गति न मिले तो वह कभी तीन या सात नहीं बन सकता। इन सातको ही विष्णुके सात धाम कहा जाता है—

भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्।

और तीन पदकी संज्ञा ही तीन लोक है। तीन लोक और सप्त लोक एक दूसरेके साथ ओतप्रोत हैं।

सृष्टिके मूलभूत द्वन्द्वोंका कुछ उल्लेख नासदीय सूक्तमें आता है जैसे—

सत्, असत्, अमृत, मृत्यु, अहोरात्र, प्रयति, स्वधा, परस्तात्, अवस्तात्। पुरुष सूक्तमें इस द्वन्द्वके लिए त्रिपाद, एकपाद्, ऊर्ध्व, इह आदि प्रतीक हैं। इसी द्वित्वभावको अदिति, दिति (ऋग्वेद ५।६२।८) लिखा है और अथर्ववेदमें ऋत्, सत्य (ऋ. १०।१९०।१) प्राण, अपान (ऋ. १०।१८९ २,) अज, रजस् (ऋ. १।१६४।६) आदि नामोंसे कहा जाता है।

इन दो मूलभूत भावोंको एक दूसरेसे पृथक् रखनेवाला तीसरा भाव अन्तरिक्ष कहलाता है। अतएव जो द्विपाद् तत्व है, वही सृष्टिकी सत्तामें त्रिपाद् कहलाता है। यहां भी दो भाग हैं। वहीं इनका विभाजक बिन्दु भी अवश्य है वही अन्तरिक्ष है। उपनिषदोंके अनुसार प्राण और अपानके संघर्षणके मध्यका ध्रुव बिन्दु या व्यान कहा जाता है। ध्रुव होनेके कारण ही व्यानको अविचालीय अश्मावरण कहते हैं। वाक्के इसी त्रिककी संज्ञा भूर्भुवः स्वः नामक तीन व्याहृतियां हैं। द्वितीय वाक्यके संबंधमें यह भी कहा जासकता है, कि इसका एक पद स्थाणु या स्थितिशील है और दूसरा चरिष्णु या संचरणशील है। स्थाणु एक है और चरिष्णु अनेक हैं। इन्हें ही एक रुद्र (एक रुद्रः नः द्वितीयः तस्थे) और असंख्य रुद्र (असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां- यजु. १६।५४) कहा जाता है। इसीके लिए एक दूसरी कल्पना जलके बीचमें खड़े हुए हंसकी है। जो एक पैर चलनेके लिए उठाता है और दूसरा स्थिर रखता है—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
अ. ११।४।२१

चतुष्पदी— चार पैरकी गौरीका स्वरूप तो स्वाभाविक है। ऋग्वेदमें कहा भी है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः,
गुहा त्रीणि निहिता। (ऋ. १।१६४।४५)

यहाँ तीन पैरोंको गुहा निहित या अव्यक्त कहा गया है। ये ही त्रिपाद अमृतका लोक है, जो पूर्वार्द्ध या पुरुषका क्षेत्र है। चौथी वाक् मानुषी या वैखरी है जो दृष्ट, स्थूल या विश्वात्मक है। यह वही तत्व है, जिसे चतुष्पदी पुरुष या चतुष्पाद ब्रह्म कहा जाता है। इसका त्रिपाद् अमृत और एकपाद् मर्त्य या विश्वभुवन है। किन्तु यदि हम नीचेसे ऊपरकी ओर विचार करें, तो यह विश्व ही त्रिपाद्के रूपमें दिखाई पड़ता है और जो विश्वातीत है वह शुद्ध एकपाद् रह जाता है। व्याकरण दर्शनमें पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी ये वाक्के तीन मर्त्य रूप हैं और परावाक् अमृत रूप है।

वाक्को त्रयीमयी धेनु भी कहा जाता है। इसके चार स्तन हैं। एकका दूध ऋषि, दूसरेका देवता, तीसरेका पितर और चौथेका मनुष्य पीते हैं। एक थनकी संज्ञा 'वषट्कार' है, जिसे ऋषि पीते हैं। दूसरा 'स्वाहाकार' है, जिसे देवता पीते हैं। तीसरा 'स्वधाकार' है, जिससे पितर तृप्त होते हैं। चौथा 'हन्तकार' है,

जिससे मनुष्य तृप्त होते हैं। यह स्मरणीय है कि ऋषि छन्द या वेद मनस तत्वका प्रतीक है। देव प्राणका और पितर पंचभूतोंका। ये तीनों अलग-अलग रहें, तो सृष्टि कार्यमें समर्थ नहीं होते। अतएव इन तीनोंके सम्मिलित या संगति भावसे पुरुषका निर्माण होता है, जिसे पोषण देनेवाला चौथा स्तन 'हन्तकार' कहा गया है। हन्तकारमें तीनोंका दूध एक साथ आता है। 'स्वधा' वह तत्व है, जिसे माता और पिता मिलकर भूतोंका आह्वान करते हैं और उसीसे भौतिक शरीर बनता है। इसी प्रक्रियाकी संज्ञा 'स्वधा' है। वह स्थूल अन्न भोजनसे ही सम्पन्न होता है। केवल प्राणकी प्रक्रिया 'स्वाहा' है उसमें प्राण का त्याग या व्यय यही मुख्य है। इसीलिए उसे 'स्वाहा' कहते हैं। यह शक्तिका कार्यानुगामी रूप है। कोई भी कार्य किया जाय उसमें शक्तिका-व्यय ही होता है, संचय नहीं। किन्तु अन्न या सुधासे शरीरका भूतभाग या अन्न-भाग पुष्ट किया जाता है। प्राणकी क्रिया भी भूत या अन्नसे ही समृद्ध होती है। अतएव कहा गया है कि पितरोंसे देव सृष्टिका जन्म होता है।

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देव मानवाः।

तीसरा 'वषट्कार' का नियम है, जिसका संबंध अविभक्त ऋषि प्राणसे है। एक ऋषिप्राण अपने भीतरसे छह ऋषियोंकी सृष्टि करता है वह षट्कार है। मूल ऋषि मन है उसीसे प्राण और पंचभूत ये अन्य छह ऋषि या प्राणात्माके स्पन्दन उत्पन्न होते है। इनके पीछे वाक्की शक्ति कार्य करती है। एकाक्षरा वाक् सप्त छन्दोंके रूपमें परिवर्त्तित होती है।

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः, (ऋ. १।१६४।२४)

अष्टपदी— अष्टपदी गौकी कल्पनाका मूल आधार आठ संज्ञा है। अघ्न्या गौको 'वसुपत्नी' कहा गया है— अर्थात् वह आठ वसुओंका पालन करनेवाली माता है।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां। ऋ. १।१६४।२७

आठ वस्तुओंका सम्मिलित रूप ही गौका वत्स है। गौ उस बछडेसे मिलनेके लिए और उसे अपना दूध पिलानेके लिए सदा ललकती है। वाक् गौ है और अग्नि उसका वत्स है। ऋग्वेदमें अग्निको ऋतका प्रथमजा कहा है। अथर्ववेदके अनुसार ऋतके प्रथमज तत्व आठ हैं (८।९।२१) अर्थात् एकमन, दो प्राण-अपान और पांच भूत ही आठ वसु हैं। जिनके बिना कोई भी अभिव्यक्ति नहीं होसकती। इन आठ वसुओंसे ही शरीर रूपी वस्त्र बनता है—

वासयन्ते ते यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति (शत. ११।६।३।६)

इन आठ वसुओंको ही अग्निके आठ रूप कहा गया है, पाँच भूत, दो प्राण-अपान और एक मन जब एक साथ मिल जाते हैं तब जो नई सृष्टि होती है उसी की संज्ञा कुमार है। पुराणोंमें इन आठ वसुओंको ही शिवकी अष्ट मूर्तियां कहा कहा है, जैसा कि कालिदासने अभिज्ञान शाकुंतलके मंगल श्लोकमें कहा है। ये आठ मूर्तियां इस प्रकार हैं—

१ पृथ्वी (यामाहुः सर्वबीज प्रकृति)
२ जल (या सृष्टिः स्रष्टुराद्यः)
३ अग्नि (वहति विधिहुतं या हविः)
४ वायु (यया प्राणिन प्राणवन्तः)
५ श्रुति (विषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्)
६ सूर्य प्राण-छन्द } ये द्वे कालं विधत्तः
७ चन्द्र अपान-हिम }
८ मन यजमान= (या च होत्री) (मन एव यजमानः)
(शत. १२,८।२।४)

इन आठ मूर्तियोंके सम्मिलनसे ही वह भौतिक पिंड तैयार होता है, जिसे गीतामें अपरा प्रकृति कहा है। उस अपरा प्रकृतिका सम्पर्क जब पुरुषसे होता है, तब उसमें प्राणकी प्रतिष्ठा हो जाती है। भौतिक प्रकृति क्षर है और उसमें आनेवाला प्राण अक्षर है। आठ वसुओंकी अपरा प्रकृति क्षर पुरुषका ही रूप है।

नवपदी— नवपदी गौकी कल्पना नौ संख्या पर आश्रित है। नौ अंकोंमें सबसे बडी संख्या है। नौके बाद पुनः १ और शून्यसे आरंभ किया जाता है इस प्रकार विश्वरचनामें जितने भी रूपोंकी संभावना है, वे सब नौ (९) के प्रतीकमें आजाते हैं। ये ही वाक् रूपी गौका नौ-पदी भाव है। शतपथके अनुसार कुमारो नवमः सर्गः अर्थात् अष्टवसुओंके सम्मिलनसे जो नया प्राण सर्ग बनता है, वह कुमार अग्नि नवपदी गौसे अभिप्रेत है। नवें कुमार सर्गको ही नव कहते हैं और जब कभी आठ वसुओंसे

नवेंका जन्म होता है, तब वह नव अर्थात् नया नया ही कहा जाता है ।

नवो नवो भवति जायमानः, (१०।८५।१९) ।

यह भी उल्लेखनीय है कि एक स्वरकी शक्तिसे केवल नव (९) व्यञ्जनों तकका उच्चारण एकसाथ किया जा सकता है । कर्मकाण्डमें नवः यज्ञ संवत्सरका प्रतीक माना जाता है । अतएव नवः सब गतियों या रूपोंकी समष्टि है।

सहस्राक्षरा— इसका तात्पर्य उस परावाक्से है, जो परम व्योम या परमाकाशमें वितत है। सहस्रका अर्थ अनन्त है। इस वाक्के अनन्त अक्षर या चरण हैं, जो अव्यक्त या अमूर्त हैं। जो भौतिक मर्त्यावाक्के रूपमें परिणत नहीं हुई वह सहस्राक्षरावाक् है । सहस्रका अर्थ अनन्त या सर्व है। वही भूमा या अखण्ड एक है। अक्षर उच्चरित न्यूनतम इकाई है, जिसका क्षरण या नाश नहीं होता। परमव्योम या स्फोटात्मक आकाशसे अक्षरका आविर्भाव होता है और फिर तिरोभाव या अदर्शन होजाता है। सहस्राक्षराका संकेत उस वाक्से है, जो पारमेष्ठ्य समुद्रमें गौरी रूपमें भरी हुई परमेष्ठिनी या आम्भृणी वाक् है। अमृता या सहस्राक्षरा वाक्को अर्थ कहा जासकता है और मर्त्या वाक्को शब्द । अर्थके रूपमें वाक् नित्य है और शब्दके रूपमें अनित्य है। अर्थ अपरिमित है, शब्द परिमित । अर्थ अनिरुक्त और अमूर्त्त है, शब्द निरुक्त और मूर्त्त । सहस्राक्षराकी तुलना सहस्रशीर्षा एवं सहस्रपाद ब्रह्मासे की जासकती है, जो विराट् या महत्को जन्म देता है ।

वाक् और ब्रह्मका घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्द गुणक आकाशके अनुसार आकाशका गुण शब्द है। और वही वाक् है ।

परम व्योमः— याज्ञवल्क्य और गार्गीके सम्बादमें जिसे परम अक्षर तत्व कहा गया है और जिसमें और सब अन्य भूत विलीन हो जाते हैं, वही तो परमव्योम है। स्थूल शब्दात्मिका वाक् व्योम या आकाशसे जन्म लेती है और अर्थात्मिका या सहस्राक्षरा वाक्का अधिष्ठान परम व्योम या परमाकाश है। ब्रह्म या ब्रह्माका ही दूसरा नाम परम व्योम है—

ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम । ऋ. १।१६४।३५

ब्रह्मा यज्ञमें वह चौथा ऋत्विज् है, जो होता, अध्वर्यु और उद्गता तीनोंके कर्मोंका निरीक्षण करता है और स्वयं मौन रहता है। अतएव ब्रह्मा मौन या अनिरुक्त वाक्का प्रतीक है। इसीलिए ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ या प्रजापतिका संकेत अक्षर है ।

कस्मै देवाय हविषा विधेम, 'कं प्रजापतिः' के लिए मौन भावसे ही आहुति दी जाती है। उच्च स्वरसे मंत्र बोलकर नहीं। अतएव ब्रह्मा या परम व्योमका तात्पर्य मौन या तूष्णींभावसे है, उसीमें समस्त शब्दात्मिका वाक् या पंचभौतिक प्रकृति विलीन रहती है। परम व्योमतत्व साक्षात् ब्रह्मतत्वकी ही संज्ञा है, इससे परे और कुछ नहीं है, वही परात्पर तत्व है। ऋग्वेदके अनुसार अक्षर ब्रह्म या परम व्योममें ऋचाओं और देवोंका अधिष्ठान या निवास है ।

卐 卐 卐

मेरा राजनैतिक उद्देश्य-पत्र

[ब्रिटिश कारासे अपनी रहस्यपूर्ण मुक्तिसे कुछ समय पूर्व बंगालके तत्कालीन एवं मंत्रिमण्डलके नाम नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसका मार्मिक ऐतिहासिक पत्र]

अनुवादक— श्रीकृष्णदत्त, साहित्यरत्न

⊙

सेवा में.

महामहिम श्री राज्यपाल महोदय, बंगाल

एवं

मंत्रिपरिषद्‌के सदस्य ।

महामहिम एवं आदरणीय महानुभावो ।

यह पत्र मैं अपने ३० अक्टूबर १९४० के पत्रके संदर्भमें लिख रहा हूं जो माननीय गृहमंत्री महोदयके नाम था तथा जिसकी एक प्रति माननीय मुख्यमंत्री महोदयको भेजी गई थी। इसके अतिरिक्त २० अक्टूबर एवं २४ नवम्बरको प्रेसीडेन्सी जेलके अधीक्षकको प्रेषित मेरे गोपनीय पत्रोंसे भी प्रस्तुत पत्र संदर्भापेक्षया सम्बद्ध है। इस पत्रके माध्यमसे अपने पक्षकी सुदृढ स्थापना करते हुये आपके समक्ष हृदयको पूर्णतः अनावृत करना ही मुझे अभिप्रेत है। इसके साथ ही जीवनका सर्वाधिक भाग्य निर्णायक पग उठानेको बाध्य करनेवाली अभिप्रेरणायें भी उल्लेख रूपेण इसमें समाविष्ट हैं।

आपके हाथों मुझे अपेक्षित न्याय प्राप्त होना, यह दुराशा मात्र ही है। इसके प्रति आशाकी अणु-मात्र भी अवस्थिति सम्प्रति मेरे हृदयमें नहीं है। अतः मैं आपसे केवल दो प्रार्थनायें कर ही संतोष करूंगा। इनमेंसे दूसरी प्रार्थना इस पत्रके उपसंहार रूपमें होगी। भविष्यमें राजकीय पदों पर आसीन होनेवाले मेरे देशवासियोंको यह पत्र सहज सुलभ हो, एतदर्थ मेरी प्रथम प्रार्थना यह है कि मेरे इस पत्रको राजकीय संग्रहालयमें सावधानीसे सुरक्षित रखा जाये। इसमें मेरे देशवासियोंके लिये एक संदेश है, अतः यह मेरा राजनैतिक उद्देश्यमात्र है। मुझे किसी राजकीय स्पष्टीकरण एवं औचित्यके बिना बंगाल प्रशासनके आदेश पर भारत सुरक्षा नियमोंकी धारा १२९ के आधीन बन्दी बनाया गया था। इस बन्दीकरणके विषयमें प्रथम सार्वजनिक घोषणा जो राजकीय सूत्रोंसे निस्सृत हुई, भारत सचिव श्री Amey का ब्रिटिश संसद्‌में दिया गया वह वक्तव्य है जिसमें उन्होंने मेरे बन्दी बनाये जानेका सम्बन्ध Holwell स्मारक ध्वंस आन्दोलनसे जोडा है। मेरी मुक्तिमें Holwell स्मारक आन्दोलन ही बाधक है, बंगाल विधान सभामें माननीय मुख्यमंत्री महोदयके इस कथनसे श्री Amey के वक्तव्यकी विधिवत् पुष्टि हो गई है। इस स्मारकको हटानेकी राजकीय घोषणाके तुरन्त पश्चात् श्री नरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती (सदस्य विधानसभा) एवं मेरे अतिरिक्त उन सभी व्यक्तियोंको मुक्त कर दिया गया जिन्हें बिना न्यायिक अभियोगके बन्दी बनाया गया था। अगस्त १९४० में दी गई इन मुक्तियोंके साथ ही मेरे लिये धारा १२९ के अन्तर्गत दिये गये अस्थायी बन्दीकरणके आदेशके स्थान पर धारा २६ के आधीन स्थायी रूपेण बन्दी रखनेका आदेश दे दिया गया।

इस नवीन समाचारके साथ ही यह विस्मयजनक समाचार प्राप्त हुआ कि मेरे विरुद्ध दो न्यायाधीशोंके समक्ष भारत सुरक्षा अधिनियमकी धारा ३८ के आधीन न्यायिक कार्यवाही की जायेगी। यह कार्यवाही मेरे तीन सार्वजनिक भाषणों और साप्ताहिक 'Forword Block' (जिसका सम्पादक मैं स्वयं रहा हूं) में प्रकाशित एक लेखके विरुद्ध की जा रही है। आपत्ति का विषय बने इन भाषणोंमेंसे दो भाषण फरवरी १९४० में और एक अप्रैल में दिया गया था। इस प्रकार मुझे स्थायी रूपेण बन्दी बनानेका आदेश देकर एवं भारत सुरक्षा अधिनियमकी एक अन्य धाराके आधीन मेरे विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही आरम्भ करनेकी बात कहकर शासनने एक सुतरां विलक्षण एवं अप्रतिम स्थिति उत्पन्न की है। मैंने राज्यतंत्रकी अधिकार प्रमत्तताका अनुचित पोषण करनेके लिये उसके साथ न्यायिक सरणिका ऐसा विचित्र मिश्रण इस घटनासे पूर्व कहीं नहीं देखा। इस प्रकारकी नीति प्रत्यक्षतः अन्यायपूर्ण है एवं इससे विद्वेषपूर्ण उत्पीडनकी गंध आती है। आरोपित अपराधोंके तथ्य बननेसे पूर्व ही मेरे विरुद्ध कार्यवाही की गई, वह एक ऐसी बात है जो कदापि उपेक्षणीय नहीं है। न ही यह बात ध्यानातीत हो सकती है कि 'Forwod Block' में प्रकाशित उल्लिखित लेखके लिये पत्रको द्विविध दण्डित किया जा चुका है। प्रथमतः इस पत्रका ५०० रु० का सुरक्षित धन जब्त कर लिया गया।

२००० रु० की एक अन्य राशिकी भी यही दशा हुई। पत्र पर यह आघात भी इतना आकस्मिक था कि सुदीर्घ काल तक कोई चेतावनी नहीं दी गई, जिसका देना स्वयं शासनके वैधानिक पुरःस्थापनके आधीन आवश्यक था। जनताके समक्ष बंगाल प्रशासनका दृष्टिकोण इस समय भी अनावृत हुआ, जब मेरे विरुद्ध न्यायिक कार्यवाहीकी अध्यक्षता करनेवाले दोनों न्यायाधीशोंके सामने मेरी जमानतकी याचिकायें प्रस्तुत की गईं। राजकीय प्रवक्ता द्वारा इन दोनोंका तीव्र विरोध किया गया। विगत अवसरपर न्यायाधीश श्री बलीउल्लहस्लामने यद्यपि याचिकाओंकी स्वीकृतिका आदेश दे दिया, तथापि यह बात भी उन्होंने गुप्त नहीं रखी कि इस स्वीकृतिकी क्रियान्विति उस समय तक सम्भव नहीं, जबतक शासन द्वारा मेरे विरुद्ध दिया बन्दीकरणका आदेश लौटाया नहीं जाता।

अतः यह दिनके प्रकाशकी भांति स्पष्ट है कि शासन एक ऐसी नीतिका अनुसरण कर रहा है जिसके द्वारा न्यायाधिकरणोंके एकाधिकारको अपने विद्वेषोन्मुखी पूर्वाग्रहकी अर्गलासे जकड़ा जाये और न्याय वितरणकी स्वस्थप्रक्रियामें व्याघात उपस्थित किया जाये। स्थानीय शासनका यह कार्य और भी आपत्तिजनक प्रतीत होता है, यदि केन्द्रीय आदेशकी अवहेलनाके सन्दर्भमें उसपर दृष्टिपात किया जाये। राजकीय नीतिविषयक एक अन्य मनोरंजक पक्ष यह है कि मेरे विरुद्ध अभियोग एक साथ ही दो न्यायाधीशोंके समक्ष प्रस्तुत है। यदि मेरे एकसे अधिक भाषणोंको एक न्यायालयके सामने लानेकी इच्छा थी, तो इसकी पूर्ति दो न्यायाधीशोंका अवलम्ब लिये बिना भी होसकती थी, कारण, मैंने गत बारह मासमें मुख्य कलकत्ता नगरमें ही अनेक वक्तृतायें दी हैं। अतः जनसामान्यके इस विश्वासके लिये प्रचुर पुष्ट आधार विद्यमान है कि मुझे येन केन प्रकारेण दण्डित देखनेके अपने कुत्सित संकल्पकी पूर्तिके लिये मेरे विरुद्ध अपनी न्यायिक प्रत्यक्षके लिये शासनने भाषणोंके विषयरूपी यह त्रितीय डोरी खोज निकाली है। अंतिम, किन्तु नात्यल्प महत्वपूर्ण बात यह है कि एक निष्पक्ष व्यक्तिको यह राजकीय कार्यवाही नितान्त द्वेषपूर्ण प्रतीत होती है। इसका कारण यही है कि मेरे विरुद्ध अभियोग तथा कथित अपराधोंके करनेके पर्याप्त समय पश्चात् चलाया गया है। यदि मेरा क्रियाकलाप वास्तवमें आपत्तिजनक था तो चिरकाल पूर्व ही मेरे विरुद्ध कार्यवाही की जानी चाहिये थी, अर्थात् तथाकथित अपराधोंके किये जानेके समय।

क्या मुझे आप यह प्रार्थना करनेकी अनुमति देंगे कि मेरे प्रति तथा मुस्लिम बन्दियोंके प्रति अपने दृष्टिकोणकी तुलना करें। अनेकों ऐसी घटनायें प्रकाशमें आई हैं कि भारत सुरक्षा अधिनियमाधीन बन्दी बनाये मुस्लिमोंको अकस्मात् अकारण ही मुक्त कर दिया गया है। इस प्रसंगमें सुरापाराके मौलवीका उदाहरण इतना नवीन है कि वह स्मरण दिलाये जानेकी अपेक्षा नहीं रखता। क्या हम यह समझ लें कि आपकी व्यवस्थाके आधीन मुस्लिमों एवं अमुस्लिमोंके लिये पृथक् न्यायिक विधान है। क्या यह भी सत्य है कि भारत सुरक्षा नियमोंकी व्याख्या यदि हिन्दुओंके लिये एक है तो मुस्लिमोंके लिये उसका अर्थ द्योतन भिन्न है? यदि यह सत्य है तो विधिवत् घोषित होना चाहिये।

यदि इस प्रकारका तर्क अथवा सुझाव उपस्थित किया जाये कि मेरे साम्प्रतिक अत्यर्दनके लिये स्थानीय शासन नहीं, प्रत्युत् भारत सरकार ही उत्तरदायी है, तो उसके निराकरणार्थमें मेरे विषयसे सम्बद्ध अभी उसी दिन केन्द्रीय धारासभामें पंडित एल० के० मैत्रा द्वारा प्रस्तुत स्थगन प्रस्ताव की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा। इस सम्बन्धमें भारत सरकारकी ओरसे इस समय इस प्रस्तावके प्रस्तुतनको इस आधारपर अनुचित बताया गया था कि मेरे उत्पीडनके लिये बंगाल प्रशासन ही पूर्णतः उत्तरदायी है। मेरा विश्वास है कि स्थानीय शासनकी ओरसे ऐसी स्वीकारोक्ति विधानसभामें की गई है। और हम यह भी भूल नहीं सकते कि बंगालमें हमें एक 'लोकप्रिय' शासनका उदारतापूर्ण संरक्षण प्राप्त है।

केन्द्रीय धारासभामें मेरे आचिरकालीन निर्वाचनके सभाके सूत्रके समय बन्दीकरणसे सदस्योंकी मुक्तिके अधिकारके विषयके रूपमें एक नवीन प्रश्नका उत्थापन किया है। यह अधिकार प्रत्येक संविधानमें अन्तर्निहित है। विधि-संहितामें इस अधिकारके स्पष्ट रूपेण उल्लेख होने-न होनेसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक दीर्घकालीन संघर्षके अनन्तर इस अधिकारकी प्रतिष्ठा हुई है। अभी कुछ समय पूर्व ही बर्माशासनने एक दण्ड प्राप्त बन्दी को बर्मा विधानसभाके अधिवेशनमें अपना स्वतन्त्र एवं निर्भीक योग देनेके लिये मुक्त कर दिया था, किन्तु जहांतक मेरा सम्बन्ध है, यह एक दुर्भाग्यपूर्ण सत्य है कि मुझे एक 'लोकप्रिय' मंत्रिमंडल द्वारा इस अधिकारसे वंचित रखा गया है।

यदि शासनके अधिवक्ता शासकीय पक्षके समर्थन हेतु कप्तान रेम्ज (ब्रिटिश संसद सदस्य) का उदाहरण प्रस्तुत

करना चाहें तो मेरा निवेदन यह है कि आधारापेक्षया इनकी स्थिति मुझसे एकदम भिन्न थी। किन्तु सभी सम्बद्ध तथ्य क्योंकि हमारे ज्ञानान्तर्गत नहीं हैं, अतः किसी भी पक्षकी ओरसे युक्ति देना कठिन है। यदि किसी ओरसे बलपूर्वक यह कहा जाये कि कप्तान रेम्जेको अन्यायपूर्ण ढंगसे बन्दी बनाया गया एवं अन्ततः उनकी कष्ट निवृत्ति अपेक्षित रूप में नहीं होगी, तो इससे ब्रिटेन स्थित अमरीकी राजदूत श्री केनेडी तथा कतिपय अन्य व्यक्तियोंके इस कथित वक्तव्यकी पुष्टि होती है कि ब्रिटेनमें जनतन्त्रका प्राणान्त हो गया है। कप्तान रेम्जेको इतना अवसर अवश्य दिया गया कि उन पर लगाये अभियोग पर एक संसदीय समिति द्वारा विचार किया जाये।

मेरे अभियोगके विषयमें सामान्यतः दो मुख्य बातों पर विचार अवर्जनीय है। वह क्रमशः यह है —

(i) क्या भारत सुरक्षा अधिनियमको कोई नैतिक अथवा सर्वप्रिय अनुज्ञापन प्राप्त है ?

(ii) क्या उसके नियमोंका मेरे लिये न्याय संगत प्रयोग हुआ है ? इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर नकारात्मक है। भारत सुरक्षा अधिनियमको कोई नैतिक अनुज्ञापन प्राप्त नहीं है क्योंकि उनका अस्तित्व ही मानवीय स्वातन्त्र्य एवं मौलिक अधिकारोंपर उत्क्रोच स्वरूप है। इसके अतिरिक्त वह युद्धकालीन स्थितिका सामना करनेके लिये उठाये गये पग हैं, एवं यह तथ्य कि भारतको यहांकी जनता एवं धारासभाकी सहमतिके बिना ही युद्धमें घसीटा गया है, किसी भी व्यक्तिके ज्ञानातीत नहीं है। इसके अतिरिक्त इन नियमोंके द्वारा ब्रिटेन एवं अमरीका द्वारा बलपूर्वक उद्घोषित न्याय एवं स्वतन्त्रताके उद्देश्यका आक्रामक अधिक्षेप होता है। और अन्तमें यह भी उल्लेखनीय है कि विधानसभाके कांग्रेसका समर्थन भी भारत सुरक्षा अधिनियमको प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न असंगत नहीं होता, शासन जिन्हें भारत सुरक्षा अधिनियम कहता है उन्हें भारत दमन अथवा अन्याय संरक्षक अधिनियमोंकी संज्ञा देना क्यों युक्तियुक्त नहीं है ?

शासनकी ओरसे कहा जा सकता है कि भारत सुरक्षा अधिनियम क्योंकि एक केन्द्रीय वैधानिक पुरः स्थापन है अतः तदन्तर्गत विधानित सभी नियमोंको क्रियान्वित करना सभी राज्य प्रशासनोंका उत्तर-दायित्व है। किन्तु इसी पत्रमें इस सम्बन्धमें पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है कि इन नियमोंका मेरे अभियोगके संदर्भमें उचित उपयोग नहीं हुआ है। इनका दुरुपयोग तो इतना हुआ है कि मैं यह कहनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता कि इनके द्वारा अवैधानिकता एवं अन्यायको नितान्त घृणित रूपमें अलंकृत किया गया है। इस प्रकारके राजकीय आचरणके विषय में केवल यही स्पष्टीकरण दिया जा सकता है कि शासन मेरे विरुद्ध उन्मुक्त रूपेण एक प्रतिहिंसापूर्ण नीतिका किन्हीं ऐसे कारणोंसे अनुसरण कर रहा है जो अवर्णनीयतः परोक्ष हैं।

दो माससे भी अधिक समयसे यह प्रश्न अपनी सम्पूर्ण गम्भीरता सहित उपस्थित हो मेरी चेतनाका द्वार खटखटा रहा है और प्रबलाग्रहपूर्वक मुझसे यह निश्चय करनेका बडे अनुरोध कर रहा है कि इस प्रहेलिकामयी विषम स्थितिमें मेरा क्या कर्तव्य है। अभिलम्मुखीय समाधानार्थ प्रश्न यह है— 'क्या मैं परिस्थितियोंकी लौहकारा विवशताओंकी श्रृंखलामें बद्ध होकर मेरी दयनीयता पर क्रूर अट्टहास करते हुये नियति भिक्षा रूपमें जो फेंक दे उसे स्वीकार कर लूं अथवा जो मुझे अयाथार्थिक और अवैधानिक प्रतीत हो उसका निर्भय विरोध करूं ? इस प्रश्नको मैंने पूर्ण परिपक्व विचारानुयोगका विषय बनाया है इसका निष्कर्ष यह है कि विषम परिस्थितियोंके समक्ष पराजयकी मनोवृत्ति सहित आत्मसमर्पण करना एकदम अचिन्तनीय है। किसी किये अन्यायको नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेना, उस अन्यायको करने एवं उसके पृष्ठपोषणसे भी अधिक भयानक पाप है। अतः विरोध मुझे अवश्य करना है।

किन्तु विरोधका यह क्रम पिछले दिनों निर्बाध रूपेण चला एवं सभी सामान्य विरोधात्मक सरणियोंका प्रयोग करके देखा जा चुका है। पत्र एव मंचसे संचालित आन्दोलन, शासनके समक्ष प्रतिनिधित्व, विधानसभाओंमें प्रस्तुत मांग एवं अन्य वैज्ञानिक उपायोंका अवलम्ब—इन सभी विधाओंका प्रयोग क्या नैराश्यप्रदतः प्रभावहीन सिद्ध नहीं हो चुका है। अब केवल एक उपाय ही अवशिष्ट है, एक बन्दीका अन्तिम शस्त्र अर्थात् अनशन। तर्कके स्पृहणीयतः सुशीतल प्रकाशमें मैंने इस पत्रके औचित्यानौचित्य एवं तन्निस्तृत लाभ, हानिका समीचीन मूल्यांकन किया है। इस प्रश्नके विषयमें मेरी सम्मति किसी भ्रान्तिसे आश्रित नहीं है। इस तथ्यसे भी मैं पूर्णतः जागरूक हूं कि तुरन्त ही मेरे इस कार्यसे कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा। संकटके समय नौकरशाही शासन व्यवस्थाके व्यवहारका मुझे पर्याप्त कर अनुभव है। Terence Macswiney एवं जतीन्द्रदासके प्रथम वर्गीय एवं ज्वलन्त उदाहरण मेरे मानसिक नेत्रोंके सामने तैर रहे हैं। राज्यतंत्र हृदयहीन होता है।

वेदगीता (मंत्र)

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् । अस्मै कामायोप कामिनी-र्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ अथ. ३।८।४

अर्थ— (इह इत् असाथ) परमात्मा राजा द्वारा शूद्र जातिको उपदेश देता है, हे शूद्रो ! तुम इसी नगर और इसी देशमें ही रहो । क्षत्रियोंकी तरह युद्धभूमिमें युद्ध करनेके लिये मत जाओ, प्रत्युत युद्धके समय तुम यहां रहकर अस्त्र, शस्त्रादि तथा विस्फोटक पदार्थ बारूदादि अच्छी तरहसे यहां तैयार करो, इसी प्रकार वैश्योंकी तरह व्यापार करनेके लिये बाहर मत जाओ, यहां उनकी यात्राके लिये शकटादि वाहन तैयार करो, अतः (परः न गमाथ) इस देशको छोडकर दूर देश-देशान्तरोंमें मत जाओ । (ईर्यः गोपाः) खेतीके करनेसे अन्नादि पदार्थोंका उपजानेवाला, तुम्हारी जीवनयात्राको शुद्ध रूपसे चलानेवाला गोसेवक वैश्य (पुष्टिपतिः) तुम्हारी पुष्टिकारक अर्थात् पालन पोषण करनेवालोंका स्वामी क्षत्रियराज अथवा राजा (वः आजत्) तुम सबको अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सेवकोंको ठीक मार्गपर चलाता है । (विश्वे देवाः) सब देवता अथवा अर्थात् दैवी गुणवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब विद्वान् (अस्मै कामाय) शिल्पी जन अपनी शिल्पकलामें पूरे रहें, इसी इच्छाके लिये (कामिनीः) अपनी इच्छाशक्तियां (वः) तुम शिल्पियोंकी ओर (उपसंयन्तु) प्राप्त हों अर्थात् शिल्पकलाकी वृद्धिके लिये धनादि पदार्थोंकी विशेष आवश्यकता होनेपर सहायक बने रहें ॥ ४ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी सेवा करना शूद्र जातिका स्वाभाविक कर्म है । वेदमें भी यही कहा है । राजा शूद्र जाति अर्थात् शिल्पियोंको उपदेश देता है तुम अपने अपने नगर और अपने देशमें रहो । क्षत्रियोंकी तरह युद्ध भूमिमें और व्यापारियोंकी तरह धन कमानेके लिये विदेश मत जाओ, वैश्य और क्षत्रिय इसी देशमें तुम्हारा साथ देंगे अर्थात् तुम्हारी सहायता करेंगे । तुम उनके लिये अस्त्रशस्त्रादि, तथा रथशकटादि वाहन तैयार करो, और वह धनादिसे तुम्हारे सहायक बने रहेंगे ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

भग. १८।४५ ४६

अर्थ— हे अर्जुन ! (नरः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोंका प्रत्येक मनुष्य (स्वे स्वे कर्मणि) शमदमादि, धृति शौर्यादि, कृषि व्यापारादि सेवा धर्ममें अर्थात् अपने अपने अधिकार वाले कर्ममें (अभिरतः) लगन रखता हुआ (संसिद्धिं लभते) अपने अपने धर्म पर आरूढ होकर कर्म करनेके अनुसार ब्रह्म-प्राप्ति रूप सिद्धिको पा लेता है । (यथा) जिस प्रकार (स्वकर्मनिरतः) अपने अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य (सिद्धिं विन्दति) मन शुद्धिपूर्वक ज्ञान सिद्धिको पा लेता है (तत शृणु) उसे सुन ॥ ४५ ॥

(यतः) जिस परब्रह्म परमात्मासे अर्थात् [जन्माद्यस्य यतः ' ' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ' इत्यादि] (भूतानां) पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतोंकी आविर्भूताऽवस्थासे ही (प्रवृत्तिः) अपने अपने कार्यको करनेमें प्रवृत्ति होती है । (येन) जिस परब्रह्म परमात्मासे (इदं सर्वं) यह दृश्यमान सारा जगत् (ततं) विस्तृत किया हुआ है । (मानवः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णोंका प्रत्येक मनुष्य (स्वकर्मणा) श्रौतस्मार्त प्रतिपादित अपने अपने वर्णाश्रम धर्माऽनुसार कर्म करनेसे (तं अभ्यर्च्य) उस परमात्माकी अर्चना अर्थात् ओंकार नाम द्वारा उसका पूजन और जपन करके (सिद्धिं) सिद्धिको अर्थात् मुक्तिपदको (विन्दति) पा लेता है ॥ ४६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

सा. ९४३; ऋ. ९।९६।५

अर्थ— (मतीनां जनिता) सब प्राणियोंकी मनन शक्त्यात्मक ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला (दिवः जनिता) द्युलोकको उत्पन्न करनेवाला [तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः] (पृथिव्याः जनिता) भूमिका उत्पादक (अग्नेः जनिता) अग्निको उत्पन्न करनेवाला, (सूर्यस्य जनिता) सूर्यका जन्म दाता (इन्द्रस्य जनिता) पृथिव्यादि संघातके साथ सब आत्मा-

ओं अर्थात् प्राणीमात्रके अपने अपने कर्मानुसार जन्म देनेवाला (उत) और (विष्णोः जनिता) यज्ञोंका उत्पादक [यज्ञो वै विष्णुः; यज्ञः, वेनः-अध्वरः-विष्णुः, पञ्चदश यज्ञनामानि निघ. ३।१७] अथवा अपनी व्यापकताका उत्पादक है। [यथा च एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् एकोऽहं बहु स्याम्। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् इत्युक्तेः] अत; अपनी सर्वव्यापकताको स्वयं प्रकट करनेवाला (सोमः) परमात्मा (पवते) अपने अपने वर्णाश्रमधर्माऽनुसार पूजनेवाले मनुष्योंको पवित्र कर देता है, अर्थात् उन्हें मुक्तिपद देता है ?

वेदगीता (मंत्र)

यो विश्वस्य जगतः[1] प्राणतस्पतिः[2][3]
यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत ।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन्
मरुत्वन्तं सख्याय[4] हवामहे[5] ॥ ऋ. १।१०१।५

अर्थ— (यः) जो परब्रह्म परमात्मा (विश्वस्य जगतः) सारे स्थावर जंगमात्मक जगत्का (प्राणतस्पतिः) प्राण अर्थात् श्वास और उच्छ्वासके ग्रहण करनेवाले प्राणीमात्रका रक्षक और स्वामी है। (प्रथमः यः) सारे जगत्का आदिभूत अर्थात् जगत्के आविर्भावसे प्रथम रहनेवाले जिस परमात्माने (ब्रह्मणे) ब्रह्माको अथवा ब्रह्मज्ञानी ऋषिको (गाः) ऋग्यजुःसाम और अथर्व चार वेदोंकी वाणीको (अविन्दत) प्रदान किया। (इन्द्रः यः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न जो परमात्मा (दस्यून्) काम, क्रोध, लोभादिसे उत्पन्न हुए हुए पापरूपी डाकुओंको (अधरान्) नीचे करके अर्थात् निकृष्ट बनाकर (अवातिरन्) अत्यन्त नष्ट कर देता है अर्थात् मनुष्य पापोंसे रहित होकर शुभमनवाला होजाता है। (मरुत्वन्तं) उस परमात्माका (सख्याय समान स्वरूप होनेके लिये अर्थात् मुक्ति प्राप्तिके लिये (हवामहे) हम आह्वान करते हैं अर्थात् हम सखारूप होकर समीप रहें ॥ ५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी
य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः ।
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो
मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ ऋ. १।१०१।४

अर्थ— (यः) जो मनुष्य (अश्वानां वशी) घोडोंको वशमें रखनेवाला है अर्थात् क्षत्रिय है (यः गवां वशी) और जो मनुष्य गौओंको वशमें रखनेवाला है अर्थात् वैश्य है (यः गोपतिः) और जो सब इन्द्रियोंका स्वामी अर्थात् शमदम रखनेवाला है अर्थात् ब्राह्मण है (यः कर्मणि कर्मणि आरितः स्थिरः) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने अपने वर्ण धर्माऽनुसार अपने अपने वर्णवाले कर्ममें स्थिर रहनेवाला स्तुतिपाता है (यः इन्द्र) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनमेंसे जो जो जीवात्मा अर्थात् प्राणी (वीळोः चित्) बडे प्रयत्नसे (असुन्वतः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिके अपने अपने कर्मके विरोधी अर्थात् अपने वर्णवाले कर्मको छोडकर अन्य वर्णके कर्मको करता है, उसको (वधः) मारना वा दण्ड देना योग्य है (मरुत्वन्तं) अपने अपने वर्ण धर्म और वर्ण कर्मानुसार कर्म करनेवाले मनुष्यको (सख्याय) सखा होनेके लिये (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ४ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, जो मनुष्य अपने अपने वर्णाश्रम धर्म और कर्मानुसार अपने अपने धर्म कर्ममें स्थिर होकर परमात्माका ध्यान और सेवन पूर्णसमाधियोगसे करता है, वह शुद्ध मनवाला होकर मुक्ति की सिद्धिको पाता है।

वेदमें भी यही कहा है, जो मनुष्य अपने वर्णाश्रम धर्म कर्माऽनुसार अपने अपने कर्ममें स्थिर होकर कर्म करता है सब उसे स्तुत्य कहते हैं। और वह अपने वर्ण धर्म कर्मानुसार परमात्माका पूजन करता हुआ मुक्त हो जाता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

भग. १८।४७

अर्थ— हे अर्जुन ! (परधर्मात्) अपनी जाति वर्ण और आश्रमसे भिन्न अर्थात् अपने वर्णाश्रमसे भिन्न वर्णाश्रमवाले धर्मसे और (सु-अनुष्ठितात्) अत्यन्त अच्छी तरहसे आचरण किये हुएसे भी (विगुणः) उस वर्णाश्रमके गुणसे हीन भी (स्वधर्मः) अपनी जाति अपने वर्ण और

१- जगत्= गम्लृ गतौ, गतौ वर्तमाने [पृषदृहन् महज्जगच्छतृवक्ष्यत्यतिप्रत्ययान्तो निपातितः ।

२- प्राणतः= श्वस प्राणने अनच् अस्मात्लटः शतृ अदादित्वाच्छपोलुक् ।

३- प्राणतस्पतिः- षष्ठ्याः पतिपुत्रेति, विसर्जनीयस्य सत्वम् ।

४- सख्याय= सख्युः कर्म सख्यं [सख्युर्यः] इति यप्रत्ययः ।

५- हवामहे= ह्वे जो लटि [बहुलं छन्दसि] इति सम्प्रसारणम् ॥

अपने आश्रमके अनुकूल अपना धर्म (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। (स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्) प्रत्येक मनुष्य अपनी जाति और वर्णाऽनुसार धर्मशास्त्र प्रतिपादित नियत कर्मको करता हुआ (किल्बिषं न आप्नोति) चित्तशुद्धिके प्रतिकूल पापको नहीं पाता ॥ ४७ ॥

वेदगीता (मंत्र)

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो
गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे
वो देवा उपसंयन्तु ॥ अथ. ३।८।४

अर्थ— (इह इत् असाथ) इस अपने वर्ण धर्म और वर्ण कर्ममें रहो (परः न गमाथ) अपने वर्ण धर्मसे हटकर दूसरे वर्ण धर्म और कर्ममें मत जाओ, अर्थात् ब्राह्मण होकर क्षत्रिय, वैश्य शूद्रके धर्म कर्मको मत करो। शूद्र होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके कर्मका आश्रय मत लो। क्योंकि अपने वर्णधर्मसे भिन्न दूसरे वर्णका धर्म तुम्हारे लिये लाभदायक न बनेगा (अस्मै कामाय) इस अपने जाति धर्मकी कामनापूर्तिके लिये (कामिनीः) तुम्हारी इच्छाओंको (विश्वे देवाः) विश्वे देव अर्थात् सब ज्ञानीजन (संयन्तु=संयोजयन्तु) अपने उपदेशों द्वारा तुम्हारी बुद्धिके साथ जोड देवें। (ईर्यः) सारे संसारका प्रेरक अर्थात् संचालक (गोपाः) सबका रक्षक (पुष्टपतिः) पालकोंका पालक परमात्मा (वः) अपने अपने धर्मके पालक तुम सबको (आजत्) मुक्ति प्राप्तिके लिये अपने समीप स्थापित करता है।

तुलना— गीतामें कहा है। अपने वर्णसे भिन्न वर्णके बहुत गुणोंवाले धर्मकी अपेक्षा थोडे गुणवाला अपना वर्ण धर्म श्रेष्ठ है। मनुष्य अपने वर्णधर्मका पालन करता हुआ मुक्तिकी सिद्धितक पहुंच जाता है।

वेदने भी यही उपदेश दिया है, हे मनुष्य तू अपने वर्ण धर्ममें स्थिर रह। दूसरे वर्णके धर्म कर्मकी ओर मत जा। विद्वान् जन तुझे इस अपने धर्ममें रहनेका उपदेश देकर उसी अपने वर्णधर्ममें रहनेकी सम्मति देंगे। मनुष्य अपने वर्ण धर्माऽनुसार चलता हुआ मुक्तिके द्वारपर पहुंच जाता है, और मुक्त भी हो जाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

भग. १८।४८-४९

अर्थ— हे (कौन्तेय) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (सदोषं अपि) दोषयुक्त भी (सहजं कर्म) स्वाभाविक कर्मको अर्थात् प्रकृतिके अनुसार, शास्त्र विधिसे नियत किया हुआ जो वर्णाश्रमका धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक (सहज) कर्म होता है। उसीको ही इस श्लोकमें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म कहा गया है। उस नियतकर्मको (न त्यजेत्) नहीं त्यागना चाहिये। (हि) निश्चयसे (सर्वारंभा) शरीरके लिये किये जानेवाले सब काम (दोषेण) किसी न किसी दोषसे युक्त होते हैं। जैसे वृक्षादिका काटना, अन्न और फलादिका भक्षण करना भी स्थावर जीवको दुःख देना है, क्योंकि खाना, पीना सहज कर्म है अतः दोष होता हुआ भी दोष नहीं माना जाता है और उस पापसे मनुष्य पापी नहीं कहा जाता। (धूमेन आवृतः अग्निः इव) जैसा कि प्रकाशमान भी अग्नि धूमकी कालिमासे आच्छादित रहती है ॥ ४८ ॥

(सर्वत्र) शम, दम, शौर्य, धृति, कृषि व्यापार आदि कर्मोंके फल-प्राप्तिमें (असक्तबुद्धिः) आसक्ति रहित अर्थात् इन कार्योंका कर्ता धर्ता मैं ही हूं, इस विचार वाली बुद्धि न रखनेवाला (जितात्मा) मनको अपने वशमें रखनेवाला (विगतस्पृहः) इच्छासे रहित मनुष्य (परमां) सबसे उत्तम (नैष्कर्म्यसिद्धिं) निष्कर्मता अर्थात् कृतकर्मोंके फलेच्छासे रहित सिद्धि अर्थात् मुक्तिको (संन्यासेन) अच्छी तरहके साधनोंसे युक्त सब कर्मोंके फलके त्यागसे (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है ॥ ४९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

न तमंहो न दुरितानि मर्त्य-
मिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन ।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं
न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः ॥

ऋ. ७।८२।७

अर्थ— (हे इन्द्रावरुणा-वरुणौ) हे इन्द्र ! भक्त्यात्मक ऐश्वर्यसे सम्पन्न जीवात्मन् ! हे वरुण ! हे श्रेष्ठ पते ! (तं) सांसारिक सब इच्छाओंसे रहित तथा स्वकृत कर्मोंमें आसक्ति तथा अपने किए हुए कर्मके फलकी इच्छा न रखनेवाले उस (मर्त्यं) मनुष्यको (अंहः न नशते) सहज दोष युक्त कर्मसे उत्पन्न हुआ हुआ पाप नहीं प्राप्त होता। (न दुरितानि) और पाप जन्य दुःखोंको प्राप्त नहीं होता (कुतश्चन) किसी कारणसे भ

(न तपः) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकमेंसे किसी तापको नहीं प्राप्त होता । (देवा = हे देवो) हे अपने निष्काम कर्मों द्वारा प्रकाशमान् ज्ञानियो ! हे ज्ञानदानादि गुण युक्त मनुष्यो ! (यस्य मर्तस्य) तुम जिस मनुष्यके (अध्वरं) हिंसा रहित यज्ञको अथवा सत्संगतिमय यज्ञको (गच्छथः) प्राप्त होते हो (वीथः) जिस मनुष्यकी नैष्कर्म्य सिद्धिकी कामना करते हो । (तं) उस मनुष्यको (परिह्वृतिः) बाधा अथवा कुटिलता (न) नहीं प्राप्त होती ॥ ७॥

तुलना— गीतामें कहा है, दूषित भी सहजकर्म त्याग योग्य नहीं, क्योंकि सब कार्योंके आरंभमें कोई न कोई दोष अवश्य रहता है, जैसे अग्नि स्वयं प्रकाशमान है, परन्तु दोष-रूप धूम भी उसमें उपस्थित रहता है । विषय वासनामें बुद्धि न रखनेवाला, निष्कामभावसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी मनुष्य अनासक्त होकर कर्मफलके त्यागसे जितेन्द्रिय होकर मुक्तिका अधिकारी होता है ।

वेदमें भी यही कहा है, संसारकी सब इच्छाओंसे रहित और स्वकृत कर्मोंमें फलकी अनासक्ति रखनेवाले मनुष्यको स्वकृत कर्मजन्य पाप नहीं लगता और न ही उसे पापजन्य दुःखात्मक फल उपस्थित होता है । उसे सांसारिक ताप तप्त नहीं करते । वह सदा सत्संगति रूप यज्ञमें उपस्थित होकर अपना जीवन बिताता है । और अन्तमें मुक्त हो जाता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

भग. १८।५०,५१,५२,५३

अर्थ— (कौन्तेय !) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (सिद्धिं प्राप्तः) नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त हुआ हुआ मनुष्य अर्थात् मुमुक्षुयोगी (यथा) जिस प्रकार (ब्रह्म) परमात्माको (आप्नोति) प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है (तथा उस प्रकारसे (मे निबोध) मुझसे बताये जानेवाले को जान । (ज्ञानस्य) आत्मा नित्यशुद्ध और नित्यबद्ध और मुक्तस्वभाववाला है इस प्रकारके ज्ञानकी (या परा निष्ठा) जो अत्युत्तम स्थिति है, उस स्थितिको (समासेन) संक्षेपसे (एव) ही मुझसे सुन ॥ ५१ ॥

(विविक्तसेवी) एकान्त देशमें वास करनेवाला (लघ्वाशी) हलका हितकारी परिमित अर्थात् अपनी क्षुधाऽनुसार यथायोग्य भोजन और पवित्र अन्न खानेवाला (यत-वाक्कायमानसः) वाणी, शरीर और मनको अपने वशमें रखनेवाला (विशुद्धया) मल और विक्षेपसे रहित अर्थात् कुटिलतासे रहित (बुद्ध्या) निश्चयात्मिक बुद्धिसे (युक्तः) मिला हुआ (धृत्या) सात्विकी धृतिसे (आत्मानं) मनको (नियम्य) सब विषयोंसे हटाकर अर्थात् सात्विकी धृतिद्वारा मनको वश करके (शब्दादीन् विषयान्) शब्द स्पर्श रूपरस आदि विषयोंको (त्यक्त्वा) छोड़कर (रागद्वेषौ) प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको (व्युदस्य) छोड़कर अर्थात् राग और द्वेषसे उदास होकर (अहंकारं) मैं ही कर्ता धर्ता हूं इस अभिमानको (बलं) मेरे सामने कौन ठहर सकता है, मैं बडा बली हूं ऐसी शक्तिको (दर्पं) घमंडको (कामं) मैं इन वस्तुओंको लूंगा, ऐसी इच्छाको (क्रोधं) संमोहित करनेवाले क्रोधको (परिग्रहं) गृहस्थके वस्तु संग्रहको (विमुच्य) छोड़कर (नित्यं) सदा (वैराग्यं) वैषयिक इच्छाओंसे वैराग्यको अर्थात् विरागको (समुपाश्रित) अच्छी तरहसे आश्रय करता हुआ (ध्यानयोगपरः) परमात्माके ध्यानद्वारा चित्तवृत्तिके योग अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोध और परमात्माके ध्यानमें लगा हुआ (निर्ममः) देहमें ममतासे रहित अर्थात् मनुष्य जैसे दूसरेकी देहको अपनी देहसे भिन्न मानता है । उसमें ममता नहीं रखता, ऐसे अपनी देहमें भी ममतासे रहित हुआ, मैं मेरी त्याग करता हुआ, जैसे [अंहता ममतानाशे सर्वथा निरहं कृतौ । स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते] (शान्तः) शान्तिको प्राप्त हुआ हुआ अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान हुआ हुआ (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्मभावके लिये अर्थात् सच्चिदानंदैकरससे ब्रह्मात्मभाव स्थितिके लिये (कल्पते) कल्पना किया जाता है अर्थात् ब्रह्मकार वृत्तिमें स्थित हो जाता है ॥ ५०।५१।५२ ५३ ॥

वेदगीता मंत्र)

दे॒वो न यः स॑वि॒ता स॒त्यम॑न्मा[1]
क्रत्वा॑ नि॒पाति॑ वृ॒जना॑नि[2] विश्वा॑ ।
पु॒रु॒प्र॒श॒स्तो अ॒मति॒र्न स॒त्य
आ॒त्मेव॒ शेवो॑ दिधि॒षाय्यो॑[3] भूत् ॥ ऋ. १।७३।२

१— सत्यमन्मा= मननं मन्म, मन ज्ञाने [अन्येभ्योऽपि दृश्यते] इति मनिन् प्रत्ययः ।

२— वृजिनानि= वृजी वर्जने [कृपृवृजी—,

३— दिधिषाय्यः= दधातेर्दिधिषाय्य उणादि ३।९६ इति साय्यप्रत्ययान्तो निपातितः ।

अर्थ— (यः) विशुद्ध बुद्धि और मनको वशमें रखनेवाला और जितेन्द्रिय जो मनुष्य (देवः सविता न) ब्रह्म ज्योतिः से प्रकाशमान स्थावर जंगम पदार्थोंके प्राणदाता सूर्यके समान (सत्यमन्मा) यथार्थज्ञानी अथवा सत्यस्वरूप ब्रह्ममें मन लगानेवाला (कत्वा) अपने निष्काम कर्मद्वारा अर्थात् फलाकांक्षासे रहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंद्वारा (विश्वा वृजिनानि) अहंकार, बल, दर्प, क्रोध, काम, परिग्रह स्वरूप सब पापोंको (निपाति) दूर कर देता है। अथवा (विश्वा= विश्वेभ्यः, वृजिनानि=वृजिनेभ्यः अत्र द्वितीयास्थाने पञ्चमी विभक्तिः] अर्थात् ज्ञानी मनुष्य काम, क्रोधादि सब पापोंसे (निपाति) अपने आपको अच्छी तरहसे सुरक्षित रखता है। और (पुरुप्रशस्तः) बहुत मनुष्योंमेंसे श्रेष्ठ अथवा बहुत मनुष्योंसे प्रशंसा किया हुआ बहुत मनुष्योंसे प्रशंसनीय (अमतिः न सत्यः) मानो मूर्तिमान् सत्यका स्वरूप (शेवः) सबका सुखदाता अर्थात् सुखस्वरूप (आत्मा इव) परम प्रेमास्पदभावसे अत्यन्त आनंदस्वरूप समान आत्मा [एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति, एष ह्येवानन्दयति) ऐसा यह ज्ञानी मनुष्य (दिधिषाय्यः) शुभ कर्मद्वारा शुभस्थान अर्थात् मुक्ति धाममें धारण करने योग्य (अभूत्) होता है अर्थात् निष्कामकर्म करनेवाला ज्ञानी मनुष्य मुक्त होजाता है ॥ २ ॥

वेदगीता (मंत्र)

ये बध्यमानमनु दीध्याना
अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो
विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ अथ. २।३४।३

अर्थ— (ये) शुद्ध बुद्धि और वाणी, शरीर, और मनको वशमें रखनेवाले, परमात्माका स्मरण और उसमें योगसमाधि लगानेवाले और सर्वत्र विश्वरूप परमात्माको देखनेवाले जो ज्ञानी मनुष्य (बध्यमानं) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार दर्पादि दुर्गुणोंसे बंधे गए प्राणीको (अनु दीध्यानाः) दयादृष्टिसे ध्यान करते हुए (मनसा) शुद्धमनसे (च) और (चक्षुषा) दया दृष्टिसे (अनु+ऐक्षन्त) पूर्णतया देखते हैं अर्थात् ज्ञानियोंके मन और दृष्टि द्वारा काम क्रोधादिसे बंधे हुए संसारी जीवोंके ऊपर उनके उद्धारके लिये उनपर स्नेह दृष्टि पडती है, कि यह बद्ध मनुष्य भी किसी प्रकारसे मुक्त होजावें ऐसा ज्ञानी मनुष्योंका विचार रहता है। (विश्वकर्मा) सारे संसारको प्रगट करनेवाला अर्थात् विश्वका कर्ता (देवः) सबका प्रकाशक दिव्यगुणोंवाला (अग्निः) सारी सृष्टिका अग्रणी अर्थात् नेता परमात्मा (प्रजया संरराणः) अपनी सृष्टि के साथ रमण करता हुआ अर्थात् सृष्टिमें व्यापकरूप होकर (तान्) काम क्रोध, लोभादि दुर्गुणोंसे रहित इन्द्रियों और मनको वशमें रखनेवाले उन ज्ञानियोंको और अपने भक्तोंको (अग्रे) मुख्यतामें अथवा सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) संसार बंधनसे छुडा कर मुक्तिको प्रदान करे ॥ ३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

गूहता गुह्यं तमो वियात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥ ऋ. १।८६।१०

अर्थ— हे मुमुक्षु जीवात्मन्! (यत्) यदि (उश्मसि) परमात्माके चरणोंमें जाना चाहता है अर्थात् मुक्त होना चाहता है, तो (विश्वं अत्रिणं) सारे संसारके प्राणी और अप्राणियोंको भक्षण करनेवाला अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकाररूप परिपंथियों (डाकुओं) को (वियात) अपने मनसे निकाल दे अर्थात् दूर कर दे, फिर (ज्योतिष्कर्ता) अपने अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी ज्योतिः का करनेवाला अर्थात् सत्वगुणके प्रधान होनेसे ज्ञानसे प्रकशित हुए हुए मनवाला, अन्तराराम और अन्तर्ज्योतिः होकर (गुह्यं तमः) गुह्यसे गुह्य हृदयान्धकार अर्थात् अज्ञानको हृदयसे (गूहत) छिपा दे। नियम यह है प्रकाश और अंधकार, ज्ञान और अज्ञानका परस्पर पूर्ण विरोध है। जहां प्रकाश होगा, वहां अंधकार न होगा। जहां ज्ञान होगा, वहां अज्ञानांधकारका विनाश होगा अतः ज्ञानरूपी दीपकसे अज्ञानरूपी अंधकार जब दूर होजाएगा, तब मनुष्य संसार बंधनसे मुक्त होजाएगा ॥ १ ॥

तुलना— गीतामें कहा है। जब मनुष्य रूपरसादि विषयोंको त्याग करके शुद्धबुद्धि हो कर सात्विकवृत्ति (धैर्य) से मनको वशमें करके वाणी, शरीर, मनपर पूर्ण अधिकार करके काम, क्रोध, लोभादिको छोड़कर सब प्रकारसे शांत हो जाता है, तब वह मनुष्य ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। वेदमें भी यही कहा है। जो मनुष्य सत्यज्ञानका आश्रय लेकर काम, क्रोध, लोभादि दुष्कर्मोंको त्यागकरके सत्यस्वरूप सुखदायी आत्मज्ञानको पा लेते हैं, तब वह आकाशमें स्थित सूर्य देवताके समान

१– ऐक्षन्त= ईक्ष दर्शने, छन्दसो लङ्। (३) संरराणः= रै शब्दे इत्यस्माल्लटः कानच्।
२– मुमोक्तु= मुञ्चतेः छान्दसः शपः श्लुः।

इस लोकमें ज्ञानसे प्रकाशित हो कर मुक्तिका सुख भोगते हैं और जो मनुष्य ज्ञानद्वारा संसारके बंधनमें फंसे हुए मनुष्योंको संसार बंधनसे छुड़ाते हैं। परमात्मा उन्हें सबसे प्रथम संसारसे मुक्त करता है, और जो मनुष्य ज्ञानमय ज्योतिसे प्रकाशित हो कर गुह्य अज्ञानांधकारको हृदयसे हटा देते हैं और काम, क्रोध, लोभादिसे दूर रहते हैं, उन्हें सदा परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा लगी रहती है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ भग. १८।५४

अर्थ— हे अर्जुन ! (प्रसन्नात्मा) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि शत्रुओंके परित्याग करनेसे प्रसन्न और शान्त मनवाला अर्थात् मनके प्रसन्न होनेसे स्थिर बुद्धिवाला [ब्रह्मभूतः= अब्रह्म जीवः ब्रह्म भवतीति ब्रह्मभूतः] ब्रह्मस्वरूप अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिवाला ब्रह्मज्ञानी (न शोचति) किसी नष्ट हुई हुई वस्तुका शोक नहीं करता और (न कांक्षति) किसी भी अप्राप्त वस्तुके प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं रखता है। (सर्वेषु भूतेषु) सब प्राणियोंमें और स्वर्णआदि सब पदार्थोंमें (समः) समान दृष्टि रखनेवाला (परां मद्भक्तिं) मेरी पराभक्तिको अर्थात् जो तत्वज्ञानकी पराकाष्ठा है, जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना शेष नहीं रहता, उसे ही पराभक्ति, ज्ञानकी पराकाष्ठा, परम नैष्कर्म्य सिद्धि, और परमसिद्धि इत्यादि नामोंसे कही गयी है ऐसी पराभक्तिको (लभते) पाता है ॥ ५४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे
ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥ अथ. १९।४३।८

अर्थ— (यत्र) जिस मुक्तिपदमें (ब्रह्मविदः) वेद और परब्रह्म परमात्माके जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी (दीक्षया) ब्रह्मज्ञान प्राप्तिके लिये दृढ नियमकी पालनामयी दीक्षासे अर्थात् ब्रह्मज्ञान व्रतके पालनसे (तपसा सह) और तपश्चर्याके साथ (यान्ति) प्राप्त होते हैं। (ब्रह्मा) सबसे बृहत् परमात्मा (मा) मुझे (तत्र) उस मुक्तिपदमें (नयतु) ले जावे। (ब्रह्मा) परमेश्वर अथवा ब्रह्मज्ञान प्रदाता आचार्य (ब्रह्म) ब्रह्मपदको (मे दधातु) मुझे प्रदान करे (ब्रह्मणे स्वाहा) मेरा सब ब्रह्मज्ञान और ध्यान ब्रह्मार्पण हो, मैं उसी परमात्माकी स्तुति करता हूं ॥ ८ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, शुद्ध मनवाला मनुष्य जीवनमुक्त होकर नष्ट वस्तुका शोक नहीं करता और अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं चाहता। सबमें समान दृष्टि रखता है, वह मनुष्य मुक्तिका अधिकारी हो जाता है। वेदमें कहा है, ब्रह्मज्ञानी मनुष्य दीक्षा और तपश्चर्यासे जिस मुक्तिपदको प्राप्त होते हैं, परमात्माका भक्त यही प्रार्थना करता है मेरा सब कर्म ब्रह्मार्पण है, अतः मुझे भी परमात्मा उसी मुक्तिपद प्राप्त करावे।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
भग. १८।५५

अर्थ— हे अर्जुन ! (यः) जो मुमुक्षु मनुष्य (भक्त्या) विज्ञानात्मक पराभक्तिसे अर्थात् निर्विकल्प समाधिद्वारा (यावान्) जितना मात्र अर्थात् जैसा स्वरूपवाला (च) और (तत्वतः) वास्तविक भावसे (अस्मि) मैं हूँ अर्थात् परमात्मा जैसे स्वरूप वाला है (मां अभिजानाति) इस प्रकार मुझ परमात्माको जानता है। (ततः) मेरे अर्थात् परमात्माके स्वरूप जाननेके अनन्तर (मां) मुझ परमात्माको (तत्वतः) वास्तविक स्वरूपसे (ज्ञात्वा) जानकर (तदनन्तरम्) ऐसे परमात्माके स्वरूपके जाननेके अनन्तर (विशते) अखण्ड परब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है ॥ ५५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया
हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः ।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते
मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥

ऋ. १०।१७७।१

अर्थ— (विपश्चितः) विशेषतया वेदवेदाङ्ग सिद्धान्तके जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी यति जन (असु+र+स्य) सकल प्राणियोंके प्राणदाता, सर्वोपाधिरहित परब्रह्म परमात्माकी (मायया) शक्तिसे (अक्तं) जीवरूपसे प्रकट हुए हुए (पतङ्गम्) सर्वव्यापक परमात्माको (हृदा) अन्तर्मुखवाले (मनसा) मनसे अर्थात् अन्तर्ज्योति अवस्थाद्वारा (पश्यन्ति) ध्यान करते हैं अर्थात् देखते हैं (कवयः) कविजन अर्थात् ज्ञानीजन (समुद्रे अन्तः) [समुद्रवन्ति अस्मात् अस्मिन् वा भूतानि इति समुद्रः-परमात्मा] उस अधिष्ठानरूप परमात्माके अन्दर (विचक्षते) सारे दृश्यमान जगत्को अध्यासरूपसे स्थित देखते हैं। (वेधसः) अतः ज्ञानी लोग (मरीचीनां पदं) महाज्योतिके अधिष्ठान सच्चिदानंद स्वरूपको धामको अर्थात् मुक्तिपदको (इच्छन्ति) चाहते हैं ॥ १ ॥

वेदगीता (मंत्र)

म॒हत् तन्नाम॒ गुह्यं॑ पुरु॒स्पृग्
येन॑ भू॒तं ज॒नयो॒ येन॒ भव्य॑म् ।
प्र॒त्नं जा॒तं ज्योति॒र्यद॑स्य
प्रि॒यं प्रि॒याः सम॑विशन्त॒ पञ्च॑ ॥

ऋ. १०।५५।२

अर्थ— हे मुमुक्षु योगिन्! (तत्) उस परब्रह्म परमात्माका (गुह्यं) गुह्य अर्थात् सर्व साधारण मनुष्योंसे अज्ञात (पुरुस्पृक्) बहुत भक्तजनोंकी जिह्वापर स्पर्श करने योग्य अथवा चाहने योग्य (नाम) ओं यह नाम वा स्वरूप (महत्) सबसे अत्यन्त बडा और श्रेष्ठ है। (येन) जिस नाम द्वारा (भूतं) पूर्व उत्पन्न हुआ पदार्थ मात्र (भव्यं) आगे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ मात्र (जनयः) प्रगट हुआ अर्थात् उत्पन्न हुआ हुआ और आगे उत्पन्न होनेवाला सारा जगत् परब्रह्म परमात्मासे उत्पन्न होता है। (अस्य) इस परमात्माका (प्रत्नं) सबसे पुराना अर्थात् पूर्वकालीन (यत् ज्योतिः) जो आकाशमें प्रकाशमान् सूर्यमण्डलात्मक ज्योति पदार्थ (प्रियं) प्रियभूत तत्त्व (जातं) उत्पन्न हुआ है। (प्रियाः) पराभक्तिके कारण [ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्] इस उक्तिके अनुसार परमात्माके प्यारे ज्ञानी (पञ्च-पञ्चजनाः) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद यह पाञ्चों जन (प्रियं) अपने परम प्रिय परमात्मामें (समविशंत) समावेश कर जाते हैं, अर्थात् पराभक्ति द्वारा मुक्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, मनुष्य मोक्षका अभिलाषी होकर पराभक्ति अर्थात् ज्ञानपूर्वक विज्ञान द्वारा वास्तविक भावसे परमात्माको जानकर 'मैं क्या हूँ, कैसा हूँ' ऐसा जानकर मुक्तिमें प्रवेश कर जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

वेदमें भी यही कहा है ज्ञानीजन परमात्माकी भक्तिद्वारा उत्पन्न हुए हुए जगत्को ज्ञान द्वारा पूरा समझकर शुद्ध मनसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको जान लेते हैं। जिस परमात्मासे पहिले सब सूर्यादि ज्योतिर्मण्डल प्रकट हुआ है। और जो आगे भी प्रकट हो रहा है। उस परब्रह्म परमात्माको जब ज्ञानी जन पराभक्तिद्वारा जान लेता है, तब उसमें समावेश कर जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ भग. १८।५६

अर्थ— हे अर्जुन! (मद्व्यपाश्रयः) मुझ परमात्माका आश्रय (अवलंबन) रखनेवाला अर्थात् मेरी शरणमें आया हुआ मुमुक्षु मनुष्य (सर्वकर्माणि अपि) नित्य नैमित्तिक कर्तव्य और सब श्रौत स्मार्त कर्मोंको भी (सदा कुर्वाणः) नित्य करता हुआ (मत्प्रसादात्) मुझ परमात्माके अनुग्रहसे (शाश्वतं) नित्य (अव्ययं) वृद्धि और क्षयादि विकारोंसे रहित (पदं अवाप्नोति) पदको अर्थात् मुक्तिधामको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृ॒त्र॒हा ।
यतो॒ न पु॒नराय॑ति श॒श्वती॑भ्यः॒ समा॑भ्यः ॥

अथ. ६।७५।२

अर्थ— (वृत्रहा) पापाऽपहारी (इन्द्रः) सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा (तं) पराभक्ति अर्थात् ज्ञान विज्ञान द्वारा सेवा करनेवाले उस योगीजनको (परमां) सबसे उत्कृष्ट (परावतं) संसारसे अत्यन्त दूर वर्तमान स्थानको अर्थात् मुक्तिपदको (नुदतु) प्रेरणा देता है अर्थात् मुक्तिपदको देता है। (यतः) जिस स्थानसे वह योगीजन (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्तकालतक अर्थात् सदाके लिये (न पुनः आयति) संसारमें फिर वापिस नहीं आता अर्थात् सदाके लिये मुक्ति स्थानमें रहता है ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, जो मुमुक्षु पुरुष नित्य नैमित्तिक कर्मोंको मेरे अर्पण करता है, कर्मके फलकी इच्छा नहीं रखता, वह योगीजन मेरी कृपासे मुक्तिधामको पाता है।

वेदमें भी यही उपदेश है, परमात्मा पराभक्तिमें मस्त रहनेवाले मनुष्यको संसार सागरसे परमे पार मुक्तिपदको देता है। जिस पदसे वह संसारमें पुनः जन्म मरणके बंधनमें नहीं पडता।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ भग. १८।५७

अर्थ— हे अर्जुन! मनुष्य मात्रके निष्काम कर्म करनेसे प्रसन्न हुए हुए परमात्माकी कृपासे मुक्ति प्राप्त होती है इस ज्ञानसे युक्त तू मुमुक्षु पुरुष चित्तसे अर्थात् विवेकात्मक बुद्धिसे (सर्वकर्माणि) श्रौतस्मार्तप्रतिपादित नित्य नैमित्तिक कर्मोंको (मयि) मुझ परमात्माको (संन्यस्य) समर्पण करके (मत्परः) मुझे परमात्मामें संलग्नता रखता हुआ (बुद्धियोगं उपाश्रित्य) ब्रह्म सर्वव्यापक है, और वह विश्वरूप है ऐसे ज्ञानयोगका सहारा लेकर अर्थात् सदा ब्रह्मविचारमें तत्पर हुआ हुआ

(सततं) नित्य (मच्चित्तः भव) मुझ परमात्मामें मन लगानेवाला होजा ॥ ५७ ॥

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियनक्तु मह्यम् ॥
पार. गृ. सू. २।२।१६

अर्थ— योगदर्शनाधार पर 'गुरु' परमात्माका नाम है [सः सर्वेषां गुरु कालेनानवच्छेदात्] इस मंत्रमें भी परमात्मा गुरु रूप होकर जीवरूप शिष्यको उपदेश देता है । हे मुमुक्षु जन ! (ते हृदयं) तेरे मनको (मम व्रते) अपने समाधिरूपी नियममें अर्थात् तेरे हृदयको परमात्माकी समाधिमें (दधामि) धारण करता हूं अर्थात् तेरा मन सदा परमात्माकी समाधिमें लगा रहे । (ते चित्तं) तेरे मनका सदसद्विवेचनात्मक विचार (मम) मुझ परमात्माके (अनुचित्तं अस्तु) अनुकूल हो अर्थात् बुद्धियोगका आश्रय लेकर लगातार मुझ परमात्मामें अपने चित्तको धारण करनेवाला हो जा । (मम) मुझ परमात्माकी (वाचं) सर्व कर्मफल त्यागवाली उपदेशमयी वाणीको (एकमना) मुझ परमात्मामें मनको धारण करके एकाग्र मन होकर (जुषस्व) सेवन कर ! (बृहस्पतिः) ज्ञानयोगात्मक बुद्धिका स्वामी आचार्य अर्थात् उपदेष्टा परमात्मा (त्वा) तुझ मुमुक्षु पुरुषको (मह्यं नियुनक्तु) मुझ परमात्मामें जोड देवे ॥ १६ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, मनुष्य शुद्ध एकाग्र मनसे ही सब कर्तव्य कर्मोंको मुझ परमात्मामें अर्पण करके ज्ञानयोगका आश्रय लेकर नित्य ही अपने मनको मुझमें धारण करके कर्म करता है वह जीवमुक्त हो जाता है ।

पारस्कर मंत्रमें भी यही कहा है । तुझ मुमुक्षुका मन मेरी समाधिके नियममें स्थित हो और तेरा चित्त परमात्माके ध्यानमें निश्चिन्तरूपसे लगा रहे । गुरु अर्थात् परमात्माकी देववाणीको एकाग्रमन होकर सुन और तदनुसार आचरण कर । परमात्माकी कृपासे मुमुक्षुजन भगवद्ध्यानमें लग जाता है ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैषः व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
भग. १८.५९

हे अर्जुन ! (मच्चित्तः) मुझ परमात्मामें मनको धारण करता हुआ तू (मत्प्रसादात्) मेरी प्रसन्नता अर्थात् कृपासे (सर्व-दुर्गाणि) कठिन अविद्याजनित मोहादि बुराइयोंको (तरिष्यसि) पार कर जाएगा अर्थात् तेरे मनका मोहजाल दूर हो जाएगा अर्थात् कोई बुराई तुझे उपस्थित न होगी । (अथ चेत्) अब यदि मेरे वचनके न मानने पर (अहंकारात्) मैं आचार्य और मामादि सम्बन्धियोंको यदि मारूं तो मुझे बडा भारी पाप लगेगा, क्योंकि मैं ही सब शास्त्रोंका ज्ञाता हूं, मेरे विना और कोई विद्वान् नहीं है इस अभिमानसे (न श्रोष्यसि) मेरे वचनको सुनता हुआ भी न सुनेगा, अर्थात् मेरे वचनको मनमें स्थान न देगा अर्थात् मेरे वचनको सुनकर भी यदि तू आचरण न करेगा । (त्वं विनंक्ष्यसि) तो तू विनष्ट हो जाएगा ॥ ५८ ॥

(यत्) यदि (अहंकारं आश्रित्य) मैं ही पंडित हूं और मैं ही ज्ञानी हूं इस अभिमानका आश्रय लेकर (न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करता (इति मन्यसे) तू ऐसा मानता है । (ते) तेरा (एषः व्यवसायः) यह निश्चय (मिथ्या) निरर्थक अर्थात् असत्य है । (प्रकृतिः) क्षात्र धर्मका स्वभाव (त्वां) प्रकृतिके अधीन चलनेवाले तुझको (नियोक्ष्यति) युद्ध करनेमें नियुक्त कर देगी, अर्थात् तू युद्धको अवश्य ही करेगा ॥ ५९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा
सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे
स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ ऋ. ७।८६।६

अर्थ— (हे वरुण !) हे श्रेष्ठ जीवात्मन् ! अर्थात् हे मुमुक्षु मनुष्य ! (सुरा) मदके समान प्रमाद करानेवाला अहंकार (मन्युः) क्रोध (विभीदकः) भय उत्पन्न करानेवाली (अचित्तिः) अज्ञानस्वरूप मोहात्मक (सा ध्रुतिः) जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यंत एकरूपमें धारण करनेवाली प्रकृति ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके स्वभावका कारण है, (न स स्वो दक्षः) मैं शूर हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं पण्डित हूँ, इस प्रकारका वह अहंकार ही अपनी अर्थात् मनुष्यकी चतुरताका कारण "कार्यमें प्रवृत्ति अथवा कार्यसे निवृत्तिका कारण" नहीं है । (कनीयसः उपारे) आनंदहीन अर्थात् तुच्छके समीप (ज्यायान् अस्ति) नियन्ता होनेसे स्वभाव ही अधिक बलवान् होता है, क्योंकि वही स्वभाव ही उस तुझ पुरुषको अपने अपने वर्ण धर्ममें प्रवृत्त कराता है । (स्वप्नश्चन) स्वप्न भी (अनृतस्य) मिथ्याव्यवसायी अहंकारी मनुष्यको (प्रयोता) अपने अपने वर्ण धर्ममें लगानेवाला होता है ।

तुलना— गीतामें कहा है, यदि मनुष्य अहंकारका आश्रय लेकर वह अपने अपने वर्णधर्म अथवा मनुष्य धर्मका त्याग भी करे, तो उसकी प्रकृति उसे उस अहंकारसे हटाकर अपने अपने वर्ण धर्ममें प्रवृत्त करा देगी ।

द्रवीभूत होनेवाला हृदय उसके पास नहीं होता, किन्तु होती है पास उसके सम्मानकी कृत्रिम अनुभूति जिससे वह सदैव संसक्त रहता है।

अद्यतनीय परिस्थितियोंमें जीवन मेरे लिये असह्य है। जीवनको क्रय करनेके लिये यदि मुझे पैशाचिक अन्याय एवं नग्न अवैधानिकताका क्षुद्रोपकरणवत् मूक परितोष करनेके रूपमें मूल्य चुकाना पड़े तो यह मूल्य चुकाना मेरी चेतनाके असंराध्यतः विरुद्ध है। इस मूल्यके चुकानेके स्थान-पर मैं ऐहिक लीलाका संवरण करना अपने लिये अधिक श्रेयस्कर समझूंगा। शासन अपने क्रूर बलसे मुझे कारामें रखनेके लिये कटिबद्ध है। उत्तरमें मैं बलपूर्वक कहता हूं, "मुझे मुक्त करो अन्यथा मैं जीवनका निषेध कर दूंगा। यह निश्चय करना कि मेरे लिये जीवनवरणीय है अथवा मृत्यु, एकान्ततः मेरे ही बौद्धिक शीलनका विषय है। भले ही कोई तात्कालिक लाभ न हो, किन्तु कोई त्याग एवं बलिदान निरर्थक नहीं होता। मात्र त्याग एवं बलिदानके वारिसे ही कोई महान उद्देश्य रूपी वृक्ष पल्लवित एवं समृद्ध होता है। प्रत्येक युग एवं प्रदेशमें इसी शाश्वत नियमकी विजय होती है", जीवनोत्सर्ग करनेवाला बलिदानी अपने रक्तदानसे एक पवित्र उपासना स्थलके बीजको सींचता है।' अमर्त्य संसारमें प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाती है तथा होती रहेगी, किन्तु विचार, आदर्श एवं स्वप्न अविनश्वर हैं। किसी विचारके लिये एक व्यक्तिका प्राणान्त हो सकता है, किन्तु वह विचार सहस्र जीवनोंमें मूर्त होकर पुनः इस भूतल पर अवतरित होगा। संसारके विकास-क्रमकी यही निर्धारित गत्यात्मकता है। इसी प्रकार एक पीढ़ीके विचार, आदर्श एवं स्वप्न अनुवर्ती संततिको दायरूपमें प्राप्त होते हैं। कोई विचारसंसारमें त्याग एवं बलिदानका अभीष्ट सिंचन प्राप्त किये बिना कभी फलीभूत नहीं हुआ है।

इस अनुभूतिसे बढ़कर मनुष्यके लिये और क्या सुखद बात होगी कि उसने एक महान् उद्देश्यके लिये जीवन यापन किया एवं तत्समुन्नत्यर्थ ही प्राणोत्सर्ग किया है? उसकी अधोगतिमें आनेवाले इस संतोषसे आह्लादक और क्या वस्तु हो सकती है कि उसकी आत्माने ऐसी अन्य तेजस्वी आत्माओंका अवतरण सम्भव कराया है जिनके द्वारा उसके अपूर्ण कार्योंकी रुचिर निष्पत्ति होगी। उसकी संदेशवाहिकाका उत्तुंग शिखरोंका वायवीय संक्रमण कर अपनी गतिमें अवरोह लाकर पृथ्वीतलके प्रत्येक कोनेको अपने ऊर्जस्व-प्रदायी स्वरसे गुंजित करती हुई समुद्रपारके दूरस्थ देशोंमें भी पहुंचेगी, इस निश्चयसे अधिक समुज्ज्वल प्रतिदान एक आत्माके लिये और क्या हो सकता है? एक महान् उद्देश्यके लिये शान्तिपूर्ण आत्मोत्सर्गसे भी अवदाततर और कौनसा चरमोत्कर्ष एक जीवनके लिये परिज्ञेय है? अतः यह स्वतः प्रमाणित है कि त्याग एवं बलिदानपथका अनुगामी कुछ खोता नहीं है। यदि वह पृथ्वीकी किसी पार्थिव वस्तुसे वंचित होता भी है तो एक अविनश्वर जीवनका उत्तरा-धिकारी बनकर क्षतिपूर्ति स्वरूप बहुत कुछ पा भी लेता है। आत्मोन्नयनकी यही प्रक्रिया है। राष्ट्र जीवित रहे, इसके लिये व्यक्तिको मरना ही है। इसी प्रकार भारतके जीवन और उसके गौरवके लिये मुझे आज मृत्युका वरण करना है।

अपने देशवासियोंसे मैं कहता हूं— यह मत भूलो कि पराधीनता धरतीपर रहनेवाले मानवके लिये कटुतम अभि-शाप है। अन्यायका परितोष करना और उसे प्रश्रय देना जघन्यतम पातक है, यह सदा स्मरण रखो। जीवन यदि लेना चाहते हो तो तुम्हें जीवनकी भिक्षा देना भी होगी। यह भी स्मरण रखो कि वैषम्यके विरुद्ध संघर्ष मानवका उच्चतम गुण है। इसके लिये चाहे उसे कितना ही बड़ा मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। वर्तमान शासनके लिये मेरा यह परामर्श है— सत्ता जन्यआटोपसे उद्भ्रान्त होकर साम्प्रदायिकता एवं अन्यायके पथपर आगे मत चलो। अभी भी इस कदर्थित मार्गसे पग पीछे हटानेका समय है। दमन चक्रका विवर्द्धन इतनी निर्ममतासे जनताके विरुद्ध न होने दो, कि कालान्तरमें वह अपने प्रहारसे तुम्हें भी समाप्त कर दे। बंगालको दूसरा सिंह मत बनाओ। मैंने अपना निवेदन समाप्त कर दिया है। मेरा आपसे द्वितीय एवं अन्तिम अनुरोध यह है कि मेरे उपवास-क्रममें आप बलपूर्वक हस्तक्षेप न करें। मेरा प्राणान्त शान्तिसे होने दें। Terence Macswiney, जतीनदास, महात्मा गांधी एवं १९२६में स्वयं हमारे अपने विषयमें शासनने हस्तक्षेप नहीं किया। मुझे आशा है कि वह अब भी ऐसा ही करेंगे, अन्यथा बल-पूर्वक भोजन दिये जानेका मैं पूर्ण शक्तिसे विरोध करूंगा। इसका परिणाम चाहे कितना ही गम्भीर और विनाशकारी क्यों न हो।

मैं अपना अनशन २९ नवम्बर, १९४० से आरंभ करूंगा।

प्रेसीडेन्सी जेल, आपका,
२६-११-४० **सुभाषचन्द्र बोस**

पुनश्च — अपने पूर्ववर्ती उपवासोंकी भांतिमें इस उपवासान्तर्गत भी नमक मिले जलका ही प्रयोग करूंगा, यद्यपि उचित समझने पर कुछ समय पश्चात्में यह भी त्याग दूंगा।

卐 卐 卐

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमंत्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

वैदिक धर्म

अक्टूबर १९६३

५० नये पैसे

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक १०

क्रमांक १७७ : अक्टूबर १९६३

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

" वैदिक धर्म "

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०

डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,
पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आय धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	१)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये **देवता-मंत्र-संग्रह** मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता– (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता– (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता– (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	.२५
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	.२५
५ काण्व	,,	,,	२)	.२५
६ सव्य	,,	,,	१)	.२५
७ नोधा	,,	,,	१)	.२५
८ पराशर	,,	,,	१)	.२५
९ गोतम	,,	,,	२)	.३७
१० कुत्स	,,	,,	२)	.३७
११ त्रित	,,	,,	१.५०	.३१
१२ संवनन	,,	,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	.५०	.१२
१४ नारायण	,,	,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)	१.५०

मन्त्री—'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट—'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

सदा क्रियाशील रहो

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥ ऋ. १०।५३।६

हे मनुष्य ! तू (तन्तुं तन्वन्) कर्मके ताने बाने बुनता हुआ (रजसः भानुं अन्विहि) द्युलोक स्थित सूर्यके तेजको प्राप्त कर और (धिया) अपनी बुद्धिसे (कृतान् ज्योतिष्मतः पथः रक्ष) कर्मशीलोंके प्रकाशयुक्त मार्गकी रक्षा कर। तू (जोगुवां अनुल्बणं अपः वयत) ईश प्रार्थनारूपी विघ्नरहित कर्मोंको बुन, (मनुः भव) मननशील बन और (दैव्यं जनं जनय) दिव्यजनोंका निर्माण कर।

मनुष्यका यह जीवन बेकार बैठनेके लिए नहीं है अपितु कर्म करनेके लिए है। मनुष्य अपने वर्तमान जन्ममें कर्मरूपी धागोंसे कपडा बुनता रहता है और इस कपडेको वह अपने अगले जन्ममें पहनता है। अतः कर्त्ताको चाहिए कि वह सदा उत्तम कर्मोंका ही कपडा बुने। वह अपने क्रियाशील पूर्वजोंके मार्गपर चले, क्योंकि वे मार्ग प्रकाशयुक्त हैं, उसमें विघ्न नहीं हैं। इस मार्गमें उसका ईश्वर भी सहायक होता है, अतः वह ईश्वरकी प्रार्थना करे, उसकी शरणमें जावे और इस प्रकार वह स्वयं पहले एक इन्सान बने, मननशील बने, फिर दूसरे मनुष्योंको भी श्रेष्ठ-आर्य बनावे।
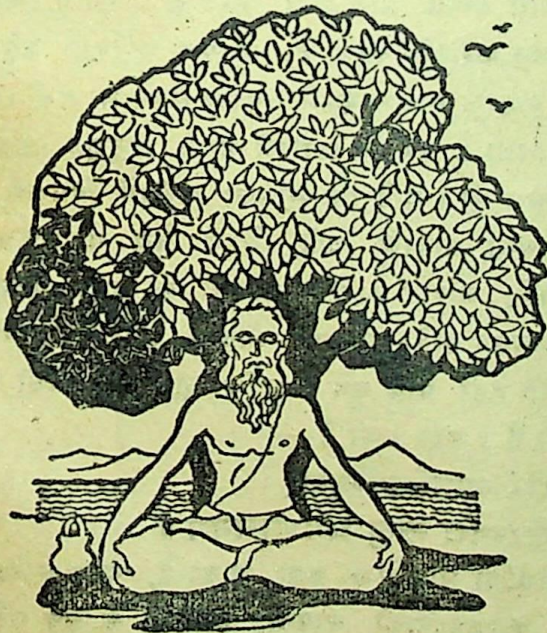
हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ?

[स्वप्न-विषयक विशेष ज्ञातव्य]

[लेखक— श्री विश्वामित्र शर्मा]

"धर्मयुग" फरवरी ७, १९५४के अंकमें स्वप्नके विषयमें एक छोटासा परिचायक लेख छपा था। स्वप्नके विषयमें अपने प्रयोग और अनुभव एवं विशेष वैज्ञानिक ज्ञातव्य प्रकट करना उचित समझकर मैं यह लिख रहा हूं।

स्वप्नोंका अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञानकी नवीन भूमिका है और इस विषयमें फ्रायड, यंग एवं एडलर आदिने अपने अनुसंधानोंसे जो मन्तव्य प्रकट किया है, एवं सर्वत्र पुस्तकों, पत्रिकाओं और चर्चाओंमें, स्वप्नों या मानसिक रोगोंको काममूलक, वासनाजन्य अथवा कोई अज्ञात अतृप्त इच्छाका छद्मवेषमात्र कहकर या मानकर जिस नवीन मनोविज्ञानका प्रसार हो रहा है, उसमें केवल आंशिक सत्यका दर्शन है, वह आधा सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। जिस क्षेत्र और वातावरणमें फ्रायड, यंग और एडलर महाशयोंने प्रयोग और शोध किये हैं, वह भारतीयसंस्कृतिसे बिलकुल भिन्न है, फिर भी जो बात पश्चिममें उन्होंने पूर्णतया सत्यरूप देखी है, वह भारतमें तथा सर्वत्र अंशतः सत्य है। मुरे महाशयका प्रयोग, कि शारीरिक उपकरणोंसे भी स्वप्न आते हैं, भी अंशतः सत्य है। मुरे महाशयने सोते हुए मनुष्यके शरीरपर पानीके छींटे डालकर या पांवमें आंच लगाकर या कोई धीमी आवाज सुनाकर इत्यादि-स्वप्न सम्बन्धी जो कुछ अनुभव बताया है वह स्वप्नका बाह्यकारण कहा जा सकता है, और फ्रायड, यंग, एडलर महाशयोंके शोधको केवल मानसिक भूमिकामें उत्पन्न माना जा सकता है। परन्तु शरीरके भीतर स्वप्नका कारण खोजनेका भी प्रयत्न किसीने किया ?

मनका अस्तित्व शरीरसे भिन्न, पृथक् और स्वतन्त्र नहीं है, मनका वास शरीरमें है, वह शरीरके रक्तमें, रोम रोममें कणकणमें, प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त है। मनकी रचना और प्रकृति प्रवृत्ति, बहुधा शरीरके अनुसार बनती है और मनुष्य किस प्रकारका भोजन करता है, कितना खाता है, कब कब खाता है, कैसे खाता है, किन दशाओंमें (भूख लगने पर या बिना भूख) खाता है, पचानेके लिए कितना परिश्रम करता है और मलमूत्र-त्यागमें उसकी कैसी नियमितता है— इन्हीं बातोंपर निर्भर होते हुए स्वप्नका कारण उत्पन्न होता है।

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे तन और मन।

स्वप्न आनेके बहुतसे, विशेषकर शारीरिक कारण हैं, और स्वप्नोंका प्रतिकार करनेके भी साधन हैं। स्वप्न मनुष्यकी अचेतन मानसिक भूमिकामें प्रकट होते हैं— यह बात सत्य है, परन्तु उसको हरेक परिस्थितिमें केवल मानसिक कारणसे उत्पन्न मान लेना गलत है। स्वप्न मनको होता है, मन शरीरमें रहता है, अतएव शरीरकी उपेक्षा करके वह बाहरसे स्वतन्त्ररूपमें संस्कार लेकर भी तभी स्वप्न उपस्थित करता है जब कि शरीरमें उसके अनुकूल पहलेसे भूमिका तैयार हो। यदि यह भूमिका शरीरमें बिलकुल न हो, तो मनको बाहरसे चाहे जितने जैसे भी उत्तेजक संस्कार मिलें, और 'काम', वासना या अतृप्त इच्छा, अज्ञात आकांक्षा होते हुए भी, निद्रामें स्वप्न या स्वप्न 'दोष' होते नहीं पाये गये। शरीर शुद्धिसे मनकी भी शुद्धि होती है। कहा गया है—

शरीरं व्याधिमन्दिरम्।
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥

जिन रोगोंको मानसिक कहा जाता है, यथा अनिद्रा, पागलपन, आत्महत्याकी भावना, इत्यादि वे सब सदैव

केवल मानसिक ही नहीं होते, और शरीरका उपचारकर शरीरको शुद्ध कर देनेसे वे रोग मिटते पाये गये हैं, इससे सिद्ध हुआ है कि शरीरमें रोग अथवा विकार मौजूद रहने पर ही बहुधा स्वप्न आते हैं, और मानसिक रोग हो जाते हैं। कोई भी शारीरिक पीडा जब जीर्ण हो जाती है और औषधोपचारसे भी दीर्घ कालतक नहीं, मिटती तो उससे विशेष मानसिक क्लेश होता है, और कालान्तरसे, असह्य हो जानेपर जब वह असाध्य कह दी जाती है, तब रोगी निराश होकर उससे मुक्ति पानेके लिए आत्मघातका विचार करता है।× एक महाशयके गर्दनपर छोटीसी जगहपर बहुत वर्षोंसे दाद थी और वे इससे अतिदुःखी होकर आत्महत्या करनेतककी सोचा करते थे। किसीको अति पुराना कब्ज हो, रातको नींद न आती हो जो कि मानसिक न होकर अक्सर गृहकलह, व्यापारमें हानि अथवा अन्य चिन्ताओंके कारण होता है, अनिद्राका प्रमुख कारण कब्ज और अपचन होता है, और इन्हें दूर कर देनेसे अनिद्रा, आत्महत्याकी भावना और पागलपन, उद्दण्ड उग्र पागलपन भी दूर हो गये हैं। कोई भी रोग हो जिस पीडाका अनुभव शरीरमें होता है, उसका अनुभव मनके "द्वारा" होता है, स्वप्न दीखना भी, इस कारण, एक रोग है। यद्यपि इसे परियोंका संदेश माने, देवताओंका आदेश मानें, भविष्यकी सूचना, वर्तमान मनःस्थितिका दर्शन मानें, शुभ या अशुभ मानें, स्वप्न भी एक रोग है, जिसका कारण बहुधा शरीरमें ही मौजूद होता है।

जीवनकी प्रत्येक अवस्था और परिस्थितिमें, बचपनसे लेकर आमरण बुढापे तक, विशेषकर रोगकी उग्र दशामें स्वप्न बहुत, और विचित्र प्रकारके, क्यों आते हैं? जो मनुष्य अच्छी तरह खाता-पीता व्यायाम करता प्रगाढ निद्रा पाता है उसे स्वस्थ दशामें भी स्वप्न आवे तो वह स्वस्थ नहीं, ऐसी दशामें स्वयंको या किसीको स्वस्थ मानना भ्रम मात्र है। बचपन, यौवन और बुढापेमें जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंके और शरीरकी दुर्बलता या रोग-निरोगकी दशामें नाना प्रकारके स्वप्न आते हैं। किसी भी दशामें, विशेष कर रोगके उग्ररूपमें अथवा जब रोगी उपवासकर रहा हो तब स्वप्न अधिक और विचित्र प्रकारके आते हैं उनका कारण यह है कि शरीरमें रक्तमें घुला हुआ विकार (Toxins) शरीरमें सर्वत्र घूमता हुआ मस्तिष्कमेंसे, निद्रावस्थामें [illegible] गुजरता है तब अन्तर्मन उन विकारोंको छद्मवेषमें प्रकट करता है। जो मनुष्य स्वस्थ बलवान् दीखता हो, निरोगी दिखता हो, स्वप्न बहुत कम आते हों यदि, उसे कुछ दिन तक उपवास कराया जाय तो उपवासकालमें उसे विचित्र प्रकारसे स्वप्न दिखाई देते हैं। कारण यह है कि उपवास कालमें, शरीरको भोजन न दिये जानेके कारण, शरीर अपने भीतर एकत्रित पुराने विकारोंको पचाता है, इस क्रियामें वे विकार रक्तके साथ मस्तिष्कमेंसे जब गुजरते हैं तो निद्रावस्थामें नाना प्रकारके स्वप्नोंका रूप धारण करते हैं।

हिस्टीरिया, उन्माद, मृगी, पागलपन और आत्महत्याकी भावनाको, पाश्चात्य मनोविज्ञानिकोंके मतसे, काम मूलक, वासनाजन्य अथवा अतृप्त आकांक्षाके कारण माना जाता है और उनका मानसिक उपचार वर्षोंतक किया जाता है, परन्तु ये सब शरीरस्थ विकारकी सामयिक उत्तेजनाके परिणाम हैं और शरीरके उपचारसे, शरीरकी भीतरी सफाईसे अल्प कालमें अच्छे होते देखे गये हैं। जिससे मन शुद्ध और निर्विकार हो जाता है + परन्तु संस्कार ग्रहण करनेसे मन मलिन, विकारी होता है। शिक्षा सभ्यता भी संस्कार हैं और स्वप्नोंका कारण है।

जिसको निःस्वप्न निद्रा आती हो, जिसका अपानवायु शुद्ध हो, निर्गन्ध हो, जिसमें वातपित्त कफ दोष एकत्रित न हों उसे ही, स्वस्थ समझना चाहिये, परन्तु संसारमें इस दृष्टिसे विरले ही स्वस्थ लोग हैं।

इस लेखकी बातोंको कोई भी प्रयोग करके अनुभव कर सकता है।

दिनभर समय बेसमय, भूखे या बिना भूखके, कुछ भी स्वादवश अनापशनाप खाते रहिये, हरवक्त पेट भरता रहे, और चूरन या पाचक दवाइयां खाखाकर उसे पचानेका प्रयत्न करते रहिये, रातको देरसे, खूब खाकर सो जाइये,

---

× आत्मघातका विचार इसी जीर्ण पीडासे ही उत्पन्न होता है।

+ जिन्हें कब्ज रहता है उनके मलाशयमें बारीक कीटाणु होते हैं उनकी सतत हलचलसे भी अनेक प्रकारसे अनिष्ट स्वप्न आते हैं, मलाशय शुद्ध होनेपर नहीं आते।

मल मूत्र त्यागनेकी परवा न कीजिये; स्नानकी चिन्ता न कीजिये, कई दिनोंमें एकाधबार काक स्नान चाहे कर लें, गन्दे कपड़े पहिने रहिये, गन्दे बिस्तरपर सोवें और गन्दी चादर, कम्बल या रजाई जो वजनदार हो, ओढते रहें; मुंह ढककर सोवें, कमरेमें बहुतसा सामान और कूड़ा करकट भी हो, सिरको गीले या सूखे वजनदार कपड़ेसे लपेटकर, दोनों पावोंको वजनदार कपड़ेसे परस्पर ढीला लपेटकर बांधकर सोवें, पेटपर या छातीपर हाथ या कोई वजनदार वस्तु रखकर सोवें, किसी भी अंग विशेषको कसकर बांधकर सोवें, पावोंको आगसे सेकते हुए, या पानीमें डाले हुए, अथवा शरीरके दो अंगोंमें एकको ठण्डा, दूसरेको गरम; एकको ढीला दूसरेको कसा रखकर सोवें और इन प्रयोगोंसे स्वप्न सम्बन्धी अनुभव प्राप्त करें।

एकबार ही दिनमें सादा सात्विक हल्का भोजन करें, प्रातः सायं दो बार शौच जावें, प्रातः सायं दोनों समय शरीरको रगडकर पसीना आदि धोकर स्नान करें, पानी अधिक पियें, साफ हल्के कपड़े पहिने, खुली हवाकी जगहमें या साफ कमरेमें सोवें, शरीरमें कहीं तनाव या भारीपन न हो, दोनों बार शौच हो जानेपर भी एनिमा द्वारा मलाशयको साफ करें-कुछ दिन ऐसा प्रयोग करके निद्रा और स्वप्नका अनुभव करें।

जो दिनभर अनापशनाप खाया करते हैं, जिनको कब्ज और अपचन रहता है, जिनको (इन कारणोंसे) निद्रा नहीं आती है, जो जीवनमें हमेशा बहुत सी अनेक प्रकारकी दवाइयां खाते रहते हैं, उन्हें भी अधिक स्वप्न आते हैं। खानपान और रहन-सहनमें असंयमके अतिरिक्त, दवाओंसे भी शरीरमें विकार-विष एकत्रित होता है जिनसे अनिष्ट स्वप्न आया करते हैं क्योंकि अनेक दवाइयां जहरीली होती हैं।

जो लोग स्वस्थ दीखते हैं, संयम और सफाईसे रहते हैं, वे भी ऐसे कमरेमें सोवें जो दीखनेमें साफ दिखता हो, परन्तु रद्दी कागज या अखबारके टुकड़े, सूती ऊनी कपड़ोंसे झड़े हुए रेशे और कुछ धूल या धुआंका दाग जहां हो ऐसे वातावरणमें स्वप्न आना भी स्वाभाविक है। ये स्वप्न बाह्य उपकरणोंसे आते हैं। यह सारा विश्वचेतन है, प्रत्येक परमाणु चेतन है, और कमरेमें पड़े हुए रद्दी कागज अखबारके टुकड़े पददलित धूलके कण, धुआं, सूती ऊनी कपड़ोंके रेशे सबमें प्राण हैं, और जिन लोगोंने इन्हें छुआ है, बिखेरा है उनके मनकी छाप भी इन वस्तुओंमें मौजूद हैं, और निस्तब्ध समयमें मनुष्यकी निद्रामें-वे अपनी परस्परकी चहलपहलको स्वप्नके रूपमें प्रकटाकर, मानो कहते हैं कि, यदि अपनी कुशलता चाहते हो, निःस्वप्न सुखी निद्रा चाहते हो तो हमें दूर करो या तुम दूर हटो, वर्ना हम तुम्हें अवश्य परेशान करेंगे, यहां या तो केवल तुम रहो, या केवल हम रहें। यह है कूड़े करकटकी आवाज जो स्वप्नका रूप धारण करती है, चाहे वह कचरा मनुष्य शरीरमें हो, मनमें हो, या कमरेमें हो।

शरीर और वातावरण शुद्ध हो जानेपर शरीरकी उग्र उद्दण्ड प्रवृत्तिमें साम्यता और शान्ति आ जाती है, ऐसी दशामें स्वप्न अर्थात् फ्रायड, यंग एडलरके मतानुसार काम मूलक वासनाजन्य अथवा अतृप्त इच्छाको छद्मवेश धारण करनेकी भूमिका नहीं रह जाती। शरीरमें विकार एकत्रित होते रहने और जीवनक्रम असंयमित रहनेसे वासनाएं उग्र रूप धारण करती हैं और जिनके दमनसे स्वप्न आते हैं या तत्संबंधी मानसिक या स्नायविक कहे जानेवाले रोग पैदा होते हैं।

इस प्रकार शारीरिक कारणकी उपेक्षा करके-स्वप्न या वर्तमानमें प्रचलित अनेक मानसिक रोगोंको काम आदि मूलक माननेकी गुंजायश नहीं रह जाती। इन तथ्योंको पाठक मानें या न मानें क्योंकि आज कल मानसिक प्रवाह बहुत कर पश्चिमसे आ रहा है और भारतीय अक्सर उसी प्रवाहमें बह जानेकी प्रवृत्ति दिखला रहे हैं, और किसी पाश्चात्य पण्डितकी खोजका ढोहा आंख मूंदकर माननेको तयार होते हैं। कुछ स्वयं शोध करें।

स मा लो च ना

श्री सुभाषचरितम्

कवि– श्री वि. के. छत्रे, प्रकाशक– वि. के. छत्रे, जोगलेकर सदन सिद्धेश्वर आळी, कल्याण (जि. थाना), (महाराष्ट्र), मू. २.५०

स्वतंत्रता संग्रामके अनन्यतम सेनानी श्री नेताजी सुभाषचन्द्र बोसका स्थान आज भी प्रत्येक भारतीयके हृदयमें है। उनका त्याग, उनकी तपस्या अद्वितीय थी। ऐसे महापुरुषोंका पुण्यचरित्र लिखना भी पुण्यवानोंका ही काम है।

उन महापुरुषके जीवनचरित्रको लिखकर कविवर श्री वि. के. छत्रेने अपनी लेखनी पवित्र की है। यह काव्य नेताजीका संक्षिप्त जीवनचरित्र है। एक तो इस काव्यका नायक ही धीरोद्धात्त है, दूसरा कविकी प्रतिभा, इन दोनोंने मिलकर एक ऐसी अद्भुत कृति पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत की है, जो अनुपम है। राम और रावणके युद्धके बारेमें जैसे वाल्मिकीने कहा था कि "रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव" उसी प्रकार इस काव्यकी उपमा स्वयं यह काव्य ही है।

इसमें कुछ दस सर्ग हैं। इन दस सर्गोंमें कविने नेताजीके जीवनकी मुख्य घटनाओंको सुललित शब्दोंमें काव्यबद्ध किया है। ऐसे महापुरुषोंके जीवनको दर्शानेवाले काव्योंकी आज अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि पाठकको स्वभावतः ही गद्यकी अपेक्षा काव्यमें अधिक आनन्द आता है। उस दृष्टिसे भी इस तरहके अल्पमूल्यवाले पर मूल्यवान् काव्यग्रंथ प्रशंसनीय हैं। इस काव्यके महत्त्वके कारण केन्द्रीय सरकारने भी कविको ५००) का पुरस्कार दिया है।

प्रत्येक काव्यप्रेमीको यह काव्य अवश्य देखना चाहिए ऐसा मेरा मत है।

मेरी आठ रोचक कहानियां

लेखक– श्री शिवपूजनसिंह "कुशवाहा", प्रकाशक– जयदेव ब्रदर्स बड़ोदा; पृ. सं. ४४; मू. ००.७५ न. पै.

इस पुस्तकमें लेखकने अपनी सर्वोत्तम आठ कहानियोंका संग्रह किया है, ऐसा लेखकका दावा है। पुस्तकके टाइटिल पेजपर भी लेखकने अपनी भरपूर उपाधियां देकर पाठकों पर प्रभाव डालनेकी कोशिश की है। श्री "कुशवाहा" आर्यसमाजके जाने माने लेखक हैं और यह माननेमें हमें कोई संकोच नहीं, कि धार्मिक दृष्टिसे वे अच्छा लिख लेते हैं। पर अनधिकार चेष्टा करके उन्होंने कहानियोंपर भी अपनी लेखनी चलाई, और उसका परिणाम इस पुस्तकके रूपमें हमारे सामने आया, जिसे देखकर घोर निराशा हुई। जब कहानियां लेखकका विषय नहीं है, तो उसपर अपनी लेखनी चलानेकी क्या जरूरत थी? कहानीका न आरंभ ही ठीक बन पड़ा और हर कहानीका अन्त भी ऐसे बेढंगेपनसे किया है, कि पहली ही कहानीमें पाठकका मन ऊबने लगता है।

अधिक ज्यादा कुछ न लिखकर हमारी लेखक महोदयसे यही प्रार्थना है कि वे धार्मिक विषयोंपर ही पुस्तकें लिखें, कहानियोंके क्षेत्रमें वे यदि प्रयत्न करेंगे, तो उनके यशकी हानि ही होगी।

वात्सल्यरसायनम्

कवि– श्री श्री. भा. वर्णेकर, प्रकाशक–सम्पादक "शारदा" ४९८ शनिवार, पूना– २, मू. १)

श्रीकृष्णकी बाललीला अनेक कवियोंका प्रेरणा स्रोत रही है। महाकवि सूरदासका साहित्य ही श्रीकृष्णकी बाल लीलाओंसे भरा हुआ है। श्रीकृष्णकी बाललीलामें वात्सल्यरस भरपूर है।

प्रस्तुत काव्यपुस्तिकाके लेखकने भी बाललीलासे प्रेरणा प्राप्त की है। कविने श्रीकृष्णकी बाललीलाओंपर सौ पद्य रचे हैं, और उनमें विशेषकर वात्सल्यरसका ही अवलम्बन कविने किया है।

श्री वर्णेकरजीकी काव्यप्रतिभा तो है ही पर कल्पनाकी प्रतिभा भी अप्रतिम है। इस श्रीकृष्ण–बाललीलाशतकमें कविकी कल्पना व काव्यप्रतिभा सचमुच सराहनीय है। इसे पढते हुए यदि पाठक वात्सल्यरससे आप्लावित होकर भावाभिभूत हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।

संस्कृतके प्रचारके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृतकी पुस्तकें बहुत ही सस्ती हों। ताकि जनसाधारण भी इसे खरीदकर पढ सकें।

अतः पुस्तकका द्वितीय संस्करण यदि सस्ते मूल्य पर प्राप्त हो सके तो अत्युत्तम होगा। लेखक व प्रकाशक महोदय दोनों इस पर अवश्य ध्यान दें, यही उनसे प्रार्थना है।

जन्मभूमि पंचांग (गुजराती)

प्रकाशक–जन्मभूमि प्रकाशन मंदिर, " जन्मभूमिभवन ", घोघास्ट्रीट, फोर्ड, बम्बई– १, मू. २)

" जन्मभूमि पंचांग कार्यालय " गत १९ वर्षोंसे अपने पंचांगको जनताकी सेवामें प्रस्तुत कर रहा है। इस वर्ष भी उसने नये वर्षका पंचांग प्रस्तुत किया है। इसकी रचना सूक्ष्मता, स्पष्टता और अनुभव सिद्ध सत्यकी दृष्टिको समक्ष रखकर की गई है।

प्राचीन परम्पराके अनुसार पंचांगके पांचों अंगोंका बडा सूक्ष्म विवेचन इसमें किया गया है। इस पंचांगके संपादक भी भारतमें सुप्रसिद्ध खगोलशास्त्री और गणितशास्त्री हैं। इसमें पल, घण्टा इन सबका भी बडा सूक्ष्म विवरण दिया गया है। तथा सब कुछ स्पष्ट होनेके कारण यह पंचांग बडा उपयोगी हो गया है।

इस पंचांगके लिए " जन्मभूमि कार्यालय " को सर्वत्र प्रशंसा मिलेगी, ऐसी आशा है।

सुपर्ण

[डॉ. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

ऋग्वेदमें सुपर्ण साभिप्राय संकेत है। सुपर्णका शाब्दिक अर्थ है उत्तम पर्ण या पर्णयुक्तवाला। पंख एक नहीं, किन्तु दो होते हैं, जो उडनेमें सहायता करते हैं। प्रजापतिकी सुपर्ण-संज्ञाके मूलमें यह द्वित्व ही प्रधान हेतु है—

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मान्। (श. ब्रा. ६।७।२।६)

ऋग्वेदमें एक देवत्वके बहुधा रूपोंको अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, मातरिश्वा, यम आदि अनेक नामोंसे कहा गया है, उनमें एक नाम गरुत्मान् सुपर्ण भी है (ऋग्वेद १।१६४।४६)।

प्रजापति या विश्वकर्माको सुपर्ण क्यों कहा जाय? इसका हेतु यह है कि प्रजापति विश्वसृष्टिके द्विविरुद्ध भावोंके प्रथम रूप हैं। आदिमें वह एक ही था, पर विश्वमें वह बहुधा हो जाता है। ऐसे ही प्रजापति हैं, आरम्भमें वे गर्भ रूपमें थे (प्रजापतिश्चरति गर्भे), उस समय उनकी संज्ञा 'अज' थी, वही अजन्मा अवस्थासे बहुधा रूपोंमें जन्म लेते हैं (बहुधा विजायते)। प्रजापतिके इन दो रूपोंकी मिश्रित व्याख्या ब्राह्मणग्रन्थोंमें दी गयी है—

उभयस्वेतत् प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च
परिमितश्चापरिमितश्च। (श. ब्रा. ६।५।३।७)

प्रजापतिके मूल रूप दो भावोंका पृथक् होना ही सृष्टि है। अनेक नामों और रूपोंके उदाहरणस्वरूप अग्नि और सोम, मनस और वाक् ये प्रजापतिके दो रूपोंके प्रतीक हैं।

प्राण या पर्णका अर्थ छन्द युक्तगति है, वही अर्थ पाद या चक्रका है। पक्षीके पंखोंकी छन्दयुक्तगतिसे ही उसकी गति संभव होती है और विश्वमें प्रजापतिसे प्रवृत्त गतितत्वका सर्वोत्तम ग्रहण सुपर्ण गति भी है। इस गतिका उत्कृष्ट प्रतीक काल या संवत्सर है, इस कारण संवत्सरको भी सुपर्ण कहा जाता है—

अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः।
तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवतः षण्मासानुपयन्ति
सोऽन्यतरः पक्षोऽथ यान् उपरिष्टाद् सो अन्य-
तर आत्मा विषुवान् (श. ब्रा. १२।२।३।७)

विषुवत् मध्यसे पूर्वके छै मास संवत्सररूपी सुपर्णका एक पर्ण है और बादके छः मास दूसरा पर्ण है। इनके मध्यमें विषुवत् शरीरके समान है, शरीरके साथ पंख और पंखके साथ शरीरका नियम है (श. ब्रा. पे. ५, १५८)

संवत्सर सदा घूमनेवाले कालकी वह इकाई है, जो सदा-कालकी चक्र गतिसे घूमती रहती है। उत्तरायण और दक्षिणायन उसके दो पक्ष हैं। सूर्यकी संज्ञा भी सुपर्ण है, क्योंकि सूर्य कलात्मक होनेसे समस्त गतिभावोंका प्रवर्त्तक है—

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद्
गभीरवेपा असुरः सुनीथः।
क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत
कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान॥ (ऋ. १।३५।७)

"उस सुपर्णने सब दिशाओंको आलोकित कर दिया है, वह गम्भीर स्पन्दनसे युक्त उत्कृष्ट गतिवाला असुर है, वह सूर्य कहां है? कौन उसे जानता है? उसका रश्मिजाल किस द्युलोकमें फैला है?" सूर्यके प्रतीकात्मक अर्थ विस्तृत और अनेक हैं, उसे वृषभ, अश्व, वराह, पक्षी आदि कई नामोंसे पुकारा जाता है। वही सुनहले पंखोंवाला हंस है, जिसे 'हरिहंस' कहते हैं और जिसने स्वर्गतक उडान भरनेके लिए एक सहस्र अहोरात्रके लिए अपने पंख फैलाये हैं।

सहस्राण्यं वियतावस्य पक्षौ
हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्। (अथर्व. १०।८।१२)

इसे हिरण्यपक्षशकुनि भी कहा गया है।

यः सहस्रसावे सत्रे यज्ञे विश्वसृजं ऋषिः ।
हिरण्यपक्षः शकुनिः तस्मै हंसात्मने नमः ॥
(शान्तिपर्व ४७।३०)

यह सृष्टि देवोंका सहस्र संवत्सर यज्ञ कही जाती है। सुनहले सुपर्णने एक सहस्र अहोरात्रके लिए अपने पंख भरे हैं।

एक अहोरात्र प्रजापतिके सृष्टि-प्रलयरूप कल्पके समान है। अतएव सहस्रदिनका अर्थ है, सहस्र या अनन्त कल्प और उस कल्पके लिये अर्थात् कालचक्रके अनन्त विवर्त्तनके लिए विष्णुके समस्त गतिभावोंके मूलमें एक स्थिति भाव है, वही प्रजापतिका स्थिर अविचाली रूप है। केन्द्रमें गतिका अभाव है, यद्यपि चक्रमें अन्यत्र प्रत्येक बिन्दुपर गति विद्यमान है। दिव्य सुपर्णके उडनेका अभिप्राय है। विश्वस्पन्दनके छन्दोमय स्पन्दनका रूप है। यह छन्दगति, महत् और अणुमें सर्वत्र विद्यमान है। विश्वसृष्टि छन्दित गति है। अतः त्रिलोकीको तीन चरणोंमें नापनेवाला विष्णुका वाहन गरुड कहा गया है, जो छन्दोमय विक्रमणका प्रतीक है—

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु
अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा । (ऋग्वेद १।१५४।२)

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ इन तीन लोकोंका प्रादुर्भाव कालकी शक्तिसे ही होता है, देश और काल दोनोंका पर्यवसान एक सूर्यमें ही है। कालके स्फोटके स्फोटका भी संभव नहीं। विष्णुके जिस चरणन्याससे देश और दिशाओंका उन्मीलन होता है उसकी मूल शक्ति काल ही है—

हिरण्ययेन सविता रथेन ।
देवो याति भुवनानि पश्यन्, (ऋग्वेद १।३५।२)

सुपर्ण या गरुडकी संज्ञा छन्द भी है—

छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यागमदाशुयतो गजेन्द्रः ।
(भागवत ८।३।३१)

विष्णु अथवा गुरुत्मान् सुपर्ण विश्वके छन्दित रीतिके रूप हैं और इनका चक्रसे तादात्म्य है। देश और कालकी नियमित गति चक्र है। विष्णुके दो रूप हैं, एक 'वामन', और दूसरा 'विराट्', एक अणु है दूसरा महत्, एक युवा कुमार है दूसरा बृहत् शरीर, एक वामन वेशधारी बटु है दूसरा त्रिविक्रम नारायण। वामन और विष्णु एक ही तत्वके दो रूप हैं। अतएव जो वामन है वही विष्णु है—

स हि विष्णुः यद् वामनः (श. ब्रा. ५।२।५।४)।

विष्णुकी गति ही इनका वृत्तचक्र है। प्रत्येक चक्रके मध्यमें एक चतुर्भुजी स्वास्तिककी सत्ता है, जिसका निर्माण चार सम्पूर्णोंसे होता है, कोणको ही वैदिक भाषामें नाम या नमन कहते हैं, एक नमनका स्वरूप नवति नब्बे अंशोंसे बनता है, संवत्सरके चक्रमें एक अहोरात्र एक नमन है, इस प्रकारकी चार नवतियोंसे पूरे चक्र या स्वस्तिकका स्वरूप निष्पन्न होता है। इसे ही ऋग्वेदमें यों कहा गया है—

चतुर्भिः साकं नवतिं च
नामभिश्चक्रं न वृत्तम् । (ऋ. १।१५५।६)

चक्रके दो भाग होते हैं, एक उद्ग्राह दूसरा नवग्राह, एक ऊर्ध्वग्राह दूसरा अधोग्राह। ऊपरि गतिका प्रत्येक बिन्दु नीची गतिसे संतुलित रहता है।

सुपर्णकी एक संज्ञा वीर्य या रेत है। वीर्य और रेतः (श. ब्रा. ६।७।२।७) मानव, पशु और वनस्पतिको जन्म देनेवाला वीर्य या शुक्र है, जिसके दो पंख जन्म और मृत्यु हैं। दूसरी ओर यही विश्वका बीज है, जिसे ऋग्वेदमें प्रत्नरेतः या भुवनस्य रेतः भी कहा गया है। (ऋ. १। १६४।३६) इसी मूलभूत बीजमें निहित छन्दित शक्तिसे ही सूक्ष्माति सूक्ष्म परमाणु या घटकोष एवं समग्र शरीर या दूरस्थ नक्षत्रोंकी उदयास्तमय गति सम्भव होती है।

सूर्य रूपमें सुपर्णकी संज्ञा पतंग भी है जो प्राणका पर्याय है और एक रहस्यमयी शक्ति है, जो प्रत्येक प्राणीमें या उसके सूक्ष्मतम भाग एक-एक घटकोषमें स्पन्दित हो रही है—

एकः सुपर्णः स समुद्रं आविवेश ।
स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे (ऋ. १०।११४।४)

'एक सुपर्णने समुद्रमें प्रवेश किया है। वह चारों ओर दृष्टिपात करके इस सृष्टिको देख रहा है।' इस मन्त्रमें पुरुष की संज्ञा समुद्र और प्राण या जीवनतत्वकी संज्ञा सुपर्ण है। (पुरुषो वै समुद्रः juB ३३।५।५), (प्राणो वै पतंगः juB ३।३५।२)। वैदिक परिभाषामें अग्नि और

सूर्य दोनों प्राणके एक रूप हैं। भौतिकशरीर प्राणका निवासस्थान है, इसीलिए प्राणको 'नृषद्' कहा जाता है। अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्यरूपी तीन नरोंमें रहनेवाली रहस्यमयी शक्ति। ये तीन नर ही मनुष्य-शरीररूप अधिष्ठानमें पंचभूतप्राण और मनुष्यतत्त्वके प्रतीक हैं। जैसे एक ही सूर्य पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्षमें वायु और द्युलोकमें आदित्य कहा जाता है, वैसे ही एक (ऊर्ध्व) प्राणतत्त्व ही मनस्, प्राण और वाक्के रूपमें प्रकट हो रहा है।

प्राणो वै नृषदग्निः तमेतदाह। (श. ब्रा. ६।७।३।११)

पक्षीके पंख फैलाने और सिकोडनेकी जैसी क्रिया होती है, वही प्राणका रूप है—

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् (श. ब्रा. ८।१।४।१०)

छन्दित स्पन्दन ही जीवन है, इसे ही प्राणका समञ्चन और प्रसारण कहा गया है। अग्निचयन व याज्ञिकप्रक्रियामें जो महावेदि बनाई जाती है, वह सुपर्णके आकारका होनेसे 'सुपर्णचीति' कहलाती है, वह अग्निका ही रूप है+ और अग्नि साक्षात् हो जाती है। विश्वरूप शरीरमें प्रजापति अभिव्यक्त होता है। अग्नि, उत्तरवेदि, प्रजापति, प्राण और सुपर्णमें इनमें अन्तर्निहित एकता है। इसी द्विविध गतिके लिए ऐति च प्रेति च अथवा समञ्चन और प्रसारण ये पारिभाषिक संकेत हैं, आना, जाना, फैलना, सिकुडना इन्हींके नाम हैं—

ऐति च प्रेति च सं चाञ्च प्र च सारय।
(यजुर्वेद, २७।४५)

सृष्टि और प्रलय, आविर्भाव और तिरोभाव, उदय और अस्त, जन्म और मृत्यु, ये ही दो पर्ण या पंख हैं, जो विश्वमें, प्रजापतिमें और प्राणतत्त्वमें देखे जाते हैं। प्रजापति स्वयं आरम्भमें हुए और उन्होंने अपने अनन्तर होनेवाले समस्त भूतोंको आच्छादित किया। इसलिए वे प्रथमच्छद् कहलाये, वे स्वयं 'पर' थे और समस्त विश्व 'अपर' था। पर प्रजापतिने अपर विश्वमें अपनी निजी शक्तिसे प्रवेश किया।

प्रथमच्छद् अवरान् आविवेश। (ऋ. १०।८१।१)

इसे ही अनुप्रवेशका नियम कहते हैं। यदि प्रजापतिकी निजी शक्ति विश्वमें अवतरित न हो, तो भौतिक विश्व या प्राकृत अण्ड जीवित नहीं रह सकता। प्रजापतिकी शक्तिसे सम्पृक्त होकर ही यह ब्रह्माण्ड हिरण्यगर्भ कहा जाता है, जहाँ हिरण्य है वहीं गति है। हिरण्य ही प्राण है। प्रजापतिका वह प्रथमरूप सर्वत्र व्याप्त है और सब रूपोंको अपने मौलिक प्रतिरूपसे नियमित करता है। विश्वके धाता और विधाताके रूपमें प्रजापतिकी प्रत्यक्ष सत्ता सर्वोपरि है—

विश्वकर्मा धाता-विधाता परमोत्संदृक्।
(ऋ. वे. १०।८२।२)

प्रतिशक्तिसे संयुक्त प्रजापति द्यावापृथिवीरूप लोकोंको अपने दोनों बाहुओं या पंखोंसे सम्हाले रखता है—

सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः
द्यावा-भूमी जनयन् देव एकः। (ऋ. वे. १०।८१।३)

द्युलोक और पृथिवी ये विश्वके माता-पिता हैं। (**द्यौः पिता पृथिवीमाता**) ये ही दो जन्मदात्री शक्तियां हैं जिनके मिथुनीभावसे सब प्राणी जन्म लेते हैं, इन्हें ही स्त्री-पुरुष, वृषा-वृषा और अग्नि-सोम कहा जाता है। प्रजापतिने अपने शरीरके एकात्मक अण्डसे इन दो भागोंको पृथक् किया। एकसे द्युलोक और दूसरेसे पृथ्वी बनी, एक पुमान्-पुरुष दूसरा स्त्री कहलाया और प्रजापतिके उसी नर-नारीमय रूपसे भूतोंका जन्म हुआ। पृथिवीका संकेत भूत-भौतिक देहसे और द्युलोकका अमृत-प्राणसे है। प्राण और भूतके सम्मिलनसे ही जीवनका प्रत्यक्ष रूप संभव हुआ है। भूतकी संज्ञा असुर और प्राणकी संज्ञा देव है। भूत मर्त्य और प्राण अमृत है। प्राण और भूतके पारस्परिक गठबन्धनसे जीवनका प्रादुर्भाव होता है। अतः अमृततत्त्व रूप अग्निके लिये यथार्थ ही यह कहा जाता है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
(यजु. १७।७२)

'तुम गरुत्मान् सुपर्ण हो, पृथ्वीके पृष्ठपर आसन्न हो।' सुपर्ण-चितिके रूपमें निर्मित अग्निकी प्रतिष्ठाके समय इस मन्त्रका उच्चारण किया जाता है। जहाँ-जहाँ जीवन या प्राणकी अभिव्यक्ति है, वे समस्त जीवन या कोश सुपर्ण चितिके रूप हैं। प्रत्येक शरीर सुपर्ण चितिका रूप है जिसमें प्रजापतिरूप अग्नि निवास करता है—

अथ यत् सर्वास्मिन् अश्रयन्त तस्मादु शरीरम्।
(श. ब्रा. ६।१।१।४)

+ (ग्रिफिथ-शुक्ल यजुर्वेद, पुस्तक ११, फुटनोट)

भौतिक शरीरके दो भाग हैं एक मस्तक दूसरा कबन्ध जिसमें दोनों हाथ और पैर जुडे हैं। दोनोंमें प्राणोंका निवास है। शरीरके अधोभागमें जितने प्राण-रस हैं उन सबका सारभाग सिरमें रहता है। अतएव शीर्ष भागसे प्राणधाराएँ समस्त शरीरमें व्याप्त होती हुई सब केन्द्रोंका नियमन करती हैं। शिरोभाग सुपर्णका मस्तक है और अधोभाग उसका शरीर।

सुपर्णरूपी पुरुषका स्पष्टीकरण और भी इस प्रकार किया जाता है। शरीरका कबन्ध भाग भी एक सुपर्ण है क्योंकि उसकी रचना एक सुपर्णके समान है। उसके बीचमें यो चतुर्भुजी स्वस्तिक वे ही चार आत्मायें हैं, दोनों ओरके अन्तमें दो पक्ष हैं। इसकी जो प्रतिष्ठा बनी है वही पुच्छ है। शरीरके मूलभूत आकृतिकी ओर ही इनके संकेत हैं। यह शल्यद्वारा जाने गये अस्थिपञ्जरका वर्णन नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक शरीरका एक केन्द्र भौतिक रूपमें, दूसरा अव्यक्त बिन्दु उसके प्राणात्मक स्रोतमें है। वही सुपर्णकी प्रतिष्ठा या पुच्छ है। जो बीचका प्राण अंश है जहाँसे प्राणकी धारायें चतुर्धा विभक्त होती हैं, वही 'चत्वारः आत्मा' है। इस चतुर्धा विभक्त केन्द्रीय भागके दोनों ओर जो हाथ-पैर हैं, वे ही मानो दो पक्ष हैं—

स वै सप्त पुरुषो भवति, सप्त पुरुषो अयं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्ष-पुच्छानि।
(श. ब्रा. ६।१।१।६)

इस प्रकार मध्यकेन्द्र, दो पार्श्व भाग और प्रतिष्ठा इन चार भागोंमें विभक्त शरीरकी आकृतिकी संज्ञा 'सुपर्ण चिति' है। प्रकृतिने अपनी रचना विधानमें सब शरीरोंमें मध्य भागमें फुफ्फुस (हृदय) आमाशय और यकृत इन चार अवयवोंके स्वस्तिकको रखा है। इस भौतिक शरीरकी संज्ञा चित्याग्नि है जो मर्त्य है। इसके साथ संयुक्त प्राणात्मक शीर्ष भाग चितेनिधेय अग्नि है जो अमृत है। नीचेके भागोंको सात पुरुष भी कहा जाता है, इन सातोंकी जो शक्ति या श्री है वह शिरोभागमें संचित होती है। श्रीके आश्रय लेनेसे ही मस्तकको सिर कहते हैं। इसी सिरमें सब देवोंका या सब इन्द्रियशक्तियोंके केन्द्रोंका स्थान है। इसलिए इसे देवकोश या ज्योतिसे भरा हुआ स्वर्ग कहा जाता है—

तदस्यैतच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः।
(श. ब्रा. ६।१।१।७)

ज्ञान और इच्छाके समस्त केन्द्र शिरो भागमें ही विद्यमान हैं। ये ही देव हैं- (स्वर्गो ज्योतिषावृतः)। शरीर और शिर, आकाश और पृथिवीके समान परस्पर संयुक्त हैं। अमृत देव और प्राणका प्रतीक द्युलोक है। मृत्यु शरीर और भूतका प्रतीक है। चेतन प्राण और मर्त्यभूत इन दोनोंके भेद और सम्पर्कको बताना ही इन परिभाषाओंका उद्देश्य है। प्रत्येक स्थूल भौतिक रचना मर्त्य और सीमित है। इसका स्रोत सूक्ष्म-प्राणमय अमृततत्त्व है। अमृत रस द्वारा मर्त्य भूतका सिंचन यही जीवन है। अमृततत्त्वके ही ये संकेत हैं- सोम, मधु, अमृत, द्यौः, श्येन, सुपर्ण, इन्द्र इत्यादि। यह चितियोंवाला शरीर सोमार्णवके लिए केवल एकपात्र है अथवा इसे 'सोमपूर्ण कलश' या 'सोमाधान कुण्ड' भी कहा गया है। यह अमृत ही देवोंका भोजन है जो जीवन और प्राणोंके लिए आवश्यक है। वेदोंमें एक कल्पना या कथा है कि सुपर्ण पक्षी सोमसे अमृतका घट पृथ्वी पर लाता है। सोमका यह आहरण कोई अतीतकी घटना नहीं है, यह तो प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ होनेवाला विधान है। यह प्राणका अमृत घट विराट् प्राणभंडारसे प्रत्येक श्वासके साथ हमारे भीतर प्रविष्ट हो रहा है। अमृत प्रोक्षणका यह कार्य नित्यप्रति उदय होते हुए सूर्यके द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है—

उद्यन् सूर्यो मर्त्येभ्यो अमृतं रश्मिभिः आतनोति।

सुपर्णाख्यान पर्वणका मुख्य उद्देश्य स्वर्गसे अमृत सम्प्राप्तिका वर्णन है। एक और वैनतेय या ज्योतिर्मय देवोंकी शक्ति है दूसरी ओर कद्रुके पुत्र काद्रवेय सर्पोंकी तमसावृत्त शक्ति है (महाभारत chs. १८-३०, पूना एडिशन) गरुड अपने बवन्डरपूर्ण उडानमें रोहितवृक्षकी महाशाखा ले जाते हैं इसमें ६० सहस्र बालखिल्य ऋषि लटके हुए हैं। निःसन्देह यह महाशाखा विश्व वृक्षका ही एक अंग है। अथर्ववेदके रोहितसूक्तमें विश्वके रोहितवृक्षका वर्णन है। उसकी महाशाखाके साथ उडान भरनेवाले गरुड भी सूर्य हैं या सुपर्ण हैं। प्रत्येक शाखाके पांच पर्व कहे गये हैं पहले दो पर्व स्वयम्भू और परमेष्ठी हैं जो

अव्यक्त हैं, बीचमें सूर्य हैं और नीचेके दो पर्व नीचेके दो चन्द्रमा या पृथ्वी हैं। ये ही दोनों ओर फैले हुए गरुडके दो पंख हैं।

सूर्यरूपी सुपर्णका एक रूप संवत्सर है जो वैदिक भाषामें सुपर्ण या महासुपर्ण कहा जाता है। गरुड एक पंजेमें हाथी और दूसरेमें कछुआ दबोचे हुए थे।

एतं आस्थाय शाखां
त्वं खादेमौ गजकच्छपौ। (आदि. २५।३२)

× × ×

द्यावापृथिव्यौ हि कूर्मः (श. ब्रा. ७।५।१।१०)

सुपर्णके आख्यानमें जो युद्ध वर्णन है वही गरुड और नागराज-युद्धके रूपमें कलामें अंकित किया जाता है। ऋग्वेदमें इन्द्र-वृत्र युद्ध जिस देवासुरका रूप है उसीका एक अंग नाग-गरुड युद्ध है। अन्तिम जय इन्द्र या गरुड-के लिये ही है। असुर या नागके लिए पराभव ही है।

यूनान देशकी गाथाओंमें ऐसा आता है कि स्वर्गके देवता जीयसका वाहन सुपर्ण पृथिवीके सुन्दरतम युवकको अपने पंजोंसे ऊपरकी ओर अपने देवताके पास ले जाता है। इसी तत्वको भारतीय साहित्यमें कहा गया है कि आकाश चारी सुपर्ण भूमिस्थवर्तिकाको अपने पंजोंसे जकड लेता है और आश्विनीकुमारोंकी कृपासे उसकी मुक्ति होती है।

वृकस्य चिद् वर्तिकाम् अन्तरास्याद्।
(ऋ. वे. १०।३९।१३)

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्त्तिकाम्।
(महाभारत आदि पर्व ३।६२)

यहां वर्त्तिका या बटेर पृथिवीपर फुदकनेवाला पार्थिव प्राण है और सुपर्ण विराट् चेतनतत्व है जिसकी शक्तिसे यह वर्तिका परिगृहीत है।

इसी सम्बन्धमें वेदकी त्रिसुपर्ण विद्याका स्मरण होता है। उसमें गायत्री, त्रिष्टुप्, जगतीके तीन छन्दरूपी तीन सुपर्ण पृथ्वीसे स्वर्गकी ओर उडकर सोम या अमृत लानेके लिये जाते हैं—

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू
नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
(अथर्ववेद १९।४।४)

त्रिसौपर्ण आख्यानका उल्लेख– ऐ.ब्रा. ३।२५।२७, श.ब्रा. ३।६।२।१।२६, श. ब्रा. ३।२।४ १, तै. सं. ७।६।१।६, मैत्रायणी सं. ३।७।८ में मिलता है।

इयं वै कद्रू असौ सुपर्णी। (तै. सं. ६।१।६।१)

छन्दांसि सौपर्णेयाः।

द्यावापृथिवीका वैदिक संकेत सृष्टिके विविध तत्वकी ओर है, जिसके अनेक रूपोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। गरुड और नाग, विनिता और कद्रु, अदिति और दिति, ज्योति और तम इन्हींके प्रतीक हैं। गायत्र प्राण ही सुपर्ण है और पृथ्वी और द्युलोक उसकी व्याप्तिके दो सिरे हैं। एक गायत्रप्राण ही स्वरूप भेदसे गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती बन जाती है जैसे एक ही सूर्य अग्नि, वायु और आदित्य ये तीन रूप ग्रहण कर लेता है।

कथा है देवता पृथ्वीपर थे और सोम स्वर्गमें। उन्होंने इच्छाकी कि कैसे सोम हमारे पास आवे और हम उससे यज्ञ करें। उन्होंने दो प्रकार की माया या शक्तियोंको उत्पन्न किया। एक सुपर्णी थी, दूसरी कद्रु।

त एते माये असृजन्त सुपर्णीं च कद्रुं च
श. ब्रा. ३।२।४।१

इन दोनोंमें सुपर्णी ज्योति और कद्रु तमका प्रतीक है। जबतक सृष्टिमें दो शक्तियोंका संघर्ष या तनाव नहीं होता, तबतक प्रवाह या अभिव्यक्ति संभव नहीं। जब एक धरातल ऊँचा या नीचा होता है तभी शक्ति प्रवाहित होती है। जब एक केन्द्र प्रधान और दूसरा ऋण होता है तभी वे एक दूसरेके प्रति आकृष्ट होते हैं—

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्त्तिकाम् (महा. आ. ३।६२)

जीवन, मनस और वाक्‌की समुत्पत्ति है। तृष्णा सुपर्ण (ऋ. १०।११४।३) ये ही दो सुपर्णके समान हैं, जो विश्व वृक्ष पर निवास करते हैं। ऋग्वेद १। १६४।२०

जीवनको ऋग्वेदमें तीन समिधाओंसे बना हुआ गायत्र-यज्ञ कहा है। एकके बाद एक समिधा जलती है और यह यज्ञ चलता है।

गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुः
ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा॥ (ऋ. १।१६४।२५)

स्त्री और पुरुषोंके शरीरमें बाल, यौवन और जरा रूपी तीन प्राण समिधाओंके इंधनसे प्रकृति जीवनका निर्माण

करती है यह एक रहस्यमय विधान है। इनको वैदिक भाषामें इन संकेतोंसे व्यक्त करते हैं—

त्रिसुपर्ण, तिस्रः समिधः, त्रयः गरुत्मानः, अग्निः त्रेता, त्रयी विद्या, त्रीणि ज्योतींषि ॥

(यजुर्वेद ८।३९)

इत्यादि। सुपर्ण मूलतः एक है पर ज्ञानी उसे अनेक नामोंसे पुकारते हैं

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। (ऋ. १०।११४।५)

सृष्टि स्पन्दनका परिणाम है जो सर्वत्र सदा कालमें व्याप्त है। यही महासुपर्ण या महाकालका सतत उड्डयन है। विश्वका जो बृंहणात्मकतत्त्व है उसीकी संज्ञा ब्रह्म है, उसके विश्वातीत रूपके संबंधमें कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसका विश्वव्यापी रूप महासुपर्णके पंखोंका संधमन ही है।

सम्बाहुभ्यां धमति, संपतत्रैः
द्यावाभूमि जनयन् देव एकः। (ऋ. १०।८१।३)

वस्तुतः द्यावापृथिवीके स्पन्दनके लिए ब्रह्माण्ड व्यापी किसी सोमका क्षरण आवश्यक है जो सूर्य रश्मियोंके पवित्र या छाननेके वस्त्र द्वारा विश्वके रोम-रोममें प्रविष्ट हो रहा है।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। (९।८३।१)

उस सोमको परिधिके बाहरसे केन्द्रकी ओर खींच लाने वाला छन्दित स्पन्दन ही गायत्री रूपी सुपर्णका सोमाहरण है। समग्र जीवनका गायत्रप्राण एक होते हुए भी अवस्था विशेषसे वह तीन प्रकारका हो रहा है जिसे गायत्र, त्रैष्टुभ और जागत् इन नामोंसे कहा जाता है, जो तीन छन्दों के तीन सुपर्णों पर आश्रित है। (ऋ. १।१६४।२३।२५)

\+ + +

गंगा-यमुनाओंका संगम हो चुका !

[लेखक— श्री बा. पु. हर्डीकर, चिपळूण, (जि. रत्नागिरि)]

जून १९६३ के 'वैदिकधर्म' में श्री. डॉ. विश्वमित्रके 'आर्य और द्राविड' संस्कृत लेखका हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध हुआ था। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि, संपादककी सूचनानुसार कोई विद्वान् संशोधक उस विषयमें अपने विचार प्रदर्शित करेगा। लेकिन (जुलाईके अंकमें) किसीने कलम नहीं उठाई। इसलिये अपनी अल्पमतिसे आज दो शब्द लिखनेका साहस करता हूं।

उपर्युक्त श्री. विश्वमित्रजी कहते हैं—

"व्याकरण- व्युत्पत्तिके अनुसार गतिवाचक 'ऋ' धातुसे 'अर्य' शब्द सिद्ध होता है और 'अर्य' शब्दसे 'आर्य' बना है। तथा 'द्रु गतौ' इस धातुसे 'द्रविड' शब्दकी सिद्धि हुई है। इस प्रकार 'आर्य' शब्दके समान 'द्राविड' शब्द भी गत्यर्थक धातुसे ही बना है। अतः दोनों शब्द समानार्थक और पर्यायवाची हैं।......द्राविड लोगोंमें 'अय्यर' जो एक उपनाम है, वह 'आर्य' शब्दका अपभ्रंश है। 'नायडू' नामका अर्थ तेलगुभाषामें 'नायक' होता है। नायक कौन होता है? श्रेष्ठ या आर्य ही......"

इस तरह व्युत्पत्तिके आधारपर डॉ. विश्वामित्रजी कह देते हैं कि 'आर्य और द्राविड' मूलतः एक ही वंशके लोग हैं। लेकिन सिर्फ व्युत्पत्तिसे ही उनका विधान पूर्णतया सिद्ध न होगा। 'हिन्दुस्तानका इतिहास' नामक ग्रंथके (पृष्ठ १८) (मराठी) लेखक श्री ओतूरकर लिखते हैं— "संस्कृतसे 'पितृ, मातृ, केन्द्र, मनु जैसे कई शब्द लॅटिनके 'पेटर, मेटर, सेंटर तथा अंग्रेजीके फादर, मदर, सेंटर, मॅन आदि शब्दोंसे मिलते जुलते दीख पडते हैं लेकिन इस बातसे सिद्ध न होगा कि, ये शब्द बोलनेवाले लोग निश्चितरूपसे एक ही वंशके होंगे। केवल इतना ही कहना ठीक होगा कि शायद किसी प्राचीन समयमें ये सब लोग निकटवर्ति हों; या परस्परोंसे मिलते हों।"

आर्य और द्राविड दोनोंमें वांशिक एकता सिद्ध करनेके लिये उनकी शरीर रचना, रस्म-रिवाज, कला, प्राचीन वाङ्मय आदि प्रमाणोंकी पूर्ण छानबीन करना आवश्यक होगा।

इस विषयमें डॉ. विश्वमित्र एक सबूत पेश करते हैं— "तामिलभाषाके महाकवि 'कम्बन' ने 'रामचंद्र' का चरित्रचित्रण किया है। यदि आर्य और द्राविड सभ्यताएँ भिन्न हों, तो महाकवि 'कम्ब' आर्यनेता 'रामचंद्र' के संबंधमें आदर कैसे प्रगट करते ?"

यह दलील कुछ हदतक ठीक है। लेकिन पूर्णतया नहीं। क्योंकि, 'साहित्य-संगीत-कला' की साधनामें वंश-जाति-धर्म जैसे सवाल शिथिल पड जाते हैं। और 'गुणाः पूजा स्थानम्' का दृश्य दिखाई देता है। 'वाल्मीकि रामायण' संस्कृतका आदिकाव्य कहा जाता है। उसके सौंदर्यपर और कथानायक 'रामचंद्रजी' के लोकोत्तर सद्गुणोंपर किसी भी रसिकका आकृष्ट होना स्वाभाविक है।

'आर्य और द्राविड' सभ्यताएँ मूलतः एक ही हैं; या प्रारंभमें भिन्न होती हुई भी कई शताब्दियोंसे परस्पर संपर्क होनेके कारण धीरे धीरे दोनोंका मधुर-मिलन हुआ, यह विषय विवाद्य होगा। यदि विद्वान् पुरातत्ववेत्ता चाहते हों, तो उन्हें इस विषयमें बहस करने दो।

लेकिन हिन्दी कवि 'मैथिलीशरण गुप्तजी' के शब्दोंमें इस विषयमें मैं कहता हूं—

"पीछे जो हुआ सो हो गया; अब सामने देखो सभी"

हमें देखना चाहिये कि, देशकी भलाई किस मार्गसे होगी ?

अर्थात् अब हमारा कर्तव्य क्या है ? जब कि विधार्मियोंके और विदेशियोंके आक्रमणकी तलवार हमारे शिरपर लटक रही है !

जो हो; भारतमें गंगा-यमुना जैसी 'आर्य-द्राविड' सभ्यताओंका शानदार संगम हो गया है; (तथा शक-हूणादि और जातियाँ भी हमारी लोक-गंगामें एकरूप हो गई हैं।) बडे आनंदकी बात है! तो प्रयागमें संगम होनेके बाद दूर काशी या कलकत्तामें जाकर 'यमुनाका जल' पृथक् खोजना बिलकुल फिजूल है! ध्यानमें रखना चाहिये, अब हम सब हिंदु हैं- सब एक हैं। और एक साथ मिल-जुलकर ही रहना चाहिये।

आइये; उत्तर और दक्षिण भारतका सांस्कृतिक आदान-प्रदान और एकता देख लीजिये—

पुण्य-सरिता 'गंगा' मैया हमारी एकताका महान् सूत्र है। गंगास्नानके लिये हमेशा हजारों यात्री दक्षिण भारतसे श्रीक्षेत्र 'काशी-प्रयाग' में जाते हैं। वहाँसे 'गंगाजल' लेकर वापस आते हैं और उस पवित्र जलसे दक्षिणके परम पूज्य 'रामेश्वर' पर वैदिक मंत्रोंसे अभिषेक करते हैं। कहा जाता है, द्राविड लोग 'शिव और दुर्गा' के उपासक थे। उनके प्रभावसे आर्योंने भी अपने वैदिक 'रुद्र' देवताको 'शिव' बना दिया। जिसका मंदिर प्रत्येक गांवमें नजर आता है। तो दूसरी ओर आर्योंके 'राम-कृष्णों' के चरित्रोंका आदर्श द्राविडोंने हृदयसे स्वीकार किया! इनका प्रभाव 'तामिल-तेलगु-कन्नड' साहित्यमें बराबर दीख पडता है।

ऐतिहासिक कालमें 'बौद्ध' तत्त्वज्ञानके विरुद्ध श्रीमान् 'कुमारिल भट्टने' प्रचार करके 'वैदिक' तत्त्वज्ञानका पुनरुद्धार किया। और 'अद्वैत' सिद्धान्तकी नींव रखी। वह वेदाभिमानी पंडित उत्तर भारतका निवासी था उसने दक्षिणमें लोगों और राजाओंको अद्वितीय ईश्वरकी पूजा करनेका उपदेश किया। दक्षिणमें उसे एक ऐसा शिष्य मिला, जिसका नाम संसारके दर्शनशास्त्रोंमें अमर हुआ है। कुमारिलके भट्टने अपना कार्य उस शिष्यके सुपुर्द किया। उस शिष्यको 'आद्य शंकराचार्य' नामसे पहचाना जाता है। कुमारिके पश्चात् शंकराचार्य उत्तर भारतकी तीर्थयात्रा करने गये। वे मलबार-केरलके निवासी थे। काशी-प्रयाग-बदरीकेदार जैसे अनेक तीर्थोंकी उन्होंने यात्रा की। बौद्ध पंडितोंसे वादविवाद-शास्त्रार्थ करके उनके मतका खंडन किया। और फिर 'सनातन वैदिक धर्म' की विजय-पताका फहरा दी। उन्होंने 'बदरीकेदार, द्वारका, जगन्नाथ और शृंगेरी' चार मठ 'धर्मपीठ' स्थापन किये। जो हमारे लिये श्रद्धाके स्थान हैं। प्रांतीयता या संकुचितभाव कहीं नहीं; और न रखना चाहिये।

'आर्य और द्राविड' लेखमें लिखा गया है कि, ये दो सभ्यताओंकी भिन्नताकी बात आधारहीन है; यह विदेशी अंग्रेज शासकोंके कुटिल राजनीतिकी एक 'देन' है। कुछ हदतक यह अनुमान ठीक है। लेकिन इस भेदभावमें कुछ लोगोंका स्वार्थ भी जरूर कारण होगा। हिन्दु-मुस्लिम संघर्षके विषयमें 'अंदरकी बात' कवि 'अकबर इलाहाबादी' कहते हैं—

मेंबरीपर जंग हो; इसमें गऊका क्या कसूर ?
मुलकमें ये बिचारी बदनाम नाहक हो गई ॥ १ ॥

(हिंदु-मुस्लिम झगडोंके 'गोवध' जैसे कारण बाहरी दिखावेके हैं। सच्चा कारण है, कौन्सिलके 'मेंबर' बनना; मानसम्मान पाना और स्वार्थ प्राप्त कर लेना।)

इसी तरह 'द्राविडस्तान' की अलग खिचडी पकानेमें भी मुठ्ठीभर लोगोंका क्षुद्र स्वार्थ ही कारण होगा।

वंदे मातरम्

वेद-व्याख्यान

(लेखक— श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी, वेद-सदन, महारानी रोड, इन्दौर नगर)

[गताङ्कसे आगे]

★

हम इषे-इषे रटते-रटते क्या करें ? कहां जावें ? कौन हमारा सहायक ? कौन हमारा प्रेरक ? कौन हमें ऐश्वर्योंका दाता ? कौन हमें ज्ञानका दाता होगा ? क्या हम स्वयं ही अपने प्रेरक, अपने सहायक और अपने ज्ञान दाता हैं ? नहीं नहीं, हम तो अपनी प्रेरणासे गहरे गर्तमें भी गिर सकते हैं। परन्तु इस प्रकारसे हम संसारके पदार्थोंका यथोचित लाभ नहीं ले सकते हैं। हमारी दशा प्रमत्तवत् रहेगी। इषे- पदके साथ कोई निश्चित हमारा मार्गदर्शक न बने तो सब निरर्थक हो जावे। अतः इषे- पदके साथ 'त्वा' पदसे आपने हमें आपका ही आश्रय लेनेके लिये संकेत कर दिया। आपके ही आश्रयसे निःसंदेह हम अपने संकल्प और कर्मोंको, अपने विद्या और विज्ञानको, अपने अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये गति, अन्न और विज्ञानादिकी प्राप्तिके लिये, आप विज्ञानस्वरूप परमात्माका हम सदा आह्वान करते हैं और आपका आश्रय प्राप्त करते हैं।

ऊर्जे त्वा

ऊर्ग्रसः (शतपथ)

हे सविता देव! आप रसयुक्त हैं। पूर्ण रस ही हैं। रसमें महान् आनन्द रहता है। अतः आप पूर्ण आनन्दयुक्त हैं। आनन्द-घन हैं। आनन्दके अथाह समुद्र हैं। आपसे अधिक आनन्द कहां ? हे देव ! मैं भी रसकी खोजमें हूं- आनन्दकी खोजमें हूं। कहां जाऊं ? संसारके पदार्थोंमें, सांसारिक विषयोंमें रस आता है, परन्तु थोडे ही समयमें, उस रससे चित्त उद्विग्न हो जाता है, उदास होता है और पुनः उसमें आनन्द ही अनुभव नहीं होता। आनन्दके अभावमें उसकी ओर प्रयत्न भी शिथिल हो जाते हैं और पुनः दूसरी ओर आनन्दके लिये प्रयत्न करना पडता है। उसमें भी क्षणिक आनन्दकी प्राप्ति। पुनः वहांसे निवृत्ति। इस प्रकार संसारके किसी पदार्थ एवं विषयमें आनन्दकी स्थिरता नहीं, तो उसमें आनन्द घनत्व कहां ? विश्वका एक-एक कण, मनकी एक-एक वृत्तिने छान डाला, परन्तु आनन्दका अभाव ही प्रतीत हुआ। जो अभी आनन्द प्रतीत हो रहा था, वही दूसरे क्षणमें दुःख प्रतीत होने लगा। जिसमें अभी अत्यन्त प्रीति थी दूसरे ही क्षण उसमें घृणा उत्पन्न हो जाती है। पदार्थ वही, विषय वही, परन्तु उसमें दोनों विपरीत गुणोंका अनुभव। अतः यदि प्रमादवश हम संसारको आनन्दमय या आनन्दघन ही मानते हैं तो उसमें उसका विपरीत गुण कैसे रहेगा ? परन्तु उसमें विपरीत गुण भी अनुभव होता है। अतः संसारके पदार्थ स्थिर रसवान् नहीं हुए। जब वे रसवान् नहीं तो आनन्दमय कैसे हो सकते हैं ?

हे सविता देव ! आपको हम रसके लिये आह्वान करते हैं। क्योंकि बिना रसके हम जीवित भी नहीं रह सकते। हमारे शरीरमें रस न हो तो शरीर सूख जावे। हमारी वाणीमें रस न हो तो सदा ही अनर्थ उत्पन्न होता रहे। हमारे कार्योंमें रस न हो तो उनमें सौन्दर्य और कलाके अभावसे नीरसता और निष्फलता प्रतीत होने लगे। अन्नमें रस न हो तो हमारे शरीरको जीवन एवं प्राण ही न मिले। वृक्ष एवं वनस्पतियोंमें रस न हो तो वे सूखे, ठूंठ, कण्टकवत् ही प्रतीत हों। पृथ्वी रसवती न हो तो वृक्ष, वनस्पति जगत् ही नष्ट हो जावे। जल रसयुक्त न हो तो अगाध समुद्रके मध्यमें भी हम प्यासे ही मर जावें। अतः विश्वका जीवन रसके आधार पर है।

परन्तु इस समस्त रसका स्रोत कहां है ? कहांसे समस्त जगत् रससे आप्लावित होता रहता है ? वेद हमें सुनिश्चित

ज्ञान देनेके लिये बताता है कि रसके लिये हमें आपका आह्वान करना चाहिये। आपके ही आश्रयमें जाना चाहिये। हम ही क्या समस्त जड और चेतन जगत् आपके रससे रसवान् है। रसवान् होनेसे उसमें कुछ स्थिरता है। जैसा जितना रस वैसी उतनी ही स्थिरता एवं जीवन तथा वैसा ही बल। अतः उसीके रससे हम बलवान् हो रहे हैं। संसारका प्रत्येक पदार्थ रसयुक्त होनेसे उसीसे बल प्राप्त कर रहा है। वही उसकी सामर्थ्य है। वही उसका वैशिष्ट्य है। वही उसका देवत्व है। उसीसे उसकी उपादेयता है। अतः समस्त संसारका बल, पराक्रम आपका ही है। परन्तु संसारके बल, पराक्रम और आनन्दकी एक सीमा है। उसमें सांतता है। उसमें अनन्तत्व नहीं।

हे सविता देव ! आप ही अनन्त बल, पराक्रम युक्त हैं और आनन्द-घन हैं। अतः हे अनन्त पराक्रमानन्दरसघन हमने-इषे त्वा-कहकर आपका आश्रय ग्रहण किया और अब ' ऊर्जे त्वा ' के द्वारा भी हम आपके आश्रयमें पडे हैं। इसके बाद ऊर्ज होना ही चाहिये। अन्नसे रस, रससे बल और आनन्दकी प्राप्ति होनी ही चाहिये। गृहस्थमें प्रवेश करते समय पत्नीको ' ऊर्जे द्विपदी भव ' कहकर दूसरा पद आगे बढाना पडता है। यदि इषके बाद ऊर्जकी प्राप्ति न हो तो इषकी निष्फलता हो जावे। अतः आप हमारी गतिको मोक्ष-पद प्राप्ति तक ले जाइये। आप हमारे अन्नों-को रसयुक्त करें, जिससे हम बल पराक्रमयुक्त होकर आनंदी हो सकें।

इष और ऊर्ज हमारे जीवनके दो स्तम्भ हैं। एकके बिना जीवन नहीं और दूसरेके बिना जीवन साफल्य नहीं। अतः हे सविता देव ! हम आपकी शरणमें आते हैं। आप-की अनेक प्रकारसे भक्ति और उपासना करते हैं तथा आपका सदा आह्वान् करते हैं, जिससे हमें सांसारिक पदार्थोंके आनन्दके अतिरिक्त मोक्षरूपी आनन्द रस प्राप्त होकर आत्मा बल पराक्रम प्राप्त कर सके।

वायवं स्थ

हे सविता देव ! इष और ऊर्जका चक्र हम अपने जीवनमें यावज्जीवन चलाते रहें। इष हमारा प्रथम पग है और उसका लक्ष्य ऊर्ज है। परन्तु इस गतिसे परम बलकी प्राप्ति तभी संभव है जब हम प्राणवान् हों।

प्राणतत्व समस्त संसारमें व्याप्त है, जिससे संसारमें गति और सामर्थ्य विद्यमान है। अतः वायवस्थ वायु, प्राणादि वायुके बल और आश्रयसे समस्त जगत्के पदार्थ अपनी अपनी स्थिति एवं जीवनमें हैं तथा समष्टि प्राण-वैश्वानर प्राणके आश्रयसे समस्त संसारका जीवन है। जब समस्त जगत् वायु प्राणादिमें स्थित है तो संसारके प्रत्येक परमाणुमें उसके प्राणसे गति हो रही है और उसमें बल एवं सामर्थ्य विद्यमान है।

इस प्रकार संसारके प्रत्येक परमाणुके और उनसे बने प्रत्येक संघात-पिण्डोंमें इष और ऊर्ज अपने-अपने केन्द्रोंमें स्थिर है। उनमें इष, ऊर्जकी ओर उन्मुख होकर गति करता है। प्राण उसमें बल, सामर्थ्यकी स्थिरता प्रदान करता है, जिससे इष ऊर्जका चक्र चलता रहता है। प्रत्येक इषका एक केन्द्र है जो ऊर्ज है। इषसे ऊर्जकी प्राप्ति, पुनः उससे उत्तरोत्तर उन्नत एवं श्रेष्ठ ऊर्जके लिये इष अर्थात् गति। इस प्रकार इष और ऊर्जका चक्र सर्वत्र चलता ही रहता है।

जिस परमाणुमेंसे जिस संघातमेंसे या जिस पिण्डमेंसे प्राणतत्त्व पृथक् हो गया या नष्ट हो गया तो वहांके इष और ऊर्जका चक्र भी विनष्ट हो जाता है। अतः वेदने हमें बताया कि समस्त संसार और उसमें निवास करनेवाले समस्त प्राणी-वायवस्थ-वायुके आश्रित हैं- प्राणके आश्रित हैं। प्राणके आश्रित हो गति कर रहे हैं। प्राणके ही आश्रित हो आनन्दकी उपलब्धि करते हैं। लोकलोकान्तरोंमें भी यही क्रम इष, ऊर्ज और वायवस्थका चल रहा है।

हमारा यह शरीर भी वायवस्थ है। हमारे शरीरमें भी दस प्राण हैं। यदि ये दस प्राण न हों तो बलवान् शरीर भी चेष्टा रहित, जडवत् हो जावे। जो शरीर नित्य नये-नये स्वादिष्ट भोज्य पदार्थोंको प्रेमसे ग्रहणकर उन्हें आत्म-सात करता है, वही प्राणोंके न रहनेपर एक कण भी ग्रहण नहीं कर सकता और न उसे पचा सकता ही है। इसी समस्त संसारका व्यापार भी वायुपर प्राणपर ही आश्रित है।

हमारे प्राणोंके आधारपर ही हमारा इष सम्पन्न होता है और उससे ऊर्जकी उपलब्धि होती है। प्राणापानकी यथो-चित् विद्यासे और उसको बलवान् बनानेसे हमारे शरीरकी आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य आनन्दकी वृद्धि होती है। इन्हीं प्राणोंकी वृद्धिमें प्राणायामादिके द्वारा अष्टांगयोग सम्पन्न

होता है, जिसके द्वारा धारणा, ध्यान, समाधिके मार्गके हम अधिकारी भी बन जाते हैं। शरीर, इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादिके कोषों एवं संस्कारोंसे पृथक् हो कर आत्मा आध्यात्मिक संसारमें प्रवेश कर जाता है। अविद्यादि मलोंसे रहित आत्मा हो जाती है, और वह परमेष्ठी हो जाता है।

उस समय हम आत्मवित् हो जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठ हो जाते हैं और ब्रह्मानन्दी बन जाते हैं। परब्रह्मके साथ उस दिव्य साम्राज्यमें प्रवेश कर जाते हैं, जहां न जरा है, न मृत्यु है। जहां न भूख है. न प्यास है। जहां न शोक है, न हर्ष है। जहां न दुःख है, न सुख है– अपितु आनन्द ही आनन्द है। सर्वत्र आनन्द, आनन्दघन, परमानन्दैकरसघन, शान्त, परमशान्त, शिव, ज्ञानमय, तेजोमय, परमज्योति, स्वज्योंतिका सदा दर्शन, सदा मिलन, सदा रसास्वादन है। वही मोक्षपद है। वही अमृत है। वही परमगति है। वही सत्य है। वही ध्रुव है। अध्रुवोंको त्यागकर उसी ध्रुवकी साधना, वायवस्यसे फलीभूत हो जाती है।

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (शतपथ)

हे सविता देव! आपने हमें इष और ऊर्जसे सम्पन्न किया और प्राणोंसे भी सम्पन्न किया। आपकी यह महती कृपा है। आज हम अपनेको संकल्पसे पूर्ण अनुभव कर रहे हैं। आपने हमें ऐसी सामर्थ्य प्रदानकी है कि जिससे हम अपने ही स्थान पर बैठे हुए ब्रह्माण्डके दृश्य, अदृश्य स्थानोंके बारेमें चिन्तन कर लेते हैं, पुनः अपनी गति भी कर लेते हैं। आज हम अपनेको इतना बलशाली समझने लगे हैं कि ब्रह्माण्ड विजयकी ओर भी पग बढा रहे हैं। हम विचार करनेमें स्वतंत्र हैं, गति करनेमें स्वतंत्र हैं और बल सम्पादन करनेमें भी स्वतंत्र हैं।

हमारी स्वतंत्रता, हमारी स्वच्छंदता यदि अहंकारके वशीभूत हो जाती है, तो हमारे विचार, कर्म और बलोंका प्रयोग अहंकारकी साधनामें लग जाता है। उस समय हमारे कर्मोंसे दूसरोंको दुःख, क्लेश होने लगते हैं। दूसरोंके साथ हम अन्याय और अत्याचार करने लग जाते हैं। हमारी बुद्धि अज्ञानयुक्त होकर सन्मार्गसे हटकर कुपथगामी हो जाती है। हमारे मन एवं प्राण अविद्या तथा कुसंस्कारोंके आवरणोंसे आक्रांत हो जाते है और अविद्या अविवेक, मद, मत्सर, क्रोध, लोभ एवं मोहके अधम पाशोंमें आबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार दुःखोंका महान् समुद्र हमारे कर्मोंके आधार पर निर्मित हो जाता है और उसीमें हम निमग्न हो जाते हैं।

ऐसी अधम स्थितिसे हमें कौन निकाल सकता है? कौन कर्तव्याकर्तव्यका बोध करा सकता है? कौन कर्म बन्धनोंके अधम पाशोंको काटनेकी सामर्थ्य प्रदान कर सकता? हम सब तो अल्पज्ञ हैं। अविद्या और मोह पाशोंसे आबद्ध हैं। हमारा सामर्थ्य नहीं कि कर्तव्याकर्तव्यका विवेक यथार्थमें कर सकें और, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम कर्मोंका निर्णय कर सकें। हे सविता देव! आप ही हमें श्रेष्ठतम कर्मोंके लिये हमारे प्राणोंको प्रेरित कीजिये। हमारे अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारको श्रेष्ठतम कर्मोंकी ओर प्रेरित कीजिये। हमारे बल और सामर्थ्यको श्रेष्ठतम कर्मोंकी ओर प्रेरित कीजिये, तथा हमारे कर्मोंकी साधना भली प्रकार सिद्ध कराइये।

हमारे मनोंमें श्रेष्ठतम कर्मोंके लिये संकल्प विकल्प उठते हैं कि यह श्रेष्ठतम कर्म है कि अमुक श्रेष्ठतम कर्म है? बुद्धि किसके आश्रयसे निर्णय करे। चित्त किसके आधार पर अपनी वृत्ति एवं संज्ञानसे किस कर्मकी ओर प्रवृत्ति करे और अहंकार किस आधार पर किस कर्मको श्रेष्ठतम मानकर, अन्य कर्मों पर विवेक और वैराग्यका शस्त्रपात करके किस कर्म पर आरूढ हो? हे सविता देव! आप ही हमें उस श्रेष्ठतम कर्मकी प्रेरणा कीजिये। आपका ही निर्णय, आपका ही आदेश हमें स्वीकार है। हम उसीकी ओर सदा अग्रसर रहेंगे, और वही कर्म करेंगे। फिर हम श्रेष्ठतम कर्मोंके करनेसे श्रेष्ठतम क्यों न हो जावेंगे? हमारे शरीरसे श्रेष्ठतम कर्म होंगे तो हमारा शरीर भी श्रेष्ठतम बन जावेगा। यदि हमारे प्राणोंसे श्रेष्ठतम कर्म सम्पन्न होंगे तो हमारे प्राण भी श्रेष्ठतम हो जावेंगे। यदि हमारे अन्तःकरणसे श्रेष्ठतम कर्म सम्पन्न होंगे तो हमारे मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार भी श्रेष्ठतम हो जावेंगे। यदि हम आत्मासे श्रेष्ठतम कर्मोंकी साधना करेंगे तो आत्मा भी श्रेष्ठतम हो जायगा।

*

श्रेष्ठतमकी साधनासे हम सर्वात्मना श्रेष्ठतम ही हो जावेंगे और पुनः परम श्रेष्ठतमके प्रियतम, अत्यन्त प्रियतम भी हो जावेंगे। वही श्रेष्ठतम गति होगी। इस गतिको प्राप्त करनेके लिये आपने हमें इस प्रथम मन्त्रके अन्तमें यजमानका शुभनाम दिया है। अतः यदि हम यजमान बनेंगे तो श्रेष्ठतम बन जावेंगे। यजमान बनकर हम संपूर्ण जीवन यज्ञ करते रहेंगे तो यावज्जीवन श्रेष्ठतम कर्म ही हमसे सम्पन्न होते रहेंगे। उन यज्ञोंसे सदा अखिल ब्रह्माण्ड-का पोषण होता रहेगा। आओ, हम सब अपने जीवनमें यज्ञको धारण करें और यजमान बनें। यज्ञपति बनकर अपने जीवनको निष्पाप बनाते हुए सर्वहित कर्मोंमें अपने जीवनको अर्पण कर दें।

आप्यायध्वम्

एवं भूता यूयं चाप्यायध्वं, वयं चाप्यायामहे।

(महर्षिः दयानन्दः)

मन्त्रमें कहे गये पूर्वोक्त प्रकारसे तुम सब वृद्धिको प्राप्त होओ। संसारमें, इस मानवजीवनमें यह तुम्हारे लिये उन्नतिका, समृद्धिका मार्ग है। इसको निश्चय समझो ध्रुव धर्म मानो। आओ, हम सब अच्छी प्रकार अपनी वृद्धि, उन्नति, अभ्युदय एवं निःश्रेयसको सम्पन्न करें। यही सबकी उन्नति, सबके अभ्युदय एवं सबके अभ्युत्थानका श्रेष्ठमार्ग है। इस मार्गके सदा हम सब पथिक बन कर निःश्रेयसको प्राप्त करें। हमारे मध्य कोई दीन, दुःखी एवं दरिद्र न हो। सभी समृद्ध और सुखी हों। हमारे चारों ओर सुखप्रद वायु बहे। जल, पृथिवी, सूर्य, अन्तरिक्ष एवं द्यौ सभी सुखकारी हों। ऋतुएं मधुरताका सम्पादन करें। समुद्र सुखका सम्पादन करें। दिन और रात मधुर हों। अन्तरिक्ष-से सुख, शान्ति एवं अमृतकी वृष्टि होती रहे। सर्वत्र सुखका साम्राज्य आनंद ही आनंद हो।

उपरोक्त स्थिति हमें प्राप्त हो। इस स्थितिकी प्राप्तिके लिये मन्त्रके पूर्वभागमें निम्न चार सोपान बताये हैं जिन पर आरूढ होकर हम समस्त संसारको सुखी बना सकते हैं-

(१) हमारी इच्छायें एवं संकल्प- शिव हों, शुभ हों, पवित्र हों और उनके आश्रयसे हमारे कर्म भी दिव्य हों। शिवसंकल्पोंके उदयके लिये और दिव्य कर्मोंके अनुष्ठानके लिये निर्मित यह शरीररूपी पुण्यक्षेत्र, पवित्र तीर्थरूप बन कर बल एवं पुरुषार्थ युक्त होता रहे। इस निमित्त दिव्य वृष्टि जलोंसे पृथिवी आप्लावित होती रहे और वह रसवती होकर उससे मलादि दोष एवं तामसादि दोषरहित सात्विक अन्नकी उत्पत्ति हो। यह प्रयत्न विश्वके जीवनका प्रथम सोपान है- 'इषे त्वा'।

(२) शिव संकल्प और दिव्य कर्मोंके आश्रयसे जो विद्या, विज्ञान एवं व्यवहार लोकमें हमारा प्रचलित हो वह विश्वमें आनन्द रसका संचार करनेवाला हो। 'शंयोर-भिस्रवन्तु नः' का प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभव हो। इस प्रकारका महान् प्रयत्न विश्वके जीवनका दूसरा सोपान है— 'ऊर्जे त्वा'

(३) अपने प्राण, मन एवं अन्तःकरणकी दो प्रकारकी वृत्तियां हैं— अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी। दोनों प्रकारकी वृत्तियोंकी समुचित साधना करनी चाहिये। बहिर्मुखी वृत्ति संयमादि एवं तपःपूत हो तथा अन्तर्मुखी वृत्तिका समुचित विकास करके धारणा, ध्यान, समाधि की प्राप्ति द्वारा आत्मा एवं परमात्माका साक्षात्कार मानव देहमें, इसी जीवनमें हो ऐसा प्रयत्न तीसरा सोपान है।— 'वायवस्थ'।

(४) विश्वके कल्याणार्थ जड, चेतन सभी की पुष्टि एवं वृद्धिके लिये, श्रेष्ठतम कर्मों की साधनाके लिये यज-मानका व्रत लेकर, व्रती बन कर, अपने जीवनको यज्ञमय बनाकर, ज्ञानयज्ञ एवं कर्मयज्ञोंका अनुष्ठान करके मानव जातिको श्रेष्ठ ज्ञान एवं कर्मोंसे समृद्ध करते हुए प्राकृ-तिक तत्वोंको भी सतोगुण प्रधान बनाना, यह चौथा सोपान है— 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे—'।

इस प्रकार एक अणु रूप जीवके संकल्प और कर्मोंसे महत् एवं महत्तरकी साधना द्वारा हम आनन्दकी परा-काष्ठा तक पहुंच सकते हैं। इसलिये वेदका आदेश है— 'आप्यायध्वम्'— इस प्रकार तुम सब इस संसारमें वृद्धि-समृद्धिको प्राप्त होओ और हम सब भी वृद्धिको-उन्नत स्थितियोंको प्राप्त होवें।

अघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा ऽअयक्ष्माः

'परमैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये अहिंसनीय, सेवनीय, रोगादि रहित सवत्सा गौवें हमें सदा प्राप्त हों।'

हे सवितादेव! परमैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये इस जीवनमें हमारे लिये क्या मार्ग है? हम अपनी वृत्तियोंके वशीभूत होकर परमैश्वर्यको न जाने किस-किस कर्म और पदार्थमें समझने लगें और फिर भटकते फिरें? संभव है परमैश्वर्यके सच्चे साधनको हम समझ भी न सकें। इसलिये प्रथम मन्त्रमें ही आपने हमें परमैश्वर्यकी साधिकाके बारेमें निर्देश कर दिया। यह आपकी महती कृपा है। हम कृतज्ञ हो कर प्रतिदिन प्रातः सायं आपका क्यों न स्मरण करें? आपने इस मन्त्र द्वारा हमें ज्ञान दिया है कि परमैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये गौ ही इस संसारमें सर्वप्रथम एवं सर्वोत्तम साधन है। इन्द्राय-परमैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये-इन्द्रके लिये-- इन्द्रसम ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये-गौ हमें प्राप्त हो। इन्द्रका ऐश्वर्य मानवी ऐश्वर्यसे दस खरब गुना अधिक होता है। गौसे उत्पन्न ऐश्वर्यकी कल्पनाका अनुमान 'इन्द्राय' पदसे कहने पर कितना अधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षक होगया है। गौमें इतना ऐश्वर्य है तो हम सबको उसकी सेवा करनी ही चाहिये। इसलिये 'भाग'-भजनीय, सेवनीय यह शब्द भी हमें इसकी महत्ताको प्रकट कर रहा है। संसारके बहुमूल्य पदार्थ इतने ऐश्वर्यके दाता नहीं हैं जितना ऐश्वर्य गौ सेवासे प्राप्त होता है। अतः गौकी सेवा, गौका पालन हमारा धर्म है— गौ हमारे धर्मका आधार है। गौ हमारे कर्मोंका आधार है। गौ हमारे जीवनका आधार है। गौ विश्वके जीवनका आधार है। 'गावो' अस्मान्मातरः' गौवें हमारी माता हैं। विश्वमाता हैं अतएव विश्ववन्द्य हैं। यह हमारा गौवोंके प्रति प्रथम कर्तव्य है।

गौ-सेवा कैसे की जानी चाहिए इसके लिये वेदने कहा कि वे 'अघ्न्याः' हैं- 'हन्तुमनर्हाः' हैं। उन्हें कभी किसी प्रकारसे पीडा एवं दुःख भी नहीं पहुंचाना चाहिये, अपितु उनके सुखकी उत्तम व्यवस्था करनी चाहिये। गौ पीडित या दुःखी होगी, तो उसका परिणाम रूपमें दुःख हम सबको प्राप्त होगा। हम भी सुखी नहीं हो सकेंगे। यदि गौकी हिंसा होगी तो परिणामतः हमारे सुख एवं ऐश्वर्योंकी ही हिंसा नहीं होगी अपितु हमारा भी रक्त-शोषण होगा। हमारे ऊपर भी हिंसाके शस्त्र मंडराते रहेंगे हमारे ऊपर भी मृत्यु मंडराती रहेगी और हमारी भी हत्यायें ऐसी होंगी जैसे हम कृमि कीट एवं घासको रोंदते हुए चले जाते हैं। अतः गौकी सेवा परम धर्म है। गौ-अघ्न्या है। उसको किसी भी प्रकारसे कष्ट न हो और न उसका कोई वध ही कर सके। इस व्रतको अंगीकार करें। इसपर सब आचरण करें। गौके प्रति यह हमारा दूसरा कर्तव्य है।

हे सवितादेव! आपने हमें परमैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये गौ दी है। मुझे स्वीकार है। इसको 'अघ्न्या'— अहिंसनीय—रखनेके लिये मैं अपने जीवन पर्यन्त प्रयत्न करूंगा। परन्तु क्या उस पूज्यतम गौको अहिंसनीय रखनेसे ही हमारे सुख-सौभाग्यकी वृद्धि हो सकेगी? नहीं-नहीं। उनको 'प्रजावतीः' प्रजावान्, उत्तम बछडे एवं बछियोंसे उनके वंशकी भी वृद्धि होती रहे ऐसा भी प्रयत्न करना होगा, तभी हम सब भी वृद्धि, समृद्धिको प्राप्त हो सकेंगे। गौसेवासे हम भी प्रजावान् हो सकेंगे। अतः गौके प्रति हमारा यह तीसरा कर्तव्य भी है।

गौओंके सुख समृद्धि और उनके वंशकी वृद्धिके साथ-साथ हमारा चतुर्थ कर्तव्य यह है कि हम यह भी सदा ध्यान रखें कि उनमें कोई अमीवा, क्षुद्र रोग कीटाणुओंका प्रवेश न हो सके। यदि क्षुद्र रोग कीटाणु उनमें हैं और वे हृष्ट पुष्ट एवं प्रजावती भी हैं तो हमारे ऐश्वर्यका उदय नहीं हो सकेगा। हमारी सेवा, शुश्रुषा सब व्यर्थ जायेगी और हमारा धर्म भी निष्पन्न न हो सकेगा। अतः हमारी गायें- 'अनमीवाः' व्याधिरहित हों। क्षुद्र रोग कीटाणुओंसे आन्तरिक सूक्ष्मरोगोंके किसी भी प्रकारके अमीवाओं से रहित हों। दूध देनेवाली गायें यदि आन्तरिक सूक्ष्म रोगाक्रान्त हों और चाहे उनको किसी प्रकारका बाह्य कष्ट न अनुभव होता हो तो भी उससे विश्वका कल्याण नहीं हो सकता। अतः गौवें 'अनमीवाः' हों, यह हमारा चौथा कर्तव्य गौवोंके प्रति है।

अनमीवाः- के अतिरिक्त गौवें- अयक्ष्माः भी हों।

यक्ष्मादि राजरोगोंसे रहित हों। अयक्ष्माः- कहनेसे ज्ञात होता है कि गौओंमें यक्ष्मा रोग भी हो सकता है। जिस प्रकार अत्यन्त चिन्तादि क्लेशोंसे मनुष्यके शरीरको यक्ष्मा रोग आक्रान्त कर लेता है, इसी प्रकारके कारणोंसे गौ आदि प्राणियोंमें भी यक्ष्माकी उत्पत्ति हो जाती है। अतः हमें गौओंको सदा हृष्ट पुष्ट, प्रसन्न, दुःखोंसे रहित रखकर उनको- अयक्ष्मा भी बनाना चाहिये। गौके प्रति यह पांचवा हमारा कर्तव्य है।

गौ-यह हमारी उन्नति एवं धर्मसाधनाका मार्ग है। मन्त्रके पूर्व भागके जो ४ महान् निर्देश किये हैं, उन सबकी साधनाका मूल गौ ही है। अतः गौसेवा एवं गौपालन हमारे अन्न, बल, आयु, आरोग्य, आनंद, मोक्ष, योग-साधन एवं यज्ञके लिये नितान्त आवश्यक है।

हे गौमाता! तुम्हारी महिमा एवं शक्तिका परिचय वेदने प्रकट किया। तुम यज्ञकी आधारभूता हो। इसलिये वैनियोगिक दृष्टिसे इस मन्त्रके पद--पदसे कर्मकाण्डमें हम तुम्हारे लिये ही विविध क्रिया करते हैं। तुम्हारे लिये की गई क्रियायें श्रेष्ठतम कर्म-यज्ञ- ही हैं। अतः तुम्हारी आराधनासे सवितादेव हम पर प्रसन्न होंगे।

हे गौमाता! तुममें अतुल ऐश्वर्य है, यह ज्ञान हमें वेदवाणीसे ही प्राप्त होता है। तुम यद्यपि अस्थि, मांस, चर्ममय दृष्टिगोचर हो रही हो, परन्तु तुम्हारे अन्दर दिव्य शक्तियोंका वास है। जब इन्द्रका ऐश्वर्य तुम्हारे अन्दर निवास करता है, तो देवोंका ऐश्वर्य तुम्हारे अन्दर स्वतः ही है। अतः सब देवता भी तुम्हारे अन्दर निवास करते हैं। इसलिये हे माता! तुमको प्रणाम।

हे मां! तुम्हारी सेवामें मेरा जीवन सफल होगा। मां! तुम्हें क्लेशित, दुःखित एवं कृश देखकर मेरे प्राण सूख जाते हैं। आंखोंसे अश्रुधारा बहने लगती है। चित्त व्याकुल होजाता है। तुम्हें स्वच्छ, मधुर एवं अमृतोपम जल पिला कर मुझे तृप्ति होती है। तुम्हें हरित तृण देकर मुझे आनन्द होता है तुम्हें प्रसन्नतासे बैठी देखकर मुझे तुम्हारे पास बैठनेकी इच्छा होती है। तुम्हें जंगलमें विचरण करती देखकर मुझे भी जंगलमें विचरण करनेकी इच्छा होती है और प्रेमसे आनन्दकी वंशी बजानेकी इच्छा होती है। जब तुम्हारे वत्स इधर उधर उछलते कूदते हैं और प्रेम भरे शब्दसे तुम्हें पुकारते हैं, उस समय मुझे भी उनके साथ उछलते कूदते हुए नृत्य करनेकी इच्छा होने लगती है मां, मैं दिन रात तुम्हारे ही साथ रहूंगा।

हे, मेरे शिष्यो! तुम वेदाध्ययन करने मेरे पास आये हो। जाओ, पहले इन गायोंकी सेवाका व्रत लो। इन्हींमें विचरण करो। इनको खिलाके तुम खाना। इनको पिलाके तुम पीना। इनको सुलाके तुम शयन करना। यही तुम्हारा प्रथम एवं प्रधान कर्तव्य है। यदि तुमने इन गौवोंकी अच्छी प्रकार सेवाकी, तो ये गौवें प्रसन्न मुद्रामें तुम्हें आशीर्वाद देंगी। इनकी सेवासे मैं भी प्रसन्न हो जाऊंगा और इससे भी जो उत्तम गौ-वेदवाणी- है, उसको भी तुम्हें दूंगा। उसके साथ भी तुम विचरण करना। उसका अमृतमय दूध पीकर तृप्त होजाना, जीवन सफल करना और मोक्षको प्राप्त करना।

हे, प्रिय शिष्यो! इस स्थूल गौकी सेवासे तुम्हारा अभ्युदय सिद्ध होगा और उस वेद रूपी गौसे तुम्हारा निःश्रेयस भी सिद्ध होगा। परन्तु इन दोनों गौओंके मध्य अर्थात् पृथिवीस्थ गौ एवं द्युलोकस्थ गौके मध्य एक और भी गौ है। वह है तुम्हारी इन्द्रियां, तुम्हारे प्राण। यदि तुम्हारी इन्द्रिय रूपी गौएं एवं प्राणरूपी ऋषभ ठीक होंगे और सुसंगत होंगे तो तुम दोनों प्रकारकी गौवोंकी सेवा करके फलको प्राप्त कर सकोगे।

इसलिये हे शिष्यो! तुम्हें गौ, इस एक शब्दसे तीनों प्रकारकी गौओंकी सेवाका उपदेश है। इनमेंसे किसी भी प्रकारकी गौकी किसी भी प्रकारसे हिंसा न हो, और उनमें किसी भी प्रकारका विकार, रोग, दोष उत्पन्न न हो तभी परमैश्वर्यकी साधिका गौ हो सकेगी। यदि तुमने तीनों प्रकारमेंसे किसी भी प्रकारकी गौकी सेवाकी उपेक्षा की उसको क्लेशित, त्रुटित, दोषपूर्ण, रोगयुक्त किया और उसकी वृद्धि नहीं की तो तुम भी रोगग्रस्त, अविद्यायुक्त हो जाओगे। अतः गौकी सेवामें त्रुटि, दोष आदि कभी न करना।

हे परमकारुणिक, परमात्मन्! आपने हमारी उन्नतिका राजपथ हमारे सामने उपस्थित कर दिया। इसपर आरूढ होकर एवं अग्रसर होकर हम सब अवश्य उन्नति करेंगे। परन्तु सभी मनुष्य एक सदृश स्वभाव एवं संस्कारके नहीं

होते। सभी पुरुषार्थी नहीं होते । अतः ऐसी भी संभावना है कि जो अपने आलस्य-प्रमादवश तथा कुसंस्कार एवं कुचेष्टा-वश उन्नतिके मार्गको छोडकर कुपथगामी हो जावें और आर्यवृत्ति छोडकर अनार्यवृत्ति ग्रहण कर लें, उनमें हमारी उन्नति एवं समृद्धिके प्रति ईर्ष्या होनी स्वाभाविक है। ईर्ष्यासे द्वेष, द्वेषसे क्रोध और लोभ भी उनमें उत्पन्न होसकते है और वे हमारी समृद्धिको प्राप्त करनेके लिए चोरीकी भी इच्छा करें और उसके लिये बल, सामर्थ्य भी प्राप्त करें। इस प्रकार पाप एवं अनाचारकी वृद्धि होसकती है । अतः हे प्रभु ! हम यह कामना करते हैं कि हमारे मध्य कोई पापी, चोर, दुष्ट, प्राणी, हिंसक वृत्तिका न हो और न वे सामर्थ्यवान् ही बन सकें । सभी सुखोंसे समृद्ध हों, जिससे किसीको चोरी, कुटिलता एवं पापका मार्ग अपनाना ही न पडे ।

प्रत्यक्ष चोर एवं पापी समाजके लिये घातक हैं । परन्तु हे सवितादेव ! मेरी साधना परमेष्ठी बननेकी है । ऐसी दशामें यदि मेरे अन्तःकरणमें कोई चोर वृत्ति या पापकी वृत्ति होगी तो मेरा अन्तःकरण मलिन हो जायगा । मेरा मन और मेरी बुद्धि दूषित हो जायगी और उससे मेरे कर्म भी दूषित तथा पापयुक्त होने लगेंगे । अतः हे सवितादेव ! आपके शुभ ज्ञान प्रकाशसे मेरा अन्तःकरण पवित्र हो, जिससे प्रभुकी दिव्य छटाका मैं अवलोकन करता रहूं और अपने प्रियधामको प्राप्त कर सकूं ।

हे सवितादेव ! ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि हम अपनी ओरसे तो पवित्र बने रहें और कोई चोर, पापी एवं दुष्ट मुझे अपनी सामर्थ्यसे अपने वशमें न कर सके परन्तु माया मोहके पाश, कंचन एवं कामिनीके मोहक रूप, रागद्वेषादि दैत्य और कामक्रोधादि असुर वृत्तियां परिस्थितिवश हममें विकार उत्पन्न करके दैवी वृत्तियोंका पराभव करके हमें अमृतपथसे-ऋतपथसे विचलित कर दें और आसुरी शक्तियां अपने बन्धनमें हमें बांध कर अपना दास बना लें । अतः हे सवितादेव ! जैसे आपके प्रकाशके उदय होते ही अन्धकार छिन्नभिन्न हो जाता है, जिस प्रकार विवेक एवं वैराग्यके उदय होने पर संसारके सारे विषय एवं वैभव विषवत् प्रतीत होने लगते हैं, उसी प्रकार ऐसी परिस्थितिमें आपके स्मरणमात्रसे वे सब पापरूप वृत्तियां नष्ट हो जावें और हम अपनी सत्यसाधनामें, श्रेष्ठतम कर्मोंकी साधनामें-यज्ञमें-सफलताको प्राप्त करें । हमारा यह जीवनयज्ञ और सांसारिक व्यवहाररूप यज्ञ पूर्ण हो तथा कभी भी दुष्ट, चोर, पापी मनुष्य या ये वृत्तियां बलवान् बनकर हमें अपना दास न बना सकें, अपितु हम सदा इनको सामर्थ्यहीन बनानेमें समर्थ बने रहें ।

ध्रुवाऽअस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीः

अस्मिन्गोपतौ बह्वीर्गावो ध्रुवाः स्यात ।

(म. दयानन्द)

हे सवितादेव ! आपके साम्राज्यमें मुझे गोपति बनना है । मैं केवल एक गौका ही पालक या स्वामी न बनूं । मेरे गोष्ठमें उत्तमोत्तम प्रकारकी, मधुर एवं अमृतमय दूध देनेवाली अनेकों गौएं निश्चयसे ही होवें। हम सब गोपति हों। हमारे सुन्दर गोष्ठ हों, क्योंकि इस गौके आश्रयसे ही अपने जीवनमें- " आयुर्यज्ञेन कल्पताम् " को चरितार्थ करना है । सारे जीवनमें यज्ञ सम्पादन करना है । अतः सम्पूर्ण जीवन ही गौ-सेवा करनी है । गौ ही हमारा जीवन है । गौ ही हमारा धन है । गौ ही हमारा ऐश्वर्य है । गौ ही हमारा सर्वस्व है । अतः " अस्मिन्गोपतौ बह्वीर्गावो ध्रुवाः स्यात् । " इस गोपति-गोपालके समीप बहुत सी गौएं स्थिर रूपसे, निश्चलरूपसे, निश्चयरूपसे हों ।

हे सवितादेव ! मैं अवश्य गोपति बनूंगा । अनेक गौवें अपने पास रखूंगा । इन गौवोंकी सेवासे, इनके अमृतमय दूधसे मेरे शरीरमें जो गौ-इन्द्रियां हैं वे भी सतेज होंगी, बलवान् होंगी । कोई भी इन्द्रिय मुझको असमयमें ही त्याग कर न सकेगी और मैं **पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं** को चरितार्थ कर सकूंगा। । इन इन्द्रियोंको संयमादिमें रखकर मैं इनका भी गोपति बनूंगा । यदि मैं इनका गोपति न बन पाया, तो ये इन्द्रियां मुझे न जाने किस गर्तमें गिरा देंगी । इसलिये इनमें सात्विक वृत्तिके उदयके लिये, इनमें शुभ संस्कारोंकी जागृतिके लिये गौके दुग्धरूपी परम-सात्विक आहारसे मैं अपना पोषण करूंगा । गौओंके मध्यमें सदा रहकर आपके परम तेजस्वी सावित्री मन्त्रका अहर्निश जाप करता हुआ, इन्द्रियोंके तथा अन्तःकरणके मलोंको नष्ट करूंगा । इसके अतिरिक्त मैं गौ अर्थात् पृथिवीका पालक, रक्षक, पति एवं उसकी समृद्धि करनेवाला भी बनूं । मेरे

राष्ट्रका रक्षक, मेरे राष्ट्रका पालक एवं मेरे राष्ट्रका स्वामी मैं ही बनूं।

हे गौ! आप मेरे शरीरकी पवित्रताकी सम्पादिका हैं। मेरे अन्तःकरणके मलोंको भी शोधन करनेवाली है, अतः आप क्यों न पवित्र हों? अवश्य अत्यन्त पवित्र हैं। अतएव पूजनीय भी हैं। जब मैं उक्त प्रकारसे गोपति बन जाऊंगा तो परम पवित्र गौरूपी वेदवाणीका भी क्यों न स्वामी बन सकूंगा? मैं परमपवित्र बनकर वेदवाणीकी सेवा करूंगा। मन्त्र जागृत करूंगा। वेदवाणी प्रसन्न होगी। उस समय "यो जागार तमृचः कामयन्ते" का साक्षात्कार होगा और वेदवाणी मेरे मुखसे प्रस्फुटित होने लगेगी। प्रभुकी वेदवाणी अब मेरे मुखसे यथार्थ रूपमें ही निकलेगी, तो मैं भी "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" की स्थितिका अनुभव करूंगा। यह स्थिति तीनों प्रकारकी गौओंकी सेवासे प्राप्त होगी और सवितादेवका आशीर्वाद- "अस्मिन्गोपतौ बह्वीर्गावो ध्रुवाः स्यात" भी प्राप्त होगा तथा मैं निःसंदेह गोपति बन जाऊंगा।

यजमानस्य पशून्पाहि

यजमानकी प्रजा, पशु और श्रीकी रक्षा करो।

हे सवितादेव! आपके बताये शुभ मार्गका जो अनुसरण करता है, जो आपके बताये व्रतोंको धारण करता है, जो आपके बताये श्रेष्ठतम कर्म-यज्ञोंका अनुष्ठान करता है, उसे गोपति बनकर यजमान बनना होगा उसे अपने शरीरको भी यज्ञमय, पवित्र, परोपकारी, धर्मानुष्ठाता बनाना होगा। वह यजमान बनकर सत्य व्रतोंका अनुष्ठाता होगा। उसका जीवन पवित्र होगा। उसके कर्म पवित्र होंगे। ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति यजमानकी यदि प्रजा, पशु एवं श्रीकी वृद्धि जितनी भी होगी, उससे उतना ही अधिक सबका कल्याण होगा। हे सवितादेव! आप ऐसे धर्मात्मा, परमेश्वरभक्त, सर्वहितकारी यजमानकी प्रजा, पशु और श्रीकी रक्षा करते रहें और वृद्धि भी करते रहें।

'प्रजा वै पशवः' प्रजा ही पशु है। राजा या राष्ट्रपति यजमान है। ऐसी स्थितिमें विश्वराष्ट्रकी प्रजाकी रक्षा, पशुओंकी रक्षा कौन करे? हे सवितादेव! आप रक्षकोंके भी रक्षक हैं, अतः आप राष्ट्रयज्ञके यजमान राष्ट्रपति या राजाकी प्रजाकी रक्षा करो। राजा और प्रजा दोनोंका रक्षक सवितादेव है- परमात्मा ही है। हम अपनी शक्तिके अभिमानमें आपको भुला न बैठें। अतुल बल, पराक्रम होने पर भी यदि हे सवितादेव! आपकी कृपा हमारे ऊपर न होगी तो राष्ट्रपति या राजा हमारी क्या रक्षा कर सकता है और हम भी राष्ट्रकी क्या रक्षा कर सकेंगे? अतः हे प्रभु! हम अपनी रक्षाके समस्त साधनोंको एकत्र करें, बल और पुरुषार्थका संचय करें, परन्तु यदि हम अपने बल पुरुषार्थके अभिमानमें आपको भुला बैठें, तो हमारा कल्याण नहीं होगा। अतः हम आपको अपना रक्षक मानते हुए अपने यजमानकी प्रजाकी रक्षाके लिए आपसे बारंबार प्रार्थना करते हैं— "यजमानस्य पशून्पाहि"

"श्रीर्हि पशवः" हमारे यजमान या राष्ट्रकी श्री ही पशु हैं। जिस राष्ट्रमें पशुधन नहीं- जिस राष्ट्रमें गौ, अश्व, हस्ती आदि पशु नहीं हैं, उन्हें इन पशुओंकी पूर्तिके लिये अनेक प्रकारके यन्त्र बनाने पडते हैं और उन यन्त्रोंके निर्माणार्थ कल-कारखाने स्थापित करने पडते हैं। वहांकी प्रजा कृत्रिम पशुओंके निर्माणमें दिन रात परिश्रम करती रहती है। परन्तु स्वाभाविक रीतिसे ही यदि पशुओंकी वृद्धि राष्ट्रमें होती रहे तो प्रजाका बहुत सा समय एवं परिश्रम कलकारखानोंसे बच जावे और वह उस उपयोगी समयको यजमान बननेके लिये, स्वाध्याय, होम, यज्ञ, इष्टियां, पंचमहायज्ञ एवं त्रयी विद्याके अनुष्ठानमें व्यतीत कर सकते हैं और अपने शरीरको ब्राह्मी-ब्रह्म सम्बन्धी भी बना सकते हैं। अतः हम यजमान बनें और गौ आदि पशुओंका पालन करें। हे प्रभु, सवितादेव! आप हमारे पशुओंकी रक्षा करें।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

सत्यव्रती महर्षि दयानन्दके जीवनकी एक सत्य घटना
और
उसका मेरे निजी जीवनपर प्रभाव

[लेखक— श्री पं. भास्करानन्द शास्त्री, सिद्धान्तवाचस्पति, प्रभाकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (गुजरात)]
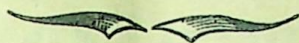
जब इस देवभूमि भारतपर पूर्णरूपसे अविद्या अंधकार फैला हुआ था, लोग नास्तिकताकी ओर वेगसे बढते जा रहे थे। हिन्दू धडाधड ईसाई और मुसलमान होते जा रहे थे। सम्पूर्ण आर्य जातिको सामाजिक कुरीतियोंने धर दबोचा था। सम्पूर्ण राष्ट्र पराधीनताके पाशमें पूर्णरूपसे आबद्ध हो गया था। आर्यपुत्र पथभ्रष्ट होकर ब्रिटिश सम्राट्के स्तुति-गानमें ही गौरव अनुभव करने लगे थे, चारों ओर निराशा छा गयी थी। अकर्मण्यता और पुरुषार्थहीनताने अपना पैर जमा लिया था। ऐसे दुःखदसमयमें, देशके पुनः उद्धारार्थ परम कारुणिक परमदेव परमात्माकी महती अनुकम्पासे गुजरात प्रान्तके मौरवी राज्य अन्तर्गत टंकारा नामक एक ग्राममें एक दिव्य बालकका जन्म हुआ। जो अपने महान् तप, त्याग, विद्या और बलसे विश्वमें महर्षि दयानन्द सरस्वतीके नामसे प्रख्यात हुआ। महर्षि अपने जीवनकी अखण्ड साधनामें अहर्निश लगे हुये आगे ही आगे बढते गये। ईश्वर विश्वास और सत्यव्रतके पालन करनेमें इनकी अटूट श्रद्धा थी। वे एक क्षणके लिये भी सत्यको तिला-ञ्जली नहीं दे सकते थे। महर्षि कितने सत्यप्रतिज्ञ थे उसकी कल्पना उनके एक जीवन घटनासे लगा सकते हैं।

एक बार महर्षि उदयपुरमें उदयपुराधीश महाराणा सज्जनसिंहके यहाँ ठहरे हुये थे। महाराणा सज्जनसिंह उनके शिष्य बन गये थे, और ऋषिवरके श्रेष्ठ भक्तोंमेंसे एक थे। वहीं पर रहकर इन्होंने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, और वेदभाष्यादिके लिखनेका कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही साथ अपने प्रचण्ड व्याख्यानों द्वारा अनेक कुरीतियों और वेदविरुद्ध मतों और रुढियोंका खण्डन भी अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा करने लगे। इनके इस प्रचण्ड खण्डनको सुनकर एक रूढीवादी, अविद्यान्धकारमें पडा हुआ व्यक्ति अत्यधिक बिगड गया और महर्षिको कत्ल करनेकी योजना बना ली।

महर्षि दयानन्द प्रतिदिन प्रातः ४ बजे उदयपुरके कोटके मुख्य दरवाजेसे निकलकर बाहर मीलों दूर शौचादिके लिये चले जाते थे और भ्रमण आदि कार्य करके लौटते थे। वैसे तो नगरके कोटका मुख्य द्वार रात्रीमें बन्द हो जाता था और प्रातः ६ बजे खुलता था, मगर स्वामीजीके लिये पाबन्दी उठा ली गई थी, वे जब भी बाहर जाना अथवा अन्दर आना चाहते थे कोटपाल उनके लिये दरवाजा खोल देता था।

पूर्णिमाकी रात्री थी, निर्मल आकाशमें चन्द्रमाकी चाँदनी छिटकी हुई थी, तारे भी जगमगा रहे थे, प्रातःकाल ४ बजेका समय था, वायुमण्डल शान्त था, महर्षि दरवाजा पार कर नगरके बाहर चल पडे, और बहुत दूर एकान्तमें चले गये। उस निर्जन एकान्तमें जैसे शौचके लिये बैठे, यकायक वह स्वामीजीके खूनका प्यासा व्यक्ति झाडीसे निकला और कूद कर शीघ्रतासे स्वामीजीके सम्मुख आ उपस्थित हुआ, और अपनी लपलपाती, चमचमाती नंगी तलवार उनके सिरपर तानकर जोरसे चिल्लाकर बोला– 'ऐ हमारे मतके खण्डन करनेवाले स्वामी! ईसाइयोंके एजेन्ट, धर्मके शत्रु, नास्तिक, पाखण्डी साधु, आज मैं तुम्हारे सरको धडसे अलग करके ही दम लूँगा ⋯ ⋯ '

अकस्मात् सिरपर मौत आई हुई देखकर स्वामीजी बोले 'अगर तुम मुझसे नाराज होकर मेरे सरको धडसे अलग करना चाहते हो तो करदो, लेकिन एक बात के लिये १० मिनटका थोडासा समय दे दो तो अच्छा हो। मैं इस समय अपवित्र अवस्थामें हूँ, शौचसे निवृत्त होकर हाथपैरादि धोकर उस सामने शिलाखण्डपर आकर बैठ जाऊँगा, गर्दनको झुका दूँगा और तुम अपनी इस तलवारसे मेरी गर्दनको काटकर सरको धडसे अलग कर देना, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसा ही करूँगा इसमें लेशमात्र भी असत्य नहीं होगा'। इस प्रकारके शब्द महर्षिने उससे कहा, उसके अन्दर भी कुछ ऐसा भाव आया और सोचा यह अपनेको बडा ही सत्यवादी समझता है, देखें यह

सत्यका पालन कहाँतक करता है यह सोचकर स्वामीजीको पवित्र होनेके लिये १० मिनटका समय दे दिया।

ऋषिवर दयानन्द १० मिनटके थोडे समयमें शौचसे निवृत्त होकर पासके एक जलाशयमें हाथ पैर धोकर पवित्र होकर उसी कहे हुये शिलाखण्ड पर आकर बैठ गये और अपनी गर्दन झुका दी और कहा- " अपने समयपर मैं आ गया हूँ, अब बेशक अपनी तलवारसे मेरी गर्दनको काटना चाहते हो तो काट दो। " अगर महर्षि दयानन्द चाहते तो रावकर्णसिंहकी तरह उस हत्यारेके भी हाथसे तलवार खींचकर उसको भी पाठ सिखा सकते थे, लेकिन सत्यके व्रती दयानन्दने ऐसा नहीं किया, सत्यवचनका पालन करना ही उनके लिये परम धर्म था; सत्यार्थप्रकाश अभी पूर्ण नहीं हुआ था, वेदोंका भाष्यकार्य अभी चल रहा था और भी वेदप्रचारके कार्य अभी शेष थे, लेकिन ऋषिवरने सोचा कि यह सब काम जो मैं कर रहा हूँ ईश्वरीय कार्य है, अगर ईश्वर चाहेगा तो मुझसे न सही किसी औरसे यह कार्य करा लेगा, मुझे तो अपने वचनको पूर्ण करना है, सत्यका पालन करना है, यह सोचकर अपना सर झुका दिया, और कहा- " लो अब इस मेरे सरको धडसे अलग कर दो। "

प्रातःकालका ५ बजेका समय है महर्षि शिलाखण्डपर अपनी गर्दन थोडीसी झुकाकर बैठ गये हैं, ईश्वर ध्यानमें निमग्न हैं, ब्रह्मतेज प्रस्फुटित हो रहा है, अद्भुत आत्म-शान्ति है, मानों किसी प्यारेकी गोदमें जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं, सत्यकी महान् परीक्षाका समय उपस्थित है, एक क्षणमें ही संसारका एक महापुरुष, वेदोंका प्रकाण्ड विद्वान् शास्त्रार्थ महारथी, महान् ईश्वरभक्त योगीका अन्त हो जानेको है, लेकिन मनुष्य सोचता कुछ है और हो कुछ जाता है। यकायक उस हत्यारेका हृदय काँप उठता है, शरीरमें भूकम्पसा आ जाता है, हाथ शक्तिहीन होजाता है और तलवार छूटकर जमीनपर गिर पडती है वह घबडा जाता है, पसीनेसे तरबतर होजाता है, और उसके आखोंके सामने अंधेरासा छा जाता है, सहसा ऋषिवरके पवित्र चरणों-पर गिर पडता है, पैर पकडकर फूटफूटकर हिचकियाँ भर भर कर जोर जोरसे रोने लगता है, और कहने लगता है, हे स्वामिन्! मुझ जैसा पापी, अधर्मी, नीच संसारमें कोई भी नहीं है, मैंने बहुत बडा अपराध किया है, आपको समझनेमें मुझसे बहुत बडी गलती हुई है, आप वास्तवमें ऋषि हैं, पूर्ण सत्यवादी, श्रेष्ठ धर्मप्रचारक, निर्भय, ईश्वरभक्त योगी हैं, विश्व हितैषी और महान् आत्मा हैं अतः मुझको क्षमा करें, मुझे जो भी आप चाहें दण्ड दें उसके लिये मैं तैयार हूँ। इस प्रकार उसके रोने और गिडगिडाने पर दयाके सागर ऋषिवरने उसे क्षमा कर दिया, और उसको सत्यका उपदेश देकर धर्मके मार्गका पथिक बना दिया, वह ऋषि-वरका एक अनन्य भक्त बन गया। यह है ऋषिवर दयानन्दके जीवनकी एक प्रसिद्ध घटना।

अस्तु, जब साधक साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त कर लेता है, सत्यपालनके लिये कटिबद्ध होजाता है, तब इस प्रकार-की आश्चर्यपूर्ण घटनाएँ उसके जीवनमें घटती हैं, जिसको लोग सुनकर अथवा पढकर चकित हो जाते हैं। महर्षिके जीवनसे प्रेरणा लेनेपर मेरे निजी जीवनमें भी इसी प्रकार-की एक आश्चर्यपूर्ण घटना घटी जिसका भी यहाँ उल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा।

पाकिस्तान बननेके करीब १ वर्ष पूर्व सन् १९४६ ई. के मई मासकी बात है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके बडे अधि-कारियोंके योजनानुसार हरिद्वारमें एक वर्ग (शिक्षण शिबिर) १५ दिनोंके लिये लगा। २४ व्यक्तियोंने उस शिबिरमें ट्रेनिङ्ग ली, आधे तो पहलेसे संन्यासी थे और आधे १ वर्षके लिये संन्यासी बनाये गये। स्वामी सत्यानन्दजी महाराजकी संरक्षकतामें शिबिरका सब काम सम्पन्न हुआ। उसमें एक मुझको भी संन्यासकी दीक्षा देकर कमसे कम एक वर्षके लिये पंजाबके फिरोजपुर जिलेमें अबोहर तहसीलमें भेजा गया। जिस क्षेत्रमें मुझे कार्य करना था, वह ' बिश्नोइयों ' का क्षेत्र था, उन ग्रामोंमें बडे बडे जमींदार, नम्बरदार और रईस बिश्नोई थे। ' बिश्नोई ' हिन्दुओंमें एक सम्प्रदाय है, जम्भेश्वर स्वामी इस सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। उसी इलाकेमें मैं बहुत समयतक कार्य करता रहा। अपने प्रयत्न और लोगोंके सहयोगसे अनेक मुख्य मुख्य ग्रामोंमें संघ शाखाओंका जालसा बिछा दिया। सम्पूर्ण इलाकेमें मुझको लोग ' संघके स्वामीजी ' इसी एक नामसे जानते थे। मैंने कुछ वैद्यक-शास्त्रका भी अध्ययन किया है, अतः एक दवाइयोंकी पेटी भी मेरे पास होती थी, और बगैर कुछ लिये वहाँकी जनताकी औषधियोंसे भी सेवा करता रहता था। इस प्रयत्नसे थोडे ही समयमें उस क्षेत्रमें भी राष्ट्रीय विचारधाराके अनेक लोग निर्माण हो गये। मेरा सम्बन्ध केन्द्रके मुख्य अधिकारियोंसे था, और जिस भी चीजकी आवश्यकता होती थी, उस चीजको उनके द्वारा प्राप्त कर लेता था। बटवारेके समय

मेरा वहाँकी जनतापर इतना प्रभाव स्थापित हो गया था कि मेरे एक इशारेपर हजारों लोग इकट्ठे हो जाते थे और मैं जो भी उनसे चाहता था करा लेता था।

समय एक समान नहीं होता। कुछ ही दिनों बाद देहलीमें एक दुःखद घटना घटी। महात्मागान्धीजीकी हत्या 'गोडसे' नामक एक व्यक्तिने कर दी। फिर क्या था? संघके विरोधियोंको संघकी बढती हुई शक्तिको कुचल देनेका एक अवसर मिल गया। भारतमें सर्वत्र संघियोंकी धरपकड शुरू हो गई, संघके बडे बडे अधिकारी और बहुतसे योग्य स्वयंसेवक पकड पकड जेलोंमें डाल दिये गये। आम जनता-को भी संघके विरुद्ध भडकाया गया। सरकारी रेडियो और अखबारों द्वारा खुले आम प्रचार किया जाने लगा कि 'संघ गान्धीजीका हत्यारा है' स्वयंसेवकों और उनके मकानोंपर आक्रमण होने लगे, नागपुर, पूना, बम्बई और दक्षिण-भारतके अनेक नगरोंमें भयंकर उपद्रव शुरु हो गया, उसका प्रभाव उत्तरी भारतपर भी पडा, अनेकों स्वयंसेवकोंके मकान जला दिये गये, संघकार्यालय पर भी आक्रमण प्रारंभ हो गये और संघके सर्वोच्च अधिकारी सरसंघचालक माधवराव सदाशिव गोलवलकरजीको भी बन्दी बनाकर नागपुर जेलमें डाल दिया गया। संघके करोडों रुपयेकी सम्पत्तिको तहस नहस कर दिया गया। कितना भयंकर बवण्डर था, कितनी बडी साजिश थी संघको समाप्त करनेकी।

८ मार्च सन् १९४८ ई० का दिन मेरे लिये भी अग्नि परीक्षाके दिनके रूपमें आ गया। उस दिन मैं महराना ग्राममें था, प्रातःकाल नित्य कर्मसे निवृत्त होकर स्नान, सन्ध्या ईश्वरोपासनादि करके वहाँके स्वयंसेवकोंकी एक विशेष बैठक ली, पश्चात् सुर्जाराम जो उस ग्रामका नम्बरदार और स्वयंसेवक भी था। उसके ही मकान पर भोजन करके दोपहरमें ही 'दुतारावाली' ग्रामके लिये चल दिया। 'दुतारावाली' ग्राम 'महराना' ग्रामसे ४ मीलके फासले पर स्थित है। अभी एक मीलके करीब ही चल पाया था कि इतनेमें तीन कांग्रेसी व्यक्ति मुझको मार डालनेके लिये मेरे पीछे दौडे। आवाज देने लगे 'स्वामीजी ठहरिये, स्वामी जी ठहरिये' मैंने पीछे मुडके देखा तब मालूम हुआ कि तीन व्यक्ति वेगसे दौडते हुये आ रहे हैं। मैं भी कुछ आहिस्ते आहिस्ते चलने लगा। थोडे ही समयमें तीनों मेरे पास आ गये, मैं भी रुक गया। रामप्रतापने गोलियोंसे भरी हुई अपनी पिस्टल (पिस्तौल) मेरी ओर तान दी, [illegible]तने मेरे दायें हाथको और हेतरामने मेरे बायें हाथको जोरोंसे पकड लिया। रामप्रतापने पहले मेरा झोला माँगा, मैंने अपना झोला उसे दे दिया, उस झोलेमें मेरी एक लंगोटी, एक तौलिया और दो धार्मिक पुस्तकें थीं। इसके बाद रामप्रतापने कहा 'स्वामीजी आप हमारे इस विश्नोइ-योंके इलाकेसे चले जाँय, नहीं तो अभी इसी पिस्टलसे आपको खतम कर दूँगा, गान्धीजीकी हत्या आप लोगोंने की है अतः आपको भी मार करके ही छोडूँगा। मैंने बगैर उद्वेगके कहा 'अगर तुम्हारी इच्छा मुझे मार डालनेकी ही है तो मार डालो' लेकिन पता नहीं क्या समझकर उसने मुझे वहाँ नहीं मारा और कहा मैं आपको 'सीतो' ग्राममें ले चलूँगा। मैंने कहा अगर तुम मुझे वहाँ ले चलना चाहते हो तो ले चलो। अन्तमें तीनों मुझको साथमें लेकर 'सीतो' ग्रामके लिये चल पडे।

'सीतो' एक बडा ग्राम है, जहाँ चौधरी हेतराम नामका बडा नम्बरदार विश्नोई रहता था, वह कई ग्रामोंका मालिक था, वे तीनों मुझको उसी चौ० हेतरामके पास ले गये। चौ० हेतराम मुझको बहुत पहलेसे जानता था। पहले कई बार मैं उससे मिला भी था और राष्ट्रीय विषयों पर बातें भी की थीं, लेकिन इस बार मिलनेका दृश्य कुछ और ही ढंगका था। चारोंकी दृष्टिमें मैं अब ऐसा लगता था, मानों महात्मागान्धीजीकी हत्या करनेवाला साक्षात् गोडसे मैं ही हूँ, अतः मुझको मार डालनेमें उन चारोंके हृदयसे डर—भय बिलकुल निकल गया था। वे चारों यह समझने लगे थे कि अब तो मेरा अखण्ड राज्य है, कोई पूछनेवाला तो है नहीं, जो भी चाहूँ वह कर सकता हूँ।

चौ० हेतरामने तीनोंसे कहा 'स्वामीजीको मकानके अन्दर कमरेमें ले जाओ। मुझको अन्दर कमरेमें ले जाया गया। बडे मकानके अन्दर दूर एक छोटासा कमरा था, जिसमें ऊपर रोशनदानीसे प्रकाश आ रहा था, इस कारण बहुत अन्धेरा नहीं था, अन्दर एक छोटीसी चारपाई बिछी हुई थी। तीनोंने मुझको उस चारपाई पर बैठ जानेके लिये कहा, मैं उस चारपाई पर बैठ गया। तीनों मेरे सामने खडे हो गये। इतनेमें चौ० हेतरामने भी बाहर बरामदेसे अपने अङ्गरक्षक बुधासिंहके साथ उस छोटेसे कमरेमें प्रवेश किया। मैं चारपाई पर बैठा था, मेरे सामने पाँचोंके पाँचों अर्धवृत्तमें खडे हो गये। मेरी बाईं ओरसे सबसे प्रथम नम्बरदार बुधासिंह, उसके बाद चौ० हेतराम, तीसरे

*

नम्बरपर बगडौत, चौथे नम्बरपर रामप्रताप और अन्तमें हेतराम (महराना) ये पांचोंके पांचों खडे हो गये। मेरे और उन पांचोंके अलावा और कोई भी उस कमरेमें नहीं था। रामप्रतापने जिसके हाथमें गोलियोंसे भरी पिस्टल थी मेरे सीनेपर दागनेके लिये तान दिया, लेकिन चौ० हेतरामके इशारे पर अभी मारनेसे रुक गया। चौ० हेतरामने मुझसे कहना आरम्भ किया—

चौ० हेतराम– "स्वामीजी, आप हमारे इस इलाकेसे, काशी (बनारस) की ओर चले जाइये। अब मैं आपको अपने इस इलाकेमें रहने नहीं दूंगा। गान्धीजीकी हत्या आप लोगोंने मिलकर की है, अतः आप सब गान्धीजीके हत्यारे हैं, इसलिये आपको यहाँ खतमकर देंगे। यहाँ संघका काम किसी भी अवस्थामें नहीं होने देंगे।

मैं– महात्मा गान्धीजीकी हत्यामें मेरा और संघका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। गोडसे संघका आदमी नहीं है।

चौ० हेतराम– आपका कहना बिलकुल झूठ है, गवर्नमेन्ट संघियोंको खतम कर रही है, सारे संघी प्रचारक भागकर छिप गये हैं, आपके सबसे बडे 'गुरुजी' भी बन्दी बना लिये गये हैं। संघको गैर कानूनी घोषित कर दिया गया है। अब अच्छा यही है कि आप यहाँसे चले जाँय और व्यर्थमें अपनी जान न दें।

मैं– संघकार्य एक पवित्र ईश्वरीय कार्य है। संघ बिलकुल निर्दोष है। संघकी बढती हुई शक्तिको कुचल डालनेके लिये विरोधियोंने बडी भारी साजिश की है और गान्धीजीकी हत्याका दोष संघके माथे मढ दिया है। सत्य क्या है और असत्य क्या है इसका पता कुछ समयके बाद सबको लग जायेगा। सन् १९४०-४१ ई. में गान्धीजीके व्यक्तिगत (इन्फरादी) सत्याग्रहमें मैं भी जेल गया था और महात्मा गान्धीजीके आदेशानुसार आज्ञा प्राप्त कर मजिस्ट्रेटको नोटिस देकर दीनानगर (जिला-गुरुदासपुर, पंजाब) में सत्याग्रह किया था और $8\frac{3}{4}$ (पौने नौ मास) गुरुदासपुर और लायलपुरके जेलोंमें रहा था। अगर गान्धीजीके हत्याके साथ संघका किसी प्रकारका कोई भी सम्बन्ध होता, तो सर्वप्रथम मैं संघसे अलग हो जाता, लेकिन यह बात नहीं है। संघके उच्च अधिकारियोंसे मेरा सीधे सम्बन्ध है, और मुझे पूर्ण विश्वास है कि गान्धीजीकी हत्याका संघसे दूरका भी कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः मैं संघके पवित्र ईश्वरीय, राष्ट्रीय हितकारी कार्यको कभी भी त्याग नहीं सकता।

चौ० हेतराम– स्वामीजी ! आपके इन बातोंपर मुझे कुछ भी विश्वास नहीं है। अब मेरे इस इलाकेमें कांग्रेसका ही काम होगा, संघका नहीं, आप यहाँ संघियोंके लीडर (नेता) हैं, अतः मैं आपसे बार बार कह रहा हूँ कि आप इस मेरे इलाकेसे चले जाँय, नहीं तो मरनेके लिये तैयार हो जाँय।

मैं— 'मैं परिव्राट् संन्यासी हूँ'। आपके डराने और धमकानेसे मैं इस इलाकेसे नहीं जा सकता, अगर जाना होगा तो मैं अपनी इच्छासे जाऊँगा। आपके इस प्रकारसे कहने पर कभी भी किसी भी अवस्थामें नहीं जाऊँगा। मैं संघका पवित्र ईश्वरीय कार्य बराबर करता रहूँगा, जो भी कष्ट आयेगा, उसका सहर्ष सामना करूँगा चाहे प्राण ही क्यों न चला जाय अथवा गोलीका निशाना मुझे क्यों न बनना पडे।

चौ० हेतराम— मैं आपसे आखिरी, अन्तिमबार कहता हूँ, अपनी जिद् छोड दें और यहाँ मेरे इलाकेसे चले जाँय।

मैं— ऐसा नहीं हो सकता। मैं ईश्वरीय कार्य संघकार्य कभी भी स्वप्नमें भी नहीं छोड सकता। मैंने जो भी निर्णय करना था कर लिया है। मैं अपने इस पवित्र कार्यके करनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हूँ, और आप अपने कामके करनेमें स्वतन्त्र हैं। जो भी आपकी इच्छा हो करें। मैं अपने कर्तव्यको कभी भी नहीं छोड सकता। अब मैं मौन होता हूँ।

चौ० हेतराम—(राम प्रतापकी ओर देख कर अब क्या देखते हो पिस्टल चलाओ, गोली दागो और मार कर फेंक दो नहरमें, इनको अपनी जिद्का फल मिल जायेगा।

मैं मौन तो पहले ही हो गया था, अब आखें भी बन्द कर लीं और ईश्वर चिन्तनमें निमग्न होते हुये प्रतीक्षा करने लगा कि अभी अभी पिस्टलसे निकल कर गोली आती है और मेरे सीनेको पार करती है, और कुछ ही क्षणोंमें हमेशाके लिये परमपिता परमात्माकी गोदमें विश्राम करने चला जाऊँगा। उस समय मुझे इतनी बडी प्रसन्नता हो रही थी, कि मेरा अहोभाग्य है कि सत्य-रक्षार्थ कर्तव्य पालन करते हुये सर्वप्रथम मेरा ही बलिदान होने जा रहा है, इससे अन्य स्वयंसेवकोंको भारी प्रेरणा मिलेगी, पवित्र बलिदानकी परम्परा चलेगी और अन्तमें राष्ट्रका उत्थान होगा और ईश्वरीय कार्य पूर्ण होगा। ईश्वरका ध्यान करते हुये इन्हीं सब विचारोंमें निमग्न सा हो गया था। लेकिन मनुष्य सोचता कुछ है और ईश्वर करता कुछ है। एक मिनट हो गया, दो मिनट हो गया, तीसरा, चौथा और पाँचवा मिनट भी व्यतीत हो गया, परन्तु गोली नहीं आई। इन पाँचों मिनटोंमें बाहरी दुनियामें क्या होता रहा, मुझको कुछ भी पता नहीं, मैं तो अपनी आन्तरिक दुनियामें निमग्न

था। पाँच मिनटोंके बाद बाह्य संसारकी ओर मेरा ध्यान हुआ और बुधासिंहका शब्द मेरे कानोंमें पड़ा। बुधासिंह चौ० हेतरामका अङ्गरक्षक था, वह एक पैरका लंगड़ा होते हुये भी बुद्धिमान् था। वह चौ० हेतरामसे कहने लगा—

बुधासिंह— स्वामीजीको मारकर इस हत्याका भयंकर पाप अपने सिर क्यों ले रहे हो ?

चौ० हेतराम— स्वामीजी तो मानते नहीं, यहाँ गान्धी-जीके हत्यारे संघियोंका काम कभी भी किसी भी अवस्थामें नहीं होने दूँगा। जबतक स्वामीजी यहाँ हैं इस इलाकेमें संघका काम चल नहीं रहेगा, कभी भी बन्द नहीं होगा, स्वामीजी ही यहाँके सबसे बड़े लीडर हैं, अतः इनको मार डालना ही ठीक है।

बुधासिंह—इनके भगवे बाने, गेरुयेवस्त्रका कुछ तो ध्यान करो। हमारे सिक्खोंके प्रवर्त्तक जंमेश्वर स्वामीजी महाराज भी तो संन्यासी ही थे। उनका बाना भगवा था इनका भी भगवा वेष है, ब्राह्मणकुलमें पैदा हुये हैं, इनको मरवाकर स्वामी संन्यासीके हत्याका पाप और ब्रह्महत्याका पाप मत लो, अगर इनकी यहाँ हत्या हुई तो बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा इन्होंने कांग्रेसका भी काम किया है। महात्मा गान्धीजीके अनुयायी रहे हैं। कांग्रेसके व्यक्तिगत (इन्फरादी) सत्या-ग्रहमें, जो सन् १९४०-१९४१ ई. में हुआ था ब्रिटिश गवर्न-मेन्टको नोटिस देकर 'दीनानगर' में सत्याग्रह किया था और गुरुदासपुर एवं लायलपुरके जेलोंमें ८$\frac{3}{4}$ (पौनेनौ) मास रहे हैं। यह तो महात्मा गान्धीजीके आदेशानुसार सत्या-ग्रह करनेवालोंमेंसे हैं। यह बहुत समयसे इस इलाकेमें काम कर रहे हैं, बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक सब इनको अच्छी प्रकार जानते हैं। अपने दवाइयों और सद्विचारोंसे जनता-की सेवा करते रहे हैं। भला इन्होंने क्या पाप किया है, जो इस प्रकारसे इनको मरवा डालनेके लिये उद्यत हो गये हो। ईश्वरसे कुछ भय खाओ और ऐसा भयंकर पाप न करो।

चौ० हेतराम- तो मैं क्या करूं स्वामीजी अपनी जिद्को छोड़ते ही नहीं। मैंने इनको बहुत ही कहा कि यहाँसे अन्यत्र चले जाओ, लेकिन यह तो यहाँसे जाते ही नहीं, अब तुम ही बताओ मैं क्या करूं ?

बुधासिंह- मैं आपसे कहता हूँ कि स्वामीजीकी हत्या न कराकर, इनको पुलिस चौकीमें पुलिसके हवाले करवा दो, पुलिसवाले जो भी चाहेंगे इनको दण्ड देंगे। अगर यह अपराधी होंगे, तो गवर्नमेन्ट इन्हें स्वयं सजा देगी आपको भी कोई दोष नहीं लगेगा।

चौ० हेतराम— अच्छा, तो स्वामीजीको पुलिस चौकीमें ले जाकर पुलिसके हवाले कर दो।

इतना कहकर चौ० हेतराम उस कमरेसे निकल पड़ा महरानेके भी तीनों उसके पीछे हो लिये। अब चारपाईपर शान्तिपूर्वक मौन अवस्थामें बैठा हुआ मैं और बुधासिंह यह दो ही रह गये। अब मेरा ध्यान भंग हो गया था, बन्द आखें भी खोल दीं। बुधासिंहने मुझसे कहा चलिये स्वामीजी आपको पुलिस चौकीमें ले जाना है। मैं बिना कुछ बोले खड़ा हो गया और चौ० हेतरामके उस बड़े मकानको पार करता हुआ सड़कपर आया और वहाँसे कुछ ही फासलेपर स्थित पुलिस चौकीमें पहुँच गया।

इधर मैं पुलिस चौकीमें आया, उधर सारे गाँवमें खबर बिजलीकी तरह फैल गई कि चौ० हेतरामने स्वामीजीकी हत्या कर डाली है। लोगोंके भीड़का ताँता बँधने लगा, चौ० हेतरामके घरपरसे हो हो कर लोग पुलिस चौकीपर पहुँचने लगे। थोड़ी ही देरमें सैकड़ों लोग मेरे पास आ गये, मैंने कांग्रेसियों, गैरकांग्रेसियों, संघियों गैरसंघियों सबको समझा बुझाकर शान्त किया और कहा अपने अपने घर जाओ, इलाकेमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी न होने दो।

सायंकाल ५ बजे थानेदारने आकर मुझसे कहा— "स्वामीजी, मैं किसी भी अवस्थामें आपको बन्दी बनाकर जेलमें नहीं भेज सकता हूँ, आपको गिरफ्तार कर यह पाप अपने ऊपर नहीं ले सकता, मैंने तो आपके स्वयंसेवकोंके साथ बटवारेके दिनोंमें कन्धेसे कन्धे मिलाकर अबोहरमें काम किया है, अतः आप जहाँ भी जाना चाहते हों, वहाँपर सुर-क्षित रूपसे आपको पहुँचवा दूंगा।" अन्तमें उसने ऐसा ही किया, अपने एक कॉन्स्टेबलको, जो मेरा भक्त था और पुराना स्वयंसेवक भी था, मेरे साथ भेज दिया। मैं सीतोसे 'दुतारावाली' ग्राममें पहुँच गया, और इस प्रकार आया हुआ मौतका संकट टल गया।

इस प्रकारसे ऋषिवर दयानन्दजीके जीवनसे प्रेरणा प्राप्त कर मैं इस महान् अग्नि-परीक्षामें पड़कर उत्तीर्ण हुआ। यह था सत्यव्रती महर्षिदयानन्दके जीवनकी एक सत्य घटना और उसका मेरे निजी जीवनपर प्रभाव।

शरीरकी सीमाएँ

[श्री माताजी]

'शरीरकी सीमाएं एक सांचेके समान हैं; आत्मा और मनको अपने आपको उनमें उंडेलना होगा; उन्हें तोडकर सदा विस्तृत सीमाओंमें पुनः पुनः आकार देना होगा, जबतक कि इस ससीमता और उनकी असीमतामें मेलका सूत्र न प्राप्त हो जाय।'

(विचार और झांकियाँ)

'सांचे' का क्या अर्थ है ?

यदि तुम्हारे शरीरका एक स्पष्ट आकार न होता, यदि तुम्हारे व्यक्तित्वका एक अपना अलग रूप न होता, एक ऐसा रूप जो संपूर्णतया चेतन हो और जिसके अपने गुण हों, तो तुम सब एक-दूसरेमें घुल-मिल जाते और एक-दूसरेमें भेद करना संभव न रहता। यदि तुम जरा भी अपने अंदर-अत्यधिक स्थूल प्राणिक सत्तामें प्रवेश करो, तो एक-दूसरेके स्पंदनोंमें इतना मिश्रण होता है कि तुममें और दूसरोंमें भेद करना कठिन हो जाता है। यदि तुम्हारे पास शरीर न होता तो तुम एक ऐसे नरम गूदेकी भांति होते जिसे पृथक् नहीं किया जा सकता। यह आकार-शरीरका यह प्रत्यक्ष और कठोर आकार ही तुम्हें एक-दूसरेसे अलग करता है। अतएव- यह आकार ही एक सांचेका काम करता है। तुम्हें पता है सांचा क्या होता है? हां, तुम उसमें कोई तरल पदार्थ डालते हो और जब वह पदार्थ ठंडा होकर जम जाता है तो तुम सांचेको तोडकर एक निश्चित आकारकी वस्तु बाहर निकाल लेते हो। इसी प्रकार शरीर रूपी आकार एक सांचेका काम करता है जिसमें कि प्राणिक और मानसिक शक्तियां एक निश्चित आकार ग्रहण करलें और तुम दूसरोंसे भिन्न, एक पृथक् व्यक्ति बन जाओ।

थोडा थोडा करके और बहुत धीमे-धीमे ही जीवनकी गति-विधियोंके तथा एक सतर्क और सतत शिक्षाके द्वारा ही तुम्हें वे वेदन होने आरंभ होते हैं जो तुम्हारे निजी हैं, वे विचार और भाव आते हैं जिन्हें तुम अपना कह सकते हो। व्यक्तित्व-युक्त मन बडी ही विरल वस्तु है, यह बडी लंबी शिक्षाके बाद प्रकट होता है। अन्यथा तो यह एक प्रकारकी विचार-धारा ही होती है, जो तुम्हारे मस्तिष्कमेंसे, किसी दूसरेके मस्तिष्कमेंसे, अनेकोंके मस्तिष्कोंमेंसे गुजरती है, और यह सब एक सतत क्रिया होती है, इसमें व्यक्तित्व जैसी कोई चीज नहीं होती। तुम वही सोचते हो जो दूसरे सोचते हैं- दूसरे वही सोचते हैं जो अन्य सब सोचते हैं और सारा संसार ऐसे ही सोचता है- एक मिश्रणके रूपमें। मैं फिर कहती हूं, ये विचार लहरोंके समान हैं, ये उनके स्पंदन हैं जो एकसे दूसरेके पास जाते हैं। यदि तुम ध्यान पूर्वक अपना निरीक्षण करो, तो तुम्हें शीघ्र ही पता लग जायगा कि तुम्हारे अंदर ऐसे विचार बहुत ही कम हैं जो तुम्हारे अपने हैं। इन्हें तुम कहांसे लेते हो? जो कुछ तुम सुनते हो उससे, जो पढते हो, जिसकी तुम्हें शिक्षा मिली है उस सबसे। इसमें कितना तुम्हारे अपने अनुभवका, तुम्हारे अपने चिंतन और वैयक्तिक निरीक्षणका परिणाम है? अधिक नहीं।

ऐसा तो तभी होता है जब तुम एक अतिबौद्धिक जीवन अपना लेते हो, जब तुम्हें सोचने, निरीक्षण करने- विचारोंको व्यवस्थित करनेका अभ्यास हो जाता है। केवल तभी, थोडा थोडा करके एक मानसिक व्यक्तित्व कोई आकार ग्रहण करता है।

अधिकांश व्यक्तियोंके मस्तिष्कोंमें- सुसंस्कृत लोगोंके

मस्तिष्कोंमें भी— अत्यन्त विरोधी और असंगत विचार रहते हैं, पर उन्हें इनमें कोई विरोध नहीं दिखाई देता। मुझे ऐसे कई दृष्टांत मालूम हैं, जो इस प्रकार विचारोंका पोषण करते हैं, उनके अपने राजनीतिक, सामजिक और धार्मिक विचार भी होते हैं, वे मानव बुद्धिके तथा-कथित सभी उच्च क्षेत्रोंपर अपना मत प्रकट करते हैं, साथ ही एक ही विषय पर उनके पूर्ण-विरोधी विचार भी होते हैं, पर वे रहते इससे अनभिज्ञ हैं। यदि तुम अपने अंदर झांको तो तुम देखोगे कि तुम्हारे अंदर कई ऐसे विचार हैं, जिन्हें कुछ ऐसे मध्यवर्ती विचारोंके द्वारा परस्पर जोडना होगा, जिनका स्रोत विचारोंके एक काफी विस्तृत क्षेत्रमें होता है। यदि तुम अपने विचारोंको मूर्खतापूर्ण ढंगसे अपने अंदर नहीं रहने देना चाहते हो तो तुम्हें ऐसा करना ही होगा।

अतएव, व्यक्तित्वको सच्चे रूपमें वैयक्तिक बनानेसे पहले, उसे अपने गुणोंको ग्रहण करनेमें समर्थ बनानेसे पहले, तुम्हें उसे एक कलशमें बंद करके रखना होगा। नहीं तो वह पानीकी भांति छलक कर गिर जायगा और फिर उसका कोई आकार नहीं बनेगा।

कुछ ऐसे लोग हैं जो काफी निम्न स्तर पर निवास करते हैं, वे अपने आपको केवल अपने नामसे ही पहचानते हैं, उनका यदि नाम न हो तो, वे दूसरोंसे अपने आपको भिन्न समझ ही न सकें। उनसे यदि कोई पूछे 'तुम कौन हो?' तो वे उत्तर देते हैं, 'मैं अमुक हूं।' इसके कुछ समय बाद उनमेंसे कुछ लोग अपनी नौकरी या मुख्य धंधे आदि का नाम बतायेंगे, उदाहरणार्थ, मैं चित्रकार हूं।'

किंतु एक स्तर पर तो केवल नाम ही उत्तर होता है।

और नाम क्या है? केवल एक शब्द। और नामके पीछे क्या है? कुछ भी नहीं, केवल अनिश्चित सी वस्तुएं जो एक साथ रखी गई हैं और जो व्यक्तिकी उसके पडोसियोंसे जरा भी विभिन्नता प्रदर्शित नहीं करतीं। वह भिन्न है, केवल इसलिये कि उसका नाम भिन्न है। यदि सबका एक ही नाम होता तो एक-दूसरेको पहचानना कठिन हो जाता।

अभी पिछले दिनों जो पुस्तक मैं तुम्हें पढ रही थी, उसमें एक दासके बारेमें लिखा है कि वह हमेशा अपना नाम पुकारे जानेपर ही किसी प्रश्नका उत्तर देता था। और यह उसके लिये एक प्रकारकी उन्नत अवस्था थी, क्योंकि वैसे उसका नाम दास ही था। यही बात अन्य सबके भी साथ थी, क्यों कि उन्होंने एक ही नाम स्वीकार कर लिया था और वे एक ही व्यक्ति रहना चाहते थे; उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं था। उनकी एक ही प्रकारकी जीविका थी। उनके बाद आनेवाले दासोंकी भी यही जीविका थी, उन सबका एक ही नाम था।

लोग एक प्रकारसे अर्ध चेतन अभ्यासके सहारे ही जीवन बिताते हैं। तुम बाह्य और ठोस रूपमें नहीं देखते कि तुम क्या करते हो, क्यों और कैसे करते हो। तुम वैसा अभ्यास वश ही करते हो। वे सब लोग जो एक विशेष वायुमंडलमें, विशेष देशमें जन्म लेते हैं, सहज रूपमें ही वहांके अभ्यास, केवल भौतिक अभ्यास ही नहीं, विचार, भावना और कर्मके अभ्यास भी ग्रहण कर लेते हैं। वे वैसा करते हैं और बिना देखे वैसा करते हैं, बडे स्वाभाविक रूपमें वैसा करते हैं, यदि कोई उनका इस तरफ ध्यान दिलाये तो उन्हें आश्चर्य होता है।

अंतमें कहा जा सकता है कि तुम्हें सोनेका, बात करनेका, खानेका, विशेष रीतिसे चलने फिरनेका भी अभ्यास होता है और तुम इस सबको बडे स्वाभाविक ढंगसे करते हो। न तुम्हें इससे आश्चर्य होता है और न तुम 'क्यों' और 'कैसे' का ही विचार करते हो। तुम सदा ही सब कुछ सहज भावमें, अभ्यास वश करते हो। तुम पीछे मुडकर अपने आपको ऐसा करता हुआ नहीं देखते। और यदि कोई अपने चारों ओर ध्यान देता है और अपने आपको देखना और यह देखना आरंभ करता है कि वह अनुभव कर रहा है, विचार कर रहा है तो वह एक चमत्कारिक दैत्य जैसा प्रतीत होगा।

अतएव, व्यक्तित्व अपने आपमें नियमित बिलकुल नहीं है। यह एक अपवाद है। और यदि यह विशेष आकार रूपी बोरा अर्थात् तुम्हारा शरीर, तुम्हारा बाह्य रूप तुम्हारे पास न होता तो, जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं, तुम्हें कोई दूसरोंसे भिन्न रूपमें पहचान भी नहीं पाता।

व्यक्तित्व एक विजय है। जैसा कि श्री अरविंद यहां कहते हैं, यह विजय केवल पहला पग है। जब तुम अपने

अंदर यह भली प्रकार समझ लेते हो कि तुम एक स्वतंत्र और व्यक्तिगत रूपमें चेतन सत्ता हो, तो अगला कार्य जो तुम्हें करना है वह है इस आकारको तोडकर इससे आगे बढना। उदाहरणार्थ, यदि तुम मानसिक विकास करना चाहते हो, तो तुम्हें अपने सब मानसिक स्वरूपोंको, मानसिक धारणाओंको तोडना होगा, जिससे कि तुम नए आकार गढ सको। इसलिये सबसे पहले तुम्हारे सामने एक भारी काम आ पडा है- अपने व्यक्तित्वको गठित करना और तब जो कुछ तुमने किया है उस सबको तुम्हें नष्ट कर देना होगा। तभी तुम उन्नति कर सकोगे। पर क्योंकि तुम्हें अपनी क्रियाओंका ज्ञान नहीं है और तुम अभ्यास वश ही सब कुछ करते हो— स्वभावतया ही सब जगह नहीं- तुम सभी कार्य, अध्ययन, विकास, अपने निर्माणका प्रयत्न, सब कुछ अभ्यासवश स्वाभाविक रूपमें करते हो और तुम यह कैसे करते हो इसका तुम्हें कुछ ज्ञान नहीं होता।

तुम दूसरोंसे भिन्न हो; इसका तुम्हें तभी अनुभव होना शुरु होता है जब कि बाह्य आकारोंमें संघर्ष पैदा हो जाता है। नहीं तो, तुम अमुक व्यक्ति हो इसका पता नामसे ही लगता है। मैं फिर कहती हूं, कि संघर्ष होनेसे ही तुम्हें भिन्नताका पता लगता है। वस्तुतः तुम दूसरोंसे बहुत कम बहुत ही कम भिन्न हो।

असलमें मूल स्रोत एक ही था। और सृष्टिको बहुविध होना था। इस बहुविधताको अपनी बहुविधताके प्रति सचेतन करानेमें बहुत अधिक परिश्रमकी आवश्यकता पडी होगी।

यदि तुम इस वस्तुको बहुत निकटसे देखो तो पता लगता है कि यदि सृष्टिको अपने मूल स्रोतकी स्मृति रहती तो शायद कभी भी विभिन्न प्रकारकी बहुविधता न होती। तब प्रत्येक सत्ताके केंद्रमें पूर्ण समानताकी भावना उपस्थित रहती और विभिन्नता तब शायद कभी प्रकाशमें न आती।

क्योंकि इस समानताकी स्मृति नष्ट हो गई थी, विभिन्नताओंके प्रति अचेतन ही रहती है तथा जिसमें विभिन्नता वैसी ही अभिव्यक्त रहती है जैसी कि अपने मूल स्रोतमें।

दोनों छोरों पर ही विभिन्नताका अभाव रहता है, एक पर समानताकी सर्वोच्च चेतनाके कारण और दूसरे पर समानताके प्रति पूर्ण अचेनताके कारण।

आकारकी स्थिरता ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्तित्व अपना निर्माण कर सकता है। 卐 卐 卐

वेदमें भी यही कहा है, जो मनुष्य क्रोध अथवा भय अथवा अज्ञान वा अहंकारका आश्रय लेकर अपने वर्णाश्रम धर्मको त्यागेगा तो भी जन्मसे लेकर धारणकी हुई प्रकृति उसे वर्णके धर्मको अवश्य कराएगी। वहां उस मनुष्यकी चतुराई अर्थात् अहंकारकी चतुरता न चल सकेगी। प्रकृति तुच्छ अहंकारसे बडी बलवती है। वह उसे मिथ्या व्यवसायात्मक-अहंकारसे हटाकर वर्ण धर्ममें अवश्य ही लगा देगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
भग. १८।६०

अर्थ— (कौन्तेय!) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! (मोहात्) मोहवश अर्थात् मोहात्मक अज्ञानसे अर्थात् भ्रातृपुत्रपौत्रादिके अनुरागके कारण (यत्) जिस युद्धात्मक कर्मको (कर्तुं) करनेके लिये (न इच्छसि) तू इच्छा नहीं करता। (स्वभावजेन) अपने पूर्वजन्ममें किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मसे उत्पन्न हुए हुए संस्कार स्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्तिका कारण स्वभाव अर्थात् प्रकृतिका गुणविशेष- उस स्वभावसे उत्पन्न हुए हुए (स्वेन कर्मणा) अपने अपने कर्मसे (निबद्धः) बांधा हुआ अर्थात् पूर्वजन्मके कृत कर्मके फलद्वारा उत्पन्न हुआ हुआ तू (अवशः अपि) पराधीन अर्थात् अपनी प्रकृतिके आधीन हुआ हुआ भी (तत) उस युद्धात्मक कर्मको (करिष्यसि) करेगा॥६०॥

वेदगीता (मंत्र)

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

ऋ. १०।१२५।५ अथ. ४।३०।३

अर्थ— (अहं एव) हे जीवात्माओ! मैं नारायण अर्थात् परमात्मा (स्वयं एव) अपने आप ही (देवेभिः उत मानुषेभिः) देवताओं अर्थात् ज्ञानियोंसे और सर्व साधारण मनुष्योंसे (जुष्टं) सेवित किये हुए अर्थात् माने हुए (इदं वदामि) स्वाभाविक इस वचनको कहता हूं अर्थात् उपदेश देता हूं। (यं) जिस प्राणीको उसके पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मानुकूल फल स्वरूप कर्मको करानेके लिये (कामये) इच्छा करता हूं (तं तं) उस उस मनुष्यको उसके शुभ कर्मानुसार अथवा अशुभ कर्मकृत फलाऽनुसार (उग्रं कृणोमि) उग्रकर्म करनेके लिये प्रवृत्त करता हूं (ब्रह्माणं तं ऋषिं) उस उस मनुष्यको उसके पूर्वजन्ममें किये हुए शुभकर्मानुसार ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न करता हूं अथवा ऋषि उत्पन्न करता हूं और (तं सुमेधां कृणोमि) उसे शुद्धबुद्धिवाला करता हूं॥५॥

तुलना— गीतामें कहा है जो मनुष्य मोहवश अर्थात् अज्ञानके कारण अपने वर्ण धर्मको छोडकर संसार यात्रा करना चाहता है, वह अपने पूर्वजन्मके कृतकर्म फलाऽनुसार अपनी स्वाभाविक प्रकृतिके वशमें होकर अपने वर्णधर्मको स्वप्रकृत्यधीन होकर करता है।

वेदमें भी यही कहा है, परमात्मा मनुष्योंको स्वयं उपदेश देता है। हे मनुष्यो! जिस जिस मनुष्य अर्थात् प्राणीके पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका फल होता है, उन उन कर्मोंके फलाऽनुसार मैं उन्हें उग्र प्रकृतिवाला अथवा साधु प्रकृतिवाला उत्पन्न करता हूं। वह अपने कर्मफलाऽनुसार उग्र अथवा शुभ कर्म करता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ भग. १८।६१

अर्थ— (अर्जुन!) हे अर्जुन! (ईश्वरः) सर्वलोक नियन्ता परमात्मा (यंत्रारूढानि) यंत्र पर चढे हुए अर्थात् किसी मशीनके आधार पर रहनेवाले (सर्वभूतानि) प्राणी, अप्राणी सब पदार्थोंको (मायया भ्रामयन्) अपनी शक्तिसे अपने अपने किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मोंके फलके अनुसार संसारके जन्ममरणके चक्रमें घुमाता हुआ (सर्वभूतानां) सब पदार्थोंके (हृद्देशे) मध्यमें (तिष्ठति) ठहरता है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्ति द्वारा सबको अपने अपने कर्मोंका फल उन्हें देता है॥६१

वेदगीता (मंत्र)

विशंविशं मघवा पर्यशायत
जनानां धेना अवचाकशद्वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति
स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥

ऋ. १०।४३।६ अ. २०।१७।६

अर्थ— (वृषा) भक्तजनोंके कामनामय फलोंकी वर्षा करनेवाला अर्थात् प्राणी और प्राणहीन पदार्थों पर स्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके फलोंकी वर्षा करनेवाला (मघवा) सबसे पूजनीय परमात्मा (विशं विशं पर्यशायत) प्रत्येक प्राणी और

अप्राणी पदार्थोंके मध्यमें शयन करता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थके मध्यमें वास करता है। (जनानां धेनाः) सब प्राणियोंकी अर्थात् देहधारियोंकी स्तुति अथवा निन्दात्मक वाणियोंको (अवचाकशत्) हृदयमें वास करता हुआ सबके कर्मोंको देखता है और सब प्राणियोंके स्तुत्यात्मक वा निन्दात्मक वचनोंको सुनता है, और (शक्रः) सर्वशक्ति सम्पन्न परमात्मा (यस्य अह) जिस मनुष्यके ही (सवनेषु) सायं और मध्याह्न और प्रातःकालके यज्ञात्मक कर्मोंमें (रण्यति) रमण करता है अर्थात् परमात्मा मनुष्योंके त्रैकालिक कर्मोंको देखता है। (सः) वह कर्मकर्ता मुमुक्षुजन (तीव्रैः सोमैः) अत्यन्त अपने अपने शुभकर्मोंसे (पृतन्यतः) काम क्रोध, लोभात्मक शत्रुसेनाओंके (सहते) प्रहारको सहन करता है अर्थात् काम, क्रोध, लोभादिके प्रभावको दबा देता है। +

तुलना— गीतामें कहा है, परमात्मा सब चराचर जगत्के पदार्थोंके मध्यमें वास करता है, और वह अपनी शक्ति द्वारा सब पदार्थोंको अपनी अपनी कर्मगतिके अनुसार जन्ममरणके चक्करमें घुमाता रहता है।

वेद और उपनिषद्में भी यही कहा है। परमात्मा सब पदार्थोंके मध्यमें वास करता है और सबकी कर्मगतिको देखता है और सबकी बातोंको सुनता है, वही सबको अपने अपने कृत कर्मोंका फल देता है। जो भक्त अपने हृदयमें परमात्माके वासको जानकर शुभ कर्म करता है, वह काम क्रोधादि शत्रु सेनाके प्रहारको सह लेता है और वह काम क्रोधादि नाशक शत्रुओंको जीतकर परमात्माके चरणोंमें प्राप्त होजाता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्

भग. १८।६२

अर्थ— (हे भारत !) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! अथवा ज्ञानके प्रकाशमें लगे हुए अर्जुन ! (सर्वभावेन) सब स्थानोंमें परमात्मा ही वास करता है इसभावसे (तं एव) सर्व व्यापक उस परमात्माकी ही (शरणं गच्छ) शरणको प्राप्त हो। (तत्प्रसादात्) उस परमात्माकी कृपासे (परां शान्तिं) सर्वश्रेष्ठ शान्तिको (प्राप्स्यसि) पाएगा, और (शाश्वतं स्थानं प्राप्स्यसि) नित्यस्थान अर्थात् मुक्ति स्थानको पावेगा ॥ ६२

वेदगीता (मंत्र)

तवाहमग्न ऊतिभि[1]र्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः[2]।
द्वेषोयुतो[3] न दुरिता तुर्याम[4] मर्त्यानाम् ॥

ऋ. ५।९।६

अर्थ— (अग्नेः) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (अहं) मैं दासजन आपकी शरणमें प्राप्त हुआ हुआ (मित्रस्य) सबके मित्ररूप अर्थात् सबके समानरूप (तव) तुझ परमात्माकी (ऊतिभिः) हम पर की हुई रक्षाओंसे (च) और (प्रशस्तिभिः) हमसे की हुई आपकी स्तुतियोंसे (मर्त्यानां) आपकी शरणमें आए हुए मनुष्योंके (दुरिता=दुरितानि) पाप और उनके साधन कर्मोंको (द्वेषोयुतः न) द्वेष करनेवाले काम क्रोधादि शत्रुओंकी तरह (तुर्याम) पार कर जाऊं अर्थात् आपकी रक्षाओंसे तथा उस रक्षाके लिये की हुई स्तुतियोंसे बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओंको तर जाऊं ॥ ६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभि-
रग्ने तव प्रशस्तिभिः।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममा-
ऽग्ने हर्षस्व दातवे ॥ ऋ. ८।१९।२९

अर्थ— (हे अग्ने !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (तव क्रत्वा) आपकी शरण गति अर्थात् शरणप्राप्तिमय कर्मसे (सनेयं) आपकी शरणको प्राप्त होऊं। (तव) आपके आगे (रातिभिः) अपने आपको समर्पण करके (त्वां सनेयं)

+ एष मे आत्माऽन्तर्हृदये- छान्दो. ३।१४।३
यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः- छा. ८।८।१

१ ऊतिभिः— [ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च] इत्यूठ् [ऊतियूतिजूति-] इति निपात्यते।

२ प्रशस्तिभिः— शंसु स्तुतौ, क्तिन् प्रत्ययः।

३ द्वेषोयुतः— द्विष् अप्रीतौभावे असुन् प्रत्ययः। यु-मिश्रणे ' कर्तरि क्विप् (कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्।)

४ तुर्याम— तॄप्लवनतरणयोः, प्रार्थनायां लिङ् [यासुटलिङः] [सलोपोनन्त्यस्य] इति सकार लोपः। [बहुलं छन्दसि] इति शपो लुक् [उदोष्ठ्यपूर्वस्य] बहुलं छन्दसीत्युत्वम् ॥

आपका भजन करूं, और (तव) आपकी (प्रशस्तिभिः) श्रेष्ठस्तुतियोंसे (त्वां सनेयं) आपको भजूं । (वसो !) सबके वासस्थान अथवा सब पदार्थोंको वसानेवाले परमात्मन् ! (मम) शरणमें प्राप्त हुए हुए मुझ दासकी (प्रमतिं) अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धिको शुद्ध करनेवाला (त्वां इत् आहुः) तत्त्ववेत्ता ज्ञानी आपको ही बताते हैं । (हे अग्ने !) हे ज्योतिः स्वरूप परमात्मन् ! (दातवे) अपने भक्तजनको अपनी शरण देनेके लिये (हर्षस्व) प्रसन्न हो, भक्तको अपनी कृपात्मक दृष्टिसे प्रसन्न कर ॥ २९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

य एक इत् तमु ष्टुहि
कृष्टीनां विचर्षणिः ।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥ ऋ. ६।४५।१६

अर्थ— हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! तू (यः) जो परमात्मा (एक इत्) केवल एक मात्र अथवा अद्वितीय है (तं उ ष्टुहि) उस परमात्माकी स्तुतिको कर अर्थात् उसकी शरणको प्राप्त हो (कृष्टीनां विचर्षणिः) जो सारे चराचर जगत्‌का द्रष्टा है । (वृषक्रतुः जज्ञे) जो धर्मकर्मात्मक अर्थात् धर्म और कर्मका स्वरूप होकर पति अर्थात् स्वामी जाना जाता है ॥ १६

तुलना— गीतामें कहा है कि हे मनुष्य ! तू सब प्रकारसे अनन्यभाव होकर परमात्माके शरणको प्राप्त हो । उसकी कृपासे तू पराभक्तिको पाएगा, और मुक्तिस्थानको प्राप्त करेगा । वेदमें भी यही कहा है कि हे परमात्मन् ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । अपनी कृपा द्वारा आप इस संसाररूपी बंधनसे मेरी रक्षा करें और मैं आपकी स्तुतियोंसे आपकी शरणमें आया हूँ । कामक्रोधात्मक शत्रुओंकी तरह हम पापोंको पार कर जायें । आपके शरणात्मक कर्मसे और अपने आपको समर्पण करनेसे और आपकी श्रेष्ठ स्तुति करनेसे हमारी बुद्धि शुद्ध हो, ऐसे ज्ञानी जन आपको शुद्ध बुद्धिदाता कहते हैं । आप अपनी प्रसन्नता पूर्वक हमको अपनी शरणका दान देवें । संसार में एक अद्वितीय परमात्मा ही स्तुति करने योग्य है । तू उसीकी शरण जा । क्योंकि वही परमात्मा धर्म और कर्मका साक्षात् स्वरूप है, तथा संसारका स्वामी है ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ भग. १८।६३

अर्थ— हे अर्जुन ! (इति) मैं भी पहिले था, तू भी पहिले था, आगे भी हमारा आत्मा रहेगा यहांसे लेकर तू नित्यमुक्तिस्थानको प्राप्त करेगा इतने तक (गुह्यात्) गुह्यसे भी (गुह्यतरं) अत्यन्त गुह्य अर्थात् छिपा हुआ (ज्ञानं) ज्ञान (मया) मैंने (ते) शरणमें आये हुए तुझे (आख्यातम्) कहा है । तू मेरे बतलाए हुए इस ज्ञानको (अशेषेण विमृश्य) पूर्णरूपसे सोचविचार कर (यथा) जिस प्रकारसे (इच्छसि) तू इच्छा करता है अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो (तथा कुरु) उसी प्रकार कर ! तू मेरे प्रभावमें आकर अपने स्वतंत्र विचारको मत दबा, क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतंत्र है । (स्वतंत्रः कर्ता) ऐसा कहा है ॥ ६३ ॥

वेदगीता (मंत्र)

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्व-
पीवृतं मायिनं क्षियन्तम् ।
उतो अपो द्यां तस्तभ्वांस-
महन्नहिं शूर वीर्येण ॥ ऋ. २।११।५

अर्थ— (शूर !) हे ज्ञान ग्रहण करनेमें वीरतायुक्त मनुष्य ! (गुहाहितं) हृदयाकाशमें धारण किये हुए अर्थात् छिपे हुए (गुह्यं) सर्व साधारणके सामने न प्रकाशित करने योग्य (गूळ्हम्) अत्यन्त गुह्य रहस्यमय, (अप्सु अपीवृतं) सब कर्मोंमें तिरोहित हुआ हुआ जो ज्ञान है । जिसे (मायिनं) ब्रह्मशक्तिको प्राप्त हुआ हुआ अर्थात् ब्रह्मशक्तिवाला (क्षियन्तं) सर्व शक्तिसम्पन्न सबका मुक्तिस्थान कहा जाता है । (उतः) और भी (द्यां) ज्ञानसे विकसित हुए हुए हृदयाकाशको (तस्तभ्वांसं) स्तंभरूप अर्थात् ज्ञानको रोकनेवाले अज्ञानसे (अपः) दूर रख । वैसे ही हे परमात्मन् ! (वीर्येण) अपने नामस्मरणात्मक सामर्थ्यसे (अहिं) काम, क्रोध, लोभादि पापको (अहन्) नाश कर ॥ ५ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, हे मनुष्य ! कर्म उपासना और ज्ञानात्मक गुह्यसे गुह्य ज्ञान तुझे कहा गया है, तू अपने मनमें अच्छी तरहसे सोच विचार करके जिस ओर जाना है अथवा जो काम करना है, उसे अपनी इच्छासे कर, अर्थात् कर्मयोग करेगा, तो तेरे लिये उत्तमता होगी, और कर्मयोगसे दूर रहेगा, तो तेरा नाश होगा । ऐसा सोच ले ।

वेदमें भी यही कहा है । ब्रह्मज्ञान अर्थात् वैदिकज्ञान जो कि गुह्यसे गुह्य और अत्यन्त गूढ है, परमात्माकी शक्तिसे युक्त है । मुक्तिका साधन है, ऐसा सोच कर अपने शुद्ध हृदयसे अज्ञानमय सर्पको अथवा अज्ञानमय पापको दूर कर और परमात्माकी शरणको प्राप्त होजा ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
भग. १८।६४

अर्थ— हे अर्जुन! (सर्वगुह्यतमं) सब रहस्यमय सिद्धान्तोंमेंसे अत्यन्त रहस्यमय (मे) मुझ परमात्माके (परमं वचः) अत्युत्तम कथनको (भूयः) फिर (शृणु) सुन। (मे इष्टः असि) तू मेरा परमप्यारा है। (ततः) इस कारण अर्थात् तुझे परमप्रिय जानकर (दृढं) अत्यन्त अर्थात् परिपूर्ण (हितं) तेरा कल्याण करनेवाले वचनको (वक्ष्यामि) कहता हूं ॥६४॥

वेदगीता (मंत्र)

तमिद् वोचेमा[1] विदथेषु[2] शंभुवं[3]
मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा[4] नरो
विश्वेद् वामा वो अश्नवत्[5] ॥ ऋ. ११४०।६

अर्थ— (हे देवाः) हे दिव्य ज्ञान रखनेवाले यति जनो! अथवा मुमुक्षु देवताओ! (शंभुवं) सुखके उत्पन्न करनेवाले अर्थात् नित्यसुखकारक (अनेहसं) किसीसे भी नष्ट न करने योग्य अर्थात् स्वकृत और परकृतदोषसे रहित (मंत्रं) भगवन्नाम प्रतिपादक और मननात्मक (तं इत्) उस ही विवेकको (विदथेषु) परस्पर जानने योग्य ज्ञानयज्ञोंमें (वोचेम) एक दूसरेसे कहें। जैसे निरुक्तमें कहा है—

विदथानिः वेदनानि, विदथानि प्रचोदयन् इत्यपि निगमो भवति। निरु. ६।७

(नरः) हे मुमुक्षुजनो! (च इमां वाचं) और मुझ परमात्मासे उच्चारणकी हुई इस ज्ञानमयी वेदवाणीको (प्रतिहर्यथ) तुम पूर्णरूपसे प्राप्त करो, यदि तुम इसे पूर्णरूपसे अपनाओगे, तो (विश्वा इत्) सारी ही (वामा) भजन करने योग्य श्रेष्ठ ज्ञानमयी वेदवाणी (वः) तुम मुमुक्षु मनुष्योंको (अश्नवत्) प्राप्त होगी।

तुलना— गीतामें कहा है, ज्ञान साधना और कर्मयोगके लिये मेरे अत्यन्त रहस्यमय वचनको फिर सुन, क्योंकि तू मेरा अंश नररूप हो कर जगत्में आया है। मनुष्य मुझे परमप्रिय है, इसे इसी जन्ममें मुझसे मिलना है अर्थात् मनुष्य जन्म प्राप्त करनेपर मुक्ति प्राप्त हो सकती है, अतः मनुष्यके कल्याणकारी वचनको कहता हूं।

वेदमें भी यही कहा है, हे मुमुक्षु मनुष्यो! मैं तुम्हें तुम्हारे कल्याण करनेवाले और मनन करने योग्य वेदवाणीका उपदेश देता हूं। तुम भी उसी ज्ञानात्मक मंत्रोंको परस्पर ज्ञानगोष्ठी द्वारा कहो, ऐसा होने पर तुम मुक्तिधामको प्राप्त होवोगे।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
भग. १८।६५

अर्थ— हे अर्जुन! (मन्मना भव) मुझ परमात्मामें मन लगानेवाला हो (मद्भक्तः भव) मुझ परमात्माका भक्त हो। (मद्याजी) मेरा ही यजन अर्थात् पूजन करनेवाला हो। (मां) मुझ परमात्माको (नमः कुरु) प्रणाम कर। (मां एव एष्यसि) ऐसा करनेसे मुझ सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होगा (ते सत्यं प्रतिजाने) तेरे लिये इस निमित्त सत्यप्रतिज्ञा करता हूं कि (मे प्रियः असि) तू मेरा प्रिय भक्त है। ॥ ६५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः
कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥
अथ. ६।९४।२

अर्थ— हे मुमुक्षु मनुष्यो! जो मनुष्य अविकल भावसे अपने मनको मेरे अर्थात् परमात्माके चरणोंमें लगाता है।

---

१ वोचेमः- वच् परिभाषणे "आशीर्लिङि", "लिङ्याशिषि लिङ्" [वच उम्] इत्युमागमः [छन्दस्युभयथा] इति सार्वधातुकत्वात् लिङ् [सलोपोऽनन्त्यस्य] इति यासुटः सकारलोपः [अतो येयः] इतीयादेशः। [आद्गुणः] इति गुणः।

२ विदथेषु=विद ज्ञाने "विद्यते फलसाधनत्वेन ज्ञायते इति विदथः यज्ञो ज्ञानं वा [रुदिविदिभ्यः ङित्] उणा. ३।४४ इत्यथ प्रत्ययः।

३ शं भुवम्=भवतेरन्तर्भावितण्यर्थात् "क्विन् प्रत्ययः" [ओः सुपि] इति यणादेशे प्राप्ते [न भूसुधियोः] इति निषेधः प्राप्तः।

४ प्रतिहर्यथा=हर्य गतिकान्त्योः।

५ अश्नवत्=अशूङ्-व्याप्तौ "लेटि अडागमः व्यत्ययेन परस्मैपदम्।

(अहं) मैं परमात्मा (मनांसि) मुझमें मनको लगानेवाले अपने भक्तोंके मनोंको अर्थात् मननशक्तियोंको (मनसा) अपने मनसे (गृभ्णामि) ग्रहण कर लेता हूं अर्थात् उसे अपना परमप्रिय बना लेता हूं । (अनुचित्तेभिः) हे भक्तजनो ! तुम अपनी सदसद्विवेचनात्मक शक्तियों द्वारा (मम चित्तं) मेरी चेतना शक्तियोंके अनुकूल अर्थात् जैसे मैं सदा एक रसरूप और समतारूपसे सबको देखता हूं, वैसे तुम भी प्राणीमात्रको अपना आत्मस्वरूप देखते हुए, (अनु-आ-इत्) सबमें अनुकूल होकर प्राप्त होवो । हे भक्तजनो ! (वः) इसलिये तुम भक्तजनोंके (हृदयानि) हृदयोंको (मम वशेषु) अपनी अर्थात् परमात्माकी अधीनतामें (कृणोमि) करता हूं अर्थात् तुम सदा भगवद्भक्त होकर परमात्मामें मन लगानेवाले, और परमात्माकी भक्ति करनेवाले और परमात्माका पूजन और परमात्माको ही नमस्कार करनेवाले बने रहो । (मम यातं अनुवर्त्मानः) मेरे अर्थात् परमात्माके पूजनादि मार्ग पर चलते हुए (आ-इत) सम्यक् प्राप्त होवो ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि जो मुमुक्षु मनुष्य परमात्मामें मनको लगाता है और परमात्माका भक्त और उसका पूजक होता है, और परमात्माको सर्वत्र व्यापक मानकर सबको परमात्माका रूप समझता हुआ नम्रता भावसे नमस्कार करता है, वह परमात्माका परम प्रिय भक्त होता है ।

वेदमें भी यही कहा है, मनुष्यको अपना मन परमात्माके ध्यानमें लगाना चाहिये, और अपनी चित्तिशक्तिको परमात्माकी चेतन सत्तामें लगावे, और वेदद्वारा बतलाए हुए मार्ग पर चले । तो परमात्मा उन भक्तोंके हृदयोंको अपनी ओर कर लेता है अर्थात् वह परमात्माका अत्यन्त प्रिय भक्त हो जाता है, और वही मुक्ति पा लेता है (मुक्त हो जाता है) ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
भग. १८।६६

अर्थ— हे अर्जुन ! (सर्वधर्मान्) श्रद्धा और भक्तिसे युक्त होकर श्रौतस्मार्त प्रतिपादित कर्तव्य कर्मोंके करनेसे नष्ट हुए हुए पापोंवाला होकर तू निष्प्रयोजन अनित्य फलवाले ज्योतिष्टोमातिरात्रादि और वाजपेय, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, तपो यज्ञादि असद्विषयवाले और मुक्तिके प्रतिबंधक सब धर्मोंको (परित्यज्य) छोडकर अथवा प्राकृतिक धर्मोंको छोडकर (एकं मां) माया और उसके कार्यसे रहित नित्य शुद्धसच्चिदानन्द स्वरूप अद्वितीय मुझ परब्रह्मको (शरणं व्रज) आश्रय कर, अर्थात् परब्रह्म परमात्माकी शरणको प्राप्त कर । (अहं) मैं परमात्मा (त्वा) सर्वदा सर्वत्र सबको ब्रह्मस्वरूप देखते हुए तुझ नररूप अपने सखाको (सर्वपापेभ्यः) आचार्य, गुरु, श्वशुर, मातुलादि हत्याजन्य और गोत्रहत्याजन्यपापोंसे और जरा जन्म मृत्युकारक पापोंसे (मोक्षयिष्यामि) छुडा दूंगा । (मा शुचः) तू किसीप्रकारके शोकको मत कर ॥ ६६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥
अथ. ५।३०।८

अर्थ— हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (अहं) मैं परमात्मा (निः अवोचं) पूर्णरूपसे कहता हूं अर्थात् उपदेश देता हूं (तव) सारे चराचर जगत्को परमात्माके विश्वरूप देखनेवाले तुझ भक्तके (अङ्गेभ्यः) सब अङ्गोंसे अर्थात् समग्र देहसे (यक्ष्मं) व्याधियोंके राजा जन्ममरणादिकारक और सांसारिक प्राणियोंसे पूजनीय अर्थात् करणीय प्राकृतिक कर्मरूप रोगको और (अङ्गज्वरं) देह जन्यपाप और तापको दूर करता हूं । (न मरिष्यसि) मेरी अर्थात् परमात्माकी शरणमें आया हुआ तू न मरेगा ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे । गी. ११।३२

इस उक्तिका वेदमें कथन किया गया है । अर्थात् संसारमें मृत्युसे छूट जाएगा फिर तू जन्ममृत्युके बंधनमें न आएगा (मा बिभेः) गुरु, आचार्यको मारकर पापी बनूंगा, ऐसा भय मत कर और न शोकको कर । (त्वा) परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए तुझ मुमुक्षु जनको (जरदष्टिं कृणोमि) जराहीन अर्थात् अजर अमर बना कर मुक्त करता हूं ॥ ८ ॥

वेदगीता (मंत्र)

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन
नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे
यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥ ऋ. २।२३।५

अर्थ— (हे ब्रह्मणस्पतेः) हे विस्तृत ब्रह्माण्डके स्वामिन् ! हे परमात्मन् ! (सुगोपाः) समीचीनतया अर्थात् पूर्णरूपसे रक्षा करनेवाले तुम (यं) शरणमें आए हुए जिस मुमुक्षु मनुष्यकी (रक्षसि) रक्षा करते हो । (अंहः तं न) कोई पाप उसे नहीं छूता अर्थात् वह पापसे दूर रहता है (न

दुरितं) उसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख नहीं प्राप्त होता । (कुतश्चन) किसी प्रकारसे भी (न अरातयः) काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार प्रभृति शत्रु भी प्राप्त नहीं होते । (द्वयाविनः) दोनों लोकोंमें गमन करनेवाले अर्थात् इस लोकमें और परलोकमें (न तितिरुः) तिरस्कारको नहीं पाता, अर्थात् दोनों लोकोंमें परमात्माकी कृपासे सुखी और आनंदित रहता है । (अस्मात्) इस कारण (विश्वा ध्वरसः इत्) सब कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसाएं हों (यं) जिस परमात्माके प्यारे भगवद्भक्तको (न वि-बाधसे) विशेष करके बाधित नहीं करती, अर्थात् जो परमात्माकी शरणमें जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई सांसारिक बाधा दुःख नहीं देती, वह मुक्ति पथगामी होता है । ५

तुलना— गीतामें कहा है कि हे मनुष्य ! यदि तू अनित्य फलोत्पादक श्रौतस्मार्त यज्ञ और नैमित्तिक सकामकर्मोंको त्याग करके परमात्माकी शरणमें चला जाएगा, तो तुझे कोई पाप नहीं छूएगा, और न पापके करनेकी रुचि करेगा, यदि अकस्मात् कोई पाप अज्ञानतासे हो भी जावे, तो परमात्मा उसे उस पापसे छुडा देगा । अतः सांसारिक शोकोंका परित्याग करके परमात्माकी शरण जा । लज्जा, भय, मान, बडाई और आसक्तिको छोडकर और शरीर तथा संसारमें अहंताममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय और परमगति और सर्वस्व समझना, तथा अनन्य भावसे अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति और अत्यन्त प्रेमसे भगवान्‌के 'ओं तत् सत्, हरि, इत्यादि नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करते रहना, इसी प्रकार परमात्माका भजन और स्मरण रखते हुए ही उनकी आज्ञाऽनुसार कर्तव्य कर्मोंका निःस्वार्थ भावसे केवल परमेश्वरार्पण अपना आचरण करना, इसीका सब प्रकारसे परमात्माका अनन्य शरणागति अर्थात् शरण होना कहा गया है ।

वेदमें भी यही कहा है कि हे परमात्माकी शरणमें आया हुआ मुमुक्षु मनुष्य ! मैं तेरी देहसे सब प्रकारके पाप और तापोंको दूर करता हूं । परमात्माकी शरण लेनेवाला मुमुक्षु मनुष्य अजर और अमर होकर मुक्त हो जाता है अर्थात् उसमें द्वैतभाव नहीं रह जाता, अतः वह निर्भय हो जाता है । परमात्मा जिसका रक्षक है, वह कभी भी पापी, तापी और दोनों लोकोंमें तिरस्कृत नहीं होता । काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओंसे रहित हो जाता है ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

भग. १८।६७

अर्थ— हे अर्जुन ! (ते) तुझे (इदं) यह गुह्यसे गुह्य शरणागति ज्ञान शास्त्र अथवा मोक्ष शास्त्र (अतपस्काय न वाच्यं) और भगवद्भक्तिसे रहित मनुष्यको कभी नहीं बताना चाहिये । (च अशुश्रूषवे वाच्यं) और शास्त्र अर्थात् गीता शास्त्रको न सुननेकी इच्छा रखनेवालेको भी नहीं बताना चाहिये (च यः मां अभ्यसूयति) और जो मनुष्य मुझे प्राकृत-मनुष्य मानकर अथवा नास्तिक बनकर परमात्माकी भी निंदा करता है (न वाच्यं) उसे भी यह ज्ञान शास्त्र नहीं बताना चाहिये ॥ ६७ ॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय
मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ निरु. २।४

अर्थ— (ह) यह बात प्रसिद्ध है । (वै) निश्चयसे (विद्या) सत्यासत्यविवेक करानेवाली वेदवाणी अर्थात् वैदिकज्ञानात्मक विद्यारूपी सरस्वती (ब्राह्मणं) ब्रह्मज्ञानी ऋषियों और ब्रह्मतत्त्वके जाननेवाले और निष्काम भावसे परमात्माकी भक्तिकरनेवाले ब्राह्मणोंके पास (आजगाम) आई और कहने लगी ! (मा) मुझे अथवा मेरी (गोपाय) नास्तिक मनुष्योंसे रक्षा कर (अहं) मैं ब्रह्मविद्या (ते) तेरी अर्थात् ब्रह्मज्ञानीकी (शेवधिः अस्मि) निधि अर्थात् कोष हूं (असूयकाय) व्यर्थ ही दूसरोंकी निन्दा करनेवाले अथवा ब्रह्मज्ञानियोंसे ईर्ष्या करनेवाले तथा (अयताय) इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाले इन्द्रियाधीन असावधान मनुष्यको और (अनृजवे) कूट नीति अर्थात् कुटिल बर्ताव करनेवाले इन मनुष्योंको मेरा ज्ञान मत दे । ऐसे मनुष्योंको मेरा ज्ञान न देकर विद्याके अधिकारियोंको मेरा ज्ञान दे । ताकि (तथा) अधिकारियोंको मेरा ज्ञान देनेसे (वीर्यवती स्यां) मैं बलवती होऊं, अर्थात् अधिकारियोंके पास रहनेसे बल बढेगा ।

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।

यह उक्ति सार्थक होगी ।

तुलना— गीतामें कहा है, ब्रह्मविद्या परमात्माके विरोधियों अर्थात् नास्तिकोंको और सांसारिक विषयोंमें आसक्त जीवोंको तथा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये तपस्वी जीवन न रखनेवालोंको, और दूसरोंकी निन्दकोंको नहीं देनी चाहिये ।

वेदाङ्ग निरुक्तमें भी यही लिखा है, परनिन्दक मनुष्यको ब्रह्मकी विद्याको न बतावे, और कुटिल नीतिवाले मनुष्योंको, तथा प्रमादी मनुष्योंको न बतावे । ऐसे मनुष्योंको बतानेसे ब्रह्मविद्या निर्बल हो जाती है । अधिकारियोंको बतानेसे वही ब्रह्मविद्या बलवती होती है ।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

भग. १८।६८।६९

अर्थ— हे अर्जुन ! (यः) जो ब्रह्मज्ञानी अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा मनुष्य (इदं परमं गुह्यं) इस अत्यन्त गुह्य सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानको (मद्भक्तेषु) मेरे भक्तोंको (अभिधास्यति) बताएगा (मयि परां भक्तिं कृत्वा) वही गीताशास्त्र प्रोक्त ब्रह्मज्ञानका उपदेशक मुझ परमात्मामें पराभक्ति अनन्यशरणागति रूप भक्तिको करके (मां एव एष्यति) मुझे ही प्राप्त होगा, अर्थात् मुक्त हो जायगा (असंशयः) इसमें कोई संदेह ही नहीं है ॥ ६८ ॥

(मनुष्येषु) सब मनुष्योंमें (तस्मात) अधिकारियोंको ही गीताशास्त्र प्रतिपादित ब्रह्मज्ञानका उपदेश देनेवाले उस भगवद्भक्त ब्रह्मज्ञानी मनुष्यसे (अन्य कश्चित्) दूसरा कोई मनुष्य (मे प्रियकृत्तमः) मेरा अत्यन्त प्रिय करनेवाला (भुवि) सारी भूमि पर (न च) और कोई नहीं है । (तस्मात् अन्य) उपदेष्टा ब्रह्मज्ञानीसे भिन्न दूसरा (प्रियतरः) अत्यन्त प्रिय (न भविता) मेरा प्रिय न होगा । अर्थात् अधिकारियोंको ही ब्रह्मज्ञान देनेवाला मेरा प्रिय है ॥ ६९ ॥

वेदगीता (मंत्र)

अ॒सृ॒ग्रमिन्द॑वः प॒था धर्म॑न्नृ॒तस्य॑ सु॒श्रियः॑ ।
वि॒दा॒ना अ॑स्य॒ योज॑नम् ॥ ऋ. ९।७।१

अर्थ— (अस्य) वेदतत्त्वके प्रतिपादक इस भगवद्गीताके ज्ञानके (योजनं) प्रयोगको अर्थात् गीताज्ञानके सम्बन्धको (विदानाः) पूर्ण एकाग्र वृत्तिवाले मनसे जानते हुए (सुश्रियः) भगवद्भक्ति द्वारा ब्रह्मज्ञानके धारण करनेसे संसारमें शोभायमान होते हुए, अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे सुन्दर शोभा और सुन्दर प्रभाववाले होकर (धर्मन्) सत्यधर्ममें वर्तते हुए (ऋतस्य पथा) सत्यस्वरूप ब्रह्मयज्ञके मार्गद्वारा (इन्दवः) सत्वगुणकी अधिकतासे यद्वा ब्रह्मज्ञानके धारण करनेसे शीतल और शान्त स्वभाववाले भक्तजन (असृग्रम्) अपने आपको उस ब्रह्मज्ञानसे युक्त करते हैं और सांसारिक मर्यादासे उपराम पा जाते हैं ॥१॥

वेद गीता (मंत्रः)

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ निरु. २।४

अर्थ— (हे ब्रह्मन् !) हे ब्रह्मविद्याके जाननेवाले ब्राह्मण ! आप (यं एव) जिस विद्यार्थीको ही (शुचिं) शरीर, मन, और वाणीसे शुद्ध और (अप्रमत्तं) प्रमादसे रहित अर्थात् सावधान (मेधाविनं) धारणाशक्ति रखनेवाले शुद्ध बुद्धि और (ब्रह्मचर्योपपन्नं) ब्रह्मचर्यसे युक्त (विद्याः) जानें व और जो आपके साथ अर्थात् विद्यागुरुके साथ द्रोह न करे । (निधिपाय तस्मै) विद्या निधिकी रक्षा करनेवाले उस अधिकारीको (मा ब्रूयाः) मेरा उपदेश करें ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि जो ब्रह्मतत्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानके अधिकारी मनुष्योंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देगा, पराभक्तिद्वारा वह मुझमें ही प्रवेश करेगा अर्थात् वह निःसंशय मुक्त हो जायगा ।

वेद और निरुक्तमें भी यही कहा है कि जो तत्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी विद्याग्रहण करनेमें अनधिकारियोंको छोड कर यथावत् ब्रह्मज्ञानका उपयोग करनेवाले तथा कायिक वाचिक और मानसिक शुद्धि रखनेवाले, पूर्णतया धारणाशक्ति बुद्धिवाले, सावधान अर्थात् अप्रमादी, ब्रह्मचारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश देता है इससे विद्या निधि सुरक्षित रहती है । अन्यथा ' साक्षराके ' विपरीत होनेसे ' राक्षसा ' होजाते हैं ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

भग. १८।७०

अर्थ— हे अर्जुन ! (यः) जो अधिकारी मुमुक्षु मनुष्य (आवयोः) तेरे (अर्जुनके) मेरे (श्रीकृष्णके) (धर्म्यं) धर्मवाले (इमं संवादं) इस प्रश्नोत्तर मय संवादको अर्थात् गीताशास्त्रको (अध्येष्यते) पढेगा, उसका (अहं) मैं श्रीकृष्ण अर्थात् परमात्मा तेन (ज्ञानयज्ञेन) उस गीताशास्त्रीय ज्ञानयज्ञसे (इष्टः स्यां) आराधित हुआ हुआ प्रिय हो जाऊंगा (इति मे मतिः) यह मेरी बुद्धि अर्थात् सम्मति है ॥ ७० ॥

वेदगीता (मंत्र)

इ॒मं स्तोम॒ सक्र॑तवो मे अ॒द्य
मि॒त्रो अ॑र्य॒मा वरु॑णो जुषन्त ।
आ॒दि॒त्यास॒ः शुच॑यो॒ धार॑पूता
अवृ॑जिना अन॒व॒द्या अरि॑ष्टाः ॥ ऋ. २।२७।२

अर्थ— (मित्रः) प्रभाज्ञानद्वारा अपनी रक्षा करनेवाला अथवा मित्ररूप होकर प्राणीमात्रका हित करनेवाला (अर्यमा) काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओंको वशमें रखनेवाला और (वरुणः) सबसे वरने योग्य अर्थात् सबसे मान देने योग्य श्रेष्ठ विचार वाला और दया, श्रद्धादि शुभगुणवाला मनुष्य (सक्रतवः) परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयज्ञात्मक कर्म करनेवाला मनुष्य (अद्य) आज अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके समय पर (मे) मुझ परमात्मासे उपदेश दिये हुए (इमं स्तोमं) इस ज्ञानशास्त्रका (जुषन्त) सेवन करे अर्थात् अभ्यास करे ज्ञानशास्त्रके अभ्यासी मनुष्य (आदित्यासः) सूर्यके समान तेजस्वी अथवा आदित्य ब्रह्मचारी अथवा न कटने योग्य अर्थात् अमर होजाते हैं। और (शुचयः) कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धिवाले होजाते हैं। तथा (धारापूताः) भगवत्प्रोक्त ब्रह्मज्ञानकी धारासे पवित्र होजाते हैं। और (अवृजिनाः) पापोंसे रहित होकर भगवद्भक्तज्ञानियोंके साथ मिलकर रहनेसे (अनवद्याः) निन्दित कर्मोंसे रहित अर्थात् शुद्धमन हुए हुए (अरिष्टाः) सब अनर्थोंसे रहित होजाते हैं अर्थात् मुक्तिपदके अधिकारी हो जाते हैं।

तुलना— गीतामें कहा है, इस ज्ञानशास्त्र अर्थात् गीताशास्त्रके अध्ययन करनेसे मन शुद्ध होता है, और इस ज्ञानयज्ञसे जो ज्ञानी प्रसन्न हो जाते हैं, उन ज्ञानियोंका भगवान् प्यारा हो जाता है, और भगवान्के वह प्यारे हो जाते हैं, और वह परमात्माके प्रिय होकर संसारके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं।

वेदमें भी यही कहा है सबका मित्र और सबके आदर योग्य और सद्गुणोंसे श्रेष्ठ, कामक्रोधादि शत्रुओंको जीतनेवाला जो मुमुक्षु मनुष्य मेरे इस वैदिक ज्ञानशास्त्रको पढता है, और वैदिकज्ञानका अभ्यास करता है, वह आदित्यवत् ज्ञानमय सूर्यसे प्रकाशित और पापरहित और शुद्धमनवाला होकर सब बुराइयोंसे रहित हो जाता है, और परमात्माका प्यारा हो कर अमर हो जाता है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥

भग. १८।७१

अर्थ— (यः नरः) जो मनुष्य (श्रद्धावान्) ज्ञानशास्त्रमें पूरी श्रद्धा रखता हुआ (च) और (अनसूयः) दूसरे मनुष्योंकी निन्दा न करता हुआ (शृणुयात्) इस गीताशास्त्रको दूसरे ज्ञानी मनुष्यसे सुने। (सः अपि) गीताशास्त्र सुननेवाला वह मनुष्य भी (पुण्यकर्मणां) यज्ञ यागादि शुभकर्मोंके करनेवाले मनुष्योंसे प्राप्त किये हुए (शुभान् लोकान्) सुख स्वरूप लोकोंअर्थात् स्वर्गादिलोकोंको (मुक्तः) संसारबंधनसे मुक्त हुआ हुआ (प्राप्नोति) प्राप्त हो जाता है। ॥ १ ॥

वेदगीता (मंत्र)

स इज्जनेन स विशा स जन्मना
स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति
श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

ऋ. २।२८।३; तै. सं. २।३।१४।३, तै. ब्रा. २।८।५।४

अर्थ— (यः) सांसारिक पदार्थों पर मोहित युवा अथवा वृद्ध जो मनुष्य (श्रद्धामनाः) परमात्माद्वारा उपदेश किये हुए वैदिक ज्ञानशास्त्रपर पूर्ण श्रद्धासे युक्त मनवाला होकर (देवानां) दिव्यकर्म करनेवाले यद्वा ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशमान पुण्यकर्म करनेवाले (यः) मनुष्योंमेंसे जो मनुष्य (पितरं) सारे ब्रह्मांडके पालक और रक्षक (ब्रह्मणस्पतिं) वेदवाणीके दाता और इस विस्तृत ब्रह्मांडके स्वामी परमेश्वरकी (हविषा) अनन्य भक्तिरूपी हविसे (आविवासति) सेवा करता है अर्थात् परमात्माके चरणोंमें वास करता है। [विवासतिः-परिचरणकर्मा] (स इत्) वह भगवद्भक्त मनुष्य ही (जनेन) मनुष्यमात्रके साथ (स विशा) प्रजा और अपने संबंधियोंके साथ (स पुत्रैः) अपने पुत्रपौत्रोंके साथ (वाजं भरते) ज्ञानबलको धारण करता है, अर्थात् उसी ज्ञानी मनुष्यसे उसके सम्बन्धी और पुत्रपौत्रादि ज्ञान चर्चा सुनकर शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं। (सः) वह ज्ञानी मनुष्य (नृभिः) दूसरे सहचारी मनुष्योंके साथ (अपि) भी (धना-धनानि) ज्ञानमय धन-सम्पत्तिको (भरते) धारण करता है ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें कहा है, जो मनुष्य परनिन्दक न होकर और भगवत्प्रोक्त गीताशास्त्रमें पूरी श्रद्धा रखता हुआ गीताशास्त्रको सुनता है। वह भी शुद्ध मन होकर पुण्यलोकोंको अर्थात् स्वर्गलोकको अथवा मुक्तिधामको प्राप्त करता है।

वेदमें भी यही कहा है, जो मनुष्य वेद वाणीपर पूर्णश्रद्धा रखता हुआ ब्रह्माण्डके पालक परमात्माकी भक्तिको करता है, वही मनुष्य अपने पुत्र पौत्रों और अपने संबंधियोंके साथ पुण्य लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमन्त्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. -) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

नवम्बर १९६३

५० नये पैसे

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक ११

क्रमांक १७८ : नवम्बर १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

"वैदिक धर्म"

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०

डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,

पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

ॐ स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥ (ऋ. ५।५१।१५)

"वैदिकधर्म" के परिवारकी ओरसे इसके श्रद्धालु पाठकोंको

"दीपावलि" एवं "नववर्ष"

के अवसरपर अग्रिमवर्षकी सुख समृद्धिके लिए शुभ कामनाओंके साथ

सहर्ष अभिनन्दन

आइए ! हम सुरक्षा के उन प्रहरियों के
सम्मान में दीप जलाएँ जो देश की
रक्षा के लिए अपने काम पर
हमेशा डटे रहते हैं और
उनके सम्मान में भी जो राष्ट्र के जीवन मा
को निरंतर सक्रिय रखने के लिए
यातायात को पक्के तौर पर सुरक्षापूर्ण
और गतिवान बनाये रखते हैं।
पश्चिम और मध्य रेलवे
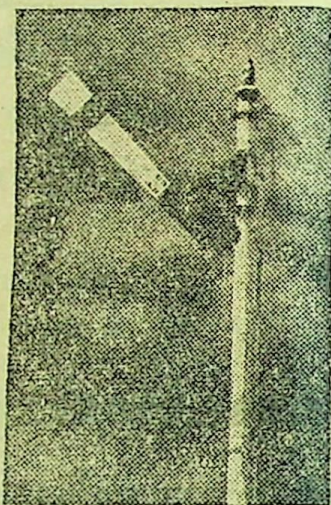
वैदिकधर्म

निर्भयताकी प्रार्थना

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः
वि द्विषो वि मृधो जहि ॥ ऋ. ८।६१।१३

हे (इन्द्र) शक्तिशाली देव! (यतः भयामहे) जहां जहांसे हम डरते हैं, (ततः नः अभयं कृधि) वहां वहांसे हमें अभय-भय रहित कर, तथा हे (मघवन्) ऐश्वर्यशाली प्रभो! (तव ऊतिभिः) अपने संरक्षणके साधनोंसे (नः शग्धि) हमें सामर्थ्ययुक्त कर तथा (द्विषः मृधः वि जहि) हमसे द्वेष करनेवाले एवं हमारी हिंसा करनेवाले शत्रुओंको नष्ट कर।

वह परमात्मा सबको भयसे रहित करनेवाला है। वह अपनी शक्तियोंसे सबको शक्तिशाली बनाता है। उसके पास अपने भक्तोंकी रक्षा करनेके लिए संरक्षणके अनेक साधन हैं। उनसे वह दुष्टोंको नष्ट कर सज्जनोंकी रक्षा करता है।

निर्भय हमको ईश बनाओ
चतुर्दिशाओंके स्थल सारे,
मेरे हित भयरहित बनाओ ॥
चतुर्दिशामें गति हो मेरी,
अभ्युदय हो सिद्ध हमारा।
प्रभो! शक्तिशाली हो तुम ही,
साध्य तुम्हींसे कार्य हमारा ॥
हम आये हैं पास तुम्हारे,
तुम हम सबको निर्भय कर दो।
शत्रु हमारे सभी नष्ट कर,
हृदयमें नव सम्बल भर दो ॥

— श्री सुन्दर थाँवरदास "सोम"

संस्कृत सीखनेका सरलतम उपाय

'प्रत्येक राष्ट्रवादीको संस्कृतका अध्ययन करना चाहिए। इससे प्रान्तीय भाषाओंका अध्ययन भी सुगमतर हो सकता है। किसी भी भारतीय बालक और बालिकाको संस्कृत ज्ञानसे रहित नहीं होना चाहिए।'

—महात्मा गांधी

\+ + + +

'यदि मुझसे पूछा जाए कि भारतकी सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है? तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह सम्पत्ति संस्कृत भाषा और साहित्य एवं उसके भीतर जमा सारी पूंजी ही है। यह एक उत्तम उत्तराधिकार है और जब तक वह कायम है तथा हमारे जीवनको कायम किए है, तबतक भारतकी आधारभूत प्रतिभा भी अक्षुण्ण रहेगी। अतीतकी सम्पत्ति होते हुए भी संस्कृत एक जीवित परम्परा है।' —पं. जवाहरलाल नेहरु

\+ + + +

'हमारी संस्कृतिका स्रोत इसी संस्कृत भाषासे निकला है। हम जानते हैं कि आज भी हम इस संसारमें इसीके कारण जीवित हैं और भविष्यमें भी जीवित रहेंगे।' —स्व. डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

\+ + + +

इन महापुरुषोंकी वाणी इस बातकी साक्षी है कि संस्कृतभाषा भारतका सर्वस्व है। आप भी सच्चे भारतीय हैं अतः हमें पूर्ण विश्वास है कि आप भी निश्चयसे संस्कृतभाषा सीखना चाहेंगे।

क्या कहा? संस्कृत बहुत कठिन भाषा है। इसका व्याकरण बहुत कठिन है। इसको पढते हुए सिर दुःखने लगता है।

ठीक है, ठीक है, मालूम पडता है कि आपने अभीतक ऐसी ही पुस्तकें देखी हैं, जो सिरमें दर्द पैदा कर देती हैं। और आप समझते हैं कि संस्कृतभाषा बहुत कठिन है। मालूम पडता है कि आपने अभीतक श्री पं. सातवलेकर कृत 'संस्कृत-पाठ-माला' नही देखी है।

आइए, आज आपका इस पुस्तकसे परिचय करायें—

१ इस पुस्तकमें छोटे छोटे और सरल वाक्य हैं।

२ इसमें व्याकरण पर बिल्कुल जोर नहीं दिया गया है।

३ इसमें अनुवाद करनेका ढंग बडी सरलतासे बताया गया है।

४ इसमें रामायण और महाभारतकी अनेक कथाओंको सरल संस्कृतके द्वारा बताया गया है। इसलिए कहानियोंमें रस लेनेवाले बच्चे भी इस पुस्तकको बडे चावसे पढ सकते हैं।

५ महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे महापुरुषोंने भी इस पुस्तककी प्रशंसाकी है और उन्होंने अपने वृद्धावस्थामें भी इन पुस्तकोंके द्वारा संस्कृत सीखी थी।

६ जी हां, लेखककी यह घोषणा है कि यदि आप रोज एक घन्टा इस पुस्तकका अध्ययन करें, तो आप केवल एक सौ घण्टोंमें ही इतनी संस्कृत सीख सकते हैं कि आप रामायण और महाभारत सरलतासे समझने लगेंगे।

७ यह पुस्तक अबतक १३ बार छप चुकी है, और हर बार हमें यह पुस्तक ४–५ हजार छापनी पडती है। चारों ओरसे इस पुस्तककी मांग आती है। क्या कहा? इस पुस्तकका एक ही भाग है? जी नहीं, इस पुस्तकके १८ भाग हैं। तो तो इनकी कीमत ही बहुत ज्यादा होगी? जी बिल्कुल नहीं, एक भागकी कीमत सिर्फ ५० न. पै. (डा. व्य. अलग) है। कहिए, है न पुस्तक बहुत उपयोगी? तो फिर आज ही एक पत्र डालकर यह पुस्तक मंगवाइए अवश्य ही मंगवाइए। लिखिए—

मंत्री—

पोस्ट– 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)'

पारडी [जि. सूरत] (गुजरात)

आर्यसमाजकी विशेषता

[लेखक — श्री बा. विष्णुदयाल]

आर्य समाजका आधार वेद है, वेद ईश्वरभक्तोंका परम ग्रन्थ है।

अन्य सुधारक जहां ईश्वरसे विमुख होना मंजूर न करते थे, वहां वेदको जो महत्व देना चाहिये वह देनेसे इन्कार करते थे।

पश्चिमने भारतमें प्रवेश किया, एक दृष्टिसे वह प्रवेश एक अभिशाप सिद्ध हुआ, उसने भारतीय धर्म और संस्कृतिपर अपूर्व आक्रमण किया। बंगालमें ही पश्चिमका जोरशोरसे प्रवेश हुआ। वहां सुधारक समाज-सुधार करते तो थे, पर उन्हें वेद अपनानेका साहस न हुआ।

वेदका आदर करना एक प्राचीन परम्परा है, छः शास्त्रोंने एक स्वरसे वेदका आदर किया। उपनिषदोंका तो वेदोंसे ही उद्भव हुआ। छः दर्शन और उपनिषदोंको वेदके साथ जोडा जाय, तो ऐसे सद्ग्रन्थ मिलेंगे जिनमें हिन्दूधर्मका पूरा प्रतिपादन हो जाता है। हिन्दू दृष्टिकोण समझनेके लिये ये पर्याप्त हैं।

यही समझकरके महर्षि दयानन्दने इनको अपनाया और निर्भीक होकर वेदोंका उद्धार किया, इस महान् ग्रन्थकी आवश्यकताको माना।

उन्होंने अभी आर्य समाजकी नींव रखी नहीं थी, जब बंगालमें पधारे जहां उथल पुथल मच रही थी। तत्कालीन महापुरुषोंसे मिले और ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको, जिन्हें वे अपना अग्रज कहते थे, कहा कि, समाज सुधारके कार्यमें आपने अभीतक अपना सारा समय लगाया, अबसे वेदोद्धारपर ध्यान दीजिये। अपनेको अनुज बतानेवाले ऋषिकी धुनने विद्यासागरको मुग्ध कर लिया। उन्होंने कहा, अब जानेका वक्त आगया, अगले जन्ममें यह कार्य पूरा किया जायगा।

वेदका पक्ष ग्रहण करनेसे पूर्व महर्षिने उसका अध्ययन किया। सन्तोष पाकर ही वे वेदका संदेश देने निकले।

वेद विरोधी संस्कृतज्ञोंसे, जिन्हें वेदज्ञ कहा जाता है, लोहा लेनेमें देर न करते थे। उनकी विचारधारा फलीभूत हुई। यदि १९२९में प्रकाशित अपने एक ग्रन्थमें मेटरलिंकने ऋग्वेदकी प्रशंसा की, तो उसका भी कारण यही है कि एक निष्पक्ष अभारतीय भी वेदोंमें उत्तमता पा सकते हैं।*

बंगालके विद्वान् क्यों घबराये? विकासवादका बोलबाला हो रहा था और वे इस बातका पता लगा न पाये कि इस वादका प्रचलन करनेमें वलेस भी तो थे जिन्होंने प्रमाण

---

* So no light is thrown on the mystery, which is thrust back into space and time, to the omniscience of the Cosmos– in other words to the idea of God, the idea we find in the first sagas of the Rigveda; an idea we have never surpassed, and probably never shall. At least we do not get a profounder or more satisfying conception of God from Dr. Whitehead, who is one of the leading philosopher-scientists of the day, and may be considered to represent the most advanced views —Maurice Maeterlinck, THE MAGIC OF THE STARS

I first endeavour to show by a careful consideration of the structure of the bird's feather... the absolute necessity for an organizing and directing Life principal in order to account for the very possibility of these complex outgrowths. I argue they necessarily imply first a creative power...; next a directive mind, and lastly an Ultimate Purpose in the very existence of the whole vast life-World in all its long course of evolution throughout aeons of geological time —Dr. Alfred R. Wallace, THE WORLD OF LIFE, Preface.

देकर सिद्ध कर लिया था कि पशु-पक्षीको ध्यानसे देखा जाय तो इस परिणाम पर विचारक पहुंच ही जायेंगे कि ईश्वर विद्यमान है। उनके विचारका वार वार प्रचार करना होगा। वे लिखते हैं—

" चिडियोंके परकी बनावटसे पहले तो उत्पन्न करनेवाली किसी शक्तिका परिचय मिलता है जिसने प्रकृतिको इस तरह बनाया कि उससे ऐसी आश्चर्यजनक घटनाएं सम्भव हो पायीं। दूसरे एक संचालक बुद्धिका पता चलता है जो वृद्धिकी हरएक अवस्थामें आवश्यक होती है यद्यपि हम इस बुद्धिको ऐसी साधारण बात समझ लेते हैं कि उसकी मीमांसाकी भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अन्ततः उस अन्तिम प्रयोजनका पता लगता है जो भूगर्भ विषयक युग-युगान्तरोंमें इस सम्पूर्ण विशाल जीवन-जगत्की दीर्घकालीन विकासयात्रामें ओत-प्रोत हो रहा है। "

वलेस छल-कपटसे रहित थे। ध्यानसे इनके शब्दोंको पढा जाय तो मालूम होगा कि ये डार्विनकी तरह इस बातको नहीं माना करते थे कि मनुष्य बन्दरका वंशज है। ×

बंगालमें इस तरह विद्वानोंको पश्चिमीयोंसे लोहा लेनेसे डरना नहीं चाहिये था। जब उनमें कोई कोई युवकोंको ईसाई बननेसे रोकनेका स्तुत्य प्रयत्न करने लगे, वे अन्ततः ईसाके प्रशंसक बन गये और अंग्रेजीसे परिचित होनेके कारण अपनेको श्रेष्ठ मानने लगे।

वे वेदका आश्रय लेनेका साहस कर पाते, तो डारविनको उत्तर मिल जाता। क्या वे इतना याद नहीं कर सकते थे कि यद्यपि ईसाके युगसे पूर्व यूनानमें अफलातून और अरस्तू प्रकट हुए थे। पश्चिमीय विश्वविद्यालयोंमें इन तत्वज्ञानियोंके ग्रन्थोंका अध्ययन किया जाता था, जब वे ग्रन्थ पुराने होनेपर भी सुपाठ्य समझे जाते थे, तो फिर वेदका तिरस्कार करनेकी क्या आवश्यकता थी?

वेदकी उपेक्षा करके कैसे हम उपनिषदों या छः दर्शनोंको आदत कर सकते हैं? बंगालके महामानव विकासवाद पर आक्रमण करनेमें समर्थ होते यदि वेदका अध्ययन करना उचित समझते।

एक मात्र धर्म

धर्म तो एक ही है और वह वेदका धर्म है। शेष धर्म वास्तवमें सम्प्रदाय हैं जिनमेंसे अनेक एक ही दो शतीके मेहमान रहे। यद्यपि जो नवीन वेदान्तकी धारा शंकराचार्यके समयसे बह रही है अतः पुरानी है तथापि वह भी चिरस्थायी नहीं है। ईसाई धर्म २ हजार साल पुराना है और वह भी सम्प्रदाय ही है।

इन मत-मतान्तरोंका सम्बन्ध व्यक्तियोंसे है। ईश्वरचंद्र विद्यासागरने कोई मत चलाया न था। वे समाज सुधारक थे। उनका यह कहना ठीक था की बिलखती हुई विधवाओंकी सुध लेनी चाहिए। छोटे बच्चोंका विवाह करानेकी प्रथा चल पडी थी। लडका मर जाता था तो अक्षतयोनि कन्याको विधवा नामसे पुकारा जाता था। विद्यासागर चल बसे और उनके द्वारा चलाया गया आन्दोलन जीवित न रहा। राजा राममोहनरायका स्वर्गवास हुआ और सती प्रथापर बोलनेकी आवश्यकता ही न हुई।

युगपुरुषोंका आगमन एक आशीर्वाद होता तो है, पर उनके नामसे संबंधित विचार या मत कुछ ही समयके लिए रहता है। भारतमें गुरुओंका आना आनन्दवर्धक हुआ तो सही, पर कभी कभी लोग जनता कर पूछ लिया करते हैं कि क्या कभी किसी एक महापुरुषका मत सदैव रह नहीं सकता? गुरु नानक, राजा राममोहनराय आये, किन्तु बादमें स्वामी विवेकानन्दके आगमनकी आवश्यकता हुई।

दो व्यक्ति एक शक्लवाले नहीं होते। कैसे उनके सब विचार एक हो सकते हैं? मतैक्य मोटी मोटी बातोंमें हुआ करता तो है और होना चाहिये, किन्तु एक आदमी दूसरेकी हुबहू नकल नहीं हो सकता। पढना आवश्यक है, यह सब कोई मानते हैं पर पाठ्यपुस्तक कैसी हो इस विषयमें भिन्न भिन्न मत होते हैं। यदि जिन दिनोंमें मोम-

× While he agreed with Darwin on the evolutionary hypothesis, Alfred Russel Wallace differed fundamentally with him as to the relationship between man and the animal. And the numbers of those who hold a similar opinion to Wallace's, who refuse to admit that man is descended from the ape, have so grown in present days that Darwinism is practically discredited... —Hugh R Gillespie, THE CANADIAN THEOSOPHIST, 15-1-38.

बत्ती या मिट्टीके तेलसे काम लिया जाता था किसीको यह सोचनेकी स्वतंत्रता तक न होती कि बिजली बत्ती भी प्रकाश दे सकती है दुनियामें हम बिजली बत्ती कभी देख भी सकते हैं।

ईसाई धर्मने सबको एक प्रकारका विचारवाला होना देखना चाहा। मतभेद ज्यों ही प्रकट किया जाता था, त्यों ही अन्योंकी तरह न सोचनेवालेका काम तमाम किया जाता था।

वेदमें "समान" शब्द

वेदने इतना ही कहा कि मनुष्य समान हों। ऋग्वेदके अन्तिम मण्डलमें जिसे वेदान्त नाम भी दिया गया है, "समान" शब्द अनेक बार आता है। जब कभी ऐसे मन्त्रोंका अनुवाद किया जाता था, जिनमें यह शब्द आता है "एकता" का संकुचित अर्थ किया जाता था। द्वितीय विश्वयुद्धमें ऐसे राष्ट्र प्रकट हुए जहां सबको "एक" बनानेका प्रयत्न करते थे। जो छोटी-मोटी बातोंमें औरोंसे असहमत होते थे उनके लिये ऐसे राष्ट्रोंमें कोई स्थान न था। अधिनायकोंकी तूती बोलती रही। युद्ध समाप्त हुआ और कभी कभी पूछा जाता था कि क्या वेद वचन अब भी स्वीकार्य है ?

वैदिकभाषामें रचित ग्रन्थको हम ईश्वरीय ज्ञान बताते हैं न कि उसके अनुवादको। अनुवादककी ओरसे भूल हो जाया करती है। मंत्रमें पडे शब्दको देखकर वेदवेत्ता मानेंगे कि "एकता" का वेदमें संकुचित अर्थ किया नहीं गया।

जब हमने कभी देखा कि ब्रह्मर्षि दामोदर सातवलेकरके ग्रन्थोंके विरुद्ध कुछ आर्य समाजी विद्वान् आवाज उठाते हैं तो हमें यही कहना पडता है कि उनकी योग्यता हममें हो, तब तो हम यह निर्णय कर सकेंगे कि शब्दोंके मतलबको अच्छी तरह समझाया गया या नहीं।

म० दयानन्दकी विशेषता

महर्षि दयानन्दने वेदोद्धार करते हुए हमें अनुवादोंपर निर्भर होनेको कहा नहीं। जबतक हममें शक्ति नहीं होती हम अनुवादसे काम ले सकते हैं। अनुवाद पढते पढते हम कुछ प्रचलित शब्दोंसे परिचित हो जाते हैं। तब व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये। ऋषिने व्याकरणपर उतना ही ध्यान दिया जितना वेदभाष्यपर। यही नहीं, शब्द निरुक्तिकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। आर्योद्देश्य रत्नमालामें मुख्य शब्दोंके सरल अर्थ किये। यदि ऐसे अद्भुत ग्रन्थोंको लेकर उन्हें जन जनकी पहुंचके भीतर लाया जाय तो अब भी लोग एक मात्र धर्मके अनुयायी हो जायेंगे।

स्वामीजीने न चाहा कि उनकी मूर्ति कहीं खडी की जाय, उनका नाम दुनियामें रहे। वे बार बार समझाते थे कि दुनियाको वेदकी ओर लौटना चाहिए। उनकी बात मानी जाय तो सिलसिला न टूटेगा।

एक समय आ गया था जब ब्रह्मसमाजी नवीन वेदान्तका प्रचार करनेवालोंसे रुष्ट हो गये थे। यदि वे वेदको वह स्थान देनेके लिये तैयार होते जो उन्हें देना चाहिए तो इतना बता-पाते कि यह वेदान्त व्यास विरचित वेदान्त नहीं है जो वेदानुकूल है।

ईसाइयोंने कभी इंजीलकी उपेक्षा न की, यद्यपि उसपर वैज्ञानिक, तत्वदर्शी तथा लेखक प्रहार करते रहे। वेदोंके सामने इंजील छायामें पड जाती है। ईसाई परिवारमें जन्मे यूरपीय ईसाइयतसे वह व्यवहार नहीं करते जो ब्राह्म समाजी होकर वेदके साथ करते दिखाई देते हैं।

जिन दिनोंमें उनका समाज जीता जागता था एक निष्पक्ष अंग्रेजने साफ साफ कहा था कि व्यक्तिसे संबंधित धर्म निकृष्ट है। वे और कोई नहीं मोनियर विलयम्स थे जिनके ये शब्द थे—

'बौद्धमत बिना बुद्ध देवकी व्यक्तिके जीवित नहीं रह सकता। कारण कि उसके कलमेमें बुद्धका जाप शामिल है। मेरा अपना प्यारा ईसाई मजहब भी हजरत मसीहके व्यक्तिके बिना जीवित नहीं रह सकता। पर जिसका कलमा गायत्री मंत्र है वह हिन्दू धर्म संसार भरके सब धर्मों, मजहबों, पन्थोंसे उत्तम इसलिए है कि उसमें एक ईश्वरको सीधे तौरपर बिना किसी मनुष्य विशेषके प्राप्त करनेका विधान है।'

वेद और गीता

गीतामें वेदकी झलक मिलती है, पर वह छोटी है और वेद उससे हर दृष्टिसे उत्कृष्ट है। छोटी होनेपर भी गीता बीसवीं सदीके महान् पुरुष गांधीको सत्पथ बताती रही।

बापूजी कोषके पन्नेकी तरह गीताके पृष्ठोंको उलटते थे। जब वे कभी किसी समस्याका हल खोजते थे, वह उन्हें गीतामें मिलता था।

वे अपनेको वेदवेत्ता बताते न थे, फिर भी जब यह समझाना था कि धनिक वर्ग और गरीब वर्गके बीच मैत्री कैसे स्थापित की जा सकती है वे ईशोपनिषत्का प्रथम मंत्र या यजुर्वेदके ४० वें अध्यायके प्रथम मंत्रको समझाया करते थे।

महापुरुष भूलोंसे बचनेमें प्रयत्नशील हुआ करते हैं। वे अपनेको साधारण पुरुष समझते हैं। जब बडे बननेके इच्छुक गिरने लगते हैं और स्वयं अपनी गलतियों पर ध्यान नहीं देते शास्त्रज्ञ उन्हें बताया करते हैं कि इनका कर्तव्य कर्म क्या है। एक चोटीके राजनेताको पिछले दिनोंमें एक वेदज्ञने यह सदुपदेश दिया है—

' भारतके भावी नागरिकोंको बलवान् तब ही बनाया जा सकता है, जब उनमें सदाचार, संयम और देश प्रेमकी भावना भरी जाये। पर आपका व्यक्तिगत आदर्श तो उन्हें विषयी, कामी, व्यसनी, लम्पट (Loose) और अर्थार्थी बना कर उन्हें निर्बल और निकम्मा किये चला जा रहा है।'

किसी भी युगमें वेद पुराना न बना। वेदमें किसी देश या व्यक्ति विशेषका इतिहास नहीं है। जैसे उपनिषत्कालीन या रामायण कालीन भारतमें वेदको पूजाकी दृष्टिसे देखा जाता था वैसे ही पिछली शताब्दीमें श्रेष्ठ पश्चिमीयोंने उसको आदरकी दृष्टिसे देखा।

तत्त्वज्ञानी शौपनहारने तो कह तक दिया था कि उपनिषद्के ज्ञानसे उन्हें सांत्वना मिली। वे इतना जोडा करते थे कि वेदको छोडकर उपनिषद् पवित्रतम ग्रन्थ है।

अमेरीकी मनीषी एमर्सन वेदोंकी प्रशंसा करते अघाते न थे। बीसवीं सदीमें मेटरलिंकको वेदमें ' अपूर्व विचार दीप्तियां ' देखनेमें आई थीं।

ऐसी थाती जिसे मिले वे क्यों कर कहेगा कि धर्मकी आवश्यकता नहीं है, धर्म पुराना हुआ करता है, वेदकी ओर लौटनेका मतलब गिरावटकी ओर जाना इत्यादि ?

उपनिषत्कार, दर्शनकार, रामायणके रचयिता, महाभारतके लेखकने नहीं माना था कि वेद पुराने जमानेका ग्रन्थ है। महर्षि दयानन्द उन ऋषियोंमेंसे हैं जो इन ग्रन्थकारोंके समान हैं और यह कहनेको तैयार नहीं होते कि वेद पुराने हैं और आधुनिक आवश्यकताओंके प्रतिकूल हैं।

जो यात्री फ्रांसके किसी हवाई अड्डेके किसी पुस्तक विक्रेतासे रोमें रोलाँकी किताब खरीदना चाहेगा, उसे यही निराशाजनक उत्तर प्राप्त होगा कि रोलाँ पुराना हो गया। अभी ही उस लेखकको पुराना बताया जा रहा है। उनका देहावसान केवल दो दशक पूर्व हुआ। यदि जिन अर्थोंमें पुस्तक विक्रेता इनके ग्रन्थोंको पुराना बताया करते हैं वेद भी पुराने बताये जा सकते, तो उनके प्रकटीकरणके हजारों वर्ष पश्चात् श्रेष्ठ विचारक और लेखक उनकी ओर लौटनेको कदापि न कहते।

वेदकी हम उपेक्षा न करें। वेद हमसे मिलनेको उत्सुक हैं। हम जाग जायें तो प्रत्येक वेद हमसे मिलेगा। वेदकी ध्वनिको ऋषि दयानन्दने सुना था। हम भी सुनें—

यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

* * *

मांस-भक्षण— एक भयंकर अपराध

[निर्देशक— यूनीवर्सल थियोसॉफिकल एसोसियेशन, मेक्सिको (अमेरिका)]

शाकाहार एवं मांसाहारके विषयमें लोगोंके भिन्न-भिन्न मत हैं, पर यदि उनकी उचित रीतिसे सर्वांगीण समालोचना की जाये, तो उन सबका निष्कर्ष एक ही निकलेगा। मांसाहारके पक्षमें जितने भी तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं, उनका सत्यके प्रकाशमें यदि पक्षपात-रहित विश्लेषण किया जाए, तो उनमेंसे कोई भी तर्क नहीं टिक सकता।

प्रथम हम धार्मिक दृष्टिसे इसपर विचार करते हैं। कतिपय आधुनिक विचारक इस दृष्टिको मान्यता नहीं देते। पर वस्तुतः यह धार्मिक दृष्टि केवल श्रद्धामात्र या झूठा विश्वास अथवा हिन्दुधर्मकी ही सम्पत्ति नहीं है। यदि हम ईसाइयोंके बाइबिलको देखें, तो उसके पहले ही अध्यायमें एक आदेश मिलेगा— "फलोंको उत्पन्न करो, इस भूमिको बहुविध बनाओ, इसे हरीभरी बनाओ इसको जीतो और सब प्राणियोंपर अपना अधिकार करो।"

"और एलोहिमने कहा, देखो, मैंने इस भूमिकी सतह पर बीजोंको उत्पन्न करनेवाली हर तरहकी वनस्पतियां और फलदार वृक्ष तुम्हारे लिए दिए हैं। ये सब तुम्हारे अन्न हैं।"

इस कथनसे यह स्पष्ट है कि मनुष्योंकी खानेकी आदत कुछ भी हो अथवा मांसभक्षणके पक्षमें कुछ भी कहा जाए, पर खानेके लिए पशुओंको मारना किसी तरह भी न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि दैवी-नियमोंको तोड़ना ही पाप है, तो ईसाई, यहूदी, हिन्दू और बौद्धोंकी दृष्टिमें तो मांसभक्षण एक महा भयंकर पाप सिद्ध होगा। यदि मांसभक्षण सर्वसाधारण भी हो जाए, तो भी यह एक पाप ही रहेगा।

यह कहनेकी हमें कोई आवश्यकता नहीं, कि यह मांस भक्षणका सिद्धान्त हिन्दु और बुद्धधर्मके मूलाधार अहिंसाके सर्वथा विरुद्ध है। एक चोरको अथवा एक मच्छरको अपनी सुरक्षाके लिये मारना ठीक कहा जा सकता है। पर शान्त और पालने योग्य जानवरोंको मारना किसी भी नैतिक आधारपर युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। मांसभक्षण तो मनुष्यके प्राकृतिक-नियम व प्रकृतिधर्मके भी विरुद्ध है।

"प्राणियोंपर विजय पाने और उनपर अधिकार करने" का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें समाप्त कर दो, अपितु उन्हें ऐसी शिक्षा देकर पालतू बनाओ कि वे तुम्हारी सहायता कर सकें, तुम्हारे लिए लाभदायक हो सकें।

यह मानवकी प्रकृति-नियमके भी विपरीत है, क्योंकि मानव प्रकृत्या मांसभक्षक नहीं है, अपितु भोजन आदिमें दोषपूर्ण व्यवहारके कारण वह इसका आदी हो जाता है। और यहां अदनके बागकी कथाकी नायिका हव्वा अथवा स्त्री समक्ष आती है, जो भोजनके द्वारा आदम अथवा पुरुषको मांस खिलाती है, परिणामतः आदम भी अदन बागकी एकता व शान्तमय स्थितिको नष्टभ्रष्ट करके उस बागका रक्षक होनेके बजाए मांसके लिए पशुओंको मारना शुरू कर देता है। तबसे इस पृथ्वीपर मृत्यु और भयका अवतरण हुआ और प्रकृति अथवा दैवी-नियमोंका उल्लंघन करके मनुष्यने अपने लिए कई तरहके रोगोंको उत्पन्न किया और अन्तमें इन रोगोंके द्वारा अपने लिए अकाल मृत्युकी भी उत्पत्ति उसने कर ली।

मनुष्यके दांत, पेट, पाचक ग्रंथियां, आंतोंकी लम्बाई, हाथ, इन्द्रियां, प्राणशक्ति और प्राकृतिक आदर्श इन सबकी बनावटसे यह स्पष्ट जाहिर हो जाता है कि मनुष्यका मांसभक्षण प्रकृतिमाताके नियमोंके सर्वथा प्रतिकूल है।

उसकी पाचनप्रणाली यह सिद्ध करती है कि मनुष्य न तो मांसभक्षक है और न वनस्पतिभक्षक, वह तो फलभक्षक है। मनुष्यके दांत भी स्वभावतः फलभक्षककी तरह होते हैं। उसी प्रकार उसका पेट भी, न वह मांसभक्षककी तरह होता है, न वनस्पतिभक्षककी तरह। उसकी आंतें भी न वनस्पतिभक्षककी तरह लम्बी होती हैं और न मांसभक्षककी तरह छोटी। इसलिए यह अच्छी तरह न वनस्पति ही पचा सकता है और न मांस ही। इसलिए इन दोनोंमें किसीको खानेके लिए प्रकृतिने उसे नहीं बनाया है।

यह सत्य है, चूंकि प्रत्येक प्राणी आदतके अनुसार बदलता रहता है, इसलिए इस पृथ्वीकी सतहपर सबसे शक्तिशाली मनुष्यने भी अनुचित भोजनकी आदत डाल ली; वह पकाकर खाने लगा। परिणामस्वरूप वह मांस और वनस्पतियाँ ज्यादा खाने लग गया, और उसका प्राकृतिक भोजन फल उसके लिए गौण बन गया।

इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि मनुष्यको प्रकृतिने केवल उसी तरहके भोजनके लिए बनाया है, जो खाया जा सके और उसकी प्रकृतिके अनुकूल बैठे। यदि वह पकाकर भोजनको कृत्रिम बनायेगा, तो निश्चयसे उसे दुःख भोगना पडेगा।

मांसभक्षणमें मनुष्यके लिए सबसे बडी आपत्ति उसकी आरोग्यता सम्बन्धी है। किसी प्राणीको मारनेसे वह एक शवमात्र रह जाता है, इसलिए वह भले ही कितना भी अच्छी तरह क्यों न पकाया जाए, आरोग्यदायक नहीं हो सकता। मांसभक्षणके विषयमें एक और बात सामने आई है, कि वह एक नशीला भोजन है, जो शरीरमें नशा पैदा कर देता है। वह शरीरमें ऐसे तत्वोंकी वृद्धि करता है, जो नशा या उत्तेजना पैदा कर इन्द्रियोंको बेकार बना देते हैं। इसलिए शारीरिक व मानसिक उत्तेजनाके बिना कोई भी मांस नहीं खा सकता।

रक्तवाहिनी नाडियोंका शक्तिहीन हो जाना भी मांसभक्षणका एक भयंकर परिणाम है। वह अपने प्रभावसे रक्ताणुओंको समाप्त कर देता है। मांसभक्षक प्राणी भी रक्तवाहिनियोंके बेकार हो जानेके रोगसे मर जाते हैं क्योंकि हमेशा मांस खानेके कारण उत्पन्न होनेवाले नशेसे उनके गुर्दे (Kidneys) ठीक तरह अपना काम नहीं कर पाते।

यदि यह कहा जाए कि उत्तरी ध्रुवपर केवल प्राणिका मांस ही उपलब्ध है और अमुक आदमी मांस खाकर बडा स्वस्थ है अतः मांसका भोजन उत्तम है अतः सबको यह अपनाना चाहिए। तो उसका यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि पृथ्वीके किसी भागमें अधिकांश मनुष्य यदि डाकू और हत्यारे हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि हत्या करना और डाका डालना अच्छा और अनुकरणीय है।

एक मनुष्य अनैतिक भोजन व कर्म करते हुए भी ऊपरसे सज्जन दीख सकता है। पर उसका यह आडम्बर बहुत समयतक टिकनेवाला नहीं है। क्योंकि भविष्यमें उसे अपने इन कर्मोंका सव्याजफल भोगना ही पडेगा। अष्ट-भोजन करनेका परिणाम उसे अन्तमें रोग, अकाल मृत्यु अथवा अयोग्य सन्तानके रूपमें अवश्य भुगतना पडेगा। उसे इस प्रकारके फल देते हुए भी प्रकृतिमाता उसके प्रति दया और न्याय ही प्रदर्शित करती हैं।

शाकाहारमें भी किसी तरहकी गडबडी हो जानेसे रोग पैदा होते ही हैं, पर वे रोग मांसाहारसे होनेवाले रोगोंकी अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली होते हैं। मांसाहारी अपने रोगके मूल कारणपर तो ध्यान देते नहीं, केवल ऊपरी तौरसे अपने रोगोंपर इलाजके द्वारा काबू पानेका प्रयत्न करते हैं। इससे होता यह है कि अव्वल तो वह रोग काबूमें आता ही नहीं और यदि आ भी जाये, तो थोडे समय बाद वह दूसरे रोगका रूप धारणकर बाहर प्रकट हो जाता है। क्योंकि उस रोगका मूल कारणका नाश अभी नहीं हो पाया है।

इसी प्रकार इंजेक्शन, टीका और अन्य दवाओं द्वारा रोगाणुओंको दबाकर या नष्टकर कृत्रिम आरोग्यता प्राप्त करना चाहते हैं, पर वे भी सब प्राकृतिक आरोग्यताके सामने व्यर्थसे हो जाते हैं। अतः यदि हम प्रकृतिमातासे झगडा न करते हुए उसके साथ एकता स्थापित कर प्राकृतिक नियम व जीवनके प्राकृतिक ढंगका अनुसरण करें, तो हम ज्यादा सुरक्षित रह सकेंगे।

प्रोटीनकी आड लेकर मांसभक्षी एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं, कि शरीरके लिए आवश्यकतत्व एमिनो-एसिड (Amino Acid) केवल पशुओंके मांसमें ही मिलता है तरकारीमें तो वह होता ही नहीं, इसलिए शाकाहारियोंके शरीरमें इस तत्वकी कमी होनेके कारण उनके शरीरमें आवश्यक तत्वोंकी न्यूनता रह जाती है। पर यह तर्क भी थोथा, निराधार और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासमात्र है।

मनुष्यको फलाहारी बनाते हुए क्या प्रकृतिमाताको मनुष्य शरीरके लिए आवश्यक इस तत्वका ज्ञान न था? यदि प्राचीनकालके मनुष्यों और शाकाहारी प्राणियोंमें इस आवश्यक तत्वकी कमी दिखाई देती, तो शाकाहारका खण्डन किया जा सकता था, पर उनमें इस तत्वकी कमी नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत, उन्हें यदि मांसभक्षणके सदृश कृत्रिम भोजनपर रखा जाए, तो उनके स्वास्थ्यमें विकृति

उत्पन्न हो जाती है और वे अकालमृत्युके शिकार बन जाते हैं। इससे बढकर आश्चर्यकी बात यह है कि प्राणियोंमें पाया जानेवाला एमिनो-एसिड तत्व भी शाकाहारी प्राणियोंमें ही पाया जाता है, सिंह, चीता, बिल्ली आदि मांस भक्षी प्राणियोंमें नहीं। जिनमें कि मांसभक्षी होनेके नाते अधिक मात्रामें मिलना चाहिए।

इसके अलावा शाकाहारी जाति तथा व्यक्तियोंके अनुभव भी इस अवैज्ञानिक विश्वासकी निरर्थकताको सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं कि शाकाहारी प्राणियों द्वारा अपने उपयोगके लिए बनाये गए एमिनो एसिडके बिना हमारा काम नहीं चल सकता।

अमेरिकाके डॉ. चित्तेण्डन और डेनमार्कके डॉ. हिण्डेडेने अपने प्रयोगोंके द्वारा यह सिद्ध किया है कि मनुष्यके स्वास्थ्यके लिए रोज ज्यादा से ज्यादा ५-६ ग्राम नाइट्रोजन और करीब एक औंस प्रोटीनकी आवश्यकता होती है। इस मात्रासे अधिक लेनेसे शरीर रोगी हो जाता है। लिबिग आंकडोंके अनुसार प्रोटीनकी कमसे कम आवश्यकता १५-३० औंसतक है।

दूसरे प्रयोगोंने यह बताया है कि मनुष्यके शरीरमें पाई जानेवाली नाइट्रोजनकी मात्रा चित्तेण्डेन और हिण्डेडे द्वारा बताई गई मात्रासे भी कम है।

इन प्रयोगोंमें एक दोष है, वह यह कि प्रोटीन की आवश्यक मात्राका निर्धारण पाश्चात्य मांसभक्षियोंके शरीरों पर प्रयोग करके किया गया है। इसलिए यह निष्कर्ष गलत है कि शाकाहारियोंको भी उतने ही नाइट्रोजनकी आवश्यकता है, जितने कि मांसाहारियोंको। मांसाहारियोंके प्रोटीन युक्त भोजनमें जीवित प्राणियोंके ऐसे तत्व विद्यमान रहते हैं, जो नशीले होते हैं. और उनके कारण गुर्दे और अन्य इन्द्रियोंको अपनी शक्तिसे अधिक परिश्रम करना पडता है।

इसके अलावा मारे गए प्राणीके मांसमें पाया जानेवाला प्रोटीन उतना शक्तिशाली नहीं होता, जितना कि शाकोंमें, विशेष कर बीजोंमें, पाया जानेवाला प्रोटीन। मांसमें मिलने वाला प्रोटीन मानवीय कोषाणुओंमें ज्यादा देरतक टिक नहीं पाता। और चूंकि वह प्रोटीन जल्दी खत्म हो जाता है, अतः उस प्रोटीनको पुनः शरीरमें डालना पडता है।

इसलिए शाकमें विशुद्ध प्रोटीन मिलनेके कारण एक शाकाहारी एक मांसभक्षी की अपेक्षा कम मात्रामें ही भोजन करता है। शाकमें नशीले तत्व न होनेके कारण उसके गुर्दे तथा अन्य इन्द्रियोंको ज्यादा परिश्रम नहीं करना पडता और वह स्नायविक शिथिलताका रोगी भी नहीं होता।

प्राणीय प्रोटीनका शीघ्र पच जाना भी अच्छा नहीं है। क्योंकि 'सरलतासे पाई हुई कोई चीज सरलतासे ही खो जाती है' यह कथन जितना व्यक्ति या उसके समाजके विषयमें सत्य है, उतना ही मानवीय शरीर-रस (Metabolism) के विषयमें भी सत्य है। शरीरमें जल्दी जल्दी रस उत्पन्न होनेका अर्थ है कि शरीरकी पाचन व निस्सारण प्रणालियों पर कामका दुगुना तिगुना भार पडना। पर यह इन्द्रियोंके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे सर्वथा अनुचित है।

यदि कोई मनुष्य यह सोचे कि जितना प्रोटीन वह चाहता है उतना उसे शाक व फलसे नहीं मिल पाता, तो उसके लिए दूध और दूधसे बने अन्यान्य पदार्थ हैं, जो उसे भरपूर मात्रामें प्रोटीन दे सकते है।

प्रोटीन सामान्य घाससे भी मिल सकता है और समुद्री घासमें तो खूब मिलता है। उन घासोंका रस निकालना मछली मारनेके व्यापारसे कहीं अधिक शुद्ध और पवित्र है। बीजों और घासोंसे भी अनेक प्रकारके दूधोंका निर्माण प्रायोगिक तौर पर किया गया था, जिनका उत्पादन तात्कालिक मांगको पूरा करनेके लिए बडे पैमाने पर किया जा सके। इस प्रकारका दूध नारियलको उसीके पानी व शहद में पीस कर निकाला जा सकता है।

यह एक भ्रान्त धारणा लोगोंमें है कि प्रोटीन अधिक मात्रामें होने पर भी कोई नुकसान नहीं करता। अधिक मात्रामें संचित होनेवाला प्रोटीन शरीरमें ईन्धनका काम देता है। पर यह काम शारीरिक शक्तिको खर्च करके ही किया जासकता है। इसलिए प्रोटीनसे मिलनेवाला फायदा भी गड्डेमें चला जाता है। इसके अलावा अधिक मात्रामें शरीरके अन्दर गया हुआ प्रोटीन शरीरमें एसिडको उत्पन्न करता है, और वह एसिड जाकर रक्तमें घुल जाता है; उसको सामान्यावस्थामें लानेके लिए शरीर अपने सुरक्षित चूना-तत्वका उपयोग करता है, लिहाजा शरीरमें उस तत्वकी कमी होजानेके कारण दांतोंको हानि पहुंचती है।

(क्रमशः)

सफलताके लिये सत्यता

(लेखक— श्री शिवनारायण सक्सेना, एम. ए., विद्यावाचस्पति, सि. प्रभाकर)

स्वर्णिम अतीत इस बातका साक्षी है कि आजतक मानवने जो प्रगति व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक की है उसका श्रेय सत्यको ही है। सत्यके अभावमें जीवनका कोई भी सिद्धान्त नहीं चल सकता। इसीलिये तो विश्वमें जबतक एक भी व्यक्ति जीवित रहेगा, तब तक राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, ईसा, महावीर बुद्ध और गाँधीके नाम सम्मानसे लिये जावेंगे। ऐसे महापुरुषोंके नाम लेते ही हमारा मस्तक श्रद्धासे उनके लिये झुक जाता है। वैसे तो आज झूठ बोलनेवालोंकी संख्या अधिक होगी, पर यह निश्चित है कि पृथ्वी सत्यपर ही टिकी है। बिना सत्य बोले किसी भी व्यक्तिका कार्य नहीं चल सकता। महात्मा गान्धीका सत्यमें अटूट विश्वास था। उनका कहना है " सत्य एक विशाल वृक्ष है उसकी ज्यों ज्यों सेवा की जाती है त्यों त्यों उसमें अनेक फल आते हुये दिखाई देते हैं "।

जब मण्डनमिश्र व जगद्गुरु शंकराचार्यका शास्त्रार्थ हुआ, जिसका निर्णय मण्डनमिश्रकी पत्नी भारती मिश्रने किया। शास्त्रार्थके उपरान्त भारती बोली " मेरे पति हार गये। " सोचो तो सही कि भारतीका चरित्र कितना उज्ज्वल था, पतिको हारते देखकर भी सत्यसे नहीं डिगी। सत्यकी महिमा सभी धर्म ग्रन्थोंने जोर जोरसे गाई है। चाणक्यनीतिमें स्पष्ट कहा है—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ५-१९

अर्थात्– सत्यसे पृथ्वी स्थिर है, सत्य ही से सूर्य तपता है, सत्य ही से वायु बहता है, और सब सृष्टि सत्य ही में स्थिर है। "

वास्तवमें जय भी सत्यकी ही होती है असत्यकी नहीं। पर आज तो झूठका साम्राज्य छाया हुआ है। बात बातमें अनावश्यकरूपसे झूठ बोलना एक फैशन सा बन गया है। ' कहाँ जा रहे हो ? ' ' क्या कर रहे हो ? ' के उत्तरमें ' कहीं नहीं ' और ' कुछ नहीं ' कहा जाता है जो, सर्वथा असत्यभाषणका प्रतीक है। कितने ही व्यक्तियोंका झूठ बोलनेका स्वभाव बन जाता है जो अनुचित है। नारायणोपनिषद्में भी सत्यकी महत्ता पर प्रकाश डाला है।

सत्यं परं परं सत्यम्।
सत्येन न स्वर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन।
सतां हि सत्यम्।
तस्मात्सत्ये रमन्ते।

—सत्य सर्वोत्कृष्ट है, जो सर्वोत्कृष्ट है वह सत्यस्वरूप है। जो सत्यका आश्रय लेते हैं वे स्वर्गसे आत्मोत्कर्षकी स्थितिसे, च्युत नहीं होते, सत्पुरुषोंका स्वरूप ही सत्य-मय होता है। इसलिये वे सदा सत्यमें ही रमण करते हैं।

धीरे धीरे प्रयास करनेसे सत्यभाषी होनेका स्वभाव पड़ सकता है। बिना कुछ प्रयत्न किये या अकर्मण्य बने रहनेसे क्या होनेवाला है ? असत्यसे उत्पन्न हुआ पाप अन्य पापोंकी अपेक्षा किसी भी प्रकार कम नहीं होता है। सत्यके द्वारा ही मानवमें अभयकी प्राप्ति होती है, सत्य ही अन्त तक टिकनेवाला है और सब तो बीचमें ही किनारा कर जाते हैं। बारबार असत्य भाषणकी कौन कहे, एक बारके झूठ बोलने मात्रसे समस्त गुण समाप्त हो जाते हैं। जैनधर्मके प्रमुख ग्रन्थ ' ज्ञानार्णव ' में उल्लेख किया गया है—

प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषाम्।
संघातं घातयत्येव सकृदप्युदिता मृषा॥

अर्थात्– एक बार भी बोला गया असत्य चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल और उदात्त गुणोंके समूहको नष्ट

कर देता है अर्थात् असत्य वचन ऐसा मलिन होता है कि वह चन्द्र-सदृश निर्मल गुणोंको भी मलिन कर देता है।

देश और विदेशके सभी महापुरुष सफलताका श्रेय सत्यताको ही देते रहे हैं, स्वामी रामतीर्थने कहा है— "सत्य सिर्फ मेरा नहीं है, आपका भी है। वह हिन्दूका नहीं हर किसीका है। यह किसीकी निजी सम्पत्ति नहीं, यह हर किसीका है और हरकोई इसका है।……अपने अन्दर सत्यके प्रकाशको सदा चमकता रखो, भय और प्रलोभनका शैतान तुम्हारे पास नहीं फटकेगा"।

सत्य किसी व्यक्ति विशेषकी सम्पत्ति नहीं है। यह तो एक प्रकारकी धरोहर है। इसे सभी धर्मोंका मेरुदण्ड भी यदि कह दें तो भी कोई अनुचित नहीं होगा। सत्य और असत्यका निर्णय तो प्रत्येक व्यक्ति आसानीसे कर सकता है, फिर सत्यमार्ग पर चलनेमें संकोच क्यों? मानसिक या सामाजिक सभी प्रकारकी शान्ति सत्यके माध्यमसे ही तो प्राप्त होती है जैसे प्रेम द्वारा क्रोध, मित्रता द्वारा शत्रुता वैसे ही सत्य द्वारा ही असत्य समाप्त होता है।

आज समाजमें प्रवचन कर्ता, कथा वाचक, रामायणी, उपदेशक और समाज सुधारकोंकी कमी नहीं है। फिर भी उनकी वाणीका प्रभाव श्रोताओं पर नहीं पडता, इसका मुख्य कारण यही है कि उनमें सत्यताका जरा भी अंकुर दिखाई नहीं पडता। इसीलिये उनकी बात इस कानसे सुन उस कानसे निकाल दी जाती है। यदि व्यक्तिका जीवन सत्यतासे परिपूर्ण हो, तो उसकी अमिट छाप समाजके व्यक्तियोंपर अवश्यमेव पडती है। इसीलिये राष्ट्रपिता गान्धी सत्य और अहिंसामें सदैव सत्यपर अधिक जोर देते थे।

अंग्रेजी कवि Keats का कहना है- "Truth is beauty and beauty is God" तात्पर्य यह कि सत्य ही ईश्वर है। सन्त कबीरने सत्यको सबसे बडा तप और झूठको सबसे अधम पाप माना है। विश्वास न हो तो उनके दोहे पर विचार कर लीजिए—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ता हिरदै गुरु आप॥

(कबीर)

महर्षि वाल्मीकिने भी रामायणमें इस ओर संकेत किया है क्योंकि वे जानते थे कि संसारमें सत्यमें ही तो ईश्वर है और धर्मका निवास भी सत्यमें ही है—

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।

(वाल्मीकि रामायण)

धर्मको जाननेवाले लोग सत्यको ही सर्वोत्कृष्ट धर्म बतलाते हैं।

सत्य कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं, जो कल परसोंमें ही किसी महापुरुषने बना दिया हो। यह तो सृष्टिके आदिका ही दैवी सिद्धान्त है। कैम्बवेलने कहा है "सृष्टिके आदिसे ही सत्य चिरसुन्दर रहा है। आततायियोंका वह शत्रु अवश्य है, किन्तु मानवका मित्र ही है।" असीमित सत्य छिपानेसे कभी नहीं छिपता यदि ऐसा दुस्साहस किया भी जावे तो वह निष्फल रहता है क्योंकि उसे दुराव और छिपावसे घृणा रहती है। भगवान् महावीरके अनुसार "सत्यपथपर बाधक भी साधक बन जाते हैं।" फिर क्यों न बाइबिलके उल्लेखको ध्यान देकर समझें "सत्य और दयाको मत त्याग, इन्हें अपनी ग्रीवापर मालावत् पिरो ले और अपने हृदयपटलपर अंकित कर ले।"

विजयश्री उन्हीं व्यक्तियोंको तो चूमती है, जो सत्यके सिद्धान्तपर अटक रहकर अपना जीवन यापन करते हैं। प्रारम्भमें चाहे असत्यभाषी आनन्द लूट लें, पर अन्तमें विजय तो सत्यकी ही होती है। ऋग्वेदमें भी समस्त बुराइयोंसे बचनेका केवल एक ही माध्यम बताया गया है—

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः। (ऋग्वेद)

सत्य भाषण द्वारा ही मैं अपनेको सब बुराइयोंसे बचा सकता हूँ।

अतः आर्योंकी श्रेष्ठ सन्तानों! असत्यके मार्गसे हटकर सत्यके मार्गको ग्रहण करके आगे बढो। तभी आपका और राष्ट्रका कल्याण सम्भव है। हिन्दी साहित्यसेवी डॉ. रामचरण महेन्द्रके विचारको गाँठमें बाँधकर अन्तिम समय भी सत्यके मार्गपर ही डटे रहें- उनकी बात भी सुन लीजिये—

"सत्यता और ईमानदारी धर्मात्मा मनुष्यके भूषण हैं ये ईश्वरकी सत्ताके द्योतक हैं। प्राणान्त होनेपर भी इन दिव्य गुणोंका ह्रास मत होने दीजिये।"

त्रिविध दुःख-निवृत्तिका परम साधन

पु रु षा र्थ

लेखक :
श्री ब्रह्मचारी जगन्नाथ पथिक, गुरुकुल कांगड़ी

★

महामना कपिलने अपने साक्षात्कारोंको सांख्यदर्शनका रूप देते हुए जीवमात्रकी संज्ञा 'पुरुष' रखी है। प्रत्येक जीव एक अज्ञातकालसे सूक्ष्म एवं कारण शरीरोंकी 'पुरी' में निवास करता आ रहा है। प्रत्यक्षरूपमें वह जीवित दशामें स्थूल देहमें, तथा मरणान्तर सूक्ष्मशरीरयुक्त कारण-शरीरमें रहता है। आभ्यन्तरिक दोनों शरीरोंके आच्छादक इस स्थूलदेहका परिवर्तन तो कर्मविपाकानुसार कुछ थोड़े कालके पश्चात् होता रहता है, किन्तु सूक्ष्म तथा कारण-शरीरोंका परिवर्तन बारम्बार नहीं होता; अतः इस पुरीके निवासी जीवात्माकी 'पुरुष' संज्ञा है। मुनिवरके साक्षात्कारके स्वरूपका सार यह है कि ज्ञानस्वरूप-चेतनतत्व, राग-द्वेष आदिक सब इच्छाओंसे रहित शुद्ध-बुद्ध-निरंजन आत्मतत्वके साथ जब कारणशरीरका सम्बन्ध होता है, तभी इस चेतन-शुद्ध-बुद्ध आत्मामें विकार दीखता है। फलतः इसमें इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, सुखदुखादि विकारोंका आविर्भाव दीखता है, अन्यथा यह चेतन आत्मतत्व, स्वरूपतः, ज्ञानस्वरूप एक शक्तिमात्र तत्व है। इतनेसे यह भी फलित होता है कि चेतनतत्व आत्मामें स्वभावतः अपनी कोई इच्छा तथा प्रयत्न आदि नहीं है, प्रत्युत 'कारणशरीर' के संयोगसे उत्पन्न हुए ये सब भावात्मक विकार उत्पन्न होते रहते हैं और इन विकारोत्पादक चित्तादिके संयोगसे उत्पन्न हुए ये सब भाव, चित्तके वियुक्त होनेपर तिरोभावको प्राप्त हो जाते हैं।

अब एक यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि चित्तके साथ आत्माका संयोग कब और क्यों हुआ था? इसका उत्तर महर्षि पतंजलिके योगदर्शनसे मिलता है- तासां अनादित्वं च आशिषो नित्यत्वात्- ४-१० सूत्र, इसको भाष्यकार व्यासने अपने शब्दोंके द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है— 'तासां वासनानां च, आशिषः यथमात्माऽऽशीर्मा' अर्थात् यह मैं नष्ट न हो जाऊं वा नष्ट न होऊं, ऐसी सदा बने रहनेकी आन्तरिक कामना इस चेतन-सत्ताके साथ एक अज्ञातकालसे चिपटी चली आ रही है; इससे यह भी ध्वनित होता है कि यह चित्त भी, जिसमें सदा ही जीवित बने रहनेकी कामना उत्पन्न होती है, आत्माके साथ उसी अज्ञातकालसे चला आ रहा है।

किन्तु क्या कोई प्राणी दुःखी और दीन अवस्थामें भी चिरजीवनकी आकांक्षा करता है? उत्तर होगा, नहीं। तो फिर यह चिरजीवनकी अभीप्सा क्यों अन्तरतममें छिपी बैठी है? विज्ञजनोंका इस विषयमें ऐसा अनुभव है कि प्राणीमात्र ही दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुखोपभोगके लिए जीवन चाहता है, न कि दुःख-दारिद्र्य भोगनेके लिए।

सुख-दुःखका स्वरूप

अब दूसरा प्रश्न उठता है कि ये सुख-दुःख क्या वस्तु हैं? अर्थात् इनका स्वरूप क्या है? और क्यों, कैसे उत्पन्न होते हैं? यह जीव दुःखोंकी निवृत्ति और सुखोपभोग क्यों चाहता है? क्या यह दुःख सर्वथा नष्ट होकर सर्वथा सुखमें परिणत हो सकता है? इसके विषयमें मनीषीजनोंकी साक्षात्कारपूर्वक यह खोज है कि त्रिविध दुःखोंका कारण अर्थात् उत्पादक यथार्थबोधका अभाव, अज्ञान, तम व अविद्या है; अविद्याके अस्त हो जानेपर दुःखोंका तिरोभाव हो जाता है। तो क्या दुःखाभावका नाम ही सुख है? यहांपर मतभेद मिलते हैं। कई आचार्य दुःखाभावको ही सुख मानते हैं;

दूसरे इस अभावात्मक वस्तुसे भिन्न, सुख वा आनन्दको एक भावात्मक पदार्थ मानते हैं। जैसे भूखरूपी दुःखकी निवृत्ति तो आमाशयमें किसी नलिका आदिके द्वारा पहुंचा दिए गए आहारसे कर दी जा सकती है; किन्तु भोजना-स्वाद-सुख तो रुचिर-रसयुक्त भोजनको मुखके द्वारा खाकर, रसनासे रसास्वादन करते हुए ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार दुःखका अभावमात्र ही सुख नहीं है; किन्तु सुख, हर्ष, आल्हाद, आनन्द एक भावात्मक पदार्थ है जो कि दुःख निवृत्तिके पश्चात उपायान्तरसे प्राप्त किया जाता है अथवा प्राप्त होता है।

अब इसके आगे सुख-दुःखका लक्षण करते हैं; 'अनु-कूल-वेदनीयं सुखम्' और 'प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम्' अर्थात् जो पदार्थ अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करनेवाला है, वही, अनुकूल होनेसे सुखोत्पादक और आवश्यकतापूर्तिके प्रतिकूल होनेसे दुःखदायक बन जाता है एवं अनुकूलताका नाम सुख और प्रतिकूलताका नाम दुःख है। परन्तु दुःख उत्पन्न होता है तम, अज्ञान व अविद्यासे, ऐसा दर्शनशास्त्रोंका सिद्धान्त है; योगदर्शन उस अज्ञान वा अविद्याका रूप बताता है, 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैव अस्मिता' (२-६) और 'अनित्य-अशुचि दुःख अनात्मसु, नित्य शुचि सुख आत्मख्यातिः अविद्या' २-५ सूत्र। अर्थात् सब प्राकृतिक नश्वर पदार्थोंको नित्य सब अपवित्र पदार्थोंको पवित्र, सब दुःखों वा दुःखोत्पादक पदार्थोंको सुख वा सुखद, और अनात्मतत्वको आत्मा जानना-मानना, अविद्या है, अज्ञान है। इसे ही शब्दान्तरमें ऐसा भी कह सकते है कि जिस पदार्थमें जो गुण नहीं है, उसमें तो वह गुण मान लेना, एवं जिस पदार्थमें जो गुण हैं उसे न देखना; अर्थात् दोषको गुण और गुणको दोष मान बैठना, अज्ञता है, अविद्या है। इसका दृष्टान्त प्रत्येक जनसाधारण है, प्रत्येक मनुष्य अपनी नश्वर, स्थूल देहको क्रियात्मक रूपसे नित्य, गन्दगीसे भरे इस कलेवरको पवित्र, कष्टप्रद देह तथा विषयोंको सुखद तथा सुख, एवं जडदेहके साथ चेतन जैसा व्यवहार करता है, कर रहा है। इस नश्वर देहको सदा पुष्ट बनाए रखनेके लिए अनेक प्रकारके पापा-चरण करता है, दुःखप्रद रूप-रसादि विषयोंका सेवन सुख-बुद्धिसे ही करता है और इस जडदेह तथा अन्तःकरणमें चेतनाध्यास-आत्मभावकी भावना बनाए हुए है-ये सब लक्षण अविद्याके ही तो हैं। इसी अज्ञताके कारण मनुष्य बहुधा सुखको दुःख और दुःखको सुख मान कर कर्म करता है और अन्ततोगत्वा उसे सुखके स्थानमें दुःख ही हाथ लगता है। इस कारणसे अब सुख-दुःखकी परिभाषा भी भिन्न हो जाती है। हम नित्य देखते हैं कि कई कर्मों तथा साधनोंको प्रेयमार्गगामी-विलासी व्यक्ति दुःखदायक समझता है जैसे, तपश्चरण, योग, याग, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, आदिको; किन्तु श्रेयमार्गगामी पथिक इन्हींको सुखदायी समझकर इन्हें बडी श्रद्धा प्रेम और उत्साहसे करता है।

विवेकी के लक्षण

इसीलिए योगेश्वर पतंजलि लिख गए हैं कि वस्तुतः जो विवेकी हो गया है, उसे तो 'परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च सर्वं दुःखं विवेकिनः' २-१५; अर्थात् प्रकृति पुरुषका यथार्थबोध जिसे हो गया है, उसके लिए संसारमें दुःख ही दुःख है; वह दुःख परिणाम, ताप, संस्कार, एवं गुणोंकी विभिन्न वृत्तियों-प्रवृत्तियोंमेंसे किसी न किसी रूपमें सदा बना ही रहता है। इससे एक अन्य तथ्य भी सन्मुख आ जाता है कि त्रिगुणात्मक जड-प्रकृतिके सभी विकार जब दुःखोत्पादक हैं, तो स्वभावतः प्रकृतिका संसर्ग व संयोग भी दुःखप्रद होता है। क्योंकि जो गुण 'कार्य' में होता है वह कारणमें भी अवश्य विद्यमान रहता है, कहीं गुप्त, कहीं प्रकट रूपसे। इस प्रकार हम इस परिणामपर पहुंचते हैं कि 'प्रतिकूल वेदनीयम् दुःखम्' का पद इस भावको ध्वनित करता है कि चेतनस्वरूप आत्म-तत्वसे सर्वथा भिन्न अज्ञानमयी जड प्रकृति स्वभावतः प्रति-कूल होनेसे ही दुःखमयी है; अतः इसके संग वा संयोगसे उत्पन्न होनेवाला अज्ञान ही दुःख रूप है। एवं आत्माके अनुरूप जो महाचेतन और ज्ञान-प्रकाश स्वरूप है, वह तथा उसका संग सुखोत्पादक है-'अनुकूल वेदनीय होनेसे। इस प्रकार अब एक ही प्रश्न उत्तरके लिए शेष रह जाता है कि इस दुःख महोदधिको तर कर आनन्दके महासागर तक पहुंचनेके लिए कौनसा उपाय व तरणी है? सांख्य उत्तर देता है- 'त्रिविध दुःखानां अत्यन्त निवृत्तिः अत्यन्त पुरुषार्थः' अर्थात् पुरुषका अर्थ अथवा एकमात्र काम्यवस्तु दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति है।

निवृत्तिके उपाय

इन दुःखों या क्लेशोंके निवृत्तिका उपाय योग बतलाता है कि– 'सति मूले तद् विपाको जाति, आयुः भोगः' २-१३ अर्थात् इन क्लेशोंके अत्यन्ताभावका उपाय है इन क्लेशोंके उद्गमस्थान तथा निवासस्थानको ही मिटा देना, क्योंकि जडके बने रहनेपर तो ये क्लेश मनुष्य, पशु पक्षी आदिकके शरीरोंके रूपमें, एवं शरीरोंके द्वारा भोगनेयोग्य सुख-दुःख तथा इनको भोगते रहनेके काल 'आयु' के रूपमें इस जगत्में प्रत्यक्षरूपसे दीखते हैं। एवं ये सुख-दुःख भी धर्माधर्मके हेतुसे होते हैं। अतः 'ते प्रतिप्रसव हेयाः सूक्ष्माः' (२-१०) अर्थात् वे स्थूल क्लेश (क्रियायोगके द्वारा) सूक्ष्म करके करने चाहिए, पुनः आगे 'ध्यानहेयास्तद् वृत्तयः' (२-११) निर्विचार समाधिमें उत्पन्न विवेक ख्यातिकी अग्निके द्वारा उत्पन्न तेजसे, असम्प्रज्ञात समाधिमें स्थित होकर उनकी वृत्तियोंके संस्कारोंको दग्ध-बीज करके प्रतिप्रसव-पुनरुत्पत्तिके अयोग्य बना देना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि क्लेशोंके प्रतिप्रसवका एकमात्र उपाय आत्मसाक्षात्कारके द्वारा उत्पन्न विवेक है; इस विवेक-प्राप्तिका क्रम है श्रवण, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार। इनके विवेचनको समझ लेने पर हम आगे बढ सकेंगे।

१ **श्रवण**— श्रवण श्रोत्रोंका व्यापार है, और श्रवणका अर्थ सुनना है, यह सभी जानते हैं। किन्तु आप्त विद्वानोंके प्रवचनों द्वारा बताए गए अपने अनुभवोंको सुनकर ही मनुष्यको सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है; लौकिक हो वा पारलौकिक, प्रत्येक पदार्थ विषयके परिज्ञानके लिए श्रवण मुख्य साधन है। शैशवकालसे लेकर मरणासन्न समय तक मनुष्यको इस श्रवणकी आवश्यकता बनी रहती है। सामान्यतया बहुश्रुत व्यक्तियोंको विविध विषयोंका सामान्य ज्ञान अधिक हो जाता है, भले ही वे किसी एक विषयमें पंडित हों; किन्तु ऐसे बहुश्रुत व्यक्ति मानव-समाजमें प्रतिष्ठा पा जाते हैं। प्रत्येक बालक वा शिशु सर्वप्रथम श्रवण-द्वारा ही नाम-रूपोंका ज्ञाता बनता है, तदनन्तर उसे किसी पदार्थका विज्ञान प्राप्त करनेके लिए मनन निदिध्यासन आदिका सहारा लेना पडता है।

पठन भी इसीका एक अंग है × शास्त्र-पठनका दूसरा नाम स्वाध्याय भी है; यह उन व्यक्तियोंके अनुभव तथा विचारोंका श्रवण सा होता है, जो हमारे संमुख नहीं हैं वरन् परोक्षमें हैं अथवा भूतकालमें थे और हम उनका सत्संग किन्हीं कारणोंसे कर ही नहीं पाए; स्थानकी दूरीके अथवा उनका देहान्त हो जानेके कारण। वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य दर्शन शास्त्रादि ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे प्राप्त होनेवाला बोध भी श्रौतज्ञान है। श्रौतज्ञान वा शाब्दिक बोध ऐसा ही है जैसे किसी नेत्रहीन व्यक्तिको हाथी, घोडे आदिके विषयमें काल्पनिक व्याख्यान सुनाकर एक अस्पष्ट सा ज्ञान करा दिया जाए और वह अपनी कल्पनाके आधारपर उन-उन पदार्थोंकी अस्पष्ट-धुंधली सी मूर्ति बना ले।

२ **चिन्तन**— अब इससे अगला दूसरा व्यापार चिन्तन है, जो कि विज्ञान-प्राप्तिमें सहायक होता है। चिन्तन करना चित्तका व्यापार है, जो श्रवण, दर्शन अथवा अनुमानके आधारपर स्मृतिके हृदयगत चित्तमें प्रच्छन्न वा गुप्तरूपसे होता रहता है। यह स्मृति, एक प्रकारकी क्रियाविशेष है जो कि सुने, पढे, देखे ज्ञानके पडे सूक्ष्म अंकनों वा प्रतिबिम्बोंकी प्रतिच्छायाओं (बीज; वा संस्कारों) के आधारपर चित्तमें होती है। श्रवण आदिके द्वारा प्राप्त साधारण ज्ञानके पश्चात् जब स्वभावतः उसके विषयमें जो तर्क-वितर्क उठते हैं तथा तद्विषयक अभिनव जिज्ञासा उभरती है, वह जिज्ञासा संस्कारोंकी पुनरावृत्तिके कारण ही होती है। ये संस्कार चित्तभूमिमें पडे बीजके समान, अदृश्य वा सुप्तसे रहते हैं, और जैसे खेतमें पडे बीज पानी खाद आदिका सहारा पाकर अंकुरित होकर दीखने लगते हैं; इसी भांति ये संस्कार भी किसी उद्बोधक दृश्यको पाकर स्मृतिका सहारा लेकर जाग पडते हैं और अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। चित्तपटलपर पडे इन संस्कारोंका मूर्तरूप तबतक धुंधला सा अस्पष्ट ही रहता है, जबतक कि इनका 'साक्षात्कार' समाधि-द्वारा नहीं होता। इनका साक्षात्कार भी तभी होता है जब चित्तके सहकारी 'अहंभाव' का सम्पर्क, स्मृतिवृत्तिके साथ होता है; यह 'साक्षात्कार' ऐसा ही होता है जैसे नेत्रोंसे भ्रान्तिहीन प्रत्यक्ष देखा कोई पदार्थ होता है। ये सभी संस्कार प्रसुप्त तनु, विच्छिन्न, उदार इन ४ रूपोंसे अन्तरतम चित्तमें रहते हैं; (योग २-४) जब तक इन संस्कारोंकी प्रबोधक सामग्री नहीं मिलती, ये

× यद्यपि यह व्यापार तो नेत्र तथा वाणीका है।

उदार रूपमें भोगप्रद नहीं बनते, तबतक यदा-कदा स्मृति इन्हें उलटती-पुलटती रहती है- इसीको मनोराज्य कहते हैं; तभी हमें प्रायः कुछ बातें एकदम स्मरण हो आती हैं और फिर छिप जाती हैं- इसी चित्तभूमि वा चित्तमण्डलमें विलीन हो जाती हैं। यही हमारे इस चिन्तनका स्वरूप है। अब यदि हम इस व्यापारको अपने अन्तरतम चित्तमें समाधि-द्वारा पैठकर देख सकें तो यह निश्चय हो जाएगा कि बहुधा हमें किसीकी स्मृति आ-आकर फिर क्यों लुप्त हो जाया करती है। यह देखा गया है कि समाधिकी निश्चल अवस्थामें ये संस्कार ऐसे ही भासते हैं, जैसे किसी गंभीर जलाशयके स्थिर स्वच्छतम जलके नीचे पड़ी वस्तुएँ दीखती हैं; जब अहंभाव, चित्तवृत्तिके साथ मिलता है, तभी इन संस्कारोंका दर्शन तथा साक्षात्कार होता है, अन्यथा इनका कोई अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। ये विभिन्न प्रकारके संस्कार विभिन्न रंग-रूपके परमाणुओंके सदृश दीखा करते हैं, कभी कीटाणुओं जैसे भी दीख पड़ते हैं, यह दर्शन योगीके 'दिव्यनेत्र' के द्वारा होता है। जैसे एक नेत्रहीन व्यक्तिके लिए 'रूप' नामकी वस्तु नहींके समान है क्योंकि रूपकी प्रतीतिका साधन 'नेत्र' उस अन्धव्यक्तिके पास नहीं है, यदि अन्धेको नेत्र मिल जाएँ तो वह रूपको सत्य मान लेगा; ठीक इसी प्रकार जबतक ये संस्कार 'स्मृति-वृत्ति' का आश्रय नहीं पाते, अस्तित्वहीन प्रसुप्तसे पड़े रहते हैं। स्मृतिका सहारा पाकर इन संस्कारोंका जागरण ऐसा होता है जैसे कोई निद्रितव्यक्ति प्रसुप्तावस्थामें स्पर्शसे वा शब्द सुनकर जाग तो पड़े, किन्तु वह यह न समझ सके कि यह स्पर्श वा शब्द किसका था, और कैसा था। ऐसी ही अवस्था जनसाधारण की है, जिनकी दिव्यदृष्टि अभी खुली नहीं है।

भोगोन्मुख संस्कार, स्मृतिवृत्तिमें हमारा सहारा 'अहं' के द्वारा प्रकट होते हैं; अर्थात् अहंवृत्ति चित्तको यह बताती है कि अमुक संस्कारको मैं पहचानती हूं, यह वासना भोग देना चाहती है; तब स्मृतिवृत्तिकी सहायतासे, सब संस्कारोंमेंसे भोगप्रद संस्कारको अहंकार ग्रहण कर लेता है। तब जलबिन्दुमें घुसकर वायु जैसे उसे फुलाकर बुदबुद बना देता है, वैसे ही स्मृति, उस संस्कारको मूर्त-रूप सा दे देती है; और इष्ट-अनिष्ट वे दोनों प्रकारके संस्कार, वायुके झोंकोंसे प्रदीप्त हुए अंगारके समान, स्मृति-की सहायतासे चमकते रहते हैं— यही वासनाओंका जागरण है। इन सचेत हुए संस्कारोंको भी जबतक किसी उद्बोधक, कार्यप्रारम्भक सामग्रीका प्रश्रय नहीं मिलता, जागते हुए भी, ये चित्तमें पड़े करवटें बदलते रहते हैं, और जैसा कि ऊपर लिखा है- स्मृति इन्हें उलटती-पुलटती रहती है। इसीको ही मनोराज्य कहा जाता है।

यह अहंभाव भी इन प्रमुख वा जागृत संस्कारोंको ऐसे ही आकर्षण कर लेता तथा कार्यप्रवृत्त कर देता है, जैसे हम सोए हुए अनेक व्यक्तियोंमेंसे, कामपर जानेवाले व्यक्ति-को पहचानकर कार्यपर लगा देते हैं अथवा कार्यपर भेज दिया करते हैं। इस व्यापारमें चित्त तथा अहंकार परस्पर मिलकर कार्य किया करते हैं। संक्षेपतः इतना समझ लेनेके पश्चात् अब मननको समझें।

३ मनन— मुख्य रूपसे यह मनका व्यापार है, जो कि बुद्धिकी अध्यक्षतामें न होकर, केवल इन्द्रियोंके साथ मिलकर मन ही करता है। इसीलिए यह व्यापार बहुधा अबुद्धता युक्त तथा अव्यवस्थित होता है, इसीको संकल्प-विकल्प भी कह देते हैं। परन्तु विचारने अथवा स्मरण करनेके अर्थोंमें प्रयुक्त होनेवाले लोकप्रसिद्ध 'मनन' शब्द-का अर्थ हमें उपयुक्त नहीं प्रतीत होता; क्योंकि 'मन' में ये दोनों ही गुण नहीं हैं। जैसे कि 'बुद्धि' के अनेक गुण-दोषोंको 'मन' के साथ जोड़ दिया गया है, वैसे ही ये गुण भी 'मन' के साथ जोड़कर 'मनन' शब्दके ऊपर कथित अर्थ मान लिए गए हैं। 'मन' केवल एक कार्य करता है- आदान-प्रदान करनेका; चाहे वह इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त बाह्यविषयोंका ज्ञान हो, अथवा चित्तमण्डलसे आए संस्कार हों। मन, इन दोनों प्रकारके कर्म वा ज्ञानके प्रतिबिम्बोंको ग्रहण करके अपनी स्वामिनी 'बुद्धि' को अर्पित करता रहता है, और बुद्धिके द्वारा दिए गए आदे-शोंको जहां-तहां पहुंचाता रहता है; यही मनकी दो वृत्तियां, संकल्प-विकल्प नामसे कही जाती है (संकल्प-विकल्पात्मकं मनः), जो चित्त तथा बुद्धिकी वृत्तियोंके सदृश ही है।

चित्त, मन, बुद्धि, इन्द्रियों, अहंकारका पारस्परिक होने-वाला व्यापार सवितर्क समाधिकी उच्चतम अवस्थामें साक्षात् वा प्रत्यक्ष होता है; कोई भी उच्च साधक इसे देख सकता है। हृदयगत चित्तभूमिमें पड़े अनेक संस्कारोंमें-

से जिनकी बारी कर्मक्षेत्रमें उतरनेकी आ जाती है, वे जलमें उठते बुद्‌बुदोंके समान ही स्मृतिके रूपमें उभरने लगते हैं। तब अहंकारके द्वारा बुद्धिमण्डल (सूक्ष्म शरीरगत विज्ञान-मय कोशकी स्वामिनी बुद्धि, जो कि मस्तिष्कमें है) की ओर फेंके गए ये भोगोन्मुख संस्कार सूक्ष्म शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं। यहांके द्वारपाल 'मन' का इनको प्रश्रय मिलता है, 'मन' इन संस्कारोंसे प्रतिबिम्बित होता है; और बुद्धिसे सहायता पानेके लिए 'मनोर्मियों' को छोडता है। यही मनकी संकल्पात्मक वृत्ति है। जो किसी पदार्थके ज्ञानको ग्रहण करते समय उदित होती है; यही 'मनोर्मि-रूपा' मनोवृत्तिका उदय होना है। इस अवस्थामें मनको जबतक बुद्धिका पूर्ण सहयोग नहीं मिलता, तबतक 'मन' इन संस्कारोंको इधर-उधर उलटता-पुलटता तथा टटोलता रहता है कि इनका क्या किया जाए। यह मनकी विकल्पा-त्मक वृत्ति है; इस प्रकार मनकी इन दोनों क्रियाओंका नाम-संकल्प विकल्पात्मिका वृत्ति है, और यही 'मनन' है।

परन्तु जाग्रत अवस्थामें होनेवाला मनका यह व्यापार ही 'मनन' कहा जा सकता है, इस मननमें बुद्धिकी अपेक्षा 'मन' का व्यापार अधिक मात्रामें होता है। जागृतकालमें बुद्धिकी सहायतासे ही मन, उन संस्कारोंको ही नहीं, वरन् कर्म या ज्ञान मात्रको शृंखलाबद्ध-सुव्यवस्थित रूपमें मूर्त बनाता है; नेत्र मूंदकर मनन करते समय जब अपने मित्र या शत्रु आदि जिस-तिसकी स्मृति उचित होती है, तब उस समय उन सबकी आकृतियां 'मानस नेत्रों' के सन्मुख आती चली जाती हैं और एक चित्रपट (सिनेमा)के समान सब दृश्य सन्मुख होता सा दीख पडता है-ऐसा सभीने प्रायः अनुभव भी किया है; एक बार नहीं, अनेक बार। किन्तु इसका कारण अथवा स्वरूप आन्तरिक साक्षात्कारसे स्पष्ट होता है- वैसे नहीं होता। इसके विपरीत एक दूसरी भी अवस्था है जबकि मन करता तो ऐसा ही व्यापार है, किन्तु होता सब अस्तव्यस्त है, वह है स्वप्नावस्थाका व्यापार।

निद्रित अवस्थामें जब कुछ संस्कार हृदयगत चित्त-मण्डलसे बाहर निकलकर, मस्तिष्क स्थित 'ब्रह्मरन्ध्र' में आ घुसते हैं, तब बुद्धि तो तमः प्रभावसे अर्धमूर्च्छित सी होती है, मन जाग्रत अवस्थामें होता है; इसलिए मन उस समय इन्द्रियोंकी सहायतासे, चित्तमण्डलसे आए उन संस्कारोंके साथ खेलने लगता है। अर्थात् जाग्रतके समय देखे-सुने लिए कर्मोंके संस्कारोंकी स्मृतिसे प्रेरित होकर यह मन इन्द्रियोंको गतिशील बनाकर पुतलियोंके समान नचाने लगता है; तमः प्रभावसे अर्धमूर्च्छित सी बनी बुद्धि, मनपर पूर्ण नियन्त्रण नहीं कर पाती; फलतः उन-उन संस्कारोंकी स्मृतिसे प्रतिबिम्बित हुआ मन, उस वासनासमूहको मूर्त बनाने लगता है। विवेकके अभावके कारण स्वप्नगत सब व्यापार अव्यवस्थित तथा विरूपावस्थामें ही दीखा करता है; यदा-कदा बुद्धिका संयोग पा कर सुख-दुःखकी विवेका-त्मिका अनुभूति भी स्वप्नमें होती रहती है। जैसे जलमें डूबने और अग्निमें जल जानेके भयसे दुःख तथा आकाशमें उडने आदि जैसी क्रियाओंके होते समय प्रसन्नताकी अनु-भूति बुद्धिके संयोगसे होती है। स्वप्नावस्थामें बुद्धि पूर्णतया तमोगुणसे आच्छादित नहीं हुई होती, इसी कारण सुख-दुःखकी अनुभूति भी हो जाया करती है, सर्वथा तमोगुणी निद्राकी अवस्थामें यह अनुभूति बुद्धि नहीं कर सकती, किन्तु होती है और स्मृति-रूपसे चित्तमें जा बैठती है। अब जिन संस्कारोंके भोगदानकी बारी नहीं आई होती, वे पुनः प्रसुप्त होकर हमारे चित्तके साथ सदा संयुक्त बनी विश्वव्यापी संस्कार-धाराके साथ ही समष्टिचित्तके बने विश्वकोशके महार्णवमें जा पडते हैं।

स्वप्नावस्थाका अत्यधिक व्यापार सूक्ष्म इन्द्रियोंके द्वारा मन ही करता-कराता है, मनकी प्रेरणा वा सहायताके बिना कोई भी इन्द्रिय कुछ भी व्यापार नहीं कर सकती यह सिद्धान्त है। फिर चाहे वह व्यापार स्वप्नावस्थाका हो अथवा जाग्रत कालका, और वह व्यापार सूक्ष्म-इन्द्रियोंका हो किंवा स्थूल-इन्द्रियोंका। स्वप्नमें कभी-कभी स्थूल इन्द्रियोंसे भी यह मन कार्य करा बैठता है जैसे स्वप्नदोष-का हो जाना, अथवा हाथ पैरोंको चलाने लगना वा कभी मल-मूत्रका त्याग हो जाना; एवं वाणीसे अपशब्द आदि कुछ भी प्रलाप कर देना अथवा बक देना इत्यादि। भले ही स्थूल इन्द्रियोंका यह व्यापार भी अस्त-व्यस्त ही होता है, परन्तु होता है मनः संयोगसे ही। स्वप्नकालमें यद्यपि अनुभूत विषयोंका स्मरण अथवा पुनरावृत्ति होती है तथापि यह स्मृतिजन्यज्ञान भी, मनके द्वारा प्रवृत्त हुई सूक्ष्म अथवा स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है। इस प्रकारसे मनका मुख्य कर्म आदान-प्रदान है। 'मनन' इसी व्यापारका एक अंश है। (क्रमशः)

पारिवारिक-एकताके तत्व

(श्रीमती शक्ति शर्मा, बी. ए.)

⊙

संसारमें कौन ऐसा है जो शान्ति नहीं चाहता। बड़े-बड़े राष्ट्र जो संसारमें प्रमुखका स्थान रखते हैं, शान्तिके लिये उत्सुक रहते हैं। राज्यके साथ-साथ व्यक्तिगत जीवनके लिये भी शान्ति आवश्यक है। सच तो यह है कि इसके बिना राज्यमें शान्ति आ ही नहीं सकती। इस लेखमें हमें यही देखना है कि पारिवारिक शान्तिकी व्यवस्थामें कौन-कौनसी बातें योग देती हैं?

पारिवारिक शान्ति ही विश्वशान्तिका आधार है, यह बताते हुये सुप्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशसने कहा है, "चरित्रकी पवित्रतासे परिवारमें प्रेम बढ़ता है, प्रेम सुख और शान्तिको जन्म देता है। जब परिवारमें शान्ति होगी तो अपने आप ही राष्ट्रमें सुव्यवस्था आ जाती है।" इससे पता चलता है कि परिवारके लिये शान्तिका महत्त्व क्या है। विश्वशान्तिके लिये सभीको, चाहे वह बड़े अथवा छोटे राष्ट्र हों, एक दूसरेके योगकी आवश्यकता होती है। परिवाररूपी लघु विश्वमें भी यही सत्य है। परिवारकी शान्ति उसमें एकताके बिना असम्भव है। अपने परिवारकी प्रतिष्ठा और सम्मानको यदि हम अपना पूज्य देव मानें, तो आपसका प्रेम उसकी पूजाके लिये वह माला है जिसका एक-एक मनका परिवारके प्रत्येक सदस्यके योगसे बनता है। बड़े व्यक्तियोंका इसमें विशेष उत्तरदायित्व है। जहां छोटोंको आवश्यक है कि वह बड़ोंका मान करें उनके अनुशासनमें रहें, वहां बड़ोंको भी यह मानना होगा कि छोटे इतने "छोटे" नहीं कि उनकी उपेक्षा ही कर दी जाये। वास्तवमें बड़ोंका महत्त्व तो छोटों ही के कारण है। मुझे संकोच नहीं यह माननेमें कि बड़ोंकी आज्ञा मानना और उनके अनुशासनमें रहना यह छोटोंके ही हितमें है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि "मिथ्या बड़प्पन" जतानेके लिये बड़ोंके लिये भी उन्हें उचित, अनुचित सब कुछ कहना एकदम ठीक नहीं है। अनुशासनके लिये यह आवश्यक है कि बड़े अपने विशेष उत्तरदायित्वको समझें और बच्चोंके हृदयोंमें यह विश्वास उत्पन्न करनेमें वह सफल हों कि उन्हें यदि कभी क्रोध सहना पड़ता है तो उसके मूलमें उनके हितकी ही भावना है। क्रोधमें आकर यदि हम कठोर वचन कहते हैं और वाणीका संयम खो देते हैं तो इसका विपरीत प्रभाव होता है। भला इतना तो विचार हम कर सकते हैं कि जब हम स्वयं ही अपनेको वशमें नहीं रख सकते और कटु बात कहनेसे नहीं चूकते, फिर बच्चोंसे मीठा बोलनेकी आशा दुराशा नहीं तो क्या है। मेरा परिचय एक ऐसे परिवारसे है जहां बच्चोंको माता केवल डांट फटकार ही देती है। उत्साह बढ़ानेके लिये प्यारके दो शब्द कभी भूलकर भी नहीं कहे जाते। उन्हें मांका वह प्यार मिला ही नहीं जिसकी चर्चा पुस्तकोंमें है और जो सभी प्यारोंमें सबसे श्रेष्ठ माना गया है। परिणाम इसका यही है कि बच्चोंमें उनके प्रति आदरका भाव नहीं है, पढ़नेमें रुचि नहीं है और काम उनसे वही होगा जिसके लिये मना किया जाये। इस प्रकार हमने देखा कि परिवारमें शान्ति और व्यवस्था लानेके लिये बड़ोंको संयममें रहना और फिर बच्चोंको नियंत्रणमें रखना कितना आवश्यक है।

पारिवारिक कलह एक ऐसी समस्या है जो प्रायः सभी घरोंमें पाई जाती है। इसका समाधान भली प्रकार शायद बहुत ही कम लोग कर पाये हैं। कलहका दुर्भाग्यसे कुछ अनुभव मुझे भी है। सम्पत्तिके विभाजनको लेकर होनेवाले झगड़े कैसे होते हैं, वह सम्बन्धोंपर क्या प्रभाव डालते हैं, इससे मेरा परिचय नहीं है। किन्तु जिन झगड़ोंसे न चाहनेपर भी मेरा सम्बन्ध जुड़ गया है, वह एक दूसरेकी प्रकृति ठीकसे न समझनेके कारण हुई भ्रान्तिके कारण ही हुये हैं। किसी अत्यन्त साधारण बातके कारण हृदयमें किसी भ्रमको स्थान देनेसे होनेवाला क्लेश देखने सुननेवालेको आश्चर्यमें तो डालेगा ही, किन्तु परिणाममें इससे कहीं अधिक

दुःखदायी होता है। इस श्रेणीमें रखे जानेवाले झगडे प्रायः सास-बहू, ननद-भाभी अथवा देवरानी जेठानीमें ही होते हैं।

जब घरमें नई बहू आती है, उसके लिये नये घरका वातावरण एकदम अपरिचित होता है। वहां लोगोंकी आदतोंसे वह अनभिज्ञ होती है। अपनी समझसे कई बार ठीक काम करनेपर भी दूसरोंकी दृष्टिमें वह काम यदि जंचा नहीं, तो उसपर वहीं तीखे व्यंग्य प्रहार शुरु हो जाते हैं। उसको शान्तिसे बताया जाना चाहिये कि किस प्रकार काम उचित रीतिसे हो सकता है। यह कहनेके स्थानपर, "काम करना सिखाया नहीं मां-बापने, शादीकी फिक्र पडी थी। कैसी फूज्ज् लडकी मढ दी है हमारे मत्थे... " कहा यह जाना चाहिये, "बहू, तुमने भूल कर दी, कोई बात नहीं। हमसे भी हो सकती है भूल। देखो, आगे काम करो तो ऐसे करना... ।" यह एकदम असम्भव है कि एक नया व्यक्ति सभी प्राणियोंके मनको समझ ले, थोडे ही समयमें और उनके मन चाहे काम हो जायें। आखिर ठीकसे समझनेमें कुछ समय तो लगता ही है। उसकी उचित प्रतीक्षा करनेके लिये धीरज तो होना ही चाहिये। उसके प्रति प्यार दिखाया जाना चाहिये। प्यार एक ऐसी चीज है जिससे शत्रु भी मित्र बन सकता है। फिर बहू जो आई है, वह तो अपनी ही बनकर आई है।

आवश्यकता इस बातकी है कि हम भ्रमको दूर करें। यदि ऐसा नहीं किया गया तो भ्रमकी दीवार इतनी ऊंची और पक्की हो जायेगी कि तोडनेपर भी नहीं टूट पायेगी। आरम्भमें कुछ समय तक आनेवाली बहूके लिये नया वातावरण हो सकता है अनुकूल न हो। जिन सम्बन्धियोंको वह छोड आई है, उन्हें यादकर आंसु भी बहा सकती है। उसकी यह उदासीनता स्वाभाविक है। उसकी इस दशासे नये परिवारमें उसके घुलने-मिलनेकी योग्यताका अनुमान लगाना उसके साथ न्याय नहीं होगा। यह निर्णय देनेके स्थान पर कि उसे नया घर और नये लोग पसन्द नहीं, उसे समझाया जा सकता है, "देखो, अब तुम्हारा यही घर है। मत समझो कि जो सम्बन्ध तुम पीछे छोड आई हो वह तुम्हें यहां नहीं मिलेंगे। तुम्हारी सास मां बनकर आशीर्वादका अंचल तुम्हारे सरपर रखेगी। ससुर-पिता बनकर सब प्रकार तुम्हारी रक्षा करेंगे। भाईबहनका प्यार तुम्हें देवर और नन्द देंगे। यह सब लोग तुम्हारे ही तो होंगे।" ऐसी बात जहां होगी, वहां बहूकी मजाल नहीं कि वह अलग होनेकी बात सोचे। इसके विपरीत वह सोचेगी। "मैं एक कुलीन बहू हूं। जिस घरमें मेरी डोली आई है, मैं वहांसे कहीं नहीं जा सकती। वहांसे तो मेरी अर्थी ही निकल सकती है।"

प्रकृतिका आपसमें न मिलना भी कलहका कारण हो जाता है जब कि ऐसा होना नहीं चाहिये। इसमें किसे इन्कार है कि अनावश्यक क्रोध अच्छा नहीं होता। किन्तु घरमें दोषोंकी ओर ध्यान देनेके स्थान पर निभानेकी बात ही मुख्य होती है। यदि घरमें कोई क्रोधी हो तो हमें देखना यह है कि इसका स्वभाव ही ऐसा है या क्रोध इसे द्वेषके कारण आता है। यदि द्वेषके कारण है तो निभाव हो नहीं सकता और यदि हृदयमें कोई बुरी भावना नहीं है और वाणीपर संयम न होनेसे तीखी बात मुंहसे निकलती है तो दूसरे व्यक्तिको यही शोभा देता है कि वह मौन रहे और क्रोध करनेके स्थानपर शान्त रहे। क्रोधी जब शान्त हो जाये तब नम्रतासे इसे समझाया जा सकता है। मौन सबको साधता है, मेरे लिये तो कमसे कम इस बातकी सत्यता अनुभव सिद्ध है। हमें ध्यान रखना है कि सबको एक दूसरेके प्रति परिवारमें कुछ न कुछ त्याग करना होता है।

त्यागकी शक्ति जिसमें जितनी अधिक होगी, उतना ही वह परिवारकी शान्तिमें अधिक योग दे सकेगा।

पुत्रके विवाहके पश्चात् माताकी यह आम धारणा हो जाती है कि बहूने लडकेको वशमें कर लिया है और वह घरमें उसी-का होकर ही रह गया है और सबकी उपेक्षा करने लगा है।

यदि कहीं ऐसा है तो यह बात उचित नहीं है। पत्नी घरमें आकर पतिका ही प्यार नहीं, केवल औरोंका भी स्नेह और सहयोग चाहती है। वह औरोंसे नया सम्बन्ध जोडने आती है न कि पुराने सम्बन्धोंको तोडने। उसे यत्न यही करना होगा कि यह सम्बन्ध मजबूत हो। अपने पति या मां ही क्या सभीके प्रति अपने कर्तव्यको पूरा करे। इसके साथ ही बडोंको भी यह समझना है कि पति यदि पत्नीको प्यार देता है तो वह उसका अधिकार दे रहा है, इसमें अनुचित क्या है? उन्हें समझना होगा कि उसके पतिके साथ उनका जो सम्बन्ध है, उसे पत्नी बिलकुल स्थिर रखना चाहती है किन्तु दुर्भाग्यसे यदि कुछ अन्तर भी पड जाये तो उनका काम तो चल सकता है किन्तु पत्नीको यदि पतिका प्यार नहीं मिल पाया, तो वह उसी लताके समान हो जायेगी, जो जडसे उखड कर पडी हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवारकी एकताके लिये सभीको अपना अपना योग देना है। अनुशासन सभीको मानना होता है। एक दूसरेको ठीकसे समझना होता है। परिवारके हितमें सभीको कुछ न कुछ त्याग करना पडता है। छोटोंको बडोंकी आज्ञा माननी ही होगी। इसके साथ ही बडोंको भी यह मानना होगा कि वह अपने बच्चोंको उपदेशसे नहीं, आचरणसे बनायें। जुबानकी मिठासमें उनका बडप्पन है, रोब जमानेमें नहीं। अपने स्थानपर दूसरोंके दोषोंपर अधिक ध्यान देनेवाले दुनियांके लोग किसी इन्सान-के शरीरको फुटों और इंचोंमें नापनेके बजाय, हृदयकी विशालतासे देखना सीख लेंगे, तब सचमुच धरती स्वर्ग बन जायेगी। अभी तो यह स्वप्न ही है। कब साकार होगा, यह मैं तो क्या, कोई नहीं कह सकता।

हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये शास्त्रीय योग्यताओंकी मान्यता

मुंबई सरकारने सरकारी और अ-सरकारी हाईस्कूलोंमें शिक्षकोंकी नियुक्तिके लिये **स्वाध्यायमंडल, पारडी** की तीन **साहित्यिक परीक्षाओं**को मान्यता दी है। इनकी योग्यता निम्न प्रकार स्वकृत की गई है—

स्वाध्यायमंडल किल्ला पारडी (जि. सूरत) की **साहित्यिक परीक्षाएं**—

साहित्यप्रवीण— **एस. एस. सी./मेट्रिक** के समान है,

साहित्यरत्न — **इण्टर आर्ट्स** के समान है, और

साहित्याचार्य— **बी. ए.** के समान है।

बंबई तथा मध्यप्रदेश सरकारने हमारे संस्कृत प्रचारमें परीक्षाओंको मान्यता देकर जो हमें प्रोत्साहित किया है उसके लिये हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

—परीक्षा-मन्त्री

भावी पीढीकी नींव खोखली क्यों ?

(लेखक— श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी)

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो ।
(प्रत्येक दिशासे शुभ एवं सुन्दर विचार हमें प्राप्त हों ।)

स्वर्णिम अतीतसे मानवमात्रका यह पवित्र जीवन लक्ष्य रहा है, लेकिन गत कुछ समयसे यह लक्ष्य Eat drink and be merry (खाओ, पीओ, मौज करो ।) तक आपहुंचा है । परिणाम स्वरूप हमारी नैतिक स्तरकी दृष्टिसे हमारा मूल्यांकन किया जाय तो हम किसी भी पशुसे अच्छे नहीं हैं । देखते ही देखते जगद्गुरु राष्ट्रका नैतिक स्तर जो इतनी पतनकी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है, इसका क्या कारण है ? जो ' गुरु ' राष्ट्रके महान् पथप्रदर्शक माने जाते रहे हैं, पूज्य रहे हैं, वे ही गुरुवृन्द समाजकी भावी पीढी नवयुवकों की निगाहमें ' चांदीके चन्द टुकड खोर ' क्यों बनगये हैं ? जगत्को ' चरित्र ' की शिक्षा देनेवाले थे हम ! फिर आज हम स्वयं ही क्यों चरित्र-हीन होगये हैं ? देखिये, स्वर्णिम अतीतमें महर्षि मनुने घोषणा की थी ।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ॥

(पृथ्वीके समस्त मनुष्य भारतके ऋषियोंसे ' चरित्र ' की शिक्षा प्राप्त करें ।)

तो ' चरित्र ' की शिक्षा देनेवाला राष्ट्र ही आज क्यों चरित्र हीनताके मार्गपर बढकर नैतिक पतनका मार्गका अव-लम्बन प्रशस्त कर रहा है ? क्यों वह अपने ही हाथों भारतीय संस्कृतिके दिव्यतम तत्वोंको नष्ट कर रहा है । आइये, इसी तथ्य पर विचार विनिमय किया जावे और कुछ हल भी खोजा जाय ।

भारतीय गुरुका पतन ! भारतका पतन !

उबलते चावलोंका एक कण देखा जाता है । ठीक इसी प्रकारसे यदि किसी राष्ट्रके नैतिक स्तरका पता लगाना हो तो किसी एक शालाके गुरु (अध्यापक) की स्थिति जान लेने पर उस राष्ट्रकी सारी प्रगति-अवनति की जानकारी आप प्राप्त कर लेंगे । क्योंकि गुरु वह चाबी है, जिससे कि मानवकी प्रगतिका ताला खुलता है । यदि चाबी खो जाती है, घिस जाती है, विकृत हो जाती है, टूट जाती है, टेढी हो जाती है, तो ताला खुलना असम्भव हो जाता है । इसी लिये तो हम चाबीको बडी ही साज-सम्हालसे रखते हैं, क्योंकि यदि चाबी किसी दूसरेके हाथ लग जाती है, तो वह सारेके सारे माल खजाने पर हाथ साफ करता है । तो आइये, हम भी भारतीय शाश्वत आनन्दमय जीवनकी प्रगति की चाबी, भारतीय गुरुकी स्थिति पर पुनः विचार करें ।

एक समय था जब कि इस पुनीत राष्ट्रमें गुरुका स्थान ईश्वरसे भी बडा माना जाता था और हम वन्दनाके स्वरोंमें गाते थे—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

नारदपुराण

(जो पूर्ण प्रभासे युक्त हैं. जिनमें सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार करानेमें समर्थ हैं, ऐसे श्रीगुरुको नमस्कार है)

जो अज्ञान अंधकारमें ज्ञानरूपी अंजनकी शलाका द्वारा नेत्रोंको खोल देते हैं, ऐसे श्री गुरुको नमस्कार है ।)

लेकिन आज हमारे देशमें गुरुको वह पद प्राप्त नहीं है, जिसका कारण है, राष्ट्रका चारित्रिक पतन ! इतिहास साक्षी है, किसी भी राष्ट्रका पतन उसके चारित्रिक पतनसे होता है । भारतके पतनका भी प्रमुख कारण यही है । लेकिन चारि-त्रिक पतन तब होता है, जब देशकी शिक्षण व्यवस्थामें घुन लग जाता है । शैक्षणिकस्तर गिरनेका कारण गुरुका पतन ही है । गुरुका पतन क्यों हुआ ? यह अत्यन्त खेदजनक किन्तु विचारणीय और ज्वलंत प्रश्नचिह्नके रूपमें हमारे समक्ष है ।

आज हम गुरुका महत्त्व नहींके बराबर समझ रहे हैं। पाश्चिमकी चकाचौंधमें हम अपना स्वरूप भूल गये हैं, और हमी क्यों स्वयं गुरुजन भी अपना स्वरूप भूल रहे हैं। फलस्वरूप करोडों रुपयोंकी योजनायें शासन द्वारा शिक्षा प्रसारमें खर्च करनेके बाद भी 'विद्या ददाति विनयं' का स्वरूप नजर नहीं आ रहा है। भावी पीढीका निर्माण, जो शिक्षाका लक्ष्य था, वह तो दूर रह गया, उल्टी नींव ही खोखली हो रही है, फिर उस पर महल खडा करें भी तो कैसे। अतः यह आवश्यक है कि हम भावी पीढीके निर्माण हेतु 'गुरु' को पुनः यथोचित पद दें। तभी उसके स्नेहाशीर्वादसे भारतका उद्धार संभव है। अतः आइये, गुरुत्वकी प्राचीनतम परम्परा एवं पतनके कारणोंको देखते हुए इस राष्ट्रव्यापी रोगकी औषध खोजें।

गुरु-शिष्य संबंधोंकी परम्परा

शस्यश्यामला जगद्गुरु राष्ट्रकी पुनीत गुरु-शिष्य परम्परा बहुत उत्कृष्ट रही है। यहांके गुरु-शिष्य आश्रमोंकी पवित्र वातावरण पूर्ण अमराइयोंमें प्रातः-सायं संध्या, अग्निहोत्र और प्रार्थना करते थे। तब यही एक पुनीत संदेश गीत, एक दिव्य भावना भरी ऋचा, आश्रमोंमें सुनने को मिला करती थी—

" ॐ सह नाववतु,
सह नौ भुनक्तु,
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु,
मा विद्विषावहै ॥ "

(हम परस्पर मिलकर रहें, साथ साथ भोगें, परस्पर सहयोगसे पराक्रम करें, हमारा पारस्परिक ज्ञान तेजयुक्त हो, हम किसीसे भी विद्वेष न करें।)

यह थी हमारी पुनीत गुरु-शिष्य सम्बन्धोंकी परम्परा! यह कब संभव है ? जब कि गुरु-शिष्य आपसमें राग-द्वेष आदिसे दूर रहें। परस्पर सौमनस्यसे रहें। इस 'शांतिपाठ' से स्पष्ट है कि गुरु-शिष्य भावका अनुशासकसूत्र है " मा विद्विषावहै "— हम परस्पर द्वेष कदापि न करें।

गुरुदेव भी समय समय पर आश्रम निवासी छात्रोंको एक पवित्र संदेश किया करते थे—

" यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। "

(हे शिष्य ! यद्यपि हम तेरे गुरु हैं, तथापि तू सदैव हमारी जो अच्छी बातें हैं, हमारे जो अच्छे आचरण हैं, सद्कर्म हैं— उन्हींका अनुसरण कर, उन्हीं पर आरूढ रह ! हमारे दोषोंका अनुसरण मत कर !)

इतनी सुन्दर गुरुशिष्य परम्परा थी हमारी। गुरु-शिष्यका आपसमें एक दूसरेसे कोई भी दुराव--छिपाव नहीं था। एक दूसरेको स्नेहसे अपना बनाये रखते थे।

लेकिन परिवर्तनशील समय बदला और हम पाश्चात्य सभ्यताकी भौतिकवादी चकाचौंधमें पैठते जाकर गुरुशिष्यकी इस यशस्वी अनुकरणीय परम्पराको समाप्त करते चले गये और आज इसीका दुष्परिणाम पग पग पर नजर आ रहा है।

...और सच पूछा जाय तो भारतीय गुरुका स्थान, मर्यादा सब उस समय समाप्त हो गया, जब कि मानसिक शक्तिको शारीरिक शक्तिने पछाड दिया। मुसलमानी आक्रमणोंके साथ ही इसका श्रीगणेश होता है। ब्रिटिशकालमें यह पतन-पराकाष्ठा सुरसाके मुंहकी भांति बढती गई और गुलाम भारतका अध्यापक पिंजडेमें कैद तोते सा बनकर नये सिरेसे नया ज्ञान रटाने लगा। और गत डेढ-दो सौ वर्षोंमें करीब करीब सारे राष्ट्रमें विदेशी शिक्षण-पद्धति, विदेशी ज्ञानका अखण्ड साम्राज्य हो गया। गुरुका उद्देश्य अब मनुज-देव संस्कृतिका निर्माण न रहकर ५ घण्टेकी ड्यूटीमें रटी-रटायी विद्याको बच्चोंको रटाना मात्र रह गया और इस प्रकार भारतीय गुरुका महत्त्वपूर्ण पद छीन लिया स्कूल टीचरने।

...और स्कूल टीचर और बढा और पश्चिमकी चकाचौंधमें उसका त्याग-तपस्यामय जीवन वासनामय बनता गया। अब उसे केवल अपनी ड्यूटी बजाना था और वह ड्यूटी चन्द चांदीके टुकडोंके बदले कुछ घण्टोंमें बंध गई। यजुर्वेदमें निर्देशित राष्ट्रकी महानतम जबाबदारीसे वह अपने आपको अलग ही अनुभव करने लगा।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।
(पुरोहित (गुरु) राष्ट्रको जागृत रक्खें।)

यह वैदिक निर्देश अब पूरा हित करनेवाले पुरोहित (गुरु)के दिमागसे निकल गया। अब तो उसे अपने सीमित वेतनमें अपनी दुनियांदारीको चलाना है। पाश्चात्य शिक्षाविदोंकी क्या, वहांके मजदूरों तककी नकल करके अपने आपको 'बाबू' कहलानेकी लालसा उनमें जग गई। इस प्रकार वे बढे ! दूधसे अमृत पेयको छोड उसे चायका विकृतरूप लेते और सुराका पान करनेमें ही वे अपने जीवनका परमानन्द

अनुभव करने लगे। कक्षामें वे लैक्चर झाडते हैं " बच्चों! बिड़ी सिगरेट पीना बुरी चीज है, इसलिये इससे बचना ही चाहिए। "

...और शालाकी सीमासे बाहर होते ही वे सिगरेटोंके धुयेंसे गुब्बारे बनाते, अश्लील फिल्मी गीत गुनगुनाते, वे राष्ट्र निर्माता शिक्षक स्वयंको रोड-रोमियोज, (सडक के मजनूं) बना डालते हैं। फिर उनका अनुकरण हमारी भावी पीढीके सजीव स्तम्भ हमारे नन्हें मुन्हें क्यों न करें? लेकिन सारा दोष उनका ही यह बात भी नहीं है। हमारा समाज भी इस दोषका महान् भागीदार है।

शांतिके समयमें, समाजमें गुरुका महत्वपूर्ण स्थान रहा है और उसे महत्वपूर्ण स्थान दिये जानेपर ही देशका नवनिर्माण कर सकना संभव होता था। देशका वह उस समय नवनिर्माण करता है, सामुदायिक जीवनमें उन्नति होती है। लेकिन हमारे देशमें आजतक ऐसा नहीं हो पाया है। नेतागण आज भी अपना अपना उल्लू सीधा करके पनप रहे हैं, पल रहे हैं और मनुज, देश और संस्कृति-निर्माता गुरुको अब भी पद-चुम्बन ही करना पड रहा है। श्री रामचन्द्र शुक्लने सत्य ही लिखा है—

" भारत-गुरुकी हत्याका सारा पाप निरर्थक नेताओंपर ही है। "- इतिहास कहेगा भावी भारतसे।

गद्दीपर आसीन नेता आनन्दकर रहे हैं। गुरु किसी गलीमें अपने बाल-बच्चोंको दो सूखी रोटीके टुकडे देनेके लिए मारा मारा फिर रहा है, ट्यूशन कर रहा है। नेताओं, अफसरों और हेडमास्टरोंके घरोंके फेरे दे रहा है। जरूरत पडनेपर तरकारी और मसाला पहुंचा रहा है। यह है वह गुरु, जो शांतिकालका नेता हुआ करता है। यही है वह गुरु जिससे लोग आशा लगाये बैठे हैं, स्वर्ण युगकी, रामराज्यकी! इस निरीह-प्राणीको, जिसकी केवल हड्डियां ही मात्र शेष हैं, लोग भावी भारतका निर्माता कहते हैं। "

वास्तवमें जब तक भावी भारतके राष्ट्र निर्माता गुरुजनोंकी प्रतिष्ठा पुनः प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, भारत अपनी दुर्दशासे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे राष्ट्र बडे बडे विशाल लोहपथ बना ले चाहे करोडों, मील लम्बे राष्ट्रीय मार्ग बना ले, बडी बडी विशालतम फैक्टरियां बना ले— क्योंकि नवनिर्माण की नींव मशीनें नहीं होतीं, विशाल बांध नहीं होते, विशाल लोहपथ और राष्ट्रीय मार्ग नहीं होते, वरन देशकी जनता होती है। नन्हें नन्हें पुष्पसे बच्चे राष्ट्रके भविष्य होते हैं, उनका चरित्र राष्ट्रका प्राण होता है। मेरे मित्र! राष्ट्रका चरित्र मशीनों और भौतिक साधनों की पूर्तिसे नहीं बनता है! राष्ट्रीय चरित्र जो बनता है, गुरुके स्नेहसे, गुरुके आशीर्वादसे! और गुरुका आशीर्वाद मिल सकता है, सद्निष्ठासे, पूर्ण श्रद्धासे, गुरुपर विश्वास करके। इसलिये आइये हम गुरुजनोंके प्रति अपने मनमें अंकुरित गलत धारणाओंको आज ही मनसे निकाल डालें, क्योंकि महर्षि गौतमका मत है—

मंत्रे, तीर्थे, द्विजे, देवे, दैवज्ञे, भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी॥

(मंत्र, तीर्थ, द्विज, देवता, ज्योतिषी, औषधि और गुरु- इनमें जिसकी, जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।)

अतः गुरुके प्रति हम श्रद्धावान् बनें, क्योंकि ' श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्! ' इसके साथ ही आज गुरु शिष्यकी इस ज्वलन्त समस्याको हमें पूर्णरूपेण समझ कर ही इसका निराकरण करना है: क्योंकि यह समस्या भी आज राष्ट्रके सामने उसी प्रकार है, जैसी दरिद्रता, बेकारी, अशिक्षा, रुढिवादिता आदि की। इसके साथ ही इसे बिना सुलझाये प्रगतिकी आस लगाये सिरपर हाथ धरे बैठे रहना एक मृगतृष्णा मात्र ही होगी। अतः राष्ट्रके कण कणमें व्याप्त इस पाश्चात्य सभ्यताके कारण प्रतिपलपोषित ' अविश्वास ' और ' नास्तिक ' धारणाको हमें आज ही समूल नष्ट कर देनेके लिये कमर कस कर खडे हो जाना है।

इसके साथ ही यदि हम चाहते हैं कि भारत हमारी पुनीत जन्मभूमि, पुनः ' जगद्गुरु ' के गौरवास्पद पद पर प्रतिष्ठित हो, तो हमें स्वयं सर्वप्रथम अपना ही आदर्श स्थापित करना होगा। इसके साथ ही साथ गुरुजनोंका भी यह कर्तव्य है कि वह स्वयं भी अपनी महानतम जवाबदारीको वहन करनेमें अपने आपको समर्थ बनावें, स्वयं चरित्रवान् बनें, स्वयं प्राचीन गुरु परम्पराके तुल्य अपना गौरव प्रदर्शित करें। तभी राष्ट्रीय चरित्रकी स्थापना संभव है। तभी भावी पीढीके निर्माणकी नींवका खोखलापन समाप्त हो सकेगा।

मानवताका विकास

(लेखक— श्री लालचन्द)
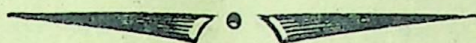
मानवता ही मानवका धर्म है। जिस व्यक्तिमें मानवताका मान है मानवताका आदर है, वही सच्चे अर्थोंमें मानव है। मानव मनुष्य है मननशील प्राणी है। मानवताकी परख परस्परके व्यवहारसे ही होती है। यदि मनुष्यमें स्वार्थ है तो निश्चय रखिये कि एक स्वार्थके अन्दर होनेमें ही संकीर्णता, तुच्छता, ईर्ष्या, घृणा, स्पर्धा और असहनशीलता, आतुरता, व्याकुलता, अपने परायेका भाव, विषमता, पृथक्ता, राग, द्वेष आदि सभी दोष दिखाई देंगे। गुण और दोष सभी इकट्ठे गुटोंमें रहते हैं। एक सद्गुणको व्यवहारमें लानेसे सभी सद्गुण आपमें आ जाएंगे। सत्यके साथ पवित्रता, मनकी संशुद्धि, तत्वकी संशुद्धि, बुद्धिकी निर्मलता, चेतनता, सावधानता, ऋजुता आदि सभी सद्गुण स्वयं बिराजेंगे।

सत्य और प्रेमके समन्वयमें आनन्द स्वयंमेव आ जाता है। ऋताचारमें न केवल सत्य प्रत्यक्ष होता है अपितु मनुष्यमें तेज, ओज, मन्यु, साहस और उत्साहका समावेश होता है। सारांश यह कि यदि हम एक दिव्य गुणको चरितार्थ करते हैं, तो अनेकों दिव्यगुण हममें प्रवेश करते हैं। धैर्यके साथ, सहिष्णुता, सहनशीलता, सद्विवेक, स्थिरता, दृढता, पराक्रम आदि दिव्य गुण साथमें आते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण भी इकट्ठे रहते हैं। एक अनृतके साथ अनैतिकता, अश्लीलता, अशिष्टता, अभद्रता, झूठ, कपट, छल आदि अनृतके साथी अवश्य उसके साथ आते हैं।

मनुष्यमें सद्गुण रहें, तो वह एक सच्चा विश्वासके योग्य प्रेमपात्र व्यक्ति है। एक सत्य, सभी सद्गुण साथमें ले आता है। ऋतके आचरणमें शक्ति शान्ति आत्मबल आदि गुण साथ आते हैं। इसीलिए ऋत और सत्य जो भगवान्के नियम हैं और इन्हींके द्वारा सारी जगती सुनियमित रूपसे चल रही है। अध्यात्ममें आर्यत्व और देवत्वके भी यही दो गुण आधार हैं। आर्यमें श्रेष्ठत्व है, आर्य एक श्रेष्ठ सज्जन है। देवमें भी वही गुण हैं। देव पुरुषका मुख उज्ज्वल शरीर निरोग और पूर्ण स्वस्थ रहता है। देवत्व और आर्यत्व एक ही हैं। जो आर्य है उसमें अर्य भगवान्के गुण हैं, जो देव है उसमें भी उसी देवाधिदेव महादेवके दिव्य गुण हैं।

आर्य और देव महामानव हैं। उनमें मानवताका विकास हुआ है। आर्य श्रेष्ठ व्यक्ति है उसमें श्रेष्ठता है उसमें आत्म सम्मान है, वह अभय रहता है, उससे भी कोई भय नहीं खाता। आर्यमें प्रेम चरितार्थ होता है, उसके व्यवहारमें माधुर्य है, साथ ही कर्तव्य भावना और संयम है। आर्य मर्यादा पुरुषोत्तम है, देवमें दिव्यता है, तेज है, ओज है, वेग है, उत्साह और साहस है, आर्य श्रीमान् है, श्रीयुक्त है, साधनसंपन्न है, आर्य श्रीहीन नहीं होता है, उसमें जीवनकी चमक है, उसमें उज्ज्वलता है, इसकी आत्मज्योतिमें परमज्योतिका प्रकाश है।

आर्य अमृतपुत्र है। आर्य अमृतमय भगवान्के अत्यन्त निकट है। आर्य बन जाता है प्रेमपात्र प्रेममय भगवान्का। आर्य सफलजीवनवाला उत्कृष्ट व्यक्ति है आर्यमें छलकपट नहीं, आर्य कभी किसीकी हानि नहीं चाहता, आर्य सबका शुभ ही चाहता है। अर्य भगवान्का सुपुत्र आर्य है। उसका अपने परमपिता अर्यसे निकटतम सम्बन्ध है।

जिस मनुष्यका अर्य भगवान्से परम सामीप्य है, जिसका निकटतम सम्बन्ध अर्यसे है वह आर्य है, वह श्रेष्ठ है उसमें सभी श्रेष्ठ गुणोंका विकास हुआ है। श्रेष्ठगुण-संपन्न व्यक्ति ही आर्य है। आर्यमें सभी सद्गुण हैं। वह सत्वगुणमें स्थिर है वह स्थितप्रज्ञ है वह दृढ है, स्थिर है। उसकी

बुद्धिमें श्रद्धा है उसकी बुद्धिमें सत्यको धारण करनेकी क्षमता है। उसके पवित्र हृदयमें प्रेमधारा बहती, है उसका हृदय मधुर जीवनरस-प्रेमरससे पूर्ण है। आनन्दमय भगवान्का उपासक अवश्य आनन्द अनुभव करता है।

यदि कोई मनुष्य हताश है निराश है तो अवश्य उसका संग अच्छा नहीं। श्रेष्ठ मनुष्य सदा आशायुक्त रहता है। उसे भगवान्में पूर्ण विश्वास इसलिए है कि वह स्वयं अपनेमें विश्वास रखता है, उसमें आत्मविश्वास है। जिसमें आत्म-विश्वास है, वह अवश्य ही एक विकसित मानव है, उसमें संकीर्णता नहीं दीखेगी, उसके व्यवहारमें उदारता होगी, तभी वह परम उदार परमदयालु प्रेममय भगवान्को अपना सखा, अपना नित्यका साथी, अपने हृदयका वासी अनुभव करता है। मनुष्यमें आत्मविकास हो रहा है इसकी सबसे बडी पहचान ही यह है कि उसमें आत्मविश्वास है।

जिसमें आत्मविश्वास है उसीमें भगवान्में भी विश्वास होता है। स्वार्थी ओछे लोग ही सन्देह करते हैं समझदार लोग सावधान रहते हैं। जो लोग आपसमें कपटछल करते नहीं कजाते, वे विकासोन्मुख नहीं हैं। वे अपनी तुच्छता की संकुचित दृष्टिसे ही सबको देखते हैं। उनमें प्रेमदृष्टि नहीं होती। संशयात्मा मनुष्यका दिनोदिन ह्रास होता है वह समाजमें शंकित रहता है। उसे सभी अन्यजन उसकी हानिपर तुल हुए ही दीखते हैं, क्योंकि उसने विश्वास करना नहीं सीखा और केवल स्वार्थपूर्ति ही उसने अपने जीवनका ध्येय बना रखा है। ऐसे लोग धनलोलुप अत्यंत लोभी होते हैं और कामी क्रोधी भी होते हैं। उनमें श्रद्धा नहीं होती। वे कभी व्रतको नहीं धारण करते। अनृतको ही वे अपनी कमाईके लिए आवश्यक समझते हैं। ऐसे लोगों-का नैतिक पतन हो चुका है, वे नीचे ही नीचे जा रहे हैं। ऐसे लोगोंकी मनोवृत्ति पर तरस आता है। केवल अपनी स्वार्थपूर्ति करनेवाला व्यक्ति कभी समाजमें आदर नहीं पाता और केवल अपना ही उदर पूर्ण करता हुआ वह गिरता ही जाता है।

मानवताका भाव राष्ट्रीयतासे भी अधिक उदार है। हमारे करीब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और विश्वबन्धुत्वके प्रचारक रहे थे। उनकी दृष्टिमें मानवता थी। महात्मा बुद्धकी शिक्षा तथा भगवान् महावीरके आदेश थे कि प्राणीमात्रसे हमारे सम्बन्ध दया और प्रेमके रहें। दया प्रेम और उदारता अहिंसाके रचनात्मक रूप हैं। यहां तो लोग अपने परिवार तक ही सीमित हैं, अनेकों केवल व्यक्तिगत स्वार्थमें ही रम रहे हैं वे लोग असुर हैं जो केवल अपना ही आत्मपोषण करना पर्याप्त समझते हैं।

भारतमें व्यावहारिक उदारता आजकल बहुत कम दीख रही है। पारिवारिक जीवन वैसा मधुर नहीं है जैसा कि सर्वोन्नतिके लिए और सर्वहितके लिए नितांत आवश्यक है। निशाचर राक्षस और असुर भी मनुष्य ही हैं। आजकल रात गए तक फिरते रहना, रातको भोजन करना और प्रातः देरसे जागना एक फैशन हो गया है। प्रभातके तारेका दर्शन तो उषासे पहले कोई विरला व्यक्ति ही करता होगा, उषाके समयतक भी लोग नहीं जागते। पारिवारिक उपासना जिससे परिवारका समूचा जीवन मधुमय और सुनियमित तथा स्नेहयुक्त होता है और आपसके हृदयोंमें एकवाकी भावना चरितार्थ होती है आजकल किसी किसी ही परिवारमें होती है।

यदि हम पृथकताके भावोंको बढावा देवें और अनृतको चतुराई समझकर अनृत व्यवहार और व्यापारकी निन्दा न करें, तो समझना चाहिये कि हमारी नैतिकता, हमारा ऋता-चार दुर्बल है, हमने नैतिकताका प्रसार करनेकी उपेक्षा ही कर रखी है। यदि नैतिकताको क्रियात्मक रूपमें व्यवहार और व्यापार तथा विहार (मनोरंजन) में हम नहीं सम्मिलित करते, तो हमारी नैतिकता सजीव नहीं, केवल दिखानेकी है और दंभके लिए है। हमारे विहार (मनो-रंजन) में यदि शालीनता नहीं और उसमें अश्लीलतापर कोई बुरा नहीं मनाता, तो समझना चाहिये कि हमारी मानवताके प्रासादका मुख्य स्तंभ हिल गया है और टूटने ही वाला है।

अश्लीलता और अनैतिकता कभी मनोरंजनका भाग नहीं हो सकती। मानवता केवल आपसके मेलजोलका ही नाम नहीं है और ना ही केवल मेलजोलसे बिना चरितके, बिना नैतिकताके कुछ काम ही होगा। मिलना, मिलकर काम करना अच्छा है, पर यदि कपट छल और अनैतिकता आ गई तो ऐसा मेलजोल आनन्दमंगलके लिए नहीं है इससे जीवनका ह्रास ही होगा। शुद्ध पवित्र जीवनचर्या रहनी

चाहिये। यदि शुद्धताके नामपर केवल फैशनपरस्ती ही दीखे तो निन्दनीय है त्याज्य है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी जीवनचर्या ऐसी होनी चाहिये कि उसके कारण दूसरे लोगोंको अपनी जीवनचर्यामें असुविधा न हो। यदि एक व्यक्ति केवल अपना ही हित करता है दूसरोंके मंगलके विषयमें उदासीन है, तो ऐसा आचरण अच्छा नहीं, और यदि कोई स्वार्थवश दूसरोंकी हानि पर अपनी उन्नतिकी नींव रखता है तो यह कृत्य भी राक्षसी है।

लोग प्रायः दूसरोंकी हानि करते नहीं सकुचाते चाहे उसमें उनका निजीलाभ न भी हो। ऐसे लोग असुर हैं राक्षस हैं। राक्षस वही है जो दूसरोंकी हानि करके अपना उल्लू सीधा करते हैं अपनी स्वार्थपूर्ति करते हैं। ऐसे भी नर पिशाच हैं जो वृथा ही दूसरोंकी हानि करनेपर तुले हैं। ऐसे लोग राक्षसोंसे भी नीच श्रेणीके हैं ये पिशाच हैं। समाजमें यदि स्वार्थी लोगोंकी अधिकता है, तो समाजमें रचनात्मक कार्य कुछ भी नहीं हो सकता। हमें अपने राष्ट्रकी रक्षा करनी है और राष्ट्रमें उन्नति लानी है। इसके लिए स्वार्थ वासना पर नियंत्रण परम आवश्यक है।

किसी मनुष्यके निजी हित यदि सर्वहितकी मंगल भावनाको दबा लेते हैं, तो उससे उपकार हो ही न सकेगा और यदि कोई भला काम उससे हो भी पाया, तो वह केवल दिखानेके लिए किया जायगा, ऐसे व्यक्तिमें दंभ अवश्य दीखेगा। प्रायः लोग अभिमानमें ऐसे फंसे हुए होते हैं कि वे दूसरोंसे घृणा करते हैं और वे बदलेमें ईर्ष्या और द्वेष पाते हैं।

कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिसे घृणा नहीं कर सकता। घृणा करना एक अमानुषिक आसुरी काम है। पर देखा गया है कि धनवान् लोग निर्धन व्यक्तियोंसे घृणा करते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि लोग उनसे प्रेम नहीं करते, उनका आदर नहीं करते। अन्दरकी चाहना तो कुछ अच्छी नहीं, पर यदि मनुष्य कर्तव्यनिष्ठ है तो उसका आदर होगा ही। हमें सदा ऐसे काम करने चाहिये जिनसे न केवल अपना ही भला हो अपितु सबका हित हो। जिस कार्यके करनेसे दूसरोंका अहित हो ऐसा कार्य न करना चाहिये।

सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझना ही मानवताका व्यवहार है। मनुष्य अपनी मानवताको कलंकित न होने दे, नैतिकतासे न गिरे तो ऐसा व्यवहार ऋताचार कहा जाएगा। अनृत व्यवहारमें तो घोर अनर्थ होते हैं। चोरी धोखा आदि अपराध अनृतमें ही गिने जाते हैं।

मानवताका आदर करना हम सबका कर्तव्य है। गुटबन्दीसे तो हमारी दृष्टि संकुचित हो जाती है और हममें समताके भावोंके स्थानमें विषमता घुस जाती है। आपसका सद्भाव मानवताकी रक्षाके लिये अनिवार्य है।

देहकी दिवाली

[लेखक— श्री विश्वामित्र वर्मा]

सभ्य हो या असभ्य, संसारकी हरेक जाति और धर्मके लोगोंमें, हजारों वर्षोंसे, साल भर बीच-बीचमें, ऋतु अनुसार, देश कालके अनुसार, पर्व त्योहार मनाने और तीर्थ यात्राकी परम्परा चली आ रही है। इन त्योहारोंके आसमानी रहस्य कुछ भी हों, वे हमारे जीवनको हँसी खुशी और स्वस्थ दशामें चलाते रहनेके लिए पूर्वजों द्वारा व्यवस्थित हुए हैं। होली, दशहरा, दीवाली विशेष हैं। इन अवसरों पर घरकी भीतरी बाहरी सफाई होती है, लोग नये कपडे जूते, आभूषण बनाते हैं, और पौष्टिक सुस्वादु भोजन करते हैं। होली यज्ञ, दशहरा विजय एवं उत्साह और वर्षाऋतुके विषाक्त कीटाणुओंको नष्ट करने तथा गन्दी वायुको शुद्ध करने, एवं आत्म जागृतिका प्रतीक दिवाली है।

किन्तु पर्वों त्योहारोंका मुख्य ध्येय 'हँसी खुशी तन्दुरुस्ती' का रूपक अब केवल बाह्य आडम्बरमें रह गया है। तीर्थयात्रा अब रेल-मोटरसे; होलीमें कांटे जलाकर, शरीरमें गंदकी लपेट कर, दशहरेमें रक्तपात, मांस शराबके दौर, और दीवालीमें बिजलीकी रोशनी, वह भी सडकों पर, घरके बाहर! यह सब है हँसी खुशी तन्दुरुस्तीकी विडम्बना!

म्युनिसिपलिटी द्वारा नगरकी गली सडकोंका कचरा उठाया जाता है, झाडू लगाई जाती है, सडकों पर बिजलीसे उजाला होता है। लोग अपने घरोंकी सफाई करते हैं, कपडोंको गरम जल और साबुनसे उज्ज्वल करते हैं, देहकी खालको गरम जल, साबुनसे धोकर, सुगंधित तैल इत्रसे श्रृंगार करते हैं, परन्तु देहके भीतर कभी कुछ धुलाई सफाईका भी ध्यान दिया है? रोगियोंके लिए सरकारने दवाखाने और अस्पताल कायम किये हैं जहाँ रोगियोंको रंगीन, दुर्गन्धित, कडवी दवा पिलाई जाती है, शरीरमें सुई चुभाकर अन्य प्राणियोंके मवाद, रस, रक्त मांस आदि एवं अन्य गन्दी घृणा योग्य वस्तुओंसे बने इंजेक्शन रक्तमें ठूँसकर घोल दिये जाते हैं, जिन पदार्थोंको, इच्छा होनेपर शरीरमेंसे बाहर निकालनेका कोई साधन नहीं रह जाता। इन दवाखानों और अस्पतालोंमें शारीरिक अन्तरंग सफाई धुलाईकी भी कोई समुचित व्यवस्था है? और डॉक्टर वैद्योंने भी अपने शरीरोंको कभी भीतरसे धोया है?

संसारमें राष्ट्रीय नेता हैं, महापुरुष हैं, महात्मा और धर्मात्मा लोग हैं, जो आत्मा-परमात्मा, पवित्र जीवन, आसमानी आदर्शका नगाडा पीटते हैं, इस पाप-मय पृथ्वीको स्वर्ग बनानेकी योजना करते हैं, बडे-बडे वैज्ञानिक हैं जो आधुनिक अणु यंत्रों द्वारा आसमानकी मापतोल कर रहे हैं, जो बाहरसे चिकनी सुन्दर चर्मवाली, आकर्षक वस्त्रोंसे वेष्टित, सुगंधि फैलानेवाली 'देवियाँ' हैं— क्या कभी इन्होंने शरीर की भीतरी सफाईकी कल्पना की है?

यह देह हमारा घर है, इस देहकी दिवाली कभी मनाई? पर्व त्योहारोंके दिनोंमें भी रोगी क्यों होते हो? रोगी होकर भी, सिर चकराते और पेट भारी रहते भी क्यों कडवी जहरीली दवा और बेपरहेज गरिष्ठ पौष्टिक पदार्थ पेटमें ठूँसते हो? जब देहमें गन्दगी, कचरा और दुःख है तो बाह्य आडंबरकी दिवालीसे क्या हँसी-खुशी तन्दुरुस्ती मिलेगी? देहके विकारोंको भस्म कर होली मनाइए। देहकी शुद्धिसाधनासे मनमें उमंग उत्साह उत्पन्न कर दशहरा मनाइए। देहकी नस नसकी शुद्धि करके शुद्ध प्राण और रक्त संचार करके आत्मजागृतिकी दिवाली मनाइए। बाहर बिजलीका उजाला करनेसे जीवनकी कोई सार्थकता नहीं।

प्रचलित पाखण्ड परम्पराको देखते हुए, आजकी सभ्यता, असभ्यतासे भी गई बीती है, जब कि देह शुद्धि द्वारा हँसी-खुशी तन्दुरुस्तीका साधन भूलकर या उपेक्षा करके मनुष्य

कडवी जहरीली दवाओं और आडंबरमें जीवनका सुख देखता है। बच्चोंको रोग क्यों होता है? बूढ़ोंको क्यों होता है? किसीको भी रोग क्यों होता है? त्यौहारोंके होते और मनाते हुए भी लोक जीवनमें हँसी-खुशी तन्दुरुस्ती क्यों नहीं?

वैज्ञानिक खोजसे बताया गया है कि कीटाणुओंसे रोग होते हैं। हवा, पानी, कचरेमें गन्दे भोजनमें ये कीटाणु होते हैं। मक्खी, मच्छर, रोग फैलाते हैं तथा वातावरणमें सूक्ष्म रोगाणु एक दूसरेसे फैलकर रोग बढाते हैं! इन कीटाणुओंको मारनेके लिए आजकल गली-गटरोंमें डी. डी. टी., गेमाक्सीन छिडके जाते हैं, जहरीला धुआँ छोडा जाता है। शरीरमें, रक्तमें जहरीले इन्जेक्शन देकर कीटाणुओंको नष्ट किया जाता है।

परन्तु इन रोगके कीटाणुओंकी मूल उत्पत्तिका कारण क्या और कहाँ है? गन्दगी और कचरा, सडान। कोई वस्तु सडती है, तथा कई प्रकारकी वस्तुओंके मेल होनेपर सडानसे, बदबू और कीटाणु उत्पन्न होते है। पाखानोंकी, गली और गटरोंकी सफाईका सामाजिक और सरकारी रिवाज है. परन्तु शरीरके भीतर जो पाखाना और नालियाँ (नाडियाँ) हैं उनमें भी कई प्रकारके बेमेल भोजनकी सडानसे कीटाणु उत्पन्न होते और रोगके कारण होते हैं, उनकी सफाई-धुलाईकी न तो कोई कल्पना है, न रिवाज है। रोगके कीटाणु शरीरके भीतर ही सडानसे पैदा होते हैं और बाहरी उपचार त्योहारकी अपेक्षा भितरी उपचार-त्योहार पहले आवश्यक है।

जन साधारण और चिकित्सक वर्गकी धारणा है कि शरीरमें मल रहना आवश्यक है, 'मलं हि बलम्' मलसे बल होता है। इस धारणाके अनुसार जब खान-पानके असंयमसे जब किसीको उल्टी (वमन) होने लगती है या दस्त होने लगते हैं तो वे दौडते हैं डाक्टर-वैद्यके पास। ये चिकित्सक उन्हें कोई शामक औषधि (?) दे देते हैं, कय दस्तको रोकनेके लिए दवाई। 'दवाई' शब्द पर विचार कीजिए। दबानेवालीका नाम है दवा। कीटाणु उत्पन्न करने और पालनेके लिए, गन्दगीको शरीरके भीतर ही रोक देना। इसका नाम है इलाज, वैज्ञानिकता, अक्लमन्दी।

एक ठाकुर साहब गांजा बीडी तमाखू और खाने पीनेके बडे शौकीन थे। समयान्तरसे उन्हें खाँसी हुई, दमा बन गया। बहुत इलाज किया, कुछ लाभ न हुआ। निराश हो गये नौ साल हो गये। गाँवके लोगोंने कहा- अब ये मर जायँगे। ठाकुर साहबको भी कुछ ऐसा ही मालूम होने लगा। अब उन्होने यौगिक क्रियाओं द्वारा, एक कुशल वृद्ध हठयोगी-की देखरेखमें चिकित्सा आरंभ की। षट् कर्म करते, और योग परम्पराके अनुसार 'चिकनाई' के लिए हलवा, रबडी, दूध, मलाई रोज खाते, बाईस दिन हो गये किन्तु रोग बना ही रहा।

अब सब छोडकर प्राकृतिक उपचार आरंभ हुआ। भीतर जमे हुए विष-विकार, गंदगी, कचरा, जीवनभरकी इकट्ठी सडानको बाहर निकालने, शरीरकी भीतरी धुलाई-सफाई की क्रिया। कोई कडवी दवा नहीं, इंजेक्शन या चीर फाड नहीं। मिट्टी और पानी। कब्ज उन्हें बुरा था, एक दिनका खाया, चौथे पाँचवें दिन निकलता। मानसिक रोग भी था रातको सोते सोते चिल्ला उठते, गाली देते और मारनेको पास सोये व्यक्तिपर झपट पडते। सत्ताईस दिनके उपचारके पश्चात् उन्हें कुछ 'आहार' दिया गया। दो घण्टे बाद और भी बारीक जमा हुआ पुराना कचरा लेकर वह दस्तसे सब निकल गया। जुलाब नहीं था, तरबूज! ठाकुर साहबने स्वीकार किया- अब मेरे शरीरमें कुछ भी नहीं है, जो खाया था सब निकल गया। मैं आज ऐसा प्रसन्न स्वस्थ हूँ कि नया पैदा हुआ हूँ।

मल निकल जानेपर भी उनमें बल था। दिवालीके समान उनकी देहकी प्रत्येक नस नस; शुद्ध, रक्तसे जगमगा रही थी। उनमें नई उमंग थी।

जीवनमें कुछ भी करनेके लिए हमारी निरोग देह ही मूल पूँजी है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।
आरोग्यमाद्यं खलु सर्वसाधनम्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्।
आपको देहकी दिवाली मनाना हो, तो स्वागत है।

संस्कृतभाषाका महत्त्व और उसका प्रचार

[श्री बिरसन झा. प्रधानाध्यापक, संस्कृतोच्चविद्यालय जयदेव पट्टी, दरभंगा (बिहार)]

सर्व प्रथम सृष्टिके प्रारंभमें कौनसी भाषा थी और इसका प्रचार व प्रसार किस रूपमें था, यह विचारणीय है। यह सभी जानते हैं कि सृष्टिके प्रारंभमें परमात्माने वेदोंका उपदेश दिया। श्रुति भी कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

इस प्रकार सृष्टिके प्रारंभमें दैवी वाक् प्रकट हुई और वह दैवी वाक् 'संस्कृत' ही थी। काव्यादर्शमें महाकवि दण्डी लिखते हैं—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

उसी संस्कृत भाषामें वेदादि समस्तशास्त्र प्रादुर्भूत हुए। आजकल विभिन्न प्रादेशिक भाषाएं भी अपनी शैलीसे यह प्रमाणित करती हैं कि हम सभी संस्कृतसे बनीं हैं।

संस्कृतभाषाका माधुर्य अज्ञात नहीं है। न केवल इसके शब्द सौष्ठव, अर्थगांभीर्य, गुणवैशिष्ट्य; अलंकार-प्राचुर्य ही विद्वानोंको प्रसन्न करते हैं, अपितु इसका परमपुरुषार्थ साधकत्व भी बुद्धिमानोंको परमानन्द देनेवाला है। इस प्रकार संस्कृतभाषाका महत्व विश्वप्रसिद्ध है और सब लोग अनुभव करते हैं कि यह भाषा संसारकी भाषाओंमें सर्वश्रेष्ठ है। इस भाषाका साहित्य प्राचीनता एवं विशेषताकी दृष्टिसे सभी भाषाओंके साहित्यसे बढ़कर है। जब इतर देशके लोग निर्जनवन घूम घूमकर केवल संकेतसे अपने अपने मनोभावोंको प्रदर्शित करते थे, उस समय हमारे पूर्वज भगवदाराधनामें ऋचाओंको पढते थे और सरस साम गानोंको गाते थे।

आध्यात्मिक ग्रंथोंका समन्वय करनेवाली और मानवमस्तिष्कके चरम विकासको प्राप्त करानेवाली उपनिषद् भी देववाणीमें ही है। वसुन्धराकी उत्पत्तिसे लेकर प्रलयतकके विस्तृत इतिहासको बतानेवाले पुराण भी इसी भाषामें हैं। इस प्रकार लौकिक पारलौकिक अभ्युदय निःश्रेयसको सिद्ध करानेवाला जो ज्ञान विज्ञान तथा कर्मकाण्ड है, उन सबका ज्ञान संस्कृत भाषाके ज्ञानसे ही हो सकता है।

यह भाषा वर्ण ध्वनि और लिपिकी दृष्टिसे भी सर्वांगपूर्ण है। इस भाषामें जैसा लिखा जाता है, वैसा ही पढा जाता है। जैसे संस्कृतमें अकारके स्थान पर 'अ' ही लिखा जाता है और पढा भी वही जाता है। अंग्रेजीमें लिखा और बोला जाता है 'ए' और उसका अर्थ होता है 'अ'। उर्दूमें लिखा और बोला जाता है 'अलिफ्' और उसका अर्थ होता है 'अ'। पर 'चक्रके आरेके समान भाग्य भी ऊपर नीचे होता रहता है' इस कथनके अनुसार इस भाषाका विदेशीयाक्रमणोंके कारण ह्रास हुआ। यही देववाणी आज जीर्ण शीर्ण दिखाई पडती है। पर इस भाषाकी उन्नतिके लिए आज भी कई उपाय हैं।

सर्व प्रथम प्राचीन संस्कृत प्रणालीका परिवर्तन आवश्यक है। सन्तोषका विषय है कि ऐसा परिवर्तन अनेक प्रान्तोंमें किया जा चुका है। पाठ्य ग्रंथोंमें आधुनिक विषयको बतानेवाले सद्ग्रन्थ निर्धारित करने चाहिए। जिससे अपनी जाति, सभ्यता, धर्म और देशका पूर्ण ज्ञान विद्यार्थियोंको हो सके। बालकोंके लिए ऐसी सरल कथाओंका संग्रह होना चाहिए कि जिससे बालविनोदके साथ उनके हृदयमें देशभक्ति, धर्ममें श्रद्धा, सत्यनिष्ठा उत्पन्न हो, पापसे वे दूर हटें। प्राइमरीसे माध्यमिक तक ऐसी ही पुस्तकें पढाई जानी चाहिए। संस्कृत पढनेवाले बालकोंकी सरलताके लिए भास, कालिदास, दण्डि, भवभूति, बाण आदि कवियोंके काव्योंको सरल संस्कृतमें आदर्श कथा रूपसे पढाना चाहिए। इससे बच्चोंकी प्रवृत्ति उन काव्योंको पढनेमें स्वयं होगी। बालकोंके पाठ्यपुस्तकोंमें एक पुस्तक इस तरहकी होनी चाहिए कि जिसमें देशविदेशोंके विज्ञान इतिहास रूपमें दिए हुए हों। उस इतिहासमें उन विज्ञानोंके आविष्कारकोंका भी परिचय हो। अध्यापक गुरुसे ही बालकोंके साथ संस्कृतमें संभाषण करें। वाद-विवादोंका भी आयोजन हो, जिसमें बालक संस्कृतमें ही बोलें। बालोपयोगी नाटक भी संस्कृतमें खेले जाएं। संस्कृतग्रंथकारोंका परिचय भी पुस्तकाकारमें छापकर उन्हें पाठ्यपुस्तकके रूपमें रखा जाए।

इस प्रकार संस्कृत भाषाका प्रसार होगा और संस्कृत भाषाका मूल्य बढेगा।

❀ ❀ ❀

स मा लो च ना

⊙

वेद-ज्योति

(सामवेद-परिशिष्टाङ्क)- सम्पादिका— विमलादेवी शास्त्री, प्रकाशक- श्याम बहादुर वर्मा, आदर्श प्रेस, रायबरेली; मूल्य- २), पृ. सं ५२८।

'वेद-ज्योति' यह मासिक-पत्र पिछले दो वर्षोंसे अपने विचार प्रस्तुत कर रहा है। सुश्री विमलाजीके सम्पादकत्वमें यह पत्र अच्छा चल रहा है। इसीका प्रस्तुत अंक एक विशेषांक है। इस अंकमें सामवेदका सरल अनुवाद श्री आचार्य वीरेन्द्रजी शास्त्रीने पाठकोंके सामने रखा है।

इसमें श्री शास्त्रीजीने अध्यात्मका अवलम्बन करके अर्थ किया है। अर्थ सरल व सुबोध है। यह अर्थ श्री शास्त्रीजीकी अध्यात्मशास्त्रमें गतिका एक उत्तम प्रमाण है।

पर एक प्रवृत्ति जो आर्यसमाजी विद्वानोंपर पूरी तरहसे हावी हो चुकी है यह है कि उनकी दृष्टिमें वेदोंका मूल्य केवल आध्यात्मिक दृष्टिसे ही है। मैंने कई विद्वानोंके विभिन्न भाष्य देखे, उन सबने आध्यात्मिक अर्थ किए हैं। जो मंत्र स्पष्टतया आधिभौतिक या आधिदैविक अर्थके द्योतक हैं उनको भी खींचातानी करके अध्यात्ममें ढाल दिया है। इससे वेदमंत्रोंका स्वरूप विकृत होता है। महर्षिने अपने यजुर्भाष्यमें जिस मंत्रका जैसा अर्थ होना चाहिए वैसा किया है। वे किसी एक अर्थके पीछे नहीं पड गए। वही प्रवृत्ति वेदोंके विषयमें आर्यसमाजी विद्वानोंको भी अपनानी चाहिए। वेदोंको केवल आध्यात्मिक दृष्टिसे देखना एक खतरनाक प्रवृत्ति है, क्योंकि फिर लोगोंके लिए वेदोंका अभ्युदयकी दृष्टिसे कोई मूल्य नहीं रह जाता।

यही बात श्री शास्त्रीजीके अनुवादमें भी है, उन्होंने भी सभी मन्त्रोंका आध्यात्मिक अर्थ कर डाला। फिर भी शास्त्रीजीका प्रयास सराहनीय है। तथा जो अध्यात्ममें रस लेनेवाले साधक हैं, उनके लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

आर्यप्रेमी- (दीपावली विशेषांक), प्रकाशक- आर्यप्रेमी कार्यालय, पो. बॉ. नं. २७, नया बाजार, अजमेर

यह विशेषांक यजुर्वेदके १८ वें अध्यायका भावानुवाद है। इसके लेखक श्री वैद्य ब्रह्मानन्दजी त्रिपाठी हैं। महर्षिके निर्वाण दिवसपर इस विशेषांकको निकाल कर इसके सम्पादकने जो महर्षिका स्मरण किया है, वह एक स्वस्थ परम्परा है। महर्षिका सारा जीवन वेदोंमें बीता, अतः उनकी पुण्यतीथिसे भी वेदोंकी प्रेरणा लेना हर वेद-प्रेमीका कर्तव्य है।

प्रस्तुत अंकमें श्री वैद्यजीने मंत्रोंका अर्थ बडा सुन्दर किया है। प्रत्येक पदोंका अलग अलग करके मंत्रार्थको सुगम्य बनानेका प्रयास सराहनीय है। जगह जगह इन्होंने अपनी वैद्यक प्रक्रियाका भी उपयोग किया है।

वस्तुतः आज वेदमंत्रोंके ऐसे ही अर्थोंकी आवश्यकता है, जो मनुष्यको रोगोंसे छूटने व स्वास्थ्य लाभ करनेका मार्ग दिखा सकें, उसका अभ्युदय कर सकें। श्री वैद्यजीने इस विचारका बहुत हदतक परिपोषण किया है।

ऐसे ही अन्य पुस्तकोंकी आवश्यकता है।

सच्ची शिक्षा

लेखिका एवं प्रकाशिका- श्रीमती चंचल बहिन माणिकलाल पाठक, प्रधाना आर्यसमाज, टंकारा (सौराष्ट्र), पृ. सं. ११६; मूल्य, १·२५ न. पै.

बच्चे राष्ट्रकी सम्पत्ति हैं। उनका निर्माण ही राष्ट्रका सच्चा निर्माण है। आज प्राथमिक शिक्षा एवं कॉलेजीय शिक्षाकी जो दुरवस्था है, वह सूर्य प्रकाशवत् स्पष्ट है। यही कारण है कि राष्ट्रके धरोहरोंकी अवस्था आज अत्यन्त निकृष्ट स्थितिपर पहुंच गई है। उनके पुनर्निर्माण करनेके लिए आजकी शिक्षाको आमूल बदलना होगा। उस शिक्षाकी रूपरेखा कैसी हो इसका संक्षिप्त परिचय पाठकको उपर्युक्त पुस्तकमें मिल सकता है।

लेखिका स्वयं अध्यापिका हैं, अतः उनके स्वयंके अनुभव मननीय हैं। उन्होंने बालकके सब पहलुओंको अपनी दृष्टिमें रखकर इस पुस्तककी रचना की है। इस पुस्तकका मूल्य इस दृष्टिसे और भी बढ जाता है कि लेखिका मनोविज्ञानका भी ज्ञान रखती हैं। अतः वे बाल-मनोविज्ञानको भी अच्छी तरह समझती हैं।

इन सभी बातोंको मस्तिष्कमें रखकर इस पुस्तककी रचना करनेके कारण इस पुस्तककी उपयोगिता बहुत हो गई है।

सभी पाठक इस रचनाको अवश्य पढें।

पंच महाभूत विज्ञान

लेखक एवं प्रकाशक- भरतसिंह वैद्य, जीवन प्राकृतिक चिकित्सालय, गालिबपुर, डा. गालिबपुर, जि. मुजफ्फर नगर, (उ.प्र.), पृष्ठ- सं. १६६, मू. २)

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों महाभूतोंको परमेश्वरने प्राणियोंके सुखके लिए ही बनाया है। जो इनका ठीक ठीक उपयोग करना जान लेता है, वह इनसे गुणोंकी अपार सम्पत्ति पा लेता है। अपने स्वास्थ्यका आधार वह इन्हींको बना लेता है। इस विद्याको 'प्राकृतिक चिकित्सा' नामसे पुकारा जाता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि महात्मागांधी इस चिकित्साके महानतम पक्षपाती थे।

प्रस्तुत पुस्तक भी, जैसा कि नामसे ही स्पष्ट है, पंच महाभूतोंकी सदुपयोगिता पर ही लिखा गया है। श्री भरतसिंहजी गत अनेक वर्षोंसे प्राकृतिक चिकित्साके क्षेत्रमें कार्य कर रहे हैं। इन्होंने अबतकके अपने अनुभवोंके आधारपर ही यह पुस्तक लिखी है। पुस्तक सरल और सुबोध भाषामें है। इसे हर कोई पढकर समझ सकता है। वेदोंके मंत्रोंसे भी अपने बातकी प्रामाणिकता सिद्ध की है। लेखककी यह मान्यता है कि उलझेसे उलझे हुए रोगोंकी भी चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्साके द्वारा की जा सकती है। शरीरके प्रत्येक अंगका खुलासावार वर्णन करके उसके निदान व उपचारोंका वर्णन इस पुस्तकमें है।

आशा है कि प्राकृतिक-चिकित्सा प्रेमी इस पुस्तकका अवश्य स्वागत करेंगे।

सनातन-धर्म-सर्वस्वम्

लेखक- प्रकाशक- स्वामी सदाशिव तीर्थ 'ब्रह्मविद्या', नारायणाश्रम अयोध्या, जि. फैजाबाद (उ. प्र.); पृ. सं. ६०; मू. १) रु.

आजके समयमें जनता 'ब्रह्मविद्या-अध्यात्म विद्या' से बहुत बिदकती है, उसके पास फटकती तक नहीं। इसका कारण यही है कि वह समझती है कि यह विद्या नीरस है।

पर श्री तीर्थजीने इस विद्याको जनताके सामने प्रस्तुत करनेका एक नया और आकर्षक मार्ग निकाला है। उन्होंने इस विद्याको नाटकके रूपमें प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाटकमें पांच अंक हैं। पहले अंकमें मूर्तिपूजा, दूसरेमें नाम जप, तीसरेमें सत्संग, चौथेमें भक्ति और पांचवेंमें ज्ञान, इन पांच विषयोंका वर्णन है। वर्णनका ढंग आकर्षक है। नाटक होनेके कारण पाठक इसे चावसे पढेंगे। भाषा भी सुबोध है।

आशा है कि पाठक इसका पुस्तकका स्वागत करेंगे।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

भग. १८।७२-७३

अर्थ— हे पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (त्वया) तत्त्वज्ञानको जाननेकी इच्छावाले तूने (एकाग्रेण चेतसा) एकाग्र मनसे अर्थात् सावधान मनसे (एतत्) मुझसे कहा हुआ यह ज्ञान शास्त्र (कच्चित्) क्या (श्रुतम्) सुना है ? (धनञ्जय) हे युद्ध द्वारा धनको जीतनेवाले अर्जुन ! (ते) तेरा (अज्ञानसंमोहः) अज्ञानसे उत्पन्न हुआ हुआ संमोहात्मक विपरीत ज्ञान (कच्चित्) क्या (प्रणष्टः) नष्ट होगया है या नहीं ॥ ७२ ॥

अर्जुन इस प्रश्नको सुनकर कहने लगा (अच्युत !) हे भगवन् कृष्ण ! (त्वत्प्रसादात्) आपकी कृपासे अर्थात् आपके उपदेशजन्य अनुग्रहसे (मोहः) अनर्थताका कारण और अपने अज्ञानसे उत्पन्न हुआ हुआ और आत्मतत्त्वके बोधको न करानेवाला विपरीत ज्ञान (नष्टः) नष्ट हो गया है। (स्मृतिः) आत्मा क्या है ? संसारके साथ उसका संबंध क्या है ? कर्म, अकर्म और विकर्म क्या है ? निष्काम कर्म करता हुआ मनुष्य संसारमें निर्लेप रहता है, कर्तव्य कर्म करता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है, इन कारणोंके सुननेसे अपनी क्षात्रधर्मकी स्मृति मैंने (लब्धा) पा ली है। (गतसंदेहः) सब प्रकारके संदेहोंसे रहित हुआ (स्थितः अस्मि) अपने क्षात्रधर्माऽवस्थामें स्थिर हो गया हूं अर्थात् मैंने क्षात्रधर्मका भाव समझ लिया है। (तव) आपके (वचनं) 'युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है तू युद्ध कर' इस वचनको (करिष्ये) करूंगा अर्थात् आपके उपदेशको सत्य मानकर और श्रद्धा रखता हुआ युद्ध करूंगा ॥७३॥

वेदगीता (मंत्र)

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु
प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः
सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥

अथ. ५।२।५; ऋ. १०।१२०।५

अर्थ— हे परमात्मन् ! (वयं) अपने क्षात्र धर्म पर आरूढ हुए हुए हम क्षत्रिय जन (त्वया) आपसे अनुगृहीत हुए हुए (प्रपश्यन्तः) अपने क्षात्र धर्मको भली प्रकारसे देखते हुए अर्थात् अपने वर्णधर्मको पूर्ण रूपसे पहचानते हुए (रणेषु) संग्राम स्थलोंमें (शाशद्महे) संमुखस्थ शत्रुओंको अच्छी तरहसे छिन्नभिन्न कर देते हैं। हे परमात्मन् ! क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर क्षात्रधर्मको रखनेवाला मनुष्य मैं (युधेन्यानि) युद्धमें चलने योग्य (भूरि) अधिकसे अधिक (आयुधा= आयुधानि) आयुधों अर्थात् बाणभुशुंडी कृपाण आदि अस्त्र शस्त्रोंको (ते वचोभिः) आपके उपदिष्ट वचनोंसे (चोदयामि) शत्रुओंपर चलाता हूं। हे परमात्मन् ! (ते=तुभ्यं) आपको (ब्रह्मणा) स्तुति रूप मंत्रसे (वयांसि) अपनी आयुःको अर्थात् अपनी सारी आयुः पर्यन्त (सं शिशामि) सम्यक्तया समर्पण करता हूँ, अर्थात् मैं सदा क्षात्र धर्मपर ही आचरण करता हुआ आपके चरणोंमें वास करूंगा अर्थात् आपके वचनाऽमृतको कभी न भूलूंगा ॥ ५ ॥

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
स जोषा वृषभं पतिम् ॥

साम. ऐंद्रपर्व. २।१०।२, अथ. २।७१।७, ऋ. १।९।४

अर्थ— परमात्माका भक्त वेदवाणीको सुनकर इस मंत्र द्वारा परमात्मासे प्रार्थना करता है। हे (इन्द्र !) सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्व सामर्थ्य युक्त परमात्मन् ! (ते गिरः) वेदद्वारा उपदेश की हुई सर्व ज्ञानोत्पादक आपकी वेदवाणियोंको (असृग्रम्) मैंने भली प्रकार एकाग्र मनसे अन्तःकरणमें पूर्ण शिक्षाप्रद समझकर ग्रहण कर लिया है, वेदोपदेशको पूर्णरूपसे ग्रहण कर लिया है, और सांसारिक मोह जन्य अज्ञान सब प्रकारसे नष्ट हो चुका है। (ताः गिरः) और वह वेद वाणियें (त्वां प्रति) आपकी ओरसे (उत्+अहासत) प्राप्त हुई हैं, क्योंकि आप ही सब प्राणियोंको सुखप्रदान करनेवाले वचनोंको नित्य रूपसे अपने आपमें रखते हैं, क्योंकि आप नित्य हैं, और आपकी वाणी भी नित्य है। (स जोषाः) आपके सेवक (वृषभं) सब कामनाओंकी वर्षा करनेवाले (त्वां पतिं) पालक और स्वामी आपको ही (उत् + अहासत) सांसारिक मोहको छोडकर प्राप्त होते हैं।

तुलना— गीतामें कहा है। हे मनुष्य ! क्या गीताज्ञान तुमने सुना है ? क्या तेरा अज्ञान जनितमोह नष्ट हुआ है कि नहीं ? नर रूप अर्जुनने नारायणको उत्तर दिया हे भगवन् ! मेरा अज्ञानजन्य मोह अर्थात् विपरीत ज्ञान नष्ट हो गया है। अब क्षात्रधर्मकी स्मृति आगई है, आपके उपदेशका

प्रभाव मुझपर पूर्ण जम गया है, आपके आदेशके अनुसार अब मैं क्षत्रिय धर्मकी पालना करता हुआ युद्ध अवश्य करूंगा।

वेदमें भी यही कहा है, हे परमात्मन्! आपकी वाणीका प्रभाव हम क्षत्रियोंपर पूरा हुआ है, आपकी कृपासे हम क्षत्रिय जन युद्धोंमें अस्त्र शस्त्रादिका प्रयोग शत्रुओंपर पूर्ण रीतिसे करेंगे। और शत्रुओंको छिन्नभिन्न कर देंगे। हम सारी आयुः पर्यन्त मंत्रमें कथित इस उपदेशको न भूलेंगे। और सदा क्षात्र-धर्मका पालन करते हुए आपके चरणसेवाको करते रहेंगे।

संजय उवाच —

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ भग. १८।७४

अर्थ— संजयने कहा, हे राजन् धृतराष्ट्र! (अहं) मैंने (वासुदेवस्य) महात्मा श्रीकृष्णके (च) और (महात्मनः पार्थस्य) महानुभाव अर्जुनके (इति) इस प्रकार पूर्व कहे हुए (अद्भुतं) आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले (रोमहर्षणम्) रोम रोमको प्रसन्न करनेवाले (इमं संवादं) इस गीता ज्ञान वाले संवादको अर्थात् प्रश्नोत्तर वचन समूहको (अश्रौषम्) श्री वेदव्यासजीकी कृपासे सुना ॥ ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥
भग. १८।७५

अर्थ— हे राजन्! (अहं) मैंने (व्यासप्रसादात्) व्यासजीकी कृपासे श्रीगुरुदेव व्यासजीने युक्तयोगाभ्यासद्वारा मेरे मन और श्रवणेन्द्रियका संबंध कुरुक्षेत्रके युद्ध स्थलसे जोड दिया था, जिससे मैं युद्ध स्थलका संवाद हस्तिनापुरमें सुनता रहा, दूरश्रुति यंत्रद्वारा, श्री व्यासजीकी कृपासे (स्वयं साक्षात् कथयतः) अपने आप सामने खडे होकर कथन करते हुए (योगेश्वरात्) ज्ञान योग और कर्मयोगादि सिद्धियोंके स्वामी अथवा मायायोग अर्थात् सृष्ट्युत्पत्तिके स्वामी (कृष्णात्) श्रीकृष्णजीसे (परं) श्रेष्ठ (गुह्यं) गुप्त (इमं योगं) इस गीता ज्ञानयोगको (श्रुतवान्) सुना ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ भग. १८।७६

अर्थ— (राजन्) हे राजन् धृतराष्ट्र! मैं (केशवार्जुनयोः) श्रीकृष्ण और अर्जुनके (पुण्यं) पवित्र और पुण्य देनेवाले (अद्भुतं) आश्चर्यान्वित कर देनेवाले (इमं) इस (संवादं) प्रश्नोत्तररूप संवादको (संस्मृत्य संस्मृत्य) पुनः पुनः स्मरण करके (मुहुः मुहुः) फिर फिर (हृष्यामि) प्रसन्न होता हूं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥
भग. १८।७७

अर्थ— हे (राजन्!) हे राजन् धृतराष्ट्र! (हरेः) सब पापोंके हरनेवाले श्रीकृष्णजीके (अत्यद्भुतं) अत्यन्त आश्चर्यान्वितकर देनेवाले (तत् रूपं) उस विराट्रूपको अर्थात् हजारों सिरों और हजारों भुजाओंवाले उस स्वरूपको (संस्मृत्य संस्मृत्य) पुनः पुनः स्मरण करके (मे) मुझे (महान्) बहुत बडी (विस्मयः) हैरानी हुई और (पुनः पुनः हृष्यामि) उस अद्भुत विराट्स्वरूपका स्मरण कर मैं बारबार प्रसन्न होता हूँ, मैं धन्य हूँ, मैंने परमात्माके अद्भुत स्वरूपको देखा अतः मैं अतीव प्रसन्न होता हूं ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ भग. १८।७८

अर्थ— हे राजन् धृतराष्ट्र! (यत्र) जिस संग्राम यज्ञमें (योगेश्वरः) विद्या और मायाके स्वामी अथवा ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगादि सिद्धियोंके स्वामी (कृष्णः) श्रीकृष्णजी हैं। (यत्र) जिस युद्ध यज्ञमें (धनुर्धरः) गाण्डीव धनुष्यको धारण करनेवाला (पार्थः) अर्जुन है। (तत्र) उस युद्धयज्ञमें अर्थात् कुरुक्षेत्रके महाभारत युद्धमें (ध्रुवा श्रीः) स्थिर राजलक्ष्मी और (विजयः) विजय रहता है। (भूतिः) राज्यमें घोडा, गौ, हाथी, धन धान्यादि सम्पत्ति रहती है, और (ध्रुवा नीतिः) और उस पक्षमें ही शास्त्रद्वारा बताई हुई नीति अर्थात् मर्यादा स्थिर रहती है। (मम मतिः) यह मेरी सम्मति है ॥ ७८ ॥

इति श्रीलैयावास्तव्यजगन्नाथशास्त्रिकृतायां गीतार्थ-
बोधिन्यामष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

वेदगीता (मंत्र)

यस्मि॒न् विश्वा॒ श्रियो॒ रण॑न्ति स॒प्त सं॒सदः॑। इन्द्रं॑ सु॒ते ह॑वामहे ॥ ऋ. ८।९२।३

इति श्री वेदगीतायां सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः।

अर्थ— (यस्मिन्) जिस यज्ञमें अथवा जिस कर्ममें अथवा जिस पक्षमें (अधि) परमात्माका अधिकार अर्थात् जो कर्म अथवा पक्ष परमात्माके सहारे पर और परमात्माके अधीन

रहता है (विश्वाः श्रियः) राज्य लक्ष्मी और धन धान्यादि सम्पत्ति और शास्त्रप्रतिपादित राजनीति यह सब और सब प्रकार-की शोभाएं (रणन्ति) वहां रमण करती हैं। और वहां (सप्त संसदः) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, यह सात लोक, अथवा शरीरमें रहनेवाली रक्त, मज्जादि सात धातुएं, अथवा शरीरको धारण करनेवाले प्राण अपानादि सात वायु अथवा राज्य चलानेवालेके लिये विद्वानोंकी सात संस्थाएं (रणन्ति) शोभा पाती हैं। (सुते) हम भक्तजन अपने आत्मामें ब्रह्मानन्द रसके प्राप्त होने पर (इन्द्रं) सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमात्माकी (हवामहे) स्तुति करते हैं। और परमात्माकी भक्तिमें आनंदित हो जाते हैं ॥ २० ॥

तुलना— गीतामें संजयने श्री धृतराष्ट्रको यह अपनी सम्मति दी है जिस पक्षमें भगवान् कृष्ण और गाण्डीव धनुष-धारी अर्जुन है। उसी पक्षमें राजलक्ष्मी और विजयलक्ष्मी, धनसम्पत्ति, श्रेष्ठ राजनीतिवास करेगी।

वेदमें भी यही कहा है जिस कर्म, अथवा जिस पक्षमें परमात्माका आश्रय लिया जाता है। वहां ही सब प्रकारकी शोभाएं, राजलक्ष्मी धन दौलतादि वास करती हैं, अतः भक्त जन भी परमात्माकी शरण होकर अपनी कार्यसिद्धिमें सफ-लता पाते हैं और अन्तमें परमात्माके चरणोंमें वास करते हैं।

॥ इति श्री सारस्वतान्वयलैयावास्तव्यन्यायभूषणजगन्नाथशास्त्रिकृतायां वेदगीतार्थबोधिन्यां अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु, शुभमस्तु

' वसुनन्दाङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९९८) ज्येष्ठे मासि सिते दले।'

द्वादश्यां च भृगौ वारे वेदगीता सुपूरिता ॥ १ ॥

भूमिका

हे स्वाध्यायशील प्रिय पाठकगण ! भो परगुणलोलुपमुमुक्षु-जनो ! आप सबको यह विदित ही है, कि भगवान् श्रीकृष्ण-चंद्रजीके मुखारविंदसे प्रकट हुई हुई श्रीमद्भगवद्गीता संसारभरमें कितनी लोकप्रिय हो चुकी है, इसका प्रमाण यह है कि जगत्की प्रायः सब भाषाओंमें इसका अनुवाद हो चुका है । संस्कृत और हिन्दीभाषामें भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके आचार्योंने तथा बडे बडे मान्य विद्वानोंने इसपर अनेक प्रकारके भाष्य लिखे हैं ।

व्याख्याताओंका प्रायः यही विचार रहा है । " **सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्** " भगवद्गीता उपनिषदोंसे उद्धृत की गई है । श्री सायणाचार्यजीने अपने ऋग्वेदादि चारों वेदोंके भाष्यमें कहीं कहीं श्री भद्भगवद्गीताके ८, १० श्लोकोंकी वेदमंत्रोंके साथ संगति की है । तथा श्री पं. श्रीपाद सातवलेकरजीने भी भगवद्गीताके सुबोध भाष्यमें गीताके कतिपय श्लोकोंकी संगति वेदमंत्रोंसे की है । तथा श्री पं. जयदेवजी विद्यालंकारने अथर्ववेदके हिंदी भाष्यमें श्रीमद्भगवद्गीताके ५-१० श्लोकोंकी वेदमंत्रोंके साथ समानता दिखाई है ।

मैं सन् ई. १९१५ में गुरुकुल मुलतानमें संस्कृताध्यापक था, वहां मुझे वैदिक स्वाध्याय करनेका समय मिला । अथर्ववेदका स्वाध्याय करते हुए मैंने जब—

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि । ब्रह्मणा संशितानि यैरेवाहं संसृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ (अथ. १९।९।५)

इस मंत्रके स्वाध्याय करनेपर मेरी चित्तवृत्ति श्रीमद्भगवद्गीताके " **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति** १५।७ पर पहुंची और विचार आया कि भगवद्गीताका उल्लेख प्रायः उपनिषदोंसे लिया हुआ कहा जाता है और उपनिषदोंके आविर्भाव वेदोंसे हुआ है, अतः भगवद्गीताके मूल स्रोत वेद ही हैं । अतः भगवद्गीताके मूल श्लोकोंकी संगति वेद चतुष्टयके साथ करनी चाहिये ।

सन् १९१९ से १९२८ तक भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायसे लेकर १८ अध्याय समाप्ति तक प्रायः गीताके प्रत्येक श्लोककी संगति वेद चतुष्टयके मंत्रोंके साथ की । इस वेदगीताका भाष्य गीताके श्लोकोंके साथ संस्कृतमें किया था, जिसका कुछ भाग संस्कृतरत्नाकर, पत्र जयपुरमें मुद्रित होता रहा । पुनः वैदिक-धर्मपत्र सम्पादक श्री पं. श्रीपादजी सातवलेकरकी प्रेरणासे संस्कृतका हिन्दीमें अनुवाद किया और वेदगीता, संस्कृतभाष्य-वाली स्वलिखित पुस्तक " चंडीगढ " पञ्जाब यूनिवर्सिटीके पुस्तकालयमें भेज दी, जो वहां सुरक्षित है । × हिन्दी अनुवाद समन्वित वेदगीता वैदिकधर्म मासिकपत्र स्वाध्याय मण्डल पारडी जि. सूरत में मुद्रित हो चुकी है ।

भगवद्गीताके निर्माणकालपर विचार

गीताका उपदेश श्रीकृष्णजीने अर्जुनको भारत युद्धारम्भके प्रथम दिन ही दिया, जो धृतराष्ट्रके मुख्यमंत्री संजयने श्री वेदव्यासजी द्वारा प्रदत्त योगशक्ति द्वारा हस्तिनापुरमें महाराजा धृतराष्ट्रको सुनाया । भारतयुद्ध समाप्तिके पश्चात् और महाराजा परीक्षितके स्वर्गारोहणके अनन्तर महाराज जनमेजयने सर्पयज्ञ किया । तत्पश्चात् श्री वेदव्यासजीने महाभारत ग्रंथकी रचना की, फिर " ब्रह्मसूत्र " (वेदान्त दर्शन) लिखा । वेदान्त दर्शनके अनन्तर भगवद्गीताका निर्माण हुआ, यह बात स्वयं गीतासे स्पष्ट हो रही है । **ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः** १३।४ इस श्लोकसे ज्ञात होता है । वेदान्तदर्शनकी रचनाके अनन्तर श्री वेदव्यासजीने भगवान् श्रीकृष्णजीके गीतोपदेशकी श्लोकबद्ध रचनाकरके भगवद्गीतोपनिषद् नाम रखकर महाभारतमें संमिलित कर दिया ।

महाभारतकी रचना कब हुई इसपर विचार

(१) लोकमान्य तिलकजीका कथन है, ईसा जन्मसे ४०० वर्षपूर्व " महाभारत ग्रंथ " और उसमें गीता इसी रूपमें उपस्थित थी ।

× बडी प्रसन्नताका विषय है कि लेखकके ग्रंथ वेदगीताके संस्कृतभाष्यको पंजाब विश्वविद्यालय प्रकाशित कर रहा है ।

(२) ज. स. करंदी महोदयके मतमें भारत युद्ध ईसासे १९३१ वर्षपूर्व हुआ अर्थात् लगभग ४००० वर्ष हो चुके हैं।

(३) चिन्तामणि विनायक वैद्यजीका कथन है, पाणिनी और पिंगलाचार्यका समय १००० वर्ष ईसापूर्व है और गीताका निर्माणकाल १४०० वर्ष ईसापूर्व है। इससे स्पष्ट होता है, कि आजसे ३५०० (साढे तीन हजार) वर्ष पूर्व महाभारत और गीता दोनों ग्रंथ विद्यमान थे।

(४) नागपुरके डा. दासरीके निबन्धाऽनुसार महाभारतका युद्ध ११६७ वर्ष ईसापूर्व हुआ, जो आजसे लगभग ३००० वर्षसे ऊपर आता है।

सिद्धान्तरूपमें सर्वतोऽधिक मत यह है, कि महाभारत युद्ध विक्रमादित्यसे लगभग ५००० वर्षपूर्व हुआ था। महाभारत और वेदान्तदर्शनके निर्माणके पश्चात् भगवद्गीताका निर्माण हुआ था।

(५) मिश्र (अफ्रीका) देशकी खुदाईसे निकली हुई मूर्ति पर खुदी हुई बहुत प्राचीन लिपिको बडी कठिनता और सोच-विचारके अनन्तर पढ कर किया हुआ अनुवाद "नैशनलिमिश्र मैगजीन सन् ई. १९४१ अक्टूबरके अंकमें मूर्तिपर खुदी गूढ लिपिका अंग्रेजीमें जो अनुवाद छपा है। वह "**जीवभूतः महाबाहो, शरीरमवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः** गीताके इस वचनका भाषान्तर है, जो गीताके १५ अध्यायके ७, ८ श्लोकमें पाठ आया है। उसीने यह भी लिखा है, इस चित्रका निर्माणकाल २७८० वर्ष ईसापूर्व है, अतः आज तक सन् १९६३+२७८०=४७४३ वर्ष बनते हैं, इससे ज्ञात होता हैं कि भगवद्गीता इस रूपमें ४७४३ से पूर्व उपस्थित थी।

(६) पाणिनी और पिङ्गलाचार्यके समयसे बहुतपूर्व श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना हुई है। पाणिनीने अपनी अष्टाध्यायीमें संस्कृत शब्दोंके जो नियम लिखे थे, और पिंगलाचार्यने पिंगलसूत्रमें छन्दोंके लिये जो नियम लिखे थे, उन नियमोंके विरुद्ध अर्थात् आर्ष शब्दों और आर्ष छन्दोंके प्रयोग गीतामें मिलते हैं। जैसे–

गीतामें	पाणिनी नियम
१ प्रसविष्यध्वम् ३।१०	१ प्रसविषध्वम्
२ जिज्ञासुः अपि योगस्य ६।४४	२ जिज्ञासुं अपि योगस्य
३ प्रियः प्रियायार्हसि ११।४४	३ प्रियः प्रियाया अर्हसि।
४ एवं रूपः शक्यः अहं ११।४८-५४	४ एवं रूपः शक्योऽहम्।
५ सेनानीनाम् १०।२४	५ सेनान्याम्
६ अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः ९।३	६ इमं धर्मं अश्रद्दधानाः
७ निवसिष्यसि १८।८	७ निवत्स्यसि
८ मा शुचः १६।५, १८।६६	८ मा शोचः, मा शोचीः
९ संयमतां १०।२९	९ संयच्छताम्
१० हे सखेति ११।४१	१० हे सख इति, यद्वा, हे सखयिति
११ दिव्या आत्मविभूतयः १०।१६-१९	११ विभूतीः

इन उदाहरणोंसे विदित होता है, भगवद्गीताका निर्माण पाणिनीय नियमोंसे बहुत पूर्व हुआ था, ऐसे ही पिंगलाचार्य निर्मित छन्दोग्रंथ पिंगलसूत्रसे भी गीताकी रचना बहुत पूर्व हुई थी। स्थाली-पुलाक-न्यायसे छन्द-रचनाका दिग्दर्शन करें।

(१) **गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके** २।५

इसमें प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ पादमें उपेन्द्रवज्रा, और श्रेयो भो— द्वितीय पादमें प्रथम मगण है।

(२) **न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः** इनमें १२, १२ वर्ण, **यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः**,२।६ इनमें ११, ११ वर्ण पूर्वार्धमें वंशस्थका लक्षण नहीं और चतुर्थ पादमें इन्द्रवज्रा, और उपेन्द्रवज्रा नहीं है।

(२) **कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता** २।७ इसके चारों पादोंमें भिन्न भिन्न लक्षण हैं।

(३) **भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव**— ८।१०, १०।९।२०,२१।११।१८,२२,२३,२६,२७,३२,३३, ३५,३७, ४१,४६ इन श्लोकोंके पादोंमें भिन्न भिन्न लक्षण हैं, तथा **न**

रूपमस्येह तथोपलभ्यते १५।३ की भी यही व्यवस्था है। इसके प्रथम पादमें वंशस्थ और शेष तृतीय पादोंमें उपेन्द्रवज्रा छंद है।

(४) अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः १५।२ इसके प्रथम पादमें और तथा शेषमें और लक्षण है।

गीतामें ८ वर्णोवाला अनुष्टुप् छन्द अधिक है। पिंगलमताऽनुसार प्रत्येक पादका दूसरा गण " **सगण,** अथवा **रगण** " होना चाहिये। जिसका पूरा अनुवाद " **श्रुतबोध, छन्दक** " ग्रंथमें ऐसा लिखा है (**पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्वि-चतुर्थयोः। षष्ठं गुरु विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम्**) यद्वा " **श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्** " यह नियम भगवद्गीताकी रचनाके पश्चात् बने हुए प्रतीत होते हैं। जैसे—

(१) मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् । ११।२

अश्रद्दधाना मत्परमाः १२।२० इन दोनों श्लोकों प्रथम पाद ९ वर्णोंका है, इनमें प्रथम वर्ण दीर्घ है और छठा वर्ण ह्रस्व है, जो कि पिंगलसूत्रके नियमके विरुद्ध है। तथा " **धृष्टकेतुश्चेकितानः**– १।५।२।४३।२।२६,५६४।३,३२,३६,६१,६३। ३।१,७,८।११,१९,२६,३५,३७ तथा ४।६ और ६।१,११,२६ तथा ७।१७,१९,३० तथा ८।१४,२४,३७ तथा ९।१,२,३,१० और १०।६,७ तथा १३।१७ तथा १४।९,१०,१७ तथा १५।२० तथा १७।३,१०,११,१९ तथा १८।३३,४७,४९, ७५ इन श्लोकोंमें ५ वर्ण दीर्घ और छठा वर्ण ह्रस्व हैं, यह सब लक्षण अथर्ववेदके अष्टाक्षर छन्दोंकी समानता रखते हैं, जो कि पिंगलसूत्रकी रचनासे पूर्वकालमें रचित प्रतीत होते हैं।

भगवद्गीताके जिन अनुष्टुप् छन्दोंमें षष्ठाक्षर लघु है, उस तालिकाको दृष्टिगोचर करें।

" **नानाशस्त्रप्रहरणाः** "– १।९,२५।२।२,६३।३।७, ४।२,१३,३८,४० तथा ५।१२ तथा ६।१०, २५।३६,४२ तथा ७।६,१४ और ८।३ और ९।१७ तथा १०।२६ १२।९, २० तथा १३।२३ और १७।१३, १९ तथा १८।२३,३८,४१,४५, ५६,६४,७० इन सब श्लोकोंमें छठा (६) वर्ण लघु रखा है, पिंगलाऽनुसार छठा वर्ण दीर्घ होना चाहिये, इसी प्रकार गीताके कई श्लोकोंमें पंचम वर्ण दीर्घ और षष्ठ वर्णको लघु रखा है।

अतः पूर्णतया यह सिद्ध होता है, कि गीताका निर्माण पाणिनी और पिंगल नियमोंसे बहुत पूर्व हुआ है, भगवद्गीताकी छन्द रचनाका मिलान वैदिक छन्दों अर्थात् ऋगथर्व छंदोंसे मिलान करनेपर विदित होता है। जब गीताका निर्माण हुआ था, उस समय पिंगलाचार्यके पिंगलसूत्र नहीं थे। अतः गीता निर्मिति पाणिनी और पिंगल नियमोंसे बहुत पूर्व हो चुकी थी।

भगवद्गीतामें जैन और बुद्ध मतका दिग्दर्शन भी नहीं है। अतः गीता जैन और बुद्धमतकी प्रवृत्तिसे बहुतपूर्व निर्मित हो चुकी थी। इतनी बात अवश्य है कि गीतामें अनीश्वरवाद अर्थात् नास्तिक मतका वर्णन आसुरी सम्पत्ति और आसुरीजीवके रूपमें उपस्थित है। " **द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च** " १६।६ " **असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्** " १६।८ इत्यादि श्लोकोंके द्वारा अनीश्वरवादियोंका विचार गीताकारने उपस्थित किया है, जो विचार नीचे लिखे मंत्रसे लिया गया है—

यदि सत्यमस्ति। नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह। क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम। ऋ. ८।१००।३

यदि सत्यस्वरूप परमात्मा है? तो इसको किसने देखा है? संसार प्रसिद्ध परमेश्वर नहीं है, हम जिसकी स्तुति करें। इस मंत्रभागसे अनीश्वरवादी मत अर्थात् नास्तिकमत प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है गीताकारने नास्तिकमतका दिग्दर्शन कराकर पूर्णतया परमात्मासिद्धि स्पष्टकर दी है, अतः भगवद्गीता वेदाधार पर " भारतयुद्धके अनन्तर निर्मित हुई है। ईशकेनादि दश उपनिषदोंकी रचनाके पश्चात् और शेष उपनिषदोंसे पूर्व और (जय) भारतकी रचना तथा ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) की रचनाके अनन्तर गीताका निर्माण हुआ है। आजसे पूर्व लगभग ४५०० अथवा ५००० वर्षके मध्यमें गीता निर्माणका समय विदित होता है यह सारांश है।

वेदव्याख्यामयीं गीतां दृष्ट्वा हृष्यन्तु सज्जनाः।
अट्टहासं विधायापि निन्दन्तु दुर्जना भृशम्॥ १॥

इति

विद्वदनुचरः

जगन्नाथ शास्त्री

अथ मङ्गलाचरणम्

ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते
आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥ १ ॥

(ऋ. २।२३।१)

ॐ नि षु सीद गणपते गणेषु
त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे
महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ ९ ॥

(ऋ. १०।११२।९)

ब्रह्मवाणीं नमस्कृत्य गुरुं कृष्णं मुहुर्मुहुः ।
गीतावेदैकतां चाहं दर्शयितुं समुद्यतः ॥ १ ॥
क्व वेदार्थस्य विज्ञानं क्व ममाल्पतरा मतिः ।
जिगृक्षुरस्मि मोहाद्वै नभःस्थेंदुं कराग्रतः ॥ २ ॥
यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ।
अथर्वैकोनविंशे हि काण्डे पाठः समागतः ॥ ३ ॥
गीतोपनिषदां सारः केषाञ्चिद्विदुषां मतम् ।
अहं त्वेतद्विजानामि वेदाद्गीता समुद्धृता ॥ ४ ॥
वेदो गीता तथा गीता वेद एव न संशयः ।
गीतावेदपृथक्त्वं न द्वयोर्ब्रह्मप्रकीर्तनात् ॥ ५ ॥
आविंशाब्दं कृतं कर्म गीतावेदविलोकनम् ।
मया व्यधायि तुच्छेन गीतावेदसमन्वयः ॥ ६ ॥
अलेखि संस्कृते व्याख्या गीतावेदार्थबोधिनी ।
पुनश्च हिन्दीभाषायां पं. श्रीपादोक्तितो मया ॥ ७ ॥
समर्पिता मया गीता श्रीकृष्णपादपङ्कजे ।
सारस्वतभरद्वाजजगन्नाथेन शास्त्रिणा ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा वेदमयीं व्याख्यां वेदस्वाध्याय संरताः ।
हृष्टचित्ता भविष्यन्ति मुक्तिसाधनतत्पराः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच-
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय १

संजय उवाच-
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् २
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ३
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथाः ४
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ५
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ६
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ७
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च । ८
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ९
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् १०
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ११

संजय उवाच-
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् १२
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाऽभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् १३

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः १४
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः १५
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ १६
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः १७
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् १८
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् १९
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः २०
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत २१
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे २२
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः २३

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् २४
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति २५
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा २६
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् २७
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् २८
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते २९
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ३०

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ३१
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ३२
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ३३
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ३४
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ३५
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ३६
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ३७
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ३८
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ३९
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ४०
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ४१
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ४२
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ४३
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ४४
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ४५
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ४६

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ४७

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

टिप्पणी— अस्त्रशस्त्र विद्याका पूर्णज्ञाता वीर पौत्र वीरपुत्र वीरार्जुनको दोनों सेनाओंमें पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामादि पूज्य व्यक्तियों तथा शल्य, द्रुपद, विराट्, जयद्रथ, दुर्योधन और उसके पुत्र लक्ष्मणादिको मरने मारनेके लिये युद्धमें तैयार खडा हुआ देखकर क्यों व्यामोह हो गया था ? गाण्डीव धनुषको छोडकर नपुंसकताकी वृत्तिको क्यों ग्रहण किया था ? तथा युद्धमें स्वगोत्रहत्याजन्यपापसे क्यों घबरा गया था ? इसमें क्या कारण था ?

उत्तर— पाण्डुके स्वर्गसिधारने पर युधिष्ठिरादि पांच पाण्डवोंका पालन पोषण अपने चचा धृतराष्ट्रके पास होने लगा, कौरव और पाण्डव कृपाचार्य आदिसे शस्त्र और राजनीति विद्या इकट्ठे पढते रहे, तब धृतराष्ट्रने सोचा– पाण्डव युवा होनेपर अपना राज्य वापिस ले लेंगे, कोई ऐसा उपाय किया जावे, जिससे यह सारा राज्य मेरे पुत्र दुर्योधनके अधिकारमें रहे। यही विचार दिनरात धृतराष्ट्रको दुःखी करता था। तब राजनीति–कुशल कूटनीतिज्ञ कणिकाचार्यने धृतराष्ट्रसे कहा, किसी कपटयुक्तिसे पाण्डवोंका विनाश करोगे, तो यह समग्र राज्य तुम्हारे पुत्रोंके अधिकारमें रहेगा, अन्यथा नहीं। राज्य व्यवहारमें नीति अथवा अनीतिका कुछ भी विचार नहीं रखा जाता। यह बात धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंको अतीव रुचिकर लगी। उस दिनसे धृतराष्ट्र पांडवोंके साथ गुप्तरूपसे दुर्व्यवहार करने लगा। विष देना, सांपोंद्वारा कटवानेका प्रयोग करना, जलमें डुबवाना, लाक्षा भवनमें जलानेका प्रयत्न करना आदि बहुत कुव्यवहार पितापुत्रने किये, परन्तु सफलता न मिली। क्योंकि पितामह भीष्म, विदुरजी, गुरु द्रोणाचार्य और भगवान् कृष्ण पाण्डवोंके सहायक थे। अतः पाण्डव बच गये। अनेक चेष्टायें होनेके पश्चात आधा राज्य पाण्डवोंको दिया, राज्यमें उनका शासन बहुत अच्छा था, अतः उनका राज्य और ऐश्वर्य बढने लगा। इस बातको कौरव न सह सके। अन्ततो गत्वा अतीव कुटिल कुचालसे जूएमें पाण्डवोंको जीतकर वनवास और अज्ञातवासमें प्रतिबद्ध किया। १३ वर्ष वनवाससे वापिस आकर जब आधा राज्य मांगा। दुर्योधनने कहा युद्धके विना १ सूचीमात्र भूमि भी न देंगे, तब युद्धकी तैयारी होने लगी।

उन दिनों धृतराष्ट्रने एक नया षड्यंत्र रचा और उसमें पाण्डवोंको फंसाना चाहा। धृतराष्ट्रके षड्यंत्रका वर्णन महाभारत उद्योगपर्व अध्याय २० से ३२ अध्याय तक है, उसे संक्षिप्त रूपसे लिखा जाता है। कूटनीतिज्ञ महाराज धृतराष्ट्रने अपने प्रधानमंत्री संजयको पाण्डवोंके पास भेजा। कि उन्हें गोत्रहत्या, गुरुहत्याजन्य पापका भय दिखाकर और संसारको विनश्वर बताकर युद्धसे पराङ्मुख होनेका उपदेश दो। जिससे मेरे पुत्र दुर्योधनादि मृत्युसे बचकर समग्र राज्यका उपभोग करें। महाराज धृतराष्ट्रसे भेजे हुए सञ्जयने पाण्डवोंको क्या उपदेश दिया। संजय पाण्डवोंकी छावनीमें गया और उन्हें इकट्ठा बिठा कर कहने लगा हे पाण्डवो! धृतराष्ट्र तुम्हारा बडा हितैषी है, परंतु वह वृद्ध है। परवश होनेसे कुछ कर नहीं सकता। उसका पुत्र दुर्योधन हठी होनेसे उसकी बातको भी नहीं सुनता। इस कारण वह आपके लिये दिनरात बडा दुःखी रहता है। तुम अपने अन्तःकरणमें देखो। वह दिनरात तुम्हारा कल्याण सोचता रहता है। परन्तु तुमने यह क्या सोचा है। तुम्हारे जैसे पारमार्थिक, धर्मात्मा, भगवद्भक्त लोग युद्ध करनेके लिये सुसज्जित हो रहे हैं। वस्तुतः यह आश्चर्य ही है। युद्ध तो दुष्टों और हत्यारों (अर्थात कसाइयोंका काम है। तुम्हारे जैसे धार्मिकोंके लिये कदापि नहीं।

वास्तवमें तुम कौरवोंद्वारा किये हुए, विषदान, वनवासादि अपराधोंको क्षमा करदो और भुला दो, क्योंकि अपकारका भुला देना भी उपकार धर्ममें आ जाता है। क्योंकि तुम बडे धर्मात्मा, और सात्त्विक गुणवाले और शान्तिप्रिय और पर रक्षक हो। ऐसा होनेपर भी अब तुम अपने भाइयों और संबंधियोंका खून करोगे, ऐहिक क्षणभंगुर दुःखमय असार संसारमें केवल राज्यके लिये आप अपने भाइयोंका तथा अपराधी और निरपराधी सब पुरुषोंका वध करोगे। इससे मुझे बडा दुःख होता है, कि आप महापापियोंकी गणनामें आ जावेंगे। आजतक तो आपने धर्मका पालन किया है, क्या उसका यह फल है? यह विश्व विनश्वर है, और इसके सब फल भोग विनश्वर है।

क्या भाइयों और गुरुजनोंका वध करके कमाया हुआ राज्य तुम्हारे पास चिरस्थायी रहेगा। और तुम सदाके लिये जीवित रहोगे ? अपने संबंधियोंके रक्तसे रंगे हुए भोगोंको भोगनेसे तुम्हें आनंद कैसे मिलेगा? केवल क्षणभंगुर भोग भोगनेके लिये ही इतना अधर्म करनेके लिये तुम्हारे जैसे धर्मात्मा लोग प्रवृत्त हुए हैं। यही एक बडे आश्चर्यकी घटना है। क्या तुम अपने भाइयोंको मारकर मार्कण्डेयकी तरह चिरंजीवी बन जाओगे ? क्या तुम्हें मृत्युका भय भी नहीं है ? फिर तुम अपने परलोकका साधन न करते हुए इन अपने भाईयोंका वध करके अपने लिये नरकका साधन क्यों करते हो ? मनुष्य भीख मांगकर भी धर्मोपयोगि साधनोंद्वारा धर्मका साधन कर सकता है। और अपने जीवनका निर्वाह भी कर सकता है। अनित्य और मायिक असार संसारके क्षणभंगुर भोगोंमें फंसकर तुम यह भयानक क्रूर संहार करके नरकमें जानेके लिये क्यों प्रवृत्त हुए

हो ! ऐसा कार्य तुम्हारे लिये अवश्यमेव निन्दनीय है । और यह निन्दनीय कार्य परलोक अर्थात् मुक्ति प्राप्तिका भी बाधक होगा । अतः इस घोर कर्मसे निवृत्त हो जाओ । क्षात्रधर्म बहुत खराब है, यह पाप ही पाप है। अतः इसे छोडकर वनमें जाकर तपस्या करो ।

इस घोर युद्ध करनेमें तुम्हारी इस लोकमें निन्दा और परलोक प्राप्तिमें बाधा उपस्थित होगी । अतः तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ। संजयने पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त होनेके लिये भयोत्पादक भीरुतोत्पादमूलक उपदेश दिया । इस उपदेशका प्रभाव साधारणतया पांचों पाण्डवोंपर पडा । कुछ प्रभाव युधिष्ठिर पर भी हुआ, और विशेष प्रभाव तो अर्जुनके मनपर पडा ।

जब दोनों ओरसे युद्ध करनेके लिये दोनों सेनाएं एकत्र हो गई । महाराजा धृतराष्ट्रने पहले पहले संजयसे यह पूछा—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

उसके हृदयमें यह था । युधिष्ठिरादि धर्मात्मा होनेके कारण उपस्थित न होंगे । संजयने कहा, जब अर्जुन युद्धस्थलमें उपस्थित हुआ । वहां भाई बंधुओं, और गुरुजनोंको देखकर उस उपदेशका प्रभाव उसके मन पर अङ्कुरित हो गया, और उसी उपदेशके आधारपर उसने अपने शस्त्र अस्त्र छोड दिये, और भीख मांगकर जीवन निर्वाह करना अच्छा समझा, अतः गाण्डीव छोडकर अर्जुनने रथमध्यमें बैठकर श्रीकृष्णजीसे कहा, मैं इस पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता । जब संजयने धृतराष्ट्रको इतना कहा, तब धृतराष्ट्रने भी जाना । अब अच्छा हुआ युद्ध न होनेसे हमारा राज्य और सब पुत्र सुरक्षित और सुखी रहेंगे । संजयके उपदेशका साधारण प्रभाव युधिष्ठिर पर भी पडा, युद्ध तैयारीकी अवस्थामें युधिष्ठिर कवच उतार कर अस्त्रोंको छोडकर शत्रुसेनामें भीष्मके पास चला गया, तब सब सैनिक आश्चर्यान्वित हुए, और सोचने लगे, क्या युद्ध करनेसे युधिष्ठिर डर गया है ! यथा च—

विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम् ।
अवरुह्य रथात् शीघ्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः ॥१२
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥

महाभारत भी. प. अ. ४२

जो भीष्मजीने कहा उसे पढिये—

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते ।
शपेयं त्वां महाराज पराभवाय भारत ।
प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव ।
अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ॥

महाभा. भी. अध्या. ४३, श्लो. ३८।३९

भीष्मजीने युधिष्ठिरको आशीर्वाद दिया, कि तेरी जय होगी। संजयसे इन शब्दोंको सुनकर धृतराष्ट्रका मन घबरा गया। परन्तु जब यह सुना कि अर्जुन युद्ध नहीं करता अर्थात्—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्न मानसः ॥

तब धृतराष्ट्रको निश्चय हुआ, कि संजयका उपदेश सफल हो जाएगा । हे अर्जुन ! अपना कर्तव्य कर्मको अवश्य करना चाहिये, मनुष्य कर्म किये विना संसारमें नहीं रह सकता। और नियत कर्मोंको कर्ता हुआ मनुष्य पापी नहीं बनता । अतः स्व कर्म अवश्य करना चाहिये । श्रीकृष्णजीके कहे हुए ऐसे उपदेशको सुनकर अर्जुनने कहा ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्जुनके इस अन्तिम वचनको सुनकर धृतराष्ट्र जान गया, अब मेरे पुत्रों और राज्यका कल्याण नहीं है, क्योंकि संजयने अपनी सम्मति यह दी है ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्याख्यान २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये। वेदके उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय तक ये व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है ?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है ?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यवस्था।
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला हो।
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सुभाषितोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और रचना।
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आरोग्य-मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका महत्त्व।
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसेवा।
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमंत्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन।
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा. व्य. =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य ५) होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

दिसम्बर १९६३

श्री मल्हारी - मार्तंड, जेजुरी

५० नये पैसे

वर्ष ४४

वैदिक धर्म

अंक १२

क्रमांक १७९ : दिसम्बर १९६३

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता— (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	११)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता— (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	११)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता— (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	[illegible]
(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)		
१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि ,, ,,	२)	.२५
३ शुनःशेप ,, ,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप ,, ,,	१)	.२५
५ काण्व ,, ,,	२)	.२५
६ सव्य ,, ,,	१)	.२५
७ नोधा ,, ,,	१)	.२[illegible]
८ पराशर ,, ,,	१)	.२५
९ गोतम ,, ,,	२)	.३७
१० कुत्स ,, ,,	२)	.३७
११ त्रित ,, ,,	१.५०	.३[illegible]
१२ संवनन ,, ,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ ,, ,,	.५०	.१२
१४ नारायण ,, ,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति ,, ,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी ,, ,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा ,, ,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि ,, ,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ ,, ,,	७)	१)
२० भरद्वाज ,, ,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

प्रभो ! हमें शक्ति दो

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु
प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः
सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ।

ऋ. १०।१२०।५

हे इन्द्र ! (त्वया) तेरी सहायतासे (वयं) हम (भूरि युधेन्यानि प्रपश्यन्तः), बहुतसे शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर (रणेषु शाशद्महे) लडाइयोंमें शत्रुओंका संहार करें। (ते आयुधा) तेरे शस्त्रोंको मैं (वचोभिः चोदयामि) वचनोंसे प्रेरित करता हूँ तथा (ते वयांसि) तेरे बाणोंको भी मैं (ब्रह्मणा शिशामि) अपने वचनोंसे तेज करता हूँ।

हम बलशाली हों ताकि अपने शत्रुओंका संहार कर सकें। हमारे पास तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र हों। हममें क्षात्र धर्मकी प्रतिष्ठा हो। हम देशके सम्मानकी, उसके गौरव और ज्ञानकी रक्षा कर सकें।
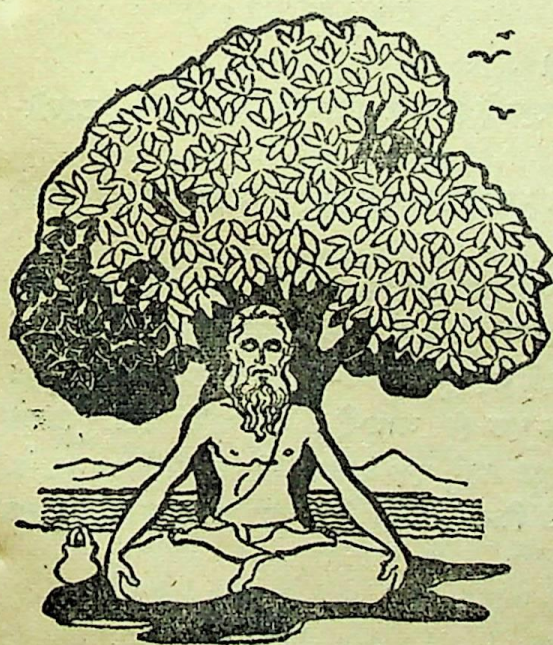
हे ईश्वर दो शक्ति ऐसी ।
अचल रहें हम क्षात्र धर्म पर,
पालन करें गिरा तव जैसी ॥
क्षात्र धर्म को हम अपनाकर,
सम्मुख शत्रुसे नित जूझें ॥
रणमें विजयी बनें सदाही,
निज कर्तव्य कर्म को बूझें ॥
तव वचनोंको हम अपनाकर,
बहु आयुध से शत्रु मारें ।
जीवन अर्पण करें तुम्हीं को,
क्षात्र धर्म पर तन मन वारें ॥

—श्री सुन्दर भाँवरदास "सोम"

संस्कृत सीखनेका सरलतम उपाय

' प्रत्येक राष्ट्रवादीको संस्कृतका अध्ययन करना चाहिए। इससे प्रान्तीय भाषाओंका अध्ययन भी सुगमतर हो सकता है। किसी भी भारतीय बालक और बालिकाको संस्कृत ज्ञानसे रहित नहीं होना चाहिए। '

—महात्मा गांधी

\+ + + +

' यदि मुझसे पूछा जाए कि भारतकी सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है? तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह सम्पत्ति संस्कृत भाषा और साहित्य एवं उसके भीतर जमा सारी पूंजी ही है। यह एक उत्तम उत्तराधिकार है और जब तक वह कायम है तथा हमारे जीवनको कायम किए है, तबतक भारतकी आधारभूत प्रतिभा भी अक्षुण्ण रहेगी। अतीतकी सम्पत्ति होते हुए भी संस्कृत एक जीवित परम्परा है। ' —पं. जवाहरलाल नेहरु

\+ + + +

' हमारी संस्कृतिका स्रोत इसी संस्कृत भाषासे निकला है। हम जानते हैं कि आज भी हम इस संसारमें इसीके कारण जीवित हैं और भविष्यमें भी जीवित रहेंगे। ' —स्व. डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

\+ + + +

इन महापुरुषोंकी वाणी इस बातकी साक्षी है कि संस्कृतभाषा भारतका सर्वस्व है। आप भी सच्चे भारतीय हैं अतः हमें पूर्ण विश्वास है कि आप भी निश्चयसे संस्कृतभाषा सीखना चाहेंगे।

क्या कहा? संस्कृत बहुत कठिन भाषा है। इसका व्याकरण बहुत कठिन है। इसको पढते हुए सिर दुःखने लगता है।

ठीक है, ठीक है, मालूम पडता है कि आपने अभीतक ऐसी ही पुस्तकें देखी हैं, जो सिरमें दर्द पैदा कर देती हैं। और आप समझते हैं कि संस्कृतभाषा बहुत कठिन है। मालूम पडता है कि आपने अभीतक श्री पं. सातवलेकर कृत ' संस्कृत-पाठ-माला ' नही देखी है।

आइए, आज आपका इस पुस्तकसे परिचय करायें—

१ इस पुस्तकमें छोटे छोटे और सरल वाक्य हैं।

२ इसमें व्याकरण पर बिल्कुल जोर नहीं दिया गया है।

३ इसमें अनुवाद करनेका ढंग बडी सरलतासे बताया गया है।

४ इसमें रामायण और महाभारतकी अनेक कथाओंको सरल संस्कृतके द्वारा बताया गया है। इसलिए कहानियोंमें रस लेनेवाले बच्चे भी इस पुस्तकको बडे चावसे पढ सकते हैं।

५ महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे महापुरुषोंने भी इस पुस्तककी प्रशंसाकी है और उन्होंने अपने वृद्धावस्थामें भी इन पुस्तकोंके द्वारा संस्कृत सीखी थी।

६ जी हां, लेखककी यह घोषणा है कि यदि आप रोज एक घन्टा इस पुस्तकका अध्ययन करें, तो आप केवल एक सौ घण्टोंमें ही इतनी संस्कृत सीख सकते हैं कि आप रामायण और महाभारत सरलतासे समझने लगेंगे।

७ यह पुस्तक अबतक १३ बार छप चुकी है, और हर बार हमें यह पुस्तक ४-५ हजार छापनी पडती है। चारों ओरसे इस पुस्तककी मांग आती है। क्या कहा? इस पुस्तकका एक ही भाग है? जी नहीं, इस पुस्तकके १८ भाग हैं। तो तो इनकी कीमत ही बहुत ज्यादा होगी? जी बिल्कुल नहीं, एक भागकी कीमत सिर्फ ५० न. पै. (डा. व्य. अलग) है। कहिए, है न पुस्तक बहुत उपयोगी? तो फिर आज ही एक पत्र डालकर यह पुस्तक मंगवाइए अवश्य ही मंगवाइए। लिखिए—

मंत्री—
पोस्ट- ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) '
पारडी [जि. सूरत] (गुजरात)

क्रोधसे छुटकारा प्राप्त करिये

[लेखक— श्री शिवनारायण सक्सेना, एम. ए., विद्यावाचस्पति, सि. प्रभाकर]
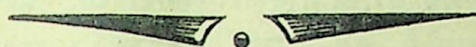
क्रोध एक ऐसी अग्नि है जो शरीर और हृदय दोनोंको प्रज्वलित करती है। इसीलिये क्रोधी स्वभाववाला व्यक्ति अशान्तिमय जीवन व्यतीत करता रहता है। क्रोध आत्मा को नष्ट करनेवाला है इसीलिये नरकके विभिन्न द्वारोंमें इसका भी स्थान है। वैसे क्रोधसे बिल्कुल मुक्त होना तो सर्व साधारणके वशकी बात नहीं, क्योंकि मनके विरुद्ध कार्य होने, अथवा दूसरेके द्वारा अपनी वस्तुकी क्षति पहुंचाने पर चिड़चिड़ापन आजाता है। यही छोटे किस्मका क्रोध है। वैसे क्रोधकी भयंकरतासे तो मृत्यु, आत्महत्या तथा अन्य कीमतीसे कीमती वस्तुओंको तोड़ फोड़ दिया जाता है। बहुत मनुष्य क्रोधके वशीभूत हो अपने पुत्रपुत्रियों तथा पत्नियोंको भी कठिनसे कठिन दण्ड देते हैं। अध्यापक भी छात्र छात्राओं द्वारा शैतानी करने अथवा समय पर कार्य करके न दिखाने पर क्रोधित हो मारपीट कर ही देते हैं। चाहें क्रोध पर पूर्ण तरहसे विजय प्राप्त न कर पावें, पर उसके वेगको रोक कर होनेवाले दुःखसे तो बचना ही चाहिये। भगवान् वेदव्यासने कहा है 'किसीके प्रति मनमें क्रोध रखनेकी अपेक्षा उसे तत्काल प्रकट कर देना अधिक अच्छा है, जैसे पल भरमें जल जाना देर तक सुलगते रहनेसे अच्छा है।'

कभी कभी ऐसा भी होता है कि बहुतसे माता पिता अपने बच्चोंके अवगुणों या परीक्षामें अनुत्तीर्ण होजाने पर इतने क्रोधित होते हैं और बुराभला कहते हैं जिससे अनेक बच्चे सदैवके लिये गृहत्याग कर अनिश्चित स्थानों पर चले जाते हैं। ऐसी क्रियाओं पर सिवाय पश्चात्ताप और चिन्ताके और कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसीलिये एक विचारकने कहा है 'गुस्सा दीवानगी है। इसे कब्जेमें करो, वरना यह तुम पर [illegible] ... से ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सभी जानते हैं कि अग्निको बुझानेके लिये जलकी आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार क्रोध पर शान्तिकी ही विजय होती है। महात्मा विदुरने भी 'विदुरनीति' में क्रोधकी हानियोंका अच्छी प्रकारसे उल्लेख कर चेतावनी दी है।

> संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः।
> स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति॥
> (५।५१)

अर्थात्— राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुये वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी धैर्यको खो नहीं बैठता वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है।

> क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरु।
> कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः॥
> (२।६६)

अर्थात्— राजन्! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध-दोनों विशिष्ट ज्ञानको लुप्त कर देते हैं।

वास्तवमें क्रोधी स्वभाववाला सदैव दुःख ही दुःख उठाता है क्योंकि कमसे कम उतने समयके लिये तो वह समझदारीको खोकर अर्ध पागलपनकी स्थिति ग्रहण कर लेता है, वह क्रोधमें तो कभी कभी अन्धा हो जाता और भले बुरेकी पहचान भी नहीं कर पाता। विदेशी विचारक पिथागोरसने कहा भी है 'क्रोध मूर्खतासे शुरू होता है और पश्चात्ताप पर खत्म होता है।' जब रसोई घरमें खाना बन रहा हो तो उस समय अग्नि प्रज्ज्वलित होनेसे उसका धुआं उसी कमरे तक न रहकर मकानके अन्य कमरोंमें भी घुसता है और [illegible] होती हैं, धुँएकी अधिकता

कारण आँखें गीली होजाती हैं कुछ दिखाई नहीं पडता, ठीक उसी प्रकार क्रोधाग्निके हृदयमें प्रज्वलित होनेपर बुद्धि और विचारों पर कुठाराघात होजाता है, और स्वभावमें मलिनता उत्पन्न करता है। यदि किसी प्रकार क्रोधसे पूर्णरूपेण छुटकारा मिल जावे, तब तो परमहँसकी स्थिति आजावेगी और किसी दूसरेका अनुचित कार्य भी दुःख न देगा।

भगवान् बुद्धको जब एक व्यक्तिने गालियाँ दीं, तो वे चुपचाप सुनते रहे, और बिल्कुल भी परेशान न हुये, अन्य शिष्योंने उनसे पूछा 'भगवन्! आपने इस व्यक्तिकी गालियाँका बुरा क्यों न माना।' भगवान्ने उत्तर दिया 'अच्छा यह बताओ कि यदि तुम्हें कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुसार वस्तु दे और तुम न लो तो वह दाताके पास ही तो रहेगी' शिष्योंने उत्तर दिया 'हाँ भगवन् ऐसा ही है।' 'ठीक इसी प्रकार उसकी गालियोंको मैंने स्वीकार ही कहाँ किया है, यह तो उसके पास ही रह गई हैं।' भगवान्ने समाधान कारक उत्तर दिया। इस उत्तरसे सभी दंग रह गये। ऐसे स्थान पर यदि और कोई होता तो उत्तरकी कौन कहे लोगोंके सिर फूट जाते और चार छः तो बन्दीगृहमें होते।

चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचारीने क्रोधको शैतानका शस्त्र बताते हुये कहा है 'क्रोध और बदला शैतानके दो शस्त्र हैं, जिनके बलपर संसारमें बुराई कायम रहती है। इन्हींके द्वारा शैतान हमारे अनेक पैगम्बरों और साधु सन्तोंके उपदेशोंको व्यर्थ कर रहा है और उद्देश्य पूरे नहीं होने देता। जो बीत चुका उसे हमें भूल जाना चाहिये और हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि आजसे हम मानवोंकी भाँति भाई भाईकी तरह रहेंगे। हम हरएक स्त्रीको अपनी माँ या बहन समझेंगे। एक दूसरेसे घृणा रख कर हमें अपने जीवनमें सन्तोष या खुशी प्राप्त नहीं हो सकती। एक दूसरेकी सहायता करके ही हमें सच्चा सुख प्राप्त होगा।'

अनेक सन्त, महात्मा, पण्डित और विद्वान् तक क्रोध करते देखे जाते हैं। जब उनका उचित सत्कार नहीं होता, खाने पीनेकी अच्छी व्यवस्था नहीं होती या मन चाहा धन विदाईमें नहीं मिलता, तो फिर कथा वाचकोंके रंग ढंग देखिये। एक बार भी कमी रह जावे तो दूसरी बार आनेका नाम नहीं लेते, पर ऐसे तो विरले ही मनुष्य हैं जो अपमानका बदला न ले अपने परमार्थ कार्यमें रत रहते हैं। सन्त एकनाथपर यवन द्वारा १०८ बार थूकनेपर भी वे क्रोधित न हुये वरन् गोदावरीमें उतनी ही बार स्नान कर अपनेको सौभाग्यशाली समझा। सन्त तुकारामके नामसे सभी परिचित हैं अपनी पत्नी द्वारा बुरी तरह गन्नेसे पीटे जाने पर भी हँसते रहे और जब उस गन्नेके दो टुकडे हो गये तब एक टुकडा पत्नीको देते हुये बोले 'ले एक तू खा ले और एक मैं खाये लेता हूँ।' ऐसे महापुरुष तो शक्तिके अवतार ही कहे जावेंगे।

दैनिक अभ्याससे सब कुछ सम्भव है। कभी कभी पर निन्दा, दोषदर्शन और दूसरोंकी हँसी मजाक करनेसे भी क्रोध भभक उठता है। अतः यह हमारा कर्तव्य हो जाता है कि कभी भी दूसरोंकी हँसी न उडाई जाये क्योंकि अधिक हँसी मजाकका रूप क्रोधमें बदल जाता है। सहनशीलता, वाक् संयम, शान्ति स्वभाव, और प्रेमके द्वारा ही क्रोधसे छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। अतः आर्य पुत्रो! इस जंगली प्रवृत्तिसे बचे रहना ही ठीक है। क्रोधी मनुष्य देखनेमें भले ही मनुष्य मालूम पडते हों पर हैं साक्षात् पशुके समान ही। क्रोधके त्यागसे ही बडेसे बडे कार्य सुलभ हो जाते हैं।

❀ ❀ ❀

श्रेष्ठाचारकी एक झांकी

लेखक— श्री सुन्दरलाल भण्डारी,
एम. बी. बी. एस. पी. सी. एम. एस. (रिटां)

यह भी मेरी अन्तरात्माके उद्गार ही हैं। किसी पुस्तकमें इन्हें नहीं पढा। वह यह कि— "यदि कोई स्त्री सडकपर सामनेसे आ रही हो, तो उसकी तरफ एकबार देखना— "शिष्टाचार", दो बार देखना "भ्रष्टाचार" और तीन बार देखना— "व्यभिचार"। यह बात मैंने कैसे बनाई, यह नीचे लिखा जाता है—

मैंने कहीं पुस्तकमें पढा था कि जब कोई स्त्री सामनेसे गुजर रही हो तो उसकी और देखना नहीं चाहिये और आंखें नीची करके गुजर जाना चाहिये। यह भी पढा था कि आंखोंका पर्दा आंखोंकी पलकें ही हैं, कपडे–बुरकेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस बारेमें मुझे एक बचपनकी अपने गांवकी घटना भी याद आ गई। एक दिन गलीमें एक कुंएपर एक युवती नंगी नहा रही थी। उसने देखा कि सामनेसे उसका बूढा ससुर गुजर रहा है। उसने कहा— "बाबा, आंखें परली तरफ करके निकल जाओ, मैं नंगी नहा रही हूं।" कितना High Character था उस समयका! यह था प्राचीन आंखोंका परदा। उसको उसपर पूरा विश्वास था, कि वह मेरी तरफ नहीं देखेगा और वह उसी तरह नहाती रही।

तबसे मैं रास्तेपर चलते किसी स्त्रीकी तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखता था और नीचली नजर करके चला जाता था। परन्तु एक दिन क्या हुआ कि मैं जालन्धर शहरमें सायंकाल "ग्राण्ड ट्रंक रोड" पर घूमने जा रहा था। सामनेसे चार-पांच युवतियां आ रही थीं। मैं नीची नजर करके गुजरने ही वाला था, कि उनमेंसे एकने, जो मेरी साली थी, मुझे डांटकर कहा— "जीजाजी आप बडे घमण्डी हो गये हैं, पाससे गुजर रहे हैं और नमस्ते भी नहीं करते।" मुझे बडी शर्म आई और मैं पसीना-पसीना हो गया और हाथ जोडकर नमस्ते की। तबसे मैंने यह उसूल बना लिया कि जब भी कोई श्रीमतीजी पाससे गुजरें, तो उनकी तरफ एकबार अवश्य देखता हूं कि वह अपनी परिचित तो नहीं है? और तभीसे मैंने यह ऊपर लिखा नियम बना लिया है।

इसमें एक और बात आवश्यक है, वह यह कि सिवाय अपनी पत्नीके बाकी सबको एकबार भी देखें तो माता, बहन या बेटीकी नजरसे देखें। अन्यथा यह एकबारका देखना भी भ्रष्टाचार ही हो जायेगा।

है तो यह बात बडी मुश्किल। मन बडा खराब है और इसपर काबू पाना बडा कठिन है। पंजाबीकी कहावत है— "मन हरामी हुंजता ढेर"। परन्तु दो चार दिन हुए मुझे इस पर काबू पानेके लिये एक सुझाव सूझा। वह यह कि जब कोई स्त्री सामनेसे गुजरती हुई नजर आये तो यदि वह परिचित है तो मनमें विचार करो कि उसकी आयु कितनी है। यदि वह बहुत छोटी है तो आहिस्तासे जीभ हिलाकर मुंहमें कहो— "बेटी", यदि वह बहुत बडी है, तो कहो, "माता" और यदि बराबर आयुकी है तो कहो "बहन"। इसी तरह जब कोई स्त्री किसी अपरिचित पुरुषको सामनेसे जाता देखे, तो मनमें उसकी आयुका विचार करके आहिस्तासे मुंह हिलाकर कहे— "बेटा", "पिता", "भाई"। बस मसला हल होगया, मन मर जायगा और बुरे विचार छोड देगा। मैंने ऐसा कुछ दिनोंसे करना शुरू कर दिया है। और मुझे इसमें बडी सफलता हुई है।

पर यह बडा कठिन है। मेरी आयु इस समय पिछत्तर वर्षकी हो चुकी है। फिर भी जब कोई लडकी पीछेसे आती दीखती है तो इच्छा होती है कि आहिस्ता चलूं जिससे उसको पाससे गुजरती देख लूं। यह है इस पापी मनकी करतूत। पर फिर मैं इस पापी मनको झाडता हूं और कहता हूं— "तुम्हें शर्म नहीं आती? इतनी उमर हो गई, वह बच्ची है, बेटी है— उसको देखकर क्या करेगा?" इच्छा होती है कि उसके जूते लगाऊं। ऐसा कहनेसे वह कुछ सहम जाता है और सीधे रास्ते पर आ जाता है। मेरी यह राय है कि जब भी यह मन ऐसा करे तो, अपनेसे इसे अलहदा समझ कर, सबको इसी प्रकार इसे झाडना चाहिये।

अंतमें एक लाभकी बात बताकर इस लेखको समाप्त करता हूं। वह यह कि यदि यह सब कुछ करने पर भी कहीं भूल हो जाये जो कि सम्भव भी है तो आत्मशुद्धिके लिये प्रायश्चित करें। वह यह कि चलते चलते दायां पांव रखें तो सांस अन्दर खेंचें और कहें 'ओ३' और जब बांयां पावं रखें तो सांस बाहर निकालें और कहें 'म्'। इस तरह १०८ बार करनेसे 'ओ३म्' के जापकी एक माला हो जायगी। इस तरह तीन माला जपें तो मन निर्मल और आत्मा शुद्ध हो जायगी। यदि ऐसी आदत ही हो जाये और हर समय चलते चलते हर सांसके साथ 'ओ३म्' कहा जाता रहे फिर तो कहना ही क्या? बेडापार हो जायगा। भवसागरसे तरने और संसाररूपी इस पथरीली बैतरणी नदीको पार करनेके लिये यह एक अति उत्तम नौका है।

\+ + +

आर्यसमाजसे एक और रत्न छिन गया

★

गत सप्ताहके आर्योदयमें मुझे यह समाचार पढनेको मिला कि श्रद्धेय स्वामी ब्रह्ममुनिजीने भी आर्यसमाजसे अपने सम्बन्ध खत्म कर दिए हैं। न वे अब आर्यसमाजके लिए कुछ साहित्य ही लिखेंगे, न आर्य समाजके उत्सवोंमें ही शामिल होंगे। यह आर्यसमाजियोंके मुंह पर एक करारी चपत है। आर्य समाजसे एक एक करके अनेक विद्वान् छिन गए। इसका केवल एक ही कारण था कि इन तथा-कथित आर्यसमाजियोंने विद्वानोंकी अपेक्षा भी अपनी स्वार्थवृत्तिको प्राथमिकता दी।

मुझे मालूम पडा कि कोई ब. कृष्णदत्त हैं, जो मूर्च्छा-वस्थामें वेदोपदेश करते हैं। मैंने भी उनके द्वारा पठित वेदमंत्रोंके प्रतीक देखे। उनमेंसे एक भी मंत्र किसी भी वेदमें नहीं मिला। यदि ऐसे उपदेष्टाका स्वामीजीने पर्दा-फाश किया, तो क्या बुरा किया। इसपर एक सम्मानित वेद विद्वान्को आर्यसमाजकी तरफसे गालियां प्राप्त होना क्या इस बातका निदर्शक नहीं है कि आज आर्यसमाज महर्षिका आर्यसमाज न रहकर एक अधम, स्वार्थी, पदलो-लुपों और निकृष्ट मनुष्योंका एक जमघट मात्र रह गया है।

आज आर्यसमाजमें उन्हीं लोगोंकी तूती बोल रही है जो येन केन प्रकारेण पदाधिकारी बन गए हैं। इन पदोंके लिए कचहरियोंमें मुकदमे तक लडे जाते हैं। जो इन पदा-धिकारियोंकी खुशामद करता है, वही आर्यसमाजमें रह सकता है। अन्यथा वह उपेक्षित कर दिया जाता है। एक वह भी समय था, जब भारतकी जनता इस बातकी प्रतीक्षा करती थी कि अमुक समस्या पर देखें आर्यसमाज क्या बोलता है, पर आज वही आर्यसमाज चाहे जितना अपना गला फाड ले, जनता उसकी बातको सुननेके लिए तैय्यार भी नहीं होती। क्यों? इसीलिए कि प्राचीन आर्य समाजकी वह उन्नत स्थिति आज एक स्वप्न मात्र बन कर रह गई है।

जिस आर्यसमाजने हैदराबाद सत्याग्रहमें इतना शौर्य दिखाया था, कि निजामशाहीको भी घुटने टेक देने पडे। उसी आर्यसमाजकी स्थिति पिछले दिनों पंजाब सत्याग्रहमें जन-ताने अपनी खुली आंखोंसे देख ली है। पहलेके आर्य समा-जपर हमें गर्व था कि वह एक ऐसी संस्था है, जो ढोंग, पाखण्ड और असत्यका नाश करके जगत्में सत्यविद्याका प्रसार करती है। पर आज हमें यह देखकर बडा ही खेद होता है कि वही संस्था धीरे धीरे पाखण्ड और ढोंगमें फंसती जा रही है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई विद्वान् पाखण्डका खण्डन करता भी हो, तो उसपर यह संस्था ऐसे वाक्य प्रहार करती है कि, उसके सामने सिर्फ दो ही रास्ते रह जाते हैं, या तो वह अपना मुंह बन्द करके हां जी, हां जी करता हुआ उनकी ऐडचाल स्वीकार कर ले, या फिर आर्य समाजसे ही अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले। जो स्वाभिमानी हैं, वे आर्यसमाजसे अलग हो जाना ही बेहतर समझते हैं। संस्कृ-तमें एक सुभाषित है कि दुष्टों और कांटोंकी प्रतिक्रिया दो ही प्रकारसे की जा सकती है। या तो जूतोंसे उसका मुंह तोड दिया जाए, या फिर उससे स्वयं अलग हो जाए। अतः विद्वान् दूसरा ही मार्ग अपनाते हैं।

आज यदि महर्षि स्वयं होते और अपनी संस्थाकी यह दुर्दशा देखते तो कह देते कि इस संस्थाको बन्द कर दो। फिर भी यदि ये आर्यसमाजी नहीं मानते तो वे स्वयं अलग हो जाते। पण्डित राज जगन्नाथको जब जहांगीरने अपने राज्यसे निकल जानेका आदेश दिया तो पण्डितराज बोले कि यदि हाथी अपने मस्तकपर बैठनेवाले भौंरोंको उडा दे, तो उससे भौंरोंका कुछ नहीं बिगडता, हाथीकी सुन्दरता ही नष्ट होती है। इसी प्रकार यदि आर्यसमाज अपने यहांसे विद्वानोंको हटा दे, तो इससे विद्वानोंका कुछ नहीं बिगडता। अपितु आर्य समाजकी ही हानि है।

"शील"

सम्पादकके नाम एक पत्र—

वेदोंमें विज्ञान

⊙

श्री सम्पादक महोदय !

वैदिक धर्मके दिसम्बर अङ्कमें 'वेदका अध्ययन' लेख पढा। इसमें विश्वराज्यकी पद्धतिसे मूल वेद और उसके अनुवादकी योजना पढकर परम प्रसन्नता हुई। आपके सम्पूर्ण साहित्यको मैं परमश्रद्धाके साथ पढता हूँ और निजी कार्यके समान इसका प्रवचनोंमें प्रचार करता हूँ। कारण आप पक्षपातरहित विचारक हैं। वेदोंके भाषानुवादके विषयमें अपने विचार निवेदन करता हूँ।

इसमें वेदमंत्र और भाषानुवाद छापनेकी पद्धति बहुत सुन्दर है। मुख्य पद वेदके ही रहें, इससे अनेकार्थमें भी सरलता रहेगी तथा सस्ते होनेसे घर-घरमें जा सकेंगे। अनुवादमें आपने ज्ञानदृष्टिसे अच्छा विचार किया है, इसमें विज्ञानदृष्टिका भी समन्वय हो जाय तो सोनेमें सुगंध हो जाय। आपके लिए यह अशक्य नहीं है। ज्ञान-विज्ञानके समन्वयसे वेदार्थ परिपूर्ण बन जायगा। विज्ञानार्थमें विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझाजीके ग्रन्थ सहयोग दे सकेंगे। उनके प्रकाशित ग्रन्थ केवल १००) एक सौ रुपयोंमें मिलते हैं। वे अपने स्वाध्याय-मण्डलमें संग्रह कर लिए जाय।

ओझाजीने विज्ञान विषयमें बडा परिश्रम किया है। आपके द्वारा उनके साहित्यका भी प्रचार हो जायगा। पं. मोतीलालजी शर्माने यह कार्य हिन्दीमें किया है, किन्तु उनके ग्रन्थ ज्यादा मूल्यके होनेसे सर्व साधारण खरीद नहीं सकते। सस्ता और अच्छा प्रचार करनेमें आप ही समर्थ हैं।

भारतमें वैदिक विज्ञानकी दुरावस्थाके विषयमें महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी 'महर्षिकुलवैभवम्' की भूमिकामें लिखते हैं—

'वेदभाष्यकृत्सु मूर्धन्यः श्री सायणमाधवाचार्यः। कस्य वा नायमस्यर्हिततमः। यद्यसौ नावातरिष्यत्, नूनमृक्संहिताद्यर्थो न केनाप्यज्ञास्यत। परं व्याख्यानेऽस्य वैज्ञानिकानामर्थानामत्यन्तमुपेक्षा। किमन्यत्, 'विष्णुना विधृते भूमी' इति प्रदर्शित पूर्वं स्फुटतर आकर्षणविज्ञानेऽपि 'दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः' इति मन्त्रे मयूखशब्दस्य पर्वतोऽर्थो महानुभावेनानेन कृतः। किरणैः पृथिवीधारणं कथं संभवेदित्येव तस्य संशबोऽभवत्। पर्वतैस्तु तद्धारणं पुराणेषूक्तमिति तदेव तेन व्याख्यातम्।

तथैव 'आ कृष्णेन रजसा' इति प्रदर्शितपूर्वे मन्त्रे रजसोलोकस्य कथं कृष्णत्वमिति शङ्का सूर्योदयात्पूर्वं लोकः कृष्ण एव भवतीति तेन समाहिता। सूर्यमण्डलस्य कृष्णत्वं तु न तद्बुद्धावुपारूढम्। तस्मिन् काले एवं विधानां विज्ञानानामत्यन्ताभाव एवात्र निदानम्। न खल्वश्रुतादृष्टचरेऽर्थे बुद्धिः प्रसरतीति।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति क्रमेण व्यपदिष्टेषु त्रिषु लोकेषु अग्निर्वायुरादित्य इति सन्ति त्रयो देवाः प्रधानभूता इति स्पष्टं निरुक्तविदाम्। तेष्वेकैकं प्रधानीकृत्य देवतान्तरं च तदङ्गभावमानीय वेदत्रयी क्रमेण प्रवर्तते। ऋग्वेदे अग्नेः, यजुर्वेदे वायोः, सामवेदे आदित्यस्य चास्ति प्राधान्येन विज्ञानम्, तदङ्गतया चान्येषाम्। अतएव 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इति पुरः स्थापितमिमेवाग्निं प्रारम्भे (मं. १, सू. १, म. १) प्रस्तुवती ऋक्संहिता प्रवर्तते, "इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु" इति वायुं यजुःसंहितोपक्रम एव कीर्तयति, 'अग्नआयाहि

वीतये ' इति आगन्तुकमग्निमादित्यं नाम सामवेद-संहिता प्रारम्भ एव प्रस्तौति। इदमेवाभिप्रेत्य 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्' इति ब्राह्मणश्रुतावग्न्यादिभ्य ऋग्वेदादीनामुत्पत्तिराम्नाता विषयस्य ज्ञानकारणतया निरूढत्वात्। यद्यस्त्यग्निः तत एव ऋग्वेदो जायते। न भवेच्चेत्, कं वर्णयितुमृग्वेदः प्रवर्त्तेतेति तस्य कारणत्वमुपपादयन्ति। अयमेवाभिप्रायो—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥
(मनुः अ. १, श्लो. २१)

इति भगवता मनुनाऽपि शब्दान्तरैरुपदिष्टः। परं प्रसिद्धैरशेषशेमुषीसंपन्नैरपि विद्वत्प्रवरै रचितासु सहस्त्रशासु वा मनुस्मृतेष्टीकासु नैकत्रापि स्पष्टीकरणमस्यार्थस्योपलभामहे। ...

ततश्च योऽपि कैश्चिन्महानुभावैः सुबहु परिश्रम्य कथञ्चिद् विज्ञानोन्मेष इतिहासोन्मेषो वा कृतः, सोऽपि काल्पिकः कल्पनामात्रविश्रान्त इति न प्रतिष्ठामवधि समासादत्। यावद्धि आमूलचूडं पर्यालोच्यैकोपक्रमेण परिभाषानिरूपणपूर्वकं काचिद् वैदिकविज्ञानपद्धतिरितिहासपद्धतिर्वा नाविष्क्रियेत, तावन्न वैदिकमार्गार्गलोद्घाटनं संभाव्यते। न तु तावान् केनापि श्रमः कृतः, नापि तादृशी सामग्री संनिहिता। ये वेदान्वेषकास्ते दार्शनिकपरिभाषानभिज्ञा अभूवन्, ये च प्राचीनशैलीपण्डितास्तेषामत्र वेदविषये प्रवृत्तिरेव नाभूदिति नैव तादृशः सुसमयो दुर्दैवग्रस्तेन भारतेन समासादितः।

एतत्सर्वं सुचिरं निध्याय विद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदनशर्ममहाभागाः मन्त्रेषु, ब्राह्मणेषु, स्मृतिषु, सूत्रेषु, पुराणेतिहासेषु, दर्शनेषु च तुल्यं परिश्राम्यन्तः सर्वैकवाक्यतया वैदिक-प्राचीन-वैज्ञानिकपरिभाषाया आमूलचूडमुद्धारे प्रवृत्ताः।......

सर्वोऽप्येवंविधः सुयोग ईश्वरेच्छयैव समुपनमति, तेन जगदीश्वरेच्छैव कालेऽस्मिन् वेदार्थ-प्रकाशनायानुकूलाऽभवदिति दृढं विश्वसिमः। '

अर्थात् वेदभाष्यकारोंमें सायणमाधवाचार्य प्रमुख हैं। यदि वे न होते तो आज निश्चयसे वेदोंको कोई न जानता। पर उनके भाष्यमें मंत्रोंके वैज्ञानिक अर्थोंकी उपेक्षा कर दी गई है। और तो और– "विष्णुना विधृते भूमी" इस मंत्र भागमें आकर्षण विज्ञानके स्पष्ट प्रतीत होने पर भी "दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः" इस मंत्रमें "मयूख" का अर्थ सायणने "पर्वत" किया है। उनको इस बातका संशय हो गया कि किरणें किस प्रकार पृथ्वीको धारण कर सकती हैं। पर्वतोंके द्वारा भूमिका धारण तो पुराणोंमें कहा ही है इसलिए सायणने उसी प्रकारकी व्याख्या कर दी।

उसी प्रकार "आ कृष्णेन रजसा" इस मन्त्रमें होनेवाली इस शंकाका कि "रजस्लोक काला किस प्रकारसे हो सकता?" समाधान सायणने यह कह कर दिया कि "सूर्योदयसे पूर्व रजस्लोक काला ही होता है।" पर उनकी समझमें यह बात नहीं आई कि पूरा सूर्यमण्डल ही काला है। इसका कारण यही है कि उस कालमें विज्ञानका सर्वथा अभाव था और अदृष्ट और अश्रुत अर्थोंमें बुद्धि कभी चलती नहीं।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु इन तीनों लोकोंमें क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य इन तीन देवताओंकी प्रधानता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदमें भी इन तीनों देवोंकी क्रमशः प्रधानता है तथा अन्य देव गौण हैं। ऋग्वेदमें अग्निका, यजुर्वेदमें वायुका और सामवेदमें आदित्यका विज्ञान प्रधान है और अन्य देवोंके विज्ञान उसके अंगीभूत हैं। इसीलिए– "अग्निमीळे पुरोहितं" (ऋ. १।१।१) में अग्निकी स्तुतिसे ही ऋक्संहिता प्रारम्भ होती है। यजुर्वेदमें– "इषे त्वोर्जेत्वा वायवः स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु" (यजु. १।१) इस मन्त्रभागमें वायुकी स्तुति करके इस वेदका प्रारम्भ किया है। "अग्न आयाहि वीतये" के शब्दोंमें सामवेद प्रारम्भमें ही अग्निरूप आदित्यकी स्तुति करता है। इसी अभिप्रायसे "अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेद" इन ब्राह्मणवचनोंमें ऋग्वेदादियोंकी उत्पत्ति लिखी है। इसी अभिप्रायको मनुने—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।
(मनुस्मृति १।२३)

इन शब्दोंसे व्यक्त किया है। पर मनुस्मृतिपर आजतक किसी गई किसी भी टीकामें इस श्लोकका स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

इसके बाद यदि किसी पण्डितने वेदोंमेंसे विज्ञानके सिद्धान्त निकाले भी, तो 'वह केवल कल्पना मात्र है' यह कह कर लोगोंने उसके परिश्रमको कोई प्रतिष्ठा नहीं दी। अतः जबतक वेदोंकी आलोडना करके परिभाषा-निरूपणपूर्वक वैदिक विज्ञान पद्धति लोगोंके सामने न लाई जाए, तबतक वैदिक मार्गका उद्घाटन नहीं हो सकता। पर उतना श्रम किसीने नहीं किया और न वैसी सामग्री ही प्रस्तुत की। जो वेदान्वेषक थे वे दार्शनिक परिभाषासे अनभिज्ञ हो गए और जो प्राचीन शैलीके पण्डित थे उनकी इस वेद विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं हुई, ऐसा भी समय इस दुर्दैवग्रस्त भारतमें आया।

इन सब अवस्थाओंका अच्छी तरह अध्ययन करके विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन झा मंत्रोंमें, ब्राह्मणोंमें, स्मृति ग्रंथोंमें, सूत्रग्रंथोंमें, पुराण और इतिहासोंमें और दर्शनोंमें परिश्रम करते हुए वैदिक प्राचीन वैज्ञानिक परिभाषाके उद्धारमें प्रवृत्त हुए।

इस प्रकारका सब सुयोग ईश्वरेच्छासे ही होता है, इसलिए ईश्वरकी इच्छा भी इस समय वेदार्थके प्रकाशनके लिए अनुकूल हो गई है, ऐसा हमारा दृढ विश्वास है।

श्री ओझाजीके 'ब्रह्मसमन्वय' ग्रन्थसे १४ इन्द्रोंमेंसे १-२ का परिचय निम्न प्रकारसे है—

य इन्धे यान् य इष्टे यान् यो यो यान् यान् प्रति प्रति।
स तेषामिन्द्र इत्युक्तस्तथा हीन्द्राश्चतुर्दश ॥ २४६ ॥
सत्यं श्वा विद्युदुत्साहः प्रज्ञा प्राणो द्युतिर्बलम्।
वागात्मायुर्व्योमरूपं गतिरिन्द्राश्चतुर्दश ॥

१ सत्यमिन्द्रः।

कौषीतक्युपनिषदि 'सत्यं हीन्द्रं' इति श्रुतम्।
(कौ. उ. ३।१)
नेन्द्रः सत्यादपैत्येष इत्यपि श्रूयते श्रुतौ ॥ २४७ ॥
(कौ. उ. ३।१)
सत्यं तन्नियतिर्नाम सोऽन्तर्यामीन्द्र उच्यते।
नियत्या सर्वमाक्रान्तं कर्माणि नियतेर्वशात् ॥ २४८ ॥

पृथिव्यामप्सु चाग्नौ चान्तरिक्षे पवने दिवि।
दिक्ष्वादित्ये चन्द्रऋक्षे तमसि व्योम्नि तेजसि ॥ २४९ ॥
प्राणेवाच्यक्षणि श्रोत्रे विज्ञाने मनसि त्वचि।
अपि चान्येषु सर्वेषु तिष्ठंस्तेभ्योऽन्तरोऽस्ति यः ॥ २५० ॥
भूतानि विग्रहो यस्य यं च भूतानि नो विदुः।
यश्च सर्वाणि भूतानि यमयत्यन्तरस्थितः ॥ २५१ ॥
आत्मा स सर्वभूतानामन्तर्याम्यमृतो मतः।
द्रष्टा श्रोता स विज्ञाता मन्ता न त्वन्य इष्यते ॥ २५२ ॥
अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥
(य० ७।५)

२ श्वा इन्द्रः।

श्वा नाम कश्चिदिन्द्रोऽन्यः शुनासीर्येशुनश्च सः।
शून्यं शून्यं शुने तस्मै हितं शिवाय तत्र सः ॥ २५३ ॥
नेन्द्राद् ऋते धाम किञ्चित् पवते खल्विति श्रुतिः।
सर्वं शून्यांशुना व्याप्तं स आकाश इति स्मृतः ॥ २५४ ॥
यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्टरोदसी ॥
(ऋ. ८।७०।५)
योऽसौ त्रिलोकी साहस्रमिन्द्रो नामाति गच्छति।
तमाकाशमिति प्राहुराकाशे भुवनत्रयम् ॥ २५५ ॥
अयस्वे लोकभाषायां स ईश्वर इति स्तुतः।
स इन्द्र ईश्वरः श्वेति कथ्यते शुन इत्यपि ॥ २५६ ॥

इन्द्रस्यैक्यान्वादेशः।

अथवा महिमास्ते ये न इन्द्राः पृथग्विधाः।
इन्द्रोयमेक एवस्यादक्षरो ब्रह्मणा धृतः ॥ ३२३ ॥
प्राण एवैक इन्द्रः स्याद् यः प्राणमधितिष्ठति।
प्राणस्यैवानु भावाः स्युर्विद्युदात्मायुरादयः ॥ ३२४ ॥
उत्तेजयत्याक्रमते दभ्नोति च नियच्छति।
उत्क्षेपयत्युत्क्रमते षोढा ह्यस्यैक एव सः ॥ ३२५ ॥
(ब्रह्मसमन्वये अक्षरानुवाकः)

जो यज्ञ करता है, और जिसको लक्ष्य करके यज्ञ करता है, वह उनका इन्द्र कहाता है, वह इन्द्र चौदह प्रकारका है।

सत्य, श्वा, विद्युत्, उत्साह, प्रज्ञा, प्राण, द्युति, बल, वाक्, आत्मा, व्योम, रूप, गति ये चौदह इन्द्र हैं।

१ सत्य इन्द्र

कौषीतकि उपनिषद्में 'सत्यं हीन्द्रं' (सत्य ही इन्द्र है) ऐसा कहा है। तथा श्रुतिमें ऐसा भी सुना जाता है कि इन्द्र सत्यसे दूर नहीं हटता।

सत्य ही नियति (भाग्य) है और वही अन्तर्यामी इन्द्र कहा जाता है। नियतिके द्वारा सब व्याप्त है और नियतिके कारण ही सब काम किए जाते हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, पवन, द्यु, दिशा, आदित्य चन्द्र, तारे, अन्धकार, आकाश, तेज।

प्राण, वाणी, आंख, कान, विज्ञान, मन, त्वचा इन सबमें तथा और भी सभी प्राणियोंके अन्दर जो स्थित है।

सारे प्राणी जिसकी मूर्ति हैं, पर प्राणी जिसको नहीं जानते और जो अन्दर स्थित होकर सारे प्राणियोंका नियमन करता है।

सब प्राणियोंके अन्दर स्थित वह आत्मा अमृत है, वही द्रष्टा, श्रोता और विज्ञाता अर्थात् सभी कुछ है।

तुझे द्यावापृथिवीके अन्दर स्थापित करता हूँ, तुझे विशाल अन्तरिक्षमें स्थापित करता हूँ। हे अन्तर्यामि ऐश्वर्यवान् ईश्वर ! तू सभी देवोंके साथ हमें आनन्दित कर।

२ श्वा इन्द्र

श्वा नामका कोई दूसरा भी इन्द्र है, उसे शुनासीर् भी कहते हैं, उसके लिए सब शून्य स्थान ही रखा जाता है, जहां वह बढता है।

वेदका वचन है कि 'इन्द्रके बिना कोई भी लोक गति नहीं करता।' वह सब शून्यसे व्याप्त है, उसे आकाश भी कहा जाता है।

'हे वज्रधारी इन्द्र ! यदि सैकडों द्युलोक और सैकडों भूमियां हो जाएं अथवा सहस्र सूर्योंवाली भी यदि द्यु हो जाये, तो वे सब मिलकर भी इन्द्रको व्याप नहीं सकते। (ऋ. ८।७०।५)

जो सहस्र त्रिलोकोंसे भी विस्तृत इन्द्र है, उसे आकाश कहते है और इस आकाशमें तीनों लोक स्थित हैं।

आधुनिक भाषामें उसे ईथर कहते हैं। इस प्रकार वह इन्द्र ईथर, श्वा और शुन भी कहा जाता है।

अथवा अन्य महिमाओंके कारण अनेक प्रकारके इन्द्र हैं। यह अविनाशी और ब्रह्मणके द्वारा धृत इन्द्र एक ही है।

प्राण ही एक इन्द्र है, जो प्राण पर अधिकार रखता है। शेष विद्युत्, आत्मा, आयु आदि प्राणके ही अनुभाव हैं।

उत्तेजना देता है, आक्रमण करता है, दबाता है, नियंत्रण करता है, ऊपर फेंकता है, फिर निकल जाता है, इस प्रकार वह एक ही छै प्रकारसे शासन करता है।

श्री ओझाजीने 'देवतानिवित्' के वक्तव्यमें लिखा है— '... प्राचीनकालके व्यवहारोपयोगी कितने ही शब्दोंके अर्थ भी उन व्यवहारोंके नष्ट होनेसे विस्मृत हो गए। व्याकरणके धातु प्रत्यय द्वारा उन रूढ शब्दोंके अर्थके अनर्थ किए जा रहे हैं- जैसे अरण शब्द जो असंबंधी अपरिचित गैर व्यक्तिका वाचक है, इसका 'अभाषण' 'असंशब्दन' इत्यादि अर्थ व्याकरणके बलसे किया गया है (ऋ० सं० ५।०।० भाष्ये) इत्यादि।

इस प्रकार ओझाजीका लगभग २८० ग्रन्थात्मक संस्कृतमें एवं ८० हजार पृष्ठात्मक हिन्दीमें लिखा हुआ पं॰ मोतीलालजी शर्माका विज्ञानसाहित्य जयपुरमें पडा हुआ है। उसका उद्धार आप जैसे समर्थ ही कर सकते हैं।

निवेदक आपका

उद्धव

● ● ●

संक्रामक रोग तथा हवन यज्ञ

[मूल लेखक—स्व. श्री डा० फुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम्. डी. (लंदन) मेडिकल आफिसर टी. बी. सेनेटोरियम]

रोगोंमें संक्रामक रोग बहुत भयानक होते हैं। तपेदिक, हैजा, प्लेग, चेचक, मोतीझरा इत्यादि सब संक्रामक अर्थात् छूतके रोग हैं। यह छूत क्या है, कैसे लगती है, आधुनिक नवीन विज्ञान इससे बचनेके क्या उपाय बताता है और हवन यज्ञ द्वारा इन रोगोंसे कैसे रक्षा होती है, ये बातें संक्षेपमें यहां बताई जावेंगी।

जब कोई रोग, रोगीके सम्पर्कसे दूसरे स्वस्थ मनुष्यको लग जावे, उसे हम लोग छूतकी बीमारी (Contagious Disease) कहते हैं। भारत, अफ्रीका तथा अरबके कुछ प्रदेशोंमें सामान्य लोगोंका ऐसा विचार है कि छूत की बीमारीके रोगीको कोई भूत-प्रेत चिपटा रहता है, जो उड़कर स्वस्थ मनुष्यको लग जाता है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। छूत लगनेका कारण छोटे कृमि होते हैं, जिनको डाक्टरीमें बैक्टीरिया कहते हैं। ये कृमि इतने छोटे होते हैं, कि आँखसे दिखाई नहीं देते और दिखाई भी कैसे दे सकते हैं, जब कि यह इतने छोटे होते हैं, कि यदि इनको बराबर-बराबर रखा जाय तो सामान्यतः २५,००० कृमि एक इंच स्थान घेरेंगे और यदि इनको तौला जावे तो एक खसखसके दाने पर बीस अरब कीड़े चढ जावेंगे। भिन्न भिन्न रोगके कृमि विभिन्न आकृति और आरवाके होते हैं, इसीलिए पिछले वाक्यमें 'सामान्यतः' शब्दका प्रयोग किया गया है।

कृमि द्वारा रोगका होना भारतवर्षके विद्वान् बहुत समय से जानते थे। चेचक इत्यादिके रोगीके पास प्रत्येक व्यक्तिको न जाने देना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अब भी मिलता है। वेदोंमें अनेक स्थानों पर इन कृमियोंका वर्णन किया गया है। प्रमाणके लिए केवल एक मंत्र नीचे दिया जाता है—

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वान् छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि॥ (अ. कां. २, सू. ३१, मंत्र २)

दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले कृमियोंको मैंने नष्ट कर दिया है। इत्यादि।

योरूपमें भी बहुत समयसे यह धारणा विद्यमान थी, किन्तु उस समय कृमियोंकी विद्यमानताको अनुमानसे ही सिद्ध करते थे। प्रत्यक्ष नहीं देख सकते थे। Dr. Lenwan Locks के अन्वेषणके पश्चात् जब लगभग दो शताब्दीसे इस विद्यामें विशेष उन्नति हुई है और पिछली शताब्दीमें तो किन्हीं-किन्हीं अन्वेषणकर्ताओंने आश्चर्यजनक अन्वेषण करके और इस विषय पर बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखकर संसारको चकित कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक भयंकर रोगोंकी चिकित्सा बड़ी सुगम हो गई; और अब कृमिका होना केवल अनुमानसे ही नहीं सिद्ध किया जाता, किन्तु ऐसे यन्त्र आविष्कृत हो चुके हैं, जिनके द्वारा इतने बारीक कृमि आँखसे देखे जा सकते हैं।

ये कृमि प्रत्येक स्थान पर मिलते हैं। पृथ्वीका कोई स्थान कदाचित् इनसे रिक्त नहीं है। नित्य प्रति अनेक कृमि नाक और मुँह द्वारा हमारे शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और हमारी त्वचा पर भी चिपटे रहते हैं। यदि आप किसी ऐसे कमरेमें बैठे हों, जिसमें किसी छिद्रमेंसे सूर्यप्रकाश आता हो, तो आपको इस प्रकाशमें हजारों परमाणु उड़ते दृष्टिगोचर होंगे। इन्हीं परमाणुओंमें लाखों-करोड़ों कृमि होते हैं। खुली वायुकी अपेक्षा बंद वायुमें, विशेषतया जहां अधिक मनुष्य रहते हों और ऊपरकी अपेक्षा नीचेकी वायुमें अधिक कृमि पाए जाते हैं। स्वच्छ वायु किन्हीं कृमियोंकी कट्टर शत्रु है। ये कृमि पतझड़की ऋतुमें सबसे अधिक और सर्दीमें सबसे कम होते हैं। शुद्ध निर्मल जलमें न्यून और मैले जलमें अधिकतासे होते हैं। बहते जलमें कम और बंद जलमें अधिक होते हैं। गंगाके निर्मल जलमें इनका अभाव है।

जब कहीं गढे आदिमें मैला पानी सूख जाता है तो इससे कृमि भी सूखकर वायुमें उडने लगते हैं और रोगोंको फैलाते हैं। मिट्टीमें भी यह कृमि रहते हैं। जहाँ मुर्दे गाडे जाते हैं, वहाँ तो यह बहुत अधिकतासे होते हैं और हजारों रोगोंका कारण होते हैं। इसीलिए तो वैदिक धर्मने शवको गाडनेके स्थानपर जलानेकी आज्ञा दी है। बुद्धिमान् व्यक्ति पश्चात्य देशोंमें भी अब शव गाडनेके स्थानमें जलानेकी प्रथा प्रचलित कर रहे हैं।

दाल, रोटी, साग आदिका स्वाद बिगड जाना, दूधका खराब हो जाना— यह सब इन्हीं कृमियोंके कारण होता है। रोटी पर जो फँफूदी आ जाती है उसमें असंख्य कृमि होते हैं। ताजे संतरेका रस निकालकर रख दो, तो दो ही दिनमें इन्हीं कृमियोंके मिलनेके कारण उसका स्वाद बदल जावेगा, पर यदि उसे बोतलमें भरकर बोतल इस तरकीबसे बंद कर दो कि उसमें वायुका प्रवेश न हो सके अर्थात् उसमें वे कृमि न पंहुच पावें तो वही रस महीनों पश्चात् भी वैसा ही ताजा निकलेगा। आधुनिक विज्ञानने इस मर्मको समझकर फलके रसोंकी तिजारत करके लाखों रुपया कमाया है। पर रोग रक्षा विषयमें यह उपाय कितने अपूर्ण हैं, यह अन्यत्र बतावेंगे।

कृमियोंकी सन्तानोत्पत्ति

कृमियोंकी सन्तानोत्पत्तिका ढंग बिलकुल निराला है। एक कृमि थोडासा लम्बा होकर दो भागोंमें विभक्त हो जाता है और फिर दोनों भाग पृथक्-पृथक् कृमि बन जाते हैं। आध घंटेसे कुछ कममें एक कृमिके दो हो जाते हैं। अनुमान किया गया है कि एक कृमि दस घंटोंमें बीस लाखकी संख्यातक बढ सकता है और विशूचिकाका एक कृमि एक दिनमें चार अरब अस्सी करोडकी संख्यामें हो जाता है। तब ही तो इस रोगके अधिक रोगी नहीं बचते।

आधुनिक विज्ञान इनसे रक्षाका क्या उपाय बताता है ?

इन कृमियों द्वारा जो रोग उत्पन्न होते हैं या जो छूतकी बीमारी होती है, उनसे बचनेके उपाय आधुनिक विज्ञानने बडे अन्वेषण और गहरी खोजके पश्चात् ये बतलाए हैं—

(१) घरमें कोई रोगी हो तो घरवाले उसके पास न जावें। उसके पात्र, वस्त्र, मकान आदि सब पृथक् हों और घरके स्वस्थ पुरुष उस रोगसे बचनेकी टीका लगवा लें।

(२) यदि नगरमें कोई संक्रामक रोग फैला हो, तो अन्य बहुतसे प्रतिबन्धोंके साथ-साथ समस्त नगरके लोग टीका लगवा लें। यदि देश भरमें फैला हो तो सारा देश टीका लगवावे और कई रोग साथ-साथ फैले हों तो सबका पृथक्-पृथक् टीका लगवावें।

विचारणीय यह है कि भारत जैसे निर्धन और धर्मपरायण देशमें क्या यह संभव है कि पुत्र रोगशैयापर पडा हो और माता-पिता उसके समीप न जावें, पति रोगी हो और पत्नी पृथक् बैठी रहे, उसकी कोई वस्तु न छुए ? रोगीका कार्य करनेको हर समय नर्स बुलाई जावें या अपने घरके किसी व्यक्तिके रोगी होते ही उसे शफाखानेमें डालकर सब चले आवें ?

टीका लगवाना भी सरल काम नहीं। प्रथम तो जब यह ज्ञात होता है कि टीकाके कार्यमें अनेक जीवित पशुओंका रक्त, उन्हें विभिन्न प्रकारकी यातनाएं देकर मशीन द्वारा निकालकर काममें आता है, तो धार्मिक संस्कारोंसे संस्कृत भारतीयोंको तो उससे वैसे ही घृणा हो जाती है। फिर आजकल तपेदिक, प्लेग, हैजा मोतीझरा इत्यादि अनेक रोग नगरोंमें नित्य फैले ही रहते हैं। किस-किसका टीका कौन-कौन ले ? जब कि उनका प्रभाव भी अस्थायी होता है और उनमेंसे अनेक टीके पुरुषत्व शक्ति एवं जीवनी शक्तिको भी हानि पहुँचाते हैं। तो प्रश्न यह उठता है कि—

फिर क्या करें ?

सबसे उत्तम उपाय यह है कि प्रत्येक घरमें नित्य प्रति हवन किया जावे, जिससे वायु शुद्ध और हल्की होकर स्वयं कृमियोंका नाश कर दे। उस वायुके घरमें फैलनेसे जहाँ खानपानकी वस्तुएँ कृमिरहित होवेंगी, शीघ्र सडनेसे बचेंगी वहाँ स्वस्थ पुरुष रोगकी छूतसे सुरक्षित रह सकते हैं। वही परमाणु वायुमें सम्मिलित होकर श्वास द्वारा जब रोगीके शरीरमें प्रवेश करेंगे तो वहाँसे कृमियोंका नाश करेंगे। शतपथ ब्राह्मण (१, १, ४, १४-१८) में लिखा है—

' किलात और आकुली, अतिसार और विशेष सूजनके रोग आर्योंको दुःख देते रहते थे। इनके नाश करनेके लिए ऋषभ नामी औषधिसे सफलता न हुई। आर्योंको इस

कारण बनेका था। बहुत अन्वेषणके पश्चात् इन रोगोंका यज्ञ द्वारा नाश करनेका उपाय सूझा और वह सफल हुए।'

इस प्रसंगमें दो रोग असुर कहे गए हैं और एक स्थान पर कहा गया है कि 'असुर तथा राक्षस (अर्थात् कृमि) यज्ञसे भयभीत होते थे, क्योंकि वह उन कृमियोंका मारनेवाला होता था।'

अतः हवनसे बढ कर और कोई उपाय इस छूतसे बचनेका नहीं हो सकता। इसीलिए वैदिक धर्ममें प्रातः सायं हवन करना धार्मिक कृत्य ठहराया है ताकि हर एक मकानकी वायु शुद्ध होकर रोगोंका नाश कर दे। इतिहास भी इसकी पुष्टि करता है। जिस समय हवनकी यह प्रथा थी रोगोंकी ऐसी भरमार न थी। लोकसभा विधानसभा, म्युनिसिपल बोर्ड आदिके सदस्य एवं अधिकारी यदि इस ओर ध्यान दें और करोडों रुपया टीका इत्यादिकी औषधियोंपर व्यय करनेके स्थान पर नगरोंमें नित्यप्रति विधिपूर्वक हवन करानेका प्रयत्न करें तो रोगोंका बढता हुआ वेग आज रुक सकता है। देशका रुपया देशमें ही रहेगा, विदेशियोंको मौज मारनेका अवसर न मिलेगा। फिर वे हमारे गुरु नहीं होंगे, इस विद्या और विषयमें हम उनके गुरु होंगे।

हमारे हिन्दुभाई तो परम्परासे यज्ञकी महिमा देखते आए हैं। हिन्दुओंमें अब भी प्रथा है कि चेचक, हैजा इत्यादि फैले, तो देवीजीके नामसे हवन कराया जाता है। यद्यपि इस समय विधिपूर्वक और यथेष्ट परिमाणमें हवन न होनेसे यथेष्ट लाभ भी प्राप्त नहीं होता, फिर भी इससे यज्ञकी प्राचीनता तो सिद्ध होती ही है। और जहाँ कहीं विधि अनुकूल हवन कराए गए, वहाँ इस प्रकारके रोग नष्ट हो गए, क्योंकि हवनसे वायुमंडलमें फैले कृमियोंका नाश होता है।

नोट— १) स्वर्गीय डाक्टर साहबने, बादमें अवसर मिलनेपर, सरकारी सेनेटोरियममें यज्ञ चिकित्साके परीक्षण किए थे, जो क्षयरोगियों पर ८० प्रतिशत तथा मलेरिया ज्वर, मियादी ज्वर तथा अन्य प्रकारके ज्वर, प्लेग, हैजा, चेचक आदि पर शत प्रतिशत सफल हुए।

२) किस अवसर पर, किस रोगमें किस हवन सामग्रीका प्रयोग करना चाहिए यह 'आयुर्वेदिक प्राकृतिक चिकित्सा' 'देवयज्ञ' आदि 'यज्ञचिकित्सा' पुस्तकोंमें देखें या ०.१५ नए पैसेके टिकट भेजकर 'स्वास्थ्य भंडार, ३४३।२, लोधपुरवा, नौबस्ता, लखनऊ-३ से विशेष सामग्रीका नुस्खा मँगा सकते हैं। (अनुवादक)

—अनुवादक- रवीन्द्र अग्निहोत्री, एम. ए.

पुरोहित अग्नि

(लेखक— श्री अभयदेव शर्मा, एम्. ए., मदन गंज किशन गढ, अजमेर)

विश्वामित्र-गोत्रीय मधुच्छन्दा पुरोहित अग्निका भक्त है। ऋग्वेद-संहिताके आरंभमें उसके सूक्तोंका संग्रह मिलता है। उसके प्रथम सूक्तके प्रथम मन्त्रका आदिम पद है 'अग्निम्'। मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ। अग्नि ईड्य है, स्तोतव्य है। अग्नि पूर्व ऋषियोंका और नूतन ऋषियोंका ईड्य है, क्यों कि वह देवोंको यज्ञमें लाता है। ऋषियोंकी परम्परा जिस अग्निका स्तवन करती चली आ रही है, वह अग्नि मेरे लिये भी स्तवनीय है, मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं। ऋषि दर्शक है मन्त्रोंका, जगत् और जीवनके गुह्य तत्त्वोंका, धर्मके रहस्योंका। ऋषिका सतत विकासशील, सत्यानुसंधान-रत जीवन जिन वेदितव्योंको विदित कर चुका है, उन्हींके समुच्चय-रूपमें वेद हम मानवोंको प्राप्त हैं।

अग्निकी स्तुति मैं क्यों करूँ? क्या यह भौतिक अग्नि, जो काष्ठहित है, जो हमारे भौतिक कार्योंको सम्पन्न करता है, स्तुतिके योग्य है? यह भौतिक अग्नि दो रूपोंमें हमारे समक्ष आता है; एक पुरोहित रूपमें, दूसरे तिरोहित रूपमें। काष्ठखण्डोंमें बसा अग्नि तिरोहित अग्नि है। वह ईड्य नहीं है; तिरस्करणीय है। उसका तिरस्कार स्वाभाविक है। उससे किसीको डर नहीं लगता; वह अनादरणीय है। तद्विपरीत, जो पुरोहित अग्नि है, जो समक्ष उपस्थित है, उसका जन्म काष्ठखण्डोंके, अरणियोंके मंथनसे हो चुका है। वह जातवेदाग्नि तथ्य है जो साक्षात् है।

यदि प्राणि आंख मींचकर उसकी उपस्थितिको झुठलाना चाहे, तो यह उसका अपने-आपको झुठलाना होगा। पुरोहित अग्नि जब तिरोहित था, तभी उसकी उपेक्षा सम्भव थी। अब तो वह सचमुच अनुपेक्षणीय बन गया है। यह पुरोहित अग्नि पुरस्करणीय है; वह अपने जन्म द्वारा पुरस्कृत हो चुका है। तिरोहित अग्निका तिरोधान पुरोधानमें परिवर्तित हुआ नहीं, कि अग्निका बल प्रकट हुआ नहीं। अब इस अग्निके संपर्कमें जो भी आता है, वह उसके नाम और रूपको धारण कर लेता है। भक्ष्याभक्ष्य, खाद्याखाद्य, शिष्टानिष्ट जो भी अग्निको प्राप्त होगा उसके बुभुक्षा-शमनका भोग बन जायेगा। समस्त संसार अग्निका भोग्य है। अग्निकी प्रचण्ड शक्ति प्राणियोंके लिये हितकारी और अनर्थकारी दोनों रूप धारण कर सकती है। अतः उसका शमन, नियमन आवश्यक है। तभी अग्नि यज्ञका सम्पादन कर सकता है।

यह अग्नि संसारके प्रत्येक भौतिक पदार्थमें निहित है। अग्नि अपने तिरोहित रूपमें सर्वत्र व्यापक है। प्रत्येक जीवित प्राणी— मानव, पशु, पक्षी, जलचर जीव— इस अग्निके कारण जीवित है, चेतन है। चेतना अग्निका ही अपर नाम है। यह चेतनारूप अग्नि जब नष्ट हो जाता है, तब शिवरूप प्राणी शवरूप हो जाता है। चाहे कितना ही प्रिय और निकटका कोई क्यों न हो, इस अग्निके निकल जानेपर मानव श्मशानवासी हो जाता है; जीवजगत्से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जबतक मानवमें अग्नि है, वह पिता है, पुत्र है, भाई है, गुरु है, मित्र है, पत्नी है, माता है, भगिनी है, पुत्री है, सब कुछ है। संसारके सब रिश्ते-नाते इस अग्निके ही कारण हैं। अग्निके ही ये सब भिन्न भिन्न नाम हैं। इस अग्निको ही ऋषि दीर्घतमा 'सत्' कह कर पुकारते हैं। ठीक तो है। सत्, सत्तावान् तो केवल अग्नि है। अग्निकी ही वास्तविक सत्ता है।

सारा संसार अग्निके ही कारण नामरूपात्मक देह धारे खड़ा है। इसका प्रयाण होते ही, नाम और रूपको त्याग कर जगत् अग्निमें लीन हो जाता है। जो जड पदार्थ हैं उनमें भी यही अग्नि विलास कर रहा है। तृण, लता, वृक्ष आदिका अग्नि शान्त हो जानेपर हरियाली सूखा बन जाती है; सर्वत्र पीला पतझड छा जाता है; वृक्ष ठूंठ-मात्र रह जाते हैं। पत्थरमें अग्नि है, जलमें अग्नि है, वायुमें आग्नेय तत्त्व हैं, आकाशमें 'ईथर' नामसे अग्निके परमाणु घर्षण

कर रहे हैं। पंचतत्त्व सब आग्नेय हैं। अग्निर्वै सर्वा देवताः। स्थावर जङ्गम, चेतनाचेतन सर्व जगत् अग्निमें समाया हुआ है, अग्नि सबमें व्यापक है। जो कुछ भी जगतीमें है, वह जगत् है, चल है, गतिशील है (यत्किञ्च जगत्यां [तज्] जगत्)। इस गतितत्त्वका नियामक अग्नि है। बल्कि, कहना चाहिये कि यह गतिशीलता ही अग्नि है।

यह सर्वव्यापक अग्नि अपने पुरोहित-रूपमें जगद्वन्द्य है, सबका ईड्य है। मधुच्छन्दाके साथ सब ऋषि मधुपृक्त छन्द बना-बनाकर अग्निका ईडन, स्तुति किया करते हैं। हमारा समस्त जीवन अग्निकी स्तुतिमें एक गीत है, मधुर गायन है। यह जिजीविषा-रूप ईडन ही मानवका सर्वस्व है, मानवका मानवत्व है। मानव और अन्य प्राणियोंके सर्व कर्मकलाप अग्निकी परिक्रमा हैं। हमारा जीवन अग्निमय है, हमारा अस्तित्व, हमारे कर्म, अक्षिनिकोचसे लेकर हृदयका सूक्ष्मस्पन्दन, सब कुछ अग्निका ही वर्णन है। हम सब अग्निरूप हैं। वही अग्नि जो तिरोहित रूपमें सर्वव्यापक है, पुरोहित बनकर मानव, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि भौतिक पदार्थोंके रूपमें उपस्थित होता है। अदृश्य, अदृष्ट अग्निका अस्तित्व बुद्धिगम्य है, कल्पनीय है, अनुभव करनेका विषय है। परन्तु ईडन, स्तुति, पूजन, व्यवहारमें उपयोग पुरोहित अग्निका ही सम्भव है। दारुखण्डमें समाहित अग्नि व्यवहार-योग्य नहीं होता, क्योंकि वह तिरोहित है।

जब वह गुणातीत अग्नि अपनी तेजस्वी लपटोंके साथ सगुणात्मक अंगिरा-रूपमें पुरोहित हो जाता है, तभी उसमें सर्वलोकोपकारी वेग उत्पन्न होता है। विश्वरूप इस पुरोहित अग्निकी स्तुति करो। सारा जड-चेतन जगत् पुरोहित अग्नि है। उसका ईडन, स्तुति करना योग्य है। यह जगत् स्वप्न नहीं, मिथ्या नहीं, यह तो साक्षात् पुरोहित अग्नि है, सत्य ब्रह्म है। कितना दिव्य और तात्त्विक संकेत मधुच्छन्दाके प्रथम ही उद्गारमें निहित है। जितना भी तत्त्वज्ञान है वह इस सूत्र (अग्निमीळे पुरोहितम्) का ही महाभाष्य है। हमारा बौद्धिक और शारीरिक जितना भी कर्मकाण्ड है, वह इस ज्ञानकाण्डकी ही व्याख्या है, वृत्ति है। यही वेदान्त है, यही अद्वैत तत्त्व है, यही हमारा आदर्शवाद और यथार्थवाद है। यही व्यवहार है, यही परमार्थ है।

कोई किसीमें अनुरक्त क्यों होता है? कोई किसीका उपकार क्यों करता है? दीन-दुःखीको देखकर क्यों हृदयका एक-एक तार करुणा और सहानुभूतिमय वेदनासे झंकृत हो जाता है? आत्मा-आत्माका यह सूक्ष्म बन्धन मानवोंमें ही नहीं, पशु-पक्षियोंतकमें, वृक्ष-वनस्पतियोंमें भी व्याप्त हुआ है। यह अग्निका ही तो कमाल है। वह सर्वव्यापक आत्मा ही अपने-आपका नामरूपात्मक जगत्‌में वेदन किया करता है। जिसमें यह सर्व भूतात्मक जगत् आत्मा-रूपमें विराजमान हो जाता है, उसमें मोह और शोकका क्या काम? वहां तो शुद्ध अद्वैतवाद है। समाजके प्रति, संसारके प्रति मेरे कर्तव्य हैं? क्यों? क्योंकि मुझ अग्निका ही यह जगत् विकास है।

अपनी कामनावश 'एक' ही 'बहु' हो रहा है। अपना आत्मदर्शन मैं सर्वत्र कर सकूं, सर्वत्र मेरी सहानुभूतिका जाल विस्तृत हो जाये; मैं स्वयंभू अपने आपको परिभू बना लूं; ब्रह्माग्निके परिभू-स्वरूपको आत्माग्निके स्वयंभू-रूपके साथ समन्वित करके लावूं, यही तो सर्वदर्शनोंका संग्रह है, यही युग-युगोंसे अवतरित होनेवाले भगवत्शक्तिके अंशावतारोंके सन्देश हैं, यही सच्चा प्र-गतिवाद है, यही वास्तविक यथार्थवाद है, यही जीवलोकयात्राका वृत्तान्त है, यही ज्ञान है, यही विज्ञान है, यही परमागति है।

तो, मैं इस पुरोहित अग्निकी स्तुति करता हूँ। इस पुरोहित अग्निकी स्तुति किये बिना गति नहीं है। यह पुरोहित 'शवसस्पति' है, बलका आगर है। यह अपनी स्तुति-उपासना स्वयं करा लेता है। जाने-अनजाने सब अग्निकी स्तुति तो कर ही रहे हैं। परन्तु ज्ञानपूर्वक स्तुति में जो आनन्द है, वह मूढ और अनजानी, या जबरदस्ती की स्तुतिमें कहां है? कोई अपना कर्तव्य जानकर स्तुति करते हैं, कोई दूसरोंकी देखा-देखी करते हैं, कुछ लोक लाजवश करते हैं, कुछ लौकिक लाभ, धन, मान, यशके लोभमें अग्निका स्तवन करते हैं, कुछ स्वाभाविक अनुराग वश करते हैं। जो आनन्द भगवान्‌के चरणोंमें सर्वात्मना समर्पित हो जानेवाले 'सूर' को प्राप्त होता है; वह 'उद्धव' और 'बिहारी' के पल्ले पड़नेवाला तत्त्व नहीं है। इस सार्थक भक्तिके लिये, सज्ञान स्तुतिके लिये मूलका सिञ्चन-हृदयमें विश्वास एवं आस्था, तथा बुद्धिमें निश्चय,-भुवज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

त्रिविध दुःख-निवृत्तिका परम साधन

पुरुषार्थ

लेखक :
श्री ब्रह्मचारी जगन्नाथ पथिक, गुरुकुल काङ्गड़ी

[गताङ्कसे आगे]

⊙

४- निदिध्यासन— यह मुख्यरूपसे बुद्धिका व्यापार है। निदिध्यासनका अर्थ है— बुद्धिकी विवेचनात्मक वृत्तिके द्वारा विषय-विज्ञानका निर्णय करना; किन्तु यहां पर भी लोक-व्यवहार, प्रवृत्ति, मन तथा बुद्धिके कर्मोंमें विभेदन कर सकनेके कारण ही दोनोंके व्यापारोंका संस्कार-सा कर दिया गया है। चिन्तन, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कारमें स्पष्टतः भेद है। जैसे 'मनन' में प्रधानता मनके व्यापारकी होती है, उसी प्रकार निदिध्यासनमें बुद्धिका विवेचनात्मक कर्म मुख्य होता है; क्रिया प्रधान तथा विषयोंसे रंजित किंवा प्रतिबिम्बित हो जानेके स्वभाववाला (नकल करनेवाला) यह मन, चित्तमण्डलसे भोग प्रदान करनेके लिए आए इन प्रबुद्ध संस्कारोंको एक प्रकारसे नकशे वा खाके (प्रतिच्छाया) बनानेके समान ही मूर्तरूपमें परिणत करके, तद्विषयक निर्णय करानेके लिए बुद्धि-मण्डलमें लाकर रख देता है। किसी प्रकारका निश्चय करानेसे पूर्व यह मन, इन संस्कारोंको टटोलते और देखते समय, स्वकीय संकल्प-विकल्पात्मक क्रियाके द्वारा, बिना पालिश की गयी प्रतिमाके समान मूर्तरूप दे चुकता है। बुद्धिके पूर्ण सहयोगके बिना मनकी दशा उस अनभिज्ञ बालकके समान होती है, जो एक कुम्भकारको मिट्टीसे खिलौने आदिक बनाता देखकर, स्वयं भी उन्हें बनाने लगे और बिना सोचे-समझे बनाता और तोडता भी जाए। कुम्भकार तो बेडौल खिलौना ही तोडता है, परन्तु वह अज्ञ बालक उन खिलौनोंका न तो मूल्य समझता है और न उनके सौन्दर्य अथवा कुरूपताका कुछ अंकन कर सकता है; वह तो बनाता-बिगाडता चला जाता है। परन्तु जब कोई विज्ञ व्यक्ति उस बालकको गौ और हिरणमें, कसोरे और सरावेमें भेद बता देता है तो वह समझ भी जाता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित। अथवा एक गूंगे-बहरे भृत्यके समान, जो पदार्थोंकी विवेचना करने तथा उन्हें उपयोगमें लानेके ज्ञानसे तो वंचित है, किन्तु पदार्थोंके आकार-प्रकार-रूप 'मूर्ति' के ज्ञानसे परिचित न होने कारण उन पदार्थोंको, निर्दिष्ट स्थानपर रखना मात्र जानता है; ऐसा ही मन भी है।

अब मनके द्वारा उपस्थित किए ज्ञान वा पदार्थोंके विषयमें रजोगुण प्रधान बुद्धि जब सुन्दर-असुन्दर, भला-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, धर्म-अधर्म, त्याज्य-ग्राह्य आदिका तर्क-वितर्क, ऊहा-पोहके द्वारा विवेचन करती हुई- अपनी वृत्ति विशेष 'ध्यान' के द्वारा छान-बीनपूर्वक निर्णय कर रही होती है तब यही निदिध्यासन होता है। परन्तु यह निदिध्यासन सर्वथा 'निर्भ्रान्त' नहीं होता, फिर भी बुद्धिकी स्वाभाविक, प्रकाश-शीलता अथवा निर्मलताके कारण अधिकतर यथार्थताकी ओर झुका होता है। तभी तो एक अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति, किसी विशेष विषयक पण्डित, साधारण ज्ञान रखनेवाले व्यक्तिके निर्णयमें दोष दिखा देता है; अथवा किसी संकटके समय कोई विचित्र सुझाव दे देता है। जब यह भला-बुरा संयुक्त-रूप उभयात्मक निर्णय अथवा विवेचना करते समयमें बुद्धिमण्डलगत प्रतिक्षण

होनेवाले सब व्यापारकी सूचनाको बुद्धिसे ग्रहण करके यह मन, हृदयस्थ अहंकारकी ओर प्रतिक्षिप्त करता है और अहंकार इसे चित्तमण्डलमें बिखेर देता है। आगे चित्तमें प्रतिबिम्बित इस समस्त व्यापारको यह 'अहंकार' ममत्व-की भावनासे रंजित करके, जीवात्माको दर्शाता जाता है; तदनन्तर इस संस्कारके प्रतिफलित होनेके लिए— अर्थात् बुद्धि द्वारा निर्णीत निश्चयको कार्यमें परिणत करनेके लिए कोशक्रमसे स्थूल शरीरतक क्षणार्धमें ही मनके द्वारा पहुंचा दिया भी न्यूनतमकालमें सम्पन्न हो जाता है; इस व्यापार-की द्रुतताका माप-तोल करना यदि असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। यह सब व्यापार अनेकबार ध्यानस्थ होकर आंशिकरूपमें स्पष्ट तथा गृहीत हो पाता है।

५- साक्षात्कार— मुख्यतः यह व्यापार चित्तका है। साक्षात्कारका अर्थ है 'यथार्थ-दर्शन'। किन्तु यह दर्शन, साधारण-लौकिक पदार्थोंके दर्शनके समान भ्रान्तियुक्त नहीं होता; यौगिक परिभाषामें इसका अर्थ है 'निर्भ्रान्त दर्शन-पूर्वक विज्ञान प्राप्त हो जाना'। निर्भ्रान्त ज्ञान तभी होता है जबकि परमसात्त्विका-बुद्धि, अपनी दिव्यप्रभामें भ्रान्ति-रहित निश्चय करती है, जो शत-प्रतिशत यथार्थ होता है; उस अवस्थामें रजोगुणकी मात्रा इतनी न्यून होती है कि वह बुद्धिकी स्वाभाविक निर्णायकताकी सहायक मात्र बनी रहती है, बाधक नहीं हो पाती। अर्थात् इस सात्त्विक अव-स्थामें यथार्थ दर्शनके कारण कुतर्क आदि नहीं उठते। सत्वकी प्रकाशशीलताके कारण बुद्धि, शीघ्र ही सम्मुख उपस्थित विषयका यथार्थ निर्णय करके रख देती है।

इस प्रकार ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट करना है कि मनुष्यको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति केवल श्रवण, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन मात्रसे नहीं हो जाती; साक्षात्कार परम आव-श्यक है। महामहिम आप्त मनीषियोंने उच्चस्वरसे प्रत्येक मुमुक्षुको सावधान किया है— **उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत; क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।** अर्थात् मोक्षपद अति दुर्गम है, इस पथपर जागते हुए सावधान होकर चलो और अपने पूर्वजोंके अनुभवसे लाभ उठाओ; क्योंकि यह मार्ग इतना संकरा और दुरूह है कि थोडेसे प्रमाद वा असाव-धानीसे पादस्खलन होकर मनुष्य उस धरातलपर आ गिरता है, जहांसे वह चला था। यद्यपि सुनने और देखनेमें यह श्रेयपथ वा मोक्षमार्ग छोटा सा और सरल ही प्रतीत होता है, किन्तु इस पर अग्रसर होनेपर मनुष्यको छठीका दूध याद आ जाता है। योगेश्वर पतंजलिके अनुशासित अष्टांग योग-साधनाके ८ साधनोंका उल्लेख विभिन्न नाम-रूपसे संसारमें फैला हुआ है, भले इन अंगोंके नामादिमें देश और भाषा भेदसे भिन्नता प्रतीत हो; किन्तु भाव तथा आचारमें एकता ही दीखती है। पश्चिम हो या पूर्व, उत्तर हो वा दक्षिण सभी देशोंमें, आसुरी, मानवीय तथा अतिमानव वृत्तिके व्यक्ति-जिन्हें दस्यु, आर्य और देवता कहते हैं, मिलते हैं। सभी देशोंमें पाये जानेवाले इन व्यक्तियोंके आचार-व्यवहार भी प्रायः मिलते-जुलते हैं; विचार एवं बाह्य और आन्तरिक अनुभूतियां भी परस्पर मेल खाती हैं। ऊपर कथित प्रत्येक श्रेणीके व्यक्तियोंके अधिकांशने उन साधनोंका श्रवण किया होगा, तथा प्रत्येक कर्मसुख-प्राप्तिकी कामनासे और उसे साधु समझकर तथा उपयुक्त मानकर ही करते आए हैं; तब इनके विचार एवं कर्मोंमें महान् अन्तर क्यों है? इसका उत्तर सीधा और सरल एक ही है और वह है— नासमझी वा अज्ञान। इस अज्ञताको दूर करने-का सफल उपाय केवल अष्टांगयोगका आचरण है।

'योगः कर्मसु कौशलम्' के अनुसार कर्म करनेकी कुशलता योग-साधनासे प्राप्त होती है; और निःसन्देह योगानुष्ठान कर्म यथेच्छ फलप्रद बन जाता है। इस विषयमें योगके आचार्य ही नहीं वरन् श्रेयपथगामी सभी अनुभवी उपनिषद्कर्ता ऋषि भी ऐसा ही कथन करते आ रहे हैं कि तप, श्रद्धा, अक्षुण्ण ब्रह्मचर्यानुष्ठान आदिके द्वारा यह सत्य ज्ञान वा यथार्थबोधरूप विवेकख्याति प्राप्त हो ही जाएगी यह निश्चित बात नहीं है; किन्तु— **'यमैव एष वृणुते तेन लभ्यः'** का सिद्धान्त ही सत्य है। इस तथ्यकी पुष्टि **'समाधि-सिद्धिः ईश्वरप्रणिधानात्'** २-४५ योगसूत्र करता है। किन्तु ईश्वरप्रणिधान, अकर्मण्यता नहीं है 'क्लेशकर्मनिवृत्तिः' करनेके लिए एक आन्तरिक कर्मपरम्परा 'निरोधकर्म' को करना है। इस प्रकार निश्चितरूपेण यह हृदयंगम हो जानेपर कि योगाचरण वा श्रेयानुगामी बने बिना कल्याणकी आशा करना व्यर्थ है।

१- अष्टांगोंमें अन्तरंग धारणा, ध्यान, समाधि, संयमका मार्ग है। २- उपनिषदुक्त पंचकोश विज्ञानका मार्ग है।

१- अष्टांग योगमें— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह नामक ५ यम; एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये ५ नियम हैं। बिना किसी भेदभावके, मन-वचन-कर्मसे, प्रत्येक अवस्था तथा कालमें उपर्युक्त साधनोंको जीवनमें चरितार्थ कर लेनेपर १० प्रकारकी दिव्य विभूतियां साधकको प्राप्त हो जाती हैं; किन्तु किसी साधारण गृहस्थीसे इनकी पूर्णतया निजी जीवनमें चरितार्थ कर लेनेकी आशा करना कहांतक उचित है, यह तो आप स्वयं ही विचार कर सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान देनेके योग्य बात है कि आपको कितने व्यक्ति इस संसारमें ऐसे मिल सकेंगे जो अपना सम्पूर्ण जीवन योग-साधनामें उत्सर्ग करनेको उद्यत हों। अष्टांग-योगके यम-नियमोंको निज-जीवनमें चरितार्थ कर लेनेका तात्पर्य है। 'विषयोंके द्वारा प्राप्त हो सकनेवाले सर्वेन्द्रिय-सुखोंका सर्वथा परित्याग कर देना;' अन्यथा स्वभावसे विषयोन्मुखी इन्द्रियोंके द्वारा विषय-संचयसे उत्पन्न चित्तबुद्धि आदिकी वृत्तियोंका निरोध हो ही नहीं सकता। 'वृत्तिनिरोध' ही योग है, ऐसा योगदर्शनकार अनुशासन करते हैं। (१-२) वृत्तिनिरोधके लिए शारीरिक सब स्थूल गतिविधियों तथा कर्मोंका नियमन, प्राण एवं इन्द्रियोंकी उत्तेजनाओंका दमन मन-बुद्धिकी वृत्तियोंका शमन, अन्यत चित्तगत संस्कार वा वासनाओंका निराकरण करना अत्यावश्यक है; इसी तथ्यको सन्मुख रखकर योगदर्शनने सर्वप्रथम स्थूलदेह तथा स्थूल इन्द्रियोंकी अपवित्रतारूप मलको नष्ट करनेके लिए यम-नियमोंके अनुष्ठान करनेका आदेश दिया है।

२- उपनिषद्कारोंने इन तीनों शरीरोंको ५ कोशोंमें विभक्त कर दिया है; अर्थात् अन्नमय और प्राणमय कोशोंसे स्थूल शरीर; मनोमय तथा विज्ञानमय कोशोंसे सूक्ष्म शरीर एवं आनन्दमय कोशके कारण शरीरका निर्माण हुआ है। यहांपर भी स्थूल शरीरके रूपमें पंच महाभूतोंका; प्राणमयकोशके रूपमें ५ प्राणोंका; मनोमयकोशके रूपमें मन और इन्द्रियोंका; विज्ञानमयकोशके रूपमें बुद्धि और पंचतन्मात्राओंका; अन्तमें आनन्दमयकोशके रूपमें सूक्ष्मप्राण, अहंकार और चित्त (महत्के अंश) का साक्षात्कार कर लेनेपर सबसे अन्तमें आत्मसाक्षात्कार होता है। कारण और सूक्ष्म शरीर, स्थूलदेहमें वास करते हैं और अपने नामोंके अनुरूप अदृश्य भावसे ही कार्य भी करते हैं। जैसे स्थूलशरीरका आन्तरिक यथार्थदर्शन करनेके लिए, आचार्योंने षट्चक्र भेदनका क्रम निर्धारित किया है, जिसमें सुषुम्ना एक रहस्यमय आवश्यक अंग है; प्राणोंका रूप एवं कार्यक्रम भी इन्हीं चक्रोंके द्वारा प्रत्यक्ष होता है। सूक्ष्म शरीरका आवास मानव-मस्तिष्कमें है, जो १७ ज्योतिर्मय तत्वोंका संगठित रूप है; इसमें ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, मन, बुद्धि तथा इनको अपने कोशमें रखनेवाली पंचतन्मात्राएं संगठित रूपसे विद्यमान् हैं। सूक्ष्म शरीरके ये सभी अंग सृष्टिके सब पदार्थोंका ज्ञान-विज्ञान कराते हैं; इसीमें विद्यमान 'दिव्य-नेत्र' प्राकृतिक सब अतीन्द्रिय पदार्थोंका दर्शन, इन्द्रियों तथा मन सब विषयोंका ग्रहण, एवं बुद्धि सब विषयोंका विवेचनापूर्ण ज्ञान-विज्ञान करती-कराती हैं।

यह बात सर्वविदित है कि प्रत्येक स्थूल कर्म, स्थूल देहके द्वारा ही सम्पन्न होता है; यद्यपि इन कर्मोंके प्रेरक कारण चित्तगत संस्कार ही होते हैं। इसलिए अपने स्थूल देहके विषयमें प्रत्येक मनुष्यको अपने कार्य-संचालनके योग्य साधारण सा ज्ञान होना आवश्यक है; परन्तु आत्मोद्धार चाहनेवाले मुमुक्षुजनोंके लिए तो यह अत्यावश्यक है क्योंकि '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' यह कथन यथार्थतापर आश्रित है। इसीमें हमारे विज्ञान प्राप्तिके साधनोंका संवास 'विज्ञानमयकोश' अवस्थित है। शिर और पादको मिलानेवाले धडमें, मेरुदण्ड अपनी विशेष स्थिति रखता है, मेरुदण्डके भीतर रहनेवाली सुषुम्ना नाडी तो एक रहस्यपूर्ण एवं बडे महत्त्वकी नाडी है। इसी सुषुम्नाके द्वारा, मस्तिष्क गतज्ञान एवं क्रियाके केन्द्रोंके द्वारा दिए गए ज्ञान और क्रिया सम्बन्धी आदेश, सुषुम्नागत अगणित ज्ञान-सूत्रों एवं गति-सूत्रोंके द्वारा समस्त देहमें आते और जाते हैं। अतः यह सुषुम्ना रहस्यपूर्ण शक्तिसे ओत-प्रोत है। (क्रमशः)

वृद्धावस्थामें भारत

(लेखक— श्री सर्वजित गौड़, कुल्लू)

हरएकका जीवन चार भागोंमें विभक्त है—

१ बाल्यावस्था— कोमल, अनजानपन खेलकूदमें तथा सीखने पढनेमें समाप्त होती है। १ से १८ साल।

२ युवावस्था— उत्साह, बल तथा उन्नत होनेका समय है। यही समय श्रृंगारयुक्त आनन्दका समय है। १९ से ४० साल।

३ प्रौढावस्था— ४१ से ६० साल है। जीवनके इस भागमें मनुष्य अपने पिछले अनुभवका उपयोग करता है। अपना और दूसरोंका भला, सोच विचारकर कर सकता है।

४ वृद्धावस्था— ६१ से ८०-१०० साल है। इसमें शरीर शिथिल होने लगता है, जोडोंमें दर्द, हाजमा कमजोर, दान्त हिलने तथा टूटने आरम्भ होते हैं। सभी इन्द्रियां जवाब देने लगती हैं। उत्साह घटने लगता है। जीर्णतासे गुजरता हुआ अपने जीवनके अन्तको प्राप्त होता है। यह साधारण जीवन है।

हमारे तायाजी जब वृद्धावस्थाको प्राप्त हुए, तो वह कहा करते थे—

जब हुई साल बिह तो न जाने बनके सिंह।
जब हूए साल चाली तो लगी हाली हवाली
(दौड भाग)।
जब हूए साल सठ तो लोगड (लाठी) लके हथ।
जब हूए साल अस्सी तो कमर हुई काशी (कमजोर)।
जब हूए साल सौ तो न मित्रको आश
न शत्रु को भओ (भय)॥

जो अवस्था किसी देशके समाजकी होती है वही अवस्था उस देशकी कहाती है।

हमारा समाज तथा जाति हमारे अनुरूप है। जिस गृहस्थमें बडोंका मान तथा भय नहीं है, वहां सदाचार शिष्टाचारकी जगह भ्रष्टाचार, दुराचार तथा अत्याचार होता है। सब मनमानी करते हैं। वहां उन्नतिकी जगह अवनति होती है।

एक आध व्यक्ति अथवा गृहस्थ बिगड जाए तो उसका सुधार हो सकता है। परन्तु यहां तो सब ही बिगडा हुआ है।

हमारा गृहस्थ जीवन, सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन तब तक उच्च था, जबतक यह तीनों अनुशासनमें चलते रहे। अनुशासन तब तक कायम रहा, जब तक देशमें धर्म मुख्य था।

धार्मिक शिक्षा माता-पितासे हर बच्चेको बाल्यावस्थासे ही प्राप्त थी। यह सत्य है- जाति निर्माण घरसे आरम्भ होता है। माता, पिता, गुरु तथा नेता व राजा स्वयं धर्म रूप होने चाहिये, तभी कार्य अनुशासनमें चलता है। अनुशासन बिना दण्डके कायम नहीं रहता। दण्डका आधार न्याय होता है, न्यायका आधार दया है और दयाका आधार सत्य है। यह ठीक है—

सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सत्य है ताके हृदय आप॥
दया धर्मका मूल है नरक मूल अभिमान।
तुलसी दया ना छोडिये जब लग घटमें प्राण॥

मनुष्य जीवनका ध्येय ईश्वर प्राप्ति है, वही सत्य है। वही दयाके अपनानेसे होती है और दया न्यायके अनुकूल होनी चाहिये। न्यायको कायम रखनेके लिये दण्ड भी देना पडता है, तभी कार्य अनुशासनमें चलता है। पंजाबी मसल मशहूर है—

दुन्या मंदी है जोरां नो
लाख लाहनत है कमजोरां नो ।

महाभारतके बाद जब राजा युधिष्ठिर शोकग्रस्त हुआ, तो व्यासजीने उपदेश दिया कि, उद्दत पुरुषोंको दण्ड देना तो राजाका कर्तव्य ही है। इसी नियम अनुसार तुमने कौरवोंको मारा है। इसलिये अब तुम मनको शोकग्रस्त न करो। सदोष मालूम होनेपर भी अपने धर्मका पालन करते हुए आत्म-ग्लानि शोभा नहीं देती।

पाण्डव आखिर राज छोड कर हिमालयमें चले गये। भारत बहुत समयतक उस उन्नतावस्थाको प्राप्त न हो सका, जिसको वह महाभारतसे पहले प्राप्त था।

जो जाति तथा देश धर्मविहीन होता है, वह अवनतिको प्राप्त होता है। प्राचीनकालमें राजा ही धर्मरक्षक होता था, वही प्रजाका नेता होता था। क्षत्रीवीर गौ-ब्राह्मणका पालन अपना मुख्य धर्म समझता था, क्योंकि गौ देशको बल, बुद्धि और अन्न धनसे पुष्ट करती है और ब्राह्मण ज्ञान-विज्ञानसे उन्नत करता है।

भारत संसारमें सबसे प्राचीन देश है और सृष्टिका आरम्भ यहींसे हुआ। हमारी पृथिवीका पहले पहल वह हिस्सा जलसे बाहर निकला, जो सबसे ऊंचा था और भारतका सिर हिमालय ही दुनियांमें सबसे ऊंचा है, यही सबसे पहले जलसे बाहर आया। इसपर शुरुमें बडे बडे मैदान थे और बडे बडे सरोवर थे। जिनका पानी इधर उधर नदी नालेके रूपमें समुद्रकी ओर बहता था। इन्होंने आहिस्ता आहिस्ता मैदानोंको काटकर गहरी गहरी घाटियां बनाईं। इन बहनेवाली नदियोंमें मुख्य उत्तरकी ओर छोड कर पूर्वकी ओर जानेवाली ब्रह्मपुत्रा है, दक्षिण-पूर्वको बहने वाली गंगा, यमुना, सरस्वती हैं और उत्तर-पश्चिमको जानेवाली सिन्धू नदी और पंजाबके पांच दरिया हैं। जिनका जिक्र आर्य साहित्य तथा इतिहासमें विशेष रूपसे पाया जाता है। इन्हीं नदी नालों तथा इनके अन्य सहायक नालोंने हिमालयके मैदानोंको काटकर छोटे बडे पर्वत शिखरोंके रूपमें बना दिया जिनका सिरमौर कैलाश है। इन्ही कन्दराओंमें ऋषि मुनियोंने अपने स्थान बनाये। जहां उनके चिन्ह आज भी पाए जाते हैं और पूजे जाते हैं। यहींसे ऋषि चारों ओर गए और वैदिक धर्म और आर्य संस्कृतिका प्रसार किया।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगकी चौकडियां बीत गईं। ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति और सभ्यताका प्रसार सब ओर किया। आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृतिका भेद संसारको बताया। वास्तवमें अब भारत वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गया। इसका बल महाभारतसे क्षीण होना शुरु हुआ। इसमें कई रोग पैदा हो गये। ज्यों ज्यों दवा की रोग बढता ही गया। जैन, बुद्ध, शाक्त, वैष्णव, सिक्ख आदि विभिन्न सम्प्रदाय आर्य जातिमें पैदा हुए, वैदिक धर्मरूपी बल क्षीण हो गया। जातिकी एकता जाती रही। यवन, मुसलमान, पठान, मुगल चील, कौवोंकी तरह इस निःसहाय भारतपर झपटे। इनके धन-जर, जमीन तथा जन तीनोंको खूब लूटा। उत्तरसे हलाकू, चंगेजखान, तैमूरलंग, महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, नादिरशाह, बाबर और अरबसे अब्दुल कासिम और इनसे पहले सिकन्दरे आजमने इस देशको पामाल किया। सबसे ज्यादा लूट-मार-धाड मुसलमानोंने की, कतलेआमका बाजार गरम किया, बाल-वृद्ध-स्त्री-बच्चोंकी बेइज्जती की, गुलाम बनाकर अपने देशमें टके टकेको बेचा। यह सब कुछ हुआ। धर्म भी लूटा। आर्य साहित्य जो युग युगांतरसे भारतकी लाइब्रेरियोंमें पडा था, फूंक डाला !!! क्या यह जख्म पूर सकता है ? इनके बाद भारतपर अंग्रेजोंका आक्रमण हुआ। इसने वैद्यरूपमें प्रवेश किया। इसने आए दिनकी तकलीफोंसे छुटकारा दिया। भारतको तंदुरुस्त किया। सब ओर रक्षा की। सब प्रकारसे अपने लिये उपयोगी बनाया। अंग्रेजी पढाई, अपना लिबास पहनना सिखाया और अपना खाना खाना सिखाया, हिन्दू तथा मुसलमान सबको ठिकाने बैठाया। फूट डालो और हुकूमत करो का उसूल बरता। इसमें सन्देह नहीं कि देशको भली प्रकार अपने मतलबके लिये उन्नत भी किया।

भारतके सौभाग्यसे श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज यहां पधारे उन्होंने वैदिक धर्मका प्रचार किया। आर्य जातिको अन्धकारसे प्रकाशमें वे लाये, स्वराज्यकी महिमा बताई, स्वदेशीका प्रचार किया, स्त्री शिक्षा तथा विधवा विवाहकी ओर लोगोंका ध्यान खींचा, बाल, विवाहका खण्डन किया, जातिमें आई हुई अनेक कुरीतियोंको दूर किया, जातिमें जागृति उत्पन्न हुई। इनके कहे मार्ग

पर चलने और चलानेके लिये महात्मा गांधीजी पधारे। उधर नेता श्री सुभाषचन्द्रजी खडे हुए और क्रान्तिकारियोंने भी जोर मारा। देश स्वतंत्र हुआ। परन्तु भारतका सिर छेदन हुआ, बाजू काटे गए और पैरोंतलेसे पत्थर उखाड दिये, मतलब यह कि Divide and Rule के उसूलके अनुसार भारतके टुकडे करके रख दिए। हमारे नेताओंने यह आजादी भी मान ली। श्री पं. जवाहरलालजी प्रधान मंत्रीकी बुद्धिमत्ता तथा सहनशीलताकी बदौलत भारतने उन्नति की, आपको भगवान्‌ने ऊंचे घरानेमें पैदा किया इस लिये आपका हृदय भी बडा है। आप बडेसे बडे गुनाहको भी नजर अन्दाज कर देते हैं, ताकि भारत अपने तरक्कीके रास्तेसे विचलित न हो जाये। परन्तु अनधिकारी इसका नाजायज फायदा उठाते हैं। यदि पंडितजी क्षात्रनीति अनुसार दंडका उपयोग करें तो देखें भारत फिरसे जवां हो जायेगा।

प्रजातंत्रीय देशमें 'फूट डालो और शासन करो' की नीति घातक है। हर चालाक आदमी उठता है, वह भाषाके आधार पर अलग राज्य मांगता है। हर देशमें कई भाषाएं होती हैं, परन्तु हर देशकी राज्यभाषा एक ही होती है।

भारतने अपने जीवनके पिछले हजार वर्ष बडी आपत्तिमें गुजारे और आपसकी फूटका भयानक परिणाम देखा। अब भारतको उत्तम दृष्टि प्राप्त है। उसे अंग्रेजी ऐनकें उतारकर वैदिक ऐनकें अपनाकर संसारको अपने पीछे चलानेका यत्न करना चाहिये।

यह तभी होगा जब हम निम्न मंत्रोंकी शिक्षाके अनुकूल बनें—

सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

सहृदयता, उत्तम मन तथा निर्वैरता धारण करके परस्पर प्रेमका भाव बढाना चाहिये। इसीसे मनुष्यका कल्याण होगा।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥

एक हो जाओ, मिलकर रहो, आपसमें उत्तम प्रेमपूर्वक भाषण करो, तथा वादविवाद करके सर्व संमतिसे बातोंका निश्चय करो, तथा अपने मन सुसंस्कारसे युक्त करो। जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वकालीन बडे ज्ञानी लोग अपने अपने कर्तव्यका भाग करते आये हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कर्तव्यका हिस्सा उत्तम रीतिसे करो। इस प्रकार बर्ताव करनेसे जो उन्नति चाहिए सो प्राप्त होगी।

निरपेक्ष धर्मराज्यमें शिष्टाचार तथा सदाचारकी शिक्षा अनिवार्य है, नहीं तो भ्रष्टाचार बढता ही जाएगा। मेरे विचारमें इस मतलबके लिए 'वेदामृत' श्री पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, महाराजजी सम्पादित पुस्तक बहुत उत्तम होगी, यदि यह स्कूलों तथा कालिजोंमें पढाई जाए।

अतः इस समय सर्वभौम मानव धर्म पुस्तक 'वेद' ही सुधार कर सकता है।

वेदार्थकी प्रक्रिया

(लेखक— श्री भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल कांगडी)

वेदोंमें यजुर्वेदका महत्त्व बहुत अधिक है। यजुर्वेद प्रमुखरूपसे यज्ञोंका प्रतिपादन करता है। यज्ञ किसे कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है इत्यादि विषय विद्वानोंमें विवादके विषय रहे हैं। दो अणुओंका परस्पर संयोग भी यज्ञ है, मन और बुद्धिका योग भी यज्ञ है और इन्द्रियोंका विषयोंसे योग होना भी यज्ञ है। परन्तु यह स्मरणीय है कि यह योग श्रेष्ठतम कर्मके लिये हो तभी वह यज्ञ है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म ये सब यज्ञमें समाविष्ट हो जाते हैं। क्योंकि यज्ञरूप भगवान्‌से ही संसारकी उत्पत्ति हुई है।

इसलिये समग्र सृष्टि व सृष्टिकर्ता आदि सब यज्ञ ही हैं। अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म ये यज्ञके ही पश्चात् भावी विभाग हैं। इस दृष्टिसे विचार करने पर यजुर्वेदका महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है और इसकी व्यापकता कर्मकाण्डके प्रतीयमान संकुचित दृष्टिकोणसे बहुत अधिक हो जाती है। यज्ञके समान ही कर्मकाण्डको भी हमें व्यापक दृष्टिकोणसे देखना चाहिये। इसी प्रकार यजुर्वेद सम्बन्धी अनेकों समस्याओंमें एक समस्या विनियोगकी भी है। विनियोग ब्राह्मणग्रंथों व सूत्रग्रंथोंमें दर्शाये हैं। स्वामी दयानन्दने इन ब्राह्मणादि ग्रंथोंका जहां भी स्मरण किया है, वहां इन्हें स्वतःप्रमाण कहा है। इस दृष्टिसे आर्यसमाजको भी विनियोग मान्य हो जाता है। श्री अरविन्दने भौतिक वस्तुओंको प्रतीकात्मक मान कर दोहरे अर्थ करनेका निर्देश किया है।

हमारे विचारमें एक यह भी दृष्टिकोण हो सकता है कि वेदोंमें सूक्ष्म शक्तियोंका वर्णन है, स्थूल आकृति तो उन शक्तियोंका आपतन–मात्र है। कृष्णाजिन, व्रीहि, यव शूर्प आदिमें विद्यमान जो गुण, धर्म व क्रिया आदि हैं उनसे ही तात्पर्य होना चाहिये। वह क्रिया, गुण, धर्म आदि जहां भी हो वह तत्तन्नामसे व्यवहृत हो सकता है, इत्यादि कई समस्याएं हैं, जिनपर विस्तृत विवेचनकी आवश्यकता है।

हमने यजुर्वेदके प्रथम अध्यायका यह सामान्य अनुवाद प्रमुख-रूपसे अध्यात्म–क्षेत्रमें करनेका प्रयत्न किया है। विनियोगोंकी समस्याका हल बहुत कठिन है। उदाहरणार्थ-हमने प्रथम मन्त्रके विनियोग सम्बन्धी दो तीन बातोंको अध्यात्म व अधिदैवमें समझानेका प्रयत्न किया है। यदि इसी प्रकार सभी विनियोगोंपर विचार किया जाये तो हम प्राचीन प्रणालीको कुछ कुछ समझने योग्य होंगे।

यथा— ग्रीष्म ऋतुका वह उग्रदेव जब वनस्पतियोंको दग्ध करता है। तब इसे शान्त करने तथा अन्न–भक्षणके लिये ये वनस्पतियां ऊर्ध्वाभिमुख हो प्रार्थना करती हैं। ❀ यह उनकी प्रार्थना पार्थिव अग्निके रूपमें ऊर्ध्वकी ओर तृतीय द्युलोकमें पहुंचती है। इस पार्थिव–अग्निको शास्त्रोंमें गायत्री कहा है। वह गायत्री–श्येनका रूप धारण कर तृतीय द्युलोकमें विद्यमान अक्षय–भण्डार सोमके पास पहुंचती है और वहांसे सोमांशुओंके रूपमें सोमाहरण कर पृथ्वी पर लाती है। × प्रश्न यह है कि वह सोमाहरण किस लिये होता है? अग्निसे दग्ध व शुष्क हुई वनस्पतियोंके अग्नि शमनके लिये तथा उनमें इषे त्वा ऊर्जे त्वा इष तथा ऊर्जके भरनेके लिये, सोमरसका अक्षय–भण्डार तो ऊपर द्युलोकमें ही है। वहांसे अश्वत्थ ● वृक्षका 'मूल' अपनी जडों द्वारा सोमरसका परिपान कर उसे अधः प्रसृत शाखाओं द्वारा नीचेकी ओर प्रवाहित करता है। यह तृतीय द्युलोकस्थ सोम अपनी ऊर्ध्वस्थितिमें 'प्रकृत्यात्मक + ब्रह्म' है। उग्रदेवके कारण झुलस रही वनस्पतियोंके शमनके

❀ वनस्पतीन् वा उग्रो देव उदौषत्। मै. सं. ४।१।१

× तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्। तै. ब्रा. १।१।३।१८

● ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

+ ब्रह्म वै पर्णो यत् पर्णशाखया प्रार्पयति ब्रह्मणैवैनाः प्रार्पयतीषे त्वेतीषमूर्जं यज्ञे च यज्ञपतौ चाधात्। मै. सं. ४।१।१

कारण इसे 'शमी' ✲ कहा जाता है। और इनका पालन पोषण करनेके कारण इसे 'पर्ण' ● कहा गया है और यह सोम ही है। पर्णशाखाको पलाश शाखा भी कहा जाता है। पलाश 卐 भी अपने आदि रूपमें ब्रह्म ही है और सोम रूप है।

शाखा छेदन और सन्नमन

शाखा छेदन और सन्नमनका भाव यह है कि सोमरस द्युलोकमें ऊर्ध्वमें स्थित है। इसे शास्त्रोंमें अर्क-रस भी कहा है। पृथ्वीपर यह अर्क रस सूर्य, चन्द्र, वायु व वृष्टि आदि द्वारा आया करता है। इसको शतपथ ब्राह्मणमें निम्न शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है—

यो वृष्टाद् ऊर्ग्रसो जायते। श. प. ब्रा. १।७।१।२

अर्थात्—वृष्टि द्वारा यह ऊर्ग्रस पृथ्वीपर स्थित औषधियों व वनस्पतियोंमें उत्पन्न होता है। इसी भावको आलंकारिक भाषामें इस रूपमें भी दर्शाया जा सकता कि इस ब्रह्माण्डमें फैली हुई अश्वत्थ-वृक्ष व ब्रह्म-वृक्षकी सोमरससे परिपूर्ण अनन्त शाखाओंमेंसे ऊर्ध्वमें स्थित कुछ शाखाओंका छेदन कर अथवा सन्नमन कर नीचे पृथ्वीकी ओर लाया जाता है। शाखाका छेदन कर उसे पृथ्वीपर लाना या ऊर्ध्वसे नीचेकी ओर शाखाका सन्नमन करना एक ही बात है। × इसमें कुछ विरोध नहीं है। इसीकी अनुकृति यज्ञमें शाखा छेदन व सन्नमनसे की जाती है। आपस्तम्बने 'इषेत्वेति शाखां छिनत्ति,' 'ऊर्जेत्वेत्यनुमार्ष्टि'; इस प्रकार दो मन्त्रोंकी कल्पना की है। बोधायन 'इषेत्वोर्जे त्वेति शाखां छिनत्ति' इस प्रकार एक ही मन्त्र मानता है। इन दोनोंमें विस्तार व प्रक्रियाका भेद है इसे विरोध नहीं कहा जा सकता है, दोनों ही ठीक माने जा सकते हैं।

माताओंसे वत्सोंका संसर्ग व पार्थक्य

इस संसारमें मनुष्य जंगम व स्थावर जितने भी प्राणी हैं वे सब मातृशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण वत्स कहे जा सकते हैं। इस सौर मण्डलमें दो प्रकारकी सृष्टि है—एक देवों व दिव्यशक्तियोंकी, दूसरी पार्थिव प्राणियोंकी। इन दोनोंका पेय सोम है। क्योंकि सोम द्युलोकस्थ रस है, अतः देवों व दिव्यशक्तियोंका यह सोम स्वाभाविक अन्न है। सर्व प्रथम देवशक्तियां इस सोमका पान करती हैं, तदनन्तर पार्थिव प्राणी उसका ग्रहण करते हैं। यही भाव इस निम्न वाक्यमें व्यक्त हुआ है—

आप्यायध्वमघ्न्या देवेभ्य इति वत्सेभ्यश्च वा एता मनुष्येभ्यश्च पुरा प्यायन्तेऽथैतर्हि देवेभ्य एवैनां आप्याययति। मै. सं. ४।१।१

अर्थात्—हे अहिंसनीय गौओं! तुम देवोंके लिये प्रवृद्ध होवो। वत्सो अथवा मनुष्योंसे पूर्व सोमका दोहन करने वाली इन गौओंको देवोंके लिये आप्यायित किया जाता है। देवोंको सोमपान करनेके लिये इन रश्मिरूप गौओंको पार्थिव वत्सोंसे पृथक् किया जाता है। आध्यात्मिक क्षत्रमें इन बौद्धिक व चेतनामयी रश्मियोंको पार्थिव स्थूल शरीरसे पृथक् कर मस्तिष्कमें विद्यमान देवों व दिव्यशक्तियोंको प्रवृद्ध करनेकी यह एक क्रिया है।

उदाहरणार्थ हमने विनियोगोंको समझानेका प्रयत्न किया है। यदि इसी भांति सब विनियोगोंको सिलसिलेवार समझने व उनकी व्याख्याका प्रयत्न किया जावे तो हम प्राचीन आर्षप्रणालीको समझने व हृदयङ्गम करनेमें सफल हो सकेंगे।

✲ वनस्पतीन् वा अग्नो देव उदौषत्, तं शम्या अध्यशमयं स्तच् शम्याः शमीत्वम्। यच्च शमीशाखया वत्सानपाकरोति शान्त्यै। मै. सं. ४।१।१

● यत् पर्णशाखया वत्सानपाकरोति तमेव सोममवरुन्द्धे। मै. सं. ४।१।१

卐 ब्रह्म वै पलाशः। श. प. १।३।३।१९; ५।२।४।१८॥ सोमो वै पलाशः। श. प. ६।६।३।७

× पर्णशाखां छिनत्ति शमीलीं वेषे त्वेति ऊर्जे त्वेति वा। छिनद्मीति वोभयोः साकाङ्क्षत्वात्। सन्नमयामीति वोत्तरे। का. श्रौ. ४।२।१३

एक बात कहूँगा, सौ अशर्फी लूँगा

(लेखक— श्री भास्करानन्द शास्त्री प्रभाकर, सिद्धान्त वाचस्पति,)
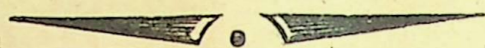
प्रातःकालका मनोहर समय था, शीतल, मंद, सुगन्ध हवाका संचार हो रहा था। वसन्तागमनसे अनेक पक्षी अपने मधुर शब्दों और उत्तमस्वरोंसे काननको मुखरित कर रहे थे। ऐसे अरुणोदय कालमें एक राजा अपने प्रधान-मन्त्रीके साथ रथपर सवार होकर काननकी प्राकृतिक शोभा देखनेके लिये राजमहलसे चल पडा। बहुत दूर मीलों निकल गया। रथ वायुके वेगके समान भागा हुआसा जा रहा था। थोडे ही समयमें उसने एक निर्जन सुनसान जंगल में प्रवेश किया। दूरसे एक सुन्दर जलसे पूरित जलाशय दिखाई दिया। राजाने सारथीको रथ रोकनेका आदेश दिया। रथ रुक गया। राजा और मन्त्री दोनों रथसे उतर गये और पैदल ही घूम घूमकर इधर उधर जंगलकी अनुपम शोभा देखने लगे।

इतनेमें एक ओरसे कुछ अस्पष्टसी आवाज आती हुई-सी सुनाई दी। राजा उस ओर मन्त्रीके साथ चल पडा। अब शब्द स्पष्ट रूपसे साफ साफ सुनाई देने लगा। 'एक बात कहूँगा, सौ अशर्फी लूँगा। एक बात कहूंगा, सौ अशर्फी लूँगा। एक......'। राजा उस पर्णकुटीके सामने पहुँचा और देखा कि एक महात्मा उस कुटियामें बैठकर वारम्वार कह रहे हैं 'एक बात कहूँगा, सौ अशर्फी लूँगा......'। राजा महात्माको प्रणाम करके बोला- कहिये महात्मा आपकी क्या इच्छा है? आप कहना क्या चाहते हैं?

महात्मा— पहले सौ अशर्फी देदो और मेरे द्वारा कहे एक बातको सुन लो।

राजाने अपने प्रधान मन्त्रीको आदेश दिया कि महात्माजीके लिये शीघ्र सौ अशर्फी (सोनेके सिक्के) का प्रबन्ध करो। मन्त्रीने वैसा ही किया। राजाने सौ अशर्फी एक थालमें रखकर महात्माके चरणोंमें समर्पित किये, और बोला— 'यह लीजिये सौ अशर्फी और कहिये वह बात'।

महात्मा— राजन्! 'जो भी काम करो, उसका अन्जाम (परिणाम) पहले सोच लें।'

राजा— इतना ही कि और कुछ।

महात्मा— हाँ इतना ही, एक बात कह दी, अब अपने स्थानको जाओ।

राजा अपने प्रधान मन्त्रीके साथ जलाशय पर आया और रथपर बैठकर राज भवनको प्रस्थान किया। राज-भवनमें पहुँचकर उसने मन्त्रीको आदेश दिया कि 'जो काम करो उसका अन्जाम (परिणाम) पहले सोच लो' यह वाक्य मेरे प्रयोगमें आनेवाले लोटा, थाली, कटोरी, गिलासादि सब बर्तनोंमें खुदवाकर लिखवा दो, तथा जहाँ मैं सोता हूँ, बैठता हूं, भोजन, स्नानादि काम करता हूँ, उन उन कमरोंमें मोटे मोटे अक्षरोंमें लिखवाकर 'मोटो' के रूपमें ऊपर लगवा दो, जिससे यह महात्माके कहे वाक्य हमेशा मेरे सामने रहें। मन्त्रीने ऐसा ही किया।

इस घटित घटनाके पश्चात् महाराजाको राज्य करते हुये बीस वर्ष व्यतीत हो गया। अब महाराजाकी अवस्था सत्तर वर्षके करीब पहुँच गई। महाराजाका पहला प्रधान मन्त्री मर गया, अब दूसरा प्रधानमन्त्री नियुक्त हुआ। उसको भी मन्त्रित्वका काम करते हुये ५ वर्ष समाप्त हो गया। राजाको वृद्ध हुआ देखकर इस मन्त्रीके भाव बदल गये और स्वयं महाराजा बननेकी योजना बनाने लगा।

एक दिन उस प्रधान मन्त्रीने राजनाईको अपने निजी मकानमें बुलवाकर एकान्त अलग कमरेमें ले गया और

उस राजनाईसे बोला— राजनाई ! तुमको एक बहुत ही आवश्यक काम करना है, यह काम केवल तुम ही कर सकते हो।

राजनाई— मन्त्रीवर ! बतलाइये वह क्या काम है ?

मन्त्री— देखो राजनाई ! तुम बहुत ही बुद्धिमान् हो, इसी ही कारण तो वर्षोंसे महाराजाकी हजामत करनेका काम कर रहे हो, तुम्हारी सब लोग प्रशंसा करते हैं। तुम अच्छी प्रकार समझते हो कि अब महाराजा बूढा होगया है, राजकाज ठीक प्रकारसे नहीं कर सकता है। अब उसे समाप्त करना है।

राजनाई— (घबडाकर) मन्त्रीवर ! यह कैसे ?

मन्त्री— घबडाओ नहीं, मैंने सारी योजना बना ली है। लो, यह जहरसे बुझा हुआ उस्तरा। तुम जब रविवारके दिन महाराजाजीकी हजामत करने जाओ, तो इसी जहरीले उस्तरेसे ही उनकी दाढी बनाना आरम्भ करना और जब कंठके नस पर उस्तरा पहुँचे, तो उसी समय उस्तरेको जोर से दबाकर महाराजाके कंठके नसको काट देना। महाराजा मर जायेगा और मैं राज्यपर कब्जा करके स्वयं महाराजा बन जाऊँगा। इस कार्यके सिद्ध होने पर तुम्हें एक लाख रुपया नगद इनाम और एक स्टेट (सूबे) का मालिक (राजा) बना दूँगा। क्या यह कार्य करना तुम्हें स्वीकार है ?

राजनाई— मन्त्रीवर ! यह काम तो बहुत ही कठिन है, मुझसे नहीं होनेका। मैं महाराजाका खून भला इस प्रकार कैसे कर सकता हूँ।

मन्त्री— राजनाई ! यह काम तुम्हें ही करना होगा। नहीं, तो अभी ही मरनेके लिये तैयार हो जाओ।

(चमचमाती लपलपाती तलवारको प्रधान मन्त्री अपनी म्यानसे खींच लेता है और राजनाईको समाप्त करनेके लिये खडा हो जाता है।)

राजनाई— (घबडाकर) मन्त्रीवर ! मेरी जान न लीजिये जैसा आपने कहा है वैसा ही करूँगा। (मन ही मन) अगर काम सिद्ध होगया तो १ लाख रुपया नगद और एक स्टेटका राज्य, नहीं तो मरना अब भी और तब भी।

रविवारको राजनाई राजमहलमें महाराजाजीकी हजामत करने पहुँचा। हलाहल जहरका पानी चढा हुआ उस्तरा भी साथ ले गया। महाराजा रत्नजडित सुवर्ण चौकी पर हजामत करानेके लिये बैठ गये। राजनाई भी अपने सब सामानके साथ महाराजाकी हजामत करनेको तैयार हुआ। राजसेवक एक लोटेमें गर्मपानी दूसरेमें ठण्डापानी तथा एक कटोरी लाकर राजनाईको दे गया। राजनाईने पहले की भाँति गर्म और ठण्डे जलको उस कटोरीमें मिलाकर रखा। महाराजाके सिरके बाल योग्य रीतिसे कैंची आदिसे बना कर फिर कटोरीके शीतोष्ण जलसे दाढीके बालको आहिस्ते आहिस्ते मुलायम किया।

दाढीके बाल खूब मुलायम हो जानेके पश्चात् उस जहरी-ले उस्तरेको निकाला और अपने पत्थर पर घिसते हुये अपनी आदतके अनुसार कुछ और तेज करने लगा। यह काम कर ही रहा था कि यकायक उसकी दृष्टि उस कटोरी पर खुदे हुये अक्षरों पर पडी। वह पढता है 'जो भी काम करो, उसका अन्जाम (परिणाम) पहले सोच लो।' इस वाक्यका पढना था कि मानो उसके शरीरमें बिजलीका एक करन्ट (Curent) लग गया, घबडा कर सोचने लगा कि मैं अभी जहरीले तेज उस्तरेसे महाराजाके कंठके नसको काटने जा रहा हूँ। जिस समय मैं महाराजाके कंठके नसको काटूँगा, महाराजा जोरसे चिल्ला देंगे। महाराजाके चिल्लाते ही यह सामने खडे हुये महाराजाके अङ्गरक्षक सैनिक जिनके हाथोंमें तलवार, बन्दूक, बर्छी भाले, पिस्टल आदि अनेक अस्त्र शस्त्र हैं, सबके सब मुझको मारनेके लिये दौड पडेंगे और एक क्षणमें ही मुझको मारकर मेरी बोटी बोटी इस जमीन पर बिखेर देंगे, मेरे पारितोषिकका एक लाख रुपया व स्टेटका राज्य धरा धराया रह जायेगा, यह सोचते ही सोचते नाईके शरीरमें भुकंपसा आजाता है, सारा शरीर काँपने लगता है, पसीनेसे तरबतर होजाता है, उस्तरा हाथसे छूटकर जमीनपर गिर पडता है। नाईकी ऐसी अवस्था देखते ही महाराजा भी कुछ विस्मयमें पड जाते हैं और शीघ्र ही उठकर खडे होजाते है। और अपने लपलपाते खूनके प्यासे खड्गको म्यानसे खींच लेते हैं और डपट कर नाईसे जोरसे बोलते हैं 'बता नाई क्या बात है ? आज यह तेरी ऐसी अवस्था क्यों होगई है ? बता, शीघ्र बता

नहीं तो इसी तलवारसे अभी तेरे सिरको धड़से अलग करके रख देता हूँ, बोल, शीघ्र बोल।

राजनाई अत्यधिक भयभीत होकर लड़खड़ाती जबानसे बोला– महाराज! कसूर माफ हो, मेरे जानको बख्श दो, मैं सही सही सब बातें आपकी सेवामें निवेदन कर दूँगा।

महाराजाने कहा अच्छा सच सच बताओ, ऐसा ही होगा, मैं तुमको जानसे नहीं मारूंगा। राजनाईने कहना प्रारम्भ किया, 'महाराजाधिराज! आज मैं एक बहुत बड़ा पाप करने जा रहा था, आपके प्रधान मन्त्रीने आपको जानसे मरवा डालनेका एक बहुत बड़ा षड्यन्त्र रचा था और मुझे भी डरा धमकाकर अपने उस षड्यन्त्रमें फांस लिया था, मैं उसके दिये हुये इस जहरीले उस्तरेसे आपके कंठके नसको काटने ही वाला था कि मेरी दृष्टि आपके इस कटोरी पर खुदे हुवे अक्षरों पर पड़ी 'जो भी काम करो उसका अन्जाम (परिणाम) पहले सोच लो,' इस वाक्य का पढना था कि मैं घबड़ा गया और मेरी यह अवस्था बनी। महाराज! मैं बड़ा ही अपराधी हूं क्षमा करें।

महाराजाने अपने कमाण्डरोंको आदेश दिया तुम कि सैनिकोंके साथ जाओ और प्रधान मन्त्रीके मकानको चारों ओरसे शीघ्र घेर लो और प्रधान मन्त्रीको पकड़कर जल्दी मेरे सामने उपस्थित करो। कमाण्डरों और उनके सैनिकोंने ऐसा ही किया। थोड़ी ही देरमें प्रधान मन्त्रीको पकड़कर एक बड़े अपराधीके रूपमें महाराजाके समक्ष उपस्थित किया। महाराजाने उस प्रधान मन्त्रीकी सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त करके, कुत्तोंसे नुचवाकर उसको कत्ल करा दिया और नाईको हुक्म दिया २४ घन्टेके अन्दर अपने बाल बच्चोंके साथ मेरी राज्यकी सीमासे निकल जाओ।

दूसरे दिन प्रातःकाल महाराजा अपने राजकीय उत्तम रथपर बैठकर अनेक उच्च अधिकारियों और श्रीमन्तोंके साथ उसी जंगलमें गये जहां वह महात्मा रहते थे। महात्माकी कुटियामें पहुंचकर महाराजाने अनेक प्रकारके फल, फूल, उत्तम पकवान–भोज्य पदार्थ और सुवर्णकी बड़ी थालमें हजारों सोनेके सिक्के (अशर्फियां) रखकर महात्माके पवित्र चरणोंमें भेंट रखे और अपने रत्नजडित मुकुटको महात्माके चरणोंमें रखकर सादर प्रणाम किया और बोला– 'महात्मन्! मुझे पुनः कुछ और उपदेश कीजिये। आजसे २५ वर्ष पूर्व आपने १०० अशर्फी लेकर जो मुझे एक वाक्य 'जो भी काम करो उसका अन्जाम (परिणाम) पहले सोच लो' दिया था, उस वाक्यके कारण ही मेरी जान बची और मेरा राज्य बना रहा, यह कहते हुये महाराजा गद्गद् हो गये। महात्माजीने सबके अभिवादनको स्वीकार किया और महाराजाको पुनः उत्तम उपदेश देकर सबके साथ विदा किया। सब महात्माजीके वचनोंकी सराहना करते हुये अपने स्थान पर वापिस आ गये। ● ● ●

यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके द्वितीय अनुवाक पर विवेचन--

वेद-व्याख्यान

[२]

(लेखक— श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी, वेद-सदन, महारानी रोड, इन्दौर नगर)

ऋषिः— परमेष्ठी प्रजापतिः । देवता-यज्ञः ।
छन्दः— स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । स्वरः-धैवतः ।

ओ३म् । व्वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि
व्विश्वधाऽअसि । परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ (यजु. अ. १ मं. २)

वसोः पवित्रमसि

यज्ञो वै वसुः । (शतपथ)

प्रथम मन्त्रमें सवितादेव-परमात्मासे-जिस मुख्य प्रार्थनाको किया था कि हमारे जो प्राणादि, इन्द्रियां तथा अन्तःकरणादि हैं, उन सबको श्रेष्ठतम कर्मोंमें, जीवनके विविध यज्ञोंमें आप संयोजित एवं प्रेरित कीजिये, अब दूसरे मन्त्र में उसी श्रेष्ठतम कर्म-यज्ञ-का श्रेष्ठत्व मन्त्रके पद-पदसे प्रकट हो रहा है। वही यज्ञ वसु संज्ञक है। अतएव इस मन्त्रका यज्ञ ही देवता है। इससे परम इष्ट साधन प्रजाओंके स्वामीने सृष्टिके प्रारंभमें यज्ञ द्वारा किया। अतएव परमेष्ठी प्रजापति ही इस मन्त्रके ऋषि हैं।

वस निवासे— वह यज्ञ क्यों और किस प्रकारसे श्रेष्ठ है ?- क्योंकि वह 'वसु' है। सबका वासयिता है। सबकी स्थितिका निर्माता है। सबके जीवनका हेतु है। सबका पालन पोषण करनेवाला है। सबका आधार है। प्राणियोंके जीवनका भी आधार है। वसुके बिना वास नहीं-निवास नहीं। अतः यज्ञ वसु है।

वस आच्छादने— इस महान् सृष्टिमें यज्ञ द्वारा मेघ उत्पन्न होते हैं। वे अपना आच्छादन कर्म अन्तरिक्षमें करते हैं। अन्तरिक्ष मेघमण्डलोंसे इतना आच्छादित हो जाता है कि सूर्य और चन्द्र भी हमें दृष्टिगोचर नहीं होते। उन मेघोंके आच्छादनसे वृष्टि द्वारा सर्वत्र अन्तरिक्ष एवं पृथिवी में जलका आच्छादन होजाता है। जलके पृथिवीपर आच्छादनसे अन्नरसकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। अन्न और रसके पृथिवीपर आच्छादनसे जीवनीय तत्वोंका आच्छादन होता है। उससे चेतन जगत्में रस, प्राण, बल, प्रजनन एवं आनन्दका आच्छादन व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार यज्ञ द्वारा वसुकर्म-आच्छादन-सृष्टिके प्रत्येक क्षेत्रमें व्याप्त होनेसे यज्ञ-वसु है।

वसु-अग्नि— यज्ञ, अग्निसे ही सम्पन्न होता है। अग्नि, यज्ञका साधक है। यज्ञ अग्नि युक्त है। प्रकाश, ऊष्मा, दाहकत्व, ऊर्ध्वगमन, गति एवं व्यापकत्वादि उस अग्निके स्वाभाविक धर्म हैं। अतः यज्ञ भी प्रकाशादि अग्नि धर्मोंसे युक्त होनेसे वसु है।

वसु-धन— समस्त प्रकारके ऐश्वर्य एवं धनादिका

सम्पादक अग्नि है । यज्ञों द्वारा जीवनमें ऐश्वर्यकी प्राप्ति की जाती है । अतः यज्ञ धन एवं ऐश्वर्योंका दाता होनेसे महाधन है तथा वसु संज्ञक है ।

अष्ट वसु— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र ये भी आठ वसु हैं । पृथिवीपर प्राणी निवास करते हैं । जलमें भी प्राणी निवास करते हैं । अग्निके आश्रयसे भी प्राणियोंके जीवन एवं प्राणका निवास हो रहा है । वायुमें भी प्राणी निवास करते हैं और वायुके आश्रित भी समस्त प्राणियोंका निवास हैं । आकाशके आश्रयसे पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र सभीकी स्थिति है । सभीका निवास यथास्थान बना हुआ है । चन्द्रमा, सूर्य एवं नक्षत्रोंमें भी पंचतत्वोंके आश्रयसे प्राणियोंका निवास है । अतः ये सब वसु संज्ञक हैं । इनमें निरन्तर जीवन यज्ञ प्रदीप्त होता रहता है ।

इन अष्ट वसुओंमें जीवोंके पालन पोषणार्थ एवं जीवनार्थ जो तत्व एवं कर्म वहां होरहे हैं, उनका आच्छादन एवं प्रसारण वहां अपने-अपने नियमसे-सृष्टि यज्ञके शाश्वत क्रमसे-चल रहा है । यदि उनमें यह क्रम एवं गुण विद्यमान न हो, तो उनकी वसु संज्ञा भी न रहे । उन सबमें हो रहे परमात्मदेवके महान् यज्ञसे ही वे सब वसु संज्ञक हैं ।

वसु-परमात्मा— परमात्मा भी तो वसु है । उसने तो समस्त संसारको वास योग्य बनाया है । सब वसुओंका भी वह वसु है । सब आच्छादकोंका भी वह आच्छादक है । सब अग्नियोंका भी वह अग्नि है । सब ऐश्वर्योंका भी वह ऐश्वर्य है । वह सब यज्ञोंका भी यज्ञ है । वह साक्षात् यज्ञ रूप ही है ।

वसु-जीवात्मा— हमारे शरीरके अन्दर जो इस यज्ञ रूप-प्रभुका सखा-जीवात्मा-वास कर रहा है, उसके आश्रयसे देहकी स्थिति बनी हुई है । प्राणादि सब यथास्थान निवास करके यथावत् कार्य कर रहे हैं । अतः इस अध्यात्म यज्ञमें आत्मा वसुरूपसे विद्यमान रहकर इस अरामर्थ सत्र यज्ञका संचालक बना हुआ है ।

योग एवं मोक्ष— जब वह आत्मा अपने सखाको जान लेता है, अथवा यह समझ लेता है कि मेरा भी कोई वसु है, जिसके आश्रयसे मैं इस दिव्य पुरीमें वासकर रहा हूं, उस समय उस यजनीय परमात्मदेवकी श्रद्धा एवं प्रेमसे उपासना करता है और अपने परमधाम-मोक्षपद-के वासके हेतु प्रयत्न करता है । अतः मोक्ष भी वसु है और उसकी प्राप्तिका साधन योगरूपी यज्ञ भी वसु है ।

पवित्रमसि— पूर्वोक्त सब वसु संज्ञकोंमें परमात्माके ईक्षणसे यज्ञ चलता रहता है । ऋत और सत्यरूपी समिधाओंसे वह यज्ञ समिद्ध हो रहा है । वह यज्ञ वसु है । वह पवित्र है तथा पवित्रकारक भी है । यदि उसमें पवित्रताका गुण नहीं होता, तो सृष्टि वास योग्य नहीं रह सकती थी । सृष्टिके जीव जीवित भी नहीं रह सकते थे और सृष्टिके तत्व निरन्तर सड-गलकर विनाशको ही प्राप्त होजाते । अतः यज्ञ पवित्र है और निःसन्देह पवित्रकारक भी है । उसकी पवित्रता, उसके ऋत एवं सत्यरूपी समिधाओंसे समिद्ध होनेसे सदा ही सत्य, शुद्ध एवं पवित्र ही है और उस परमात्माके तपके कारण तो और भी तपः पूत है ।

परमात्माकी सृष्टिमें वर्तमान अष्ट वसु भी निरन्तर पवित्रता सम्पादन करते रहते हैं । पृथिवी पवित्रकारिणी है । मलोंको आत्मसात्कर, उन्हें नष्ट कर पुनः नवीनरूप एवं सौन्दर्यके साथ, नवजीवनके रूपमें, पवित्र और आकर्षक रूपमें परिवर्तित कर देती है । जल सब प्रकारके मलोंसे पृथिवी और अन्तरिक्षको स्वच्छ करके मलोंको अपने साथ लेकर, अपनेमें धारण करके स्वच्छ कर देता है और स्वयं भी निर्मलरूपमें दिव्य एवं गांगेय जलके तुल्य निर्मल हो जाता है । अग्नितत्व भी पवित्रताका सम्पादक है । पृथिवी और जल जहां पवित्रता सम्पादन करनेमें असमर्थ होजाते हैं वहां भौतिक अग्नि अपनी सात जिह्वाओंसे उसी प्रकार पवित्रता सम्पादन करता रहता है, जिस प्रकार पशु अपने बच्चोंको अपनी जिह्वासे बिलकुल स्वच्छ कर देते हैं । अग्नि भी सृष्टि यज्ञका पशु है ।- अग्निः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त- इस अग्नि पशुसे देवता यजन करते हैं । इस पशु यज्ञसे पवित्रता निरन्तर होती रहती है ।

अग्नि, जल और पृथिवी जिन स्थानोंपर पवित्रता करनेमें असमर्थ होते हैं, वहां वायु अपनेमें पृथिवी, जल और अग्निके सामर्थ्यको भी धारण करके चतुर्विध रूपमें पवित्रता सम्पादन करता रहता है । हमारे शरीरमें भी पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके प्रतिनिधिद्रव्य अस्थि, रस, रक्त एवं प्राण शरीरके मलोंका शोधन करते हुए देहके

जीवनको पवित्र बना रहे हैं। जबतक इनका कार्य यथावत् चलता रहता है तबतक शरीरमें सुख एवं आरोग्यता बनी रहती है। अतः ये सब चराचर जगत्के वसु हैं एवं पवित्र कर्ता भी हैं।

आकाशके बिना वायुका शोधन कर्म बन्द होजाता है। आकाश और वायुके बिना अग्नि निस्तेज होजाती है एवं शान्त होजाती है। आकाश, वायु और अग्निके कार्यक्षम होने पर जलका जीवन तत्व एवं उसमें पवित्रकारक शक्ति जागृत ही नहीं होती और आकाश, वायु, अग्नि एवं जलकी क्रियाशीलताके अभावमें पृथिवी भी निष्क्रिय अन्न, फलादिसे रहित हो जाती है। अतः इन सब तत्वोंको क्रियाशीलता एवं पवित्रकारक बनानेके लिये आकाश पवित्रताओंका मूल प्रतीत होने लगता है।

ये पांचों पवित्रकारक वसु हमारे समीपमें विद्यमान हैं और कार्य कर रहे हैं। परन्तु इस सृष्टियज्ञमें हमसे हजारों, लाखों और करोडों मीटर दूरस्थ चन्द्रमा, सूर्य एवं नक्षत्र भी ब्रह्माण्डमें पवित्रता सम्पादन कर रहे हैं और हमारे चारों ओर तथा पंचतत्वोंमें भी निरन्तर पवित्रता करते हुए, इनमें पवित्रताकारक सामर्थ्यको भी प्रदान कर रहे हैं। चन्द्रमा अपनी सोमसुधासे वनस्पति, औषधि, वृक्षों एवं मानसतत्वोंमें अपने सामर्थ्यसे पवित्रता एवं जीवनको भरता रहता है, जिससे हम अपने शरीर और मनको पवित्र एवं प्रसन्न कर लेते हैं। सूर्यकी आयु संज्ञक किरणोंसे तथा उसके ताप एवं गतिसे सृष्टिके पदार्थोंमें सांघातिक एवं पार्थक्य क्रियाओंके द्वारा निरन्तर पवित्रता होती रहती है। इसी प्रकार नक्षत्र भी अपनी अदृष्ट एवं अज्ञात, अनन्त, सूक्ष्म शक्तियोंसे निरन्तर पवित्रता करते रहते हैं। अतः ये सभी अष्ट वसु पवित्र हैं और पवित्र करनेवाले हैं।

परमात्मदेवके सृष्टि यज्ञमें वर्तमान, यज्ञका अनुसरण करते हुए हम भी अपने जीवनको यज्ञमय बनावें तो हममें भी निरन्तर पवित्रता बढेगी। जीवन बढेगा। उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्राप्त होगी। अन्यथा जीवन अपवित्र होजायगा और हमारी अपवित्रतासे चारों ओर अपवित्रताका साम्राज्य छा जायगा। इस प्रकार हम अपने ही जीवनके नहीं अपितु अन्योंके जीवनके भी उच्छेदक बन जावेंगे। अतः यज्ञ रहित जीवन विनाशका हेतु है। वह पापमय है। इस पापमय जीवनसे जीवोंके उद्धारके लिये प्रभुने- 'वसोः पवित्रमसि- ' का परमपवित्र ज्ञान दिया है। इसे हमें अवश्य अपने जीवनमें धारण करना चाहिये और यज्ञकी साधना करके स्वयंको पवित्र बनाते हुए, समस्त वातावरणको भी पवित्र बनाना चाहिये।

द्यौरसि

द्यौः विज्ञान प्रकाशहेतुः। (महर्षि दयानन्द)

वह पूर्वोक्त यज्ञ द्युलोकके समान प्रकाशका हेतु है। द्युलोकमें सूर्य, नक्षत्र, तारागण निरन्तर अपने अनेक प्रकारके प्रकाशोंसे इस बाह्य सृष्टिको और आन्तरिक सृष्टिको आलोकित करते रहते हैं। हम उनके प्रकाश या आलोकको चाहे अनुभव करें या न करें परन्तु उनका दृष्ट और अदृष्ट प्रभाव न्यूनाधिक सृष्टिपर पडता ही रहता है। उनके ताप और आलोकसे उनके प्रतिनिधित तत्व द्रव्यों, वृक्ष एवं वनस्पतियोंमें उनके गुणोंका आकर्षण एवं केन्द्रीकरण होता रहता है। उनके गुणोंका प्रसार, आधान, निवास एवं आच्छादन हम यज्ञ द्वारा ब्रह्माण्डके यथेच्छ स्थानोंपर मन्त्रोंकी व्यापक छन्द शक्तिके आधारपर करनेमें समर्थ होते हैं। अतः 'वसोः पवित्रमसि'- इतने उपदेशसे ही तात्पर्य पूर्ण नहीं हो पाता और उसके आगे- 'द्यौरसि' यह भी पद आवश्यक होनेसे जोडना अनिवार्य हुआ।

द्युलोक विज्ञानसे भी पूर्ण है। यदि हम सूर्यका ही पूर्ण रूपसे ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना चाहें तो अनेक जीवन व्यतीत हो जावेंगे, फिर भी पूर्णज्ञान प्राप्त नहीं होगा अपितु अनेक नूतन-नूतन ज्ञान एवं उनके सूक्ष्म रहस्य तथा उन सूक्ष्म रहस्योंमें निहित महान् शक्तियोंके दर्शन एवं उनके उपयोगकी विधियां भी ज्ञात होंगी। सूर्यकी ऊष्मासे, उसके प्रकाश क्या-क्या परिवर्तन और किस-किस प्रकारसे परिवर्तन पृथिवीके विविध तत्वोंमें, अन्तरिक्षके तत्वोंमें और द्युलोकके तत्वोंमें होते हैं-यह सम्पूर्ण ज्ञान अनन्त है। इस ज्ञानका अन्त नहीं होसकता। परन्तु द्युलोकमें केवल एक ही सूर्य नहीं है। अनेकों सूर्य हैं। अनेक सूर्य ही नहीं अपितु असंख्य नक्षत्र तारागण भी हैं। उन सबका ज्ञान रहस्यपूर्वक प्राप्त करना महाविज्ञान है। अतः द्युलोक विज्ञानका अथाह समुद्र है। इसमें गोते लगाते रहनेसे नित्य नूतन ज्ञान रत्नोंकी प्राप्ति होती रहती है।

द्युलोकस्थ रश्मियाँ भी माध्यम बनकर होताका कार्य करती रहती हैं। जिन पदार्थोंकी आहुति पवित्र यज्ञमें दी जाती है, उस समय अग्निकी ज्वालाओंका सूर्यकी रश्मियोंके साथ आदान-प्रदान कर्म प्रारम्भ होजाता है और यज्ञमें दी गई आहुतिका सूक्ष्म अंश रश्मि मार्गसे द्युलोकमें पहुंचता है। द्युलोकमें सूर्यमण्डलतक पहुंचनेपर पुनः उस सहस्रांशु सवितादेव सूर्यसे उन आहुतियोंका सूक्ष्मभाग द्युलोकस्थ नक्षत्रतारागणोंको भी सूर्यकी किरणोंके विस्तारसे पहुंच जाता है। यह जो पृथिवी स्थानीय यज्ञ विद्वानों द्वारा किये जाते हैं, वे द्युलोकमें व्याप्त होजाते हैं। उन-यज्ञोंका प्रभाव पृथिवीतक ही सीमित नहीं रहता है अपितु ब्रह्माण्डमें भी व्याप्त होजाता है। अतः यज्ञ- ' द्यौरसि '- इन शब्दोंको पूर्ण सार्थक करता है।

दिवु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गतिषु। (धातुपाठ)

यज्ञ द्यौ होनेसे दिवि है। दिवि होनेसे देव भी है। देव होनेसे वह ब्रह्माण्डमें अपनी क्रीडा भी करता है। हम भी यज्ञ द्वारा अपनी क्रीडा सम्पन्न करें। वेदमें— क्रीडा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ' यह प्रार्थना है। हमारी क्रीडा हमारे आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी ब्रह्मयज्ञ द्वारा सम्पन्नकर सकते हैं और देवयज्ञों द्वारा स्थूल जगत्के साथ कर्मकाण्डमय क्रियाओंके द्वारा क्रीडा करके अर्थात् पदार्थोंके संयोग विभाग द्वारा अभावकी पूर्तियाँ करके आनन्दित होसकते हैं।

विजिगीषा— यज्ञ, देव होनेसे क्रीडाके साथ विजिगीषा, जयकी भावना एवं प्रवृत्तियोंका जनक है। क्रीडामें विजिगीषा, जयकी भावना रहती ही है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें ब्रह्म यज्ञ द्वारा हम अपनी आसुरी शक्तियोंपर विजय प्राप्त करनेकी भावना रख सकते हैं और विजय प्राप्त कर सकते हैं तथा बाह्य कर्मकाण्डमय अश्वमेधादि, राष्ट्र रक्षण, संवर्धन एवं प्रजापालनादि कार्योंमें अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेकी भावना जागृत रखें।

व्यवहार-द्युति-स्तुति— विजय प्राप्तिके अनन्तर व्यवहार क्षेत्र बढ जाता है। विजित क्षेत्रपर अपना व्यवहार अपने अनुकूल स्थापित करना होता है। देवत्वरूप व्यवहारकी वृद्धिसे परस्पर हृदयोंमें प्रेम, ऐक्य उत्पन्न होकर हृदयके मल नष्ट होजाते हैं। हृदयोंके मलोंके नष्ट होनेपर द्युति-प्रकाश प्रकट होने लगता है। ब्रह्मयज्ञों द्वारा तथा देवयज्ञों द्वारा आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहारोंके देवत्व रूपमें सम्पन्न होनेसे द्युतिकी साधना होती जाती है। जब जय हो और अपने साम्राज्यमें उत्तम देवत्व व्यवहारसे प्रजाके परस्पर हृदय एक हों और उनमें ज्ञानकी द्युति जगमगा रही हो तो ऐसे साम्राज्यकी कौन स्तुति न करेगा ? परन्तु हमें तो उस प्रभुकी भी यज्ञों द्वारा स्तुति करनी होगी। हमारे यज्ञोंके अनुष्ठानसे हम परमात्माकी स्तुति करेंगे, उसे धन्यवाद देंगे कि आपकी ही कृपा और दयासे इस सब देवत्वका विकास हो रहा है। लोग हमारी स्तुति करेंगे कि इनके माध्यमसे, इनके द्वारा यह सब स्तुति योग्य व्यवहारका निर्माण हुआ है।

मोद-मद— स्तुतिकी उपरोक्त स्थितिपर पहुँचनेपर हमें मोदकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी स्तुतिसे हमें आत्मामें आन्तरिक मोद प्राप्त होता है और बाह्य लोकके द्वारा हमारी स्तुतिसे हमें बाह्य मोद-आनन्द-प्राप्त होता है। मोदसे मदकी स्थिति प्राप्त होगी। यदि परमात्माके मोदके मदमें हम मस्त रहेंगे तो सदा आनन्दमें ही रहेंगे। यदि बाह्य मोदके मदसे मस्त हो गये तो हमारा पतन भी होगा।

अतः जो यज्ञ वसु है, पवित्र है, पवित्रकारक है, उसीको " द्यौरसि " जानकर मदसे मस्त रहेंगे तो पूर्वकी सब साधनायें होती रहेंगी और हममें पूर्ण देवत्व प्रकट होगा- अन्यथा नहीं। इस प्रकार यज्ञके द्यौ होनेसे वह मोद और मदका सम्पादक है।

स्वप्न— देवत्वकी ये क्रमशः सातों स्थितियाँ जागृत अवस्थाकी हैं। क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद और मद ये सम्पूर्ण स्थितियाँ अथवा व्यवहार जागृत अवस्थाके हैं। स्वप्नमें भी ये सब व्यवहार होते हैं। जागृतसे ही स्वप्न बनता है। अतः स्वप्न जगत्की स्थितियोंका निर्माता भी द्यौ रूप यज्ञ है।

कान्ति-गति— देवोंकी दिव्यताकी निरन्तर वृद्धि कान्तिके रूपमें प्रकाशित होने लगती है। जो व्यक्ति दिव्यताकी साधना करेगा उसमें कान्तिका प्रकट होना अनिवार्य होगा। यदि दिव्यता सम्पादनमें उपरोक्त गुणोंके धारण करनेमें अवरोध होगा अर्थात् गति या उन्नतिका अभाव या प्रमादवश दिव्यका पालन नहीं किया तो देवत्वसे वह पतित हो जावेगा। अतः गति भी देवत्वके लिये आवश्यक है। (क्रमशः)

नासदीय–सूक्त

[डॉ. श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

नासदीय–सूक्त ऋग्वेदके दशम मण्डलका १२९ वाँ सूक्त है। इसमें सृष्टि–विद्याका प्रतिपादन है। वैदिक साहित्यमें यह अपनी समानता नहीं रखता। विश्व–साहित्यकी दृष्टिसे भी दार्शनिक तत्वोंका एकत्र ऐसा संक्षिप्त विवेचन दुर्लभ है। इस नासदीय–सूक्तमें आरंभके दो मंत्रोंमें ऋषिने उस समयमें प्रचलित कई दार्शनिक मतोंका या वादोंका उल्लेख किया है।

१ उनमें मंत्रके आरंभमें ही 'सदसद्वाद' का उल्लेख है। इसका अभिप्राय यह है कि आरंभमें कोई एक असद् तत्व था जिससे सत्का जन्म हुआ। यह तैत्तिरीय आचार्योंका मत था। ऋग्वेदमें भी यह कहा गया है कि असत्से सत्का जन्म हुआ और असत् और सत् दोनों परम व्योममें विद्यमान थे। वह देवोंका लोक था, जहाँसे अदिति और दक्ष दोनोंका जन्म हुआ।

असच्च सच्च परमे व्योमन्
दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य
पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ (ऋ. १०।५।७)

हम यहाँ पर ऋग्वेद दशम मंडलके बहत्तरवें सूक्तके दूसरे और तीसरे मंत्रोंमें जो कहा गया है उसकी तुलना कर सकते हैं। अर्थात्—

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।

देवोंके पूर्व युगमें असत्से सत्का जन्म हुआ। शतपथ ब्राह्मणमें स्पष्ट कहा है कि असत्का अर्थ है 'ऋषि–सृष्टि' और ऋषि सृष्टिका अर्थ है 'प्राण–सृष्टि' (श. ब्रा. ६।१।१।१ ×) सत् और असत् इन दोनों शब्दोंका भिन्न-भिन्न अभिप्राय दार्शनिकोंको इष्ट था। अर्थात् जो भूतसृष्टि है वह सत् है और उससे पूर्वकी जो प्राणसृष्टि है वह असत् है। कुछ कहते थे कि ब्रह्म सत् तत्व है और प्रधान या प्रकृति असत् है। इसके संबंधमें पंडित ओझाने अपने 'दशावतारहस्य' में बहुत कुछ सूक्ष्म विवेचन किया है और सात मतवालोंका उल्लेख किया है। जो अंततः इक्कीस में विस्तृत हो जाते हैं।

२ नासदीयसूक्तका दूसरा सिद्धांत 'रजोवाद' है। रजस् इस सृष्टिके 'आरंभकतत्व' को या 'उपादान-कारण' को कहते हैं।

आरम्भणं तत्त्वमिहोच्यते रजः।

ऋग्वेदका मत है कि आरंभमें एक अजतत्व था जो कि अद्वैत ब्रह्मका ही सूचक है। उस अजन्मा परम तत्वसे छह रजोंका जन्म हुआ।

वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्य-
जस्य रूपे किमपि स्विदेकम्। (ऋ. १।१६४।६)

इन्हीं छह रजोंको षडुर्वीः भी कहा गया है। षडुर्वी रेकमिद् बृहत्। ऋ. १०।१४।१६; एवं १०।१२८।५)। कुछ ऐसा मानते थे कि लोककी संज्ञा रजस् है और सात लोक हैं। अर्थात्, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, इन्हें ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्राण और चेतना भी कहते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह रजस् दो प्रकारका है– एक 'शुक्ल रजस्' और दूसरा 'कृष्ण रजस्'। यह ही संसारका मौलिक द्वैतभाव है और ये दोनों चक्रवत् घूमते रहते हैं। एकको दूसरेसे शक्ति प्राप्ति होती है। जैसे ऋग्वेदमें कहा है—

अहश्च कृष्णं अहरर्जुनं च
वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजाऽ
वातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ (ऋ. ६।९।१)

ऋग्वेदमें अन्यत्र कहा गया है कि कृष्ण और शुक्ल यह दो रोचनाओंका युग्म है। उनमेंसे एक कृष्ण है, दूसरी

× असद्वाऽ इदमग्रऽ आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुराऽस्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसाऽऽरिषंस्तस्मादृषयः।

शुक्ल है। जो कृष्ण है वह चमकती नहीं और जो शुक्ल है वह रोचना युक्त है। किन्तु इन दोनोंका जन्म एक ही मातृ-पितृ तत्त्वसे होता है। अतएव ये दोनों स्वसा या बहनें हैं। वह देव, जिससे ये जन्म लेती हैं महत् है और वह इस प्रकारके असुरत्व या प्राणशक्तिसे युक्त है—

नाना चक्राते यम्याऽवपूंषि
तयोरन्यद् रोचते कृष्णमन्यत्।
श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ
महद् देवानामसुरत्वमेकम् ॥ (ऋ. ३।५५।११)

रजस्का अर्थ है गतितत्त्व। इसके विपरीत दूसरा स्थितितत्त्व है। अज और अव्यय पुरुष समानार्थक हैं और रजस् और अक्षर पुरुष दोनोंका एक ही अभिप्राय है। अक्षरका सिद्धांत ऋग्वेदमें भी आया है, और वहाँ कहा है कि जो शक्तिका महा समुद्र आरंभमें था, वह इस सृष्टिके लिए अक्षरके द्वारा विपरिणत होता है—

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति ॥
(ऋ. १।१६४।४२)

इस विश्वकी जो गति या स्पंदन है वह एक समञ्चन और प्रसरणात्मक गतिके रूपमें प्रकट हो रही है। उसीको हम प्राण कहते हैं जैसा कि शतपथमें स्पष्ट कहा है—

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्। (श. ब्रा. ८।१।४।१०)

प्राणका अभिप्राय तालयुक्त गति या स्पंदन है और यही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्राणका स्वरूप है। प्राण रजस्के समान ही द्विधात्मक तत्त्व है जो कि प्राण और अपानके द्वंद्वके रूपमें प्रकट हो रहा है। जैसे कहा गया है— जो परम ज्योति है वह प्राण और अपानके रूपमें प्रकट हो रही है और उसीसे ही हमारी श्वास और प्रश्वासकी गति है—

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ (ऋ. १०।१८९।२)

जब शक्ति या रजस्के ये दो छोर स्थिर हो जाते हैं और इनके बीचमें एक अनवरत स्पन्दनकी धारायें बहने लगती हैं तब उनमेंसे एक ज्योति उत्पन्न होती है और जो अंधकारका या शक्तिका विरोधीतत्त्व है इसे 'महिष' कहते हैं। वह उस मंडलसे बाहर रहता है। रजोवाद ऋग्वेदका एक महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त था, जो पीछे शाक्तवादमें सम्मिलित हो गया।

३ नासदीय-सूक्तका तीसरा दार्शनिक सिद्धान्त 'व्योमवाद' है— इस विश्वका जो मूलभूत स्थिर स्रोत है उसे परम व्योम कहा गया है। वह अमृत है और उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन या परिणाम नहीं होता। उसे ही 'इन्द्र' या 'अभ्य प्रजापति' भी कहते हैं वह अजायमान है। वह इस सृष्टिमें जन्म नहीं लेता। उस परम व्योमका उलटा दूसरा तत्त्व अपरम व्योम है, जिससे इस विश्वका अभिप्राय है। यह परिवर्तित होता है और सब प्रकारके परिणाम इसमें होते हैं। इस वास्ते इसे मर्त्य कहते हैं। जो परमव्योम है वह अमृत है और जो व्योम या आकाश है वह मर्त्य आकाश है। परम व्योमसे जो विश्व जन्म लेता है वह सर्व प्रथम भौतिक आकाश तत्त्व है और वही क्रमशः पंचभूतोंके रूपमें प्रकट होता है। सात देवोंका जन्म अमृतव्योमसे ही हुआ है और बाकी सब भूतोंका जन्मस्थान मर्त्यव्योम है। वाक्का घनिष्ठ सम्बन्ध व्योमसे है। परम व्योममें स्थित जो वाक् है उसे 'अमृता वाक्' कहते हैं और वही सहस्राक्षरा कही जाती है।

सहस्राक्षरा परमे व्योमन्। (ऋ. १।१६४।४१)

जो सहस्र है वह अनन्त और विश्वात्मक होता है। उसमें प्राप्त या बहुधाके भेद नहीं होते। जो व्योम है वही आकाश है और आकाशका गुण शब्द है इस कारण शब्द और वाक् एक हैं। पंचभूतोंका प्रतीक कल्पित करनेके लिए भूतोंमें जो सबसे सूक्ष्म आकाश है उसके गुण शब्द या वाक्का ग्रहण किया गया है। अतएव वैदिक परिभाषामें वाक् और पंचभूत ये दोनों पर्याय हैं।

४ अपरवाद— नासदीय-सूक्तका चौथा वाद 'अपरवाद' है। पर और अपर ये दोनों सापेक्ष सिद्धान्त हैं। जो अद्वैततत्त्व है वह पर कहलाता हैं और जो सृष्टिके आगततत्त्व हैं वह अपर हैं। ऋग्वेदके नासदीयसूक्त और अस्यवामीयसूक्तमें परापर तत्त्वका वर्णन आता है। नासदीय सूक्तमें इसे परस्ताद् और अवस्ताद् कहा गया है। परस्ताद्को ऊर्ध्व और अवस्ताद्को अधः भी पुरुषसूक्तमें कहा है। जो केन्द्र है वह पर है और जो मंडल है वह अपर है। यह जो विश्व वृक्ष है इसकी जड़ें ऊर्ध्वमें कही जाती

हैं। ऊर्ध्व मूलका अर्थ यही है कि इस वृक्षके मूल परम व्योम या अपरतत्वमें स्थिर हैं और जो उसकी शाखायें देशकी सब दिशाओंमें फैली हुई हैं उसीकी संज्ञा अधः है। पर और अपरका यह सिद्धान्त वैदिक युगमें अत्यंत व्यापक था। व्योम, वाक्, प्रजापति, काल यह सब दो भेद रखते हैं। एक उध्व जो कि अंतरजायमान है और दूसरा अपर जो बहुधा विजायतेकी कोटिमें आता है। बीज और वृक्ष ये ही सब पर और अपरके उदाहरण हैं।

५ आवरणवाद— नासदीय-सूक्तमें इस मतका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्। (ऋ. १०।१२९।१)

यह विश्व सांख्य है। सृष्टिके लिए अनन्त सांख्यताके साँचेमें ढलता है और तब व्यक्त भावमें आता है। जो भौतिक है वह सीमित होता है यही आवरणवादका तत्व हैं। इसीका दूसरा संकेत 'माया' है। जिस शक्तिसे सब वस्तुओंका सब पदार्थोंका मान होता है वही माया है। परम व्योमका अधिष्ठाता इन्द्र बहुधा भावोंको अपनी माया शक्तिसे ही धारण करता है—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश (ऋ. ६।४७।१८)

सम्पूर्ण सृष्टिको एक प्रकारका विमान ही कहना चाहिए। विमान शब्द 'मा' धातुसे बना है जिसका अर्थ है नापना या मापन करना और इसीलिए सृष्टिके लिए वेदमें प्रायः विमान शब्द आता है। यह मापन रजसकी शक्तिसे ही सम्भव होता है। रजस् वह सत्य तत्व है, जो मनस्, प्राण वाक् या पंचभूत इन तीन कोटियोंमें प्रकट होता है, अतएव इसे ऋग्वेदमें विधातु ही कहा गया है। (ऋ. ३।२७।७)

सृष्टिके लिए आवरणवाद अत्यंत आवश्यक है। इसीके द्वारा जन्म लेनेवाले विश्वकी मर्यादा और माप निश्चित होती हैं। जितने भी उत्पन्न पदार्थ हैं, सबका अपना अपना द्यावापृथिवी है अर्थात् उनको जन्म देनेवाला मातृ-पितृ तत्वोंका जोड़ा है। वैदिक सृष्टि विद्याके लिए द्यावापृथिवी की कल्पना अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें पृथिवी भौतिक सृष्टिका प्रतीक है जो मर्त्य है और द्यौः अव्यक्त लोकका प्रतीक है जो अमृत है। ऋग्वेदके कितने ही सूक्तोंमें द्यावा-पृथिवीरूपी माता और पिताकी महिमाका वर्णन किया गया है। जो भी सृष्टि व्यक्त होती है उसे भौतिक धरातल पर अवश्य आना होता है। अर्थात् वह माताकी या पृथिवीकी कुक्षिके द्वारा जन्म लेती है। माता शब्दका अर्थ ही यह है कि मापन करनेवाला तत्व। माताका गर्भ या कुक्षि इस बातका निश्चय करती है कि किसी भी उत्पन्न पदार्थ की सीमा और मर्यादा या माप क्या होगी। पिता वह अमृत तत्व है जिससे कि मर्त्य गर्भ माताके द्वारा जन्म लेता है।

सच्चे अर्थोंमें माता वह साँचा है जिससे कि प्राणी जन्म लेते हैं। यही माताका स्वभाव है अर्थात् आवरण करना। नासदीय-सूक्तमें इसीका एक पर्याय शर्म है, जिसका अर्थ है रक्षा। प्रत्येक आवरण एक रक्षा ही है। जो आवरण करता है, वह आवरण की हुई वस्तुका सच्चे अर्थोंमें रक्षक बन जाता है। इस दृष्टिसे यह बात भी समझी जा सकती है कि क्यों ब्राह्मण ग्रन्थोंमें शर्मको चर्मका पर्याय कहा है। प्रकृतिने जिन जिन पदार्थोंकी रचना की हैं, उन सबके चारों ओर चर्मका वेष्टन किया है और वहीं उनका शर्म या कल्याण है। कृष्ण मृगकी त्वचाको चर्म कहते हैं, किन्तु उसका आन्तरिक अर्थ यही है कि वह शर्म है। जिसके द्वारा दिव्य रक्षा करनेवाली शक्तिका आवाहन किया जाता है, इसीलिए कृष्ण मृगको ब्राह्मण ग्रन्थोंमें यज्ञका स्वरूप माना है, जिसके भीतर अग्नितत्व विद्यमान है।

शर्म चर्म वा एतत्कृष्णस्य (मृगस्य) तन्मानुषं, शर्म देवत्रा। (शतपथ ३।२।१।८)

शर्म-चर्म-आवरण यही ब्राह्मणोंकी परोक्ष शैली है। पुराणोंकी भाषामें चर्मको ही तजकृति कहा गया है। शिवने अपने नृत्यके आरम्भमें ताण्डव करते समय जिस गजासुरका वध किया था वह अहंकारका रूप है। बिना अहंके कोई सृष्टि नहीं होती। और अहंकारके द्वारा ही माया या माप या मापनकी कल्पना होती है। जिसके भीतर प्रत्येक प्राणी या प्राणतत्व अपना स्पन्दन करता है। इसीको बहिचर्म कहते हैं। ताण्डव करते समय शिवने इसीका परिधान किया था।

६ अम्भोवाद— अम्भोवाद भी एक महत्वपूर्ण वैदिक

दर्शन था। इसमें यह कल्पना की गई है कि इस सृष्टिका आरम्भकतत्व जल था। अन्धः, आपः, सलिल, समुद्रः, ऋतं ये लगभग पर्याय माने गए हैं और इनका अनेक मंत्रोंमें वर्णन आता है। यह समस्त विश्व वरुणके अनन्त समुद्रसे जन्म लेता है। वरुण समुद्रों या जलोंका अधिष्ठाता है। वरुणका लोक अंधकारसे भरपूर है अर्थात् वह व्यक्त सृष्टिका अथाह सागर है। उसे ही ऋग्वेद १।१६४। ४७ में कृष्णनीयान कहा है। जल या आपः का अर्थ है वह स्थितिशील अवस्था जिसमें समस्त प्रकृति लीन थी और वह अभी व्यक्त रूपमें नहीं आई थी। उस प्रकारकी अव्यक्त कृष्ण या स्थितिशील व्यवस्थासे गति या प्रकाशका जन्म होता है। उसकी संज्ञा अग्नि है। यह उल्लेख ऋग्वेदमें बार बार आता है कि जल ही मातृतत्व था जिसने अग्निको जन्म दिया। ऋग्वेदमें एक स्थलपर कहा है—

परो दिवा पर एना पृथिव्या
परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो
यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥
तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो
यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं
यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

(ऋ. १०।८२।५-६)

जल रूपी मातृतत्वसे सर्व प्रथम अग्निका जन्म हुआ। जल और ऋत दोनों पर्याय हैं जो ऋत लोक है वही परमेष्ठी है। वही सृष्टिको जन्म देता है। अग्निको "अपां गर्भः" कहा गया है (ऋ. ३।५।३) ऋग्वेद ७।४९।४ के अनुसार वैश्वानर अग्नि जलोंमें प्रविष्ट था।

वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता
आपो देवीरिह मामवन्तु।

अग्नि ही विश्वमें समिद्ध तत्व है। इस रूपमें इसे 'अग्रज तपस्' कहा गया है (बृहद्देवता, २।५३)। महाभारतके आरण्यक पर्वमें इसीको 'ऊर्ण्णा' कहा है और मैत्रायणी उपनिषद्में इसे ही 'देवौष्ण' कहा है। इस देवौष्णका जन्म उपांशु या और अन्तर्याम नामक दो परस्पर टकरानेवाली शक्तियोंसे होता है। अन्ततः जो पुरुष है वह यह देवौष्णका ही एक रूप है—

यद्दौष्ण्यं स पुरुषः।
अथ यः पुरुषः सोऽग्निः वैश्वानरः।

(मैत्रायणी उपनिषद् २।६)

ऋग्वेदमें यह स्पष्ट कहा है कि देवोंने सुन्दर अग्निको जलोंके भीतर प्राप्त किया। (ऋ० ३।१।३) ऋग्वेदमें स्पष्टतः अग्निको ऋतका प्रथमज अर्थात् ऋतसे सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ कहा है। यह ऋत वह आरम्भिक प्राणतत्व है, जिसकी धारायें इस सृष्टिके रूपमें सदा एक होती हैं-

अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य। (ऋ. १०।५।७)

यहाँ ये उल्लेखनीय है कि ऋत का धरातल अथवा आपः और अम्भः इन सबका मूलतत्व सोम है। और उसका विपरीत तत्व अग्नि है। समस्त सृष्टि अग्नि और सोमके पारस्परिक सम्मिलनसे उत्पन्न होती है (अग्नीषोमात्मकं जगत्) यह जो जीवन है यह तीन तत्वोंसे बना है अर्थात् असृत, प्राण और मनस् या आत्मा। यह जीवन अग्नि या सोमके परस्पर संघर्षसे स्थिर रहता है, (अग्नीषोमीयं पशुं) इस प्रकारका यह अग्नीषोमीय, पशु प्रत्येक यज्ञके यूपसे बँधा हुआ है। आपः तत्व या जलोंका मूल एक सरोवर है, जहाँसे सरस्वती या जीवनकी धारा या वाग्‌की धारा जन्म लेती है। वहीं सृष्टिका प्रतीक है जो कि नाना रूपोंमें प्रचलित हो रही है।

इस प्रकार जो समिद्ध देवतत्व है वही अग्नि या इन्द्र है। जैसा कि शतपथ ब्राह्मणमें स्पष्ट कहा है अर्थात् जो इन्ध् धातु है उसीसे इन्ध शब्द बनता है और वही परोक्ष भाषामें इन्द्र कहलाता है।

स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध,
इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्,

(६।१।१।२)

वैदिक भाषामें यदि इस प्रकारके समीकरणको ध्यानमें रखा जाय तो अर्थोंके परिज्ञानमें सुविधा होगी— अग्नि, इन्द्र, सूर्य, मनु, अहं, यज्ञ, अमृत, देव, अक्षर, काल, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, सत्य, प्राण, ज्योतिः, पिता, अहः, संवत्सर ये सब प्राणकी ही संज्ञायें हैं। और कालान्तरमें

प्राणोंकी परिभाषामें इन्हें ही नारायणतत्व या हिरण्यगर्भ तत्व कहा गया है। जो पूर्व सिद्ध आपः समुद्र था, उसीसे ही इस अग्नि तत्वका जन्म होता है। इसी प्रकार सोमके भी कई नाम हैं, जैसे— ऋत, आपः, अम्भः, सलिल, समुद्र, वरुण, असुर, अहि, वृत्र, मृत्यु, अपान, पृथिवी, माता, रात्रि, तम इत्यादि। यदि इन प्रतीकोंको ठीक प्रकारसे समझ लिया जाय तो ऋग्वेदकी अनेक परिभाषाओंका परिज्ञान हो सकता है।

७ अमृतमृत्युवाद— इस विश्वकी जो प्रक्रिया है उसमें अमृत और मृत्यु दोनोंका स्थान है। जो स्थिति तत्व है वह अमृत है और जो गति तत्व है वह मृत्यु है।

अमृतं मृत्युरिति द्वयमेतद्वि-
श्वस्य मूलमिति विद्यात्।
अविनाशी स्थितिलक्षणममृतं
गतिमान् विनश्वरो मृत्युः॥
(पं. मधुसूदन ओझा, दशवादरहस्य, पृष्ठ १५)

देव अमृतके प्रतीक हैं और भूत मृत्युके। अग्निका सम्बन्ध दोनोंसे है। देवोंके धरातल पर उसे देवाग्नि कहते हैं और भूतोंके मर्त्य धरातल पर वही भूताग्नि हो जाता है। देवाग्नि सूर्यमें है और भूताग्नि पृथिवीमें है।

भूतानि मृत्योरमृताच्च देवा
स्तेषूभयेष्वग्निरयं निविष्टः। (वही, पृष्ठ १६)

दूसरे शब्दोंमें अमृत रसकी और मृत्यु बलकी संज्ञा है—

रसोबलं चेत्यमृतं च मृत्यू
रसप्रधानान्यमृतानि सृष्ट्याम्।
बलप्रधानास्त्विह मृत्यवः स्युर्न
मृत्यवः सन्त्यमृतातिरेकात्॥
(पं. मधुसूदन ओझा, दशवाद रहस्य)

इसे शतपथमें यों कहा है—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥
(शतपथ १०।५।२।४)

जन्म अमृतका रूप है और मृत्यु मर्त्यका रूप है। ये दोनों सूर्य या मार्तण्डमें पाए जाते हैं। देवमाता अदितिने इसको इसीलिए उत्पन्न किया कि वह जन्म के और मृत्युको प्राप्त हो।

प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।
(ऋ. १०।७२।९)

प्रजाका अर्थ है जन्म, मृत्युका अर्थ है मरण। ये दोनों एक ही वृत्तके अर्ध अर्ध भाग हैं और इनसे ही काल चक्रकी गति पूर्ण होती है।

८ अहोरात्र-वाद— यही कालवाद या जिसका उल्लेख श्वेताश्वतार उपनिषदमें आया है— कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, १।२) और भी,

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥
(गीता ८।१७)

सहस्रों युगोंको ब्रह्माका एक दिन कहा गया है। उसी प्रकार सहस्रों युगोंसे ब्रह्माकी रात्रि होती है। दिनका अर्थ सृष्टि है रात्रिका अर्थ है प्रलय। अहोरात्र कालकी एक इकाई है, जिसमें कि ब्रह्माकी समस्तशक्ति अन्तररूप है। यह शक्ति स्वयं संवत्सर है। यह पृथिवीको सूर्यके चारों ओर घुमा रहा है। मध्यस्थ केन्द्रमें जो सूर्य है वही प्रजापति है, उसे ही परिभाषामें अश्व भी कहा जाता है, क्यों कि वह सबको गति प्रदान करता है।

अहोरात्रके लिए ऋग्वेदमें केवल अहः शब्द ही प्रयुक्त होता है। जो शुक्ल और कृष्ण इन दो रूपोंमें सबको चलाता है अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च (ऋ. ६।९।१) एक तत्व दूसरेको गतिके लिए पीडित करता है और दोनों मिलकर चक्रात्मक गतिको उत्पन्न करते हैं। ज्योति और तमके इस बराबरके विभागके कारण ही वैश्वानर अग्नि पुरुषमें प्राण रूपसे और ग्रहोंमें सूर्य रूपमें समिद्ध होती है और बराबर गतिशील रहती है। ज्योति और तम, कृष्ण और शुक्ल, अग्नि और सोम, सृष्टि और प्रलय, जन्म और मृत्यु, स्वर्ग और पृथिवी— ये अहोरात्रके ही विविध रूप हैं। समस्त सृष्टिके मूलतत्वमें जो प्रचण्ड शक्ति है वही काल है और अथर्ववेदके दो काल-सूक्तमें इस दर्शनका भलीभाँति प्रतिपादन हुआ है (का. १९, सूक्त ५३-५४)।

इमं च लोकं परमं च लोकं
पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा
कालः स ईयते परमो नु देवः॥
(अथर्ववेद १९।५४।५)

जैसी पं. ओझाने व्याख्या की है रात्रि स्वयं प्रकृतिका रूप है और अहः उसके विकार हैं।

रात्रिः पुरस्ताद् तदहस्तु पश्चा-
दहः परस्तात् स्वयमेव रात्रिः
विकारतोऽहः प्रकृतिस्तु रात्रिः
सैषा गतिः सा प्रभवः प्रतिष्ठा ॥

रात्रि स्थितिका प्रतीक है और अहः गतिका। रात्रि निद्रा है और अहः जागरण है। उसे ही पुराणोंमें क्षोभ कहा है। सृष्टिके नारायण पुरुष अपने उस महा अनन्त शेष पर शायन करते हैं जो कि शेष है अर्थात् इस समस्त सृष्टिका मूल धरातल है।

विष्णुका अर्थ है विवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः अर्थात् जो व्याप्त हो वह विष्णु है। व्याप्त होनेकी कल्पना तभी सम्भव है जब उसके लिए कोई आवर्तन हो अर्थात् जिसमें वह तत्व व्याप्त होसके इस प्रकारका एक आवर्तन या पात्र यही विश्व है। इस सात विश्वका आधार वह अनन्त तत्व है, जिसे अनन्त शेष भी कहते हैं। पुराणोंकी परिभाषामें जो लोक हैं वे सर्प कहलाते हैं और उन अनन्त लोकोंकी समष्टिमें यह एक विश्व समाया हुआ है। अर्थात् विष्णु अनन्तकी शय्या पर सोते हैं। यह सात और अनन्त के पारस्परिक सम्मिलनकी कल्पना है। पंचरात्र भागवतों की परिभाषामें मार्कण्डेय कालके प्रतीक हैं। वह तब तक जीवित रहते हैं जबतक यह सृष्टि है। और इस सृष्टिको १ सहस्र वर्षका सत्र या यज्ञ कहा गया है। इसी प्रकार ऋषि मार्कण्डेय भी सहस्रायु हैं। जब विष्णु जागते हैं तब सर्व प्रथम ऋषि मार्कण्डेय उनकी कुक्षिसे बाहर आते हैं। इसका यही अभिप्राय है कि कालका जो क्षोभणात्मक तत्व है वही सृष्टिके स्पन्दनका हेतु है। नारायण सूर्य और सविता भी पर्यायवाची हैं। स्पष्ट ही मैत्रायणी उपनिषद् (६।८) में इसकी इस प्रकार व्याख्या की है अर्थात् आत्मा, ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृज्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, विधाता, सम्राट्, इन्दु या सोम। ये सब एक दूसरेके पर्याय हैं तथा और एक ही तत्वको अभिव्यक्त करते हैं। मूलतः इस सृष्टिकी दृष्टिसे ही ये भिन्न भिन्न प्रतीक एकात्मक हैं।

अहः तत्वका जो अभिप्राय या अर्थ है उसीकी परिधिमें इन सब तत्वोंका समावेश होता है और यह ऋग्वेदका एक महत्वपूर्ण दार्शनिक मत बन जाता है।

९ देववाद— देवोंसे यह सृष्टि जन्म लेती है। इस प्रकारका मत ऋग्वेदके लिए मौलिक है। देवोंके जन्मके साथ ही यज्ञका आरम्भ होता है। वह विश्व एक सतत यज्ञ है। इसे 'विश्वदानीं यज्ञं' कहते हैं। अग्नि इसका देवता है उसे ही ऋग्वेदके पहले मंत्रमें 'यज्ञस्य देवम्' कहा गया है। समस्त देवोंका निवास अग्निमें है जैसा शतपथमें कहा है (सर्वं देवत्योऽग्निः, ६।१।२।२८ अग्निः सर्वा देवताः, ऐतरेय २।३; तैत्तिरीय १।४।३।१०)। जहाँ अग्नि है वहाँ सब देवोंकी सत्ता भी अवश्य होती है। क्योंकि अग्नि सब देवोंका आवाहन करता है। (स देवां एह वक्षति; ऋ. १।१।२) दाक्षायणी सूक्तमें (१०।७२) कहा गया है कि सब देवोंका जन्म अनन्त शक्ति देवमाता अदितिसे हुआ है। अदितिके ८ पुत्र हैं। (अष्टौ पुत्रासो अदितेः) और उनमें ७ आदित्य हैं ८ वाँ मार्तण्ड या सूर्य था जो कि एक स्वर्ण परिमंडसे उत्पन्न हुआ था। अदितिने उसका आभरण किया और जन्म और मृत्युके चक्रको उसके साथ सम्बद्ध कर दिया। प्रत्येक सृष्टिके लिए जिस प्रकार अमृत आवश्यक है उतनी ही मृत्यु भी आवश्यक है। मृत्युके बिना कालका चक्र सम्भव ही नहीं है और न कोई गति ही अमृत और मृत्युके बिना सम्भव है।

देवता कितने हैं? उनका क्या स्वरूप है। इसके सम्बन्धमें एक मत यह था कि अग्नि और सोम दो ही मूलभूत देवता हैं। अग्नि देवोंको जन्म देता है और सोम भूतोंको। अग्नि एक है किन्तु वह नानारूप धारण कर लेता है और अपने तीन रूपोंमें अग्निको 'त्र्यम्बकाग्नि' कहते हैं। तीन माताओंका पुत्र होनेसे इसे ऋग्वेदमें 'त्रिमाता' भी कहा है। (ऋ० ३।५६।५)। यहीं त्रिमूर्धा है अर्थात् तीन मस्तकवाला देव (ऋ० १।१४६।१) है। अग्निके जन्मके तीन परम स्थान हैं जो सत्यके आश्रित हैं। वे यज्ञके केन्द्र बिन्दु हैं—

त्रिरस्यैता परमा सन्ति सत्या
स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः (ऋ. ४।१।७)

अग्निके जन्मका पहला सत्य मानस् सत्य है, दूसरा प्राण और तीसरा वाक् या पंचभूत। मानस तत्वको ब्रह्माग्नि या स्वयंभू कहते हैं। प्राण तत्वको देवाग्नि या सूर्य कहते हैं और भूत तत्वको वाग् भूताग्नि या पृथिवी कहते हैं। इन तीन धरातलोंके मध्यमें दो सोम हैं। जहाँ एक देव है वहीं

ज्योति, अमृत, ऋत और यज्ञ हैं। देवका उलटा असुर है जो कि तम, मृत्यु और आसुरी प्रवृत्तिका द्योतक है। अंधकारके रूपमें असुरका अस्तित्व देवसे पूर्व होता है और इसी लिए इन्हें पूर्वदेव भी कहा जाता है। एक ही महान् असुर के शासनमें देवोंका जन्म होता है—

महद् देवानामसुरत्वमेकम्।

प्रत्येक यज्ञमंडलमें एक देवका निवास है। (एको देवः) वह इसके केन्द्रमें रहता है और वहांसे एक एक देवोंका जन्म होता है। जो कि बिस्तम्भके बलसे स्थिर रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। जिस प्रकार एक विस्तम्भ या व्यासके तीन भावसे मंडलका जन्म होता है उसे परिधि-दल कहते हैं। इसी प्रकार ३३ देवोंसे ९९ असुरोंका जन्म होता है अर्थात् ३३ देवोंके प्रतिपक्षी ९९ असुर आ जाते हैं। जो विष्कम्भ या व्यास है वही देव है और जो परिधि है वही असुर है। प्रजापतिका यह नियम है कि असुर यज्ञके पवित्र मंडलमें प्रवेश नहीं कर सकते, क्योंकि उस मंडलकी रक्षा ब्रह्म या वाक्‌की शक्ति या मंत्रकी शक्तिसे होती है इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेदमें देववाद भी महत्त्व-पूर्ण दार्शनिक मत था। समस्त सृष्टि देवोंके अर्थात् दिव्य शक्तियोंकी ही अभिव्यक्ति है।

१० संशयवाद— यह एक ऐसा वाद था, जिसमें लोग संशयालु होकर इस सृष्टिके विषयमें इसके स्रोतके विषयमें और इसके रहस्यके विषयमें नानाप्रकारके प्रश्न करते व पूछते थे। उनका कहना था यह सृष्टि कहाँसे हुई है? यह कब हुई है, यह कहाँ हुई, यह कैसे हुई है, इसका परिमाण क्या है, इसका रूप क्या है? इसलिये इन प्रश्नोंके उत्तर भी भिन्न भिन्न रीतिसे दिए जाते हैं। उदाहरणके लिए इस संशयका एक रूप इस प्रकार है—

न तं विदाथ य इमा जजाना-
न्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चा-
सुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ (ऋ० १०।८२।७)

तुम उसे कभी नहीं जान सकते जिसने इस विश्वको जन्म दिया है। जिस हृदेशसे इसका जन्म हुआ है तुम्हारे उस हृदेशमें एक दूसरा तत्त्व समाया हुआ है। इस समय लोगोंके मन उस प्रकार घृणासे छा गए हैं जैसे आकाश नीहारसे भर जाता है और यह लोग सांसारिक भोगोंका उपभोग करते हुए केवल मुखसे बात कहते हैं, तत्त्वका कथन करते हैं।

नासदीय-सूक्तमें भी इस प्रकारके संशयवादको स्थान दिया गया है और अत्यंत साहसके साथ कथन किया गया है, 'यहाँ कौन जानता है और कौन कह सकता है कि कहाँसे यह सृष्टि जन्म ले कर आई है, जो देव हैं वे भी इस सृष्टिके बाद हुए हैं, कौन जानता है यह कहाँसे हुई है। अन्तमें यह भी कहा गया है जो इस सृष्टिका अध्यक्ष है जो इसे जन्म देता है वह भी इसे जानता है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकारका भी रहस्य है? वहाँ हर वस्तु एक महान् प्रश्नचिह्न है। जिसे वेदोंमें प्रश्न कहा गया है इसका कोई समाधान या उत्तर नहीं है।

इन १० वादोंके अतिरिक्त और भी सृष्टि विद्या संबंधी वाद थे। उन १० का कथन परस्पर विरोध दिखानेके लिए नहीं है किन्तु इस लिए है कि इन विद्याओंके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिके मूलकी व्याख्या की जा सके। कभी कभी यह भी देखनेमें आता है कि एक ही शब्दके अर्थोंका अनुसरण करते हुए ऋषि नाना प्रकारके संकेतोंसे सृष्टिके मूल तत्त्वोंकी ओर ले जाना चाहते हैं। उदाहरणके लिए, गौका दृष्टान्त है या अश्वका है या अज एकपाद् है या अहिर्बुध्न्य है अथवा उषा है या दो अश्विनौ हैं या महीमाता है जिसे अदिति कहते हैं जो देवोंकी जननी है। इस प्रकारके प्रतीक अनेक हैं। और उनका अभिप्राय यही होता है कि इस सृष्टिकी प्रक्रियाकी पूरी व्याख्या कर सकें। ऋग्वेदका जो दर्शन है, उसे ठीक प्रकार समझनेके लिए इन प्रतीकोंका ज्ञान आवश्यक है। ऋषियोंने इनका उपयोग अपने विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए किया है। यह एक ऐसी भाषा है जिसे सबने स्वीकार किया था और इसीमें मंत्रोंकी रचना हुई है। जो इन प्रतीकोंका अर्थ जानता है वही ऋग्वेदके दर्शनके प्रति न्याय कर सकता है। ऋषियोंके कथनमें सर्वथा संगति है उसमें एक दार्शनिकता है और उसीके द्वारा ऋग्वेदकी व्याख्या हो सकती है। ऋग्वेदका यह मत है कि ब्रह्म अंतिम तत्त्व है जिसमें कोई विकार या परिणाम नहीं होता। और वही सृष्टिका मूल है वह एक है और कुछ लोग उसे ही बहुधा नामोंसे और रूपोंसे देखते हैं—

ब्रह्म शब्दके मूलमें बृह धातु है जिसका अर्थ है एकसे अनेक होना। जिस प्रकार बसन्त ऋतुमें अनेक वृक्ष और

लतायें नवीन पल्लवों और पुष्पोंसे लद जाती हैं उसी प्रकारसे इस सृष्टिका होता है जिस प्रकार समुद्रकी ऊर्मियोंसे जलोंकी वेदी जन्म लेती है। उसी प्रकार एक मूल तत्त्वसे सृष्टिकी अनेक धारायें प्रवृत्त होती हैं।

जितनी भी उत्पन्न वस्तुयें हैं, उनमें हम दो विशेषतायें पाते हैं– एक तो वे प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं और दूसरे परिवर्तनशील होते हुए भी वे अपने स्वरूपको धारण करती हैं। पहला तत्त्व गति है और दूसरा तत्त्व स्थिति है। पहला फल है और दूसरा रस है। यदि विश्वमें इस प्रकारका द्विविरुद्ध भाव हम पाते हैं तो यह कल्पना होती है कि इसके मूलमें भी इस प्रकारका द्वैध विद्यमान होगा। वेदमें तीन पुरुषोंका वृतान्त पाया जाता है उनको क्रमशः अव्यय; अक्षर और क्षरपुरुष कहते हैं। भगवत् गीतामें इसकी विशेष रूपसे व्याख्या की है। उपनिषदोंमें भी अक्षरकी व्याख्या पाई जाती है। अव्यय सर्वोत्तम पुरुष है और सबका मूलाधार है। इसमें सब देवियों, देवताओं और ऋचाओंका एकीकरण होता है। (परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति)। प्राणकी संज्ञा 'अक्षर' है उसीसे सद्-गति होती है। और यह जो पंचभूतोंका जगत् है इसे क्षर कहते हैं। गीतामें स्पष्ट कहा है--

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
(गीता १५।१६)

अर्थात् लोकमें दो पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर। भूतोंका नाम क्षर है और, कूटस्थ जीवको अक्षर कहते हैं। कूटस्थ जीव ही प्राण या चेतना है।

वेदमें इन तीनोंके लिए कुछ भिन्न नाम हैं। पहली कोटिमें पर, परावर और अपर शब्द है और दूसरीमें अव्यय, अक्षर और क्षर। अव्यय ही पर है अक्षर ही परावर है और क्षर अवर है। ये तीन पुरुष क्रमशः उच्चस्थानीय, मध्यस्थानीय और अवस्थानीय हैं। और भी प्राचीन शब्दावलीमें अव्यय पुरुषको ही अज कहा जाता था और वही एकम् था। अज ही एकपाद् या अपाद् है। इसका अर्थ यह है कि जो अज तत्त्व है उसमें कोई गति नहीं होती क्यों कि गतिकी संज्ञा ही पाद है। अक्षरके लिए वैदिक शब्द रजस् था। कहा जाता है कि रजस् तत्त्व या गतिके द्वारा ही इन लोकोंका विमान या मापन होता है।

तीसरा तत्त्व क्षर पुरुष है उसे ऋग्वेदमें वाक् कहा गया है पंचभूतोंकी संज्ञा वाक् है इसका हेतु सरल है। विश्व रचनामें जो सबसे सूक्ष्मभूत है वह आकाश है रचनाका यही क्रम है। वह सूक्ष्मसे स्थूलरूपमें आती है। मन, प्राण और भूत अर्थात् वाक् या पंचभूत यही रचनाका क्रम है। पंचभूतोंमें आकाश सर्वप्रथम है।

आकाशका गुण शब्द या वाक् है अतः वाक्को पंचभूतोंका प्रतीक मान लिया गया है।

तीन पुरुषोंकी कल्पना ऋग्वेदमें इसी प्रकार थी और ये सारी सृष्टि त्रिपुरुष सृष्टि है। इसीको हम तीन अवस्थाओंके रूपमें देखते हैं अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। ये एक ही परतत्त्वकी तीन अवस्थायें हैं। जो स्थूल है वह अपनेसे अपेक्षाकृत सूक्ष्ममें अंतरलीन है। प्रत्येक व्यक्तिकी रचना इन तीन अवस्थाओंके द्वारा ही होती है "वैदिक त्रिकवाद ही दर्शनोंमें सत्व, रजस् और तमस्के रूपमें प्रकट हुआ है। सांख्य मतवादियोंने इसको स्वीकार किया था। इसे ही पुराणकारोंने त्रिदेव कहा है अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और शिव। जो विष्णु है वह सत्व है, जो ब्रह्मा है वह रजस् है और जो शिव या रुद्र है वही तमस् है। इन्हें ही यज्ञोंमें अग्नित्रेता कहते हैं। तीन अग्नियां, तीन गुण, तीन देव और तीन वेद ये सब एक ही त्रिकवादकी विभिन्न संज्ञायें हैं। और सृष्टिकी मूलभूत एकताको प्रकट करती हैं—

एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः।
एत एव त्रयो देवा एत एव त्रयो गुणाः॥

और भी कितने ही त्रिक् कहे जा सकते हैं।

अव्यय पुरुषके पाँच कोष हैं अर्थात् आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष, मनोमय कोष, प्राणमय कोष और वाक् या भूतमय या अन्नमय कोष, जिनकी व्याख्या तैत्तिरीय उपनिषद्में की गई है। इसी प्रकार अक्षर पुरुषके भी ५ भेद हैं जिन्हें पंच-प्राण कहते हैं। और क्षर पुरुषके भी पाँच रूप हैं जिन्हें पंचभूत कहा जाता है। क्षर उपादान कारण है जिसे वेदमें आरम्भण कहा है। अक्षर निमित्त कारण है जिसे ऋग्वेदमें प्रभण कहा है। अव्यय सबका आलम्बन है।

(क्रमशः)

चारों वेदोंका सुबोध अनुवाद

वेद एक है

हमारे धर्मका मुख्य ग्रंथ वेद है। यह वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ऐसे चार भागोंमें विभक्त है। इन चारों भागोंका मिलकर वेद एक ही होता है, अतः कहा है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणोऽनान्यः। महाभारत

'वेद एक ही है, देव नारायण भी एक ही है, प्रणव भी सर्व वाङ्मयरूप एक ही है।'

एक ही ईश्वर है और धर्मग्रंथ भी एकही वेद है। एक ही ईश्वरके अनेक नाम हैं और इसीतरह एकही वेदके चार भाग हैं। देखिये—

वेदका स्वरूप

१ पादबद्ध मंत्रोंका संग्रह ऋग्वेद है। इसमें देवताओंका गुणवर्णन है।

२ गद्य मन्त्रोंका संग्रह यजुर्वेद है। इसमें यज्ञयागोंका वर्णन है।

३ पादबद्ध मंत्रोंके गायनोंका संग्रह सामवेद है। इसमें उपासना है।

४ मनःशान्ति देनेवाला अथर्ववेद है। अ-थर्वका अर्थ शान्ति है, गतिरहितता है। मनको आध्यात्मिक शान्ति देनेवाला यह वेद है।

इस तरह चारों वेदोंके मन्त्रसंग्रहका स्वरूप है। ये चार विभाग एक ही वेदराशीके हैं। देवताओंका गुणवर्णन देखकर देवताके विषयमें आदरयुक्त भक्ति उत्पन्न होती है, और उनके गुणोंको अपने अन्दर धारण करके तथा उन गुणोंको अपने अन्दर बढानेका निश्चय उपासकके मनमें होता है। इस प्रकारके अनुष्ठानसे मनुष्य अपने अन्दर देवत्व स्थापन करने लगता है और यह अनुष्ठान योग्य रीतिसे होने पर वह देव बनता है। मनुष्यका राक्षस न बने, परंतु मनुष्यका देव बने यह वेदका आदेश है।

यद् देवा अकुर्वस्तत् करवाणि। श. प. ब्रा.

'जैसा देवोंने किया वैसा मैं करूंगा' और मैं देवत्व प्राप्त करूंगा। यह वैदिक धर्मीय उपासकोंकी इच्छा सदा रहती है। मनुष्योंको देवत्व प्राप्त करनेके मार्गसे वेद ले जाता है, कदापि राक्षस बननेके मार्गसे नहीं ले जाता, यह वेदका महत्वपूर्ण उत्तम मार्गदर्शन है।

राक्षस--मनुष्य--देव

'राक्षस-मनुष्य-देव' ये मानवोंकी तीन अवस्थाएं हैं। मनुष्य कुमार्गसे 'राक्षस' बनता है और सन्मार्गसे 'देव' बनता है। निश्चयसे मनुष्य शीघ्र देव बने, यह शिक्षा वेद देता है।

देवताओंके गुणोंका वर्णन ऋग्वेदमें है, शुभ कर्म करनेका अर्थात् यज्ञ करनेका आदेश यजुर्वेदमें है, शुभगुणोंके मंत्रोंका गायन उपासनाके साधन रूपमें करनेका विषय सामवेदमें है, और मनकी शान्ति अथर्ववेदके मंत्रोंसे मिलती है। इस प्रकार यह वेद मानव मात्रको सच्ची शान्तिका मार्ग योग्य रीतिसे बताता है। मानव मात्र इस वेदके बताये मार्गसे चले, तो उसको सब प्रकारसे उत्तम आनंद प्राप्त हो सकता है।

व्याधिशमनार्थ यज्ञ

ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते। श. प. ब्रा.

'ऋतुओंकी संधिमें व्याधियां होती हैं इसलिये ऋतुसंधियोंमें यज्ञ किये जाते हैं।' यज्ञ व्याधियोंको दूर करते हैं और मानवमात्रको आरोग्यका आनंद देते हैं। ऋतुपरिवर्तनमें व्याधियां उत्पन्न होती हैं इस कारण व्याधियोंका शमन करनेवाली औषधियोंके चूर्णका गौके घी के साथ

हवन करनेसे व्याधियां दूर होतीं हैं और आरोग्य सबको प्राप्त होकर आनन्द सबको मिलता है। इस प्रकार यज्ञ सबको आरोग्य देता है। यह आरोग्य एकको मिलता है, और दूसरेको नहीं ऐसा नहीं। वायुके अन्दरके दोष दूर हुए तो शुद्ध वायुका जो सेवन करेगा वह आरोग्य युक्त हो सकता है। इस तरह वेदकी यज्ञविधि सबका हित करनेवाली है।

यज्ञ किसी एक स्थानपर होता है, पर उसका लाभ वायु शुद्ध होनेसे सब लोगोंको होता है। इसी प्रकार वेदका ज्ञान सबको लाभदायक होता है, इस विषयमें मनुस्मृतिने भी कहा है, देखिये—

वेदका ज्ञान

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
मनुस्मृति

‘ १ सेनापतिका सेनासंचालनका कार्य, २ राज्य चलानेका कार्य, ३ न्यायदानका न्यायाधीशका कार्य, तथा ४ सब लोगोंके आधिपत्यके विविध कार्य जो राष्ट्रशासनमें आवश्यक होते हैं, ये सब कार्य, वेदरूपी शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् अच्छीतरह कर सकता है। ’

अर्थात् वेदको जाननेवाला शत्रुपर सेना लेकर किस तरह हमला करना चाहिए यह जान सकता है, वेदके इन्द्र-सूक्त और मरुत्सूक्तोंके अध्ययनसे यह ज्ञान उसको मिल सकता है, राज्य चलानेके विविध कार्य वेदके विश्वेदेवा देवताके सूक्तोंके अध्ययनसे ज्ञात हो सकते हैं। इसी तरहसे अन्यान्य राष्ट्रके चलानेके कार्य करनेका ज्ञान वेदके अनेक सूक्त दे सकते हैं। नारद स्मृतिमें भी कहा है—

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च॥
नारद स्मृति

‘ महा बलवान् राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और कुबेर इन देवोंके रूप धारण करता हैं। राजा क्रुद्ध होने पर अग्निका रूप धारण करता है, शत्रुपर आक्रमण करके उसका पराभव करनेके समय वह इन्द्रका रूप धारण करता है, आनन्द प्राप्त होनेपर वह चन्द्रमा जैसा आनंद कारक बनता है, शत्रुको या दुष्टोंको पकडकर उसको दण्ड देनेके समय वह यम जैसा बनता है और धनका दान करनेके समय वह कुबेरके समान होता है। ’

देवताओंके वर्णनमें राजाके गुण

इस तरह वैदिक देवताओं द्वारा राजाके ये गुण बताये हैं। संपूर्ण विश्व एक अखंड विराट् राज्य है और उस विराट् राज्यके अग्नि, इन्द्र, चन्द्र, यम, कुबेर इत्यादि देवता मंत्री गण ही हैं। वेदका योग्य रीतिसे अध्ययन करनेसे, वेदके अन्दरकी अनेक देवता विश्वराज्यके मंत्रीगण ही हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

विश्वराज्य चलानेवालोंके गुण

ये देवता विश्वमें अपना अपना कार्य यथायोग्य रीतिसे करती रहती है, विश्वराज्यको ये ही चलाती हैं। इस कार्यके करनेमें ये सुस्ती नहीं करती, आलस्य नहीं बताती, रिश्वतखोरी नहीं करतीं, अपना कार्य छोडती नहीं हैं, दूसरोंके कार्यमें बाधाएं उत्पन्न नहीं करती। ऐसे अनेक शुभगुण इनमें हैं। ये शुभगुण मनुष्योंको अपनाने योग्य हैं।

राज्य चलानेवालोंमें ये शुभगुण रहने चाहिये। वेदकी देवताओंमें ये शुभगुण हैं। इनका अध्ययन मानवोंको करना चाहिये और अपने अन्दर ये शुभगुण बढ जांय इसलिये यत्न करना चाहिये।

इन्द्र शत्रुओंको दूर करता है, अग्नि अन्धेरेमें मार्ग बताता है, वायु जीवन देता है, सूर्य जीवन दीर्घ करता है, चन्द्रमा औषधियोंका पोषण करता है, पृथिवी सबको आधार देती है। इसी तरह अन्यान्य देवताएं अन्यान्य कार्य कर रही हैं और विश्वराज्य चला रही हैं और प्राणियोंका जीवन आनंदित कर रहीं हैं और सब विश्वभरमें इनका यह कार्य अखंड रीतिसे चल रहा है।

तीन स्थानोंमें वेदका भाव

विश्वका राज्य चलानेवाले ये अग्नि, इन्द्र, वायु आदि देवताएं हैं। उसके अनुसार राष्ट्रका राज्य चलानेवाले अनेक मंत्री राष्ट्रमें होते हैं। इसीके अनुसार व्यक्तिके शरीरमें एक छोटा राज्य है यह राज्य यहांकी इन्द्रियां चलाती हैं। इस रीतिसे इन तीनों स्थानोंमें वेद मंत्रका अर्थ देखा जाता है।

इसको समझानेके लिये यहां एक तालिका हम देते हैं। वह तालिका ऐसी है—

विश्वमें	राष्ट्रमें	व्यक्तिमें
अग्नि	वक्ता	वाणी
इन्द्र	वीर, शूर	शौर्यवीर्य
चन्द्र	शान्त, आनंदी	मन
वायु	प्राणी	प्राण

इस तरह शरीरमें, राष्ट्रमें और विश्वमें वेदमंत्रका आशय देखनेकी रीति है। इसीको क्रमसे आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक भाव दर्शन कहते हैं। तैंत्तीस देवताएं, जो वेदमें हैं, वे सब आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें इस रीतिसे अपना भाव बताती हैं।

वेदके अर्थका स्पष्टीकरण इस प्रकार करनेसे तीनों क्षेत्रोंमें वेदमंत्रका अर्थ देखा जा सकता है। अग्निके मंत्र इस प्रकार ज्ञानपरक अर्थ बतायेंगे, इन्द्र देवताके मंत्र शूर-वीरताका भाव बतायेंगे और अन्यान्य देवताएं अन्यान्य भाव बतायेंगी और वेदके अर्थको अपनी अपनी पद्धतिसे प्रकाशित करेंगी।

इस प्रकार वेदमंत्रका अर्थ देखनेकी पद्धतियां ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें तथा भाष्यकारोंके भाष्योंमें बतायी हैं। विचार करके इस पद्धतिसे वेद मंत्रोंके अर्थ देखने चाहिये और अर्थ समझानेका यत्न करना चाहिये।

ये वेदमंत्रोंके अर्थ इस तरह अनेक प्रकारके होते हैं। इससे घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये अर्थ निश्चित नियमोंके अनुसार ही होते हैं और किसी प्रकारकी कोई अनियमितता इनमें नहीं होती है। जो नियमोंके अनुसार होता है उसमें कोई कठिनता नहीं होती। नियम जाननेसे उसके समझनेमें सुगमता होती है।

वेदमंत्रोंके अनुवादका प्रकाशन

इस रीतिसे वेदमंत्रोंके अनुवादका स्पष्टीकरणके साथ प्रकाशन हम, जनताको सुखसे वेदके अर्थका ज्ञान प्राप्त हो, इसलिये कर रहे हैं। नीचे लिखे ग्रंथ तैयार हैं—

१ ब्रह्मविद्या

ब्रह्मज्ञान, परमात्माका सामर्थ्य, ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग, पाशवी सामर्थ्यका आत्मिक बलसे प्रतिकार, ज्येष्ठ ब्रह्म, गुह्य अध्यात्म विद्या, सूत्रात्मा, एकके अनेक नाम, एक पूजनीय ईश्वर, ईश्वरका नामस्मरण, अपने अन्दरकी शक्ति, प्राणका प्राण, ब्रह्माण्ड देह, जीवन महासागर, अमृतदाता, एक देवकी भक्ति, महान् शासक, जगत्का एक सम्राट्, व्यापक श्रेष्ठ देव, विश्वशकटका संचालक, सर्व साक्षी, भुवनोंमें श्रेष्ठ, ईश्वरका मित्र, प्रातःकालमें ईश्वरकी प्रार्थना, एक ही उपास्य, सर्वव्यापक ईश्वर, सर्वाधार प्रभुका ध्यान, रक्षक देव, अन्तर्यामी ईश्वर, विश्वम्भर, आत्मज्योति, जीवात्माका परमात्मामें प्रवेश, मुक्तिका मार्ग, मुक्तिका अधिकारी, विजय प्राप्ति।

२ मातृभूमि और राज्यशासन

मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत, आध्यात्मज्ञान और राष्ट्र-भक्ति, राष्ट्रसभा और उसकी अनुमति, राजाके रक्षक, राजाका कर्तव्य, राजाकी स्थिरता, राष्ट्रके अभ्युदयकी वृद्धि, राजा और राजाके निर्माण करनेवाले, राजाका चुनाव, विजयी राजा, सोलहवां भाग रूप कर, दुष्टोंका नाश, शत्रुसेना संमोहन, शत्रुकी घबराहट, विजयकी प्राप्ति, युद्धनीति, विजयकी प्राप्ति, अभ्युदयकी दिशा, बलकी प्राप्ति, स्वशक्तिका विस्तार, बलसंवर्धन, बंधनसे मुक्ति, युद्ध साधन, रथ, दुंदुभी, शूर वीर।

३ गृहस्थाश्रम

पवित्र गृहस्थाश्रम, कुलवधू, पतिके गुण, वधूपरीक्षा, विवाहका मंगल कार्य, वरकी योग्यता, वैदिक विवाहका स्वरूप, सद्व्यवहारसे धन कमाओ, गोरक्षण करो, स्त्री सूत काते, पाणिग्रहण, चोरीका अन्न न खा, विवाहका समय, बडोंका संमान, आदर्श पति और पत्नी, स्त्रीपुरुषका परस्पर प्रेम, दोनों एक विचारसे रहें, पत्नी पतिके लिये वस्त्र बनावे, सौभाग्य संवर्धन, स्त्रीके पातिव्रत्यका रक्षण, काम, कामाग्निका शमन, वीर पुत्रकी उत्पत्ति, गर्भधारणा, रोगजन्तु नाश, पुंसवन, देवोंका गर्भमें प्रवेश, रक्तस्राव बंद करना, संतानका सुख, घरमें बालक, प्रजाका पोषण, रमणीय घर, गौ, धन, अन्न और बल। सौ को अन्न देनेवाली गाय, संगठन, यज्ञ, ऋणरहित होकर रहना, भाग्य प्राप्त करना, दुष्ट स्वप्न हटाना।

४ आरोग्य और दीर्घायुष्य

प्राणका संरक्षण, प्राणविद्या, दीर्घायु प्राप्तिका उपाय,

*

स्वावलंबिनी प्रजा, वाणी, सुख, शापका दुष्परिणाम, ईर्ष्या निवारण, अमर शक्तिकी प्राप्ति, ज्ञान और कर्म, बलदायी अन्न, कल्याणकी प्राप्ति, निर्भय जीवन, आत्मरक्षण, कष्टोंको दूर करना, द्रोह न करना, सत्यकी विजय, समृद्धि, वर्चः प्राप्ति, दुष्टोंका दमन, चोर और डाकुओंको दूर करना, रोगनिवारण, यक्ष्मनाश, विषनाश, ज्वरनाश, कुष्ठनाश, गण्डमाला दूर करना, रोगकृमि नाश, संधिवात दूर करना, क्षेत्रीय रोग दूर करना; क्लेशोंको दूर करना, हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण।

५ मेधाजनन, संगठन और विजय

मेधाजनन, तपसे मेधाबुद्धिकी प्राप्ति, मनका बल बढाना, बंधनसे मुक्ति, परस्परकी मित्रता बढानी, ब्राह्मण धर्मका आदेश, हृदयरोग और कामिला रोगको हटाना, वनस्पति पृश्निपर्णी, अपामार्ग, पिप्पली, रोहिणी, कुष्ठ औषधी, लाक्षा, शमी, सूर्यकिरण चिकित्सा मणिबंधन, जंगिड, शंख, प्रतिसर मणि, शरीरकी रचना, अञ्जन, पापोंसे मुक्तता, ब्रह्मचर्य, स्वर्ग और ओदन, हृदयके दो गीध, तृष्णाका विष, सुरक्षा, समृद्धि, गाढ निद्रा, प्रथम वस्त्र परिधान, ईर्ष्या निवारण, क्षत्रिय, युद्धकी रीति, विजय, दुष्टनाश, मधुविद्या, संगठन, मातृभूमि, मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रपोषण, बाह्य शक्तियोंसे अन्तःशक्तियोंका मेल, कृषिसे सुख, गौ, अश्व, वृष्टि, जल, जलचिकित्सा, वाणिज्यसे धनप्राप्ति।

ये पुस्तकें हिंदी-गुजराती-मराठी ऐसी ३ भाषाओंमें पृथक् पृथक् हैं इस प्रत्येक पुस्तकमें ८ सौ से हजार मंत्रोंका अर्थ भावार्थ और स्पष्टीकरण मुद्रित हुआ है। केवल हिंदी, मराठी और गुजराती जाननेवाला भी इनको अच्छी तरह समझ सकता है।

ग्राहक बन जाइये

आप इसके ग्राहक बन जाइये। इससे वेदके अगले पुस्तक छापनेमें आर्थिक सहायता हमें मिल जायगी और वे पुस्तक जल्दी छप सकेंगे। आगे इसी तरहके बीस पुस्तक छपने हैं। जैसे ये बिकते जायंगे वैसे इस धनसे अगले पुस्तक मुद्रित होते जायंगे। इसलिये आप इन ग्रंथोंको शीघ्र खरीदिये और हमें सहायता पहुंचाइये। बडी कृपा होगी।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल
पारडी जि. सूरत

Regd. No. G. 71

वेदके व्याख्यान

वेदोंमें नाना प्रकारके विषय हैं, उनको प्रकट करनेके लिये एक एक व्याख्यान दिया जा रहा है। ऐसे व्या २०० से अधिक होंगे और इनमें वेदोंके नाना विषयोंका स्पष्ट बोध हो जायगा।

मानवी व्यवहारके दिव्य संदेश वेद दे रहा है, उनको लेनेके लिये मनुष्योंको तैयार रहना चाहिये उपदेश आचरणमें लानेसे ही मानवोंका कल्याण होना संभव है। इसलिये ये व्याख्यान हैं। इस समय व्याख्यान प्रकट हुए हैं।

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद।
६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
७ वैयक्तिक जीवन और राष्ट्रीय उन्नति।
८ सप्त व्याहृतियाँ।
९ वैदिक राष्ट्रगीत।
१० वैदिक राष्ट्रशासन।
११ वेदोंका अध्ययन और अध्यापन।
१२ वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन।
१३ प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन।
१४ त्रैत, द्वैत, अद्वैत और एकत्वके सिद्धान्त।
१५ क्या यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है?
१६ ऋषियोंने वेदोंका संरक्षण किस तरह किया?
१७ वेदके संरक्षण और प्रचारके लिये आपने क्या किया है?
१८ देवत्व प्राप्त करनेका अनुष्ठान।
१९ जनताका हित करनेका कर्तव्य।
२० मानवके दिव्य देहकी सार्थकता।
२१ ऋषियोंके तपसे राष्ट्रका निर्माण।
२२ मानवके अन्दरकी श्रेष्ठ शक्ति।
२३ वेदमें दर्शाये विविध प्रकारके राज्यशासन।
२४ ऋषियोंके राज्यशासनका आदर्श।
२५ वैदिक समयकी राज्यशासन व्यव[स्था]
२६ रक्षकोंके राक्षस।
२७ अपना मन शिवसंकल्प करनेवाला
२८ मनका प्रचण्ड वेग।
२९ वेदकी दैवत संहिता और वैदिक सु[भाषि]तोंका विषयवार संग्रह।
३० वैदिक समयकी सेनाव्यवस्था।
३१ वैदिक समयके सैन्यकी शिक्षा और
३२ वैदिक देवताओंकी व्यवस्था।
३३ वेदमें नगरोंकी और वनोंकी संरक्षण व्यवस्था।
३४ अपने शरीरमें देवताओंका निवास।
३५, ३६, ३७ वैदिक राज्यशासनमें आ[...] मन्त्रीके कार्य और व्यवहार।
३८ वेदोंके ऋषियोंके नाम और उनका म[...]
३९ रुद्र देवताका परिचय।
४० रुद्र देवताका स्वरूप।
४१ उषा देवताका परिचय।
४२ आदित्योंके कार्य और उनकी लोकसे[वा]
४३ विश्वेदेवा देवताका परिचय।
४४ वेदमंत्रोंका भाव समझनेमें प्राचीन ऋषियोंका दृष्टिकोन।
४५ पुरुषमें ब्रह्मदर्शन।
४६ वेदभाष्योंका तुलनात्मक अनुशीलन
४७ वेद हमारे धर्मकी पुस्तक है।
४८ एक मन्त्रके अनेक अर्थ।

आगे व्याख्यान प्रकाशित होते जायंगे। प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छः आने रहेगा। प्रत्येकका डा[क] =) दो आना रहेगा। दस व्याख्यानोंका एक पुस्तक सजिल्द लेना हो तो उस सजिल्द पुस्तकका मूल्य [...] होगा और डा. व्य. १॥) होगा।

मंत्री — स्वाध्यायमण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्यायमण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय पोस्ट- 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी